जैन धर्म
के
प्रभावक आचार्य

साध्वी संघमित्रा

सम्पादिका
साध्वी ललितप्रभा
साध्वी शीलप्रभा

जैन विश्व भारती
लाडनूं, राजस्थान - ३४१३०६

प्रकाशक :

जैन विश्व भारती
लाडनूं - ३४१३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

ISBN : 81-7195-036-1

सौजन्य : स्व. बाबूलालजी भंसाली एवं पानीबाई भंसाली के सुपुत्र श्री निर्मलकुमार मधुबाला भंसाली की शादी के पच्चीसवीं वर्षगाठ के उपलक्ष में सुपुत्र नितेश, कमलेश पुत्रवधु रिन्कु द्वारा-निर्मल ज्वेलर्स, मॉडन मिल्स बिलडिंग, दुकान नं. 6, निवर सारथी होटल, एलिफिंसटन रोड, मुम्बई-400 025

पंचम संस्करण : अक्टूबर, २००६

मूल्य : ४००/- रुपये

मुद्रक :

कला भारती, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

JAIN DHARAM KE PRABHAVAK ACHARYA
***By* Sadhvi Sanghmitra**

RS. 400/-

वन्दना

वंदामि महाभागं,
महामुणिं महायसं महावीरं।
अमर-णर-रायमहियं,
तित्थयरमिमस्स तित्थस्स ॥८१॥
एक्कारस वि गणहरे,
पवायए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणहरवंसं,
वायगवंसं पवयणं च ॥८२॥

(आव. नि. मलयवृत्ति पूर्व भाग, पत्रांक ९९-१००)

समर्पण

इतिहास-स्रष्टा गणाधिपति पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री तुलसी
और प्रेक्षा प्रणेता आचार्य श्री महाप्रज्ञ को

१. प्रशस्याः पुण्यार्हाः परहितरताः प्राप्तयशसः,
प्रवीणाः प्राचार्याः प्रतिनिधिपदे ये भगवताम्।
प्रणम्याः प्रत्यहं प्रणिहितधियः प्राज्ञपुरुषाः,
प्रसीदेयुः पूज्याः प्रशमरसपीनाः प्रमुदिताः॥

२. महाभागा मान्या मथितमदना मानरहिता,
विवेकज्ञा विज्ञा विशदमतयो वाचकवराः
समोदं स्वल्पार्घ्यं लघुकृतिमयं संघतिलका,
महान्तः स्वीकुर्युर्गुणगणयुता विश्वमहिताः॥

—साध्वी संघमित्रा

आशीर्वचन

जैन धर्म अपनी मौलिकता और वैज्ञानिकता के कारण अपने अस्तित्व को एक शाश्वत धर्म के रूप में अभिव्यक्ति दे रहा है। भगवान् महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके बाद आचार्यों की एक बहुत लम्बी शृंखला कड़ी से कड़ी जोड़ती रही है। सब आचार्य एक समान वर्चस्व वाले नहीं हो सकते। नदी की धारा में जैसे क्षीणता और व्यापकता आती है वैसे ही आचार्य-परम्परा में उतार-चढ़ाव आता रहा है। फिर भी उस शृंखला की अविच्छिन्नता अपने आप में एक ऐतिहासिक मूल्य है।

पच्चीस सौ वर्षों के इतिहास का एक सर्वांगीण विवेचन महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य है पर है असंभव। फिर भी कुछ दूरदर्शी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में मूल्यवान् ऐतिहासिक सामग्री को संरक्षित कर रखा है, अन्यथा जैन-धर्म के इतिहास को कोई ठोस आधार नहीं मिल पाता।

पिछले कुछ वर्षों में कई स्थानों से आचार्य परम्परा के सम्बन्ध में ग्रन्थ लिखे गए। किन्तु उनमें कहीं पर साम्प्रदायिकता का रंग आ गया, कहीं पर ऐतिहासिकता अक्षुण्ण नहीं रही और कहीं तथ्यों का संकलन सही रूप से नहीं हो सका।

मैं बहुत बार सोचता था कि जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का सिलसिलेवार अध्ययन प्रस्तुत किया जाए तो इतिहास पाठकों को अच्छी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के प्रसंग पर मैंने अपने धर्मसंघ को साहित्य सृजन की विशेष प्रेरणा दी। उसी क्रम में साध्वी संघमित्रा ने यह काम अपने हाथ में लिया।

हमारे धर्मसंघ की यह स्पष्ट नीति है कि हमें साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टिकोण से काम करना है। प्रस्तुत लेखन में इस दृष्टिकोण को बराबर ध्यान में रखा गया है। इसके लिए साध्वी संघमित्रा ने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया और निष्ठा एवं एकाग्रता के साथ अपने काम को आगे बढ़ाया।

दशाब्दियों पूर्व तक इतिहास में साहित्य सृजन के क्षेत्र में मुनिजन अग्रणी रहे हैं। साध्वियों द्वारा लिखित साहित्य की कोई उल्लेखनीय धारा नहीं है। इन वर्षों में हमारे धर्मसंघ में साधुओं की भांति साध्वियां भी इस क्षेत्र में गतिशील हैं।

साध्वी संघमित्रा द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ **'जैन-धर्म के प्रभावक आचार्य'** इतिहास के जिज्ञासुओं की जानकारी के धरातल को ठोस बनाए तथा सुधी पाठकों की आलोचनात्मक समीक्षा-कषोपल पर चढ़कर पूर्णता की दिशा में अग्रसर बने, यह अपेक्षा है।

आचार्य तुलसी

प्रस्तावना

जैन शासन सामुदायिक साधना की दृष्टि से अपूर्व है। भारतीय साधना की परम्परा में उसी परम्परा को चिरजीवी परम्परा कहा जा सकता है। यद्यपि व्यक्तिगत साधना की व्यवस्था भी सुरक्षित है, फिर भी सामुदायिक साधना की पद्धति ही मुख्य रही है। उस समूची पद्धति का प्रतिनिधित्व करने वाले दो शब्द हैं, गण और गणी। भगवान् महावीर के अस्तित्वकाल में नौ गण और ग्यारह गणधर थे। यह विभाग केवल व्यवस्था की दृष्टि से था। उत्तरवर्ती काल में गण अनेक हो गए। उनमें मौलिक एकता भी नहीं रही। सम्प्रदाय भेद बढ़ते गए। बड़े गण छोटे गणों में विभक्त हो गए। फिर भी गण की परम्परा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न निरन्तर चलता रहा। फलतः आज भी जैन शासन परम्परा के रूप में सुरक्षित है। गणों के आपसी भेद चलते थे। बौद्ध और वैदिक विद्वानों के आघात भी चलते थे। इस परिस्थिति में प्रभावक आचार्य ही जैन शासन के अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते थे। इस पच्चीस सौ वर्षों की लम्बी अवधि में अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपनी श्रुत-शक्ति, चारित्र-शक्ति तथा मंत्र-शक्ति के द्वारा अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा की और जैन शासन की प्रभावना बढ़ाई। हजारों वर्षों की लम्बी अवधि में अनेक गणों के अनेक प्रभावी आचार्य हुए। उन सबका आकलन करना एक दुर्गम कार्य है। साध्वी संघमित्रा ने उस दुर्गम कार्य को सुगम करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य परम्परा को जानने के मुख्य स्रोत हैं—स्थविरावलियां, पट्टावलियां, प्रभावकचरित्र, प्रबन्धकोश आदि-आदि ग्रन्थ। आगम के व्याख्या ग्रन्थों—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियों और टीकाओं में यत्र-तत्र कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। साध्वी संघमित्रा ने श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के उपलब्ध उन सभी स्रोतों का इस प्रस्तुत कृति में उपयोग किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सभी परम्परा के आचार्यों का जीवन वृत्त वर्णित है। उनके आधारभूत प्रामाणिक स्रोत भी सन्दर्भ रूप में संकलित हैं। लेखिका ने बड़ी लगन और परिश्रम के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। श्रम और सूझ-बूझ के साथ लिखा गया यह ग्रन्थ पाठकों के लिए रुचिवर्धक, ज्ञानवर्धक और शक्तिवर्धक सिद्ध होगा।

आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में सतत प्रवाहित साहित्य सरिता में अवगाहन कर कोई भी व्यक्ति धन्यता का अनुभव कर सकता है। साध्वी संघमित्रा को भी अपनी धन्यता के अनुभव का अवसर उपलब्ध होगा। भिक्षु शासन की साहित्यिक गरिमा को बढ़ाने में जिनकी अंगुलियों का योग है, वे सब साधुवाद के योग्य हैं। उस अर्हता में साध्वी संघमित्रा ने भी अपना योग दिया है, इसका मैं अनुभव करता हूं।

आचार्य महाप्रज्ञ

अंतर्ध्वनि

अर्हच्छासन-वाटिका श्रुत-सुमैर्नीता विकासं सदा,
कर्तृत्वेन परम्परा त्रिपथगा यैः प्रोन्नतिं प्रापिता।
येषां निर्मल-प्रज्ञया वितिमिरा जाता जगच्चेतना,
साध्वीयं गण-धूर्वहान् स्मरति तांस्तान् संघमित्राभिधा॥

पपुश्चार्हत् सिन्धोः पय इव पयोदाः गणधराः,
ततो जैनाचार्यैःगिंरिरिव गृहीता श्रुत-सुधा।
जगत्कल्याणार्थं वहति सततं सा त्रिपथगा,
पवित्रास्या धारा प्रथयति च तेषां श्रम-कणान्॥

—साध्वी संघमित्रा

प्रस्तुति

निर्ग्रन्थ शासन

निर्ग्रन्थ संघ संयम, त्याग और अहिंसा की भूमिका पर अधिष्ठित है। अनन्त आलोकपुञ्ज महाबली तीर्थंकर उसके संस्थापक और गणधर संचालक होते हैं। तीर्थंकर की अनुपस्थिति में इस महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वहण आचार्य करते हैं।

आचार्य विशुद्ध आचार-सम्पदा के स्वामी होते हैं। वे छत्तीस गुणों से अलंकृत होते हैं। दीपक की तरह स्वयं प्रकाशमान बनकर जन-जन के पथ को आलोकित करते हैं और तीर्थंकरों की गिरारूपी पतवार को लेकर सहस्रों-सहस्रों जीवन-नौकाओं को भवाब्धि के पार पहुंचाते हैं।

जैन शासन और भगवान् महावीर

वर्तमान जैन शासन भगवान् महावीर की अनुपम देन है। सर्वज्ञत्वोपलब्धि के बाद अध्यात्म प्रहरी, मुक्तिदूत, तपःपूत तीर्थंकर महावीर ने साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के रूप में चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना की। अहिंसा, अभय, मैत्री का स्नेह प्रदान कर समता का दीप जलाया। अध्यात्म के अनेक आयाम उद्घाटित किए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष और नारी आदि सभी जातियों और वर्गों के लिए धर्म की समान भूमिका प्रस्तुत की। अपनी ज्ञान, दर्शन चरित्र और तप की अनन्त सम्पदा से जन-जन को लाभान्वित कर एवं समस्त मानव जाति का मार्ग-दर्शन कर भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

आचार्यों की गौरवमयी परम्परा का प्रारम्भ

भगवान् महावीर के पश्चात् उनके विशाल संघ को जैनाचार्यों ने संभाला। जैनाचार्य विराट व्यक्तित्व एवं उदात्त कर्तृत्व के धनी थे। वे सूक्ष्म चिन्तक एवं सत्यद्रष्टा थे। धैर्य, औदार्य और गाम्भीर्य उनके जीवन के विशेष गुण थे। सहस्रों श्रुत-सम्पन्न मुनियों को अपने क्रोड में समाहित कर लेने वाला विकराल काल का कोई भी क्रूर आघात एवं किसी भी वात्याचक्र का तीव्र प्रहार उनके मनोबल की जलती मशाल ज्योति को मन्द नहीं कर सका। प्रसन्नचेता जैनाचार्यों की धृति मंदराचल की तरह अचल थी।

उदारचेता

जैनाचार्य उदात्त विचारों के धनी थे। उन्होंने सदैव संघातीत व्यापक दृष्टिकोण से चिन्तन किया। जन-जन के हित की बात कही। उन्होंने शास्त्रार्थ प्रधान युग में भी समन्वयात्मक भाव-भूमि को परिपुष्ट किया। समग्र धर्मों के प्रति सद्भाव, स्याद्वाद से अनुस्यूत माध्यस्थ दृष्टिकोण एवं अनाग्रहपूर्ण प्रतिपादन जैनाचार्यों की सफलता के मूल मंत्र थे।

दायित्व का निर्वाह

श्रमण परम्परा के अनेक जैनाचार्य लघुवय में दीक्षित होकर संघ के शास्ता बने। उन्होंने आचार्य पद से अलंकृत हो जाने में ही जीवन और कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मान ली थी। अपने दायित्व का वहन उन्होंने प्रतिक्षण जागरूक रहकर किया। **"सुत्ता अमुणिणो मुणिणो सया जागरंति"** भगवान् महावीर का यह आगम वाक्य उनका अभिन्न सहचर था।

जैनाचार्यों की ज्ञानाराधना

सद्धर्म धुरीण जैनाचार्यों की ज्ञानाराधना विलक्षण थी। मन्दिर और उपाश्रय ही उनके केन्द्ररूप (ज्ञानकेन्द्र) विद्यापीठ थे। श्रुतदेवी के वे कर्मनिष्ठ उपासक बने। **'सज्झाय-सज्झाणरयस्स तायिणो'**—इस आगम वाणी को उन्होंने जीवन-सूत्र बनाकर ज्ञान-विज्ञान शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। दर्शन शास्त्र के महासागर में उन्होंने गहरी डुबकियां लगाईं। फलतः जैनाचार्य दिग्गज विद्वान् बने। संसार का विरल विषय ही होगा जो उनकी प्रतिभा से अछूता रहा हो। ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य, संगीत, इतिहास, गणित, रसायनशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र आदि विभिन्न विषयों के ज्ञाता, अन्वेष्टा एवं अनुसंधाता जैनाचार्य थे।

जैनाचार्य भारतीय ग्रन्थों के पाठक ही नहीं अपितु वे स्वयं रचनाकार भी थे। उनकी लेखनी अविरल गति से चली। विशाल साहित्य का निर्माण कर उन्होंने सरस्वती के भण्डार को भरा। उनका साहित्य स्तवना प्रधान एवं गीत प्रधान ही नहीं था। उन्होंने काव्यों एवं महाकाव्यों का सृजन, विशालकाय पुराणों की संरचना, व्याकरण एवं कोश की सृष्टि भी की।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में जैनाचार्यों ने गम्भीर दार्शनिक दृष्टियां प्रदान की एवं योग के सम्बन्ध में नवीन व्याख्याएं भी प्रस्तुत कीं। न्यायशास्त्र के वे स्वयं संस्थापक बने। जैन शासन का महान् साहित्य जैनाचार्यों की मौलिक सूझ-बूझ एवं उनके अनवरत परिश्रम का परिणाम है।

विवेक-दीप

परमागमप्रवीण, ज्ञान के हिमालय, बुद्धि के भंडार, भवाब्धि पतवार, कर्मनिष्ठ, करुणा कुबेर एवं जन-जन हितैषी जैनाचार्यों की असाधारण योग्यता से एवं उनकी दूरगामी पद-यात्राओं से उत्तर तथा दक्षिण के अनेक राजवंश प्रभावित हुए। राज्याध्यक्षों ने उनका भारी सम्मान किया। विविध मानद उपाधियों से जैनाचार्य विभूषित किए गए पर किसी प्रकार की पद-प्रतिष्ठा उन्हें दिग्भ्रांत न कर सकी। उन्होंने पूर्ण विवेक के साथ महावीर संघ को संरक्षण एवं विस्तार दिया। आज भी जैनाचार्यों के समुज्ज्वल एवं समुन्नत इतिहास के सामने प्रबुद्धचेता व्यक्ति नतमस्तक हो जाते हैं। मेरे मानस पर जैनाचार्यों की विरल विशेषताओं का प्रभाव लम्बे समय से अंकित था।

भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उनकी अर्चना में साहित्य समर्पित करने का शुभ चिन्तन तेरापंथ के नौवें अधिनायक युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के तत्त्वावधान में चला। जैन दर्शन से सम्बन्धित पच्चीस विषय चुने गए थे उनमें किसी एक विषय पर ग्रन्थ रचना करने का निर्देश मुझे प्राप्त

हुआ। मैंने अपनी सहज रुचि के अनुसार "जैन-धर्म के प्रभावक आचार्य" इस विषय को चुना और निष्ठापूर्वक अपना कार्य प्रारम्भ किया। मेरी लेखनी जैसे ही आगे बढ़ी, मुझे अनुभव हुआ—प्रारम्भ में यह विषय जितना सरल लग रहा था उतना ही दुरूह अनुभूत हुआ। इस प्रसंग पर कवि माघ का भावपूर्ण पद्य स्मृति-पटल पर उभर आया—

'तुङ्गत्वमितरा नाद्री नेदं, सिन्धावगाहता।
अलङ्घनीयताहेतुरूभयं तन्मनस्विनि॥

सागर गहरा होता है ऊंचा नहीं, शैल उन्नत होता है गहरा नहीं, अतः इन्हें मापा जा सकता है पर उभय विशेषताओं से समन्वित होने के कारण महापुरुषों का जीवन अमाप्य होता है।

अभिव्यक्ति की इस विवशता को अनुभूत कर लेने पर भी प्रभावक आचार्यों के जीवन-वृत्त को शब्दों के वलय में बांधने का प्रयास किया है।

'जैन-धर्म के प्रभावक आचार्य' पुस्तक का यह परिवर्तित, परिवर्द्धित, संशोधित पंचम संस्करण है। इस पुस्तक का प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ संस्करण जिस त्वरा से सम्पन्न हुआ यही उसकी सहज फलश्रुति है। जैन विश्व भारती के अधिकारियों एवं पाठकों की पुनः-पुनः मांग ने मुझे पांचवें संस्करण को तैयार करने के लिए प्रेरित किया।

शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रारम्भ किए कार्य को पूर्ण करने की तीव्र भावना होने पर भी यात्राओं की व्यस्तता के कारण विलम्ब हुआ पर प्रज्ञा सुमेरु आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के जीवन के नौवें दशक के पूर्वार्द्ध की पूर्णता एवं उत्तरार्द्ध के पावन प्रवेश के मंगल अवसर पर इस ग्रन्थ को श्रीचरणों में उपहृत करने जा रही हूं यह मेरे लिए उल्लास का विषय है। इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में १२०, द्वितीय संस्करण में १५३, तृतीय संस्करण में १५५, चतुर्थ संस्करण में १६०, पांचवें संस्करण में १६१ आचार्यों का जीवनवृत्त एवं कई स्थलों पर नई घटना सामग्री संयोजित कर मैं प्रसन्नता का अनुभव करती हूं।

जैनाचार्यों ने जैन धर्म की प्रभावना में अनेक महनीय कार्य किए हैं। उन कार्यों की अधिकाधिक प्रस्तुति पाठकों के लिए कर सकूं—ऐसा मेरा लक्ष्य रहा है। इसके परिणामस्वरूप प्रथम संस्करण की अपेक्षा द्वितीय, द्वितीय की अपेक्षा तृतीय, तृतीय की अपेक्षा चतुर्थ एवं चतुर्थ की अपेक्षा पंचम संस्करण में अधिकाधिक सामग्री को जोड़कर मैं महामनस्वी प्रभावक आचार्यों के जीवन महासागर से बिन्दु मात्र ले पाई हूं। देवार्चना की शुभ वेला में दो-चार अक्षत अर्पित करने से जैसी तृप्ति भक्ति-भावित मानस को होती है वैसी ही तृप्ति इस स्वल्प सामग्री के प्रस्तुतीकरण से मुझे हुई है।

आचार्यों के जीवन परिचायक सामग्री को संकलित करने में जितना इतिहास और साहित्य का मैं अध्ययन कर पाई हूं, उसी के आधार पर यह संरचना है। जिसमें संभवतः बहुत कुछ अनदेखा और अनजाना रहने के कारण मेरी लेखनी से अनछुआ भी रह गया है। सुधी पाठक एवं इतिहास प्रेमी इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत कराएंगे तो मैं आगामी संस्करण में यथासंभव उनका उपयोग करने का प्रयत्न करूंगी।

गणाधिपति गुरुदेव आचार्य श्री तुलसी ने मुझे जैन परम्परा में दीक्षित कर मेरा अनल्प उपकार किया है। उन्होंने मेरी ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चारित्र की आराधना को संवर्द्धित

करने का सदा प्रयत्न किया। मैं उनकी प्रभुता और कर्त्तव्य-परायणता के प्रति समर्पित रही हूं। मैंने उनकी दृष्टि की आराधना की है। इसी में अपने को धन्य माना और उनसे बहुत कुछ पाया। उनसे प्राप्त के प्रति मैं कृतज्ञ हूं। उन्होंने आशीर्वचन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया। मैं उनके इस अनुग्रह के प्रति हृदय से प्रणत हूं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की प्रज्ञा ने मुझे सदा सचेत रखा है और दर्शन चेतना को जागृत रखने का सदुपाय बताया है। 'कृपाकांक्षी नहीं आत्मकांक्षी बनो'—इस सूत्र ने मुझे सदा उबारा है। मैं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ज्ञानाराधना से और चारित्रिक निष्ठा से बहुत लाभान्वित हुई हूं। उनके प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया है। वे आलोक पुरुष और प्रज्ञा पुरुष हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में उनका मार्ग-दर्शन मेरे लिए प्रकाशस्तम्भ की भांति प्रकाश दान करता रहा है। उन्होंने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखकर मेरे उत्साह को बढ़ाया है। शत-शत वन्दना।

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अध्यात्म से ओत-प्रोत संरक्षण में तेरापंथ साध्वी समाज ने विकास की जिन ऊंचाइयों को छुआ है यह गौरव का विषय है।

निष्कारण परोपकारी युवा मनीषी युवाचार्य श्री महाश्रमणजी का जो वात्सल्य और कृपा भाव प्राप्त है वह निरन्तर वर्धमान रहे। मेरे अध्यात्म विकास में आपका मंगलदायी मार्गदर्शन मिलता रहे। मैं आपके उदार भाव के प्रति विनत हूं।

सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति स्वर्गीया साध्वी-प्रमुखाश्री लाडांजी की अनुकम्पा मेरे पर सदा बनी रही। उनके वात्सल्य और प्रोत्साहन ने मुझे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया और मेरे मानस में विकास करने की ललक पैदा की, तन्द्रिल नयनों को खोला, अंग-अंग में व्याप्त अलसता का विमोचन कर मेरे कण-कण में नया उत्साह भरा, नये प्राणों का संचार किया। कुछ नया करने और नया बनने के लिए नयी दिशाएं दी, नये सोच की शक्ति दी, संयमी जीवन के संस्कार दिए। उठना, बैठना, चलना सब कुछ सिखाया। निष्काण उपकारी उस करुणामयी अध्यात्म मां का देय मेरे जीवन में अनल्प है, अवाच्य है। उनके प्रति मैं अ न्त श्रद्धा से नत हूं, प्रणत हूं।

संघ महानिर्देशिका महाश्रमणी साध्वीप्रमुखा श्री कनकप्रभाजी से प्राप्त स्नेह और सद्भाव के प्र... भी मैं प्रणत हूं और आशा करती हूं कि उनकी देखरेख में साध्वी समाज विशेष गतिशील बनेगा।

स्व. डॉ. जेठमलजी भंसाली (संसारपक्षीय पिता) जो डॉक्टर होने के साथ स्वयं कुशल वक्ता थे, लेखक थे, अध्यात्म के प्रति गहरे निष्ठावान थे। प्रबुद्ध अणुव्रती थे। उन्होंने मुझे पढ़ना, लिखना, बोलना सिखाया। दिव्य पुरुष गणाधिपति गुरुदेव आचार्य श्री तुलसी के चरणों में मुझे समर्पित कर मेरी जीवन नौका की पतवार कुशल नाविक के हाथों में सौंपी। अध्यात्म की दिशा में नये सृजन के लिए मुझे प्रेरित करते रहे। किसी भी कृति की रचना के समय उनकी प्रेरणा ने मेरी लेखनी को गतिमान बनाए रखा। उनका तथा त्याग, तप, संयम की प्रेरणास्रोत (जननी संसारपक्षीय) श्राविका स्व. मनोहरी देवी का अनंत ऋण सिर पर है। मैं उनके उपकारों की स्मृति मात्र से गद्‌गद् हूं। प्रमुदित हूं, आह्लादित हूं।

"धर्म और अध्यात्म में गहरे निष्ठावान
संघमित्रा को नाज है पिता मिले गुणवान"

जैन आगम मनीषी मुनिश्री दुलहराजजी ने इस ग्रन्थ के सभी संस्करणों को देखा है, पढ़ा है और पूर्णता के बिन्दु तक पहुंचाया है। उनके प्रति मैं बहुत-बहुत आभारी हूं।

प्रेक्षा प्राध्यापक मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी का भी ग्रन्थ-रचना में समुचित मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, उनके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूं।

चतुर्थ एवं पंचम संस्करण में मुनि श्री धनंजय कुमार जी का श्रमदान अत्यन्त मूल्यवान है। परमाराध्य आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के साहित्य सम्पादन आदि गरिमामय कार्यों में व्यस्त होते हुए भी मुनि श्री ने अपने बहुमूल्य क्षणों को इस कृति के साथ जोड़ा, इसे संवारा और नया आकार दिया। आपका यह योगदान विशेष रूप से स्मरणीय रहेगा।

इस ग्रन्थ के पुनरावलोकन एवं सम्पादन में साध्वी ललितप्रभाजी एवं साध्वी शीलप्रभाजी ने अत्यधिक श्रम किया है। उनके प्रति मैं हृदय से प्रमोद भावना प्रकट करती हूं। मंगल कामना करती हूं।

इस प्रसंग पर साध्वीश्री सूरजयशाजी की मानसिक प्रसन्नता एवं यथाशक्ति सहयोग भी रचना के साथ संबद्ध है।

व्यापार आदि कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी प्रथम संस्करण में जंवेरचंदजी डागल्या, द्वितीय संस्करण में मांगीलालजी विनायकिया, फरजन जी जैन, तृतीय संस्करण में वृद्धिचंदजी भंसाली, महेश भादानी चतुर्थ संस्करण में भीखमचंदजी नखत एवं पांचवें संस्करण में मोहनलालजी दक तथा गृह-कार्य में व्यस्त श्रीमती कंचन भादानी, कंचन सरला भंसाली, उमराव दुगड़, विजयलक्ष्मी डोसी, संगीता, गिन्नी, रेखा सिंघी का पुस्तक सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध कराने, प्रतिलिपि करने एवं अन्य तदनुकूल प्रवृत्ति के सम्पादन में श्रम एवं समय का निष्ठापूर्ण अनुदान विशेष रूप से जुड़ा है। प्रूफ रीडिंग का कार्य जै.वि.भा. के साहित्य प्रभारी श्री जगदीशप्रसाद जी ने मनोयोगपूर्वक सम्पन्न किया है।

इन सबके अतिरिक्त ग्रन्थ-रचना में तथा परिशोधित, परिवर्धित संस्करण में किसी का किसी भी रूप में यत्किञ्चित सहयोग रहा है स्मृत-विस्मृत उन सबके प्रति मैं पुनः-पुनः मंगल भावना व्यक्त करती हूं।

यह ग्रन्थ पाठकों के हाथों में है। उनके द्वारा इस कृति का समीक्षात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन मेरी प्रसन्नता में विशेष सहयोगी बनेगा।

जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों के परम पवित्र जीवन-वृत्त से प्रेरित पाठकों का जैन इतिहास और परम्परा की जानकारी हेतु उठता हुआ चरण मेरे आत्मतोष में वृद्धिकारक होगा।

25 नवम्बर, 2005
आमेट, राजसमंद (राजस्थान)

–साध्वी संघमित्रा

अनुक्रम

वन्दना
समर्पण
आशीर्वचन
प्रस्तावना
अन्तर्ध्वनि
प्रस्तुति

खण्ड-१

आचार्यों के काल का संक्षिप्त सिंहावलोकन १-३३

१. अध्यात्म प्रधान भारत ३
२. जैन परम्परा और तीर्थंकर ३
३. तीर्थंकर ऋषभ ३
४. तीर्थंकर अरिष्टनेमि ५
५. तीर्थंकर पार्श्वनाथ ५
६. वर्तमान जैन परम्परा और तीर्थंकर महावीर ५
७. संघ-व्यवस्था ६
८. समकालीन श्रमण परम्पराएं ६
९. काल-विभाजन ६
१०. आगम-युग ७
११. आचार्य सुधर्मा और जम्बू ७
१२. श्रुतकेवली परम्परा ८
१३. द्वादशवर्षीय दुष्काल और आगम वाचना ८
१४. टूटती श्रुत-शृंखला और आचार्य स्थूलभद्र ८
१५. दशपूर्वधर परम्परा और उल्लेखनीय प्रसंग ९
१६. तत्कालीन राजवंश ११
१७. सम्राट् श्रेणिक (बिम्बिसार) ११
१८. गणराज्य अध्यक्ष चेटक ११
१९. सम्राट् कोणिक (अजातशत्रु) १२
२०. सम्राट चण्डप्रद्योत १२
२१. सम्राट् उदायी १२
२२. नंद वंश १३
२३. सम्राट् चन्द्रगुप्त और चाणक्य १३
२४. सम्राट् बिन्दुसार १४
२५. सम्राट अशोक १४
२६. सम्राट सम्प्रति १५
२७. जैन धर्म और सम्राट् खारवेल १५
२८. जैन शासन के विशिष्ट विद्या-सम्पन्न आचार्य १६
२९. पूर्वों की परम्परा का विच्छेद-क्रम १८
३०. आगम विच्छेद क्रम १८
३१. आगमपरक साहित्य १८
३२. अनुयोग व्यवस्था १९
३३. परम्पराभेद का जन्म १९
३४. आचार्य स्कन्दिल और आचार्य नागार्जुन २०
३५. देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण २१
३६. **उत्कर्ष-युग** २२
३७. न्याय-युग का उद्भव २२
३८. आचार्य सिद्धसेन २३
३९. आचार्य समन्तभद्र २२
४०. आचार्य अकलंक भट्ट २४
४१. न्याय युग की प्रतिष्ठा २३
४२. योग और ध्यान के सन्दर्भ में २३
४३. प्राकृत व्याख्या-ग्रन्थों का सृजन २३
४४. जैन साहित्य और संस्कृत भाषा २३
४५. जैन साहित्य और लोकभाषा २४
४६. जैनाचार्यों का शास्त्रार्थ कौशल २४
४७. जैनाचार्यों द्वारा जैन धर्म का विस्तार २४
४८. **नवीन युग** २५
४९. क्रांति का प्रथम चरण २५
५०. क्रांति का द्वितीय चरण २५
५१. क्रांति का तृतीय चरण २६
५२. नवीन युग और जैनाचार्य २७
५३. कल्पसूत्र स्थविरावली २९
५४. वल्लभी युगप्रधान पट्टावली २८
५५. दुस्सम-काल-समण-संघत्थय और विचार श्रेणी के अनुसार युग प्रधान पट्टावली २९

खण्ड-२ : प्रभावक आचार्य

अध्याय एक : आगम युग के प्रभावक आचार्य

१. श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा ३३
२. ज्योतिपुञ्ज आचार्य जम्बू ४४
३. परिव्राट् पुङ्गव आचार्य प्रभव ५३
४. श्रुत शार्दूल आचार्य शय्यम्भव ५८
५. युग-प्रहरी आचार्य यशोभद्र ६३
६. संयम-सूर्य आचार्य संभूतविजय ६५
७. जिनशासन-शिरोमणि आचार्य भद्रबाहु ७२
८. तेजोमय नक्षत्र आचार्य स्थूलभद्र ८८
९. सद्गुण-रत्न महोदधि आचार्य महागिरि ९८
१०. सद्धर्म-धुरीण आचार्य सुहस्ती १०२
११. विश्व बन्धु आचार्य बलिस्सह १०९
१२. गुणगणमण्डित आचार्य गुणसुन्दर १११
१३-१४. स्वाध्यायप्रिय आचार्य सुस्थित और आचार्य सुप्रतिबुद्ध ११२
१५. सद्भाव-समुद्भावक आचार्य स्वाति ११४
१६. संतश्रेष्ठ आचार्य श्याम ११५
१७. शिव-सुखाकांक्षी आचार्य पाण्डित्य ११८
१८-२०. अहमिन्द्र आचार्य इन्द्रिदिन्न, आचार्य दिन्न, आचार्य सिंहगिरि ११९
२१-२२. मोक्ष-वीथि-पथिक आचार्य समुद्र, आचार्य मंगू १२१
२३. धर्म-धुरा संवाहक आचार्य धर्म १२३
२४. क्रांतिकारी आचार्य कालक (द्वितीय) १२४
२५. क्षमाधर आचार्य खपुट १३३
२६-२७. नयनानंद आचार्य नंदिल और आचार्य नागहस्ती १३६
२८. परोपकार परायण आचार्य पादलिप्त १३८
२९-३०. भव्य जन-उद्बोधक आचार्य भद्रगुप्त और आचार्य श्रीगुप्त १४९
३१. विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी १५०
३२. अक्षय कोष आचार्य आर्यरक्षित १६६
३३. दुरित निकन्दन आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र १७३
३४. विवेक-दर्पण आचार्य वज्रसेन १७७
३५. आलोक कुटीर आचार्य अर्हद्बलि १८०
३६. गौरवशाली आचार्य गुणधर १८२
३७. धैर्यधन आचार्य धरसेन १८४
३८-३९. प्रबुद्धचेता आचार्य पुष्पदंत एवं आचार्य भूतबलि १८६
४०-४१. रत्नत्रय-आराधक आचार्य रेवती नक्षत्र, आचार्य ब्रह्मदीपक सिंह १८९
४२-४४. आगम-पिटक-आचार्य स्कन्दिल, आचार्य हिमवन्त, आचार्य नागार्जुन १९१
४५. अर्हन्नीति-उन्नायक आचार्य उमास्वाति १९६
४६. कीर्ति-निकुंज आचार्य कुन्दकुन्द २०१
४७. विमल विचारक आचार्य विमल २०६
४८-५०. भव्यजनदुःख-विभञ्जक आचार्य भूतदिन्न, आचार्य लोहित्य, आचार्य दुष्यगणी २११
५१. जैन आगम निधि-संरक्षक आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण २१३

अध्याय दो : उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य

५२. बोधिवृक्ष आचार्य वृद्धवादी २१९
५३. सरस्वती-कंठाभरण आचार्य सिद्धसेन २२१
५४. महाप्राज्ञ आचार्य मल्लवादी २३२
५५. संस्कृत-सरोज-सरोवर आचार्य समन्तभद्र २३७
५६. दिव्य विभूति आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) २४४
५७. भवार्णव पारगामी आचार्य भद्रबाहु-द्वितीय (निर्युक्तिकार) २५१
५८. जिनागम सिंधु आचार्य जिनभद्रगणी २५५
५९. पुण्यश्लोक आचार्य पात्रकेशरी (पात्रस्वामी) २६२
६०. मुक्तिदूत आचार्य मानतुंग २६६
६१. कोविद-कुलालंकार आचार्य भट्ट अकलंक २७२
६२. जिनचरणानुगामी आचार्य जिनदास महत्तर २८०
६३. अमेय मेधा के धनी आचार्य हरिभद्र २८४
६४. वरिष्ठ विद्वान् आचार्य बप्पभट्टि २९४
६५. उदात्त चिन्तक आचार्य उद्योतन (दाक्षिण्यांक) ३०२
६६. विश्रुत व्यक्तित्व आचार्य वीरसेन ३०४
६७. जिनवाणी संगायक आचार्य जिनसेन ३०६

६८. गणनायक आचार्य गुणभद्र ३०६
६९. वाङ्मय-वारिधि आचार्य विद्यानन्द ३११
७०. अध्यात्मोन्मुखी आचार्य अमृतचन्द्र ३१६
७१. सिद्ध-व्याख्याता आचार्य सिद्धर्षि ३१८
७२. सिद्धिसोपान आचार्य शीलांङ्क ३२५
७३. शास्त्रार्थ-निपुण सूराचार्य ३२८
७४. ऊर्जाकेन्द्र आचार्य उद्योतनसूरि ३३१
७५. स्वस्थ परम्परा-संपोषक आचार्य सोमदेव ३३२
७६. अमित प्रभावक आचार्य अमितगति (द्वितीय) ३३७
७७-७८. मनस्वी आचार्य माणिक्यनन्दी और आचार्य नयनन्दी ३३९
७९. अनेकांत विवेचक आचार्य अभयदेव ३४२
८०. वादि-गज-पंचानन आचार्य वादिराज (द्वितीय) ३४४
८१. शिवालय आचार्य शांति ३४७
८२. प्रभापुञ्ज आचार्य प्रभाचन्द्र ३५०
८३. निष्कारण उपकारी आचार्य नेमिचन्द्र (सिद्धान्त चक्रवर्ती) ३५३
८४-८५. जग-वत्सल आचार्य जिनेश्वर और आचार्य बुद्धिसागर ३५६
८६. आस्था-आलम्बन आचार्य अभयदेव (नवांगी टीकाकार) ३६०
८७. जिनशासनसेवी आचार्य जिनवल्लभ ३६८
८८. अन्तर्दृष्टा आचार्य अभयदेव (मलधारी) ३७०
८९. वर्चस्वी आचार्य वीर ३७१
९०. जनप्रिय आचार्य जिनदत्त ३७३
९१. नित्य नवीन आचार्य नेमिचन्द्र ३७५
९२. हृदयहारी मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ३७७
९३. वाद-कुशल आचार्य वादिदेव ३८१
९४. कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ३८७
९५. महामनीषी आचार्य मलयगिरि ४०१
९६. समाधि-सदन आचार्य शुभचन्द्र ४०४
९७. जगत् पूज्य आचार्य जिनचन्द्र (मणिधारी) ४०६
९८. रमणीय रचनाकार आचार्य रामचन्द्र ४०८
९९. अप्रमत्तविहारी आचार्य आर्यरक्षित (अंचलगच्छ संस्थापक) ४१२
१००. जिनधर्मानुरागी आचार्य जयसिंहसूरि ४१५
१०१. उदारमना आचार्य उदयप्रभ ४१७
१०२. सरस व्याख्याकार आचार्य रत्नप्रभसूरि ४१९
१०३. जगदुन्नायक आचार्य जगच्चन्द्र ४२१
१०४. ज्ञानगुण-भूषण आचार्य रत्नाकर ४२३
१०५. महामहिम आचार्य मेरुतुंग ४२४
१०६. दयार्द्रहृदय आचार्य देवेन्द्र ४२६
१०७-१०८. शब्द-शिल्पी आचार्य सोमप्रभद्वय ४२७
१०९. मननशील आचार्य मल्लिषेण ४२९
११०. जन-हितैषी आचार्य जिनप्रभसूरि ४३०
१११. आचार्य कल्प उपाध्याय यशोविजयजी ४३३
११२. कुशलशासक आचार्य जिनकुशलसूरि ४३६
११३. मेधावी आचार्य मेरुतुंग (प्रबन्ध चिन्तामणि रचनाकार) ४३७
११४. गुणनिधि आचार्य गुणरत्न ४३८
११५. मधुरभाषी आचार्य मुनिसुन्दर ४४०

अध्याय तीन : नवीन युग के प्रभावक आचार्य

११६. हितचिन्तक आचार्य हीरविजय ४४३
११७. जिनधर्म उपासक आचार्य जिनचन्द्र ४४५
११८. वाक्पटु आचार्य विजयसेन ४४६
११९. विशदमति आचार्य विजयदेव ४४७
१२०. क्रियोद्धारक आचार्य जीवराजजी ४४९
१२१-१२२. लोकोद्धारक आचार्य ऋषिलवजी और ऋषिसोमजी ४५०
१२३. धर्मध्वज आचार्य धर्मसिंह ४५२
१२४. धर्मोद्योतक आचार्य धर्मदासजी ४५४
१२५. भव्यजन-बोधक आचार्य भूधरजी ४५६
१२६. प्रबल प्रचारक आचार्य रघुनाथजी ४५८
१२७. जितेन्द्रिय आचार्य जयमल्लजी ४५९
१२८. सत्य-संधित्सु आचार्य भिक्षु ४६१
१२९-१३०. भवाब्धिपोत आचार्य भारमलजी और आचार्य रायचन्दजी ४६५
१३१. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य ४६८

१३२-१३३. मंगलप्रभात आचार्य मधवागणी और आचार्य माणकगणी ४७४
१३४. व्याख्यान वाचस्पति आचार्य विजयानन्द (आत्माराम) ४७६
१३५. अज्ञान-तिमिरनाशक आचार्य डालगणी ४८१
१३६. रचनामेधा सम्पन्न आचार्य विजय राजेन्द्र ४८३
१३७. करुणास्रोत आचार्य कृपाचन्द्र ४८४
१३८. धर्मदीप आचार्य विजयधर्म ४८५
१३९. बुद्धिनिधान आचार्य बुद्धिसागर ४८६
१४०. कमनीय कलाकार आचार्य कालूगणी ४८७
१४१. समता-सागर आचार्य सागरानन्द ४९४
१४२. शुभ चिन्तक आचार्य श्रीलालजी ४९५
१४३-४४. साहित्य सेवी आचार्य जवाहरलालजी, आचार्य गणेशीलालजी ४९६
१४५. जनवल्लभ आचार्य विजयवल्लभ ४९८
१४६. शांतिस्रोत आचार्य शांतिसागर ४९९
१४७. वैराग्यमूर्ति आचार्य वीरसागर ५०२
१४८. आगम-स्वाध्यायी आचार्य अमोलक ऋषि ५०४
१४९. सौम्य-स्वभावी आचार्य विजयसमुद्र ५०५
१५०. श्रमनिष्ठ आचार्य विजयशांति ५०६
१५१. आत्मसंगीत उद्गाता आचार्य आत्मारामजी ५०७
१५२. सत्संस्कार संजीवक आचार्य शिवसागर ५०९
१५३. धुन के धनी आचार्य घासीलालजी ५११
१५४. आनन्दघन आचार्य आनन्दऋषिजी ५१२
१५५. दृढ़प्रतिज्ञ आचार्य देशभूषणजी ५१४
१५६. धर्म-वृद्धि कारक आचार्य धर्मसागरजी ५१५
१५७. अमृतपुरुष गणाधिपति गुरुदेव आचार्य श्री तुलसीजी ५१७
१५८. विद्वद्रत्न आचार्य विमलसागरजी ५२९
१५९. अध्यात्म के शिखर पुरुष आचार्य महाप्रज्ञजी ५३१
१६०. विद्याभूषण आचार्य विद्यानन्दजी ५४६
१६१. युवा मनीषी युवाचार्य श्री महाश्रमण जी ५४७

परिशिष्ट

१. आचार्य और उनकी जीवनी के आधारभूत ग्रन्थ ५५३
२. प्रयुक्त ग्रन्थ-विवरण ५६१
३. प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ संस्करण पर प्राप्त सम्मतियां ५६९

खण्ड १

आचार्यों के काल का संक्षिप्त सिंहावलोकन

आचार्यों के काल का संक्षिप्त सिंहावलोकन

अध्यात्म-प्रधान भारत

भारत अध्यात्म की उर्वर भूमि है। यहां के कण-कण में आत्म-निर्झर का मधुर संगीत है, तत्त्वदर्शन का रस है और धर्म का अंकुरण है। यहां की मिट्टी ने ऐसे नर रत्नों को जन्म दिया है जो अध्यात्म के मूर्त्त रूप थे। उनके हृदय की हर धड़कन अध्यात्म की धड़कन थी। उनके ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने जीवन को समझने का विशद दृष्टिकोण दिया। भोग में त्याग की बात कही[1] और कमल की भांति निर्लेप जीवन जीने की कला सिखाई।[2]

वैदिक परम्परा के अनुसार चौबीस अवतारों ने इस अध्यात्म-प्रधान धरा पर जन्म लिया। बौद्ध परम्परा के अनुसार गौतम बुद्ध का बोधिसत्त्वों के रूप में पुनः-पुनः यहीं आगमन हुआ तथा जैन तीर्थंकरों का सुविस्तृत इतिहास भी इसी आर्यावर्त के साथ जुड़ा है।

जैन परम्परा और तीर्थंकर

जैन परम्परा में तीर्थंकर का स्थान सर्वोपरि होता है। नमस्कार महामंत्र में सिद्धों से पहले तीर्थङ्कर को नमस्कार किया जाता है। तीर्थङ्कर सूर्य की भांति ज्ञान-रश्मियों से प्रकाशमान और अध्यात्म-युग के अनन्य प्रतिनिधि होते हैं। चौबीस तीर्थङ्करों की क्रम-व्यवस्था से अनुस्यूत होते हुए भी उनका विराट् व्यक्तित्व किसी तीर्थङ्कर विशेष की परम्परा के साथ आबद्ध नहीं होता। मानवता के सद्यःउपकारी तीर्थङ्कर होते हैं।

परम्परा प्रवहमान सरिता का प्रवाह है। उसमें हर वर्तमान क्षण अतीत का आभारी होता है। वह ज्ञान, विज्ञान, कला, सभ्यता, संस्कृति, जीवन-पद्धति आदि गुणों को अतीत से प्राप्त करता है और स्व-स्वीकृत एवं सहजात गुण सत्त्व को भविष्य के चरणों में समर्पण कर अतीत में समाहित हो जाता है।

आचार्य अर्हत्-परम्परा के वाहक होते हैं। उनके उत्तरवर्ती क्रम में शिष्यसम्पदा आदि का पारस्परिक अनुदान होता है पर तीर्थंकरों के क्रम में ऐसा नहीं होता। तीर्थङ्कर स्वयं संबुद्ध, साक्षात् द्रष्टा, ज्ञाता एवं स्वनिर्भर होते हैं अतः वे उपदेश-विधि और व्यवस्था-क्रम में किसी परम्परा के वाहक नहीं, अनुभूत सत्य के उद्घाटक होते हैं एवं धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक होते हैं।[3]

धर्म-तीर्थ के आद्य प्रवर्तक तीर्थङ्कर ऋषभ से अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक[4] इन चौबीस तीर्थङ्करों में से किसी भी तीर्थङ्कर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की ज्ञान-निधि एवं संघ-व्यवस्था से न कुछ पाया और न कुछ उत्तरवर्ती तीर्थङ्करों को दिया। सबकी अपनी स्वतंत्र परम्परा और स्वतंत्र शासन था। महावीर के समय में पार्श्वनाथ की परम्परा अविच्छिन्न थी पर तीर्थङ्कर महावीर के शासन में उस परम्परा का अनुदान नहीं था। पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनियों ने महावीर के संघ में प्रवेश करते समय चतुर्याम साधना-पद्धति का परित्याग कर पञ्चमहाव्रत-साधना पद्धति को स्वीकार किया। यह प्रसंग तीर्थङ्करों की स्वतंत्र व्यवस्था का द्योतक है।

तीर्थङ्कर ऋषभ

भारत भूमि पर वर्तमान अवसर्पिणी काल में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ थे। तीर्थङ्कर ऋषभ अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र

---

१. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा (ईशावास्योपनिषद्)।

२. जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ॥
(उत्तरज्झयणाणि, २५/२६)

३. धम्मतित्थयरे जिणे।
(आवश्यकसूत्र)

४. वंदे उसभं अजियं संभवमभिणंदणं सुमइ-सुप्पभ-सुपासं।
ससि-पुप्फदंत-सीयल-सिज्जंसं वासुपुज्जं च ॥
विमलमणंतं च धम्मं, संतिं कुंथुं अरं च मल्लिं च।
मुणिसुव्वयनमि-नेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥
(नंदीसूत्र १/१८, १९)

थे। वे मानवीय संस्कृति के आद्य सूत्रधार, प्रथम समाज व्यवस्थापक, प्रथम राजा, प्रथम मुनि, प्रथम भिक्षाचर, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम धर्म प्रवर्तक एवं प्रथम धर्म चक्रवर्ती थे।[५]

समाज व्यवस्था के रूप में ऋषभ ने असि, मसि, कृषि का विधान दिया। ब्राह्मी और सुन्दरी अपनी इन दोनों पुत्रियों को लिपि विद्या और अंक विद्या में कुशल बनाया। जैन मान्यता के अनुसार आज की सुप्रसिद्ध ब्राह्मी लिपि का नामकरण ऋषभ-पुत्री ब्राह्मी के नाम पर हुआ है। प्रागैतिहासिक काल से अब तक अनेक भाषाएं ब्राह्मी लिपि में लिखी गई हैं।

ऋषभ ने अपने पुत्र भरत को राजनीति का प्रशिक्षण देकर राज्य संचालन के योग्य बनाया। भरत प्रथम चक्रवर्ती बने। जैन मान्यतानुसार ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। कई आधुनिक विद्वानों का भी इसमें समर्थन है।[६]

ऋषभ-पुत्र भरत से दुष्यन्त-पुत्र भरत बाद में हुए हैं। अति प्राचीनकाल में यहां भारत जाति निवास करती थी। इससे स्पष्ट है इस भूमि का भारत नाम दुष्यन्त पुत्र भरत से पहले ही हो गया था।

समाज और राज्य की समुचित व्यवस्था करने के पश्चात् ऋषभ मुनि बने। साधना में प्रवृत्त हुए। सर्वज्ञ बने। उन्होंने धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है" "धम्माणं कासवो मुहं" काश्यप (ऋषभ) धर्म के मुख थे अर्थात् ऋषभ धर्म के आद्य प्रवर्तक थे।

तीर्थङ्कर ऋषभ का तेजोमय व्यक्तित्व त्याग और तप का पूंजीभूत रूप था। वे प्रभावशाली अध्यात्म पुरुष थे।

वेदों और पुराणों में कई स्थलों पर ऋषभ का श्लाघ्य पुरुष के रूप में उल्लेख है। भागवत पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप में आठवां अवतार धारण किया। उनके पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवा था।[८] भागवत पुराण का यह उल्लेख जैन मान्यता से कुछ अंशों में साम्य रखता है। अग्नि पुराण, वायु पुराण, स्कन्द पुराण आदि कई पुराणों में ऋषभ प्रभु के उल्लेख के साथ पिता नाभि, माता मरुदेवा एवं उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत का उल्लेख है।[९] ऋग्वेद और अथर्ववेद के मंत्रों में भी ऋषभदेव की स्तुति की गई है।[१०] वेदों में कई स्थानों पर केशी शब्द का प्रयोग हुआ है।[११] केशी को वातरसना मुनियों में श्रेष्ठ माना है। जैन ग्रंथ 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित' में भी ऋषभ को केशी कहा गया है।[१२] वैदिक परम्परा और जैन परम्परा दोनों ने ऋषभ को उत्तम पुरुष माना है। बौद्ध साहित्य में भी ऋषभ का उल्लेख है।[१३]

प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के पश्चात् द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ, तृतीय तीर्थङ्कर सम्भव.....। रामायणकाल में बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रत एवं इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमिनाथ हुए। अनन्त काल को इतिहास एवं बुद्धि की परिधि में नहीं बांधा जा सकता इसलिए ऋषभदेव के अनन्तर बीस तीर्थङ्करों का काल इतिहास के शोध विद्वानों द्वारा प्रागैतिहासिक युग मान लिया गया है। जैन ग्रंथों में प्रत्येक तीर्थङ्कर का इतिहास विस्तार से उपलब्ध है।[१४]

---

५. पढम राया, पढम जिणे, पढम केवली, पढम तित्थयरे,
पढम धम्मवरचक्कवट्टी। (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति २/३०)

६. संस्कृति के चार अध्याय पृ. १२६।

७. उत्तराध्ययन, २५/१६।

८. अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥
(श्रीमद्-भागवत, स्कन्ध १, अ. ३, श्लोक १३)

९. नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च।
(वराह पुराण, अ. ७४)

१०. अस्तूःपूर्वो वृषभो ज्यायानिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो नपाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे ॥
(ऋग्वेद, ५/३८)

११. ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत् सारथिरस्य केशी।
(ऋग्वेद, १०/१०२/६)

१२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र १/३।

१३. उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं तमहं ब्रुमि ब्राह्मणं ॥४२२॥
(धम्मपद)

१४. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ, द्वितीय खंड, पृ. १ से ५ तक।

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि

तीर्थङ्करों के क्रम में बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। जैन इतिहास के अनुसार समुद्रविजय और वसुदेव सहोदर थे। समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि और वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण के लघु भ्राता गजसुकुमाल आदि कई प्रिय पारिवारिक जनों की दीक्षा तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि द्वारा हुई।[१४] अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु थे।[१५] उपनिषदों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु का नाम घोर अङ्गिरस था। श्रीकृष्ण को घोर अङ्गिरस ऋषि द्वारा प्रदत्त शिक्षाएं छान्दोग्योपनिषद में हैं।[१७] वे जैन मान्यताओं के निकट हैं। कई आधुनिक शोध विद्वानों के मत से तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि और घोर अङ्गिरस ऋषि अभिन्न पुरुष थे। जैन-दर्शन के गंभीर विद्वान् आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने घोर अङ्गिरस को अरिष्टनेमि का शिष्य या उनके विचारों से प्रभावित किसी संन्यासी के होने की संभावना की है।[१८] अरिष्टनेमि का काल महाभारत काल था।

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ

तीर्थङ्करों के क्रम में तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ आधुनिक इतिहासविदों द्वारा ऐतिहासिक पुरुष प्रमाणित हुए हैं। उनका समय तीर्थङ्कर महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व था। चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के अभिभावक पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे। उनको धर्म-संस्कार पार्श्वनाथ की परम्परा से प्राप्त हुए थे। पार्श्वनाथ की परम्परा के बहुश्रुत आचार्य केशीकुमार और तीर्थङ्कर महावीर के प्रथम गणधर इंद्रभूति गौतम का पारस्परिक मिलन तथा मधुर संवाद उत्तराध्ययन आगम में विस्तार से उपलब्ध है।[१९] तीर्थङ्कर पार्श्व की परम्परा के कई मुनि तीर्थङ्कर महावीर के संघ में सम्मिलित हुए। पार्श्व प्रभु की आयु १०० वर्ष की थी। उनका तीर्थ विशाल था। उनके तीर्थ में मुनियों की संख्या १६,०००, साध्वियों की संख्या ३८,०००, श्रावकों की संख्या १,६४,००० एवं श्राविकाओं की संख्या ३,२८,००० थी। तीर्थङ्कर पार्श्व के बाद तीर्थङ्कर महावीर हुए। तीर्थङ्कर पार्श्व ने चतुर्याम धर्म का और तीर्थङ्कर महावीर ने पंच महाव्रत धर्म का प्रतिपादन किया।[२०] पार्श्वनाथ के शिष्य रंगीन वस्त्र पहनते थे। महावीर की परम्परा में ऐसा क्रम नहीं था।

वर्तमान जैन परम्परा और तीर्थङ्कर महावीर

वर्तमान जैन शासन की परम्परा भगवान् महावीर से संबंधित है। महावीर का निर्वाण वि. पूर्व ४७० में हुआ। भगवान् महावीर के शासन में इंद्रभूति गौतम आदि १४ हजार साधु, चंदनबाला आदि ३६ हजार साध्वियां थीं।[२१] आनन्द आदि १ लाख, ५९ हजार श्रावक और जयन्ती आदि ३ लाख, १८ हजार श्राविकाएं थीं। यह व्रतधारी श्रावक और श्राविकाओं की संख्या थी। उस युग के अनेक प्रभावी शासक भी तीर्थङ्कर महावीर के अनुयायी थे। सर्वज्ञ प्रभु के मार्गदर्शन में धर्म-संघ सुसंगठित एवं व्यवस्थित था।

---

१५. तए णं से गयसुकुमाले कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं से गयसुकुमाले कण्हं वासुदेवं अम्मापियरो य दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी.....तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ॥

(अंतगडदसाओ अध्ययन-८ वर्ग-३ सूत्र ७५-७६)

१६. तए णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे.....जेणामेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता अरहओ अरिट्ठनेमिस्स नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे नमंसमाणे पंजलिउडे अभिमुहे विणएणं पज्जुवासइ ॥

(नायाधम्मकहाओ अध्य. ५ कण्हस्स पज्जुवासणा-पद)

१७. छान्दोग्योपनिषद्-३, १७, ६

१८. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. १७

१९. उत्तरज्झयणाणि, २३

२०. चाउज्जामो य जो धम्मो जो धम्मो पंचसिक्खओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥

(उत्तरज्झयणाणि २३।२३)

२१. चतुर्दश सहस्राणि, षट्त्रिंशत्सहस्राणि।

(आवश्यक-निर्युक्ति)

संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के संघ की संचालन विधि सुनियोजित थी। उनके संघ में ग्यारह गणधर, नौ गण और सात पद थे।[२२] गण की शिक्षा-दीक्षा में सातों पदाधिकारियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता था। आचार्य गण संचालन का कार्य करते, उपाध्याय प्रशिक्षण की व्यवस्था करते और सूत्रार्थ की वाचना देते, स्थविर श्रमणों को संयम में स्थिर करते, प्रवर्तक आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक प्रवृत्तियों का संघ में प्रवर्तन करते, गणी श्रमणों के छोटे समूहों का नेतृत्व करते, गणधर दिनचर्या का ध्यान रखते और गणावच्छेदक संघ की अंतरंग व्यवस्था करते तथा धर्मशासन की प्रभावना में लगे रहते।

समकालीन श्रमण परम्पराएं

भगवान् महावीर के समकालीन श्रमण परम्परा के अन्य पांच विशाल संप्रदाय विद्यमान थे। उनमें कुछ सम्प्रदाय महावीर के संघ से भी अधिक विस्तृत थे। उन पांचों संप्रदायों का नेतृत्व क्रमशः १. पूरणकाश्यप, २. मंखलिगोशालक, ३. अजितकेश कंबली, ४. पकुधकात्यायन, ५. संजयवेलट्ठिपुत्र कर रहे थे।[२३] परिस्थितियों के वात्याचक्र से वे पांचों सम्प्रदाय काल के गर्भ में विलीन हो गए। वर्तमान में उनका साहित्यिक रूप ही उपलब्ध है। साहित्य उपलब्ध नहीं है।

गोशालक आजीवक श्रमण संप्रदाय का प्रमुख था। जैन और बौद्ध ग्रंथों में इस सम्प्रदाय का उल्लेख उपलब्ध है।

शाक्य पुत्र गौतम बुद्ध ने धर्म की स्थापना की। वह भी श्रमण परम्परा की एक विशाल शाखा थी। समय परिवर्तन के साथ बौद्ध धारा विदेशों की ओर प्रवाहित हुई और भारत से विच्छिन्न प्रायः हो गई थी। आज भारत में बौद्धों की संख्या पुनः लाखों पर पहुंच गई है। अनेक बौद्ध श्रमण हैं फिर भी विदेशों की अपेक्षा भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार कम है।

वर्तमान में अध्यात्म प्रधान इस धरा पर तीर्थङ्कर महावीर का सम्प्रदाय गौरव के साथ प्रारम्भ से अब तक सदा गतिमान रहा है।

यह श्रेय जैनाचार्यों की विशिष्ट क्षमताओं और प्रतिभाओं को है। भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा में अनेक प्रखर प्रतिभा संपन्न, तेजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी और यशस्वी आचार्य हुए।

जैन शासन की श्रीवृद्धि में उनका अनुपम अनुदान है। वे त्याग-तपस्या के उत्कृष्ट उदाहरण, नव नवोन्मेष प्रज्ञा के धारक एवं सतत यावावर श्रमण थे। अमितज्ञानी तीर्थंकर देव ने भव्यजनों के उद्बोधनार्थ अर्थागम प्रदान किए। गणधरों ने उसे गूंथा, सूत्रागमों की रचना की।[२४] आचार्यों ने उनका संरक्षण किया, प्राणोत्सर्ग करके भी श्रुत-संपदा को काल के क्रूर हाथों द्वारा विनष्ट होने से बचाया। उन्होंने दूरगामिनी-पद-यात्राओं से अध्यात्म को विस्तार दिया और भगवान् महावीर के भव-संतापहारी संदेश को जन-जन तक पहुंचाया।

काल-विभाजन

भगवान महावीर से अब तक के आचार्यों का युग अत्यन्त गरिमामय है। मैंने इसको तीन भागों में विभक्त

---

२२. (क) से जहाणामए अज्जो! मम नव गणा एगारस गणहरा। (ठाणं ९ सूत्र ६२)

(ख) आयरिएति वा, उवज्झाएति वा, पावत्तीति वा, धेरेति वा, गणीति वा, गणधरेति वा, गणावच्छेदेति वा।

(ठाणं ३/३, सूत्र ३६२)

२३. तेन खलु समये राजगृहे नगरे षट्पूर्णायाः शास्तारोऽसर्वज्ञाः सर्वज्ञमानिनः प्रतिवसन्तिस्म। तद्यथा पूरणकाश्यपो, मश्करीगोशालिपुत्र; संजयी वैलट्ठीपुत्रोऽजितःकेशकम्बल; ककुदः कात्यायनो, निर्ग्रन्थो ज्ञातपुत्रः।

(दिव्यावदान, १२-१४३-१४४)

२४. (क) अत्थं भसइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई ॥१९२॥

(आवश्यक नि. मलयवृत्ति, पत्रांक १०६)

(ख) भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहिं गंथो कओ वाइयो य इति।

(आव. चूर्णि, पृ. ३३४)

किया है आगमयुग, उत्कर्ष युग, नवीन युग।

१. आगम युग वीर निर्वाण १००० वर्ष तक
(विक्रम पूर्व ४७० से विक्रम संवत् ५३० तक)

२. उत्कर्ष युग वीर निर्वाण १००० वर्ष से २००० वर्ष तक
(विक्रम संवत् ५३० से १५३० तक)

३. नवीन युग वीर निर्वाण २००० से वर्तमान तक
(विक्रम सं.१५३० से वर्तमान तक)

यह विभाजन तत्कालीन प्रवृत्तियों के प्रमुख आधारों को सामने रख कर किया गया है।

ज्ञातव्य : वीर निर्वाण के ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत्
५२७ वर्ष बाद ईस्वी सन्
६०५ वर्ष बाद शक संवत्

आगम-युग

आगम युग वीर निर्वाण से प्रारम्भ होकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय तक संपन्न होता है। एक सहस्र वर्ष की अवधि का यह समय विविध घटनाओं को अपने में संजोए हुए है। इस काल की मुख्य प्रवृत्ति 'आगमिक' थी। वीरवाणी को स्थायित्व प्रदान करने के लिए इस युग में कई क्रम चले। गणधर रचित द्वादशाङ्गी के आधार पर उपांगों की रचना हुई और पाठ्यक्रम की सुविधा हेतु अनुयोग व्यवस्था के माध्यम से आगम पठन की समग्र नवीन प्रशिक्षण पद्धति स्थापित हुई। इस युग में श्रुत की सुरक्षा हेतु आगम वाचनाएं भी हुई। प्रथम आगमवाचना का क्रम वी. नि. की दूसरी शताब्दी में श्रुतधर स्थूलिभद्र की सन्निधि में पाटलिपुत्र में सम्पन्न हुआ। ११ अंगों का सम्यक् संकलन किया गया। इस आगम संकलन को अचेलक मुनियों ने मान्य नहीं किया। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में यह प्रसंग परम्परा भेद का सूचक था।

दूसरी बार आगम वाचना का प्रयत्न मथुरा में आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में वी. नि. नौवीं सदी में हुआ। जिसे माथुरी वाचना के नाम से जाना जाता है। इसी समय आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वलभी में आगम पाठों का संकलन हुआ। इसे वलभी वाचना अथवा नागार्जुनीय वाचना से पहचाना गया। आचार्य देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में आगम सुरक्षा का प्रयत्न माथुरी वाचनानुसार वी. नि. ९८० में तथा वलभी वाचना के अनुसार वी. नि. ९९३ में हुआ। इस समय आगमों का वाचन एवं लेखन का कार्य सम्पन्न हुआ। ये आगम वाचनाएं आगम युग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आलेख हैं।

इन प्रवृत्तियों का प्रमुख सम्बन्ध आगम से था। आचार्य सुधर्मा आगम निधि के प्रदाता थे। आगमधर आचार्यों में वे ही एक ऐसे आचार्य थे, जिन्होंने भगवान महावीर की सन्निधि में बैठकर बोध प्राप्त किया था। वर्तमान में प्राप्त आगमों के रचनाकार स्वयं सुधर्मा थे। आगम पुरुष आचार्य सुधर्मा के बहुमुखी व्यक्तित्व का प्रभाव इस काल में व्यापक रूप से छाया रहा।

इस सहस्राब्दी में आगमिक प्रवृत्तियों की प्रधानता के कारण मैंने इसे आगम युग के नाम से सम्बोधित किया है।

आचार्य सुधर्मा और जम्बू

भगवान महावीर के बाद आचार्यों की परम्परा गणधर सुधर्मा से प्रारम्भ होती है। दिगम्बर परम्परा में यह श्रेय गणधर गौतम को है। सुधर्मा की जैन संघ की सबसे बड़ी देन द्वादशांगी की रचना है। द्वादशाङ्गी का दूसरा नाम गणिपिटक भी है।[२५] बौद्धदर्शन में जो स्थान त्रिपिटक का है और वैदिक दर्शन में जो स्थान चार वेदों का है, वही स्थान जैन दर्शन में गणिपिटक का है।

आचार्य सुधर्मा के इस आगम वैभव को उनके बाद आचार्य जंबू ने सुरक्षित रखा। इन दोनों आचार्यों का जैन संघ में अत्यन्त गौरवमय स्थान है। महावीर के बाद

---

२५. इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते।
(समवाओ, १/२)

गणधर इंद्रभूति गौतम, गणधर सुधर्मा और आचार्य जंबू सर्वज्ञ बने। इन तीनों के बाद अब तक सर्वज्ञत्व-संपदा किसी को प्राप्त नहीं हो सकी है।[२६]

श्रुतकेवली परम्परा

जैन परम्परा में छह श्रुतकेवली हुए हैं[२७] १. प्रभव, २. शय्यम्भव, ३. यशोभद्र, ४. सम्भूतविजय, ५. भद्रबाहु, ६. स्थूलभद्र।

इन छह श्रुतकेवलियों में अर्थतः अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। आचार्य जंबू के बाद वीर नि. ६४ (वि. पू. ४०६) से श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदाय के आचार्यों की नाम-परम्परा भिन्न हो गयी। वह परम्परा भद्रबाहु के समय में एक बिन्दु पर आ गयी। दिगम्बर परम्परा में जंबू स्वामी के बाद श्रुतकेवली विष्णु, नंदीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और तदनन्तर भद्रबाहु का नाम आता है।[२८] इन आचार्यों का कुल कालमान १६२ वर्ष का है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आचार्य जंबू के बाद श्रुतकेवली प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतविजय आचार्य हुए। तदनन्तर आचार्य भद्रबाहु हुए हैं। आचार्य सुधर्मा से भद्रबाहु तक का कुल कालमान श्वेताम्बर मान्यता से १७० वर्ष तक का है। पंचम श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गवास दिगम्बर परम्परा वीर. नि. १६२ और श्वेताम्बर परम्परा वीर नि. १७० में मानती है। इन दोनों परम्पराओं की मान्यता में ८ वर्ष का अन्तर है। भद्रबाहु के पास संपूर्ण द्वादशांगी सुरक्षित थी, इसे दोनों परम्पराएं एक स्वर से स्वीकार करती हैं। आचार्य स्थूलभद्र शब्दतः श्रुतकेवली थे।

द्वादशवर्षीय दुष्काल और आगम वाचना

आचार्य जंबू के बाद परमावधिज्ञान आदि दस बातों का पीड़ित हो गया था।[२९] श्रुत की धारा आचार्य भद्रबाहु के बाद क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई। इसका प्रमुख कारण उस युग का द्वादशवर्षीय अकाल था। उस समय अकाल की काली छाया से पीड़ित अनेक श्रुतधर श्रमण स्वर्गवासी हो गए। इससे श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हुई।

दुष्काल की समाप्ति पर विच्छिन्न श्रुत को संकलित करने के लिए वी. नि. १६०(विक्रम पू. ३१०) के लगभग श्रमण संघ पाटलिपुत्र (मगध) में एकत्रित हुआ। आचार्य स्थूलभद्र इस महासम्मेलन के व्यवस्थापक थे। सभी श्रमणों ने मिलकर प्रामाणिक रूप से ग्यारह अंगों का संकलन किया। आगमयुग की यह प्रथम वाचना थी। कई श्रमणों ने इसे मान्य नहीं किया। यहीं से जैन संघ में श्रुत-भेद की धुंधली-सी रेखा उभरी।

टूटती श्रुत शृंखला और आचार्य स्थूलभद्र

इस समय भद्रबाहु के अतिरिक्त बारहवां अंग किसी के पास सुरक्षित नहीं था। यह श्रुत व्युच्छित्ति का पहला आघात जैन संघ को लगा था। इस क्षतिपूर्ति के लिए प्रतिभासम्पन्न आचार्य स्थूलभद्र विशाल श्रमण संघ के साथ नेपाल पहुंचे और आचार्य भद्रबाहु से बारहवें अंग की वाचना ग्रहण कर टूटती हुई श्रुत-शृंखला की संयोजक कड़ी बने। श्रुत केवली की परम्परा में आचार्य स्थूलभद्र अन्तिम थे। आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को अन्तिम चार पूर्वों की अर्थ वाचना नहीं दी अतः अर्थदृष्टि से अन्तिम

---

२६. अपच्छिमकेवली जंबेसामी सिद्धिं गमिही।
(विविधतीर्थ कल्प पृ. ३८)

२७. केवली चरमो जम्बूस्वाम्यथ प्रभवप्रभुः।
शय्यम्भवो यशोभद्रः सम्भूतविजयस्ततः ॥३३॥
भद्रबाहुः स्थूलभद्रः श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥३४॥
(अभि. चिन्तामणि, काण्ड प्रथम)

२८. महाबन्ध प्रस्तावना।

२९. मण-परमोहि-पुलाए, आहाराग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजय-तिय केवलि-सिज्झणा य जंबुम्मि वुच्छिन्ने ॥२५६३॥
(विशेषावश्यक भाष्य)

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे। उनके स्वर्गवास वी. नि. १७०(वि. पू. ३००) के बाद अर्थतः चार पूर्वों का विच्छेद हो गया।[३०]

दशपूर्वधर परम्परा और उल्लेखनीय प्रसंग

दशपूर्वधर दस आचार्य हुए हैं।[३१] उनके नाम इस प्रकार हैं १. महागिरि, २. सुहस्ती, ३. गुणसुन्दर, ४. कालकाचार्य, ५. स्कन्दिल (पाण्डिल्य), ६. रेवतिमित्र, ७. धर्म, ८. भद्रगुप्त, ९. श्रीगुप्त, १०. आर्यवज्र।

दशपूर्वधर दस आचार्यों में आचार्य महागिरि एवं सुहस्ती के जीवन प्रसंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महागिरि प्रथम दशपूर्वधर आचार्य थे। सुहस्ती द्वितीय दशपूर्वधर आचार्य थे। महागिरि व सुहस्ती दोनों गुरुभाई आचार्य थे तथा आचार्य स्थूलभद्र के प्रधान शिष्य थे।

आगम में तीन प्रकार के स्थविर माने गये हैं (१) जाति स्थविर, (२) श्रुत स्थविर, (३) पर्याय स्थविर। साठ वर्ष की अवस्था प्राप्त निर्ग्रन्थ 'जाति स्थविर' ठाणं और समवायांग का धारक निर्ग्रन्थ 'श्रुत स्थविर' एवं बीस वर्ष के मुनिपर्याय पालने वाला निर्ग्रन्थ 'पर्याय स्थविर' होता है।[३२]

आचार्य स्थूलभद्र के संध्याकाल में आचार्य महागिरि जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर एवं पर्याय-स्थविर भी हो गए थे। आचार्य सुहस्ती उस समय न जाति-स्थविर थे, न श्रुत- स्थविर थे, न ही पर्याय-स्थविर।

आचार्य स्थूलभद्र ने भावी आचार्य पद के लिए गंभीरता से चिंतन किया और उन्होंने इस पद पर महागिरि व सुहस्ती इन दोनों की नियुक्ति एक साथ की। निशीथ चूर्णि के अनुसार आचार्य स्थूलभद्र ने आचार्य पद का दायित्व महागिरि को न देकर सुहस्ती को प्रदान किया था।[३३]

कल्पसूत्र स्थविरावली की परम्परा में आचार्य संभूतविजय के उत्तराधिकारी आचार्य स्थूलभद्र एवं स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी आचार्य सुहस्ती माने गए हैं।

कल्पसूत्र स्थविरावली के इस उल्लेख के अनुसार आचार्य स्थूलभद्र के बाद आचार्य महागिरि की गण-परम्परा भिन्न हो गई थी। आचार्य स्थूलभद्र की परम्परा के संवाहक आचार्य सुहस्ती थे।

आचार्य महागिरि के बहुल आदि आठ प्रमुख शिष्य थे। उनमें से गणाचार्य बलिस्सह थे। आचार्य महागिरि के प्रथम शिष्य का नाम बहुल था। बहुल का उपनाम उत्तर था। गणाचार्य बलिस्सह थे। उत्तर और बलिस्सह इन दोनों के नाम पर उत्तरबलिस्सह गण की स्थापना हुई। आचार्य महागिरि के अन्य शिष्य भी जैन धर्म के विशेष प्रभावक थे। सभी ने इसी गण को मान्य किया। किसी ने अपने नाम पर अन्य गण की स्थापना नहीं की। यह उनकी उदार नीति का ही परिणाम है।

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आचार्य महागिरि के आठवें शिष्य कौशिक गोत्रीय रोहगुप्त (षडुलूक) से त्रैराशिक मत की स्थापना हुई। षडुलूक वैशेषिक सूत्रों के कर्ता माने गए हैं। आचार्य महागिरि का स्वर्गवास वी. नि. २४५ में हुआ। त्रैराशिक मत की स्थापना का इतिहास सम्मत समय वी. नि. ५४४ (वि. सं. ७४) है। इस आधार पर त्रैराशिक मत के संस्थापक आचार्य महागिरि के शिष्य रोहगुप्त सिद्ध नहीं होते। समवायांग टीका के अनुसार

---

३०. चोद्दसपुव्वच्छेदो, वरिससते सत्तरे विणिद्दिट्ठो।
साहुम्मि थूलभद्दे, अन्ने य इमे भवे भावा ॥७०१॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

३१. महागिरिः सुहस्ती च सूरिः श्रीगुणसुन्दरः।
श्यामार्यः स्कन्दिलाचार्यो रेवतीमित्रसूरिराट् ॥
श्रीधर्मो भद्रगुप्तश्च, श्रीगुप्तो वज्रसूरिराट्।
युगप्रधानप्रवरा दशैते दशपूर्विणः ॥
(संबोधिका स्थविरावली विवरण पत्र ११९)

३२. तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा जातिथेरे, सुयथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे णिग्गंथे जातिथेरे, ठाणसमवायधरे णं समणे णिग्गंथे सुयथेरे, वीसवासपरियाए णं समणे णिग्गंथे परियायथेरे।
(ठाणं ३/१८७)

३३. थूलभद्दसामिणा अज्जसुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो।
(निशीथभाष्य चूर्णि भाग २ पृ. ३६१)

श्रीगुप्त के शिष्य रोहगुप्त (षडुलूक) द्वारा अंतरंजिका नगर में त्रैराशिक मत की स्थापना हुई।

आचार्य महागिरि के प्रशिष्य परिवार में दो निह्नव हुए हैं। कौण्डिन्य के शिष्य मुनि अश्वमित्र निह्नव बने। उनके द्वारा वी. नि. २२० (वि. पू. २५०) में सामुच्छेदिकवाद की स्थापना हुई। धनाढ्य के शिष्य गंग मुनि भी निह्नव हुए। उनके द्वारा उल्लुका नदी के तीर पर वी. नि. २२८ (वि. पू. २४२) में द्वैक्रियवाद की स्थापना हुई।

कौण्डिन्य और धनाढ्य दोनों आचार्य महागिरि के शिष्य थे। धनाढ्य का दूसरा नाम धनगुप्त था।

सामुच्छेदिकवाद के अनुसार प्रत्येक क्षण नारक आदि सभी जीव उच्छिन्न भाव को प्राप्त होते रहते हैं। यह एकान्तिक पर्यायवाद का समर्थन है एवं बौद्ध दर्शन के निकट है।

द्वैक्रियवाद के अनुसार शीत-उष्ण आदि दो विरोधी धर्मों का एक साथ अनुभव किया जा सकता है।

त्रैराशिकवाद के अभिमत में जीव, अजीव एवं नो जीव नो अजीव रूप तीन राशियों की मान्यता है।

आगम ग्रंथों में जीव राशि और अजीव राशि इन दो का उल्लेख है अतः त्रैराशिक मत की स्थापना आगम विरुद्ध होने के कारण जैन परम्परा में रोहगुप्त (षडुलूक) को छठा निह्नव माना गया है।

आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ती के गण भिन्न-भिन्न होते हुए भी प्रीतिवश दोनों आचार्य एक साथ विचरण करते थे।[३४]

आचार्य सुहस्ती के रोहण आदि बारह प्रमुख शिष्य थे। इनसे उद्देहगण, उडुपाटितगण आदि गणों का और प्रत्येक गण से कई शाखाओं और कुलों का जन्म हुआ। इन शाखाओं-प्रशाखाओं में मानव गण से जन्मी एक शाखा का नाम सौराष्ट्रिका है। यह सौराष्ट्रिका शब्द आचार्य सुहस्ती के शिष्यगण का सौराष्ट्र क्षेत्र में विहरण करने का संकेत है। कई शोध विद्वानों का अनुमान है कि इस समय तक आचार्य सुहस्ती के श्रमणों द्वारा धर्म प्रचार का क्षेत्र सौराष्ट्र तक विस्तृत हो गया था।

कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं आचार्य सुहस्ती के जीवन से संबद्ध हैं।

आचार्य सुहस्ती के शिष्यों में आहार गवेषणा संबंधी शिथिलाचार को पनपते देखकर आचारनिष्ठ आचार्य महागिरि द्वारा साम्भोगिक विच्छेद की घटना हुई। इससे पूर्व आचार्यों का एक ही संभोग था।[३५]

अवन्ति के श्रीसंपन्न वसुभूति श्रेष्ठी को अध्यात्मबोध देने का श्रेय आचार्य सुहस्ती को है। गणाचार्य, वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य की परम्परा आचार्य सुहस्ती के समय में प्रारम्भ हुई।

श्रुतधर आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ती के अतिरिक्त अन्य श्रुतधर आचार्यों के जीवन प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। दशवें श्रुतधर वज्रस्वामी का जीवन विस्तार के साथ इसी पुस्तक में वज्रस्वामी के प्रकरण में है।

दिगम्बर परम्परा में दशपूर्वधरों की संख्या ग्यारह है, उनके नाम तथा समयावधि इस प्रकार हैं

१.	विशाखाचार्य	१० वर्ष
२.	प्रोष्ठिल	१९ वर्ष
३.	क्षत्रिय	१७ वर्ष
४.	जयसेन	२१ वर्ष
५.	नागसेन	१८ वर्ष
६.	सिद्धार्थ	१७ वर्ष
७.	धृतिषेण	१८ वर्ष
८.	विजय	१३ वर्ष
९.	बुद्धिल्ल	२० वर्ष
१०.	गंगदेव	१४ वर्ष
११.	धर्मसेन	१६ वर्ष
		१८३ वर्ष

३४. ताव वि अज्जमहागिरि सुहत्थी य पीतिवसेण एक्कओ विहरंति ॥
(निशीथभाष्य चूर्णि भाग २ पृ.३६१)

३५. वद्धमाणसामिस्स सीसो सोहम्मो.....थूलभद्दं जाव सव्वेसिं एक्क संभोगो आसिरे।
(निशीथभाष्य चूर्णि भाग २ पृ. ३६०)

ये ग्यारह ही मुनि द्वादशांगी के विशिष्ट ज्ञाता और दशपूर्वधर ज्ञान के स्वामी थे।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार 'दशपूर्वधरों' की समयावधि इस प्रकार है

१. महागिरि (वी. नि. २१५-२४५)	३० वर्ष
२. सुहस्ती (वी. नि. २४५-२९१)	४६ वर्ष
३. गुणसुन्दर (वी. नि. २९१-३३५)	४४ वर्ष
४. कालक (प्रज्ञापना कर्ता) (वी. नि. ३३५-३७६)	४१ वर्ष
५. स्कंदिल (पाण्डिल्य) (वी. नि. ३७६-४१४)	३८ वर्ष
६. रेवतीमित्र (वी. नि. ४१४-४५०)	३६ वर्ष
७. आर्यधर्म (वी. नि. ४५०-४९५)	४५ वर्ष
८. भद्रगुप्त (वी. नि. ४९५-५३३)	३८ वर्ष
९. श्रीगुप्त (वी. नि. ५३३-५४८)	१५ वर्ष
१०. वज्र (वी. नि. ५४८-५८४)	३६ वर्ष
	३६९ वर्ष

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार दशपूर्वधरों की परम्परा दीर्घकालीन है।

तत्कालीन राजवंश

निर्ग्रन्थ शासन के साथ राजवंशों का घनिष्ठ संबंध रहा है। भगवान् महावीर के जो भी संपर्क में आया वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। उनकी पीयूषवर्षी वाणी को सुनने के लिए साधारण जन और सम्राट् सभी लालायित रहते थे।

सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार)

सम्राट् श्रेणिक भगवान् महावीर के अनुयायी राजाओं में सर्वाधिक विश्रुत है। आगमों के अनेक स्थलों पर श्रेणिक का उल्लेख है। श्रेणिक-पुत्र मेघकुमार, नन्दिषेण आदि भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित हुए। श्रेणिक-पुत्र अमात्य अभयकुमार ने भी निर्ग्रन्थशासन में मुनिदीक्षा ग्रहण की थी।

श्रेणिक की कई रानियों को इस धर्मसंघ में दीक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

चंपा नरेश दधिवाहन की पुत्री राजकुमारी चंदनबाला महावीर के संघ में प्रथम साध्वी बनी तथा प्रवर्तनी पद पर नियुक्त हुई। प्रवर्तनी साध्वी चन्दनबाला ने छत्तीस हजार साध्वियों का नेतृत्व किया।

सम्राट् श्रेणिक जिन धर्म के प्रति अनन्य निष्ठावान था। वह क्षायक सम्यक्त्व का धनी था।

गणराज्य अध्यक्ष चेटक

चेटक शक्तिशाली वैशाली गणराज्य का अध्यक्ष था। प्रजातंत्र का जो रूप आज हम देख रहे हैं उसका वही स्वरूप ढाई हजार वर्ष पूर्व वैशाली गणराज्य में देखने को मिलता था। वैशाली राज्य ९८ विभागों में विभक्त था, जिसका प्रतिनिधित्व नौ लिच्छवी तथा नौ मल्ली राजा करते थे। वे सभी जैन धर्मानुयायी थे। राज्य का संचालन गण परिषद द्वारा होता था।

चेटक की जैन धर्म में अगाध आस्था थी। चेटक-कोणिक के भीषण युद्ध में भी चेटक ने स्वीकृत नियमों का पालन किया। चेटक ने अपनी पुत्रियों का संबंध सुप्रसिद्ध उच्च राजवंशों में किया। सिन्धु-सौवीर प्रदेश के राजा उदायन के साथ प्रभावती का, अंग प्रदेश के राजा दधिवाहन के साथ पद्मावती का, वत्स देश के राजा शतानिक के साथ मृगावती का, उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत के साथ शिवा का, महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नंदीवर्द्धन के साथ ज्येष्ठा का एवं मगध नरेश श्रेणिक के साथ चेलना का विवाह हुआ। ज्येष्ठा महावीर के मामा की पुत्री थी।

सुज्येष्ठा भगवान् महावीर के संघ में साध्वी बनी। चेटक के अजैन दामादों को जैन बनाने का श्रेय चेटक की पुत्रियों को है।

भगवान् महावीर की मां त्रिशला चेटक की बहिन थी। महावीर चेटक के भागिनेय थे। चेटक का पूरा परिवार भी वीतराग शासन के प्रति अनन्य निष्ठावान था।

भवसंतापहारिणी तीर्थंकर देव की वाणी के प्रभाव से उस समय के कई राजवंशों का वातावरण धार्मिक

भावनाओं से ओत-प्रोत था।

पोतनपुर नरेश प्रसन्नचन्द्र, दशार्णपुर नरेश दशार्णभद्र आदि अनेक भूपाल जैन धर्म के अनुयायी थे।

सम्राट् कोणिक (अजातशत्रु)

भगवान् महावीर के समय में मगध पर सम्राट् श्रेणिक (बिम्बसार) का एवं अवन्ति पर चण्डप्रद्योत का शासन था। सम्राट् श्रेणिक का वीर निर्वाण के लगभग १७ वर्ष पूर्व देहावसान हो गया। श्रेणिक के बाद मगध पर कोणिक (अजातशत्रु) का शासन स्थापित हुआ। तीर्थङ्कर महावीर निर्वाण के बाद आचार्य सुधर्मा के शासनकाल में मगध पर कोणिक का एवं अवन्ति पर पालक का राज्य था।

नरेश कोणिक वीतराग शासन के प्रति दृढ़ आस्थाशील था। तीर्थङ्कर महावीर के प्रतिदिन के सुख-संवाद सुनने के लिए वह सदा उत्सुक रहता था। उसके राज्य में एक ऐसे विभाग की व्यवस्था थी जिससे नरेश को तीर्थङ्कर महावीर के सुख-संवाद निरन्तर प्राप्त हो सके। औपपातिक उपांग में इस विषय का विस्तार से वर्णन है। आचार्य सुधर्मा की परिषद में नरेश कोणिक उपस्थित होता रहता था।

एक बार तेजस्वी, वर्चस्वी एक मुनि को आचार्य सुधर्मा के परिपार्श्व में बैठे देख कर नरेश कोणिक ने प्रश्न किया था

भगवन्नद्भुतं रूपमिदं सौभाग्यमद्भुतम्।
तेजाऽप्यद्भुतमेतस्य, महर्षेः सर्वमद्भुतम् ॥३६॥
महाभाग्यस्य सौभाग्यमप्यस्य न गिरां पथि।
यदेनं बन्धुमिव मे पश्यतः प्रीयते मनः ॥४४॥
जम्बू प्राग्भववृत्तान्तमधाख्यद् गणभृद्वरः।
श्रेणिकाय यथाऽऽचख्यौ पुरा श्रीज्ञातनन्दनः ॥४८॥
(परि. पर्व, सर्ग ४)

आचार्यदेव! आपकी श्रमण मण्डली में अपार रूप सम्पदा के स्वामी ये तेजस्वी मुनि कौन हैं? इनको देखकर मेरे मन में प्रीति का भाव जागृत हो रहा है।

अपने प्रश्न के उत्तर में आचार्य सुधर्मा से जम्बू मुनि के जीवन का पूर्वभव सहित विस्तार से परिचय पाकर नरेश कोणिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

दोनों प्रसंग जैन धर्म के प्रति नरेश कोणिक की हार्दिक निष्ठा को प्रमाणित करते हैं।

सम्राट् चण्डप्रद्योत

भगवान् महावीर के समय में अवन्ति पर चण्डप्रद्योत का शासन था। राजा चण्डप्रद्योत तीर्थंकर महावीर का परमभक्त था। भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उसी रात्रि में चण्डप्रद्योत का देहावसान हो गया।[३५] अवन्ति के राज-सिंहासन पर प्रद्योत-पुत्र पालक आरूढ़ हुआ। राजा चण्डप्रद्योत तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का परम भक्त था। पालक भी जैन धर्म में आस्थावान था। राज्यकाल के बीसवें वर्ष में अपने पुत्र 'अवन्तिवर्द्धन' को राज्य सौंपकर तथा राष्ट्रवर्द्धन को युवराज बनाकर आचार्य सुधर्मा के पास पालक ने मुनि दीक्षा ग्रहण की।

सम्राट् उदायी

मगध नरेश उदायी जैन धर्म का उपासक था। कोणिक की राजधानी चंपा थी। उदायी ने राजधानी के लिए पाटलिपुत्र की स्थापना की। पाटलिपुत्र की स्थापना का रोचक इतिहास परिशिष्ट पर्व, आवश्यक निर्युक्ति चूर्णि ग्रंथों में विस्तार से है। उदायी का ४० वर्ष का क्षेमंकर शासनकाल था।

अष्टमी और चतुर्दशी को उदायी पौषधोपासना किया करता था। देहावसान के समय में भी पौषध क्रिया में (धर्माराधना की विशेष प्रवृत्ति) प्रवृत्त था।

---

३५. जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥६२०॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

नंद वंश

उदायी के बाद मगध पर नंद वंश का शासन स्थापित हुआ। इस समय वी. नि. के ६० वर्ष व्यतीत हो गए थे। वैदिक ग्रंथों में वर्णित शिशुनाग वंशीय राजाओं के शासन का यह समापनकाल था। नन्द शासन का इस समय अभ्युदय हो रहा था। नंद शासन के प्रारम्भिक समय में आचार्य जम्बू के धर्मशासन काल का उत्तरार्ध चल रहा था। उनके शासनकाल के चार वर्ष अवशिष्ट थे।

नंदों के शासनकाल में जैन अमात्यों का अभ्युदय जैन इतिहास का सुनहला पृष्ठ है।

कल्पाक नंद वंश का प्रथम महामात्य था। कल्पाक के गुणों से प्रभावित होकर नरेश नंद ने महामात्य पद पर इसकी नियुक्ति की। कल्पाक की बुद्धि से नंद साम्राज्य का चतुर्मुखी विकास हुआ। कल्पाक के वंशज नंदों के शासनकाल में अमात्य पद के दायित्व को निभाते रहे। नौवें नंद के समय महामात्य पद पर बुद्धिमान शकडाल था। शकडाल का पूरा परिवार जैन संस्कारों से ओत-प्रोत था।

शकडाल कुशल राजनीतिज्ञ था। नंद साम्राज्य की कीर्तिलता महामंत्री के कौशल से दिगु-दिगन्त में प्रसारित थी। वीर निर्वाण के बाद अवन्ति पर ६० वर्ष तक पालक का एवं मगध पर श्रेणिक के वंशजों का शासन था। इसके बाद मगध पर १५० वर्ष अथवा १५५ वर्ष तक नंदों का शासन रहा।[३७] जैन इतिहास के अनुसार नंदों के शासन काल में नौ नंद हुए। इस काल में आचार्य प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, सम्भूतविजय, भद्रबाहु एवं स्थूलभद्र जैसे श्रुतसम्पन्न प्रभावी आचार्य हुए।[३८] इन आचार्यों के प्रयत्नों से संपूर्ण मगध राज्य में तथा अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग तक जैन धर्म के स्वर गुंजायमान थे। महामात्य शकडाल के पारिवारिक सदस्य स्थूलभद्र, श्रीयक एवं सातों पुत्रियों का दीक्षा-संस्कार आचार्य सम्भूतविजय के द्वारा हुआ। शोध विद्वानों के मतानुसार सभी नन्द नरेश जैन थे। नंद वंश शासन के अमात्य भी जैन थे। नंदों का भारत के उत्तर भाग में हिमालयवर्ती प्रदेशों पर भी शासन था। कश्मीर भी उनके अधिकार में था अतः वहां तक जैन धर्म के विस्तार की संभावना है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त और चाणक्य

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और मंत्रीश्वर चाणक्य का आगमन नंद साम्राज्य में क्रान्ति रूप में हुआ। यह क्रान्ति महामात्य शकडाल की मृत्यु और स्थूलभद्र एवं श्रीयक की दीक्षा के बाद हुई।

चाणक्य कुशल राजनीतिज्ञ था वह किसी आयोजन में अपमानित होने पर नंद राज्य का शत्रु बन गया। चाणक्य को चन्द्रगुप्त का योग मिला। दोनों ने मिलकर सैन्यदल तैयार किया। प्रथम बार चन्द्रगुप्त और चाणक्य को करारी हार मिली परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी।

पर्वत नरेश को साथ में मिलाकर उन्होंने युद्ध लड़ा। संयुक्त सैन्यदल के सामने सुदृढ़ नंद साम्राज्य की नींव हिल गई। नंद साम्राज्य का पतन एवं मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। यह समय वी. नि. २१५ का है।

इस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना यूनानी सम्राट् सिकन्दर का पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण था परन्तु नंद राज्य की सुदृढ़ता के कारण वह मगध की ओर नहीं बढ़ पाया। कुशल राजनीतिज्ञ चन्द्रगुप्त और चाणक्य के द्वारा नंद साम्राज्य का पतन हुआ। जैन इतिहास के अनुसार नंदों का शासन काल १५५ वर्ष का था।

---

३७. सट्ठी पालगरज्जो, पणयन्न सयं तु होइ नंदाणं।
अट्ठसयं मूरियाणं तीसञ्चिया पूसमित्तस्य ॥
(मेरुतुंगसूरि कृत विचारश्रेणी)

३८. सिरि जिणनिव्वाणगमणपरयणीए उज्जेणीए चंडपज्जोअमरणे पालओ राया अहिसित्तो। तेण य अप्पत्तउदाइमरणे कोणिअरज्जं पाडलिपुरं पि अहिट्ठिअं ॥ तस्य य वरिस ६० रज्जे गोयम १२ सुहम्म ८ जम्बू ४४ जुगप्पहाण पुणो पाडलीपुरे ११, १०, १३, २५, २५, ६, ६, ४, ५५ नवनंद एवं वर्ष १५५ रज्जे जंबू शेष वर्षाणि ४, प्रभव ११, शय्यंभव २३, यशोभद्र ५०, संभूतविजय ८, भद्रबाहु १४, स्थूलभद्र ४५ एवं निर्वाणात् ॥२१५॥
(दुष्यमाकाल श्रीसमणसंघअवचूरि)

भारत के राजनैतिक इतिहास का जो प्राचीन युग है उसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक इतिहास चन्द्रगुप्त का है। मौर्य साम्राज्य की स्थापना के बाद चन्द्रगुप्त ने राज्य के विस्तार को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया। चन्द्रगुप्त ने सर्वप्रथम भारत को राजनैतिक दृष्टि से एक सूत्र में बांधा। उसका साम्राज्य विंध्याचल की सीमा से भी आगे तक विस्तृत था। यूनानी शासन से भारत को मुक्त करने का महत्त्वपूर्ण कार्य चन्द्रगुप्त ने किया था।

चाणक्य का जन्म वी. नि. १५२ (वि. पू. ३१८, ई. पू. ३७५) के लगभग का है। गोल्ल उसकी जन्मभूमि थी। माता का नाम चणकेश्वरी एवं पिता का नाम चणक था। चणक और चणकेश्वरी दोनों धर्म प्रधान वृत्ति के थे। चाणक्य का जन्म हुआ उस समय जैन संत, ब्राह्मण चणक के मकान में विराज रहे थे।[३९] बालक के लिए संतों ने बताया था कि यह राजा के समकक्ष प्रभावशाली होगा।[४०] संतों की भविष्यवाणी फलित हुई। चाणक्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का अभिन्न अंग था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का २५ वर्ष का शासनकाल भारतीय इतिहास में स्वर्णिमकाल कहलाता है।

सम्राट् बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार ने राज्य भार संभाला। बिन्दुसार मौर्य वंश का द्वितीय सम्राट् एवं मगध साम्राज्य का शक्तिशाली अधिपति था। इस समय धर्म प्रभावक आचार्य महागिरि और सुहस्ती थे। दुष्काल में भिखारी को आचार्य सुहस्ती द्वारा दीक्षा देने की घटना बिन्दुसार के युग की बताई गई है। बिन्दुसार के शासनकाल में महामात्य चाणक्य वृद्धावस्था में था। उसने बुद्धिमानी-पूर्वक बहुत जल्दी ही अमात्य पद से मुक्ति ले ली। जैन श्वेताम्बर ग्रंथों में चाणक्य के द्वारा अन्तिम समय में अनशन की स्थिति स्वीकार करने का वर्णन है एवं आराधना आदि दिगम्बर ग्रंथों में चाणक्य की कठिन तपस्याओं का उल्लेख मिलता है।

प्रजा-वत्सल, धर्म-प्रेमी, कुशल राज्य-संचालक बिन्दुसार का देहावसान वी. नि. ३२४ (वि. पू. १४६, ई. पूर्व २०३) में हुआ था। बिन्दुसार का शासनकाल सुव्यवस्थित एवं शांतिपूर्ण था।

सम्राट् अशोक

मौर्य वंश का तृतीय शक्तिशाली नरेश अशोक था। अशोक की गणना विश्व के महान् सम्राटों में की जाती है। अशोक योग्य और प्रतापी नरेश था। उसके पुत्र का नाम कुणाल था।

नंद नरेश ने वी. नि. १०३ (वि. पू. ३६७, ई. पू. ४२४) के लगभग कलिंग देश पर विजय प्राप्त की। वहीं से लौटते समय वह साथ में जैन मूर्ति भी ले आया। उस समय से ही कलिङ्ग राज्य मगध के अधीन था। नंद वंश के पतन के बाद कलिङ्ग पूर्ण स्वतंत्र हो गया। अशोक ने वी. नि. ३८३ (वि. पू. ८७, ई. पू. १४४) के लगभग अपने राज्य काल के आठवें वर्ष में विशाल सेना के साथ पुनः कलिङ्ग पर आक्रमण किया। भयंकर युद्ध हुआ। इसमें कलिङ्ग की करारी हार हुई। इस घटना के बाद विजयी अशोक का मन अध्यात्म की ओर उन्मुख हुआ। उसने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को सुदूर लंका में भेज कर धर्म प्रचार करवाया। अशोक बौद्ध धर्मानुयायी था। उसने बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए विशेष योगदान दिया।

ब्राह्मण-साहित्य में अशोक का उल्लेख प्रायः नहीं है। जैन ग्रंथों एवं बौद्ध ग्रंथों में प्राप्त अशोक के ऐतिहासिक तथ्यों को पूर्ण समर्थन नहीं है। अशोक के संबंध में सबसे बड़ा ऐतिहासिक आधार अशोक के शिलालेख हैं। ये

---

३९. इतश्च गोल्लविषये ग्रामे चणकनामनि।
ब्राह्मणोऽभूच्चणी नाम तद्भार्या च चणेश्वरी ॥१६४॥
बभूव जन्मप्रभृति श्रावकत्वचणश्चणी।
ज्ञानिनो जैनमुनयः पर्यवात्सुश्च तद्गृहे ॥१६५॥
(परि. पर्व सर्ग ८)

४०. स मुनिभ्यस्तदप्याख्यन्मुनयोऽप्येवमूचिरे।
भाव्येष विम्बान्तरितो राजा रत्नचयैर्वृतः ॥१९६॥
(परि. पर्व सर्ग ८)

शिलालेख प्रामाणिक रूप से अशोक के जीवन को प्रस्तुत करते हैं। इन शिलालेखों में कई शिलालेख स्वयं अशोक द्वारा लिखवाये गए हैं, कई शिलालेख उसके पौत्र संप्रति द्वारा लिखवाये गए हैं। इन शिलालेखों से अशोक के बौद्ध होने की अपेक्षा जैन होने का अधिक समर्थन मिलता है। अशोक का मूल धर्म जैन था। उसके पिता और पितामह जैन थे अतः वह जीवन के पूर्वार्द्ध में अवश्य ही जैन था। नीति परायण एवं प्रतापी अशोक का देहावसान ई. पू. २३४ या २३२ के लगभग हुआ।

सम्राट् सम्प्रति

सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल एवं कुणाल का पुत्र सम्प्रति था। राजकुमार कुणाल कौमार्य अवस्था में अपने नयनों को खो चुका था। कुणाल पुत्र सम्प्रति मौर्य सम्राट् अशोक का उत्तराधिकारी बना। सम्राट् सम्प्रति भी अपने प्रपितामह और पितामह की भाँति धर्मप्रेमी एवं प्रतापी नरेश था। मौर्यवंशी राजाओं में चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणाल, सम्प्रति, पुष्यरथ एवं वृहद्रथ सम्राट् हुए। इन सात पीढ़ियों में एक सौ साठ वर्ष के राज्यकाल में सम्राट् सम्प्रति के राज्य को जैन ग्रंथों में सर्वोत्तम माना है।[४१] बौद्ध ग्रंथों में धर्म प्रचार की दृष्टि से जो स्थान सम्राट् अशोक का है जैन ग्रंथों में वही स्थान सम्राट् सम्प्रति का है।

जैन शासन की प्रभावना में आचार्य सुहस्ती एवं सम्राट् सम्प्रति का विशिष्ट योगदान है।

मौर्यवंशी कुणाल पुत्र सम्राट् सम्प्रति आचार्य सुहस्ती से सम्यक्त्व रत्न प्राप्त कर जैन-धर्म का व्रतधारी श्रावक बना और उसने जैन शासन के लिए जो यशस्वी कार्य किए वे इतिहास के पृष्ठों में अंकित रहेंगे। जैन सम्राट् सम्प्रति जैन राजाओं में प्रथम सम्राट् था, जिसने अपने राजपुरुषों को जैन धर्म का प्रशिक्षण देकर श्रमण-परिधान सहित उन्हें अनार्य क्षेत्रों में प्रेषित किया।[४२] सम्राट् सम्प्रति के निर्देशानुसार राजपुरुषों ने अनार्य एवं अधार्मिक लोगों में जैन संस्कारों के बीज वपन कर अनार्य भूमि को चरित्रनिष्ठ श्रमणों के लिए विहरण योग्य बनाया। अरब, ईरान आदि विदेशों में भी जैन संस्कारों को पल्लवित कर धर्म प्रचार के क्षेत्र में सम्प्रति ने कीर्तिमान स्थापित किया। विसेन्ट स्मिथ के अनुसार सम्प्रति ने अरब, ईरान आदि देशों में जैन संस्कृति के केन्द्र स्थापित किया।

आधुनिक शोध विद्वानों के अभिमत से अशोक के नाम से सुप्रसिद्ध शिलालेखों में से अधिकांश शिलालेख सम्राट् सम्प्रति के द्वारा उत्कीर्ण करवाया जाना संभव है।

यशस्वी धर्मानुरागी सम्राट् सम्प्रति का देहावसान ई. पू. १९० के लगभग हुआ।

जैन धर्म और सम्राट् खारवेल

उड़ीसा प्रान्त का प्रतापी शासक खारवेल जैन उपासक था। वह महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय की उत्तरवर्ती राज-परम्परा से संबंधित था। उसका दूसरा नाम महामेघवाहन था।

जैनाचार्यों और प्रभावक राजाओं की शृंखला में आचार्य सुधर्मा के साथ नरेश कोणिक (अजातशत्रु) का, आचार्य सुहस्ती के साथ सम्राट् सम्प्रति का, आचार्य सिद्धसेन के साथ विक्रमादित्य, कूर्मार-नरेश देवपाल आदि कई राजाओं का, आचार्य समन्तभद्र के साथ शिवकोटि नरेश का, आचार्य पूज्यपाद (देवनंदी) के साथ नरेश अविनीत कोंगुणी एवं दुर्विनीत कोंगुणी का, आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र

---

४१. जवमज्झ सुरियवंसे, दाणे वणि-विवणि दारसंतोए ।
तसजीवपडिक्कमओ, पभावओ समणसंघस्स ॥३२७८॥
यथा ययो मध्यभागे पृथुल आदावन्ते च हीनः एवं मौर्यवंशोऽपि।
तथापि चंद्रगुप्तस्तावद् बलवाहनादिभूत्या हीन आसीत् ततो बिन्दुसारो बृहत्तरः ततोऽप्यशोकश्रीर्बृहत्तमः ततः संप्रतिः सर्वोत्कृष्टः, ततो भूयोऽपि तथैव हानिरवसातव्या, एवं यवमध्यकल्पः संप्रतिनृपतिरासीत्।
बृहत्कल्प भाष्य भाग ३, पत्र १७-१८)

४२. तद्वंशे (मौर्य) तु बिंदुसारोऽशोकश्रीः कुणालस्तत्सुतस्त्रिखण्डभरताधिपः परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहारः संप्रतिमहाराजश्चाभवत्।
(विविध तीर्थकल्प पृ. ९९)

के साथ नरेश अमोघवर्ष और अकालवर्ष का, आचार्य बप्पभट्टी के साथ आम राजा का, आचार्य हेमचंद्र के साथ सिद्धराज जयसिंह और चौलुक्य कुमारपाल का, आचार्य जिनप्रभसूरि के साथ बादशाह तुगलक का, आचार्य हीरविजयजी एवं जिनचन्द्रसूरि के साथ बादशाह अकबर का इतिहास गौरवमय शब्दों में लिखा हुआ है पर महाराज खारवेल का उल्लेख इस लम्बी शृंखला में कहीं और किसी आचार्य के साथ जैन ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है। इस आधार पर इतिहासकारों ने सम्राट् खारवेल को पार्श्वापत्यिक संघ का अनुयायी माना है।

जैन प्रचार-प्रसार का व्यापक रूप में जो कार्य कलिंगाधिपति खारवेल ने किया वह अद्वितीय था। अपने समय में उन्होंने एक वृहद् जैन सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें आस-पास के अनेक जैन भिक्षु, आचार्य, विद्वान् तथा विशिष्ट उपासक सम्मिलित हुए।

सम्राट् खारवेल को उसके कार्यों की प्रशस्ति के रूप में धम्मराज, भिक्खुराज, खेमराज जैसे शब्दों से संबोधित किया गया। हाथीगुंफा (उड़ीसा) के शिलालेख में इसका विशद वर्णन है।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार महामेघवाहन भिक्षुराज खारवेल सम्राट् ने कुमारी पर्वत पर यह श्रमण सम्मेलन आयोजित किया। इस सम्मेलन में महागिरि परम्परा के बलिस्सह, बौद्धलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि २०० जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले श्रमण एवं आर्य सुस्थित, आचार्य सुप्रतिबुद्ध, आचार्य उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि ३०० स्थविरकल्पी श्रमण थे। आर्या पोइणी आदि ३०० साध्वियां, भिक्खुराय, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रमणोपासक और पूर्णमित्रा आदि ७०० उपासिकाएं विद्यमान थीं।

श्यामाचार्य ने इस अवसर पर पन्नवणा सूत्र की, आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र की और स्थविर आचार्य बलिस्सह ने अंगविद्या प्रभृति शास्त्रों की रचना की।

बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि स्थविर श्रमणों ने खारवेल सम्राट् की प्रार्थना से सुधर्मा रचित द्वादशांगी का संकलन किया एवं भोजपत्र, ताड़पत्र और वल्कल पर उसे लिपिबद्ध करवा कर आगम वाचना के ऐतिहासिक पृष्ठों में महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। श्रमणों को धर्मोन्नति हेतु मगध, मथुरा, बंग आदि सुदूर प्रदेशों में विहरण करने की प्रेरणा इसी सम्मेलन से प्राप्त हुई। इस सम्मेलन की मुख्य प्रवृत्ति आगम-वाचना के रूप में निष्पन्न हुई।

सम्राट् खारवेल वी. नि. ३०० (वि. पू.१७०, ई. पू. २२७) के आस-पास सिंहासन पर आरूढ़ हुए और वी. नि. ३३० (वि. पू. १४०, ई. पू. १९७) में उनका देहावसान हुआ, अतः वी. नि. ३०० से ३३० के बीच में इस आगम वाचना का काल संभव है।

जैन-शासन के विशिष्ट विद्यासम्पन्न आचार्य

आचार्य कालक इस युग के विशिष्ट प्रभावोत्पादक विद्वान् तथा धर्म के प्रबल प्रचारक थे।

जैन इतिहास ग्रंथों में प्रमुखतः कालक नामक चार आचार्यों का उल्लेख है। प्रथम कालक श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे निगोद व्याख्याता, शक्र संस्तुत एवं पन्नवणासूत्र के रचनाकार थे। उनका कालमान वी. नि. ३३५ (वि. पू. १३५, ई. पू. १९२) है।[४३]

द्वितीय कालक गर्दभिल्लोच्छेदक के रूप में प्रसिद्ध हैं।[४४] वे साध्वी सरस्वती के भ्राता थे। उनका समय वी. नि. ४५३ (वि. पू. १७, ई. पू. ७४) माना है।[४५]

---

४३. तिरिवीराओ गएसु, पणतीसहिए तिसयवरिसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामुज्जनामु त्ति ॥२७२॥
(रत्नसंचय प्रकरण)

४४. तह गद्दभिल्लरज्जस्स, छेयगो कालगारिओ होही।
छत्तीसगुणोवेओ गुणसयकलिओ महाजुत्तो ॥१॥
(दुष्यमाकाल श्री श्रमणसंघ स्तोत्र-अवचूरि)

४५. चउसयतिपन्नवरिसे, कालिगगुरुणा सरस्सई गहिया।
चिहुसयसत्तरिवरिसे, वीराऊ विक्कमो जाओ ॥२७३॥
(रत्न संचय प्रकरण से)

मेरुतुंगीया विचार श्रेणी की काल-गणना के अनुसार गर्दभिल्लोच्छेदक घटना प्रसंग का समय वी. नि. ४६६ (वि. पू. ४) का संभव है।

तृतीय कालक वी. नि. ७२० (वि. २५०) में हुए हैं।[४५] उनका जीवन संबंधी वृत्तान्त विशेष उपलब्ध नहीं है।

चतुर्थ कालक वी. नि. ९९३ (वि. ५२३) में हुए हैं। वल्लभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार वीर-निर्वाण की पट्ट परम्परा में वे सत्ताईसवें आचार्य थे। संभवतः देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की आगम-वाचना के समय नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि रूप में आचार्य कालक (चतुर्थ) उपस्थित थे।

सिंधु प्रदेश जाकर विद्याबल से शकों को प्रभावित करने वाले द्वितीय कालक थे। प्रतिष्ठानपुर का राजा शातवाहन उनका भक्त था। शातवाहन ने षड्यंत्र रचकर भृगुकच्छ नरेश पर विजय पाई।

बलमित्र और भानुमित्र के द्वारा पावसकाल में निष्कासित किए जाने पर अथवा राजपुरोहित द्वारा विहार करने जैसी परिस्थितियां पैदा करने पर अवन्ति से विहार कर आचार्य कालक प्रतिष्ठानपुर में आए और राजा शातवाहन की प्रार्थना पर उन्होंने वहां चतुर्थी को संवत्सरी पर्व मनाया। श्रमणों ने संवत्सरी पर्व के प्रवर्तित दिन को एक रूप में मान्य किया, यह आचार्य कालक के श्रुत-संपन्न व्यक्तित्व का प्रभाव था। चतुर्थी को संवत्सरी मनाने का यह समय वी. नि. ४५७ से ४६५ (वि. पू. १३ से ५) तक अनुमानित किया गया है। पावसकाल में आचार्य कालक को निष्कासित करने वाले बलमित्र और भानुमित्र के अवन्ति-शासन का लगभग यही समय था।

मेरुतुंग-विचार श्रेणी की काल गणना के अनुसार चतुर्थी को संवत्सरी मनाने का यह समय वी. नि. ४७० या उसके बाद का संभव है। उज्जयिनी में वी. नि. ४६६ (वि. पू. ४) तक गर्दभिल्ल नरेश का शासन था।

श्रुताध्ययन में प्रमत्त शिष्यों को छोड़कर आचार्य कालक ने एकाकी अवन्ति से स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थान किया। अपने प्रशिष्य सागर को बोध देते हुए उन्होंने कहा "शिष्य ! श्रुत का कभी गर्व मत करना। तीर्थङ्करों के पास जितना ज्ञान था, उतना गणधरों के पास नहीं था। गणधरों का संपूर्ण ज्ञान आचार्य नहीं ले सके। हमारे पूर्वाचार्यों के पास जो था वह पूर्णतः हमारे पास नहीं है। धूलि को मुट्ठी में भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रक्षेप करते रहने पर वह हमेशा कम होती जाती है।"[४७]

आचार्य कालक की ये प्रवृत्तियां श्रुतज्ञान को परिपुष्ट करने वाली थीं। शिष्य-प्रशिष्यों को अनुयोग प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य कालक ने किया।[४८]

आचार्य पादलिप्त और आचार्य खपुट भी आचार्य कालक की भांति चामत्कारिक विद्या के धनी थे। आचार्य पादलिप्त ने प्रतिष्ठानपुर के राजा मुरुण्ड को, ओंकारपुर के राजा भीम को एवं मानखेटपुर के राजा कृष्ण को प्रभावित कर उन्हें जैन शासन के प्रति आस्थाशील बनाया। आचार्य खपुट ने गुडशस्त्रपुर नरेश को विद्याबल से प्रभावित किया।

विद्या के धनी आचार्य कालक, खपुट और पादलिप्त इस आगम युग के आचार्य थे। इन आचार्यों की मुख्य

---

४६. पंचेव य वरिससए, सिद्धसेणे दिवायरो पयडो।
सत्तसय वीस (७२०) अहिय, कालिकगुरू
सक्कसंथुणिओ ॥२७४॥ (रत्न संचय प्रकरण)

४७. सागारियमप्पाहण, सुवन्न सुयसिस्स खंतलक्खेण।
कहणाएसिस्सा गमणं धूली पुज्जोवमाणं च ॥२३६॥
आयरिया भणंत सुंदरं मा पुण गव्वं करिज्जामि। ताहे
धूलीपुञ्ज दिट्ठंतेणं करेंति धूली हत्थेण घेत्तुं तिसु ठाणेसु
ओयारेंति जहा एस धूली ठविज्जमाणी अक्खिप्पमाणी य
सव्वत्थ परिसडई एवं अम्हे वि तित्थगरेहिंतो गणहराणं,
गणहरेहिंतो जाव अम्हं आयरियउवज्झायाणं परपरेणं आगयं,
को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ता मा गव्वं काहिसि,
.....अज्जकालिया सीसस्य सीसाण अणुयोगं कहेउ।
(वृहत्कल्पभाष्य, भाग १, पत्र ७३, ७४)

४८. कालियसुयं च इसिभासिआइं तइओ अ सूरपन्नत्ती।
सव्वो अ दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥१२४॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरीवृत्ति पत्रांक, ३६६)

प्रवृत्ति आगमिक नहीं थी पर विद्याबल से जैनधर्म के प्रसार में अनुकूल वातावरण बनाकर प्रकारान्तर से इन्होंने आगम-प्रवृत्ति का निर्बाध पथ प्रशस्त किया।

पूर्वों की परम्परा का विच्छेद-क्रम

दशपूर्वधारी दस आचार्य हुए हैं। उनमें प्रथम दशपूर्वधर आचार्य महागिरि एवं द्वितीय दशपूर्वधर आचार्य सुहस्ती थे। विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी अन्तिम दशपूर्वधर थे। उनका स्वर्गवास वी. नि. ५८४ (वि. सं. ११४ ई. सन् ५७) में हुआ। उन्हीं के साथ दशपूर्वधर की धारा विलुप्त हो गई। दिगम्बर परम्परा के अनुसार दशपूर्व की ज्ञान-सम्पदा वी. नि. १८३ (वि. पू. २८७) तक सुरक्षित रही। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वधर थे।

श्रुतधर आचार्य वज्रस्वामी के पास आर्य रक्षित ने नौ पूर्व पूर्ण एवं दशवें पूर्व का लगभग अर्धभाग ग्रहण किया था। दृष्टिवाद को पढ़ने की प्रेरणा आर्यरक्षित को माता रुद्रसोमा से मिली। क्षीण होती हुई पूर्वज्ञान की धारा को सुरक्षित रखने के प्रयत्नों में नारी द्वारा पुरुष को दिशाबोध आगम-युग की महत्त्वपूर्ण घटना है। इतिहास साहित्य की निष्पक्ष धारा में कभी यह पहलू विस्मृत नहीं किया जा सकता। आर्यरक्षित का स्वर्गवास वी. नि. ५९७ (वि. १२७, ई. ७०) के आसपास हुआ था। आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र नौ पूर्वधर थे। आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र का स्वर्गवास वी. नि. ६१७ (वि. सं. १४७, ई. ९०) है। उनके बाद नौ पूर्व के ज्ञाता नहीं रहे पर पूर्वज्ञान की परम्परा वी. नि. १००० वर्ष तक सुरक्षित रही।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार अंग-आगम के ज्ञाता एवं अष्टांग महानिमित्त शास्त्र के विद्वान् आचार्य धरसेन थे। उनके पास विशाल पूर्वों का आंशिक ज्ञान सुरक्षित था। उन्होंने पूर्वांश को सुरक्षित रखने के लिए मेधावी शिष्य पुष्पदंत एवं भूतबलि को वाचना प्रदान की।

आगम-विच्छेद-क्रम

भगवान् महावीर की वाणी का प्रत्यक्ष श्रवण कर त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने आगम-रचना का कार्य किया। वीर निर्वाण के बाद आगम-सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण की सातवीं शताब्दी तक अंगागम का ज्ञान रहा। एकादशांगी के अन्तिम ज्ञाता आचार्य ध्रुवसेन थे। सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु लोहार्य ये चार आचार्य एक आचारांगसूत्र के ज्ञाता थे। आचार्य लोहार्य के बाद आचारांगसूत्र का कोई ज्ञाता नहीं हुआ। आचार्य लोहार्य का समय वी. नि. ६८३ (वि. २१३, ई. १५६) तक है अतः दिगम्बर मत से वी. नि. ६८३ (वि. २१३) तक आगम की उपलब्धि मानी जाती है। उसके बाद आगम का सर्वथा विच्छेद हो गया।

श्वेताम्बर परम्परा सर्वथा आगम-विच्छेद की परम्परा को स्वीकार नहीं करती। इस परम्परा के अनुसार आगम-वाचनाकार आचार्यों के सत्प्रयत्नों से आगम-संकलन का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और इससे आगमों की सुरक्षा होती रही है। आज भी जैन-शासन के पास एकादशांगी आगम निधि के रूप में भगवान् महावीर की वाणी का प्रसाद उपलब्ध है। दुष्काल की घड़ियों में आगम-निधि क्षत-विक्षत हुई, समय-समय पर आगम-साहित्य में उत्तरवर्ती विचार-धाराओं का सम्मिश्रण भी हुआ है। कहीं मूल रूप भी बदला है पर उसका पूर्ण लोप नहीं हुआ है। आचार्यों के प्रयत्नों से आगम-साहित्य का काफी मौलिक भाग सुरक्षित है। वह जैन समाज की अनमोल धरोहर है।

आगमपरक साहित्य

आगम युग में जैनाचार्यों द्वारा महत्त्वपूर्ण आगमपरक साहित्य का निर्माण हुआ। द्वादशांगी की देन आचार्य सुधर्मा की है, दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव, छेदसूत्रों के रचयिता आचार्य भद्रबाहु और प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य थे। दशवैकालिक, छेद सूत्र एवं प्रज्ञापना को अंग बाह्य आगम माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति, षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि, कषाय प्राभृत

के रचयिता आचार्य गुणधर एवं समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्ट प्राभृत आदि ग्रंथों के रचयिता आचार्य कुंदकुंद उस युग के विशिष्ट साहित्यकार थे।

आचार्य उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र जैन तत्त्वों का संग्राहक सूत्र है। जैनतत्त्वों के विवेचन में यह आधारभूत ग्रंथ माना गया है।

षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत और समयसार आदि ग्रंथों का दिगम्बर परम्परा में आगमवत उच्च स्थान है।

आगमयुग का यह साहित्य आगमपरक होने के कारण आगम-प्रवृत्ति को परिपुष्ट करता है।

अनुयोग व्यवस्था

अनुयोग व्यवस्था आगम के पठन-पाठन का सुव्यवस्थित और सुनियोजित क्रम (सूत्र और अर्थ का समुचित संबंध) है। अनुयोग चार हैं १. द्रव्यानुयोग, २. चरणकरणानुयोग, ३. धर्मकथानुयोग, ४. गणितानुयोग। पहले इन चारों अनुयोगों की भूमिका पर प्रत्येक आगम सूत्र का पठन-पाठन होता था। यह अत्यन्त दुरुह पठन-पाठन प्रणाली थी। आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसे प्रतिभा सम्पन्न शिष्य भी इस अध्ययन क्रम में कठिनाई का अनुभव कर रहे थे। आचार्य आर्यरक्षित ने इस तथ्य पर गहराई से चिन्तन कर शिक्षार्थी श्रमणों की सुविधा के लिए पठन पद्धति को चार भागों में विभक्त कर दिया।[४९] आगम वाचन की दिशा में यह शैक्षणिक क्रान्ति थी। इस क्रान्ति के जन्मदाता आचार्य आर्यरक्षित थे। यह उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में भी है। आचार्य आर्यरक्षित को आवश्यक निर्युक्ति में अनुयोग व्यवस्थापक एवं शक्रेन्द्र-पूजित कहा है। आर्यरक्षित श्रुतसंपन्न एवं सक्षम आचार्य थे। यही कारण है कि उनकी अनुयोग व्यवस्था को संघ ने निर्विरोध स्वीकार किया और उनके चरणों में नमन कर देवेन्द्र ने भी अपने को धन्य माना है।

परम्परा-भेद का जन्म

वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अविभक्त जैन श्रमण संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विशाल शाखाओं में विभक्त हुआ। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी. नि. ६०९ (वि. सं. १३९) में दिगम्बर मत की स्थापना हुई। दिगम्बर मत के अनुसार वी. नि. ६०६ (वि. सं. १३६) में श्वेताम्बर मत का अभ्युदय हुआ।

भेद का प्रमुख कारण वस्त्र था। दोनों परम्पराओं का नामकरण भी वस्त्र सापेक्ष है। एक परम्परा मुनियों द्वारा वस्त्र ग्रहण को परिग्रह नहीं मानती। दूसरी परम्परा सर्वथा इसके विरोध में थी। आचार्य जम्बू के बाद जिनकल्पी अवस्था का विच्छेद हो गया। 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' संयम धारणार्थ वस्त्र ग्रहण परिग्रह नहीं है इस आगम वाक्य से आचार्य शय्यम्भव द्वारा वस्त्र का प्रबल समर्थन अन्तर्विरोध की प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। दोनों परम्पराओं में प्रथम जन्म किसका हुआ यह अनुसंधान का विषय है।

जैन संघ में नाना गणों, कुलों, गच्छों और शाखाओं के उद्भव का सुविस्तृत इतिहास है। महावीर के शासनकाल में नौ गण और ग्यारह गणधर थे। आचार्य भद्रबाहु, महागिरि एवं सुहस्ती के शिष्यों से नौ गणों का जन्म हुआ। उनके नाम इस प्रकार हैं १. गोदागण, २. उत्तर बलिस्सहगण, ३. उद्देहगण, ४. चारणगण, ५. उडुपाटित-गण, ६. वेशपाटिकगण ७. कामर्द्धिगण, ८. मानवगण, ९. कोटिकगण।[५०]

इन गणों से कई शाखाओं और कुलों का उदय हुआ। कल्पसूत्र स्थविरावली में उनका उल्लेख इस प्रकार है

---

४९. वंदामि अज्जरक्खिय, खमणे रक्खिअचरित सव्वस्से।
रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥३२॥
(नंदी थेरावली २)

५०. गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे उडुवाडयगणे, वेस्सवाडयगणे, कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे।
(ठाणं ९/२९)

(१) १. ताम्रलिप्तिका, २. कोटिवर्षिका, ३. पाण्डुवर्धनिका, ४. दासीखर्वटिका ये चार शाखाएं गोदासगण की थीं।
(२) १. कोशाम्बिका, २. शुक्तिमतिका, ३. कोडवाणी, ४. चन्द्रनागरी ये चार शाखाएं उत्तर बलिस्सह गण की थीं।
(३) १. उदुंबरिज्जिका, २. मासपूरिका, ३. मतिपतिका, ४. सुवर्णपतिका ये चार शाखाएं तथा १. नागभूतिक, २. सोमभूतिक, ३. उल्लगच्छ, ४. हत्थिलिज्ज, ५. नंदिज्ज, ६. पारिहासिक ये छह कुल उद्देहगण के थे।
(४) १. हरियमालागारी, २. संकासिया, ३. गवेधूका, ४. विज्जनागरी ये चार शाखाएं तथा १. वत्थलिज्ज, २. पीइधम्मिय, ३. हालिज्ज, ४. पूसमीत्तिज्ज, ५. मालिज्ज, ६. अज्जवेडय, ७. कण्हसहा ये सात कुल चारणगण के थे।
(५) १. चंपिज्जिआ, २. भद्दिज्जिया, ३. काकंदिया, ४. मेहलिज्जिया ये चार शाखाएं तथा १. भद्दजस (भद्रयशिक), २. भद्दगुप्त (भद्दगुप्तिक), ३. जसभद्द (यशभद्रक) ये तीन कुल उडुपाटितगण के थे।
(६) १. सावत्थिया, २. रज्जपालिया, ३. अन्तरज्जिया, ४. खेमलिज्जिया ये चार शाखाएं तथा १. गणीय, २. मेहलिय, ३. कामड्ढिय, ४. इंदपूरग ये चार कुल वेसपाटिकगण के थे।
(७) कामार्द्धिकगण की कोई शाखा नहीं थी।
(८) १. कासवज्जिया, २. गोयमज्जिआ, ३. वासिट्ठिआ ४. सोरट्ठिआ ये चार शाखाएं तथा १. इसिगुप्तिय (ऋषिगुप्तिक), २. इसीदत्तिक (ऋषिदत्तिक), ३. अभिजयन्त ये तीन कुल माणवगण के थे।
(९) १. उच्चानागरी, २. विज्जाहरी, ३. वयरी, ४. मज्झिमिल्ला ये चार शाखाएं तथा १. बंभलिज्ज, २. वत्थलिज्ज, ३. वाणिज्ज, ४. पण्हवाहणय (प्रश्न वाहन) ये चार कुल कोटिकगण के थे।

आर्य शांतिसेन के शिष्य परिवार से अज्जसेणिया, अज्जतावसा, अज्जकुबेरा, अज्जइसिपालिया, आर्य समित से बह्मदीपिका, आर्य वज्र से वाज्रीशाखा, आर्य वज्र के शिष्य परिवार से अज्जनाइली, अज्जपोमिला एवं अज्जजयंति शाखा का जन्म हुआ।

आचार्य वज्रसेन के चार शिष्यों से उन्हीं के नाम पर निवृत्ति, नागेन्द्र, विद्याधर और चंद्रकुल का विकास हुआ। आगम युग में इन शाखाओं और कुलों का अभ्युदय संघ सुव्यवस्था के लिए था।

सिद्धांत-भेद और क्रिया-भेद के आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में जैन धर्म प्रथम बार विभक्त हुआ। यापनीय संघ की समन्वयात्मक नीति ने इन दोनों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न भी किया पर जो मतभेद की खाई बन गई थी वह मिट नहीं सकी।

श्वेताम्बर परम्परा का मुनि समुदाय वी. नि. ८८२ (वि. ४१२) में दो भागों में विभक्त हो गया। एक पक्ष चैत्यवासी सम्प्रदाय के नाम से तथा दूसरा पक्ष सुविहितमार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्यवासी मुनि मुक्त भाव से शिथिलाचार को समर्थन देने लगे। शिथिलाचार की धारा सर्वज्ञत्व उच्छिन्न होने के बाद श्रमण वर्ग में प्रविष्ट हुई। आचार्य महागिरि के द्वारा सांभोगिक विच्छेद की घटना का प्रमुख कारण श्रमणों द्वारा शिथिलाचार का सेवन था। दशपूर्वधर आचार्य सुहस्ती की विनम्र प्रार्थना पर आचार्य महागिरि ने सांभोगिक विच्छिन्नता के प्रतिबन्ध को हटा दिया था पर भविष्य में मनुष्य की माया-बहुल प्रवृत्ति का चिंतन कर उन्होंने सांभोगिक व्यवहार सम्मिलित नहीं किया था। उसके बाद सुदृढ़ अनुशासन के अभाव में श्रमणों द्वारा सुविधावाद को प्रश्रय मिलता गया। संप्रदाय के रूप में इस वर्ग की स्थापना वी. नि. की नौवीं (वि. की ५वीं) सदी के उत्तरार्द्ध में हुई। श्वेताम्बर परम्परा के भेद बीज का आगमयुग की सहस्राब्दी में यह प्रथम बार अंकुरण हुआ था।

आचार्य स्कन्दिल और आचार्य नागार्जुन

जैन परम्परा में आचार्य स्कन्दिल और आचार्य नागार्जुन आगम वाचनाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। नंदी स्थविरावली के अनुसार आचार्य स्कन्दिल ब्रह्मद्वीपकसिंह के शिष्य थे

एवं प्रभावक चरित्र में इनको विद्याधर वंश के और श्री पादलिप्तसूरि के कुल में माना है।

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन के समय में पुनः दुष्काल की काली घटाएं घिर आई थीं। इसमें श्रुतधरों की और श्रुत की क्षति हुई। दुष्काल के बाद आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में द्वितीय आगम वाचना हुई।[५१] इसमें उत्तर भारत में विहार करने वाले श्रमण भी सम्मिलित थे। यह वाचना मथुरा में होने के कारण माथुरी कहलाई। इस समय आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में आगम-वाचना हुई।[५२] यह वाचना वल्लभी में होने के कारण 'वल्लभी-वाचना' के नाम से भी प्रसिद्ध हुई।

नंदीचूर्णि के अनुसार आचार्य स्कन्दिल की वाचना के समय श्रुत का विनाश नहीं हुआ था। आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा में आगमों का अनुयोग प्रवर्तन किया अतः यह माथुरी आगम-वाचना के नाम से विश्रुत हुई। प्रस्तुत आगम-वाचना का यह समय वी. नि. ८२७ से ८४० (वि. ३५७ से ३७०) तक स्वीकृत हुआ है।

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण एक पूर्वधर आचार्य थे। उनके समय पुनः दुष्काल का क्रूर आघात जैन संघ को लगा। दुष्काल समाप्त होने पर आचार्य देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में संघ एकत्रित हुआ। माथुरी और वल्लभी दोनों आगम-वाचनाएं उनके सामने थीं। इस समय नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि आचार्य कालक भी संभवतः उपस्थित थे। यह समय वी. नि. ९८० (वि. सं. ५१०) माना गया है। उन्होंने माथुरी-वाचना को प्रमुखता प्रदान कर और वल्लभीवाचना को पाठांतर से स्वीकार कर विकीर्ण आगम-राशि को सुरक्षित किया।

नंदी स्थविरावली के अनुसार प्रभावक आचार्यों की परम्परा में आचार्य देवर्द्धिगणी बत्तीसवें या सत्ताईसवें आचार्य थे। कल्प स्थविरावली के अनुसार वे चौंतीसवें आचार्य थे। प्रस्तुत स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धिगणी को पाण्डिल्य का शिष्य माना है और इसी स्थविरावली के अन्तिम पद्य में उनकी भावपूर्ण शब्दों में प्रशंसा है। वह पद्य इस प्रकार है

"सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं सम्पन्ने।
देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥१४॥

काश्यप गोत्रीय आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण सूत्रार्थ रत्नों के धारक थे। वे क्षान्त, दान्त और मार्दव आदि गुणों से सम्पन्न थे।

आगम-वाचना के इस युग में विशिष्ट आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आगमों को लिपिबद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस प्रवृत्ति से आगमज्ञान को स्थायित्व मिला। आचार्य स्कन्दिल और आचार्य नागार्जुन की वाचना आचार्य देवर्द्धिगणी से लगभग १५० वर्ष पूर्व हुई। उस समय में भी आगमों को लिपिबद्ध किया गया था, ऐसे संकेत ग्रंथों में हैं[५३] पर व्यवस्थित रूप से यह कार्य आचार्य देवर्द्धिगणी ने किया था।[५४] उन्हीं के प्रयत्न से आगम-ज्ञान की धारा सुरक्षित

---

५१. इत्थ दूसहदुब्भिक्खे दुवालसवरिसियएनियत्ते सयलसंघं मेलिअ आगमाणुओगो पवत्तिओ खंदिलायरियेण।
(विविध तीर्थकल्प पृ. १६)

५२. अत्थि महुराउरीय सुयसमिद्धो खंदियो नाम सूरी तहा वलहिनयरी य नागज्जुणो नाम सूरी। तेहि य जाए वरिसंपि दुक्काले निव्वउ भावओवि फुट्टि (ट्ठ) काउण पेसिया दिसोदिसं साहवो गमिउं च कहविदुत्थं ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्झायं ति ताव खंडुखरडीहूयं पुव्वाहियं।
(कहावली)

५३. जिनवचनं च दुष्यमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्य्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषुन्यस्तम्।
(योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७)

५४. श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीरादशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्ष जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुध्वंसापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जातायां, भविष्यद् भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसङ्घाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीनसर्वसाधून् वल्लभ्यामाकार्य तन्मुखाद्विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटितानत्रुटितानागमालापकाननुक्रमेण स्वमत्या सङ्कलय्य पुस्तकारूढ़ कृतः। ततो भूलतो गणधरभाषितानामपि तत्सङ्कलनानंतरं सर्वेषामपि आगमानां कर्त्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जातः।
(समाचारी शतक)

रही। उत्तरवर्ती आचार्यों को इससे बहुत लाभ मिला। आज भी जैन शासन में जो आगमनिधि सुरक्षित है उसका मुख्य श्रेय देवर्द्धिगणी को है।

आगम-प्रवृत्ति के पोषक एक पूर्वधर देवर्द्धिगणी के स्वर्गवास के साथ ही लगभग एक हजार वर्ष का आगमयुग समाप्त हो गया और इस समय तक पूर्वों की ज्ञानधारा भी विछिन्न हो गई।

उत्कर्ष युग

वीर निर्वाण की ग्यारहवीं (वि. ५३०) सदी से वीर निर्वाण २००० (वि. १५३०) वर्ष तक का काल जैन शासन के उत्कर्ष का काल था। इस युग में अनेक तेजस्वी, वर्चस्वी एवं दार्शनिक आचार्य हुए। वे विविध भाषाओं के अध्येता और विविध विषयों के निष्णात विद्वान् थे। उनकी निर्मल प्रतिभा के प्रकाश में उस युग का संपूर्ण वातावरण अग्निस्नात स्वर्ण की भांति चमक उठा और जैन शासन की अभूतपूर्व प्रगति हुई अतः इस काल को उत्कर्ष-युग की संज्ञा प्रदान की गई है।

न्याय-युग का उद्भव

भगवान् महावीर के निर्वाण से दश शताब्दियों तक का युग आगमप्रधान युग था। आगम-सम्मत बात निर्विवाद रूप से सर्वमान्य हो जाती थी। जब नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग आदि बौद्ध विद्वानों ने धर्म और दर्शन को वाद-विवाद का रूप दिया तब प्रत्युत्तर में न्यायदर्शन के विद्वान् वात्स्यायन और उद्द्योतकर, वैशेषिक दर्शन के विद्वान् प्रशस्तपाद, मीमांसक दर्शन के विद्वान् शबर और कुमारिल भी प्रतिमल्लवादी के रूप में उभर आये थे। जैन शासन में भी तार्किक, दार्शनिक एवं न्यायविज्ञ आचार्यों की अपेक्षा अनुभूत होने लगी।

इस तर्क-प्रधान युग में श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य सिद्धसेन, दिगम्बर परम्परा के आचार्य समन्तभद्र एवं आचार्य अकलंक भट्ट इस युग के उज्ज्वल नक्षत्र थे। इन आचार्यों का अभ्युदय जैन दर्शन का अभ्युदय था। इनका जन्म न्याय युग का जन्म था।

आचार्य सिद्धसेन

जैन साहित्य में आज न्याय शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त है उसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन को है। न्यायावतार की रचना से उन्होंने न्यायशास्त्र की नींव डाली। नयवाद का विशद विश्लेषण सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन ने किया।

प्रमाणशास्त्र के विषय में भी आचार्य सिद्धसेन ने गंभीर चर्चा की। अनुमान-प्रमाण की परिभाषा और स्वार्थ-परार्थ के रूप में भेद-विभाजन का सर्वथा मौलिक चिंतन सिद्धसेन का है। पक्ष, हेतु, दृष्टांत, दूषण आदि विभिन्न पक्षों पर चिंतन प्रस्तुत कर आचार्य सिद्धसेन ने स्वतंत्र रूप से न्याय पद्धति की रचना की। अतः आचार्य सिद्धसेन के साहित्य से न्याय-युग के नवीन प्रभात का उदय हुआ।

आचार्य समंतभद्र

आचार्य समन्तभद्र का जन्म न्याय-युग का जन्म था। आगम में निहित अनेकांत सामग्री को दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें है। आचार्य समंतभद्र महान् स्तुतिकार और अगाध आस्थाशील थे। उनके ग्रंथ स्तुति-प्रधान हैं। उन्होंने वीतराग प्रभु की स्तुति के साथ एकांतवाद का निरसन एवं अनेकांतवाद की स्थापना कर अनेकांत दर्शन को व्यापक रूप प्रदान किया। आप्तमीमांसा में उन्होंने आप्तपुरुषों की परीक्षा तर्क के निकष पर की है।

सुनय और दुर्नय की व्यवस्था, स्याद्वाद की परिभाषा का स्थिरीकरण और सप्तभंगी की व्यवस्था आचार्य समंतभद्र की देन है।

आचार्य अकलंक भट्ट

आचार्य अकलंक न्याययुग के आलोक थे। न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाण-संग्रह के द्वारा उन्होंने न्याय की समुचित व्यवस्था की। आज भी उनके साहित्य प्रतिष्ठित न्याय अकलंक न्याय-पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने आचार्य

अकलंक की न्याय-पद्धति का अनुसरण किया एवं आचार्य माणिक्यनंदी ने अपने ग्रंथों में अकलंक न्याय को व्यापक विस्तार दिया।

आचार्य अकलंक की अष्टशती टीका जैन-दर्शन के गूढ़तम अनेकांत दर्शन की प्रकाशिका है।

न्याय-युग की प्रतिष्ठा

न्याय-युग की प्रतिष्ठा में मल्लवादी, पात्रकेशरी, विद्यानंद, अभयदेव, माणिक्यनंदी, वादिराज, प्रभाचंद्र, वादिदेव, रत्नप्रभ, हेमचंद्र, मल्लिषेण आदि आचार्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन आचार्यों ने द्वादशार-नयचक्र, त्रिलक्षण कदर्थन, प्रमाण-परीक्षा, वाद-महार्णव, परीक्षामुख, न्यायविनिश्चय विवरण, न्यायकुमुदचंद्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमाणनयतत्त्वालोक, प्रमाण-मीमांसा, रत्नाकरावतारिका और स्याद्वादमञ्जरी जैसे ग्रंथों का निर्माण कर न्याय-व्यवस्था को पूर्ण उत्कर्ष पर चढ़ाया। जैन ग्रंथों में नव्य-न्यायशैली के प्रतिष्ठापक उपाध्याय यशोविजय जी थे।

योग और ध्यान के संदर्भ में

योग और ध्यान के विषय में जैनाचार्यों ने मौलिक दृष्टियाँ प्रस्तुत कीं। आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचंद्र और कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र योग के महान् प्रतिष्ठापक थे। आचार्य शुभचंद्र का 'ज्ञानार्णव' और आचार्य हेमचंद्र का 'योगशास्त्र' योग विषय की प्रसिद्ध कृतियां हैं। आचार्य हरिभद्र के 'योगबिन्दु', 'योगदृष्टिसमुच्चय', 'योगविंशिका', 'योगशतक' और 'षोडशक' इन पांचों ग्रंथों में पातंजलयोगदर्शन के साथ समन्वय तथा जैन दर्शन से संबंधित नवीन यौगिक दृष्टियों की अवधारणा भी है। मित्रा, तारा, बला, दीप्रा आदि आठ दृष्टियों का प्रतिपादन आचार्य हरिभद्र के मौलिक चिंतन का परिणाम है।

प्राकृत व्याख्या-ग्रंथों का सृजन

भगवान् महावीर की वाणी गणधरों द्वारा अर्धमागधी प्राकृत भाषा में निबद्ध हुई, वह आगम संज्ञा से अभिहित हुई। आगमों की शैली अत्यन्त संक्षिप्त एवं गूढ़ थी। उसमें सुगमता से प्रवेश पाने के लिए जैनाचार्यों ने प्राकृत व्याख्या साहित्य का सृजन किया। निर्युक्ति ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय), भाष्य ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, चूर्णि ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य जिनदास महत्तर इस युग के आगम व्याख्याकार आचार्य थे। चूर्णियां संस्कृत-मिश्रित प्राकृत में है।

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य के रूप में रचित विशाल व्याख्या-साहित्य जैन इतिहास की गौरवमय निधि है। जैनाचार्यों का यह साहित्य प्राचीन भारत की सभ्यता एवं संस्कृति की झांकी प्रस्तुत करने वाला दर्पण है।

जैन साहित्य और संस्कृत भाषा

यह युग संस्कृत भाषा के आरोहण का काल था। जैनेतर विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा में साहित्य का निर्माण हो रहा था। यह विद्वानों की भाषा समझी जाती थी। धर्म-प्रभावना के कार्य में इस भाषा का आलम्बन अनिवार्य हो गया था।

संस्कृत भाषा प्रधान इस युग में संस्कृतविज्ञ सक्षम जैनाचार्यों का आविर्भाव हुआ। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वाति, महान् टीकाकार आचार्य हरिभद्र, आचार्य शीलांक, सोलह वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरूढ़ होने वाले नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव, समर्थ टीकाकार आचार्य मलयगिरि, सरस टीकाकार आचार्य नेमिचंद्र आदि संस्कृत भाषा में आगम के व्याख्या ग्रंथों को प्रस्तुत करने वाले दिग्गज विद्वान् थे। उन्होंने विशाल टीका ग्रंथों का निर्माण कर संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया।

सर्वार्थसिद्धि के रचयिता आचार्य पूज्यपाद, भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुंग, १४४४ ग्रंथों के रचयिता आचार्य हरिभद्र, धवला तथा जयधवला के लेखक आचार्य वीरसेन और जिनसेन, उत्तरपुराण के रचयिता आचार्य गुणभद्र, अष्टसहस्री और तत्त्वार्थवार्तिक आदि नौ ग्रंथों के रचयिता आचार्य

विद्यानंद, आचार्य कुंदकुंद के ग्रंथों के व्याख्याकार आचार्य अमृतचंद्र, रूपक ग्रंथ उपमितिभव-प्रपञ्चकथा के रचनाकार आचार्य सिद्धर्षि, अमितगति श्रावकाचार के रचयिता आचार्य अमितगति, गोम्मटसार जैसी अमूल्य कृति के रचनाकार आचार्य नेमिचंद्र, यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत ग्रंथ के रचनाकार आचार्य सोमदेव, कविमूर्धन्य आचार्य रामचंद्र, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र आदि विद्वान् जैनाचार्य इस युग के अनुपम रत्न थे। इन आचार्यों की प्रखर प्रतिभा और समर्थ लेखनी ने संस्कृत साहित्य को ज्ञानालोकमय बना दिया था।

जैन साहित्य और लोकभाषा

जैनाचार्य लोकरुचि के ज्ञाता थे। उन्होंने एक ओर संस्कृत भाषा में उच्चतम साहित्य का सृजन कर उसे विद्वद्भोग्य बनाया, दूसरी ओर लोकभाषा को भी प्रश्रय दिया। वे जनभाषा में बोले और जनभाषा में साहित्य की रचना कर विभिन्न देशों की भाषा को समृद्ध किया। इससे उनके प्रति लोकप्रीति बढ़ी और वह धर्म-प्रभावना में अधिक सहायक सिद्ध हुई। आज पूर्वाचार्यों के प्रयत्न स्वरूप प्राकृत और संस्कृत के अतिरिक्त तमिल, कन्नड़, अपभ्रंश, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में जैन साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है।

जैनाचार्यों का शास्त्रार्थ-कौशल

भगवान् महावीर के निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि में भारत में विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के वाद-कुशल आचार्यों द्वारा शास्त्रार्थों का जाल-सा बिछ गया था। जैनाचार्यों ने इस समय चिंतन को उस ओर मोड़ा। उनकी स्फुरणशील मनीषा ने अनेक सभाओं में दिग्गज विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की और जैन-धर्म की प्रभावना में चार चांद लगाए।

जैनाचार्यों द्वारा जैन-धर्म का विस्तार

जैनाचार्यों ने जैन धर्म का व्यापक विस्तार किया। उनके द्वारा प्रदत्त धर्म का संदेश सामान्य-जन से लेकर राजप्रासाद तक पहुंचा। दक्षिणांचल के राजवंश चोलवंश, होयसलवंश, राष्ट्रकूटवंश, पाण्ड्यवंश, कदम्बवंश और गंगवंश के राजपरिवार जैन थे। दक्षिण-नरेश शिवकोटि ने आचार्य समंतभद्र से, शिलादित्य ने आचार्य मल्लवादी से, दुर्विनीत कोंगुणी ने आचार्य पूज्यपाद (देवनंदी) से, अमोघवर्ष ने आचार्य वीरसेन और जिनसेन से अध्यात्म बोध प्राप्त किया था। युद्ध-विजेता दण्डनायक सेनापति चामुण्डराय, गंगधर और हुल ने जैनाचार्यों से प्रभावित होकर जैन-शासन की प्रभावना की।

भारत के उत्तरांचल में भी राजशक्तियों पर जैनाचार्यों का अप्रतिहत प्रभाव था। आचार्य सिद्धसेन ने सात राजाओं को प्रतिबोध दिया। कूर्मार के राजा देवपाल और अवन्ति के विक्रमादित्य उनके परम भक्त थे। ग्वालियर के राजा वत्सराज पुत्र 'आम' का आचार्य बप्पभट्टि के साथ मैत्री-संबंध था। बंगाल के अधिपति धर्मराज और राजा 'आम' का परस्पर पुरातन वैर आचार्य बप्पभट्टी की उपदेशधारा से सदा के लिए उपशांत हो गया।

आचार्य हेमचंद्र की प्रतिभा पर मुग्ध होकर सिद्धराज जयसिंह उनका परमभक्त बन गया और कुमारपाल ने अपना संपूर्ण राज्य ही उनके चरणों में समर्पित कर दिया। राजा हर्षदेव की सभा में आचार्य मानतुंग का, परमार नरेश भोज एवं जयसिंह की सभा में आचार्य माणिक्यनंदी एवं आचार्य प्रभाचंद्र का, सोलंकी नरेश जयसिंह प्रथम की सभा में आचार्य वादिराज का, चालुक्य वंशी कृष्णराज तृतीय की सभा में आचार्य सोमदेव का विशेष स्थान था।

बादशाहों को प्रतिबोध देने वाले आचार्यों में आचार्य जिनप्रभ सर्वप्रथम थे। उन्होंने बादशाह तुगलक को बोध देकर जैन शासन के गौरव को बढ़ाया।

जैनाचार्यों के शास्त्रार्थों, प्रवचनों एवं दूरगामी यात्राओं से उत्तर-दक्षिण का भारत जैन संस्कारों से प्रभावित हुआ। इस युग में जैनाचार्यों का कर्तृत्त्व असाधारण था। साहित्य की समृद्धि और राजनीति

पर धर्मनीति की विजय जैनाचार्यों की सूझ-बूझ का परिणाम था। एक सहस्र वर्ष का यह समय जैनाचार्यों से विशेष प्रभावित था। वे शासकों के परामर्शदाता थे। यह जैन धर्म के विस्तार का उत्कर्ष युग था।

नवीन युग

उत्कर्ष का चरम बिन्दु क्रांति का आमन्त्रण है। क्रांति की निष्पत्ति नवीन प्रभात का उदय है। आचार्य देवर्द्धिगणी के बाद वीर निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि के पूर्वार्ध में चैत्यवासी सम्प्रदाय को निर्बाध गति से पनपने का अवसर मिला। कठोर चर्या पालन करने वाले सुविहितमार्गी श्रमण चैत्यवासी श्रमणों के बढ़ते हुए वर्चस्व के सामने पराभूत हो गए। श्रमणों, यतियों एवं भट्टारकों में सुविधावाद पनपने लगा। उग्र विहार चर्या को छोड़कर वे मठाधीश बन गए। जंत्र, मंत्र, तंत्रों के प्रयोग से वे राज-सम्मान पाकर राजगुरु कहलाने लगे। छत्र, चामर आदि को निःसंकोच भाव से धारण कर वे शाही ठाठ से रहने लगे। जनमानस में इन सारी प्रवृत्तियों के प्रति असंतोष था। यह असंतोष वीर निर्वाण की इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विस्तार से प्रकट हुआ। साध्वाचार की विशृंखलित मर्यादाओं ने क्रांति को जन्म दिया।

क्रांति का प्रथम चरण

उस समय जैन संप्रदायों में सर्वत्र क्रांति की आंधी उठ रही थी। दिगम्बर परम्परा में वी. नि. १९७५ से २०४२ (वि. १५०५ से १५७२) के बीच क्रांतिकारी तारण स्वामी हुए। उन्होंने मूर्तिपूजा के विरोध में क्रांति की। इस क्रांति की निष्पत्ति तारण-तरण समाज के रूप में हुई। इस समाज के अनुयायी मंदिरों के स्थान पर सरस्वती-भवन बनाने और मूर्तियों के स्थान पर शास्त्रों की प्रतिष्ठा करने लगे। उस समय भट्टारक शक्तिशाली थे। उनके सामने यह नवोदित संघ अधिक नहीं पनप सका।

भट्टारक सम्प्रदाय के शिथिलाचार पर धार्मिकों में नाना प्रकार की प्रतिक्रियायें थी। कुछ लोग आचार्य कुंदकुंद और अमृतचंद्र के ग्रंथों का अध्ययन कर अध्यात्म की ओर झुके और वे अध्यात्मी कहलाने लगे। पंडित बनारसीदास जी का समर्थन पाकर इस अध्यात्मी परम्परा से दिगम्बर तेरापंथ का जन्म हुआ। दिगम्बर तेरापंथ के अभ्युदय के साथ ही इतर पक्ष दिगम्बर 'बीसपंथी' कहलाया। दिगम्बर परम्परा की यह क्रांति नवीन युग का प्रथम चरण था।

क्रांति का द्वितीय चरण

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इस समय क्रांतिकारी लोंकाशाह हुए। लोंकाशाह के समय में श्वेताम्बर धर्मगच्छों के संचालन का दायित्व यतियों पर था। यति चैत्यों में निवास करते थे। उनमें साधुत्व का भाव गौण और लोकरंजन का भाव प्रमुख था। परिग्रह को पापमूलक बताने वाले स्वयं धन संपदा का निरंकुश भोग करने लगे। वे नाना प्रकार की सुविधाएं भोगने लगे। इनके विरोध में लोंकाशाह की धर्म क्रांति का स्वर गुजरात की धरा से गूंज उठा।

लोंकाशाह गुजरात के थे। उनके पिता का नाम हेमाभाई था। मूलतः वे सिरोही राज्य के अर्न्तगत अरहटवाड़ा ग्राम के निवासी थे और अहमदाबाद में आकर रहने लगे। यतियों का अहमदाबाद में प्रभुत्व था।

लोंकाशाह में बचपन से ही धार्मिक रुचि एवं लिपि कलापूर्ण थी। वे मोती जैसे गोल एवं सुन्दर अक्षर लिखते थे। यतियों ने आगम लिखने का कार्य उन्हें सौंपा। लोंकाशाह लिपिकार, गंभीर चिंतक, सूक्ष्म अध्येता एवं समुचित समीक्षक भी थे। आगम-लेखन में रत लोंकाशाह ने एक दिन अनुभव किया आगम-प्रतिपादन सिद्धांत और साध्वाचार में भेद है।

लोंकाशाह ने कई दिन तक चिंतन-मनन किया और एक दिन उन्होंने निर्भीकतापूर्वक क्रांति का उद्घोष किया। लोंकाशाह ने सैकड़ों लोगों को आकृष्ट किया। लक्खमसी भाई ने लोंकाशाह के विचारों को गहराई से समझा और वे उनके मत का प्रबल समर्थन करने लगे।

लक्खमसी भाई द्वारा धर्म-प्रचार की दिशा में लोंकाशाह को पर्याप्त सहयोग मिलने लगा।

एक बार कई संघ तीर्थयात्रार्थ जा रहे थे। अधिक वर्षा के कारण उन्हें लोंकाशाह के पास रुकना पड़ा। लोंकाशाह का प्रवचन सुनकर सैकड़ों व्यक्ति सुलभबोधि बने। कई व्यक्तियों ने लोंकाशाह की श्रद्धा के अनुरूप वी. नि. २००१ (वि. सं. १५३१) में श्रमण दीक्षा ली और उन्होंने चैत्यों में रहना छोड़ा।

इनका नवोदित गच्छ लोंकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोंकाशाह द्वारा श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने का कोई प्रमाण नहीं है।

लोंकागच्छ का विकास तीव्र गति से हुआ। इस गच्छ की एक शती पूर्ण होने से पूर्व ही सैकड़ों व्यक्तियों ने लोंकाशाह की नीति के अनुरूप निर्ग्रन्थ-दीक्षा स्वीकार की। सर्वत्र लोंकागच्छ की चर्चा प्रारम्भ हुई। लोंकाशाह का लोंकागच्छ के शिशुकाल में ही वी. नि. २०११ (वि. सं. १५४१) में स्वर्गवास हो गया अतः इनके गच्छ का संगठन सुदृढ़ नहीं हो सका। नेतृत्व के अभाव में संघ छिन्न-भिन्न हो गया। कुछ विद्वानों के अभिमत से लोंकागच्छ के आठ पट्टधर लोंकाशाह की नीति का सम्यक् अनुगमन करते रहे। तदनन्तर परस्पर सौहार्द और एकसूत्रता की कमी के कारण संगठन की जड़ें खोखली हो गईं। लोंकागच्छ के सामने एक विकट परिस्थिति पैदा हो गई। धर्मसंकट की इस घड़ी में ऋषिलवजी, धर्मसिंहजी एवं धर्मदासजी जैसे क्रियोद्धारक आचार्यों का अभ्युदय हुआ। उन्होंने साधु जीवन की मर्यादाओं का दृढ़ता से अनुगमन किया। लोंकाशाह की धर्म-क्रान्ति को प्रबल वेग दिया एवं स्थानकवासी सम्प्रदाय की व्यवस्थित नींव डाली।

पांच सौ वर्षों के इतिहास को अपने में समाहित किए हुए यह स्थानकवासी परम्परा भी विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त है। इस परम्परा का स्थानकवासी नाम अर्वाचीन है, इसका साधुमार्गी नाम मन्दिरमार्गी नाम से मिलता-जुलता है।

आचार्य धर्मदासजी के निन्याणवे शिष्य थे। आचार्य धर्मदासजी का स्वर्गवास होते ही उनका शिष्य समुदाय बाईस भागों में विक्त हो गया और उसकी प्रसिद्धि 'बाईस टोला' नाम से हुई। आज यह सम्प्रदाय 'स्थानकवासी' नाम से अधिक विश्रुत है।

समय के लम्बे अन्तराल में इनमें अधिकांश शाखाओं का लोप हुआ, नयी शाखाओं का उद्भव हुआ। विभिन्न शाखाओं को संगठित करने के उद्देश्य से विक्रम की इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक में स्थानकवासी मुनियों का वृहद् श्रमण-सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन 'सादड़ी सम्मेलन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवसर पर सौहार्दपूर्ण वातावरण में भिन्न-भिन्न शाखाओं के आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, मुनिजनों ने आचार्य आत्माराम जी को प्रमुख पद पर चुनकर उनके नेतृत्व में अधिकांश स्थानकवासी संप्रदायों ने अपना सहज समर्पण किया। इस संघ का नाम श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमणसंघ हुआ।

स्थानकवासी परम्परा की दूसरी शाखा 'साधुमार्गी' के नाम से प्रसिद्ध है। वह श्रमण-संघ के साथ नहीं है।

गोंडल संप्रदाय, लींबड़ी संप्रदाय और आठकोटि संप्रदाय ये तीनों स्थानकवासी परम्परा की शाखाएं हैं। गोडंल और लींबडी संप्रदाय सौराष्ट्र में हैं तथा आठकोटि संप्रदाय कच्छ में है।

क्रांति का तृतीय चरण

तीन सौ वर्षों के बाद राजस्थान (मेवाड़) में एक नई क्रांति हुई। यह क्रांति आगमिक आधार पर स्थानक तथा दान-दया संबंधी आचारमूलक क्रांति थी। इस क्रांति के जनक राजस्थान (मारवाड़) के सपूत आचार्य भिक्षु थे। तेरापंथ का जन्म इसी क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। प्रत्येक क्रांतिकारी के जीवन में संघर्ष और तूफान आते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रांतिकारी आचार्य भिक्षु के पथ में नाना प्रकार की बाधाएं उपस्थित हुईं। स्थान न मिलने के कारण वे श्मशान-भूमि में रहे। पांच वर्ष तक उन्हें पर्याप्त भोजन नहीं मिला, पर सुख-सुविधा की चिंता किए बिना, वे

अविरल गति से अपने निर्धारित पथ पर बढ़ते रहे एवं निर्भीक वृत्ति से सत्य का प्रतिपादन करते रहे।

आचार्य भिक्षु में किसी नये सम्प्रदाय के निर्माण का व्यामोह नहीं था, पर वे जिस पथ का अनुसरण कर रहे थे उस पर अन्य अनेक चरणों को बढ़ते हुए देखा तब उन्होंने मर्यादाएं बांधी, संघ बना। इस संघ का नाम श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथ है। तेरापंथ का स्थापना दिवस वी. नि. २२८७ (वि. सं. १८१७ आषाढ़ी पूर्णिमा) है। क्रांति युग के तृतीय चरण की निष्पत्ति तेरापंथ के रूप में हुई।

वर्तमान में तेरापंथ धर्मसंघ के अभ्युदय को तीन शतक भी पूरे नहीं हुए हैं। काल की इस स्वल्प अवधि में भी तेरापंथ धर्मसंघ का भारत के विभिन्न धर्म सम्प्रदायों में विशिष्ट स्थान है और अपनी व्यापक धर्म नीति से इस संघ ने सारे विश्व का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है।

वर्तमान में तेरापंथ परम्परा में दशम आचार्य महाप्रज्ञ हैं। इस परम्परा के आद्य प्रवर्तक अध्यात्म के सजग प्रहरी आचार्य भिक्षु थे। उन्होंने इस तेरापंथ महावृक्ष का बीज वपन किया। पूज्य श्री भारमल जी और रायचंद जी ने उसे अंकुरित किया। ज्योतिर्धर जयाचार्य के समुचित संरक्षण में उसका पल्लवन हुआ। महाभाग मघवागणी और माणकगणी की शीतल छाया तथा डालगणी के तेजोमय व्यक्तित्व का समुचित ताप पाकर यह खिला, कमनीय कलाकार कालूगणी के श्रमसिंचन में वह फला। अणुव्रत प्रवर्तक युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के प्राणवान् प्रयत्नों से संघ-वटवृक्ष का शतशाखी रूप में विस्तार हुआ। वर्तमान में प्रेक्षापुरुष युगप्रधान आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के कुशल नेतृत्व और ऊर्जा स्रोत युवाचार्य महाश्रमणजी के निर्देशन में तेरापंथ शासन बहुमुखी विकास कर रहा है।

नवीनयुग और जैनाचार्य

नवीन युग में तपागच्छ में आचार्य हीरविजय, आचार्य विजय देव, आचार्य विजयसेन आदि जैनाचार्यों का उल्लेख है। इन्होंने बादशाहों को प्रतिबोध देने तथा उन्हें जैनधर्म के अनुकूल बनाने का प्रभावी कार्य किया। इस युग में अध्यात्म एवं योग की धारा गतिशील बनी। आनन्दघनजी, बुद्धिसागर जी आदि इस योगधारा के संपोषक संत पुरुष थे।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य शांतिसागरजी, आचार्य वीरसागरजी, आचार्य शिवसागर जी, आचार्य देशभूषण जी, आचार्य विद्यानंद जी, विद्यासागर जी, मंदिर मार्गी परम्परा के आचार्य विजयानंदसूरि जी, विजयराजेन्द्रजी, कृपाचंदसूरि जी, विजयवल्लभसूरि जी, सागरानंद जी, स्थानकवासी परम्परा के आचार्य भूधरजी, आचार्य रघुनाथजी, जयमल्लजी, अमोलक ऋषिजी, आत्मारामजी, जवाहरलालजी, आनन्द ऋषिजी, आचार्य देवेन्द्र मुनिजी, आचार्य शिव मुनिजी तेरापंथ परम्परा के आचार्य भिक्षु, जयाचार्य, आचार्य मघवागणी, कालूगणी, आचार्य श्री तुलसी, प्रज्ञापुरुष आचार्य महाप्रज्ञ आदि इस युग के विशेष उल्लेखनीय आचार्य हुए हैं।

नवीन युग के जैनाचार्यों की धर्मप्रचार प्रवृत्ति, साहित्य-साधना, दीर्घ यात्राएं तथा विविध प्रकार की अन्य कार्य पद्धतियां जैन धर्म की प्रभावना में सहायक सिद्ध हुई। विदेशों में अध्यात्म का संदेश पहुंचाने का श्रेय भी विशेष रूप से नवीन युग के आचार्यों को है।

नवीन युग की विशाल कड़ी तेरापंथ धर्मसंघ के वर्तमान अनुशास्ता, प्रज्ञाधर, अध्यात्म के आलोकपुंज आचार्य महाप्रज्ञ जी हैं। विराट व्यक्तित्व के धनी आचार्य श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अणुव्रत अभियान, प्रेक्षाध्यान, जीवन-विज्ञान आदि जीवनदायी कार्यक्रमों द्वारा जैनधर्म को व्यापक भूमिका पर युग के सम्मुख प्रस्तुत किया तथा सार्वजनीन, सार्वकालिक जैन सिद्धांतों को व्यवहार का धरातल दिया है।

वर्तमान में नैतिक आचार संहिता एवं मानवीय मूल्यों को जन-जन में प्रतिष्ठापित करता हुआ तथा विश्वबन्धुत्व, मैत्री, सर्वधर्म-सद्भाव, सौहार्द आदि की महागंगा को प्रवाहित करता हुआ यह अणुव्रत आंदोलन अभूतपूर्व लोकप्रियता को प्राप्त कर रहा है। जैन एकता की दिशा में युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी द्वारा प्रदत्त पंचसूत्री कार्यक्रम तेरापंथ धर्मसंघ की उदार एवं समन्वयात्मक नीति का परिपोषक है।

शिक्षा, शोध, सेवा, साधना की संगम स्थली जैन विश्व भारती के आध्यात्मिक पक्ष को उजागर कर आचार्य श्री तुलसी ने जैन विश्व भारती को विश्वव्यापी बनाने का प्रयत्न किया।

धर्म-सम्प्रदायों के आधारभूत धर्मग्रंथों में संशोधन की बात प्रायः मान्य नहीं रही है। जैनागमों के लिए भी यही स्थिति थी। आगमवाणी के एक भी वाक्य में और वाक्य के एक भी वर्ण, मात्रा में परिवर्तन करना दोषपूर्ण माना गया है। जैन दर्शन की इस दृढ़ मान्यता के आधार पर आगमों में लिपिदोष के कारण हुई भूलों का सुधार पूर्वाग्रहग्रसित धार्मिकों द्वारा स्वीकृत नहीं था। इससे आगम ग्रंथों में परस्पर पाठभेद और अर्थभेद भी उत्पन्न हो गए थे। आगमिक पथों के सम्यक् अर्थबोध हेतु आगम सम्पादन का कार्य आवश्यक प्रतीत होने लगा था।

आगमधर आचार्य तुलसी का ध्यान विशेष रूप से इस ओर केन्द्रित हुआ। समग्रता से आगमों का वाचन-मंथन एवं आधुनिक शैली में संपादन हो यह गहरी अपेक्षा उन्हें अनुभूत हुई। अन्तःप्रेरणा जगी, मन के भीतर दिव्य आलोक प्रकट हुआ। उन्होंने गुरुतर आगम-मंथन का कार्य अपने हाथ में लिया और धर्मसंघ की आगम चेतना को जगाया।

आगम संपादन का यह महनीय कार्य वाचना-प्रमुख आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन में औरंगाबाद-महाराष्ट्र की धरती पर सन् १९५७ में प्रारम्भ हुआ था। तब से अब तक उद्भट विद्वान्, गंभीर दार्शनिक आगम पुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञ इस कार्य का सम्यक् संचालन करते रहे हैं। अनेक साधु-साध्वियां एवं समणियाँ इस पुनीत आगम कार्य में संलग्न हैं। दिन-प्रतिदिन यह कार्य प्रगति पर है।

आचार्य देवर्द्धिगणी के बाद आगम-वाचना का यह कार्य अपने आप में अपूर्व है, अलौकिक है, अनुपम है। आगम-वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी-महाप्रज्ञ का धार्मिक जगत् में महान् क्रांतिकारी साहसभरा चरण है।

नवीन शैली में व्याख्या-साहित्य के साथ प्रामाणिक सन्दर्भों से युक्त महनीय आगम वाङ्मय को प्रकाशित कर जैन विश्व भारती गौरवान्वित हुई है।

इतिहास के पृष्ठों पर आगम-वाचना के रूप में इस युग की यह विशेष संस्मरणीय घटना होगी।

तेरापंथ के युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के उत्तराधिकारी आचार्य श्री महाप्रज्ञ योग के उच्चतम साधक हैं। उन्होंने दीर्घकालिक साधना और आगम सिन्धु के गंभीर मन्थन के पश्चात् भारतीय ध्यान पद्धतियों से परिचित होकर तथा जिन शासन की ध्यान-परम्परा के रहस्यों का गहरा अनुसंधान कर प्रेक्षाध्यान पद्धति का वैज्ञानिक संदर्भ में प्रतिपादन किया है।

प्रेक्षाध्यान समग्रता से 'स्व' का दर्शन है, स्वभाव का परिवर्तन है एवं व्यवहार का शोधन है। प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया है। श्वासप्रेक्षा, चैतन्य केन्द्रों का जागरण, लेश्याध्यान के प्रयोग एवं कायोत्सर्ग की विधियों से अन्तःस्रावी ग्रंथियों के रसस्राव को बदल देने पर तथा पिनीयल एवं पिच्युटरी ग्रंथियों पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने पर संपूर्ण भावधारा का परिवर्तन होना प्रारंभ होता है। आवेशों पर विजय प्राप्त करने की क्षमता उजागर हो जाती है।

प्रेक्षाध्यान की इस पद्धति का आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुतिकरण आचार्य श्री महाप्रज्ञजी की मानव समाज को महान् देन है। इससे संपूर्ण अध्यात्म परम्परा अनुप्राणित हुई है। आचार्य श्री महाप्रज्ञजी द्वारा प्रस्तुत जीवन विज्ञान के प्रयोग सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व का विकास करने में सक्षम हैं। यह आधुनिक शिक्षा जगत् में क्रान्ति का अभिनव चरण है।

जैनाचार्यों के प्रयत्नों से पांच सौ वर्षों के इस काल में अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियों का अभ्युदय हुआ अतः मैंने इस युग का नाम 'नवीन युग' दिया है।

आचार्यों के काल-निर्णय में एक मात्र आधारभूत प्राचीनतम महावीर निर्वाण संवत् का उपयोग किया गया है और इसके साथ विक्रम संवत् का तथा कहीं-कहीं ईस्वी सन् का भी उल्लेख है।

वीर निर्वाण के बाद आचार्य सुधर्मा से आचार्य देवर्द्धिगणी तक आचार्यों की परम्परा, पट्टावलियों के अनुसार कई रूपों में है। उनमें कल्पसूत्र स्थविरावली

गुरु-शिष्य क्रम की परम्परा मानी गई है। शेष पट्टावलियां प्रायः युगप्रधानाचार्यों की और वाचक वंश या विद्याधर वंश की परम्पराएं हैं। विभिन्न पट्टावलियां में तीन पट्टावलियां यहां दी जा रही हैं

कल्प सूत्र स्थविरावली

१. आचार्य सुधर्मा	२. आचार्य जम्बू
३. आचार्य प्रभव	४. आचार्य शय्यम्भव
५. आचार्य यशोभद्र	६. आचार्य संभूतविजय-भद्रबाहु
७. आचार्य स्थूलभद्र	८. आचार्य सुहस्ती
९. आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध	१०. आचार्य इन्द्रदिन्न
११. आचार्य दिन्न	१२. आचार्य सिंहगिरि
१३. आचार्य वज्र	१४. आचार्य रथ
१५. आचार्य पुष्यगिरि	१६. आचार्य फल्गुमित्र
१७. आचार्य धनगिरि	१८. आचार्य शिवभूति
१९. आचार्य भद्र	२०. आचार्य नक्षत्र
२१. आचार्य रक्ष	२२. आचार्य नाग
२३. आचार्य जेहिल	२४. आचार्य विष्णु
२५. आचार्य कालक	२६. आचार्य संपलितभद्र
२७. आचार्य वृद्ध	२८. आचार्य संघपालित
२९. आचार्य हस्ती	३०. आचार्य धर्म
३१. आचार्य सिंह	३२. आचार्य धर्म
३३. आचार्य शाण्डिल्य	३४. आचार्य देवर्द्धिगणी

वाल्लभी युग-प्रधान पट्टावली आचार्य काल

१. आचार्य सुधर्मा	२० वर्ष
२. आचार्य जम्बू	४४ वर्ष
३. आचार्य प्रभव	११ वर्ष
४. आचार्य शय्यम्भव	२३ वर्ष
५. आचार्य यशोभद्र	५० वर्ष
६. आचार्य संभूतविजय	८ वर्ष
७. आचार्य भद्रबाहु	१४ वर्ष
८. आचार्य स्थूलभद्र	४६ वर्ष
९. आचार्य महागिरि	३० वर्ष
१०. आचार्य सुहस्ती	४५ वर्ष
११. आचार्य गुणसुन्दर	४४ वर्ष
१२. आचार्य कालक (श्यामाचार्य)	४१ वर्ष
१३. आचार्य स्कन्दिल	३८ वर्ष
१४. आचार्य रेवतिमित्र	३६ वर्ष
१५. आचार्य मंगू	२० वर्ष
१६. आचार्य धर्म	२४ वर्ष
१७. आचार्य भद्रगुप्त	४१ वर्ष
१८. आचार्य आर्यवज्र	३६ वर्ष
१९. आचार्य रक्षित	१३ वर्ष
२०. आचार्य पुष्यमित्र	२० वर्ष
२१. आचार्य वज्रसेन	३ वर्ष
२२. आचार्य नागहस्ती	६९ वर्ष
२३. आचार्य रेवतिमित्र	५९ वर्ष
२४. आचार्य सिंहसूरि	७८ वर्ष
२५. आचार्य नागार्जुन	७८ वर्ष
२६. आचार्य भूतदिन्न	७९ वर्ष
२७. आचार्य कालक (चतुर्थ)	११ वर्ष

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव और विचार श्रेणी के अनुसार युगप्रधान पट्टावली

नाम	वीर निर्वाण	विक्रम संवत्
१. आचार्य सुधर्मा	१ से २०	वि. पू. ४७० से ४५०
२. आचार्य जम्बू	२० से ६४	वि. पू. ४५० से ४०६
३. आचार्य प्रभव	६४ से ७५	वि. पू. ४०६ से ३९५
४. आचार्य शय्यम्भव	७५ से ९८	वि. पू. ३९५ से ३७२
५. आचार्य यशोभद्र	९८ से १४८	वि. पू. ३७२ से ३२२
६. आचार्य संभूतविजय	१४८ से १५६	वि. पू. ३२२ से ३१४

७. आचार्य भद्रबाहु	१५६ से १७०	वि. पू. ३१४ से ३००
८. आचार्य स्थूलभद्र	१७० से २१५	वि. पू. ३०० से २५५
९. आचार्य महागिरि	२१५ से २४५	वि. पू. २५५ से २२५
१०. आचार्य सुहस्ती	२४५ से २९१	वि. पू. २२५ से १७९
११. आचार्य गुणसुन्दर	२९१ से ३३५	वि. पू. १७९ से १३५
१२. आचार्य श्याम	३३५ से ३७६	वि. पू. १३५ से ९४
१३. आचार्य स्कन्दिल	३७६ से ४१४	वि. पू. ९४ से ५६
१४. आचार्य रेवतिमित्र	४१४ से ४५०	वि. पू. ५६ से २०
१५. आचार्य धर्मसूरि	४५० से ४९५	वि. पू. २० से वि. २५
१६. आचार्य भद्रगुप्तसूरि	४९५ से ५३३	वि. २५ से ६३
१७. आचार्य श्रीगुप्तसूरि	५३३ से ५४८	वि. ६३ से ७८
१८. आचार्य वज्रस्वामी	५४८ से ५८४	वि. ७८ से ११४
१९. आचार्य आर्यरक्षित	५८४ से ५९७	वि. ११४ से १२७
२०. आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र	५९७ से ६१७	वि. १२७ से १४७
२१. आचार्य वज्रसेनसूरि	६१७ से ६२०	वि. १४७ से १५०
२२. आचार्य नागहस्ती	६२० से ६८९	वि. १५० से २१९
२३. आचार्य रेवतिमित्र	६८९ से ७४८	वि. २१९ से २७८
२४. आचार्य सिंहसूरि	७४८ से ८२६	वि. २७८ से ३५६
२५. आचार्य नागार्जुनसूरि	८२६ से ९०४	वि. ३५६ से ४३४
२६. आचार्य भूतदिन्नसूरि	९०४ से ९८३	वि. ४३४ से ५१३
२७. आचार्य कालकसूरि (चतुर्थ)	९८३ से ९९४	वि. ५१३ से ५२४
२८. आचार्य सत्यमित्र	९९४ से १०००	वि. ५२४ से ५३०
२९. आचार्य हारिल्ल	१००० से १०५५	वि. ५३० से ५८५
३०. आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	१०५५ से ११९५	वि.५८५ से ६४५
३१. आचार्य (उमा) स्वातिसूरि	११९५ से ११९०	वि. ६४५ से ७२०
३२. आचार्य पुष्यमित्र	११९० से १२५०	वि. ७२० से ७८०
३३. आचार्य सम्भूति	१२५० से १३००	वि. ७८० से ८३०
३४. आचार्य माठरसंभूति	१३०० से १३६०	वि. ८३० से ८९०
३५. आचार्य धर्मऋषि	१३६० से १४००	वि. ८९० से ९३०
३६. आचार्य जेष्ठांगगणी	१४०० से १४७१	वि. ९३० से १००१
३७. आचार्य फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०	वि. १००१ से १०५०
३८. आचार्य धर्मघोष	१५२० से १५९८	वि. १०५० से ११२८

इन पट्टावलियों में तथा अन्य पट्टावलियों में से मैंने किसी पट्टावली को प्रमुखता प्रदान नहीं कर सभी पट्टावलियों से विशेष प्रभावक आचार्यों का जीवन प्रसंग प्रस्तुत ग्रंथ में देने का प्रयत्न किया है।

इस कृति में आचार्यों के जीवन-प्रसंगों का प्रस्तुतिकरण अधिकांशतः कालक्रम के अनुसार किया गया है।

तीर्थङ्कर महावीर के उत्तरवर्ती परम्परा में प्रभावक आचार्यों के जीवनवृत्त ढाई हजार वर्ष के दीर्घकालिक इतिहास का प्रेरक एवं मनोज्ञ अध्याय है।

खण्ड २

प्रभावक आचार्य

अध्याय १

आगम युग के प्रभावक आचार्य

(संख्या १ से ५१)

१. श्रमण-सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा

तीर्थङ्कर और गणधर

जैन शासन में तीर्थङ्कर परम्परा का क्रमबद्ध इतिहास है। गणधर परम्परा तीर्थङ्कर परम्परा के इतिहास की अविच्छिन्न कड़ी है। प्रत्येक तीर्थङ्कर के शासनकाल में गणधरों का अभ्युदय होता है। तीर्थङ्कर तीर्थ की स्थापना करते हैं। तीर्थ स्थापना के समय सबसे पहले भावी गणधरों को मुनि दीक्षा प्रदान की जाती है। गणधर विभिन्न गणों के रूप में तीर्थङ्कर देव की श्रमण सम्पदा के सम्यक् संवाहक होते हैं। तीर्थङ्कर प्रवचन देते हैं। उनके मङ्गलकारक वचनसुमनों को गणधर प्रज्ञा-पटल पर ग्रहण कर उनसे आगम माला की रचना करते हैं।[1]

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर के शासन में ग्यारह गणधर थे। उनमें ज्येष्ठ इन्द्रभूति गौतम थे। सर्वाधिक दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा थे। तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण के समय इन्द्रभूति और सुधर्मा दो गणधर ही थे। अवशिष्ट नौ गणधरों का तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण से पूर्व निर्वाण हो गया।[2] निर्वाण होने से पूर्व उन गणधरों ने तीर्थङ्कर महावीर के निर्देश से अपने गण दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा को सौंप दिये।[3] वीर निर्वाण के समय सुधर्मा का गण ही सर्वाधिक विशाल था। उन्हें अपने गण के अतिरिक्त नौ गणधरों की शिष्य सम्पदा प्राप्त थी।

आचार्य परम्परा की प्रथम कड़ी

श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा का स्थान प्रभावक आचार्यों की परम्परा में सर्वोच्च है। श्वेताम्बर परम्परा के अभिमत से वीर निर्वाण के बाद आचार्य परम्परा का प्रारम्भ उन्हीं से होता है। गणधरों में उनका पांचवां स्थान था। आचार्यों की शृंखला में वे प्रथम आचार्य बने। तीर्थङ्कर देव की साक्षात् सन्निधि का सौभाग्य आचार्यों में अकेले सुधर्मा को प्राप्त हुआ । दिगम्बर परम्परा के अनुसार गणधर इन्द्रभूति गौतम तीर्थङ्कर महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी थे।

गुरु-परम्परा

आचार्य सुधर्मा के गुरु सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर महावीर थे। वीतराग प्रभु महावीर के द्वारा उनका दीक्षा संस्कार हुआ। तीर्थङ्कर देव के चरणारविन्दों में बैठकर उन्होंने विविध अनुभवों को संजोया। ज्ञान का अर्जन किया एवं अध्यात्म-साधना के मधुर मकरन्द का आस्वादन किया। तीर्थङ्कर महावीर स्वयं तीर्थ के प्रवर्तक थे एवं स्वयं सम्बुद्ध थे। उन्होंने अपने से पूर्व की किसी गुरु परम्परा का आधार नहीं लिया, अतः आचार्य सुधर्मा की गुरु परम्परा तीर्थङ्कर महावीर से प्रारम्भ होती है।

जन्म एवं परिवार

सुधर्मा का जन्म विदेह प्रदेशान्तर्गत कोल्लाग सन्निवेश के ब्राह्मण परिवार में वी. नि. पूर्व ८० (वि. पू. ५५०, ई. पू. ६०७) में हुआ। उनका गोत्र अग्नि वैश्यायन था। उनके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्दिला था।

---

१. (क) तयनियमनाणरुक्खं, आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं, भवियजणविबोहणट्ठाए ॥८९॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं, गंथंति तओ पवयणट्ठा ॥९०॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलय वृत्ति पूर्वभाग, पत्र १०४)

(ख) अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥१९२॥
(आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरी वृत्ति, पूर्वभाग, पत्र १०६)

(ग) 'भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहिं गंथो कओ वाइओ य इति।' (आवश्यक चूर्णि, पृ. ३३४)

२. परिणिव्वुया गणहरा, जीवंते नायए नवूजणा ३.१।
इंदभूई सुहम्मो य, रायगिहे निव्वुए वीर ॥६५८॥
(आ. नि. मलयवृत्ति, भाग २, पृ. ३३९)

३. (क) यश्च यश्च कालं करोति स स सुधर्मस्वामिनो गणं ददाति।
(आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरीवृत्ति, भाग २, पृ. ३३९)

जीवन-वृत्त

ब्राह्मण सुधर्मा अपने युग के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वैदिक दर्शन का उन्हें अगाध ज्ञान था। चतुर्दश विद्याओं पर उनका आधिपत्य था।[४] ब्राह्मण-समाज पर उनका प्रभाव था। वे पांच-सौ छात्रों के शिक्षक थे।

श्रमण-भूमिका में प्रवेश

ब्राह्मण सुधर्मा श्रमण दीक्षा ग्रहण कर गणधर बने। जैन शासन में तीर्थङ्करों के बाद सर्वोच्च पद गणधर का होता है। गणधर अतुल बल सम्पन्न एवं उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप के धनी होते हैं।[५] उनमें असाधारण क्षमताएं होती हैं। गणधरों की शरीर सम्पदा भी सामान्य मनुष्यों से अतिरिक्त होती है। देवों की समस्त रूप सम्पदा तीर्थङ्करों के एक नख में समाहित हो जाती है। गणधरों की रूप सम्पदा तीर्थङ्करों से किञ्चिन्न्यून एवं आहारक शरीरी, चक्रवर्ती आदि अन्य सबसे विशिष्ट होती है।[६]

सुधर्मा गणधर थे। उनके शरीर की ऊंचाई सात हाथ की थी। समचतुरस्र संस्थान था। वज्रऋषभनाराच संहनन था। सुन्दर और सुगठित उनकी काया सुतप्त स्वर्ण की भांति कान्तिमान थी। शरीर का वर्ण रक्ताभगौर था।

ब्राह्मण सुधर्मा का जैन श्रमण भूमिका तक पहुंचने का इतिहास रोचक है। सर्वज्ञत्वोपलब्धि के बाद श्रमण भगवान् महावीर एक बार जंभियग्राम से मध्यमा पावापुरी पधारे। महासेन उद्यान में ठहरे। उसी नगर में सोमिल ब्राह्मण महायज्ञ कर रहा था। उन्नत, कुलोत्पन्न वेद-विज्ञ ग्यारह विद्वान् (गणधर) गोब्बर ग्रामवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति के पुत्र इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, कोल्लाग सन्निवेशवासी भारद्वाज गोत्रीय धनमित्र के पुत्र व्यक्त, अग्नि वैश्यायन गोत्रीय धम्मिल के पुत्र-सुधर्मा, मौर्य सन्निवेशवासी वाशिष्ठ गोत्रीय धनदेव के पुत्र मण्डित, काश्यप गोत्रीय मौर्य के मौर्यपुत्र, मिथिलावासी गौतम गोत्रीय देव के पुत्र अकम्पित, कौशलवासी हारितगोत्रीय वसु के पुत्र अचलभ्राता, वत्स देश तुङ्गिय सन्निवेशवासी कौंडिण्य गोत्रीय दत्त के पुत्र मेतार्य, राजगृहवासी कौंडिण्य गोत्रीय बल के पुत्र प्रभास ये सभी सोमिल ब्राह्मण के यज्ञानुष्ठान के लिए वहां आए थे।[७] उनके साथ चवालीस सौ शिष्य थे। प्रथम पांच विद्वानों के प्रत्येक के पांच सौ शिष्य, मण्डित और मौर्यपुत्र प्रत्येक के तीन सौ पचास शिष्य, अवशिष्ट चार विद्वानों के तीन सौ

---

४. षडङ्गी वेदाश्चत्वारो, मीमांसाऽन्वीक्षिकी तथा।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च, विद्या एताश्चतुर्दश ॥१६७॥
(अभिधान चिन्तामणि काण्ड २३)

५. अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः।
(आवश्यकनिर्युक्ति वृत्ति पत्र १०६२)

६. सव्वसुरा जइ रूवं अंगुट्ठपमाणयं विउविज्जा।
जिणपायंगुट्ठं पइ न सोहए तं जहिंगालो ॥
.....तओ किंचूणं गणहराणं। तत्तो वि हीणं
आहारगसरीरस्स.....तत्तो वि चक्कवट्टीणं
हीणयरं .....एवं विसिट्ठं रूवं गणहराणं।
(विविध तीर्थकल्प श्री महावीरगण कल्प, पृ. ७६)

७. (क) तत्थ गणहराण नामाइं (१) इंदभूई, (२) अग्गिभूई, (३) वाउभूई, (४) विउत्ती, (५) सुधम्मसामी, (६) मंडिओ, (७) मोरिअपुत्तो, (८) अकंपिओ, (९) अयलभाया, (१०) मेअज्जो, (११) पभासो य।
इंदभूइप्पमुहा तिन्नि सहोअरा मगहदेसे गोब्बरगामे उप्पन्ना। विअत्ते सुहम्मो य दो वि कोल्लागसन्निवेसे। मंडिओ मोरिअपुत्तो अ दो वि मोरिअसन्निवेसे। अकंपिओ मिहिलाए। अयलभाया कोसलाए। मेअज्जो वच्छदेसे तुंगिअसन्निवेसे। पभासो रायगिहे।
जणओ तिण्हं सहोअराणं वसुभूई विअत्तस्स धणमित्तो। अज्जसुहम्मस्स धम्मिलो। मंडिअस्स धणदेवो। मोरिअपुत्तस्स मोरिओ। अकंपिअस्स देवो। अयलभाउणो वसू। मेअज्जो दत्तो। पभासस्स बलो।
(विविध तीर्थकल्प, पृ. ७५)

(ख) एक्कारसवि गणहरा सव्वे उण्णयविसालकुलवंसा।
पावाए मज्झिमाए समोसढा जन्नवाडम्मि ॥५९२॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति भाग २, पत्रांक ३११)

शिष्य थे। गणधर प्रभास मात्र १६ वर्ष के थे।[८] सभी विद्वानों का गर्व आकाश को छू रहा था। समग्र ज्ञान सिन्धु पर वे अपना एकाधिपत्य मानते थे। समाज, राजनीति, तर्क, न्याय, ज्योतिष, दर्शन, अध्यात्म, धर्म, विज्ञान, कला और साहित्य किसी भी विषय पर उनसे लोहा लेने वाला कोई भी व्यक्ति उनकी दृष्टि में नहीं था।

उन्होंने अपार जनसमूह को महावीर की ओर बढ़ते हुए देखा। उनके अहं का नाग फुफकार उठा। उन्होंने सोचा "कोई ऐन्द्रजालिक दम्भी मायावी आया है। वह किसी मंत्र-तंत्र से सबको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है पर हमारे सामने उसकी क्या हस्ती है? समग्र कान्तार को कंपाने वाली पञ्चानन की दहाड़ के सामने क्या कोई टिक सकता है? पलक झपकते ही हम उसके प्रभाव को मिट्टी में मिला देंगे।" कुछ समय तक ऊहापोह करने के बाद अपने शिष्यों सहित वे ग्यारह विद्वान् अपनी अजेय शक्ति की घोषणा करते हुए क्रमशः भगवान् महावीर के समवसरण में पहुंचे। अपनी ज्ञान राशि से वे सर्वज्ञ भगवान् महावीर को अभिभूत करना चाहते थे परन्तु उनका यह प्रयास मुष्टि-प्रहार से भीमकाय चट्टान को चूर्ण करने जैसा व्यर्थ हुआ।

विशाल जनसमूह के बीच भगवान् महावीर उच्चासन पर सुशोभित थे। उनके तेजोदीप्त मुखमंडल की प्रभा को देखते ही ब्राह्मण पण्डितों के चरण ठिठक गए, नयन चुंधिया गए। हिमालय के पास खड़े होने पर उन्हें अपनी लघुता की अनुभूति हुई। सहस्रांशु के प्रकाश में उन्हें अपना ज्ञान जुगनूं की तरह लगा।

अगाध ज्ञान-सिन्धु के स्वामी वे ग्यारह पण्डित १. आत्मा, २. कर्मवाद, ३. तज्जीव तच्छरीरवाद (शरीर और चैतन्य का भिन्न-अभिन्नत्व) ४. पंचभूतात्मक सत्ता, ५. परलोक में तद्रूप प्राप्ति का भावाभाव, ६. बन्ध-मोक्ष, ७. देव, ८. नरक, ९. पुण्य-पाप, १०. परलोक, ११. निर्वाण संबंधी एक-एक शंका में उलझे हुए थे।[९] जैसे हाथियों के मद को चूर्ण करने वाला शक्तिशाली शेर लोहे की छोटी जंजीर में उलझ जाता है। प्रथम संपर्क में भगवान् द्वारा उच्चारित अपने नाम पुरस्सर संबोधन ने इंद्रभूति गौतम को चौंका अवश्य दिया था, पर तत्काल भीतर का दर्प बोल उठा "मुझे कौन नहीं जानता?"[१०] सूर्य को अपने विज्ञापन की आवश्यकता नहीं होती। तदनन्तर भगवान् महावीर से अपनी गुप्त शंकाओं का रहस्योद्घाटन एवं उनका संतोषप्रद समाधान प्राप्त कर इंद्रभूति सहित क्रमशः सभी पंडितों का अभिमान विगलित हो गया। वे भगवान् महावीर के चरणों में फलों से लदी हुई शाखा की भांति झुक गए। पंडितों ने जो सोचा था, उसके विपरीत घटित हुआ। वे समझाने आए थे, स्वयं समझ गए। सिन्धु में बिन्दु की तरह विराट् व्यक्तित्व में उनका 'स्व' समाहित हो गया। सर्वतोभावेन भगवान् महावीर के चरणों में समर्पित होकर उन्होंने श्रमण-धर्म की भूमिका में प्रवेश किया। मुनि दीक्षा ग्रहण की। भगवान् महावीर द्वारा यह पहला दीक्षा संस्कार वी. नि. पूर्व ३० ई. पू. ५५७ (वि. पू. ५००) वैशाख शुक्ला एकादशी को हुआ। चतुर्विध धर्म संघ की स्थापना का यह प्रथम चरण था।

---

८. गिहत्थ परिआओ-इंदभूइणो पंचासं वासाइं, अग्गिभूइस्स छायालीसं, वाउभूइस्स बायालीसं वियत्तस्स पन्नासं, सुहम्मसामिस्स वि पन्नासं, मंडियस्स तेवण्णा, मोरियपुत्तस्स पणसट्ठी, अकंपियस्स अडयालीसं, अयलभाउणो छायालीसं, मेअज्जस्स छत्तीसं, पभासस्स सोलस त्ति।
(विविध तीर्थकल्प पृ. ७५)

९. संसओ इंदभूइस्स जीवो। भगवया महावीरेणं छिन्नो। अग्गिभूइणो कम्मे। वाउभूइणो तज्जीव-तस्सरीरे। वियत्तस्स पंचमहाभूएसु। सुहम्मसामिणो जो जारिसो इह भवे, परभवे वि सो तारिसो चेव त्ति। मंडिअस्स बंध-मुक्खेसु। मोरिअपुत्तस्स देवेसु। अकंपिअस्स नरएसु। अयलभाउणे पुन्न-पावेसु। मेअज्जस्स परलोए। पभासस्स निव्वाणे त्ति।
(विविध तीर्थकल्प, पृ. ७५)

१०. हे इंदभूइ! गोयम! सागय मुत्ते जिणेण चिंतेइ।
नामंपि मे वियाणई अहवा को मं न याणेइ? ॥
(आवश्यक निर्युक्ति मलयवृत्ति, भाग २, पृ. ३१३)

संयम साधना स्वीकार करने के बाद इन पण्डितों को गणधर-लब्धि की प्राप्ति हुई। वे गणधर कहलाए और भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यमयी त्रिपदी के आधार पर उन्होंने द्वादशांगी की रचना की।[११] प्रथम सात गणधरों की आगम-वाचना पृथक्-पृथक् थी। आगे के गणधरों में गणधर अचलभ्राता और अकम्पित की वाचना एवं गणधर मेतार्य और प्रभास की वाचना समान थी। अंतिम युग्म वाचना समान होने के कारण ग्यारह गणधरों के नौ गण बने।[१२] आगम वाचना के आधार पर निर्मित इन गणों में प्रथम सात गणों का संचालन इन्द्रभूति आदि प्रथम सात गणधरों ने क्रमशः किया। अचलभ्राता और अकंपित ने ८वें गण का एवं मेतार्य और प्रभास ने ९वें गण का संचालन किया। समवायांग सूत्र में गणधरों का उल्लेख है।[१३]

महावीर का निर्वाण वि. पू. ४७० (ई. पू. ५२७) में हुआ। उस समय गणधर इन्द्रभूति गौतम अन्यत्र प्रबोध देने गए थे। निर्वाण की सूचना प्राप्त होते ही छद्मस्थता के कारण गौतम विह्वल हो गए। उनका हृदय अनुताप से भर गया। शनैः-शनैः चिंतन की धारा मुड़ी, दृष्टि अन्तर्मुखी हुई। यह चेतना के ऊर्ध्वारोहण की अवस्था थी। जागरण की स्थिति थी। जागृति के इन क्षणों में मोह का दुर्भेद्य आवरण टूटा। तदन्तर ज्ञान-दर्शन आवारक कर्माणुओं के क्षीण होते ही अखण्ड ज्ञान (केवल ज्ञान) की लौ उद्दीप्त हुई। ज्येष्ठ गणधर इन्द्रभूति सर्वज्ञ बने।[१४] सर्वज्ञ कभी परम्परा का वाहक नहीं होता, अतः वीर निर्वाण के बाद संघ के दायित्व को गणधर सुधर्मा ने संभाला।[१५] इस समय उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। सर्वज्ञ प्रभु की सुखद सन्निधि में तीस वर्ष रहने के कारण विविध अनुभूतियों का अनमोल वैभव उनके पास था। भगवान् महावीर जैसे सबल आधार के अभाव के कारण एक बार संघ की नौका का डगमगा जाना स्वाभाविक था, पर सुधर्मा जैसे सक्षम आचार्य का सुदृढ़ आलंबन संघ के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ।

उस युग में आजीवक प्रभृति इतर धर्म संघ भी अपना वर्चस्व बढ़ा रहे थे और अपनी कठोरचर्या से जनमानस को प्रभावित कर रहे थे। ऐसे समय भगवान् महावीर की सत्य संधित्सु-दृष्टि एवं स्याद्वादमयी नीति को प्रमुखता प्रदान कर आचार्य सुधर्मा ने जो नेतृत्व श्रमण संघ को दिया वह अद्भुत था, सुखद था।

समकालीन राजवंश

महावीर निर्वाण के बाद निर्ग्रंथ धर्म के प्रति आस्थाशील राजवंशों को धर्म में सुदृढ़ आलंबन की आवश्यकता थी। आचार्य सुधर्मा के समय मगध पर सम्राट् श्रेणिक के पुत्र कोणिक (अजातशत्रु) का और अवन्ति पर पालक का शासन था। सम्राट् श्रेणिक की भगवान् महावीर के प्रति दृढ़ आस्था थी।

पिता श्रेणिक की भांति कोणिक भी भगवान् महावीर की भक्ति में अतिशय अनुरक्त था। अपने राज्य में अङ्ग नरेश कोणिक ने एक ऐसे विभाग की स्थापना की जिसका मुख्याधिकारी निरंतर भगवान् महावीर का सुख संवाद नरेश कोणिक को सुनाया करता था। इस विभाग में कई व्यक्ति काम करते थे। विभाग के मुख्याधिकारी को नरेश कोणिक की ओर से विपुल अर्थराशि मिलती थी।

एक बार विशाल श्रमण-श्रमणी परिवार सहित तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का आगमन अङ्ग देश की राजधानी चम्पा में हो रहा था। उस समय उपर्युक्त

---

११. जग्गन्युद्वादशाङ्गी भवजलधितरी ते निषद्यात्रयेण ॥२॥
(अपापाकल्प विविध तीर्थकल्प, पृ. १२५)

१२. मम णव गणा एक्कारस गणधरा।
(ठाणं, ९/६२)

१३. समवायाङ्ग, समवाय ११।

१४. जादो सिद्धो वीरे तद्दिवसे गोदमो परमणाणी।
(तिलोयपण्णत्ति, महा. ४)

१५. आसीत् सुधर्मा गणभृत्सु तेषु श्रीवर्धमानप्रभुपट्टधुर्यः ॥११॥
(पट्टावली समुच्चय श्री महावीर पट्टपरम्परा, पृ. १२१)

विभाग के मुख्याधिकारी ने भगवान् महावीर के आगमन की सूचना अङ्ग भूपाल कोणिक को दी। कोणिक का मन इस उल्लासवर्द्धक सूचना का श्रवण कर प्रसन्नता से भर गया। सिंहासन से तत्काल नीचे उतरकर नरेश कोणिक ने पादुकाएं खोलीं, खड्ग, छत्र, मुकुट आदि राजचिह्नों को उतारा और भगवान् महावीर की दिशा में विधिपूर्वक वंदन किया तथा संदेश वाहक (विभाग का मुखिया) को विशाल अर्थराशि का प्रीतिदान दिया।[१६]

तीर्थङ्कर महावीर का चंपा में पदार्पण होने पर सपरिवार कोणिक ने प्रभु के चरणों में उपस्थित होकर उपासना का लाभ प्राप्त किया। सर्वज्ञ भगवान् की अमृतोपम देशना सुनकर अङ्गाधीश का मन भक्ति से भर गया। उल्लासमयी भावधारा में बहकर कोणिक ने तिक्खुत्ते के पाठ से विधिपूर्वक धर्म शासन के नायक को वंदन किया एवं निम्नोक्त शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित की

"सुयक्खाए ते भंते! निग्गंथे पावयणे।
सुपण्णत्ते ते भंते! निग्गंथे पावयणे।
सुभासिए ते भंते! निग्गंथे पावयणे।
सुविणीए ते भंते! निग्गंथे पावयणे।
सुभाविए ते भंते! निग्गंथे पावयणे।
अणुत्तरे ते भंते! निग्गंथे पावयणे।
धम्मं णं आइक्खमाणा उवसमं आइक्खह।
विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह।
वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं
कम्माणं आइक्खह।
णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे
वा जे एरिसं धम्ममाइक्खित्तए।"

भगवन्! आपका निर्ग्रंथ प्रवचन सुविख्यात है। सुप्रज्ञप्त है। सुभाषित है। शिष्यों में सम्यक् प्रकार से नियोजित है। सुभावित है। अनुत्तर है।

आपने अपने धर्म प्रवचन में उपशम भाव के साथ विवेक, विरति और निवृत्ति धर्म का सम्यक् प्रतिपादन किया है। कोई भी अन्य श्रमण और ब्राह्मण इस प्रकार से धर्म की व्याख्या करने में समर्थ नहीं है।

"किमंग गुण एत्तो उत्तरतरं?"

इससे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है?[१७]

इस प्रसंग से स्पष्ट है नरेश कोणिक की वीतराग प्रभु में आंतरिक भक्ति थी। सम्राट् श्रेणिक की मृत्यु के बाद कोणिक ने मगध की बागडोर वी. नि. से १७ वर्ष पूर्व संभाल ली थी, अतः आचार्य सुधर्मा के पदारोहण के समय कोणिक शासन का मध्याह्नकाल था।

उस समय अवन्ति का शासक चण्डप्रद्योत का पुत्र पालक था। चण्डप्रद्योत की भगवान् महावीर के परम भक्तों में गणना थी। सुधर्मा ने जिस दिन वीर शासन का दायित्व संभाला, उसी दिन प्रद्योत पुत्र पालक ने अवन्ति का शासन संभाला था।[१८] पालक की भी जैन धर्म में आस्था थी। अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत के दो पुत्र थे पालक और गोपालक। जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी दिन चण्डप्रद्योत का देहावसान हुआ। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राज्य का अधिकार पालक को मिला और गोपालक ने सुधर्मा के पास मुनि दीक्षा ग्रहण कर आत्मसाम्राज्य प्राप्त किया।[१९]

इन दोनों राजवंशों की धार्मिक आस्थाओं के स्थिरीकरण में आचार्य सुधर्मा का शासन अनन्य सहायक था।

आगम-रचना

जैन शासन आज आचार्य सुधर्मा का आभारी है। उन्होंने आत्मविजेता भगवान् महावीर के उपपात में

---

१६. औपपातिक १/५४, 'पीइदाणं दलइ'।
१७. औपपातिक १/७६।
१८. जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवन्तीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥६२०॥
(तित्थोगाली पइन्ना)
१९. इतो य उज्जेणीए पज्जोतसुता दोण्णि पालओ गोपालओ य, गोपालओ पव्वइतो पालगो रज्जे ठितो।
(आवश्यक चूर्णि, भा. २, पृ. १८९)

बैठकर उनकी भवसंतापहारिणी, जनकल्याणकारिणी शिक्षा-सुधा से मनीषा-घट को भरकर और द्वादशांगी की रचना कर हमारे लिए अगाध आगम ज्ञानराशि को सुरक्षित रखा। वर्तमान में उपलब्ध एकादशांग की आगम संपदा आचार्य सुधर्मा ने प्रदान की।[२०]

अङ्गागमों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

आयारो (आचारांग) यह प्रथम अङ्गागम है। तीर्थङ्करों ने अङ्गों में सर्वप्रथम इस अङ्गागम का प्रवर्तन किया है।[२१] इसके आयारो और आयारचूला नामक दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतुस्कंध के ९ अध्ययन एवं द्वितीय श्रुतस्कंध के १६ अध्ययन हैं। कुल पच्चीस अध्ययन हैं[२२]। इस आगम की पद्य संख्या १८००० बताई गई है।[२३] अभयदेवसूरि आदि ने यह पद्य संख्या प्रथम श्रुतस्कंध की मान्य की है।[२४]

प्रथम श्रुतस्कंध का नाम ब्रह्मचर्य भी है। अध्ययनों की संख्या ९ होने के कारण इसे नव ब्रह्मचर्य कहा गया है। द्वितीय श्रुतस्कंध चूलिका रूप है। इसका दूसरा नाम आचाराग्र है।

दिगम्बर ग्रंथ राजवार्तिक, धवला, जयधवला, गोम्मटसार, अङ्गपण्णत्ति आदि में तथा श्वेताम्बर ग्रंथ समवायाङ्ग और नंदी में इस ग्रंथ का उल्लेख और विषय वर्णन मिलता है। आगम साहित्य में यह प्राचीनतम है। इसमें गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार की शैली है। वर्तमान में इस आगम के गद्य-पद्य कहीं-कहीं सम्मिश्रित हो गये हैं। दोनों का पृथक्करण अत्यन्त श्रमसाध्य है। पद्य भाग में जगती, आर्या, वैतालीय आदि छन्द प्रयुक्त हैं।

प्रथम श्रुतुस्कंध की भाषा द्वितीय श्रुतस्कंध की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। इस श्रुतस्कंध के सूक्त मर्मस्पर्शी और प्रभावकारी हैं। महापरिज्ञा नामक इसका सातवां अध्ययन लुप्त है।

द्वितीय श्रुतस्कंध की पांचवीं चूलिका निशीथसूत्र के रूप में स्वतंत्र ग्रंथ है। वर्तमान में वह चतुर्चूलात्मक है। प्रथम दोनों चूलिकाओं के प्रत्येक के सात-सात अध्ययन हैं। तृतीय चूलिका का नाम भावना और चतुर्थ चूलिका का नाम विमुक्ति है। परिशिष्ट पर्व में प्राप्त उल्लेखानुसार इन चूलिकाओं की उपलब्धि साध्वी यक्षा के द्वारा हुई।[२५] मुनिचर्या के वस्त्र, पात्र, भोजन आदि से संबंधित विधि-विधानों का वर्णन इन चूलिकाओं में है।

ज्ञान-दर्शनादि आचार विषय का मुख्यतः वर्णन होने के कारण इस आगम का आयारो नाम है।[२६] भद्रबाहु की निर्युक्ति, जिनदास महत्तर की चूर्णि और शीलाङ्क की टीका प्रस्तुत आगम पर उपलब्ध है।

सूयगडो (सूत्रकृतांग) यह दूसरा अङ्गागम है। निर्युक्ति साहित्य में इसके गुण-निष्पन्न तीन नाम उपलब्ध होते हैं[२७] सूतगड, सुत्तकड, सूयगड।

---

२०. अधुनैकादशांग्यस्ति सुधर्मस्वामिभाषिता ॥११४॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ५८)

२१. सव्वेसिंआयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।
सेसाइं अंगाइं एक्कारस आणुपुव्वीए ॥८॥
(आचाराङ्ग निर्युक्ति)

२२. से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे, दो सुयक्खंधा, पणुवीसं अज्झयणा....
(नंदी सूत्र, संख्या ८७, पृ. ७५, पंक्ति १)

२३. अट्ठारस पयसहस्साइं पदग्गेणं।
(नंदी सूत्र, संख्या ८७, पृ. ७५, पंक्ति २-३)

२४. णवबंभचेरमइयो अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो, बहु-बहुतरओ पयग्गेणं ॥१॥
(समवायाङ्ग टीका)

२५. भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम्।
तथा विचित्रचर्या च तानि चैतानि नामतः ॥९८॥
अप्येषया वाचनया मया तानि धृतानि च।
उद्गीतानि च सङ्घाय तत्तथाख्यानपूर्वकम् ॥९९॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९)

२६. तं जहा णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे वीरियायारे।
(नंदी सूत्र, संख्या ८७)

२७. सुत्तकडं, सूतगडं, सूयकडं चेव गोण्णाइं।
(सूत्र, निर्युक्ति गाथा-२)

इस आगम के दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध के १६ अध्ययन एवं द्वितीय श्रुतस्कंध के ७ अध्ययन हैं। कुल २३ अध्ययन हैं।[२८] समवायाङ्ग, नंदी और आवश्यक आगमों में इसका उल्लेख है। राजवार्तिक, धवला, जयधवला, अङ्गपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रंथों में भी इस आगम की चर्चा है।

प्रस्तुत आगम में प्रथम श्रुतस्कंध के १५ अध्ययन पद्यात्मक एवं एक अध्ययन गद्यात्मक है। दूसरे श्रुतस्कंध के चार अध्ययन गद्यमय एवं दो अध्ययन पद्यमय हैं। ग्रंथ का तृतीय अध्ययन अधिकांशतः गद्यात्मक है। पद्य संख्या अत्यल्प है।

प्रथम श्रुतस्कंध में 'स्व' पर समय की विविध सूचनाएं हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध में पुण्डरीक अध्ययन रूपक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी के छठे अध्ययन में आर्द्रक मुनि का गोशालक शाक्य भिक्षु आदि दर्शनान्तरियों के साथ संवाद तथा सातवें अध्ययन में गौतम गणधर की पार्श्वनाथ के शिष्य उदक पेढाल पुत्र के साथ सैद्धान्तिक विषयों पर चर्चा ज्ञानवर्धक एवं ऐतिहासिक है।

सूत्रकृतांग आगम की शैली प्रौढ़ एवं सरस है। विषय के प्रतिपादन में अनेक दृष्टांतों, व्यावहारिक उपमाओं का उपयोग किया गया है। दर्शन की भूमिका पर इस कृति का विशेष महत्त्व है। सूत्रकृतांग वृत्ति के अनुसार यह आगम प्रधानतया द्रव्यानुयोग में परिगणित हुआ है।[२९] इस आगम में मुख्यतः आत्मा, चरण, करण की प्ररूपणा है।[३०]

ठाणं (स्थानांग) यह तीसरा अङ्गागम है। इसमें एक श्रुतस्कंध और उसके १० अध्ययन हैं।[३१] जीव, पुद्गल आदि का वर्णन संख्याक्रम से है। संग्रह नय की दृष्टि और व्यवहार नय की दृष्टि के आधार पर विषय का संक्षेप और विस्तार है। प्रथम अध्ययन के वर्णन का आधार संग्रह नय है। शेष अध्ययनों के वर्णनों का आधार व्यवहार नय है। द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि को इस आगम के आधार पर सम्यक् रूप से समझा जा सकता है।

इस आगम की शैली प्राचीन है। वैदिक ग्रंथों में भी इस प्रकार की शैली का उपयोग किया गया है। अंगुत्तरनिकाय नामक बौद्ध ग्रंथ में भी यही शैली प्रयुक्त है।

स्थानांग के प्रथम प्रकरण में एक-एक प्रकार की वस्तुओं का, द्वितीय प्रकरण में दो-दो प्रकार की वस्तुओं का क्रमशः दसवें प्रकरण में दस-दस प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख है। जैन-दर्शन सम्मत अनेक मान्यताओं का तथा विविध लौकिक विषयों का विवेचन इसमें है।

आगम के सातवें अध्ययन में सात निह्नवों का, आठवें अध्ययन में निर्ग्रन्थ शासन में दीक्षित आठ राजाओं का, नौवें अध्ययन में नौ गणों का, दसवें अध्ययन में दस महानदियों का, दस राजधानियों का, दस आश्चर्यकारी घटनाओं का उल्लेख ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

सात निह्नवों का वर्णन कालक्रम की दृष्टि से विचारणीय है। भगवान् के युग में जमालि एवं तिष्यगुप्त दो निह्नव हुए। स्थानांगसूत्र गणधर रचना है, अतः इसमें अवशिष्ट निह्नवों का उल्लेख संभवतः बाद में गीतार्थ स्थविरों द्वारा संयुक्त किया गया है। यह आगम अत्यन्त गंभीर है। तात्त्विक चर्चाओं से परिपूर्ण है। इस अङ्गागम का पाठी मुनि श्रुतस्थविर की गणना में आता है।

इस आगम पर अभयदेवसूरि की संक्षिप्त टीका है।

---

२८. से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे, दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा...
(नंदी सूत्र, संख्या ८८)

२९. अधुना अवसरायातं द्रव्यप्रधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यते।
(सूत्रकृतांग, वृत्ति पत्र-१)

३०. से एवं आया.....चरणकरणपरूवणा....
(नंदी सूत्र, संख्या ८८)

३१. से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे, एगे सुयक्खंधे, दस अज्झयणा...
(नंदी सूत्र, संख्या ८९)

मलयगिरि की टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है।

समवाओ (समवायांग) यह चतुर्थ अङ्गागम है। जीव, अजीव आदि पदार्थों का समावतार होने के कारण इस ग्रंथ का नाम समवाय है।[३२] ग्रंथ में सौ तक एकोत्तरीका वृद्धि है। बाद में अनेकोत्तरिका वृद्धि है। एकोत्तरिका वृद्धि का उल्लेख नंदी और समवायांग में है। एकोत्तरिका वृद्धि और अनेकोत्तरिका वृद्धि दोनों का उल्लेख अभयदेव की समवायांग वृत्ति में है।[३३] नंदी और समवायांग इन दोनों ग्रंथों में प्रस्तुत एक ही आगम का विवरण भिन्न-भिन्न प्रकार से उपलब्ध है। नंदी की विषय-सूची से समवायांग की विषय-सूची अधिक विस्तृत है। इस आगम में भी स्थानांग शैली की समानता है।

प्रस्तुत आगम का विषय स्थानांग की अपेक्षा विस्तृत है। स्थानांग में अधिक से अधिक दस प्रकार की वस्तुओं का वर्णन है। इस आगम में आगे की संख्या वाली वस्तुओं का प्रतिपादन भी हुआ है। सौ, सहस्र, लाख, करोड़ से भी आगे प्रथम तीर्थङ्कर और अंतिम तीर्थङ्कर का अन्तराल काल कोटा-कोटि सागर का बताकर संख्या और प्रकारों के वर्णन को अतिशय उत्कर्ष पर चढ़ा दिया है।

यह आगम भी स्थानांग की भांति अतिगंभीर है। इस आगम का पाठी मुनि भी श्रुतस्थविर की गणना में आता है।

नंदी आगम में समवायांग आगम का १,४४,००० पद्य परिमाण बताया है।[३४] वर्तमान में इस आगम का इतना विशाल रूप उपलब्ध नहीं है।

विआहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति) यह पांचवां अङ्गागम है। भगवती नाम से वर्तमान में इस आगम की प्रसिद्धि है। इसके मुख्य ४१ शतक हैं। आवान्तर शतकों की संख्या ६७ है। कुल १३८ शतक हैं। प्रथम ३२ शतक एवं ४१वां शतक स्वतंत्र है। ३३ से ३९ शतकों में प्रत्येक के बारह-बारह आवान्तर शतक हैं। इस आगम का ४०वां शतक २१ शतकों का समवाय है। उद्देशक संख्या १९२३ है। प्रश्नोत्तर शैली में रचा गया यह आगम ज्ञान का महासागर है। समवायांग और नंदीसूत्र के अनुसार इस आगम के शताधिक अध्ययन, दस हजार उद्देशक दस हजार समुद्देशक एवं छत्तीस हजार (३६०००) प्रश्नोत्तर थे।[३५] वर्तमान में आगम का यह रूप उपलब्ध नहीं है। इसका लघु रूप ही प्राप्त है, पर ग्यारह अंगों में आज भी यह आगम सर्वाधिक विशाल है। इससे जैन-दर्शन सम्मत जीव-विज्ञान (जियोलोजी) और परमाणु-विज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन है। यह अध्यात्म-विद्या का गंभीर ग्रंथ है।

ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है। परिव्राजक स्कंदक का महावीर के पास दीक्षा ग्रहण, तुङ्गिया नगरी के श्रावकों की पार्श्वापत्यों से धर्म चर्चा, तामली तापस की साधना, शिवराजर्षि की प्रव्रज्या, श्रावक सुदर्शन, शंख-पोखली आदि के महत्त्वपूर्ण जीवन-प्रसंग, जयंती के प्रश्नोत्तर, गोशालक का विस्तृत जीवन परिचय आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख इसमें है।

वर्तमान में इस आगम का ग्रंथमान लगभग सोलह हजार (१६०००) पद्य परिमाण माना गया है।

इस आगम पर अभदेवसूरि की वि. सं. ११२८ में रचित १८६१६ श्लोक परिमाण विशाल संस्कृत टीका है।

---

३२. समवयन्ति वा समवतरन्ति सम्मिलन्ति नानाविधा आत्मादयो भावा अभिधेयतया यस्मिन्नसौ समवाय इति।
(समवायांग वृत्ति, पत्र-१)

३३. तत्र शतं यावदेकोत्तरिका परतोऽनेकोत्तरिकेति।
(समवायांग वृत्ति, पत्र १०५)

३४. एगे चोयाले सयसहस्से पदग्गेणं।
(नंदी सूत्र, संख्या ९०, पृ. ८०)

३५. से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे, एगे सुयक्खंधे एगे सातिरेगे अज्झयणसते दस उद्देसगसहस्साइं, दस समुद्देसगसहस्साइं, छत्तीस वागरणसहस्साइं.....
(नंदी सूत्र, संख्या ९१)

जयाचार्य रचित साठ हजार (६००००) पद्य परिमाण भगवती जोड़ राजस्थानी भाषा का एक विशिष्ट व्याख्या ग्रंथ है।

नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा) यह छठा अङ्गागम है। इसके नाया और धम्मकहाओ नामक दो श्रुतस्कंध हैं। दोनों का संयुक्त रूप 'नाया-धम्मकहाओ' बनता है। आचार्य अकलंक ने प्रस्तुत आगम को ज्ञातधर्मकथा[३५] एवं जय धवला टीका में नाहधम्म-कथा कहा है। टीकाकारों ने नाया का अर्थ उदाहरण और धर्मकथा का अर्थ धर्मप्रधान कथा किया है।[३७]

इस ग्रंथ में नाना प्रकार के उदाहरण, दृष्टांत और धर्म आख्यायिकाएं हैं। विषय वर्णन हृदयस्पर्शी है।

कथाओं के माध्यम से इस आगम ग्रंथ में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक अनेक प्रकार के बिन्दु प्राप्त होते हैं।

इस आगम ग्रंथ की गणना धर्मकथानुयोग में की गई है। ग्रंथगत कथाएं सरस एवं शिक्षाप्रद हैं। कई कथाएं अत्यन्त मार्मिक हैं। देश-देशांतर की प्रचलित नाना कथाओं के साथ इस आगम की कथाओं का तुलनात्मक रूप शोध का विषय है।

यह आगम जनसाधारण के लिए भी सुग्राह्य और उपयोगी है। इस आगम की प्रत्येक धर्मकथा में पांच-पांच सौ आख्यायिकाएं, प्रति आख्यायिका में पांच-पांच सौ उपाख्यायिकाएं थीं। यह ज्ञातासूत्र सार्धत्रय कोटी कथाओं का संग्रह था।[३८] वर्तमान में इस आगम का यह स्वरूप उपलब्ध नहीं है।

उवासगदसाओ (उपासकदशा) यह सातवां अङ्गागम है। इसके दस अध्ययन हैं।[३९] इसमें भगवान् महावीर के बारह व्रतधारी दस उपासकों के मुख्यतः साधनामय जीवन का वर्णन है। प्रथम अध्ययन में श्रावक के बारह व्रतों का विस्तार से विवेचन है। इस आधार पर श्रावक आचार संहिता को सुगमता से समझा जा सकता है। श्रावक प्रतिमा साधना का विशद विश्लेषण इसमें है।

यह आनन्द आदि दश उपासकों की अगाध धर्मनिष्ठा एवं हृदय को कंपा देने वाली कष्टकर स्थिति में भी उनकी अटल नियमानुवर्तिता को प्रकट करता है।

श्रावक आचार संहिता को प्रमुख रूप से प्रस्तुत करने वाला यह आगम अङ्गागमों में अपना मौलिक स्थान रखता है।

अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा) यह आठवां अङ्गागम है। इसके दस अध्ययन हैं। जन्म-मरण की परम्परा का अंत करने वाले दस महापुरुषों का वर्णन होने के कारण इस ग्रंथ का नाम अन्तकृद्दशा है। नंदीसूत्र में इसके आठ वर्ग बताए गए हैं।[४०] अध्ययनों की संख्या नहीं है। समवायांग सूत्र में इसके १० अध्ययन और ७ वर्ग बताए हैं।[४१] चूर्णिकार ने दसा का अर्थ अवस्था किया है।

हरिभद्र के अभिमत से इस आगम के प्रथम वर्ग के दस अध्ययनों के आधार पर ग्रंथ का नाम अन्तकृद्दशा है।[४२]

इस आगम ग्रंथ के वर्णनानुसार भगवान् महावीर के संघ में राजकुमार गजसुकुमाल, मालाकार अर्जुन, बाल-मुनि अतिमुक्तक, श्रेष्ठीपुत्र सुदर्शन आदि सभी जाति एवं वर्ग के लोगों के लिए अध्यात्म साधना का द्वार समान भाव से खुला था।

---

३६. तत्त्वार्थ वार्तिक १/२० पृ. ७२।

३७. ज्ञातानि उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथा।
(समवायांग वृत्ति, पत्र १०८)

३८. तत्थ णं एगमेगाए धम्मकहाए पंच पंच अक्खाइयासयाइं, एगमेगाए अक्खाइयाए पंच पंच उवक्खाइयासयाइं, एगमेगाए उवक्खाइयाए पंच पंच अक्खाइओवक्खाइयासयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्भुट्ठाओ कहाणगकोडीओ भवंति त्ति, मक्खायं।
(नंदी सूत्र, संख्या ६२)

३९. से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे, एगे सुयक्खंदे, दस अज्झयणा।
(नंदी सूत्र, संख्या ६३)

४०. से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, अट्ठवग्गा।
(नंदी सूत्र संख्या ६४)

४१. दस अज्झयणा सत्त वग्गा।
(समवाय सूत्र ६६)

४२. प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तत्संख्यया अन्तकृद्दशा इति।
(नंदी सूत्र, पृ. ८३)

अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा) यह नौवां आगम है। अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने वाले साधकों का इसमें वर्णन होने के कारण ग्रंथ का नाम अणुत्तरौपपातिकदशा है। इस ग्रंथ के तीन वर्ग हैं।[43]

समवायांग के अनुसार इसके दस अध्ययन और सात वर्ग हैं। इसमें राजकुमारों और श्रेष्ठी कुमारों की विभुता एवं उनकी तपस्याओं का विस्तृत वर्णन है। गजसुकुमाल की ध्यान-साधना एवं धन्यकुमार की तपःसाधना का वर्णन है। इस ग्रंथ से तपोयोग का बोध होता है।

पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरण) यह दसवां अंग है। स्थानांग, नंदी, तत्त्वार्थवार्तिक, जय धवला आदि ग्रंथों में इस आगम का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है वह आज उपलब्ध नहीं है। नंदी के अनुसार इस सूत्र में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न, १०८ प्रश्नाप्रश्न तथा विविध विद्याओं और मंत्रों का उल्लेख था।[44] वर्तमान में प्रश्नव्याकरणसूत्र पांच आश्रव और पांच संवर द्वारों में विभक्त है। यह स्वरूप नंदी में नहीं, नंदीचूर्णि में उपलब्ध है, अतः वर्तमान प्रश्न-व्याकरण सम्भवतः किसी स्थविर द्वारा नंदी आगम रचना के बाद और नंदीचूर्णि से पहले रचा गया है।

विवायसुय (विपाक-सूत्र) यह ग्यारहवां अंग है। कर्मों के विपाक (फल परिणति) का वर्णन होने के कारण इस ग्रंथ का नाम विपाक है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं और २० अध्ययन हैं।[45] श्रुतस्कंध के नाम हैं दुःख विपाक, सुख विपाक। नाम के अनुसार ही इन विभागों में अपने विषय का वर्णन है। जैन कर्मसिद्धांत के प्रायोगिक रूप को समझने के लिए यह ग्रंथ विशेष पठनीय है।

दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) यह बारहवां अङ्गागम है। इसमें विविध दृष्टियों एवं नयों का प्रतिपादन हुआ है। यह इसके नाम से ही स्पष्ट है।

दृष्टिवाद के पांच विभाग हैं परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका।[46] इनमें पूर्वगत विभाग में उत्पाद पूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद आदि चतुर्दश पूर्वों का सार गर्भित है।

स्थानांगसूत्र में दृष्टिवाद के दस पर्यायवाची नाम बताए गए हैं।[47] उनमें एक नाम पूर्वगत है। नंदी सूत्र में दृष्टिवाद का संक्षिप्त परिचय है। उसके अनुसार जिन देव प्रणीत समस्त भावों का निरूपण इस बारहवें अंग में निर्दिष्ट है। वर्तमान में यह बारहवां अंग अनुपलब्ध है।

मलधारी हेमचंद्र की विशेष आवश्यकवृत्ति में कुछ भाष्य गाथाओं को इस आगम के तृतीय विभाग पूर्वगत से संबंधित बताया है।

सर्वज्ञत्वश्री की उपलब्धि

आचार्य सुधर्मा उम्र में भगवान् महावीर से आठ वर्ष ज्येष्ठ थे। जिनशासन का सम्यक् संचालन करते हुए उन्हें बानवें (९२) वर्ष की वृद्ध अवस्था में वी. नि. १२ (वि. पू. ४५८) में सर्वज्ञ श्री की उपलब्धि हुई। अविकल ज्ञान से मंडित होकर प्रखर भास्कर के समान वे भारत वसुधा पर चमके। सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों को उनसे दिव्यप्रकाश प्राप्त हुआ।

---

४३. णवमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, तिण्णि वग्गा।
(नंदी सूत्र, संख्या ९५)

४४. पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिणसयं, अट्ठुत्तरं अपसिणसयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिणसयं, अण्णे वि विचित्त दिव्वा विज्जातिसया.....आघविज्जंति।
(नंदी सूत्र, संख्या ९६)

४५. से णं अंगट्ठयाए एक्कारसमे अंगे, दो सुयक्खंधा वीसं अज्झयणा।
(नंदी सूत्र, संख्या ९६)

४६. से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तं जहा परिकम्मे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुओगे, चूलिया।
(नंदी सूत्र संख्या ९८)

४७. दिट्ठिवायस्स णं दस नामधेज्जा पण्णत्ता, तं जहा दिट्ठिवाएति वा, हेतुवाएति वा, भूयवाएति वा, तच्चावाएति वा, सम्मावाएति वा, धम्मावाएति वा, भासाविजएति वा, पुव्वगतेति वा, अणुओगगतेति वा, सव्वपाणभूतजीवसत्तसुहावहेति वा।
(स्थानांग सूत्र, १०/१२)

समय-संकेत

आचार्य सुधर्मा पचास (५०) वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। उन्हें तीस वर्ष तक भगवान् महावीर की सन्निधि प्राप्त हुई। वीर निर्वाण के बाद बारह वर्ष का उनका छद्मस्थकाल और आठ वर्ष का केवलिकाल है। उनके जीवन का पूरा एक शतक प्रभावक जैनाचार्यों की प्रलम्बमान शृंखला की प्रथम कड़ी है।[४८]

वैभारगिरि पर मासिक अनशन के साथ श्रमण सहस्रांशु सुधर्मा वी. नि. २० (विक्रम पूर्व ४५०) में देहबंधन को तोड़कर आत्म-साम्राज्य के अधिकारी बने। आचार्य सुधर्मा के धार्मिक परिवार का कल्पवृक्ष की भांति विस्तार हुआ।[४९]

आचार्य काल
(वी. नि. १-२०),
(वि. पू. ४७०-४५०),
(ई. पू. ५२७-५०७)

---

४८. तत्पट्टे श्री सुधर्मास्वामी पञ्चमगणधरः प्रथमो दयस्य, प्रथमाचार्यो बभूव। स च पंचाशत ५० वर्षाणि गृहे, त्रिंशद्वर्षाणि ३० वीरसेवायां ततः श्री वीर निर्वाणात् द्वादश वर्षाणि छद्मस्थे अष्ट वर्षाणि केवलित्वे सर्वायुः शतमेकं प्रपाल्य श्री वीरात् त्रिंशति वर्षैः सिद्धः।
(पट्टावली समुच्चय श्री गुरुपट्टावली, पृ. ९६३)

४९. सोहम्मं मुणिनाहं पढमं वंदे सुभत्ति संजुत्तो।
जस्सेसो परिवाउं, कप्परुक्खुव्व वित्थरिउं ॥२॥
(हिमवंत स्थविरावली)

२. ज्योतिपुञ्ज आचार्य जम्बू

आचार्य जम्बू तीर्थङ्कर महावीर के द्वितीय उत्तराधिकारी थे। उनका साधनामय जीवन अध्यात्म के समुन्नत स्तम्भ का जगमगाता दीप था। युग आए और बीत गए पर उस ज्योतिर्मय जीवन दीप की निर्धूम शिखा समय की परतों को चीरकर अकम्प जलती रही और जन-जन के पथ को आलोकित करती रही।

गुरु-परम्परा

जम्बू के गुरु आचार्य सुधर्मा थे। वीर निर्वाण के बाद श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा के द्वारा सर्वप्रथम मुनि दीक्षा जम्बू को प्रदान की गई। जम्बू ने आचार्य सुधर्मा से द्वादशाङ्गी का गंभीर अध्ययन किया। वे चतुर्दश पूर्वों की विशाल ज्ञान राशि को उनसे ग्रहण करने में सफल हुए अतः मुनि-जम्बू के लिए दीक्षा-गुरु एवं शिक्षा-गुरु दोनों प्रकार की भूमिकाओं के दायित्व को निभाने वाले आचार्य सुधर्मा थे। आचार्य सुधर्मा से पूर्व की गुरु-परम्परा तीर्थङ्कर महावीर से संबंधित थी।

जन्म एवं परिवार

जम्बू का जन्म वी. नि. पू. १६ (वि. पू. ४८६) में राजगृह निवासी वैश्य परिवार में हुआ। राजगृह मगध की राजधानी थी। जम्बू के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। यथा नाम तथा गुणसंपन्न समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, कनकवती, जयश्री नामक जम्बू की आठ पत्नियां थीं। आठों पत्नियों के माता-पिता के नाम क्रमशः ये थे[1]

माताओं के नाम (१) पद्मावती, (२) कनकमाला, (३) विनयश्री, (४) धनश्री, (५) कनकवती, (६) श्रीषेणा, (७) वीरमती, (८) जयसेना।

पिता के नाम (१) समुद्रप्रिय, (२) समुद्रदत्त, (३) सागरदत्त, (४) कुबेरदत्त, (५) कुबेरसेन, (६) श्रमणदत्त, (७) वसुषेण, (८) वसुपालित।

जीवन-वृत्त

राजगृह को जम्बू की जन्मभूमि होने का सौभाग्य मिला, वह उस समय जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र थी। सम्राट् श्रेणिक के शासनकाल में उसकी शोभा स्वर्गतुल्य थी।[2] ऋषभदत्त राजगृह का इभ्य श्रेष्ठी था। उस पर लक्ष्मी की अपार कृपा थी। गगनचुंबी अट्टालिका, मणिरत्नों से जड़ित छतें और स्वर्णकणों से चमकती पीताभ दीवारें ऋषभदत्त के समृद्ध जीवन की प्रतीक थीं।

---

१. इतश्च तत्रैव पुरेऽभून्महेभ्यः शिरोमणेः।
समुद्रप्रियसंज्ञस्य नाम्ना पद्मावती प्रिया ॥७५॥
तथा समुद्रदत्तस्य समुद्रस्येव संपदा।
नाम्ना कनकमालेति पत्न्यभूद् गुणमालिनी ॥७६॥
तथा सागरदत्तस्य गरिष्ठस्याद्भुतश्रिया।
विनयश्रीरभूद्भार्या सदा विनयशालिनी ॥७७॥
तथा कुबेरदत्तस्य कुबेरस्येव ऋद्धिभिः।
धनश्रीरिति नाम्नाऽभूत्पत्नी शीलमहाधना ॥७८॥
दम्पतीनाममीषां तु, विद्युन्मालिप्रियाश्च्युताः।
क्रमाद् दुहितरोऽभूवन्नभिधानेन ता यथा ॥७९॥
समुद्रश्रीश्च पद्मश्रीः पद्मसेना तथैव च।
तथा कनकसेनेति रूपात्पागूजन्मिका इव ॥८०॥
तथा कुबेरसेनस्य प्रिया कनकवत्यभूत्।
अभूच्छ्रमणदत्तस्य श्रीषेणेति तु गेहिनी ॥८१॥
वसुषेणाभिधानस्याभवद्वीरमती प्रिया।
वसुपालितस्य पुनर्जयसेनेति वल्लभा ॥८२॥
नभःसेना कनकश्रीस्तथा कनकवत्यपि।
जयश्रीश्चेति चाभूवंस्तेषां दुहितरः क्रमात् ॥८३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

२. (क) इतश्च नगरे राजगृहे राजशिरोमणिः।
श्रेणिकोऽपालयद्राज्यं प्राज्यश्रीर्मघवानिव ॥१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

(ख) घत्ता परिहापायारहिं परियरिउ सुरपुरसिरिदलवट्टणु।
तहिं देसि मणोहरु रायगिहु नामे निवसइ पट्टणु ॥८॥
(जम्बूसामिचरिउ, पृ. १०)

धारिणी सद्धर्मचारिणी महिला थी। विनय, विवेक, सौजन्य आदि गुण धारिणी के जीवन के अलंकार थे। सब तरह से सुखी होते हुए भी धारिणी पुत्राभाव से चिन्तित रहती थी।

एक दिन धारिणी के गर्भ में तेजस्वी विद्युन्माली देव का जीव अवतीर्ण हुआ। उस समय धारिणी ने स्वप्न में श्वेतसिंह को देखा।[३] जसमित्र नामक निमित्तज्ञ ने धारिणी को बताया था "जिस दिन पुत्र का गर्भावतार होगा, तुम श्वेत सिंह का स्वप्न देखोगी। निमित्तज्ञ के द्वारा की गई घोषणा के अनुसार धारिणी को विश्वास हो गया कि वह अवश्य ही एक दिन सिंहशावक के समान शक्तिशाली पुत्र को जन्म देगी।

धारिणी शिष्ट, सुदक्ष और सुशिक्षित नारी थी। वह जानती थी, गर्भस्थ डिम्ब माता से केवल भोजन ही ग्रहण नहीं करता, अपितु जननी के आचार-विचार व्यवहार के सूक्ष्म संस्कारों को भी ग्रहण करता है। सदाचारिणी माता की संतान अधिकांशतः सदाचारिणी होती है। मनोविज्ञान की इस भूमिका से सुविज्ञ धारिणी गर्भस्थ शिशु को सुसंस्कारी बनाने के लिए विशेष संयम से रहने लगी और जागरूक रहकर धर्माराधना करने लगी।

गर्भ-स्थिति पूर्ण होने पर स्वप्न के अनुसार धारिणी ने तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया। माता ने गर्भधारण की स्थिति में जम्बू नामक द्वीपाधिपति देव की १०८ आयम्बिल तप के साथ आराधना की, अतः शुभमुहूर्त एवं उल्लासमय वातावरण में बालक का नाम जम्बू रखा गया। कथान्तर के अनुसार माता धारिणी ने जम्बू की गर्भावस्था में जम्बू वृक्ष को देखा था, अतः पुत्र का नाम जम्बू रखा गया।[४]

बालक जम्बू रूपसंपन्न और तेजस्वी था। अनुक्रम से जम्बू के जीवन का विकास हुआ। सोने के चम्मच से दुग्धपान करने वाला और मखमली गद्दों में पलने वाला शिशु संयमपथ का पथिक बनेगा यह किसने सोचा?

अत्यन्त सुकुमार और सरल स्वभावी जम्बू ने किशोरावस्था में प्रवेश पाया। उनके जीवन में विनय आदि अनेक गुण विकसित हुए। यौवन के द्वार पर पहुंचने पर जम्बू का देदीप्यमान रूप खिल गया। काम को अभिभूत करने वाली आठ रूपवती कन्याओं के साथ जम्बू का लगभग १६ वर्ष की अवस्था में संबंध तय कर दिया गया था।

जीवन में कभी-कभी ऐसे सुनहरे क्षण आते हैं जो जीवन को सर्वथा नया मोड़ देने वाले होते हैं। एक दिन जम्बू ने मगध सम्राट् श्रेणिक के गुणशील नामक उद्यान में आचार्य सुधर्मा का भवसन्तापहारी प्रवचन सुना।[५] जंबू के सरल हृदय पर अध्यात्म का गहरा रंग चढ़ गया।

जन्म-जन्मान्तर की अनन्तकालिक अविच्छिन्न परम्परा को उच्छिन्न करने के लिए जम्बू उद्यत हुआ।

आचार्य सुधर्मा के पास जाकर जम्बू ने प्रार्थना की "महामहिम मुनीश! मुझे आपकी वाणी से भौतिक सुखों की विनश्वरता का बोध हो गया है। मैं अब शाश्वत सुख प्रदान करने वाले संयम मार्ग को ग्रहण करना चाहता हूं।"

आचार्य सुधर्मा भव-भ्रमण भेदक दृष्टि का बोध कराते हुए बोले "श्रेष्ठि-पुत्र! संयमी जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। धीर पुरुषों के द्वारा यही पथ अनुकरणीय है। तू पल भर भी प्रमाद मत कर।"

जम्बू का मन शीघ्रातिशीघ्र मुनि-जीवन में प्रविष्ट होने के लिए उत्सुक था, परन्तु सद्यःदीक्षित हो जाना जम्बू के वश की बात नहीं थी। इस महापथ पर बढ़ने के लिए अभिभावकों की आज्ञा आवश्यक थी।

आचार्य सुधर्मा को वन्दन कर जम्बू उठा और रथ पर आरूढ़ हुआ। जम्बू के निर्देश पर सारथि ने रथ की

---

३. अन्यदा धारिणी स्वप्ने श्वेतसिंहं न्यभालयत् ॥५७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

४. सूनोर्जम्बूतरोर्नाम्ना जम्बूरित्यभिधां व्यधात् ॥७१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५. आगमे समोसरियं, पणमित्तं पहुं पुरो निसन्नो य।
हरिसियहियओ निसुणेइ, देसणं भुउलियग्गकरो ॥१८३॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरियं, पत्रांक १३६)

धुरी को घर की ओर उन्मुख किया। तीव्रगति से दौड़ते हुए अश्व जनाकीर्ण नगर द्वार तक आकर रुक गए। वाहनों की बहुलता के कारण आगे जाने का मार्ग अवरुद्ध था। मार्ग प्राप्ति की प्रतीक्षा में अत्यधिक काल-विक्षेप की संभावना विरक्त जम्बू के लिए असह्य हो गई। स्वामी के संकेत की क्रियान्विति करते हुए सारथि ने रथांगों (रथ के चक्कों) को नगर के द्वितीय प्रवेश द्वार की ओर घुमा दिया।

निर्दिष्ट प्रवेश-द्वार के निकट पहुंचकर जम्बू ने देखा लपलपाती तलवारों, सुतीक्ष्ण भालों, भारी भरकम गोलकों, वपु विदारक कटारों, शिलाखण्ड की आकृति के भयानक शस्त्रों से द्वार का ऊपरी भाग सुसज्जित था। यह सारा कार्य शत्रु के भय से सावधान रहने के लिए किया गया था। जम्बू ने सोचा "शत्रुसंहार के लिए लटकते हुए शतघ्नी आदि शस्त्र, ये भारी-भरकम लोहमय गोलक मौत का निमंत्रण है, किसी समय भी जीवन-समाप्ति की सूचना है, चेतना के जागरण का आह्वान है और श्रेयकार्य को कल पर नहीं छोड़ने की तीव्र ललकार है। द्वार को पार करते समय किसी भी शस्त्र के पतन की दुर्घटना मेरे रथ पर भी घटित हो सकती है। उस समय मैं, मेरा रथ तथा सारथि कोई भी नहीं बच सकता।[६]

जम्बू के हृदय में ज्ञान की दिव्य किरण उदित हुई। रथ वापस मुड़ा। आचार्य सुधर्मा के पास पहुंचकर जम्बू ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की प्रतिज्ञा की।

जम्बू का रथ त्वरित गति से चलता हुआ पुनः घर की ओर बढ़ा। माता पिता के पास पहुंचकर जम्बू ने उन्हें प्रणाम किया और बोला "आचार्य सुधर्मा से मैंने अध्यात्म प्रवचन सुना है। मैंने मुनि बनने का निर्णय लिया है। अब आपके आदेश की प्रतीक्षा है।"[७]

पुत्र की बात सुनकर ऋषभदत्त का मुख म्लान हो गया। माता धारिणी रो पड़ी। नयन का सितारा, कुल का जगमगाता दीप, हृदय का हार, अपार संपत्ति को भोगने वाला जम्बू उनका इकलौता पुत्र था। अप्सरा-सी सुन्दर आठ कन्याओं के साथ उनका संबंध पहले ही निर्णीत हो गया था। विवाहान्तर पुत्र के भोग-संपन्न सुखी जीवन को देखने की उनकी प्रबल इच्छा थी।

मोहविमूढ़ माता-पिता ने जम्बू के मस्तक पर हाथ रखकर कहा "पुत्र! तुम हमारे आधार हो। वार्धक्य में यष्टि की भांति आलंबन हो। हमने तुम्हारा विवाह रचकर उल्लासमय दिन देखने के स्वप्न संजोये हैं। वधुओं के आगमन की और पौत्र-दर्शन की आनन्दमयी कल्पना की है। हमारी कामना को पूर्ण करो और आठ वधुओं के साथ लक्ष्मी का भी सानन्द भोग करो।" जम्बू को नाना प्रकार के प्रलोभन दिए गए, पर किसी प्रकार का प्रलोभन जम्बू को अपने लक्ष्य से विचलित नहीं कर सका। उसके मानस में ज्ञान की अकंप लौ जल रही थी। जनक-जननी का आखिरी प्रस्ताव था "पुत्र! हम तुम्हारे इस कार्य में विघ्न बनना नहीं चाहते, पर आठ कन्याओं के साथ तुम्हारा संबंध हो गया है। विवाह के लिये हम वचनबद्ध हैं। तुम्हारे इस कार्य से उनके साथ धोखा होगा। हमारा वचन भंग होगा। वत्स! तुम हमारे आज्ञाकारी पुत्र हो। तुम हमारी बात को स्वीकार करो। आठों कन्याओं के साथ पाणिग्रहण की अनुमति प्रदान करो। विवाह के बाद हमारी ओर से तुम्हारे मार्ग में कोई बाधा नहीं होगी। प्रत्युत् हम भी तुम्हारे साथ प्रव्रजित बन सकते हैं।"

जम्बू जानता था पाणिग्रहण के बाद दीक्षा के लिए उन आठों पत्नियों की आज्ञा आवश्यक होगी। यह विघ्न निश्चित दिखाई दे रहा था पर वह माता-पिता के युक्ति-संगत इस कथन को नहीं टाल सका। मेरे साथ अभिभावक भी दीक्षित होंगे यह उसको अधिक

---

६. गच्छतो मेऽध्वनाऽनेन शिलोपरि पतेदिदं।
तदस्मि नाहं न रथो न रथ्या न च सारथिः ॥१०७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

७. .....स भणइ पव्वज्जाए, अणुजाणह ता ममंपियाणिं ॥१६६॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरियं, पत्रांक १३६)

प्रभावित कर गई। जम्बू कुछ झुका। उसने विवाह के लिये स्वीकृति दे दी। यह स्वीकृति रीति-निर्वहण मात्र थी। ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा में वह अब भी मन्दराचल की तरह अचल था।

जम्बू के संकल्प की बात कन्याओं के अभिभावकों को भी बता दी गई। वे इससे चिन्तित हुए। उनमें परस्पर विचार-विमर्श हुआ। मोह के कारण वे किसी एक निर्णय पर नहीं पहुंच रहे थे। यह चर्चा कन्याओं के कानों में भी पहुंची। उन्होंने दृढ़ स्वर से अपने अभिभावकों से कहा "आपके द्वारा जम्बू के साथ हमारा संबंध कर दिया गया है। हमने भी जम्बू को वर रूप में स्वीकार कर लिया है। अब हमारा वर दूसरा नहीं हो सकता। राजा और संत पुरुषों द्वारा वचन दान एक बार ही किया जाता है और कन्याओं का दान एक ही बार होता है।[८] हम सब श्रेष्ठी कुमार जम्बू के साथ में हैं।"

कन्याओं का निश्चय सुनकर अभिभावकों के विचार स्थिर हुए। सबने यही सोचा, माता-पिता के स्नेहिल आग्रह ने पुत्र को विवाह हेतु तैयार कर दिया, तो ललनाओं का आग्रह भरा अनुनय भी जम्बू के संयमार्थ बढ़ते चरणों को अवश्य रोक लेगा। नैमित्तिक को पूछकर उस दिन से सातवें दिन विवाह लग्न निश्चित हुआ। ऋषभदत्त के मानस में हर्ष की लहर दौड़ गई। धारिणी के पैरों में घुंघरू बंध गए। स्वजन, स्नेही कुटुम्बजन उत्सव की तैयारी में लगे। सारा वातावरण उल्लास से भर गया। आनन्दप्रदायिनी मंगल-बेला में धूम-धाम से जम्बू का विवाह सम्पन्न हुआ। यथा नाम तथा गुण वाली समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, कनकवती और जयश्री इन आठों रूपवती कन्याओं के साथ जम्बू ने घर में प्रवेश किया। किसलयसी सुकुमार, भूषणालंकृत पुत्रवधुओं और पुत्र जम्बू को देखकर धारिणी आनन्द विभोर हो गई। महिलाओं ने मंगल गीत गाए और रीति-रश्म के साथ वर-वधुओं का वर्धापन किया। ऋषभदत्त का आंगन जम्बू के दहेज से प्राप्त निन्यानवे करोड़ की राशि से शीशमहल की तरह चमक उठा।

अपने माता-पिता की प्रसन्नता हेतु जम्बू ने विवाह किया था। उत्सव के इस प्रसंग पर विविध वाद्यों की मनमोहक झंकार, कोकिलकंठों से उठते संगीत एवं गुलाबी रंग में उछलती खुशियां विरक्त जम्बू के मन को मुग्ध नहीं कर सकी।

जम्बू को दहेज में प्राप्त भारी अर्थ राशि की चर्चा सुनकर निशा के समय अपने साथियों सहित चोर सम्राट् प्रभव ऋषभदत्त के घर पर पहुंच गया।

रात्रि के नीरव वातावरण में संसार नींद की गोद में सोया हुआ था, पर ऋषभदत्त के घर भारी हलचल थी।

एक ओर प्रभव प्रमुख पांच-सौ चोर घर में घुसकर दहेज में प्राप्त प्रचुर धनराशि को तत्परता से बटोर रहे थे। दूसरी ओर ऋषभदत्त के उपरितन प्रासाद में अप्सरा-सी आठों पत्नियों के मध्य बैठा जम्बू राग-भरी रजनी में त्याग और विराग की चर्चा कर रहा था।

समुद्रश्री आदि आठ कन्याओं ने मूर्ख किसान बक, वानर-युगल, नूपुर-पण्डिता विलासवती, शंख-धमक, बुद्धि-सिद्धि, ग्रामकूट-पुत्र, मा-साहस पक्षी, चतुर-ब्राह्मण कन्या नागश्री, ये आठ कथाएं क्रमशः जम्बू को संसार में मुग्ध करने के लिए कही। जम्बू ने भी काकपक्षी, अंगार-दाहक, मेघरथ विद्युन्माली, यूथपति-वानर, जात्यश्व, घोड़ी-पालक, तीन मित्र, ललिताङ्ग, तीन वणिक और खदानें, आख्यान-चिन्तामणि (द्रव्याटवी भवाटवी) इन कथाओं के द्वारा पत्नियों के मन का समाधान किया।

समुद्रश्री आदि आठों पत्नियों ने क्रमशः एक-एक कथा कही। जम्बू ने भी प्रत्येक कथा के उत्तर में एक-एक कथा कही। अन्तिम दो कथा अधिक कहकर

८. सकृज्जल्पन्ति राजानः, सकृज्जल्पन्ति साधवः।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥१२८॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

सबको वैराग्य रस से परिप्लावित कर दिया। जम्बू के प्रत्येक स्वर में अन्तर्मुखता की लहर उठ रही थी। कामिनियों के काम-बाण जम्बू को पराभूत करने में निष्फल रहे। वनिताओं का विकार भाव उसके चित्त को तथा चतुर चोरों का दल उसके वित्त को हरण नहीं कर सका।[९] प्रत्युत् जम्बू द्वारा अध्यात्म चर्चा से मृगनयनी आठों पत्नियों के मानस का अन्धकार मिट गया। वासनासक्ति क्षीण हो गई। वे जम्बू के साथ दीक्षित होने को तैयार हो गईं। बढ़ती हुई वैराग्य की सबल तरंगों ने सारे वातावरण को बदल दिया। ऋषभदत्त, धारिणी, आठों पत्नियों के माता-पिता और पांच-सौ चोरों का एक विशाल दल भी संयम के पथ पर बढ़ने के लिए तैयार हुआ।

दिगम्बर परम्परा में कवि 'वीर' रचित 'जम्बू स्वामी चरित्र' के अनुसार जम्बू के पिता का नाम अर्हद्दास और माता का नाम जिनमति था। जम्बू पूर्वभव में विद्युन्माली देव था। यह विद्युन्माली देव जब जिनमती के गर्भ में आया उस समय जिनमती ने स्वप्न में जम्बूफलों का गुच्छा, निर्धूमाग्नि, धानभरा-खेत (शालिक्षेत्र), सरोवर तथा विशाल सागर को देखा था।[१०] गर्भस्थिति पूर्ण होने पर जिनमती ने रूपवान्-भाग्यवान्-क्रान्तिमान्, तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम जम्बू कुमार रखा गया। युवावस्था में जम्बू का पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री, रूपश्री इन चार श्रेष्ठी कन्याओं के साथ विवाह किया। इन चारों कन्याओं के पिता का नाम क्रमशः समुद्रदत्त, कुबेरदत्त, वैश्रवण और धनदत्त था एवं माताओं का नाम पद्मावती, कनकमाला, विनयमाला एवं विनयमती था।

आचार्य सुधर्मा के द्वारा बोध प्राप्त कर जम्बू मुनि-दीक्षा ग्रहण के लिए प्रवृत्त हुआ पर माता-पिता के आग्रह से जम्बू ने विवाह की स्वीकृति दी। उल्लासमय वातावरण में विवाह-विधि अक्षय तृतीया के दिन संपन्न हुई।[११] प्रचुर धनराशि दहेज में वर-वधू को प्रदान की गई।[१२] मनमोहक सुहागरात में चारों पत्नियों ने अनेक प्रकार के हाव-भाव से जम्बू को मोहित करने का प्रयत्न किया, पर जम्बू अपने निश्चय पर अटल था। उसके वैराग्य का निर्झर भीतर से बह रहा था। उस रात हस्तिनापुर के प्रतापी राजा विश्वम्भर और महारानी श्रीषेणा का पुत्र विद्युच्चर[१३] चोरी करने के लिए श्रेष्ठी अर्हद्दास के घर में घुसा। महापुराण ग्रंथ के अनुसार विद्युच्चर पोदनपुर के राजा विद्युत्राज एवं रानी विमलमती का पुत्र था। वह अपने ५०० साथियों सहित चोरी करने आया था।[१४]

श्रेष्ठी अर्हद्दास के घर में धन बटोरता हुआ विद्युच्चर चोर जम्बू के शयन-कक्ष तक पहुंच गया। नव-विवाहित जम्बू और उसकी पत्नियों के बीच हो रहे वार्तालाप को सुनने के लिए दीवार से सटकर वह खड़ा हो गया। अपने कान उसने कपाट से सटा दिए।

---

९. चित्तं न नीतं वनिता विकारैर्वित्तं न नीतं चतुरैश्च चौरैः ॥२॥
(पट्टावली समुच्चय, तपागच्छपट्टावली, पृष्ठ ४२)

१०. दीसइ जम्बूफलनिउरंबं गंधायड्ढियभमरकुडंबं।
धगधगंतजोइयसव्वासं निद्धमं जलंतसव्वासं।
सहलसालिउेत्तं सुहगंधं महमहंतमरु-पूरियगंधं।
कूहयचक्कमरालबलायं पप्फुल्लियसयवत्ततलायं।
मयरमच्छकच्छवपायारं, रयणाउण्णं पारावारं।
नियभत्तारहो जं जिहदिट्ठं पडिबुद्धए पहाए तं सिट्ठं।
(जम्बूसामिचरिउ, संधि ४, कडवक ५, पृ. ६६)

११. ठविउ विवाहलग्गु धणरासिए अक्खयतइयदिवसे जोइसिए।
(जम्बूसामिचरिउ, सं ४, क. १४, पृ. ६६)

१२. बहुअत्थसंगहे गोत्तपवित्तहो दिज्जइ दाइज्जउ वरइत्तहो।
(ज. सा. च., सं. ८, क. १२, पृ. १६०)

१३. तहिं परबलधणपलयमहामरु वसइ नराहिउ नाम विसंधरु।
पिय सिरिसेण तासु विक्खाइय सुउविज्जुच्चरु नाम वि वाइय।
(ज. सा. च., सं. ३, क. १४, पृ. ५९)

१४. सुरम्यविषये ख्यातपौदनाख्यपुरेशिनः।
विद्युद्राजस्य तुग्वियुत् प्रभोः नाम भटाग्रणीः ॥५३॥
तीक्ष्णो विमलवत्याश्च कुक्षा केनापि हेतुना।
निजाग्रजाय निर्गत्य तस्मात्पंचशतैर्भटैः ॥५४॥
विद्युच्चोरराख्यं कृत्वा स्वस्य प्राप्य पुरोमिमाम्।
जानन्नदृश्यदेहत्वकपाटोद्घाटनादिकम् ॥५५॥
(उत्तर पुराण, पर्व ७६)

किसलय-सी सुकुमार कामिनियों के बीच जम्बू स्थिर योग मुद्रा में बैठा था। वैराग्य भाव एवं सौम्य भाव की तरंगों से प्रासाद का वातावरण तरंगायमान था। विद्युच्चर ने ऐसा दृश्य पहली बार देखा था। जम्बू की महान् कल्याणकारी वाणी को सुनकर वह ठिठक गया। उसे पहली बार अध्यात्म की सचाई का अनुभव हुआ।

जम्बू की माता जिनमती पुत्र के वैराग्य से चिंतित, उद्भ्रान्त और खिन्न-सी थी। नववधुएं अपने राग-पाश में जम्बू को बांधने में सफल हुई या नहीं यह जानने के लिए वह जम्बू के शयन-कक्ष के पास आई। उसने दीवार से सटकर खड़े व्यक्ति को देखा और निडरभाव से बोली 'अंधेरे में छुपकर कौन खड़ा है?' तभी विद्युच्चर ने जिनमती से कहा "मां! मैं विद्युच्चर नाम का प्रसिद्ध चोर हूं।[१५] 'मंदिरु तं न जं न मूसिउ' मेरी समझ में ऐसा कोई घर नहीं है जिसे मैंने नहीं लूटा। एक तेरा ही घर बचा है जहां मैं आज चोरी करने के लिए आया हूं।"

जिनमती बोली 'गिण्हहि दविणु पुत्र जं रूच्यइ' पुत्र जो तुझे जरूरत है वह ले जाओ। मेरा यह इकलौता कुलदीप प्रभात होते ही मुनि दीक्षा स्वीकार करने वाला है। अब हमें अधिक धन से क्या प्रयोजन है?' विद्युच्चर बोला "मां! तेरे पुत्र और पुत्र-वधुओं की अध्यात्म चर्चा सुनकर और जम्बू के सौम्य चेहरे को दूर से ही देखकर मेरा मन बदल गया है। मैं अब चोरी नहीं करूंगा। मां एक बात और बता देता हूं मैं वशीकरण, स्तम्भन, सम्मोहन विद्या को जानता हूं, आप मुझे जम्बू तक पहुंचा दो। मैं उसे भोगों के वशवर्ती बनाने में समर्थ हूं।" विद्युच्चर की बात सुनकर जिनमती को आश्वासन मिला, उसने शयनकक्ष के द्वार खटखटाये। पुत्र को संबोधित करती हुई वह बाहर से बोली "जम्बू! तुम्हारे मामा आए हैं।[१६] उनका यहां आना तुम्हारे जन्म के बाद पहली बार हुआ है। आज रात को ही वे लौट जाने वाले हैं, अतः अपने मामा का सम्मान करो और उनसे मिलो।" जिनमतीं की सहायता से विद्युच्चर जम्बू के समीप पहुंच गया। जम्बू ने मामा समझकर उसका सम्मान किया। चारों नवविवाहित वधुओं, विद्युच्चर चोर तथा जम्बू कुमार के बीच रोचक संवाद चला, अन्त में जम्बू की विजय हुई। विद्युच्चर ने भी अपना असली परिचय दिया और वह जम्बू के साथ मुनि दीक्षा लेने को तैयार हो गया।

अभिनिष्क्रमण और दीक्षा

प्रभात के समय विशाल जनसमूह के साथ वैरागी जम्बू का गुनि दीक्षा स्वीकार करने के लिए घर से अभिनिष्क्रमण हुआ। वाद्य बज रहे थे। मंगल गीत गाए जा रहे थे। जम्बू का रथ आगे बढ़ रहा था। जम्बूद्वीप के अधिपति अनादृत (अणाढ़िय) देव ने अभिनिष्क्रमणोत्सव मनाया। मगधाधिपति कोणिक का भी चतुरंगिणी सेना के साथ इस महोत्सव प्रसंग पर आगमन हुआ। दीक्षार्थी को संबोधित करते हुए मगध नरेश ने कहा

'ता सकयत्थो जम्मो पसंसणीयं च तुह कुलं अज्ज।
छेत्तूण जेण मोहं, पडिवन्नो उत्तमं मग्गं' ॥५०६॥
(जम्बूचरियं, उ. ६)

'धीर पुरुष जम्बू! तुम्हारा जन्म कृतार्थ हुआ। तुम्हारा कुल प्रशंसनीय बना है। मोह का परित्याग कर तुमने उत्तम मार्ग ग्रहण करने का निश्चय किया है।'

'आइसउ धीर! इण्हिं जं कायव्वं मए किंचि।' ॥५२२॥
(जम्बूचरियं, उ. ६)

नरेश ने जम्बू से कहा 'हमारे द्वारा जो करणीय है उसे मुक्त भाव से कहो।' जम्बू ने प्रभव की ओर संकेत

---

१५. हउं नामेण चोरु विज्जुच्चरु हिंडमि नयरु निसिहिं नीसंचरु।
(ज. सा. च., सं. ६, क. १५, पृ. १८५)

१६. मे कणिट्ठ भाइ एक्कु मंडलंतरम्मि थक्कु।
वच्छरेसु आउ अज्जु जाणिऊण तुज्झ कज्जु।
दंसणाणुरायबद्ध दुल्लहेट्ठगोट्ठिसद्ध।
नेच्छए निसाविरामु अच्छाए दुवारे मामु।
(ज. सा. च., सं. ६, क. १७, पृ. १८५)

कर कहा 'राजन! यह प्रभव चोर भी वैराग्य भाव को प्राप्त कर मेरे साथ मुनि बनने जा रहा है। आपके राज्य में इसने जो अपराध किए हैं उसके लिए आप आज से इसे क्षमा कर दें।'

'नरनाहेणं भणियं, कुणसु अविग्घेण एस सामण्णं।
खमियं सव्वं पि मए, एयस्स महाणुभावस्स' ॥५२६॥
(जम्बूचरियं, उ. १६)

जम्बू के प्रत्युत्तर में नरेश्वर कोणिक ने कहा "आप दोनों अविघ्न भाव से श्रमण धर्म को स्वीकार करें। मैं इस महानुभाव के समग्र अपराधों को क्षमा करता हूं।"

नरवर कोणिक का आशीर्वाद प्राप्त कर जम्बू और प्रभव प्रसन्न हुए।

दिगम्बर ग्रंथों के अनुसार जम्बू के अभिनिष्क्रमण के समय सम्राट् श्रेणिक उपस्थित हुआ। श्रेष्ठी कुमार जम्बू को आभूषणों से सुसज्जित किया एवं हस्तिरत्न पर उसे बैठाया।[१७]

श्वेताम्बर ग्रंथों के अनुसार सम्राट् श्रेणिक का देहावसान सर्वज्ञ श्री संपन्न तीर्थङ्कर महावीर के समय में ही हो गया था, अतः इस प्रसंग पर नरवर कोणिक था।[१८]

राजगृह के गुणशीलचैत्य में वी. नि. १ में आचार्य सुधर्मा द्वारा श्रेष्ठीकुमार जम्बू आदि ५२७ व्यक्तियों को मुनि-दीक्षा प्रदान की गई।[१९]

दिगम्बर ग्रंथों के अनुसार जम्बू के साथ विद्युच्चर चोर, माता जिनमती और पद्मश्री आदि ने भी श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। जिनमती आदि साध्वियों को सुप्रभा साध्वी का संरक्षण प्राप्त हुआ।[२०] आचार्य पद पर आसीन होते ही आचार्य सुधर्मा को इतने विशाल परिवार के साथ जम्बू जैसे योग्य शिष्य का मिलना शुभंकर था।

मुनि जीवन में जम्बू

मुनि जम्बू कुशाग्र बुद्धि के स्वामी थे। वे अपनी सर्वग्राही एवं सद्यःग्राही प्रतिभा के द्वारा आचार्य सुधर्मा के अगाध ज्ञानसिंधु को अगस्त्य ऋषि की तरह पी गए।

आगम की अधिकांश रचना जम्बू के प्रिय संबोधन से प्रारम्भ हुई। "जम्बू! सर्वज्ञ श्री वीतराग भगवान् महावीर से मैंने ऐसा सुना है।" आचार्य सुधर्मा का यह वाक्य आगमों में अत्यन्त विश्रुत है।[२१]

समग्र सूत्रार्थ ज्ञाता, विश्रुत कीर्ति, विविध गुणों के धारक जम्बू ने आचार्य सुधर्मा के बाद आचार्य पद का दायित्व संभाला। आचार्य पद ग्रहण करने के समय जम्बू की अवस्था ३६ वर्ष की थी। आचार्यपद ग्रहण का समय वी. नि. २० (वि. पू. ४५०) है।

पूर्व भवों में सुधर्मा और जम्बू

सुधर्मा और जम्बू का पूर्व के पांच भवों का इतिवृत्त ग्रंथों में मिलता है। प्रथम भव में सुधर्मा और जम्बू दोनों में भ्रातृ संबंध था। सुधर्मा का नाम भवदत्त और जम्बू का भावदेव था। भवदत्त ने भावदेव को बोध दिया और उसे दीक्षित कर आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। भवदत्त एवं भावदेव दोनों संयम की आराधना

---

१७. नेहसंवाहिओ रायरायाहिओ सेणिओ आगओ।
तेण मणिजुत्तयं कडय-कडिसुत्तयं सेहरं सिरहियं।
समउसिय वत्थेणं अप्पणो हत्थेणं भूषणं परिहियं।
(ज. सा. च., सं. १०, क. ९१, पृ. २१०)

१८. घणओ व्व पूरमाणं, दविणमहासंचएण पणइयणं।
कोणियनरनाहेणं, सहिओ य अणाढियसुरेण ॥५१५॥
(जम्बू चरियं (गुणपाल) १६ उद्देशक)

१९. पंचमगणहारिसुहम्मसामिणा दिन्न पुन्न पव्वज्जो ॥८४७॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरियं, पत्रांक १९५)

२०. एत्तहि वि पडिछियवयभरेण पव्वज्ज लइय विज्जुच्चरेण।
अण्णहि दिणे सुयणाणंदणासु संताण सहोयरनंदणासु।
जिणसेणहो अप्पिवि ललियबाहु हुउ अरुहयासु निग्गंथसाहु।
जिणमइयए सुप्पहअज्जियासु तव्वयरणु लइउ पासम्मि तासु।
पउमसिरिपमुह बहुआउ जाउ पव्वज्जिउ अज्जिउ जाउ ताउ।
कइदिणेहि सुहम्महो गणहरासु उप्पण्णउ केवलनाणु तासु।
(ज. सा. च., सं. १०, क. २०, पृष्ठ २१२)

२१. (क) सुयं मे आउसं! तेणं भगवता एवमक्खायं। (ठाणं १/१)
(ख) अज्जसुहम्मो जम्बुस्वामिं पुच्छंतं भणति-अहासुतं वइस्सामि।
(श्री आचारांग चूर्णि, पृ. २९८)

कर स्वर्ग में गए। उसके बाद सागरदत्त और शिवकुमार नाम के दो राजकुमार हुए।

सागरदत्त का जन्म पुण्डरीकिणी नगरी में और शिवकुमार का जन्म वीतशोका नगरी में हुआ। सागरदत्त के पिता का नाम वज्रदत्त एवं माता का नाम यशोधना था और शिवकुमार के पिता का नाम पद्मरथ और माता का नाम वनमाला था। सागरदत्त ने मुनि-दीक्षा ग्रहण कर शिवकुमार को बोध दिया। शिवकुमार ने श्रावक-धर्म की अराधना की और बारह वर्ष तक कठोर तप किया। यहां से समाधि मरण प्राप्त कर दोनों पुनः देव हुए। देवायु को पूर्ण कर दोनों मनुष्य लोक में आए। मनुष्य लोक में संसार ने उनको सुधर्मा और जम्बू के नाम से पहचाना। सुधर्मा का जन्म ब्राह्मण परिवार में और जम्बू का जन्म वैश्य परिवार में हुआ। इस पांचवें भव में भी श्रेष्ठी कुमार जम्बू को आचार्य सुधर्मा से बोध मिला, यह वर्णन वीर कवि रचित 'जम्बूसामीचरिउ' ग्रंथ में है।

'जम्बूचरियं' ग्रंथ में रचनाकार गुणपाल ने मुनि सागरदत्त का उसी भव में मोक्ष माना है। शिवकुमार ने विद्युन्माली देव बनने के बाद जम्बू के रूप में जन्म लिया।

समकालीन राजवंश

जम्बू ने दीक्षा ली उस समय मगध पर श्रेणिक पुत्र कोणिक का एवं अवन्ती पर चण्डप्रद्योत-पुत्र पालक का शासन था। जम्बू के आचार्य-काल में राज सत्ताएं बदल गई। नरेश कोणिक का देहावसान आचार्य सुधर्मा के शासनकाल में ही हो गया था। जम्बू के आचार्यकाल में मगध पर उदायी का शासन था। कोणिक की भांति उदायी भी जैनधर्म के प्रति गहरा निष्ठावान था। उदायी का देहावसान पौषध वी. नि. ६० में (वि. पू. ४१०) में हुआ था। इस समय आचार्य जम्बू के काल के ४० वर्ष हो गए थे। नरेश उदायी के संतान न होने के कारण इस समय मगध पर शिशुनागवंशी शासकों की सत्ता डगमगा गई। जम्बू निर्वाण से ४ वर्ष पूर्व की घटना है। मगध में राजा का चयन करने के लिए मंत्रीगण की सलाह से हथिनी को घुमाया गया। मस्त चाल से चलती हुई हथिनी ने नापित पुत्र नंद के गले में वरमाला डाली। तीन शतक से भी अधिक समय तक शिशु नागवंशी शासकों द्वारा संचालित मगध का राज्य नंदवंश के हाथ में आ गया। अवन्ती पर उस समय अवन्तिवर्धन का शासन था।

अवन्ती नरेश पालक के दो पुत्र थे अवन्तिवर्धन और राष्ट्रवर्धन। पिता पालक ने अपने शासनकाल के बीसवें वर्ष में उत्तराधिकार पद पर ज्येष्ठ पुत्र अवन्तिवर्धन की एवं युवराज पद पर अपने द्वितीय पुत्र राष्ट्रवर्धन की नियुक्ति कर अपने राज्य को व्यवस्थित किया। उसके बाद नरेश पालक ने मुनिदीक्षा ग्रहण की।[२२]

अवन्तिवर्धन के शासन-काल में अवन्ती राज्य में भारी उतार-चढ़ाव आए। नरेश अवन्तिवर्धन राष्ट्रवर्धन की पत्नी धारिणी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। अवन्तिवर्धन ने राष्ट्रवर्धन को अपने मार्ग में बाधक समझकर मरवा दिया। धारिणी अपनी इज्जत बचाने के लिए जैन श्रमणी बनी। अपना उत्तराधिकार राष्ट्रवर्धन के पुत्र अवन्तिसेन को सौंप अवन्तिवर्धन ने भी मुनि दीक्षा ग्रहण की।

इस समय कौशाम्बी का शासक नरेश अजितसेन था। अजितसेन के बाद नरेश मणिप्रभ ने कौशाम्बी राज्य का संचालन किया। मणिप्रभ और अवन्तिसेन दोनों सहोदर थे एवं राष्ट्रवर्धन के पुत्र थे।

ये तीनों अपने युग के प्रभावी राजवंश थे। इन तीनों में मगध का राजवंश अधिक प्रसिद्ध था। भगवान् महावीर और निर्ग्रंथ धर्म के प्रति इन राजवंशों की गहरी आस्था थी।

---

२२. तस्स दो पुत्ता, पालको अवंतिवद्धणं रज्जाणं।
रट्ठवद्धणं जुवरज्जाणं ठवेत्ता पव्वइतो ॥
(आवश्यक चूर्णि, भाग २, पृ. १९६)

एक बार आचार्य सुधर्मा की मुनि मण्डली में युवा मुनि जम्बू की तेजस्वी एवं सौम्याकृति को देखकर कोणिक ने प्रश्न किया आचार्यवर! ये मुनि कौन हैं?[23]

नरेश कोणिक की जिज्ञासा के समाधान में सुधर्मा ने जम्बू का परिचय दिया।

जम्बू की दीक्षा के समय मगधाधिपति कोणिक का होना, अष्टमी, चर्तुदशी को उदायी द्वारा पौषध-व्रत की आराधना[24] तथा अवन्तिवर्धन का एवं राष्ट्रवर्धन की पत्नी धारिणी का जैन-शासन में दीक्षित आदि प्रसंग राजवंशों में जैन संस्कारों के प्राबल्य के उदाहरण हैं।

अन्तिम केवली

सर्वज्ञ श्री संपन्न इन्द्रभूति के बाद वी. नि. २० (वि. पू. ४५०) में सर्वज्ञ श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा का निर्वाण और आचार्य जम्बू को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तीर्थङ्कर महावीर के बाद अनुबद्ध केवली परम्परा में जम्बू तृतीय केवलज्ञानी बने। जम्बू का आचार्य पद ग्रहण और केवल ज्ञान प्राप्ति का संवत् एक ही है।

पिता अपना वैभव पुत्रों को सौंपकर जाता है, आचार्य सुधर्मा इसी प्रकार अपनी सर्वज्ञत्व संपदा जम्बू को समर्पित कर गए। अपूर्व ज्ञानराशि आचार्य जम्बू का आश्रय पाकर मुस्करा उठी।

जम्बू समर्थ आचार्य थे एवं निर्मल ज्ञान के देदीप्यमान-पुञ्ज थे। इनके समय तक धर्मसंघ में भेद नहीं था। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा सुधर्मा और जम्बू को समान सम्मान प्रदान करती हैं। इस समय तक विकास का कोई भी द्वार अवरुद्ध नहीं था। आचार्य जम्बू चरम शरीरी एवं अन्तिम सर्वज्ञ थे।[25]

समय-संकेत

आचार्य जम्बू सोलह वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। मुनि पर्याय के कुल ६४ वर्ष में ४४ वर्ष तक उन्होंने युगप्रधान पद को अलंकृत किया। उनकी संपूर्ण आयु ८० वर्ष की थी। जन-जन को ज्ञान रश्मियों से आलोकित कर ज्योतिपुञ्ज आचार्य जम्बू का वी. नि. ६४ (वि. पू. ४०६) में निर्वाण हुआ।[26]

नवयौवना रूपसंपन्ना आठ पत्नियों का परित्याग कर संयम मार्ग पर बढ़ने वाले जम्बू मुक्ति-वधू का वरण कर कृतार्थ हो गए।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों अभिमत से ज्योतिपुंज जम्बू अन्तिम मुक्तिगामी थे।[27]

आचार्य-काल

(वी. नि. २०-६४)
(वि. पू. ४५०-४०६)
(ई. पू. ५०७-४६३)

---

२३. देशानान्ते च गणभृच्छिष्यान्पप्रच्छन्नरेश्वरः।
जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य पप्रच्छ परमेश्वरम् ॥३८॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, पृ. १२२)

२४. उदायी त्वाददेऽष्टम्यां चतुर्दश्यां च पौषधम्।
अवातु सूरयो धर्मकथार्थं च तदन्तिके ॥२००॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, पृ. १४६)

२५. अपश्चिमकेवली जम्बूसामी (विविध तीर्थकल्प, पृ. ३८)

२६. तत्पट्टे (२) श्री जम्बूस्वामी....षोडश (१६) वर्षाणि गृहे, विंशति (२०) वर्षाणि व्रते चतुश्चत्वारिंशत् (४४) वर्षाणि युग-प्रधान भावे। सर्वायुरशीति (८०) वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीराच्चतुःषष्टि (६४) वर्षान्ते सिद्धः।
(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरुपट्टावली, पृ. १६३)

२७. मत्कृते जम्बुना त्यक्ता नवोद्वाह नवकन्यकाः।
तन्मन्ये मुक्तिवध्वाऽन्यो, न कृतो भारते नरः॥
(पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृ. ४२)

३. परिव्राट्-पुंगव आचार्य प्रभव

स्तेन सम्राट् प्रभव उच्चकोटि का परिव्राट् बना, श्रमण सम्राट बना, यह जैन इतिहास का अनुपम पृष्ठ है। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में आचार्य प्रभव प्रथम हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली जम्बू के बाद श्रुतकेवली की परम्परा में सर्वप्रथम द्वादशांग के अध्येता एवं संपूर्ण श्रुत के ज्ञाता विष्णु मुनि को प्राप्त है।

गुरु-परम्परा

आचार्य सुधर्मा प्रभव के दीक्षा गुरु थे। आचार्य जम्बू और आचार्य प्रभव एक ही गुरु से दीक्षित गुरुबन्धु थे। आचार्यों की परम्परा में तीर्थङ्कर महावीर के शासन का उत्तराधिकार श्रुतधर प्रभव को आचार्य जम्बू से प्राप्त हुआ। सुधर्मा की गुरु-परम्परा महावीर से संबंधित थी।

जन्म एवं परिवार

प्रभव क्षत्रिय राजकुमार था। विंध्य प्रदेश के समीपवर्ती जयपुर नगर में वी. नि. पू. ३० (वि. पू. ५००, ईसा पू. ५५७) में प्रभव का जन्म हुआ। वह विन्ध्य नरेश का पुत्र था। विन्ध्य प्रदेश विन्ध्य पर्वत की तलहटी में बसा हुआ था। प्रभव का गोत्र कात्यायन था। कात्यायन गुरु गोत्र माना गया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों में यह गोत्र प्रचलित रहा है, ऐसा इस प्रसंग से स्पष्ट होता है।

जीवन-वृत्त

विन्ध्य नरेश के दो पुत्र थे। उनमें प्रभव ज्येष्ठ था। उसने क्षत्रियोचित नाना प्रकार की शिक्षाएं पाईं। युवा हुआ। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण वह राज्य का अधिकारी था। कारणवश विन्ध्य नरेश ने राज्य का उत्तराधिकारी कनिष्ठ पुत्र को बनाया। इससे प्रभव कुपित हुआ। राजमहलों में पला हुआ युवा पितृ-स्नेह से रिक्त होकर चोरों की पल्ली में पहुंच गया। वह बुद्धि का स्वामी और शारीरिक सामर्थ्य से सम्पन्न था। जनसमूह को लूटता, कूदता-फांदता विन्ध्याचल की घाटियों में शेर की तरह निर्भीक दहाड़ता प्रभव एक दिन पांच सौ चोरों का नेता बन गया। अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी नामक दो विद्याएं प्रभव के पास थीं। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा वह सबको निद्राधीन कर सकता था और तालोद्घाटिनी विद्या के द्वारा मजबूत तालों को भी खोल सकता था। अपनी इन दो विद्याओं से स्तेनाधिपति का बल अत्यधिक बढ़ गया। शस्त्र-सुसज्जित सैन्यदल भी प्रभव के नाम से कांपता था।

एक बार प्रभव का दल मगध की सीमा में पहुंच गया। इस दल ने राजगृह के इभ्य श्रेष्ठी ऋषभदत्त के पुत्र जम्बू के विवाह की चर्चा सुनी। विवाह में प्राप्त ९९ करोड़ के दहेज की जानकारी प्राप्त कर प्रभव ने सोचा "एक ही दिन में धनवान बनने का यह एक अच्छा अवसर है। भाग्य को चमकाने वाला यह सुनहरा मौका है, ऐसे सुनहरे अवसर को खोने वाला मूर्ख होता है। हमें बुद्धिमानी से काम करना है और अपने भाग्य को परखना है।"

प्रभव का दल प्रभूत धन-संपदा को हस्तगत करने के लिए निशा के समय श्रेष्ठी ऋषभदत्त के गृह में प्रविष्ट हुआ। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा सबको नींद की गोद में सुलाकर तालोद्घाटिनी विद्या का प्रयोग किया। ताले टूट गए।[1] मधु-बिन्दु पर जैसे मधुमक्खियां भिनभिनाती

---

१. ओसोयणि विज्जाए, सोयाविऊण जणमसेसंपि।
सो जाइ जंबुनामस्स, मंदिरे मेरुसिहरेव्व ॥१३॥
तालुग्घाडिणिविज्जाए तालयाइं विहाडिऊण सहुं।
विवरियसव्वदुवारे पविसइ नियमंदिरेव्व तहिं ॥१४॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्रांक १३७)

हैं उसी प्रकार इस गिरोह के सदस्य धन की पेटियों पर टूट पड़े। वे सभी अत्यन्त त्वरता से पेटियों में छिपे हीरे, पन्ने, माणक, मुक्ता आदि बिखरे वैभव को बटोरने लगे।

जम्बू ने अपने उच्च प्रासाद से चोरों द्वारा अपनी सम्पत्ति का अपहरण होते हुए देखकर भी वह न कुपित हुआ न क्षुब्ध। स्तेनदल के कई सदस्यों ने निद्राधीन अतिथिजनों के पहने हुए आभूषणों को शरीर पर से उतारने का प्रयास किया।[२] "दस्युजनों! विवाहोपलक्ष में आए हुए मेरे मित्रों के अलंकारों पर हाथ मत लगाओ।[३] मैं निशाप्रहरी की भांति खुली आंखों से तुम्हें देख रहा हूं।" अज्ञात दिशा से आती हुई ये शब्द तरंगें स्तेनदल के कानों से टकराईं। तरंगों की टकराहट के साथ ही एक विचित्र घटना घटित हुई।

दस्युदल का नेता प्रभव इस अभियान का संचालन करता हुआ घूम रहा था। स्तेनदल ने अत्यन्त त्वरा से अपना काम किया। धन की गांठें बांधीं। गांठों को उठाने में तत्पर उनके हाथ गांठों पर और पैर धरती पर चिपक गए। सब भित्तिचित्र की तरह स्तम्भित हो गए।[४] प्रभव दूर खड़ा अपने साथियों को चलने का आदेश दे रहा था पर वे सब प्रस्तर मूर्ति की तरह अविचल खड़े थे। अपनी शारीरिक शक्ति का पूरा उपयोग करने पर भी किसी का पैर इंचमात्र भी नहीं हिला। वे ऊर्ध्वकर्ण होकर अज्ञात दिशा से आती हुई शब्द तरंगों को सुन रहे थे तथा भयाक्रान्त नयनों से नेता की ओर देख रहे थे।

पवन की लहरों पर आरूढ़ शब्द-तरंगें प्रभव के कानों में पहुंचीं। प्रभव कुशाग्र बुद्धि का स्वामी था। उसे स्थिति को समझने में देर नहीं लगी। मेरे संकेत पर बलिदान होने वाला मेरा दल आज्ञा की अवहेलना नहीं कर सकता। यहां अवश्य ही दूसरा रहस्य है। मेरे कानों से टकराने वाली शब्द-तरंगों का प्रयोक्ता इसी भवन में कहीं है। वह मेरे से अधिक शक्तिशाली है। मेरी अवस्वापिनी विद्या उसके सामने असफल हो गई है। उसी ने अवश्य मेरे स्तेनदल पर स्तम्भिनी विद्या का प्रयोग किया है। प्रभव की दृष्टि क्षण-भर में चारों ओर घूम गई। उसने ऊपर की ओर देखा। ऋषभदत्त के सबसे उपरितन प्रासाद में दीपमालाएं जल रही थीं। उसी प्रासाद के जालीदार गवाक्ष से छनकर आती हुई प्रकाश-किरणें प्रभव को जम्बू के शयनकक्ष तक खींचकर ले गईं। उसने द्वार के छिद्रों में से चुगलखोर की तरह चुपके से भीतर की ओर झांका। मृगनयनियों की कुंतलालंकृत रूपछटा काली घटाओं में चमकी विद्युत् की तरह प्रभव की आंखों में कौंध गई। जम्बू के कान्तिमान भाल को देखकर प्रभव अत्यधिक प्रभावित हुआ। नवोढाओं का मधुर संवाद सुनने के लिए स्तेन-सम्राट् ने अपने कान दीवार से सटा दिए। सुहाग की प्रथम रात में पति-पत्नियों के मध्य अध्यात्म की विशद चर्चा चल रही थी। राग के समय विरक्ति के स्वर उसके कानों से टकराए। प्रभव ने सोचा 'यह असाधारण पुरुष है'। वह जम्बू के सामने जाकर खड़ा हो गया और अपना परिचय देते हुए बोला "मैं चोराधिपति प्रभव हूं। आपके सामने मैत्री स्थापित करने की भावना से प्रस्तुत हूं। मैं अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याएं आपको अर्पित कर रहा हूं। आप मुझे अपना मित्र मानकर मेरी इन विद्याओं को ग्रहण करें और मुझे स्तम्भिनी और विमोचनी विद्या प्रदान करें।"[५]

---

२. घरहरघोरंत जणाहिं, जाव तेणा विभूसणाईयं।
उल्लुंटणाय लग्गा, समग्गभंडारगाणंपि ॥१५॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्रांक १३७)

३. नीसंकमाणओ तो, भणेइ सिंहासणे समासीणो।
जंबूनामो भो मा, छिवेह पाहुणय जणमेयं ॥१६॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्रांक १३७)

४. महापुण्यप्रभावस्य, तस्याथ वचसेदृशा।
ते चौराः स्तब्धवपुषोऽभूवन् लेप्यमया इव ॥१७६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५. वयस्य! देहि मे विद्यां, स्तम्भनीं मोक्षणीमपि।
अवस्वापनिकातालोद्घाटिन्यौ ते ददाम्यहम् ॥१८२॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

जम्बू मुस्कराया और बोला "स्तेन सम्राट्! मेरे पास किसी प्रकार की विद्या नहीं है और मैं तुम्हारी इन विद्याओं को लेकर क्या करूंगा? मैं प्रभात होते ही मणि, रत्न, कनक-कुण्डल, किरीट आदि समग्र सम्पदा तथा रूप-सम्पदा की स्वामिनी इन कामिनियों का परित्याग कर सुधर्मा स्वामी के पास संयम को ग्रहण करूंगा। मेरी दृष्टि में अध्यात्मविद्या से बढ़कर कोई विद्या नहीं है, कोई मंत्र नहीं है, कोई शक्ति नहीं है और कोई बल नहीं है।"

जम्बू की बात सुनकर प्रभव अवाक् रह गया। वह जम्बू के शशिसौम्य मुख को अपलक नयन से निहार रहा था। उसका अन्तरंग उद्वेलित हो उठा। भीतर से झटका लगा। अरे प्रभव! क्या देख रहे हो? प्रभव का मौन टूटा। उसने जम्बू को सलाह दी "मेरे मित्र! पल्लव-पुष्पों से मुस्कराते मधुमास की भांति यह नवयौवन तुम्हें प्राप्त है। लक्ष्मी तुम्हारी सेविका है। सब प्रकार की अनुकूल सामग्री तुम्हें सुलभ है। मुक्त भाव से विषय-सुख भोगने का यह अवसर है। इन नवविवाहित बालाओं पर अनुकम्पा करो, इनकी इच्छाओं को पूर्ण करो।"

"जम्बू! आप जानते हो, सन्तानहीन व्यक्ति नरक में जाता है, अतः नरक से त्राण पाने के लिए पुत्र को प्राप्त कर भावि सन्तति का विस्तार कर पितृऋण से मुक्त बनो। सम्पूर्ण परिवार का आलम्बन बनो। उसके बाद संयमी होना शोभास्पद है।"

चोर सम्राट् की बात को ध्यान से सुनकर जम्बू ने मन्द स्वर में उसे उद्बोधन दिया "प्रभव विषय-भोगों से उत्पन्न सुख अपाय-बहुल है। सर्षपकण तुल्य स्वल्प भोग भी विष के समान प्रचुर दुःख के दाता होते हैं। महर्षियों की दृष्टि में विषय-सुख मधु-बिन्दु के समान क्षणिक आनन्ददायी होते हैं। जैसे धन-संग्रह का इच्छुक व्यक्ति घोर विपिन में मदोन्मत्त हाथी के द्वारा पीछा करने पर त्राण पाने का कोई अन्य उपाय नहीं देखकर वृक्ष की शाखा का आलम्बन लिए गम्भीर कूप में लटक रहा है। उसके पदतल के नीचे कूप में विकराल काल की भ्रूचाप के समान चार कृष्णकाय सर्प फुफकार कर रहे हैं। उनके मध्य में विशालकाय अजगर मुंह फैलाये पड़ा है। मत्त मतंगज वृक्ष के प्रकाण्ड को प्रकम्पित कर रहा है। आलम्बनभूत शाखा को सफेद और काले दो चूहे काट रहे हैं। वृक्ष के सबसे ऊपर की शाखा पर मधुमक्खियों का छत्ता है। मधुमक्खियां देह को काट रही हैं। छत्ते से बूंद-बूंद मधु उसके मुंह में टपक रहा है। उसे सर पर भीत नाचती हुई दिखाई दे रही है। भाग्य से एक विद्याधर का विमान ऊपर से निकलता है। शाखा से लटकते दुःखार्त व्यक्ति को देखकर करुणार्द्रहृदय विद्याधर आह्वान करता है "आओ मानव! मैं तुम्हें नन्दवन की भांति आनन्दमय स्थान पर ले चलता हूं।" पुनः-पुनः विद्याधर द्वारा बुलाने पर भी मधु-बिन्दु में आसक्त बना वह मानव चलने को तैयार नहीं होता। एक बिन्दु और.....एक बिन्दु और.....की प्रतीक्षा में वह प्राणों से हाथ धो लेता है।"

रूपक को जीवन पर घटित करते हुए जम्बू ने कहा "हे प्रभव! संसार अटवी है। विषयोन्मुख प्राणी रसलुब्ध मानव के समान है। कूप मानव-जन्म तथा चार नागराज चतुष्क कषाय हैं। अजगर की भांति नरकादि गतियों के द्वार खुले हुए हैं। आयुष्य की शाखा पर मनुष्य लटक रहा है। चूहों के रूप में शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्ष हैं, जो आयुष्य की शाखा को काट रहे हैं। मधुमक्षिका की भांति व्याधियां आक्रांत कर रही हैं। इन्द्रियजन्य सुख मधुबिन्दु के समान क्षणिक आस्वाद देने वाले हैं। विद्याधर के समान संत बोध प्रदान कर रहे हैं। उनकी वाणी से विवेक प्राप्त सुधीजन लक्ष्मी और ललना-लावण्य में लुब्ध होकर संयममय सुरक्षित स्थान की क्षण भर के लिये भी उपेक्षा नहीं करते।

"प्रभव! पुत्रोत्पत्ति से पितृ-कल्याण की भावना भ्रांति मात्र है। पिता-पुत्र के संबंध अनेक बार हो चुके हैं। जन्म-जन्मान्तर में पिता पुत्र का और पुत्र पिता का स्थान ग्रहण कर लेता है। परिवर्तनशील विश्व में जनक-जननी, सुत-सुता, वल्लभ-कान्ता आदि के संबंध शाश्वत नहीं हैं। इस अनादि-अनंत संसार में किसके

साथ किसका संबंध नहीं हुआ है? अतः स्व-पर की कल्पना ही व्यामोह है। माता, दुहिता, भगिनी, भार्या, पुत्र, पिता, बन्धु-बान्धव आदि संबंध भव-भवान्तर में परिवर्तित होते रहते हैं, अतः इन संबंधों से आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त नहीं होता।"

महेश्वरदत्त, गोपयुवक, कोड़ी के बदले अपने सर्वस्व को खो देने वाले वणिक आदि के उदाहरण सुनाकर एवं कुबेरदत्त, कुबेरदत्ता के दृष्टान्त से एक भव के अठारह संबंधों का विचित्र लेखा-जोखा समझाकर श्रेष्ठीकुमार ने चोराधिपति के मोहानुबन्ध को शिथिल कर दिया।

जम्बू के अमृतोपम उपदेश से प्रभव का हृदय पूर्णतः अंकृत हो गया। युग-युग से तन्द्रिल नयन अध्यात्म के अंजन से खुल गए। भीतर का ज्ञानदीप जल गया। वह अपने द्वारा कृत पापों के प्रति अनुताप की अग्नि में जलने लगा। उसने सोचा, हाय! कहां यह श्रेष्ठी जम्बू कुमार जो अपने अधीन विपुल धन को और भोगों को ठुकरा रहा है और कहां मैं जो मांस के टुकड़े को देखकर कुत्ते की भांति धन पर टूट पड़ा हूं....।

'इसके नयनों में मैत्री का अजस्र स्रोत छलक रहा है और मैं पापी-महापापी सहस्रों ललनाओं की मांग का सिन्दूर पोंछने वाला, रक्षा बांधने को प्रतीक्षारत भगिनियों के भ्रातृ-सुख का अपहरण करने वाला, प्रिय पुत्रों के प्राणों से खेलकर माताओं को बिलखाने वाला, अपने रक्त रंजित हाथों पर अट्टहास करने वाला मैं..... .मैं कालसौकरिक कसाई से भी अधिक निर्दयी हत्यारा हूं। संयम और तप की अग्नि में स्नान किये बिना मेरा विशुद्धिकरण सर्वथा असम्भव है।'

जम्बू की ज्ञानधारा से प्रभव के हृदय पर जमा कल्मष धुल गया। वह अपने को धिक्कारता हुआ अध्यात्म सागर में गहराई तक चला गया। जो ऋषभदत्त की धन-राशि को लूटने आया था वह स्वयं पूर्णतः लुट गया। जम्बू के चरणों में गिरकर अपराध हेतु क्षमा मांगी और अपने साथियों को मुक्त करने के लिए आग्रह भरा निवेदन किया। जम्बू ने कहा "मैंने तुम्हारे किसी भी साथी को नहीं बांधा है, न किसी पर विद्या एवं तंत्र-मंत्र का प्रयोग किया है।" स्तेनाधिपति प्रभव अन्तःतृप्तिदायिनी जम्बू की वाणी को सुनकर प्रभव निरुत्तर हो गया। वास्तविक स्थिति को जानने के लिए वह अपने दल के पास पहुंचा, उसने देखा, कोई भी साथी बंधा हुआ नहीं है। किसी का पैर धरती पर चिपका हुआ नहीं है। प्रभव आश्चर्य के महासागर में डूब गया। चिन्तन की धारा आगे बढ़ी, मन में प्रश्न उभरा मेरे साथियों के हाथ-पैर पहले क्यों स्तम्भित हो गए थे? उसका वैज्ञानिक समाधान उसे मिल गया। जिसको वह स्वयं और उसके साथी देवमाया का प्रयोग तथा स्तम्भिनी विद्या का प्रभाव मान रहे थे वह और कुछ नहीं, जम्बू की पावन अध्यात्मधारा की त्वरितगामी तरंगों का प्रभाव था। अणुशक्ति के प्रयोग से आंदोलित वातावरण की भांति जम्बू की सद्यःगामी एवं दूरगामी सबल ज्ञानधारा के स्पर्श से स्तेनदल के अन्तर्मन में एक विचित्र क्रान्ति हुई। प्रभव को अपने साथियों के हाथ-पैरों का जो स्तम्भन दिखाई दिया, यथार्थ में वह स्तंभन नहीं था। अध्यात्म-तरंगों से प्रभावित चोरों का मन यह चौर्य कर्म करने से पूर्णतः विमुख हो गया।

प्रभव संयम मार्ग पर बढ़ने को तत्पर हुआ। अपने अधिपति के इस निर्णय को सुनकर समग्र स्तेनदल में एक दूसरी क्रांति हो गई। दीप से दीप जले। पाप भस्म हो गया। समस्त साथियों ने नेता का अनुगमन किया। प्रभव ने अपने पूरे दल सहित वी. नि. १ में सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण की।

परिशिष्ट पर्व के अनुसार प्रभव की दीक्षा आचार्य जम्बू की दीक्षा के एक दिन बाद हुई।[६] इस आधार पर दीक्षा ज्येष्ठ आचार्य जम्बू थे एवं अवस्था ज्येष्ठ प्रभव थे। दीक्षाग्रहण के समय जम्बू की अवस्था १६ अथवा

६. पितृनापृच्छ्य चान्येद्युः प्रभवोऽपि समागतः।
जम्बूकुमारमनुयान्परिव्रज्यामुपाददे ॥२६१॥
(परिशिष्ट पर्व, तृतीय सर्ग)

१८ वर्ष एवं प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी।

आचार्य जम्बू के बाद वी. नि. ६४ (वि. पू. ४०६, ई. पू. ४६३) में प्रभव ने आचार्य पद का दायित्व संभाला।[७] भगवान् महावीर की परम्परा में प्रभव का क्रम तृतीय है।

श्रुतधर प्रभव को महावीर-संघ का उत्तराधिकार अवश्य मिला, पर सर्वज्ञत्व की संपदा उन्हें प्राप्त नहीं हो सकी।

समकालीन राजवंश

प्रभव के आचार्यकाल में नंदों का शासनकाल प्रारम्भ हो गया। मगध में नरेश उदायी के राज्य का अन्त वी. नि. ६० (वि. पू. ४१०, ई. पू. ४६७) में हुआ है। इसी वर्ष नंदवंश के राज्य का अभ्युदय हुआ। नंदवंश के अभ्युदय के समय आचार्य जम्बू का आचार्यकाल था। चार वर्ष के बाद आचार्य प्रभव का आचार्य-काल प्रारम्भ हुआ था, अतः नंदवंश का राज्य आचार्य प्रभव के समय अपने शैशवकाल में था।

विद्वानों ने नंद शासकों को जैन माना है। राजवंश जैन होने के कारण श्रुतधर प्रभव को धर्म प्रचार के लिए राजकीय दृष्टि से अनुकूल वातावरण मिला।

प्रथम श्रुतकेवली

श्रुतकेवली की परम्परा में आचार्य प्रभव प्रथम थे। आचार्य प्रभव को द्वादशांगी की उपलब्धि आचार्य सुधर्मा से प्राप्त हुई या जम्बू से.....इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं है।

महान् जैनाचार्यों में परिव्राट्पुंगव आचार्य प्रभव का गौरवमय स्थान है। शय्यंभव जैसे अहंकारी, निर्ग्रन्थ प्रवचन के घोर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् को भगवान् महावीर के संघ में दीक्षित करना उनकी क्षमता का सबल उदाहरण है।

दिगम्बर परम्परा में जम्बू के साथ दीक्षित होने वाले 'विद्युच्चर' को श्रुतकेवली नहीं माना है। उनका गुरु पट्टावली में कहीं उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार स्तेन सम्राट् प्रभव परिव्राट् अग्रणी बने एवं श्रुतकेवली परम्परा में वे प्रथम थे। अपने स्थान पर उन्होंने श्रुतज्ञानादि गुणों से मंडित शय्यंभव की नियुक्ति की एवं संघ के ऋण से मुक्त हुए।

समय-संकेत

आचार्य प्रभव ३० वर्ष तक गृहस्थ में रहे। संयमी जीवन के ७५ वर्ष के काल में वे ११ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। चारित्र धर्म की सम्यक् आराधना करते हुए १०५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वी. नि. ७५ (वि. पू. ३९५) में वे अनशनपूर्वक स्वर्गगामी हुए।

परिव्राट् पुङ्गव प्रभव विविध योग्यताओं की प्रभुता से सम्पन्न, सक्षम, विशिष्ट प्रभावशाली आचार्य थे।

आचार्य काल

(वी. नि. ६४-७५)
(वि. पू. ४०६-३९५)
(ई. पू. ४६३-४५२)

---

७. श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि,
चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः।
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य,
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ॥६१॥
(परिशिष्ट पर्व, चतुर्थ सर्ग)

४. श्रुत-शार्दूल आचार्य शय्यंभव

आचार्य शय्यंभव का व्यक्तित्व असाधारण था। वे तीर्थङ्कर महावीर के चतुर्थ पट्टधर थे। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में उनका द्वितीय क्रम था। आचार्य शय्यंभव का ब्राह्मण संस्कृति से श्रमण संस्कृति में प्रवेश करने का प्रसंग इतिहास का रोचक पृष्ठ है।

दिगम्बर परम्परा में श्रुतधर विष्णुनंदी के बाद श्रुतधर नंदीमित्र हुए।

गुरु-परम्परा

आचार्य शय्यंभव के गुरु आचार्य प्रभव थे। प्रभव प्रथम श्रुतधर आचार्य थे। आचार्य शय्यंभव को प्रभव से जैन धर्म का बोध हुआ। तदनन्तर शय्यंभव ने उनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की। उनसे आगम श्रुत और पूर्व श्रुत का प्रशिक्षण लिया। प्रभव से पूर्व की गुरु परम्परा में सर्वज्ञ श्रीसंपन्न जंबू और गणधर सुधर्मा थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य शय्यंभव का जन्म ब्राह्मण परिवार में वी. नि. ३६ (वि. पू. ४३४, ई. पू. ४६९) में हुआ। उनका गोत्र वत्स था। राजगृह उनकी जन्मभूमि थी। परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थों में शय्यंभव के जीवन प्रसंगों में उनकी पत्नी का उल्लेख है, पर पत्नी के नाम का उल्लेख नहीं है। शय्यंभव के पुत्र का नाम मनक था। उनके माता-पिता एवं अन्य पारिवारिकजनों का परिचय उपलब्ध नहीं है।

जीवन-वृत्त

शय्यंभव गृहस्थ जीवन में अहंकारी विद्वान् थे। वे क्रोधी और निर्ग्रन्थ धर्म के प्रबल विरोधी थे। यज्ञ आदि अनुष्ठानों में उनकी प्रमुख भूमिका रहती थी। उनका वेद-वेदांग दर्शन संबंधी ज्ञान अगाध था। आचार्य प्रभव को याज्ञिक ब्राह्मण शय्यंभव की शिष्य के रूप में प्राप्ति विशेष प्रयत्नपूर्वक हुई।

आचार्य का सबसे बड़ा दायित्व भावी आचार्य का निर्वाचन करना होता है। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व की चिंता आचार्य सुधर्मा और जम्बू को नहीं करनी पड़ी। सुधर्मा के सामने जंबू और जंबू के सामने प्रभव जैसे योग्य शिष्य थे। आचार्य प्रभव का पदारोहण ६४ वर्ष की अवस्था में हुआ। उनके जीवन का यह संध्याकाल था। पश्चिम यामिनी में एक बार आचार्य प्रभव ने सोचा मेरे बाद गण वाहक कौन होगा? उन्होंने श्रमण संघ, श्रावक संघ एवं जैन संघ का क्रमशः अवलोकन किया। गणभार वहन योग्य कोई व्यक्ति उनके दृष्टिगत नहीं हुआ। उनका ध्यान यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण विद्वान् शय्यंभव पर केन्द्रित हुआ।[1] वे नेतृत्व करने में समर्थ थे पर उनसे जैन-दर्शन की बात करना कठिन था।

प्रभव सक्षम आचार्य थे। वे चर्चा से शय्यंभव को जैन धर्म के प्रति प्रभावित कर सकते थे पर उन्हें आचार्य प्रभव के पास लाने का कार्य सरल नहीं था। धर्म-संघ के हित की भावना से प्रेरित होकर युगल श्रमण इस कार्य के लिए प्रस्तुत हुए। वे आचार्य प्रभव के आदेशानुसार विद्वान् शय्यंभव के यज्ञ में गए, उन्होंने द्वार पर खड़े होकर धर्म लाभ कहा। वहां श्रमणों का घोर अपमान हुआ और उन्हें बाहर निकालने का उपक्रम चला। श्रमण बोले "अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते न हि" अहो! खेद की बात है, तत्त्व नहीं समझा जा रहा है।

तत्त्व को नहीं जानने की बात महाभिमानी उद्भट

---

१. सुहम्मो नाम गणहरो आसी, तस्स वि जंबूणामो, तस्स वि य पभवोत्ति, तस्सऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावररत्तकालम्मि चिंता समुप्पन्ना को मे गणहरो होज्ज त्ति अप्पणो गणे य संघे य सव्वओ उवओगो कओ, ण दीसइ कोइ अब्भोच्छित्तिकरो ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जंभवं माहणं जन्नं जयमाणं पासइ।

(दशवै. हारि-वृत्ति, पत्रांक ९०)

विद्वान शय्यंभव के मस्तिष्क में टकराई। सोचा, ये तपस्वी मुनि झूठ नहीं बोलते।[1] हाथ में तलवार लेकर वे अध्यापक के पास गए और तत्त्व का स्वरूप पूछा। अध्यापक ने कहा "स्वर्ग और अपवर्ग को प्रदान करने वाले वेद ही परम तत्त्व हैं।" शय्यंभव बोले "वीतराग, परम कारुणिक निष्परिग्रही, उपशांत महर्षि अवितथ भाषण नहीं करते, अतः यथावस्थित तत्त्व का प्रतिपादन करो अन्यथा इस तलवार से शिरच्छेद कर दूंगा।" लपलपाती तलवार को देखकर अध्यापक कांप उठा और कहने लगा। "अर्हद् धर्म ही यथार्थ तत्त्व है।"

विद्वान् शय्यंभव महाभिमानी होते हुए भी जिज्ञासु थे। वे यज्ञ सामग्री अध्यापक को संभलाकर श्रमणों की खोज में निकले और एक दिन आचार्य प्रभव के पास पहुंच गए। प्रभव ने उन्हें यज्ञ का यथार्थ स्वरूप समझाया। अध्यात्म की विशद भूमिका पर जीवन-दर्शन का चित्र प्रस्तुत किया। आचार्य प्रभव की पीयूषस्रावी वाणी से बोध प्राप्त कर शय्यंभव वी. नि. ६४ (वि. पू. ४०६) में श्रमण संघ में प्रविष्ट हुए। मुनि जीवन ग्रहण के समय उनकी उम्र २८ वर्ष की थी।

वे वैदिक दर्शन के धुरन्धर विद्वान् थे। आचार्य प्रभव के पास उन्होंने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधर की परम्परा में वे द्वितीय श्रुतकेवली बने।

श्रुतसंपन्न शय्यंभव को आचार्य प्रभव ने वी. नि. ७५ (वि. पू. ३९५) में आचार्य पद से अलंकृत किया।

ब्राह्मण विद्वान् का श्रमण संघ में प्रविष्ट होना उस युग की एक विशेष घटना थी। शय्यंभव जब दीक्षित हुए तब उनकी नवयुवती पत्नी गर्भवती थी।[2] ब्राह्मणों में चर्चा प्रारम्भ हुई

अहो शय्यंभवो भट्टो, निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः।
स्वां प्रियां यौवनवतीं सुशीलामपि योऽत्यजत् ॥५६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

विद्वान् शय्यंभव भट्ट निष्ठुरातिनिष्ठुर हैं, जिसने अपनी युवती पत्नी का परित्याग कर दिया है। वह साधु बन गया है। नारी के लिए पति के अभाव में पुत्र ही आलम्बन होता है। वह भी उसके पास नहीं है। अबला भट्ट-पत्नी कैसे अपने जीवन का निर्वाह करेगी? स्त्रियां उससे पूछतीं "बहिन, क्या गर्भ की संभावना है?" वह संकोच करती हुई कहती 'मणयं'। यह मणयं शब्द संस्कृत के मनाक् शब्द का परिवर्तित रूप है, जो सत्त्व का बोध करा रहा था तथा कुछ होने का संकेत कर रहा था। भट्ट-पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम माता द्वारा उच्चरित मणयं की ध्वनि के आधार पर मनक रखा गया।[3] भट्ट-पत्नी ने मनक का स्नेह से पालन किया। बालक आठ वर्ष का हुआ। उसने अपनी मां से पूछा "जननी! मेरे पिता का नाम क्या है?" भट्ट-पत्नी ने पुत्र के प्रश्न पर समग्र पूर्व वृत्तान्त सुनाया और उसे बताया "तुम्हारे पिता जैन मुनि बन गये हैं।" पितृ-दर्शन की भावना बालक में जगी। माता का आदेश ले वह स्वयं पिता शय्यंभव भट्ट की खोज में निकला। पिता-पुत्र का चंपा में अचानक मिलन हुआ। अपनी मुखाकृति से मिलती हुई मनक की मुखमुद्रा पर श्रुतधर शय्यंभव की दृष्टि केन्द्रित हो गई। हृदय में अज्ञात स्नेह उमड़ पड़ा। उन्होंने बालक से नाम-गांव आदि के विषय में पूछा। अपना परिचय देता हुआ मनक बोला "मेरे पिता शय्यंभव मुनि कहां हैं? आप उन्हें जानते हैं?" बालक के मुंह से अपना नाम सुनकर शय्यंभव ने पुत्र को पहचान लिया और अपने को श्रुतधर शय्यंभव का अभिन्न मित्र बताते हुए उसे अध्यात्म बोध दिया। बाल्यकाल के सरल मानस में संस्कारों का ग्रहण शीघ्र होता है। शय्यंभव का प्रेरणाप्रद उपदेश सुनकर मनक प्रभावित हुआ और आठ वर्ष की अवस्था में उनके पास मुनि बन गया।

---

२. तेण य सेज्जंभवेण दारमूले ठिएणं तं वयणं सुअं, ताहे सो विचिंतेइ एए उवसंता तवस्सिणो असच्चं ण वयंति।
(दशवै. हारि-वृत्ति, पत्रांक ९०, १९)

३. जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था,
(दशवै. हारि-वृत्ति, पत्रांक ९०, (१))

४. मायाए से भणिअं 'मणगं' ति तम्हा मणओ से णामं कयं ति।
(दशवै. हारि-वृत्ति, पत्रांक ९०, (२))

श्रुतधर शय्यंभव हस्तरेखा के जानकार थे। मनक का हाथ देखने से उन्हें लगा, बालक का आयुष्य बहुत कम है। समग्र शास्त्रों का अध्ययन करना इसके लिए संभव नहीं है।[4]

अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसारं समुद्धरेत्।
चतुर्दशपूर्वधरः पुनः केनापि हेतुना ॥८३॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

अपश्चिम दशपूर्वी एवं चतुर्दश पूर्वधर विशेष परिस्थिति में ही पूर्वों से आगम-निर्यूहण का कार्य करते हैं।

शय्यंभव चतुर्दश पूर्वधर आचार्य थे। उन्होंने अल्पायुष्क मुनि मनक के लिए पूर्वों से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया।[5] इस सूत्र के दस अध्ययन हैं। इसमें मुनि-जीवन की आचार-संहिता का निरूपण है। यह सूत्र नवीन साधकों के लिए उपयोगी है।

भद्रबाहु की दशवैकालिक निर्युक्ति के अनुसार इस सूत्र के चतुर्थ अध्ययन का निर्यूहण आत्मप्रवाद पूर्व से, पंचम अध्ययन का निर्यूहण कर्मप्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन का निर्यूहण सत्य-प्रवाद पूर्व से, अवशिष्ट अध्ययनों का निर्यूहण नवमें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से हुआ है।

निर्युक्ति की गाथाएं इस प्रकार हैं

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा, निज्जूढा होई वक्कसुद्धीउ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

(दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १६, १७)

दशवैकालिक आगम से संयुक्त रइवक्का और विवित्तचर्या नामक दो चूलिकाएं भी हैं। संयम में अस्थिर मुनि को स्थिर करने के लिए इन चूलिकाओं का स्वाध्याय सुदृढ़ आलंबन भूत बनता है।

ये दोनों चूलिकाएं इस आगम के साथ बाद में संबद्ध की गई। आचार्य शय्यंभव ने दशवैकालिक के दस अध्ययनों का ही निर्यूहण किया था।

परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थों में दीक्षा ग्रहण के समय मनक की आयु आठ वर्ष की मानी गई है,[7] अतः मनक की दीक्षा एवं दशवैकालिक सूत्र रचना का समय वी. नि. ७२ (वि. पू. ३९८) संभव है। आचार्य प्रभव का स्वर्गवास वी. नि. ७५ (वि. पू. ३९५) में हुआ था। इस आधार पर मनक की दीक्षा एवं दशवैकालिक आगमरचना के समय आचार्य प्रभव की विद्यमानता सिद्ध होती है।

प्रस्तुत संदर्भ में एक बिन्दु विशेष चर्चनीय बन जाता है। वह यह है मुनि मनक की दीक्षा ग्रहण के समय एवं दशवैकालिक रचना के समय प्रभव के विद्यमान होने पर भी आचार्य प्रभव और मनक से संबंधित किसी प्रकार का प्रसंग परिशिष्ट पर्व आदि ग्रंथों में नहीं है।

मुनि मनक को श्रुतधर शय्यंभव के सान्निध्य का लाभ दीर्घ समय तक प्राप्त न हो सका। संयम पर्याय के छह महीने ही बीते थे, मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया।[8]

शय्यंभव श्रुतधर थे, पर वीतराग नहीं थे। पुत्र-स्नेह उभर आया। उनकी आंखें मनक के मोह में गीली हो गईं।[9]

---

४. एवं च चिन्तयामास शय्यम्भवमहामुनिः।
अल्पायुषं बालो भावी श्रुतधरः कथम्? ॥८२॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

५. सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्यः शय्यंभवस्तदा।
दशवैकालिकं नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥८५॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

७. अतीते चाष्टमे वर्षे षष्ठेऽहनि स मातरम्।
क्व नाम मे पिता मातर्वेषेणाविधवा ह्यसि ॥९३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

८. अपाठयन्मणकं तं ग्रंथं निर्ग्रन्थपुङ्गवः।
श्रीमान् शय्यंभवाचार्यवर्यो धुर्यः कृपावताम् ॥८७॥
आराधनादिकं कृत्यं, कारितः सुरिभिः स्वयम्।
षण्मासान्ते तु मणकः, कालं कृत्वा दिवं ययौ ॥८८॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

९. आणंदअंसुपायं कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा य वियालणा संघे ॥
(दशवै. निर्युक्ति ३७१)

यशोभद्र आदि मुनियों ने उनसे खिन्नता का कारण पूछा। श्रुतधर शय्यंभव ने बताया "यह मेरा संसारपक्षीय पुत्र था। पुत्र-मोह ने मुझे विह्वल कर दिया है। यह बात पहले श्रमणों के द्वारा जानने पर श्रुतधर पुत्र समझ कर कोई इससे परिचर्या नहीं करवाता और यह सेवा धर्म के लाभ से वंचित रह जाता, अतः इस भेद को आज तक मैंने श्रमणों के सामने उद्घाटित नहीं किया।" श्रुतधर शय्यंभव की गम्भीरता पर श्रमण आश्चर्यचकित रह गए।

आचार्य प्रभव के स्वर्गवास के बाद श्रुतधर शय्यंभव ने धर्मसंघ का दायित्व संभाला। वीतराग-शासन की उन्होंने व्यापक प्रभावना की। स्वयं से अधिक परिचित यज्ञनिष्ठ ब्राह्मणों को यज्ञ का अध्यात्म रूप[10] समझाकर उनको जैनधर्म के अनुकूल बनाया तथा नाना प्रकार से जैन शासन की श्रीवृद्धि की।

राजवंश शय्यंभव के समय में मगध पर नंदों का राज्य था। नंद शासन की स्थापना सर्वज्ञ श्रीसंपन्न जंबू के निर्वाण से चार वर्ष पूर्व हुई थी। इस समय वीर निर्वाण को ६० वर्ष पूरे हो गए।[11] शय्यंभव के आचार्य पद ग्रहण के समय नंद साम्राज्य की स्थापना के लगभग १५ वर्ष सम्पन्न हो रहे थे। समय की इस लम्बी अवधि तक नंद साम्राज्य की नींव सुदृढ़ हो चुकी थी। नंद राज्य में अमात्य पद पर इस समय कल्पक नामक ब्राह्मण विद्वान् था। बुद्धिमान कल्पक की अमात्य पद पर नियुक्ति स्वयं नंद ने विशेष प्रयत्नपूर्वक की थी।[12] कल्पक नंद राज्य का सुयोग्य मंत्री जैन धर्म के प्रति आस्थावान् था। अर्थ के प्रति अधिक लिप्सु नहीं था, संतोषी था।[13] कल्पक को धार्मिक संस्कार अपने परिवार से प्राप्त थे। मंत्री कल्पक का पिता कपिल व्रतधारी श्रावक था।[14] उसके घर पर कई बार मुनि विराजते थे। सौभाग्य से कपिल परिवार को मुनियों से प्रवचन सुनने का लाभ पुनः-पुनः मिलता रहता था। आचार्य शय्यंभव के प्रवचन सुनने का भी इस परिवार को लाभ मिला होगा, पर जैन ग्रंथों में कपिल परिवार का, सुप्रसिद्ध जैन मंत्री कल्पक का, और राजा नंद का आचार्य शय्यंभव से संबंधित कोई प्रसंग नहीं है। उस समय नंद राज्य में जैन मंत्री होने से आचार्य शय्यंभव द्वारा बोये गए धर्मबीजों को फलवान बनने में उर्वरधरा और अनुकूल वातावरण सहयोगी था।

अध्यात्म का ऊर्ध्वारोहण

जीवन के संध्याकाल में आचार्य शय्यंभव ने अपने पद पर श्रुतसागरपारीण यशोभद्र को नियुक्त किया।[15] इस गरिमामय पद के लिए आचार्य यशोभद्र जैसे सुयोग्य व्यक्ति के चयन से जन-जन का मानस उल्लास से भर गया।

श्रुतज्ञान से आचार्य शय्यंभव शार्दूल की भांति दुःप्रधर्ष थे। उन्होंने पूर्वज्ञान से निर्यूढ सूत्र रचना का प्रारम्भ किया। उनके जीवन में ब्राह्मण और जैन संस्कृति का मिलन तथा अध्यात्म का ऊर्ध्वारोहण था।

---

१०. के ते जोई? के व ते जोइठाणे? को ते सुया?
किं व ते कारिसंगं?। एहा य ते कयरा सन्ति?
भिक्खु, कयरेण होमेण हुणासि जोई? ॥
तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥
(उत्तराध्ययन अ. १२, श्लोक सं. ४३, ४४)

११. अनन्तरं वर्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
गतायां षष्टिवत्सरीमेष नंदोऽभवन्नृपः ॥२४३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

१२. कल्पकं पण्डितं बुद्धिमन्तं श्रुत्वाऽथ नन्दराट्।
आहूय प्रार्थयाञ्चक्रे ममामात्यत्वमाश्रय ॥४०॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ७)

१३. स गर्भश्रावकत्वेन सदा सन्तोषधारकः ॥२१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ७)

१४. श्रावकः कपिलो जज्ञे आचार्या ययुरन्यतः ॥१३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ७)

१५. श्रीमाञ्छय्यंभवः सूरिर्यशोभद्रंमहामुनिम्।
श्रुतसागरपारीणं पदे स्वस्मिन्नतिष्ठिपत् ॥१०६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

समय-संकेत

आचार्य शय्यंभव २८ वर्ष की अवस्था में श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ३९ वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। संयमी जीवन के कुल ३४ वर्षों में २३ वर्ष तक युगप्रधान पद के दायित्व का निपुणता से वहन किया। वे ६२ वर्ष की अवस्था में वी. नि. ९८ (वि. पू. ३७२) ई. पू. ४२९ में स्वर्गवासी हुए।[१६]

आचार्य काल
(वी. नि. ७५-९८),
(वि. पू. ३९५-३७२),
(ई. पू. ४५२-४२९)

१६. तत्पट्टे ४ श्रीशय्यंभव स्वामी। स च स्वगृहे यज्ञं कुर्वाणः पञ्चशतद्विजैः 'अलेकष्टमलेकष्टं तत्त्वं न ज्ञायते क्वचिद्, इति साधुवचः श्रुत्वा यज्ञस्तम्भाधः स्थितश्रीशान्तिजिन-बिम्ब-दर्शनाद् बुद्धः। अष्टाविंशतिवर्षाणि गृहे स्थित्वा व्रतं लेभे। एकादश (११) वर्षाणि व्रते त्रयोविंशतिवर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुर्द्विषष्टि ६२ वर्षाणि प्रपाल्य श्रीवीरात् ९८ वर्षातिक्रमे स्वर्ययौ।
(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरुपट्टपवली, पत्रांक १९४)

५. युगप्रहरी आचार्य यशोभद्र

आचार्य शय्यंभव के बाद आचार्य यशोभद्र हुए। वे तीर्थङ्कर महावीर के पांचवें पट्टधर थे। वे श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में तृतीय श्रुतकेवली थे। जैन शासन में यशोभद्र परम यशस्वी आचार्य थे। उन्होंने अर्धशतक पर्यन्त युगप्रधानाचार्य पद को सुशोभित किया एवं दीर्घ संयम पर्याय का पालन कर अपने अमृतोपम मधुर वचनों से जन-जन को मार्ग-दर्शन दिया। उनके विशद ज्ञानालोक से अङ्ग, मगध और विदेह का कण-कण आलोकित था।

गुरु-परम्परा

आचार्य यशोभद्र के गुरु शय्यंभव थे। आचार्य शय्यंभव चतुर्दश पूर्वधर थे और श्रुतधर आचार्य प्रभव के शिष्य एवं उत्तराधिकारी थे। आचार्य यशोभद्र का दीक्षा-संस्कार आचार्य शय्यंभव के द्वारा हुआ। आगमों एवं पूर्वों का गंभीर अध्ययन भी आचार्य यशोभद्र को अपने दीक्षा-गुरु से प्राप्त हुआ।

जन्म एवं परिवार

आचार्य यशोभद्र का जन्म ब्राह्मण परिवार में वी. नि. ६२ (वि. पू. ४०८, ई. पू. ४६५) में हुआ। तुङ्गीकायन उनका गोत्र था। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने नंदी में यशोभद्र को तुङ्गीकायन गोत्रीय कहकर वन्दन किया है 'जस्स भद्दं तुंगियं वन्दे।' आचार्य यशोभद्र के वंश, जन्म आदि की संक्षिप्त सामग्री ही ग्रंथों में है।

जीवन-वृत्त

यशोभद्र कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। वे विशाल यज्ञों का सफलतापूर्वक संचालन करते थे। ब्राह्मण समाज पर उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाप थी। उन्हें एक बार श्रुतधर आचार्य शय्यंभव के प्रभावक प्रवचन को सुनने का अवसर मिला। उनके मङ्गलकारी आध्यात्मिक उपदेश से ब्राह्मण यशोभद्र की जीवन धारा बदल गई। उन्हें सांसारिक भोग नीरस लगने लगे। उनका मन संयम की ओर झुका। विरक्ति की धारा प्रबल हो गई।

वैराग्य भावना से भावित होकर ब्राह्मण विद्वान् यशोभद्र ने २२ वर्ष की युवावस्था में श्रमण नायक शय्यंभव के पास वी. नि. ८४ (वि. पू. ३८६, ई. पू. ४४३) में जैन मुनि दीक्षा ग्रहण की। जो जाति से ब्राह्मण थे, वे गुणों से ब्राह्मण बने और त्याग एवं तप का पथ स्वीकार कर जगत्पूज्य श्रमण बने। संयमी जीवन में श्रुतसंपन्न आचार्य शय्यंभव का पावन सान्निध्य यशोभद्र के लिए लाभकारी था। वे १४ वर्ष तक गुरु के पास रहे। उन्होंने संयम साधनोपयोगी विभिन्न योग्यताओं का अर्जन करने के साथ पूर्वश्रुत और आगमश्रुत का गहन अध्ययन आचार्य शय्यंभव से किया। ज्ञानगुण सम्पन्न श्रमण यशोभद्र आचार्य शय्यंभव के बाद वी. नि. ९८ (वि. पू. ३७२, ई. पू. ४२९) में आचार्य पद पर आसीन हुए। उन्होंने कुशलतापूर्वक वीर शासन के दायित्व को संभाला। आचार्य पद ग्रहण के समय श्रुतधर यशोभद्र की अवस्था ३६ वर्ष की थी। मगध, अंग और विदेह ये तीनों क्षेत्र आचार्य यशोभद्र के धर्म प्रचार के प्रमुख प्रदेश थे।

यशोभद्र के आचार्यकाल में मगध पर नंदवंश का शासन था एवं पाटलीपुत्र मगध की राजधानी थी। नंदों के न्याय एवं नीतिपूर्ण शासन में मगध की भौतिकश्री उत्कर्ष पर थी। राजधानी नगर पाटलीपुत्र की शोभा निराली थी। धर्म प्रचार के लिए यह उपयुक्त क्षेत्र था। आचार्य यशोभद्र का लंबे समय तक इस धरा पर विहरण हुआ। जन-सामान्य और शासक-वर्ग तक को उनके उपदेशों ने प्रभावित किया। उनकी अमृतमयी वाणी मगध, अंग और विदेह की धरा पर गूंजती रही। उनके अहिंसक संदेश ने क्रियाकाण्डी ब्राह्मणों को अध्यात्म की ओर उन्मुख करके यज्ञों में होने वाली

निरीह प्राणियों की हिंसा से मुक्त किया।

आचार्य शय्यंभव और यशोभद्र दोनों ब्राह्मण थे। इनका ब्राह्मणों पर प्रभुत्व था। इस कारण इन दोनों आचार्यों का ७३ वर्ष का सुदीर्घ आचार्यकाल ब्राह्मण-समाज में जैन संस्कृति को प्रसारित करने की दृष्टि से प्रभावक रहा। याज्ञिक क्रिया-काण्डों में होने वाली हिंसाओं के स्थान पर अहिंसा के उद्घोष सुनाई देने लगे।

जलधर की भांति अर्हतोपदिष्ट धर्म की शीतल धारा द्वारा मोहतापतप्त विश्व को शांति प्रदान करते हुए यशस्वी यशोभद्र ने आर्यधरा पर सिंह तुल्य निर्भीक वृत्ति से विहरण किया। उनकी कीर्तिलताएं चतुर्दिग् में फहराईं।

आचार्य संभूतविजय और आचार्य भद्रबाहु दोनों आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। दोनों ही श्रमणों ने आचार्य यशोभद्र से १४ पूर्व की ज्ञान संपदा ग्रहण की।[1]

आचार्य शय्यंभव तक एक आचार्य की परम्परा थी। युग-प्रहरी आचार्य यशोभद्र ने अपने बाद संभूतविजय और भद्रबाहु इन दोनों की आचार्य पद पर नियुक्ति की।[2] यह जैन शासन में नई परम्परा का जन्म था।

चतुर्दश पूर्व की विशाल ज्ञानराशि से संपन्न आचार्य यशोभद्र उत्तम चरित्र के धनी, सौम्य स्वभावी और युगप्रहरी आचार्य थे। उनका आचार्यकाल अत्यन्त सुखद और शान्तिमय था। यह आचार्य यशोभद्र के सक्षम व्यक्तित्व का प्रभाव था।

समय-संकेत

तीर्थङ्कर महावीर के उत्तरवर्ती युगप्रधान आचार्यों की परम्परा में उस समय तक सर्वाधिक लंबा आचार्यकाल आचार्य यशोभद्र का था। संयम-पर्याय के ६४ वर्ष के काल में ५० वर्ष तक उन्होंने युग-प्रधान पद को अलंकृत किया। आचार्य यशोभद्र का स्वर्गवास वी. नि. १४८ (वि. पू. ३२२, ई. पू. ३७६) में ८६ वर्ष की अवस्था में हुआ।[3]

आचार्य-काल
(वी. नि. ६८-१४८),
(वि. पू. ३७२-३२२),
(ई. पू. ४२६-३७६)

---

१. मेधाविनौ भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी।
चतुर्दशपूर्वधरौ तस्य शिष्यौ बभूवतुः ॥३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

२. सूरिःश्रीमान्यशोभद्रः श्रुतनिध्योस्तयोर्द्वयोः।
स्वमाचार्यत्वमारोप्य परलोकमसाधयत् ॥४॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

३. तत्पट्टे ५ श्रीयशोभद्रस्वामी। स च २२ वर्षाणि गृहे, १४ वर्षाणि व्रते, ५० वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुः षडशीति ८६ वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीरात् १४८ वर्षान्ते स्वर्ययौ।
(पट्टावलीसमुच्चय, श्रीगुरुपट्टावली, पृ. १६४)

६. संयमसूर्य आचार्य सम्भूतविजय

जैन परम्परा में आचार्य यशोभद्र के बाद आचार्य सम्भूतविजय हुए। वे तीर्थङ्कर महावीर के छठे पट्टधर थे। श्रुतकेवली परम्परा के वे चतुर्थ श्रुतकेवली थे। महामात्य शकडाल के दोनों पुत्रों एवं सातों पुत्रियों ने आचार्य सम्भूतविजय से दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को धन्य किया।

गुरु-परम्परा

आचार्य सम्भूतविजय के दीक्षागुरु और विद्यागुरु श्रुतधर आचार्य यशोभद्र थे। आचार्य यशोभद्र आचार्य शय्यंभव के शिष्य थे और आचार्य प्रभव के प्रशिष्य थे। उनसे पूर्व प्रथम पट्टधर आचार्य सुधर्मा और द्वितीय पट्टधर आचार्य जम्बू हुए।

सप्तम आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु संभूतविजय के सहपाठी थे। दोनों श्रमण आचार्य यशोभद्र से दीक्षित थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य संभूतविजय का जन्म वी. नि. ६६ (वि. पू. ४०४, ई. पू. ४६१) में ब्राह्मण वंश में हुआ। नंदी सूत्रकार ने 'संभूयं चेव माढरं' कहकर संभूतविजय को वंदन किया है। इस आगम पद्य के आधार पर श्रुतधर संभूतविजय का गोत्र माढर था। गृहस्थ जीवन का अन्य परिचय अज्ञात है।

जीवन-वृत्त

आचार्य संभूतविजय का जन्म ब्राह्मण परिवार में होने के कारण वैदिक धर्म और दर्शन के संस्कार उन्हें बाल्यकाल से प्राप्त थे। आचार्य यशोभद्र के उपदेशामृत का पान कर वे जैन संस्कारों से आप्लावित हुए। आचार्य यशोभद्र से वी. नि. १०८ (वि. पू. ३६२) में संभूतविजय ने वैराग्यपूर्वक मुनि दीक्षा ग्रहण की। श्रमणाचार की शिक्षाएं पाईं। आगमों का गहन अध्ययन किया और पूर्वों की विशाल ज्ञानराशि को पूर्णतः ग्रहण कर श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में स्थान पाया।

आचार्य यशोभद्र के बाद वी. नि. १४८ (वि. पू. ३२२, ई. पू. ३७६) में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य पद ग्रहण के समय वे लगभग ८२ वर्ष के थे। श्रमणों की शोभा आचार्य से एवं आचार्य की शोभा श्रमणों से होती है। जिस संघ में तपस्वी, श्रुतसंपन्न श्रमण होते हैं वह संघ तेजस्वी होता है। आचार्य संभूतविजय के संघ में श्रमण संपदा श्रेष्ठ थी। श्रुत संपन्न आचार्य भद्रबाहु उनके गुरुभ्राता थे। कई घोर अभिग्रह-धारी श्रमण भी उनके शिष्य परिवार में थे।

एक बार चार विशिष्ट साधक मुनि आचार्य सम्भूतविजय के पास आए। एक ने सिंह की गुफा में, दूसरे ने सर्प की बांबी पर, तीसरे ने कुएं की मुंडेर पर तप पूर्वक चतुर्मास करने का घोर अभिग्रह धारण किया[1] और अपने लक्ष्य की ओर गुरु की आज्ञा से विहार कर दिया। घोर अभिग्रह तप के साथ तीनों मुनियों ने अपने-अपने संकल्पित स्थान पर सानन्द पावस प्रारम्भ किया। गुरु की आज्ञा से आर्य स्थूलभद्र ने वह चतुर्मास पूर्व परिचिता गणिका कोशा की चित्रशाला में किया।

मुनि स्थूलभद्र अपनी संयम-साधना में स्थितप्रज्ञ की भांति जागरूक एवं स्थिर थे। सुरांगना के रूप को भी अभिभूत कर देने वाली गणिका कोशा के मद छलकते नयन, वक्र कटाक्ष, भ्रू-विक्षेप, भाव भंगिमा और नृत्य मुनि स्थूलभद्र को इंच मात्र भी विचलित न कर सके।

---

१. पत्ते वासारत्ते, तिण्णि मुणी तिव्वभवभउव्विग्गा।
गिण्हंति कमेणेए, अभिग्गहे दुग्गहसरूवे ॥६०॥
एगो सीहगुहाए, अन्नो दारुणविसाहिवसहीए।
कूवफलयंमि अन्नो, चाउम्मासं ठिओऽणसणो ॥६१॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ. २३७)

पावस सानन्द सम्पन्न हुआ। जो चित्रशाला कामशाला थी वह धर्मशाला बन गई। गणिका कोशा व्रतधारिणी श्राविका एवं अर्हद्धर्म की दृढ़ उपासिका बनी।

वर्षावास की सम्पन्नता पर चारों मुनि लौटे। आचार्य सम्भूतविजय ने प्रथम तीन मुनियों का सम्मान 'दुष्कर क्रिया के साधक' का संबोधन देकर किया। श्रमण स्थूलभद्र के आगमन पर आचार्य संभूतविजय सात-आठ पैर सामने गए और 'महादुष्कर क्रिया के साधक' का संबोधन देकर उन्हें विशेष सम्मान प्रदान किया।[2]

स्वर्गोपम चित्रशाला में सुखपूर्वक चतुर्मास संपन्न करने वाले श्रमण स्थूलभद्र के प्रति 'महादुष्कर क्रिया के साधक' जैसा आदरसूचक संबोधन सुनकर सिंह-गुफावासी मुनि के मन में स्पर्धा का प्रबल भाव जागृत हुआ। उन्होंने सोचा अमात्य-पुत्र होने के कारण आचार्य संभूतविजय ने 'षट्रस भोजी' मुनि स्थूलभद्र को इतना सम्मान प्रदान किया है।[3] सरस भोजन करने से महादुष्कर साधना निष्पन्न हो सकती है तो कोई भी साधक इस साधना में सफल हो सकता है। सिंह गुफावासी मुनि चिन्तित रहने लगे।

दिन पर दिन बीतते गए। आगामी-पावस का समय निकट आया जानकर मात्सर्य भाव से आक्रांत सिंह-गुफावासी मुनि ने आचार्य संभूतविजय के पास आकर प्रार्थना की "गुरुदेव! मैं आगामी चतुर्मास गणिका 'कोशा' की चित्रशाला में करना चाहता हूं।"

आचार्य संभूतविजय के योग-दर्पण में अवांछनीय घटना का प्रतिबिम्ब झलक रहा था।[4] उन्होंने कहा "वत्स! इस दुष्कर अभिग्रह को मत ग्रहण करो। अद्रिराज की तरह स्थिर स्थूलभद्र जैसा व्यक्ति ही इस प्रकार के अभिग्रह को निभा सकता है।"

मुनि बोले "मेरे लिए यह अभिग्रह दुष्कर नहीं है। आप जिसे दुष्कर-दुष्कर और महादुष्कर कह रहे हैं, वह मार्ग मेरे लिए बहुत सरल है।"

आर्य संभूतविजय ने मधुर स्वर में पुनः शिक्षण देते हुए कहा "इस अभिग्रह में तुम सफल नहीं हो सकोगे। तुम्हारा पूर्व तपोयोग भी भ्रष्ट हो जाएगा। दुर्बल कंधों पर आरोपित अतिभार गात्र-भंग (शरीर-नाश) का निमित्त बनता है।"

आर्य संभूतविजय इतना कहकर मौन हो गए। दर्प-दलित, ईर्ष्यानाग दंशित सिंह-गुफावासी मुनि गुरु के वचनों को अवगणित कर कोशा की चित्रशाला की ओर बढ़ गए। अविरल गति से चलते चरण मंजिल के निकट पहुंचे, चित्रशाला में पावस बिताने के लिए कोशा गणिका से अनुमति मांगी।

कोशा बुद्धिमती महिला थी। उसने समझ लिया, तपस्वी मुनि का आगमन मुनि स्थूलभद्र से ईर्ष्या के कारण हुआ है। वह व्यवहारकुशल थी। उसने उठकर वंदन किया और अपनी चित्रशाला में चतुर्मास प्रवास के लिए उन्हें अनुमति प्रदान की।

सिंह-गुफावासी मुनि स्वयं को जितेन्द्रियता के जिस उच्चतम बिन्दु पर मान रहे थे, उससे यथार्थ में वे बहुत दूर थे। मुनि स्थूलभद्र जैसा दृढ़ मनोबल उनके पास नहीं था। षट्रसपूर्ण भोजन की परिणति वासना का तीव्र ज्वार लेकर उभरी। कमलनयनी गणिका कोशा के अनुपम रूप पर मुनि का मन विक्षिप्त हो गया। धर्मोपदेश के स्थान पर मुनि ने कोशा के समक्ष काम-प्रार्थना की। कवि ने ठीक कहा है "अर्थातुराणां न गुरुर्नबन्धुः; कामातुराणां न भयं न लज्जा।" अर्थातुर व्यक्ति के लिए न कोई गुरु है, न कोई बन्धु, कामार्त्त व्यक्ति के लिए न भय है, न लज्जा।

सिंह-गुफावासी मुनि को काम प्रार्थना करते समय न लज्जा की अनुभूति हुई, न अपयश का भय लगा।

मुनि स्थूलभद्र से संबोध प्राप्त गणिका कोशा पूर्ण

---

२. अब्भुट्ठिया भणागं, दुक्करकारीण सागयं तुब्भं।
आसासिया कमेणं, गुरुणा ता थूलभद्दोवि ॥६९॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ. २३८)

३. इदमामन्त्रणं मन्त्रिपुत्रताहेतुकं खलु ॥१३७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

४. उवउत्तेणं गुरुणा, नायं पारं न पाविही एसो।
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ. २३८)

सजग एवं सावधान थी। वह राजा के आदेश के अतिरिक्त किसी भी पुरुष से काम संबंध जोड़े रखने का त्याग कर चुकी थी। मुनि को प्रशिक्षण देते हुए उसने गंभीर रूप से कहा "मुने! मैं गणिका हूं। गणिका उसी की होती है जो प्रचुर मात्रा में द्रव्य दे सकता है। आपके पास मुझे देने के लिए क्या है?"

सिंह-गुफावासी मुनि कातर नयनों से गणिका की ओर झांकते हुए बोले "मृगलोचने! बालुकणों से कभी तेल नहीं निकलता। हमारे जैसे अकिंचन व्यक्तियों से धन की आशा करना व्यर्थ है। तुम प्रसन्न होकर मेरी कामना पूर्ण करो।" मुनि की बात सुनकर कोशा अधिक गंभीर हो गई। चिन्ता नहीं, चिन्तन में लगी। कोशा सामान्य नारी नहीं थी। वह कुशल एवं चतुर महिला थी। वह व्यक्ति के दुर्बल मन को सबल बनाना जानती थी, गिरते को उठाना जानती थी और गुमराही को सही राह पर लाना जानती थी। पथभ्रान्त सिंह-गुफावासी मुनि की ओर रोषारुण नयनों से दृष्टिक्षेप करती हुई कोशा बोली "आप अपनी मर्यादा को भंग कर सकते हैं पर मैं अपनी मर्यादा को भंग नहीं करती। यहां सबसे पहले लक्ष्मी की आरती होती है। अकिंचन का इस द्वार पर प्रवेश सर्वथा असंभव है।"

कामासक्त मुनि गिड़गिड़ाया और कोशा के चरणों में गिरने लगा। कोशा दो-चार पैर पीछे खिसकी और बोली "यहां गिड़गिड़ाने से काम बनने वाला नहीं है। तुम्हें एक उपाय बताती हूं नेपाल देश का राजा प्रथम समागत भिक्षुकों को लक्षमुद्रा मूल्य की रत्न कम्बल दान करता है[1]। वह कम्बल मेरे सामने प्रस्तुत कर सको तो इस विषय में कुछ सोच सकती हूं।"

कामासक्त व्यक्ति हिताहित का सम्यक् समालोचन नहीं कर सकता। मर्यादातिक्रान्त सिंह-गुफावासी मुनि के विवेक चक्षु बन्द हो गए। अपने नियम-उपनियमों को विस्मृत कर पावस काल में मुनि के वेश में ही वे वहां से चल पड़े। सैकड़ों कोस धरती पारकर अनेक कष्ट सहते हुए मुनि नेपाल पहुंचे और अत्यन्त कठिनाई से रत्न कम्बल को प्राप्त कर वे लौटे। वापिस लौटते समय उन्हें सस्ते में भीषण आपत्तियों का सामना करना पड़ा। कभी तीव्र ताप से तप्त धरती की तपन पैरों को झुलसाती, कभी सर्दी की ठिठुरन शरीर को कंपकंपा देती। भूख-प्यास से आकुल मुनि के लड़खड़ाते चरण विशालकाय पहाड़ों की भयावह दरारों, बरसाती हवाओं से सर्पिणी की भांति फुफकारती बिफरी नदियों एवं बीहड़ वनों को लांघते आगे बढ़ते रहे। मार्ग में चोरों का आवास स्थल था। उसके पास पहुंचते ही शकुन-सूचक पक्षी बोला "आयाति लक्षम्" लक्ष मुद्राएं आ रही हैं।" पक्षी की भाषा को समझकर स्तेनाधिपति ने द्रुमारूढ चोर से पूछा "क्या मार्ग पर कोई आता हुआ दिखाई दे रहा है?"

"आगच्छन् भिक्षुरेकोऽस्ति न कश्चित्तादृशोऽपरः।" चोर ने कहा "एक भिक्षु के अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है।"

चोरों के सरदार ने आदेश दिया "निकट आने पर आगन्तुक को लूट लिया जाए।"

चोरों ने वैसा ही किया पर भिक्षु से कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। स्तेन दल से मुक्ति पाकर ज्योंही मुनि के चरण आगे बढ़े, पक्षी पुनः बोला "एतल्लक्षं प्रयाति" "लक्ष मुद्राएं जा रही हैं।" पक्षी से संकेत पाकर स्तेन सम्राट् के आदेश से चोरों ने उसे घेर लिया और कहा "सत्यं ब्रूहि किमस्ति ते?" भिक्षुक! सत्य कहो, तुम्हारे पास क्या है?

मुनि का हृदय कांप गया। वे बोले "मेरी इस प्रलम्बमान बांस की यष्टि में रत्न कम्बल है। मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए इसे नेपाल सम्राट् से याचना करके लाया हूं।" चोरों ने मुनि की क्लीवता पर अट्टहास किया और दयापात्र समझकर रत्न कंबल का

१. नेवालजणवए जह, राया पुच्छस्स साहुणो देइ।
कंबलरयणं सयसहस्समोल्लमेसो तहिं जाइ ॥८१॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ. २३८)

अपहरण किए बिना ही उन्हें छोड़ दिया।

सिंह-गुफावासी मुनि अत्यन्त आह्लाद के साथ अवशिष्ट मार्ग को पार कर चित्रशाला के निकट पहुंचे। उनका मन प्रसन्नता से नाच रहा था।

गणिका कोशा के चरणों में रत्न कंबल का उपहार प्रदान कर वे उसकी कृपा दृष्टि पाने के लिए आतुर हो गये। रत्न कंबल को देखकर गणिका कोशा गंभीर हो गई। अस्थियों से चिपकी चर्म एवं फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटा मुनि का शरीर हड्डियों का ढांचा था। विवेक-संपन्ना गणिका कोशा ने रत्नकंबल से अपने पैरों को पौछा और उसे गंदी नाली में फेंक दिया। मुनि चौंके और बोले "कंबुकंठे! अति कठिन श्रम से प्राप्त इस बहुमूल्य रत्नकंबल का आप जैसी समझदार महिला के द्वारा यह उपयोग किया जा रहा है?"

मुनि को आश्चर्यचकित देखकर संयम जीवन की महत्ता उन्हें समझाती हुई गुणवती कोशा ने कहा "मुने! इस साधारण सी कंबल के लिए इतनी चिंता? क्या आप संयम रत्न रूपी कंबल को खोकर आप इससे बड़ी भूल नहीं कर रहे हैं?"[५]

गणिका कोशा की प्रेरक वाणी के ज्ञानमय स्नेहदान से सिंह-गुफावासी मुनि के मानस में विवेक का दीप जल उठा। संयम जीवन की पुनः स्मृति हो गई। हृदय अनुताप के अनल में जलने लगा। वे कृतज्ञ स्वरों में गणिका से बोले

"बोधितोऽस्मि त्वया साधु संसारात् साधु रक्षितः"

"सुव्रते! तुमने मुझे बोध दिया है। वासना चक्र की उत्ताल वीचि-समूह में ऊब-डूबती हुई मेरी इस जीवन नौका की तुमने रक्षा की है। मैं आर्य संभूतविजय के पास जाकर आत्मालोचन कर शुद्ध बनूंगा।"

गणिका कोशा बोली "ब्रह्मचर्य व्रत में स्थिर करने के लिए मैंने आपको यह कष्ट दिया है। मेरे इस व्यवहार के लिए मुझे आप क्षमा करें और श्रेय मार्ग का अनुसरण करें।"[७]

सिंह-गुफावासी मुनि गणिका-गृह से विदा होकर आचार्य संभूतविजय के पास पहुंचे। वे कृतदोष की आलोचना कर संयम में पुनः स्थिर हुए एवं कठोर तपःसाधना का आचरण करने लगे।[८]

उत्तम-पुरुषों के साथ सत्त्वहीन मनुष्यों का स्पर्धा-भाव उनके लिए ही हानिकारक होता है

अहो! का काकानामहमहमिक हंसविहगैः,
सहामर्षः सिंहैरिह हि कतमो जंबुकतुकाम्।
यतः स्पर्द्धां कीदृक् कथय कमलैः शैवलततेः,
सहासूया सद्भिः खलु खलजनस्यादि कतमा ॥८४॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३६)

हंसों के साथ काकों की अहमहमिका, सिंह के साथ शृगाल की ईर्ष्या, कमल के साथ शैवाल की स्पर्धा एवं सज्जन मनुष्यों के साथ खल मनुष्यों की असूया नहीं निभ पाती।

यह बात सिंह-गुफावासी मुनि की समझ में आ गई। उनका मानस श्रमण स्थूलभद्र के दृढ़ मनोबल को सहस्र साधुवाद दे रहा था।

मज्झवि संसग्गीए, अग्गीए जो तथा सुवन्नं व।
उज्झलिय बहुल तेओ,
स्थूलभद्दो स्थूलभद्दो मुणी जयउ (इ) ॥१६॥

(उपदेशमाला विशेष, वृत्ति, पृ. २४१)

स्त्री के संसर्ग में रहकर भी जिनकी साधना का तेज अग्नि स्नान स्वर्ण की भांति अधिक प्रदीप्त हुआ, उन स्थूलभद्र की जय हो।

---

५. ता तं एवं सोयसि, न उणो गुणरयणठाणमप्पाणं।
ता इय गए वि भयवं, संभरसु पवित्तनियपुयवि ॥६०॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ. २३६)

७. आज्ञातनेयं युष्माकं बोधहेतोर्मया कृता।
क्षन्तव्या सा गुरुवरः अयध्वं यात सत्वरम् ॥१६७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

८. इच्छामीति वदन् गत्वा संभूतविजयान्तिके।
गृहीत्वालोचनां तीव्रमाचचार पुनस्तपः ॥१६८॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

चारों ओर स्थूलभद्र की जय-जयकार हो रही थी। आचार्य सम्भूतविजय के आचार्यकाल से संबंधित इतिहास की यह घटना अनेक दुर्बल आत्माओं के मार्ग में प्रकाशदीपिका बनी रहेगी।

आचार्य संभूतविजय का विशाल शिष्य परिवार था। कल्पसूत्र स्थविरावली में उनके मुख्य बारह शिष्यों का उल्लेख है।[९] उनके नाम इस प्रकार हैं (१) नंदनभद्र, (२) उपनंदभद्र, (३) तीसभद्र, (४) यशोभद्र, (५) सुमणिभद्र, (६) मणिभद्र, (७) पुण्यभद्र, (८) स्थूलभद्र, (९) ऋजुमई, (१०) जम्बू, (११) दीहभद्र, (१२) पाण्डुभद्र।

आचार्य संभूतविजय का श्रमणी वर्ग अत्यन्त प्रभावक था। महामात्य शकडाल की प्रतिभासम्पन्न सातों पुत्रियां यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा आचार्य संभूतविजय के पास दीक्षित हुई थीं।[१०] इनका दीक्षा संस्कार स्थूलभद्र के बाद हुआ था। सातों बहिनों की स्मरणशक्ति बेजोड़ थी। ज्येष्ठा भगिनी यक्षा एक बार, यक्षदिन्ना दो बार क्रमशः सातवीं बहिन रेणा सात बार किसी भी दुरुह श्लोक को सुनकर तत्काल ज्यों का त्यों पुनरावर्तन कर सकती थी।

राजा नंद की अपार कृपा के केन्द्र, सुकोमल तन, सरल स्वभावी, बुद्धि वैभव से समृद्ध महामात्य श्रीयक ने यक्षा आदि अपनी सातों भगिनियों के साथ वी. नि. १५३ (वि. पू. ३१७) में आचार्य संभूतविजय के पास दीक्षा ग्रहण की थी।[११] एक ही आचार्य के शासनकाल में दीक्षित होने वाले बन्धुद्वय (आर्य स्थूलभद्र एवं मुनि श्रीयक) मुनियों के मिलन का प्रसंग उपलब्ध नहीं है। मुनि श्रीयक से आर्य स्थूलभद्र लगभग ७ वर्ष पहले दीक्षित हो गए थे।

यक्षादि भगिनियों के साथ भ्राता श्रीयक का प्रसंग अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयद्रावक है। श्रीयक का शरीर अत्यन्त कोमल था। एकभक्त तप भी उसके लिए कठिन था। ज्येष्ठ भगिनी साध्वी यक्षा से प्रेरणा पाकर मुनि श्रीयक ने पर्युषण पर्व के दिनों में एक बार क्रमशः प्रहर, अर्धदिन एवं अपार्ध दिन तक भोजन ग्रहण करने का परित्याग किया था। मुनि श्रीयक के लिए तपःसाधना का यह प्रथम अवसर था। अन्न का एक कण भी ग्रहण न करने पर दिन का अधिकांश भाग सुखपूर्वक कट गया। भगिनी यक्षा ने कहा "भ्रात! रात्रि निकट है। नींद में सोते हुए अवशेष समय कट जाएगा। तपःप्रधान पर्युषण पर्व चल रहा है। अब उपवास कर लो।" ज्येष्ठ भगिनी की शिक्षा को ग्रहण कर श्रीयक ने उपवास स्वीकार कर लिया।

निशा में भयंकर कष्ट हुआ। क्षुधा-वेदना बढ़ती गयी। देव, गुरु, धर्म का स्मरण करता हुआ श्रीयक स्वर्गवासी बना।[१२]

भ्राता के स्वर्गवास की बात सुनकर साध्वी यक्षा को तीव्र आघात लगा। भाई की इस आकस्मिक मृत्यु का निमित्त स्वयं को मानती हुई वह उदास रहने लगी। ऋषिघात जैसे भयंकर पाप के प्रायश्चित्त के लिए उसने अपने को संघ के सामने प्रस्तुत किया। संघ ने साध्वी यक्षा को निर्दोष बताया पर इससे यक्षा के मन को

---

९. थेरस्स णं अज्जसंभूयाविजयस्स.....इमे दुवालस थेरा अंतेवासी.....होत्था, तं जहा
नंदणभद्दे उवनंदभद्दे तह तीसभद्दे जसभद्दे।
थेरे अ सुमणिभद्दे मणिभद्दे अ पुन्नभद्दे अ ॥१॥
थेरे अ थूलभद्दे उज्जुमती जंबुनामधिज्जे अ।
थेरे अ दीहभद्दे थेरे तह पंडुभद्दे अ ॥
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

१०. थेरस्स णं अज्जसंभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अंतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिन्नाताओ होत्था, तं जहा
जक्खा य जक्खदिन्ना भूया तहेव होइ भूइदिन्ना या।
सेणा वेणा रेणा भगिणीओ थूलभद्दस्स ॥१॥
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

११. श्रीयकः समभस्माभिर्दीक्षाभादत्त किं त्वसौ।
क्षुधावान्सर्वदा कर्तुं नैकभक्तमपि क्षमः ॥
(परि. पर्व, सर्ग ९, श्लोक ८४)

१२. ततो निशीथे संप्राप्ते स्मरन्देवगुरुनसौ।
क्षुत्पीडया प्रसरन्त्या विपद्य त्रिदिवं ययौ ॥
(परि. पर्व, सर्ग ९, श्लोक ८९)

संतोष नहीं था। उसने अन्न ग्रहण करना छोड़ दिया। संघ की सामूहिक साधना से शासन-देवी प्रकट हुई। वह साध्वी यक्षा के मनस्ताप को उपशांत करने के लिए उसे महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमंधर स्वामी के पास ले गई। श्री सीमंधर स्वामी ने बताया "मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिए तुम दोषी नहीं हो।" वीतराग प्रभु के अमृतोपम वचन सुनकर साध्वी यक्षा को तोष मिला। उद्वेलित मन को समाधान मिला। साध्वी यक्षा को जैन शासन में अत्यधिक प्रसिद्ध चार चूलिकाओं की उपलब्धि श्री सीमंधर स्वामी के पास हुई।[13] इन चार चूलिकाओं में से दो चूलिकाएं दशवैकालिक सूत्र के साथ एवं दो चूलिकाएं आचारांग सूत्र के साथ संयुक्त हैं।[14] ये चूलिकाएं आज आगम का अभिन्न अंग बनी हुई हैं। साधुचर्या की महत्ता इन चूलिकाओं के अध्ययन से समझी जा सकती है।

मुनि श्रीयक के स्वर्गवास संबंधी संवत् का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। संभूतविजय के शासनकाल में ही संभवतः मुनि श्रीयक की जीवन-यात्रा सुखपूर्वक संपन्न हो गई थी। पाटलिपुत्र की गिरि कन्दराओं में एक बार आर्य स्थूलभद्र एकान्त में ध्यान साधना कर रहे थे। उस समय पाटलिपुत्र में विराजमान आचार्य भद्रबाहु का आदेश प्राप्त कर यक्षा आदि बहिनें बन्धु स्थूलभद्र के दर्शन करने गईं, तब लघुभ्राता मुनि श्रीयक के जीवन का यह हृदयद्रावक घटना प्रसंग उन्हें बताया।

आचार्य संभूतविजय द्वारा स्थूलभद्र की दीक्षा वी. नि. १४६ (वि. पू. ३२४) में हुई।

परमयशस्वी आचार्य यशोभद्र का स्वर्गवास वी. नि. १४८ (वि. पू. ३२२) में हुआ। इन संदर्भों के अनुसार स्थूलभद्र के दीक्षा ग्रहण के समय आचार्य यशोभद्र विद्यमान थे। अतः आचार्य यशोभद्र के रहते हुए अमात्य पुत्र स्थूलभद्र का दीक्षा संस्कार आचार्य संभूतविजय द्वारा किया जाना तत्कालीन धर्मसंघ की व्यवस्था का संकेत है।

संभूतविजय और भद्रबाहु दोनों आचार्य यशोभद्र के चतुर्दश पूर्वधर शिष्य थे।[15] स्थूलभद्र को आचार्य पद पर नियुक्त करने का कार्य श्रुतधर भद्रबाहु ने किया।

संभूतविजय के गुणानुवाद में पट्टावली समुच्चय का श्लोक है

संभूतपूर्वो विजयो गुरुस्तत्पट्टं श्रिया पल्लवयांचकार।
कदम्ब जम्बू कुट
जावनीजकुंज नभोम्भोद इवाम्बुदृष्ट्या ॥२६॥
(पट्टावली-समुच्चयः श्री महावीर पट्टपरम्परा, पृ. १२३)

समकालीन राजवंश

संभूतविजय के आचार्यकाल में नंद राज्य उत्कर्ष पर था। नंदों के १५५ वर्ष के शासनकाल में ९ नंद हुए हैं।[16] शकडाल नौवें नंद के समय महामात्य के पद पर नियुक्त था।[17] शकडाल के पुत्र स्थूलभद्र ने श्रुतधर संभूतविजय के पास दीक्षा ग्रहण की। इस दृष्टि से संभूतविजय के समय में नौवें नंद का सत्ताकाल सिद्ध

---

१३. श्रीसङ्घायोपदां प्रैषीन्मत्सुखेन प्रसादभाक्।
श्रीमान्सीमन्धरस्वामी चत्वार्यध्ययनानि च ॥
भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम्।
तथा विचित्रचर्या च तानि चैतानि नामतः ॥
(परि. पर्व, सर्ग ९, श्लोक ९७-९८)

१४. आचाराङ्गस्य चूले द्वे आद्यमध्ययनद्वयम्।
दशवैकालिकस्यान्यदय संघेन योजितम्॥
(परि. पर्व, सर्ग ९, श्लोक १००)

१५. मेधाविनौ भद्रबाहु संभूतविजयौ मुनी।
चतुर्दशपूर्वधरौ तस्य शिष्यौ बभूवतुः॥
(परि. पर्व, सर्ग ६, श्लोक ३, पृ. ५९)

१६. "पणवन्न सयं तु होइ नन्दाणं ।"
(मेरुतुङ्गकृत विचारश्रेणी)

१७. ततस्त्रिखण्डपृथ्वीपतिः पतिरिव श्रियः।
समुल्लातद्वियत्कन्दो नन्दोऽभून्नवमो नृपः ॥
विशङ्कटःश्रियां वासोऽसङ्कटः शकटो धियाम्।
शकटाल इति तस्य मन्त्र्यभूतकल्पकान्वयः॥
(परि. पर्व, सर्ग ८, श्लोक ३, ४)

होता है पर ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से नौवें नंद के शासनकाल में वी. नि. २१५ (वि. पू. २५५, ई. पू. ३१२) में नंद साम्राज्य का पतन होता है। संभूतविजय का स्वर्गवास वी. नि. १५६ (वि. पू. ३१४) में ही हो जाता है। इस आधार पर आचार्य संभूतविजय के शासनकाल में नौवें नंद का और शकडाल अमात्य का सत्ता समय अनुसंधान का विषय है।

नंद राजवंश में अध्यात्म-संस्कारों को प्रसारित करने का कार्य आचार्य संभूतविजय ने किया था।

संयम साधना के प्रेरणास्रोत

आचार्य संभूतविजय धर्म-जागरणा के मूर्त रूप थे। उनके मंगलकारी उपदेश से जन-जन को जीवन का अनुपम पाथेय मिला, सहस्रों व्यक्तियों के चरण संयम की ओर बढ़े। शकडाल के परिवार की ६ श्रमण दीक्षाएं आचार्य संभूतविजय द्वारा हुई। महामात्य के पूरे परिवार का संयम साधना हेतु समर्पित होना आश्चर्यजनक घटना है जिसके प्रेरणास्रोत संयम साधना के सूर्य अतिशय प्रभावशाली आचार्य सम्भूतविजय थे।

समय-संकेत

आचार्य संभूतविजय चतुर्थ श्रुतकेवली थे। वे ४२ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। सामान्य स्थिति में ४० वर्ष तक उन्होंने साधु-चर्या का पालन किया। उनका आचार्य काल आठ वर्ष का था। ज्ञान रश्मियों से भव्यजनों का पथ आलोकित करते हुए संयम-सूर्य आचार्य संभूतविजय का वी. नि. १५६ (वि. पू. ३१४, ई. पू. ३७१) में स्वर्गवास हुआ।

आचार्य-काल
(वी. नि. १४८-१५६)
(वि. पू. ३२२-३१४)
(ई. पू. ३७९-३७१)

७. भवाब्धिपोत आचार्य भद्रबाहु

श्रुतधर परम्परा में आचार्य भद्रबाहु पांचवें श्रुतधर थे। अर्थ की दृष्टि से वे अन्तिम श्रुतधर थे। नेपाल की गिरि कन्दराओं में उन्होंने महाप्राण ध्यान की विशिष्ट साधना की। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में उनको श्रुतधर आचार्य के रूप में आदरास्पद स्थान प्राप्त हुआ। इसका कारण आचार्य भद्रबाहु का प्रभावशाली तेजोमय व्यक्तित्व था।

गुरु-परम्परा

आचार्य भद्रबाहु के दीक्षा-गुरु और शिक्षा-गुरु यशोभद्र थे। यशोभद्र श्रुतधर आचार्य थे। वे श्रुतधर आचार्य शय्यंभव के शिष्य थे। उनसे पूर्व प्रथम श्रुतधर आचार्य प्रभव हुए थे। यशोभद्र ने अपने स्थान पर संभूतविजय और भद्रबाहु दोनों शिष्यों की नियुक्ति की। संभूतविजय भद्रबाहु के ज्येष्ठ गुरुबन्धु थे। यशोभद्र के बाद जिन शासन का दायित्व संभूतविजय ने संभाला। संभूतविजय के बाद यह गुरुतर दायित्व भद्रबाहु ने संभाला, अतः पट्ट परम्परा के क्रम में आचार्य भद्रबाहु भगवान् महावीर के सातवें पट्टधर थे।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु से पूर्व की गुरु परम्परा में सर्वज्ञ श्रीसंपन्न आचार्य जम्बू के बाद क्रमशः श्रुतकेवली विष्णु, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन नामक आचार्य हुए। गोवर्धन के शिष्य भद्रबाहु थे।[1]

जन्म एवं परिवार

प्रबंधकोश, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में भद्रबाहु के नाम के साथ वंश, जन्म, परिवार आदि की उपलब्ध सामग्री द्वितीय भद्रबाहु से संबंधित है। श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के जीवन-प्रसंग 'तित्थोगालिय पइन्ना' आवश्यक चूर्णि, निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है, उनमें उनके गृहस्थ-जीवन से संबंधित सामग्री का उल्लेख नहीं है। नंदी सूत्र के अनुसार भद्रबाहु का 'प्राचीन' गोत्र था।[2] 'दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति' में भी सकल श्रुत संपन्न आचार्य भद्रबाहु को 'प्राचीन' गोत्री कहकर वन्दन किया गया है।[3] ब्राह्मण समाज में प्रचलित इस गोत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि भद्रबाहु का जन्म संभवतः ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनका जन्म संवत् वी. नि. ९४ (वि. पू. ३७६, ई. पू. ४३३) है।

जीवन-वृत्त

श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु को प्रकृति से श्रेष्ठ शरीर संपदा प्राप्त थी। 'तित्थोगालिय पइन्ना' में उल्लेख है

सत्तमतो थिर बाहु जाणुयसीससुपडिच्छिय सुबाहु।
नामेण भद्दबाहु अविही साधम्म सद्दोत्ति (२) ॥७१४॥
सोवि य चोद्दसपुव्वी, बारस वासाइ जोग पडिवन्नो।
सुतत्थेणं निबंधइ, अत्थं अज्झयण बंधस्स ॥७१५॥

योग साधक श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु महासत्व संपन्न थे। उनकी प्रलम्बमान आजानु भुजाएं सुन्दर, सुदृढ़ और सुस्थिर थीं। इसी ग्रंथ का एक और श्लोक है

तो वंदिऊण पाएसु, भद्दबाहुस्स दीह बाहुस्स।
पुच्छन्ति भाउओ सो, कत्थगतो वूलभद्दो त्ति ॥७५६॥

यहां भी भद्रबाहु को 'दीर्घ-भुजा' विशेषण से संबोधित किया गया है।

पंचकल्प महाभाष्यकार के शब्दों में भद्रबाहु नाम

---

१. सद सुयकेवलणाणी पंच जणा विण्हु नन्दिमित्तो य।
अपराजिय गोवद्धण तह भद्दबाहु य संजादा ॥६॥
(नंदीसङ्घ बलात्कारगण-सरस्वतीगच्छ प्राकृत-पट्टावली)

२. भद्दबाहुं च पाईणं
(नंदी-स्थविरावली)

३. वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।
(दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति)

उनकी सुंदर भुजाओं के कारण था। वह पद्य इस प्रकार है

भद्दत्ति सुन्दर त्ति य पुल्लयो जत्थ सुन्दरा बाहू।
सो होति भद्दबाहू गोण्णं जेणं तु बालत्ते ॥७॥

शरीर लक्षण शास्त्र के अनुसार लम्बी भुजाएं उत्तम पुरुषों की होती हैं।

भद्रबाहु ने वैराग्यपूर्वक श्रुतधर आचार्य यशोभद्र के पास वी. नि. १३६ (वि. पू. ३३१) में मुनि-दीक्षा ग्रहण की। गुरु के पास १७ वर्ष तक रहकर उन्होंने आगमों का गंभीर अध्ययन किया। पूर्वों की संपूर्ण श्रुतधारा को आचार्य यशोभद्र से ग्रहण करने में वे सफल हुए। आचार्य यशोभद्र के बाद धर्मसंघ का दायित्व संभूतविजय के कंधों पर आया। संभूतविजय का शासनकाल ८ वर्ष का था। संभूतविजय के स्वहस्त दीक्षित बुद्धिमान शिष्य स्थूलभद्र थे। भद्रबाहु संभूतविजय के सतीर्थ्य बन्धु थे। स्थूलभद्र से वय ज्येष्ठ और संयम पर्याय में ज्येष्ठ होने के कारण भद्रबाहु का अनुभव ज्ञान अधिक परिपक्व था। उनके पास आगम ज्ञान और पूर्व ज्ञान का अक्षय भंडार था। उस समय केवल श्रमण स्थूलभद्र एकादशागम के धारक थे। उनका दृष्टिवाद का अध्ययन अवशिष्ट था। वे पूर्वांशों के ज्ञाता भी नहीं थे। गुरु-शिष्य की परम्परा के आधार पर आचार्य संभूतविजय के बाद श्रमण स्थूलभद्र का क्रम होते हुए भी महामेधावी मुनि भद्रबाहु ने वी. नि. १५६ (वि. पू. ३१४) में ६२ वर्ष की उम्र में आचार्य पद का दायित्व संभाला था।

परिशिष्ट पर्व के अनुसार श्रुतधर आचार्य यशोभद्र द्वारा आचार्य पद पर शिष्य संभूतविजय और भद्रबाहु दोनों की नियुक्ति एक साथ की गई थी।[४] अवस्था में ज्येष्ठ होने के कारण यह दायित्व पहले संभूतविजय ने संभाला। उनके बाद भद्रबाहु धर्मसंघ के अग्रणी बने।

जिनशासन आचार्य भद्रबाहु जैसे सामर्थ्यसंपन्न, श्रुतसंपन्न, अनुभव संपन्न व्यक्तित्व को पाकर धन्य हो गया, कृतार्थ हो गया।

आचार्य भद्रबाहु का व्यक्तित्व विराट् एवं प्रभावी था। यही कारण है आचार्य जम्बू के बाद दो भिन्न दिशाओं में बढ़ती हुई श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की शृंखला एक बिन्दु पर आ गई। दोनों ही परम्पराओं ने आचार्य भद्रबाहु को समान महत्त्व प्रदान किया।

कल्पसूत्र स्थविरावली में भद्रबाहु के चार शिष्यों का उल्लेख है (१) स्थविर गोदास, (२) स्थविर अग्निदत्त, (३) यज्ञदत्त, (४) सोमदत्त।[५] परिशिष्ट पर्व के अनुसार दृढ़ आचार का सबल उदाहरण प्रस्तुत करने वाले उनके चार शिष्य और भी थे। वे गृहस्थ जीवन में राजगृह निवासी संपन्न श्रेष्ठी थे। बचपन के साथी थे। चारों ने आचार्य भद्रबाहु के पास राजगृह में दीक्षा ग्रहण की।[६] दीक्षा स्वीकृति के बाद चारों मुनियों ने श्रुत की आराधना की एवं विशेष साधना में अपना जीवन लगाया। निरहंकारी, प्रियभाषी, मितभाषी, धर्मप्रवचन प्रवण, करुणा के सागर इन मुनियों ने आचार्य भद्रबाहु से आज्ञा प्राप्त कर एकल विहारी की कठिनचर्या अभिग्रहपूर्वक स्वीकार की। प्रतिमा तप की साधना में लगे। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक बार चारों मुनि राजगृह के वैभारगिरि पर आए। वे गोचरी करने नगर में गए। लौटते समय दिन का तृतीय प्रहर संपन्न हो चुका

---

४. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, श्लोक ३, ४।

५. थेरस्स णं अज्जभद्दबाहुस्स पाईणसगुत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था तं जहा थेरे गोदासे १. थेरे अग्गिदत्ते २. थेरे जन्नदत्ते ३. थेरे सोमदत्ते ४.।
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

६. चत्वारो वणिजस्तस्मिन्पूरे सवयसोऽभवन्।
उद्यानद्रुमवद् वृद्धिं जग्मिवांसः सहैव हि ॥६॥
सन्निधौ भद्रबाहोस्ते धर्मं शुश्रुवुरार्हतम्।
कषायाग्निजलासारं प्रतिबोधं च लेभिरे ॥७॥
श्रीभद्रबाहुपादान्ते दान्तात्मानः सहैव ते।
प्रव्रज्यामाशु जगृहुर्गृवासपराङ्मुखा ॥८॥
(परि. पर्व, सर्ग ६)

था। दिन के तृतीय प्रहर के बाद भिक्षाटन एवं गमनागमन न करने की प्रतिज्ञा के अनुसार एक मुनि गिरि गुफा के द्वार पर, दूसरा उद्यान के बहिर्भूभाग में, तीसरा उद्यान में एवं चौथा मुनि नगर के बहिर्भूभाग में रुक गया। हिम ऋतु का समय था। रात गहरी होती गई। जानलेवा शीत लहर चारों मुनियों की सुकोमल देह को कंपकंपा रही थी। कष्टसहिष्णु चारों मुनि शांत खड़े थे। अत्यधिक शीत के कारण गुफा द्वार स्थित मुनि का प्रथम प्रहर में, उद्यान के बहिर्भूभाग में स्थित मुनि का द्वितीय प्रहर में उद्यान में, स्थित मुनि का तृतीय प्रहर में एवं नगर के बहिर्भूभाग में खड़े मुनि का रात्रि के चतुर्थ प्रहर में देहांत हो गया। चार प्रहर में चारों मुनियों के क्रमशः स्वर्गवास होने का कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीत का प्राबल्य था। गिरि गुफा का स्थान सबसे अधिक शीतल था और सबसे कम शीतल स्थान नगर का बहिर्भूभाग था।

अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहकर चारों मुनियों ने (शीत) कष्ट-सहिष्णुता का अनन्य आदर्श उपस्थित किया।

जैन शासन को वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के मध्य काल में दुष्काल के भयंकर वात्याचक्र से जूझना पड़ा। उचित भिक्षा के अभाव में अनेक श्रुतसंपन्न मुनि काल-कवलित हो गए। भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी मुनि चौदह पूर्व का ज्ञाता नहीं बचा। वे उस समय नेपाल की पहाड़ियों में महाप्राणध्यान की साधना कर रहे थे। महाप्राणध्यान विशिष्ट साधना पद्धति है। उसका साधना काल १२ वर्ष का बताया गया है। धर्म संघ को इससे गंभीर चिंता हुई। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए श्रमण संघाटक नेपाल पहुंचा। करबद्ध होकर श्रमणों ने भद्रबाहु से प्रार्थना की। "संघ का निवेदन है कि आप वहां पधार कर मुनियों को दृष्टिवाद की ज्ञान राशि से लाभान्वित करें।" भद्रबाहु ने अपनी साधना में विक्षेप समझते हुए इसे अस्वीकार कर दिया।"

तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार संघ के दायित्व से उदासीन होकर आचार्य भद्रबाहु निरपेक्ष स्वरों में बोलते हैं

सो भणति एव भणिए असिट्ठ किलिट्ठएण वयणेणं।
न हु ता अहं समत्थो इण्हि मे वायणं दाउं ॥२८॥
अप्पट्ठे आउत्तस्स मज्झ किं वायणाए कायव्वं।
एवं च भणियमेत्ता रोसस्स वसं गया साहू ॥२९॥

श्रमणो! मेरा आयुष्यकाल कम रह गया है। इतने कम समय में अतिक्लिष्ट दृष्टिवाद की वाचना देने में मैं असमर्थ हूं। मैं समग्र भावेन आत्म हितार्थ अपने को नियुक्त कर चुका हूं। अब मुझे संघ को वाचना देकर करना भी क्या है?

भद्रबाहु के इस निराशाजनक उत्तर से श्रमण दुःखी हुए और उन्होंने संघीय विधि-विधानों की भूमिका पर आचार्य भद्रबाहु से प्रश्न किया

एवं भणंतस्स तुहं को दंडो होई तं भुणसु ॥३०॥

संघ की प्रार्थना अस्वीकृत करने पर आपको क्या प्रायश्चित्त करना होगा? हमारी इस जिज्ञासा का आप समाधान करें।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार समागत श्रमण संघाटक ने अपनी ओर से आचार्य भद्रबाहु के सामने कोई नया प्रश्न उपस्थित नहीं किया। आचार्य भद्रबाहु द्वारा वाचना प्रदान की अस्वीकृति पाकर वह संघ के पास लौटा और उसने सारा संवाद कहा। संघ को इससे क्षोभ हुआ पर दृष्टिवाद की वाचना आचार्य भद्रबाहु के

---

७. (क) "तम्मि य काले बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो। संजता इतो इतो य समुद्दतीरे गच्छिता पुणरवि 'पाडलिपुत्रे' मिलिता। तेसिं अण्णस्स उद्देसो, अण्णस्स खंडं, एवं संघाडितेहिं एक्कारसअंगाणि संघातिताणि दिट्ठिवादो नत्थि। 'नेपाल, वत्तिणीए य भयवं भद्दबाहुसामी अच्छति चोद्दसपुव्वी, तेसिं संघेण पत्थवितो संघाडओ 'दिट्ठिवादं' वाएहि ति। गतो, निवेदितं संघकज्जं। तं ते भणंति दुक्कालनिमित्तं महापाणं पविट्ठोमि तो न जाति वायणं दातुं॥"

(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्रांक १८७)

(ख) "सो ऽप्युवाच महाप्राणं ध्यानमारब्धमस्ति यत्।
साध्यं द्वादशभिर्वर्षैर्नागमिष्याम्यहं ततः ॥६१॥

(परि. पर्व, सर्ग ९)

अतिरिक्त और किसी से संभव नहीं थी। संघ के द्वारा विशेष प्रशिक्षण पाकर श्रमण संघाटक पुनः नेपाल में आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचा और उन्होंने विनम्र स्वरों में पूछा "संघ का प्रश्न है कि जो संघ की आज्ञा को अस्वीकृत कर दे उसके लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है?"

पूर्वश्रुतसंपन्न श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु भी इस प्रश्न पर शास्त्रीय विधि-विधानों का चिंतन करते हुए गंभीर हो गए। श्रुतकेवली कभी मिथ्या भाषण नहीं करते। आचार्य भद्रबाहु के द्वारा यथार्थ निरूपण होगा, यह सबको दृढ़ विश्वास था। वैसा ही हुआ। आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट घोषणा की जो आगम वाचना प्रदान करने लिए स्वीकृति नहीं देता है, जो संघ शासन का अपमान करता है, वह संघ से बहिष्कृत करने योग्य है।

भद्रबाहु द्वारा उत्तर सुनकर श्रमण संघाटक ने उच्चघोष से कहा "आपने भी संघ की बात को अस्वीकृत किया है, अतः आप भी उस दण्ड के योग्य हैं।"[८] तित्थोगालिय पइन्ना में इस प्रसंग पर श्रुत-निह्नव होने की घोषणा के साथ श्रमण संघ द्वारा १२ प्रकार के संभोग विच्छेद का उल्लेख भी है।[९]

महान् यशस्वी आचार्य भद्रबाहु इस अकीर्तिकर प्रवृत्ति से संभल गए। उन्होंने सबको संतोष देते हुए कहा मैं संघ की आज्ञा का सम्मान करता हूं। मैं महाप्राण-ध्यान साधना में प्रवृत्त हूं। इस ध्यान साधना से १४ पूर्व की पूर्ण ज्ञान-राशि का मुहूर्त्त मात्र में परावर्तन कर लेने की क्षमता आ जाती है।[१०] अभी इसकी संपन्नता में कुछ समय अवशेष है। इससे मैं वहां आने में असमर्थ हूं। संघ मेधावी श्रमणों को यहां प्रेषित करें, मैं उन्हें सात वाचना देने का प्रयत्न करूंगा।"[११]

तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार आचार्य भद्रबाहु का उत्तर था

एक्केण कारणेणं, इच्छं भे वायणं दाउं ॥३४॥

मैं एक अपवाद के साथ वाचना देने को प्रस्तुत होता हूं।

अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाइं उज्जुत्तो।
नविहं वायरियव्वो, अहंपि नवि वायरिस्सामि ॥३५॥

आत्महितार्थ में युक्त, परमार्थ में प्रवृत्त मैं वाचना ग्रहणार्थ आने वाले श्रमण संघ के कार्य में बाधा उत्पन्न नहीं करूंगा, वे भी मेरे कार्य में विघ्न न बनें।

पारियकाउस्सग्गो, भत्तट्ठितो व अहव सेज्जाए।
निंतो व अइंतो वा, एवं भे वायणं दाहं ॥३६॥

कायोत्सर्ग संपन्न कर भिक्षार्थ आते-जाते समय और निशा में शयन-काल से पूर्व मैं उन्हें वाचना प्रदान करता रहूंगा।

---

८. (क) "पडिनियत्तेहिं संघस्स अक्खातं। तेहिं अण्णोवि संघाडओ विसज्जितो, जो संघस्स आणं अतिक्कमति तस्स को दंडो। तो अक्खाई उग्घाडिज्जइ। ते भणंति मा उग्घाडेह पेसेह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि।"
(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्रांक १८७)

(ख) गत्वा वाच्यः स आचार्यो, यः श्रीसङ्घस्य शासनम्।
न करोति भवेत्तस्य, दण्डः क इति शंस नः ॥६४॥
सङ्घाज्ञाः स कर्त्तव्य, इति वक्ति यदा स तु।
तर्हि तद्दण्डयोग्योऽसीत्याचार्यो वाच्य उच्चकैः ॥६५॥
ताभ्यां गत्वा तथैवोक्त, आचार्यो ऽप्येवमूचिवान्।
मैवं करोतु भगवान्सङ्घः किं तु करोत्यदः ॥६६॥
(परि. पर्व, सर्ग ९)

९. सो भणति एवं भणिए, अविसंनो वीरवयणनियमेण।
वज्जेयव्वो सुयगिहतो (निह्नवो) त्ति अह सव्वसाहूहिं ॥३१॥
बारसविहसंभोगे, वज्जए तो तयं समणसंघो।
जं ने जाइज्जं तो, नवि इच्छति वायणं दाउं ॥३३॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

१०. महाप्राणे हि निष्पन्ने कार्ये कस्मिंश्चिदागते।
सर्वपूर्वाणि गुण्यन्ते सूत्रार्थाभ्यां मुहूर्त्ततः ॥६२॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

११. (क) मयि प्रसादं कुर्वाणः श्रीसङ्घः प्रहिणोत्विह।
शिष्यान्मेधाविनस्तेभ्यः सप्त दास्यामि वाचनाः ॥६७॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

(ख) पेसेह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि।
(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्रांक १८७)

श्रमणों ने आचार्य भद्रबाहु के निर्देश को विनयपूर्वक स्वीकार किया और उन्हें वन्दन कर वहां से चले, संघ को संवाद सुनाया, इससे मुनियों को प्रसन्नता हुई।

मेधावी, उद्यमवन्त, स्थूलभद्र आदि ५०० श्रमण, संघ का आदेश प्राप्त कर आचार्य भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद की वाचना ग्रहण करने के लिए पहुंचे।[१२] आचार्य भद्रबाहु प्रतिदिन उन्हें सात वाचनाएं प्रदान करते थे। एक वाचना भिक्षाचर्या से आते समय, तीन वाचनाएं विकाल बेला में और तीन वाचनाएं प्रतिक्रमण के बाद रात्रिकाल में प्रदान करते थे।[१३]

दृष्टिवाद का ग्रहण बहुत कठिन था। वाचना प्रदान का क्रम बहुत मन्द गति से चल रहा था। मेधावी मुनियों का धैर्य डोल उठा। एक-एक करके ४९९ शिक्षार्थी मुनि वाचना क्रम को छोड़कर चले गए। स्थूलभद्र मुनि यथार्थ में ही उचित पात्र थे। उनकी धृति अगाध थी। स्थिर योग था। वे एकनिष्ठा से अध्ययन में लगे रहे। उन्हें कभी एक पद, कभी अर्ध पद सीखने को मिलता, परन्तु वे निराश नहीं हुए। आठ वर्ष में उन्होंने आठ पूर्वों का अध्ययन कर लिया।[१४]

आठ वर्षों की लम्बी अवधि में आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र के बीच अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी भी वार्तालाप का उल्लेख प्राप्त नहीं है।

आचार्य भद्रबाहु की साधना का काल संपन्न प्रायः था। उस समय एक दिन आचार्य भद्रबाहु ने प्रथम बार स्थूलभद्र से कहा "विनेय! तुम्हें माधुकरी प्रवृत्ति एवं स्वाध्याय योग में किसी प्रकार का क्लेश तो नहीं होता?"[१५]

आर्य स्थूलभद्र विनम्र होकर बोले "भगवन् मुझे अपनी प्रवृत्ति में कोई कठिनाई नहीं है। मैं पूर्ण स्वस्थमना अध्ययन में रत हूं। आपसे मैं एक प्रश्न पूछता हूं "मैंने आठ वर्षों में कितना अध्ययन किया है और कितना अवशिष्ट रहा है?"

प्रश्न के समाधान में भद्रबाहु ने कहा "मुने! सर्षप मात्र ग्रहण किया है मेरु जितना ज्ञान अवशिष्ट है। दृष्टिवाद के अगाध ज्ञानसागर से अभी तक बिन्दु मात्र लिया है।"[१६]

आर्य स्थूलभद्र ने निवेदन किया "प्रभो! मैं अगाध ज्ञान की सूचना पाकर हतोत्साहित नहीं हूं पर मुझे वाचना अल्पमात्रा में मिल रही है। आपके जीवन का संध्याकाल है, इतने कम समय में मेरु जितना ज्ञान कैसे ग्रहण कर सकूंगा?"[१७]

बुद्धिमान आर्य स्थूलभद्र की चिंता का निमित्त जान आचार्य भद्रबाहु ने आश्वासन दिया "शिष्य! चिंता मत करो, मेरा महाप्राण साधना कार्य संपन्न प्रायः है। उसके बाद मैं तुम्हें रात-दिन यथेष्ट समय वाचना के लिए दूंगा।"[१८]

---

१२. ताभ्यामेत्य तयाऽऽख्याते श्रीसङ्घोऽपि प्रसादभाक्।
प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपञ्चशतीं ततः ॥७०॥

१३. तत्रैकां वाचनां दास्ये भिक्षाचर्यात आगतः।
तिसृषु कालवेलासु तिस्रोऽन्या वाचनास्तथा ॥६८॥
सायाह्नप्रतिक्रमणे जाते तिस्रो ऽपराः पुनः।
सेत्स्यत्येवं सङ्घकार्यं मत्कार्यस्याविबाधया ॥६९॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

१४. श्रीभद्रबाहुपादान्ते स्थूलभद्रो महामतिः।
पूर्वाणामष्टकं वर्षैरपाठीदष्टभिर्शुभम् ॥७२॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

१५. सो अट्ठमस्स वासस्स, तेण पढमिल्लुयं समाभट्ठो।
कीस य परितंमीहं, धम्मावाए अहिज्जंतो ॥४७॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

१६. एक्कंती भे पुच्छं, केतियमेत्तंमि सिक्खितो होज्जा।
कतियमेत्तं च गयं, अट्ठहिं वासेहिं किं लद्धं ॥४८॥
मंदरगिरिस्स पासंमि, सरिसवं निक्खिवेज्ज जो पुरिसो।
सरिसवमेत्तं ति गयं मंदरमेत्तं च ते सेसं ॥४९॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

१७. सो भणइ एवं भणिए, भीतो नवि ता अहं समत्थोमि।
अण्णं च मह आउ, बहुसुयं मंदरो सेसो ॥५०॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

१८. मा भाहि नित्थरीहिसि, अप्पतरएण वीर कालेणं।
मज्झ नियमो समत्तो, पुच्छाहि दिवा य रत्तिं च ॥५१॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

श्रुतसंपन्न आचार्य भद्रबाहु एवं आर्य स्थूलभद्र के बीच हुए इस संवाद का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में है।

आर्य स्थूलभद्र का अध्ययन-क्रम चलता रहा। भद्रबाहु की महाप्राण ध्यान की साधना पूर्ण होने तक उन्होंने दो वस्तु कम दसपूर्व की वाचना ग्रहण कर ली।[१९] तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार आर्य स्थूलभद्र ने दशपूर्व पूर्ण कर लिए थे। उनके ग्यारहवें पूर्व का अध्ययन चल रहा था। ध्यान साधना का काल संपन्न होने पर आर्य भद्रबाहु पाटलिपुत्र लौटे। यक्षा आदि साध्वियां आर्य भद्रबाहु के वन्दनार्थ आयीं।[२०] आर्य स्थूलभद्र उस समय एकांत में ध्यानरत थे। परम वन्दनीय महाभाग आचार्य भद्रबाहु के पास अपने ज्येष्ठ भ्राता मुनि आर्य स्थूलभद्र को नहीं देखकर साध्वियों ने उनसे पूछा "गुरुदेव! हमारे ज्येष्ठ भ्राता मुनि आर्य स्थूलभद्र कहां हैं?" भद्रबाहु ने स्थान का निर्देश दिया। यक्षा आदि साध्वियां वहां पहुंचीं। बहिनों का आगमन जानकर आर्य स्थूलभद्र कुतूहलवश अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सिंह का रूप बनाकर बैठ गए। साध्वियां शेर को देखकर डर गयीं। वे आचार्य भद्रबाहु के पास तीव्र गति से पहुंचीं और प्रकंपित स्वर में बोलीं "गुरुदेव! आपने जिस स्थान का संकेत दिया था, वहां सिंह बैठा है। 'ज्येष्ठार्यं जघ्नसे सिंहः' लगता है, हमारे भाई का उसने भक्षण कर लिया है।" भद्रबाहु ने समग्र स्थिति को ज्ञानोपयोग से जाना और कहा

"बन्दध्वं तत्र वः सोऽस्ति ज्येष्ठार्यो न तु केसरी" ॥८२॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९)

"वह केसरी नहीं है, तुम्हारा भाई है। पुनः वहीं जाओ। तुम्हें तुम्हारा भाई मिलेगा। उसे वंदन करो।"

आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्देश प्राप्त कर बहिनें पुनः उसी स्थान पर गईं। ज्येष्ठ बन्धु आर्य स्थूलभद्र को देखकर प्रसन्नता हुई। सबने मुकुलित पाणि मस्तक झुकाकर वन्दन किया और बोलीं "भ्रात! हम पहले भी यहां आयी थीं, परन्तु आप नहीं थे। यहां पर केसरीसिंह बैठा था।" आर्य स्थूलभद्र ने उत्तर दिया "साध्वियों! मैंने ही उस समय सिंह का रूप धारण किया था।"

आर्य स्थूलभद्र एवं यक्षा, यक्षदत्ता आदि साध्वियों का कुछ समय तक वार्तालाप चला। उन्होंने मुनि श्रीयक के रोमांचक समाधि-मरण की घटना आर्य स्थूलभद्र को बतलायी। इस घटना-श्रवण से आर्य स्थूलभद्र को खिन्नता हुई। यक्षादि साध्वियां अपने स्थान पर लौट गईं। आर्य स्थूलभद्र वाचना ग्रहण करने के लिए आचार्य भद्रबाहु के चरणों में उपस्थित हुए। अपने सम्मुख आर्य स्थूलभद्र को देखकर आचार्य भद्रबाहु ने कहा "वत्स! ज्ञान का अहं विकास में बाधक है। तुमने शक्ति का प्रदर्शन कर स्वयं को ज्ञान के लिए अपात्र सिद्ध किया है। अग्रिम वाचना के लिए तुम योग्य नहीं हो।" आचार्य भद्रबाहु द्वारा आगम वाचना नहीं मिलने पर उन्हें अपनी भूल समझ में आयी। अपने प्रमाद पर गहरा अनुपात हुआ। भद्रबाहु के चरणों में गिरकर उन्होंने क्षमायाचना की और कहा "यह मेरी पहली भूल है। इस प्रकार की भूल का पुनरावर्तन नहीं होगा। आप मेरी भूल को क्षमा कर मुझे वाचना प्रदान करें।"

आचार्य भद्रबाहु ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। आर्य स्थूलभद्र ने पुनः विनम्र निवेदन किया "प्रभो! पूर्वज्ञान का विच्छेद होने वाला है परन्तु मैं सोचता हूं

न मत्तः शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु सः ॥१०६॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९)

श्रुत-विच्छिन्नता का निमित्त मैं नहीं बनूं अतः पुनः प्रणति-पूर्वक आपसे वाचना प्रदानार्थ आग्रह भरी नम्र विनती कर रहा हूं।

---

१९. पूर्णे ध्याने महाप्राणे स्थूलभद्रो मरुन्मुनिः।
द्विवस्तूनानि पूर्वाणि दश यावत्समापयत् ॥७६॥
(परि. पर्व, सर्ग ९)

२०. संपत्ति एक्कारसम, पुव्वं अतिवयति वणदवो चेव।
इतिलओ भगिणीतो, सुट्ठुमणा वंदणनिमित्तं ॥५३॥
जक्खा य जक्खदिण्णा, भूया तह होंति भूयदिण्णा य।
सेणा वेणा रेणा, भगिणीतो थूलभद्दस्स ॥५४॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

आचार्य स्थूलभद्र को वाचना प्रदान की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु सकल संघ ने आचार्य भद्रबाहु को पुनः-पुनः विनती की। सबकी भावना सुनने के बाद समाधान के स्वरों में दूरदर्शी आचार्य भद्रबाहु बोले "गुणमंडित, अखंडित आचारनिधिसंपन्न मुनिजनो! मैं आर्य स्थूलभद्र की भूल के कारण वाचना देना स्थगित नहीं कर रहा हूं। वाचना न देने का कारण और भी है, वह यह है 'मगध की रूपसी कोशा गणिका के बाहुपाश को तोड़ देने वाला एवं अमात्य पद के आमन्त्रण को ठुकरा देने वाला आर्य स्थूलभद्र श्रमण समुदाय में अद्वितीय है। वह योग्य है। इसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा के समान अभी कोई प्रतिभा नहीं है। इसके प्रमाद को देखकर मुझे अनुभूत हुआ कि समुद्र भी मर्यादा का अतिक्रमण करने लगा है। उच्च कुलोत्पन्न, पुरुषों में अनन्य, श्रमण समाज का भूषण, धीर, गंभीर, दृढ़ मनोबली, परम विरक्त स्थूलभद्र जैसे व्यक्ति को ज्ञान-मद आक्रान्त करने में सफल हो गया है। आगे इससे मंद सत्त्व साधक होंगे।[२१] अतः पात्रता के अभाव में ज्ञानदान ज्ञान की आशातना है। अवशिष्ट वाचना प्रदान करने से किसी प्रकार के भावी लाभ की संभावना नहीं रही है।

अस्यास्तु दोषदण्डोऽयमन्यशिक्षाकृतेऽपि हि ॥१०८॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९)

"वाचना को स्थगित करने से आर्य स्थूलभद्र को अपने प्रमाद का दण्ड मिलेगा और भविष्य में श्रमणों के लिए उचित मार्गदर्शन होगा।"

अह भणइ थूलभद्दो, अण्णं रूवं न किंचि काहामो।
इच्छामि जाणिउं जे, अहमं चत्तारि पुव्वाइं ॥८००॥

(तित्थोगालिय पइन्ना)

आर्य स्थूलभद्र ने पुनः अपनी भावना श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा "मैं अब पररूप का निर्माण कभी नहीं करूंगा। आप कृपा करके अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान देकर मेरी भावना पूर्ण करें।"

आर्य स्थूलभद्र के अत्यन्त आग्रह एवं संघ की प्रार्थना पर आचार्य भद्रबाहु ने उन्हें चार पूर्वों का ज्ञान अपवाद (अब दिया जाने वाला अंतिम चार पूर्वों का ज्ञान आगे किसी को नहीं दिया जा सकेगा) के साथ प्रदान किया।[२२]

आगम वाचना के इस प्रसंग का उल्लेख उपदेशमाला विशेषवृत्ति, आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली पइन्ना, परिशिष्ट पर्व इन चार ग्रंथों में अत्यल्प भिन्नता के साथ विस्तार से मिलता है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार दो श्रमण श्रुत वाचना के हेतु प्रार्थना करने के लिए नेपाल पहुंचे थे।[२३] तित्थोगाली पइन्ना तथा आवश्यक चूर्णि में श्रमण संघाटक का निर्देश है।[२४] परिशिष्ट पर्व के अनुसार ५०० शिक्षार्थी श्रमण नेपाल पहुंचे थे।[२५] तित्थोगाली पइन्ना में यह संख्या १५०० की है। इसमें ५०० श्रमण शिक्षार्थी एवं १००० श्रमण शिक्षार्थी मुनियों की परिचर्या करने वाले थे।[२६]

---

२१. सूरिः संघं बभाषे ऽथ, विधक्रेऽसौ यथाऽधुना।
तथान्ये विकरिष्यन्ति, मंदसत्त्वा अतः परम् ॥१०७॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

२२. अन्यस्य शेषपूर्वाणि प्रदेयानि त्वया न हि।
इत्यधिग्राह्य भगवान्स्थूलभद्रमवाचयत् ॥११०॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

२३. नेपालदेशमार्गस्थं भद्रबाहुं च पूर्विणम्।
ज्ञात्वा सङ्घः समाहर्तुं ततः प्रैषीन्मुनिद्वयम् ॥५९॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

२४. (क) संघाडएण गंतूण ॥२६॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

(ख) तेसिं संघेणं पत्थवितो संघाडओ ॥
(आवश्यक चूर्णि, भाग-२, पत्रांक १९७)

२५. प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपंचशतीं ततः ॥७०॥
(परि. पर्व., सर्ग ९)

२६. जे आसी मेहावी, उज्जुत्ता गहणधारणसमत्था।
ताणं पंचसयाइं, सिक्खगसाहूण गहियाइं ॥३८॥
वेयावच्चगरा से, एक्केक्कस्सेव उट्ठिया दो दो।
भिक्खमि अपडिबद्धा, दिया य रत्तिं च सिक्खंति ॥३९॥
(तित्थोगाली पइन्ना)

आचार्य भद्रबाहु के जीवन की यह घटना विशेष संकेत करती है। नेपाल में आचार्य भद्रबाहु महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उस समय इच्छा नहीं होते हुए भी संघ की प्रार्थना को प्रमुखता प्रदान कर आर्य स्थूलभद्र को दृष्टिवाद आगम की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलभद्र की भूल होने पर पाटलिपुत्र में आचार्य भद्रबाहु के द्वारा वाचना प्रदान का कार्य पूर्णतः स्थगित कर दिया गया। संघ की प्रार्थना को उन्होंने मान्य नहीं किया। स्थूलभद्र के अति आग्रह पर उन्होंने शब्दशः अन्तिम चार पूर्वों की वाचना प्रदान की अर्थतः नहीं। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि संघ की शक्ति सर्वोपरि होती है। संघ अपने संरक्षण के लिए आचार्य को नियुक्त करता है। आचार्य के लिए संघ नहीं बनता, परन्तु संघ की शक्ति आचार्य में केन्द्रित होती है। अन्ततः निर्णायक आचार्य ही होते हैं। यही कारण है समग्र संघ के द्वारा निवेदन करने पर भी आचार्य भद्रबाहु ने चार पूर्वों की अर्थवाचना देना भविष्य में लाभप्रद नहीं समझकर अस्वीकार कर दिया।

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथों में भद्रबाहु से संबंधित कई प्रसंग हैं।

दिगम्बर विद्वान् हरिषेण के वृहत्कथाकोष का रचनाकाल शक संवत् ८५३ है। उसके अनुसार भद्रबाहु का जन्म पुण्ड्रवर्द्धन राज्य के कोटिकपुर ग्राम में हुआ। वे राजपुरोहित के पुत्र थे। बाल्यकाल में साथियों के साथ खेलते हुए बालक भद्रबाहु ने एक बार चौदह गोलियां एक श्रेणी में एक दूसरे के ऊपर चढ़ा दीं। चतुर्दश पूर्वधर गोवर्द्धनाचार्य उस मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने बालक के इस कौशल को देखा। वे अपने विशेष ज्ञान द्वारा इस निर्णय पर पहुंचे कि यह बालक चतुर्दश पूर्वधर होगा। भद्रबाहु के पिता से अनुमति लेकर गोवर्द्धनाचार्य ने बालक को अपने पास रखा। उसको विविध विद्याएं सिखाकर, मुनि दीक्षा प्रदान की। बुद्धिमान भद्रबाहु श्रुतधर गोवर्द्धनाचार्य से चतुर्दश पूर्वों की संपूर्णज्ञान राशि को ग्रहण करने में सफल हुए। श्रुतकेवली परम्परा में उन्होंने स्थान पाया। गोवर्द्धनाचार्य ने भद्रबाहु की आचार्य पद पर नियुक्ति की।

एक बार ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए श्रुतकेवली भद्रबाहु का पदार्पण अवन्ति में हुआ। वे क्षिप्रा नदी के तटवर्ती उपवन में ठहरे। उस समय अवन्ति में निर्ग्रन्थ धर्म में आस्थाशील चन्द्रगुप्त का राज्य था। रानी का नाम सुप्रभा था। भद्रबाहु स्वयं गोचरी के लिए नगर में गए। उन्होंने एक घर में प्रवेश करते समय झूले में झूलते हुए एक शिशु को देखा। आंगन में अन्य कोई मनुष्य नहीं था। शिशु ने तीखी आवाज में चिल्लाकर भद्रबाहु से कहा 'तुम यहां से शीघ्र चले जाओ'। शिशु के मुख से विचित्र आवाज को सुनकर भद्रबाहु को निमित्त ज्ञान से ज्ञात हुआ "इस मालव देश में द्वादशवर्षीय भयंकर दुष्काल होगा।" भद्रबाहु वहां से अपने स्थान पर आए और अपने शिष्य समुदाय को भावी दुष्काल की सूचना दी और कहा "सुरक्षा की दृष्टि से तुम लोगों का दक्षिण की ओर जाना उचित है। मेरा आयुष्य कम है अतः मैं यहीं रहूंगा।"

आचार्य भद्रबाहु से दुष्काल की बात अवन्ति-नरेश चंद्रगुप्त ने सुनी। उसे संसार से विरक्ति हुई। राज्य की व्यवस्था कर एवं पुत्र को राज्य सौंप कर चंद्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु से श्रमण दीक्षा स्वीकार की। मुनि चंद्रगुप्त विशाखाचार्य नाम से विख्यात हुए। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार दीक्षा लेने वालों में चंद्रगुप्त अंतिम सम्राट् थे। इसके बाद किसी सम्राट् ने मुनि दीक्षा ग्रहण नहीं की।[२७]

आचार्य भद्रबाहु के आदेश से विशाखाचार्य के

---

२७. मउडधरेसु चरिमो जिण दिक्खं धरदि चंद्रगुत्तो य तओ
मउडधरादु-प्पवज्जं णेव गेण्हंति

(तिलो. प. ४-१४८१)

नेतृत्व में विशाल श्रमण-संघ दक्षिण की ओर पुन्नाट देश में चला गया। आचार्य भद्रबाहु अवन्ति में ही भाद्रपद नामक स्थान में विराजे। वहीं उनका अनशन में स्वर्गवास हो गया।[२८] रामिल्ल, स्थूलवृद्ध, भद्राचार्य अपने श्रमण-संघ सहित भद्रबाहु के आदेश से संकट की घड़ियों को पार करने के लिए सिंधु प्रदेश की ओर चले गए।

हरिषेण के वृहत्कथाकोष में आचार्य भद्रबाहु के श्रुतकेवली होने का उल्लेख है पर उनकी दक्षिण यात्रा का उल्लेख नहीं है।

रत्ननंदी कृत 'भद्रबाहु चरित्र' (रचना १५वीं शती) में प्राप्त उल्लेखानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु जब अवन्ति में पधारे उस समय चंद्रगुप्त का राज्य था।[२९] चंद्रगुप्त ने १६ स्वप्न देखे। भद्रबाहु ने उनका फलादेश अनिष्ट सूचक बताया। चंद्रगुप्त को संसार से विरक्ति हुई। अपने पुत्र को राज्य सौंपकर भद्रबाहु से श्रमण दीक्षा ग्रहण की। इस घटना के बाद एक दिन भद्रबाहु जिनदास श्रेष्ठी के घर गोचरी गए। पालने में झूलते हुए नन्हें शिशु ने चिल्लाकर कहा 'चले जाओ।' भद्रबाहु ने पूछा "कितने समय के लिए जाएं?" शिशु ने १२ वर्ष के लिए जाने को कहा।[३०] निमित्त ज्ञान से भद्रबाहु ने समझ लिया १२ वर्ष का दुष्काल होगा।

भद्रबाहु ने इस संकटकाल की सूचना श्रमण-संघ को दी और सुदूर दक्षिण में जाने की तैयारी करने लगे। श्रावकों के द्वारा प्रार्थना करने पर भी वे नहीं रुके। उन्होंने १२००० साधुओं के साथ दक्षिण की ओर विहार किया। स्थूलभद्र आदि श्रमण अवन्ति में रहे। कुछ मार्ग पार करने के बाद प्राकृतिक संकेतों के आधार पर भद्रबाहु को अपना अंतिम समय सन्निकट प्रतीत हुआ।[३१] उन्होंने अपने हने की व्यवस्था वहीं की। मुनि चंद्रगुप्त भद्रबाहु के पास रहे। पूर्वधर विशाखाचार्य की अध्यक्षता में श्रमण संघ को सुदूर दक्षिण में भेजा गया। जीवन के अंतिम समय में भद्रबाहु के पास मुनि चंद्रगुप्त थे।

कई विद्वानों का यह भी अभिमत है दुष्काल के समय में आचार्य भद्रबाहु स्वयं ससंघ दक्षिण में गये थे। उनका समाधिमरण श्रणबेलगोला के चंद्रगिरि पर्वत पर हुआ था। सम्राट् चंद्रगुप्त उनके साथ थे।

हरिषेण का वृहत्कथाकोष और रत्ननंदीकृत 'भद्रबाहु चरित्र' इन दोनों ग्रंथों के उल्लेखानुसार दुष्काल की समाप्ति के बाद श्रमण-संघ मिला। आचार संहिता समान न रहने के कारण श्वेताम्बर और दिगम्बर संप्रदाय का उद्भव हुआ।

इन दोनों ग्रंथों में प्राप्त घटनाचक्र चर्चनीय है। श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास श्वेताम्बर मान्यतानुसार वी. नि. १७० (वि. पू. ३००) तथा दिगम्बर मान्यतानुसार वी. नि. १६२ (वि. पू. ३०८) में हुआ। दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदायों की भेदरेखा का जन्म-काल दोनों की मान्यतानुसार भिन्न है। श्वेताम्बर मान्यतानुसार वी. नि. ६०९ में दिगम्बर मत की स्थापना

---

२८. "प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयनीभवम्।
चकाराऽनशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम् ॥
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ" ॥
(हरिषेण वृहत्कथाकोष)

२९. "अवंतीविषयेऽथाथ, विजिताखिलमंडले।
विवेकविनयानेक-धनधान्यादि संपदा ॥५॥
अभादुज्जयिनी नाम्ना, पुरी प्रकारवेष्टिता।
श्री जिनगार सागर-मुनिसद्धर्ममंडिता ॥६॥
चंद्रावदातसत्कीर्तिश्चंद्रवन्मोदकर्तृ (कृन्नृ) णाम्।
चंद्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽभवच्चारु-गुणोदयः ॥७॥
(रत्ननंदी कृत भद्रबाहु चरित्र, परिच्छेद २)

३०. तत्र शून्यगृहे धैर्को, विद्यते केवलं शिशुः
ज्योतिरुत्तान्तर्गतः षष्टि-दिवस प्रमितस्तदा
गच्छ गच्छ वचोऽवादीत् तच्छ्रुत्वा मुनिना द्रुतम्
शिशुरुक्ता पुनः स्तेन, कियन्तोब्दाः शिशो! वद
द्वादशाब्दा मुनेः प्रोचे, निशम्य तद्वचः पुनः।
(भद्रबाहु चरित्र द्वितीय परिच्छेद, श्लो. ५९-६०)

३१. अथाऽसौ विहरन्स्वामी भद्रबाहुः शनैः शनैः।
प्रापन्महाटवीं तत्र शुश्राव गगनध्वनिम्॥
श्रुत्वामथादभुतं शब्दं, निमित्तज्ञानतः सुधीः।
आयुरल्पिष्टमात्मीयमज्ञासीद् बोधलोचनः॥१॥
(भद्रबाहु चरित्र, तृतीय परिछेद)

हुई। दिगम्बर मान्यतानुसार वी. नि. ६०६ में श्वेताम्बर मत का उद्भव हुआ। इतिहास सम्मत कालक्रम के अनुसार भद्रबाहु का स्वर्गवास एवं दिगम्बर तथा श्वेताम्बर मत की स्थापना इन दोनों घटनाओं के बीच कई शताब्दियों का अंतराल है। दिगम्बर मान्यतानुसार वी. नि. १६२ (वि. पू. ३०८) में तथा श्वेताम्बर मान्यतानुसार वी. नि. १७० (वि. पू. ३००) में स्वर्गवासी श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु की विद्यमानता वी. नि. की छठी शताब्दी में कैसे संगत हो सकती है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा चन्द्रगुप्त को दीक्षा देने का प्रसंग निर्विवाद नहीं है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के निकटवर्ती नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य थे। उन्हें पाटलिपुत्र का शासक बताया गया है। भद्रबाहु द्वारा दीक्षित चन्द्रगुप्त को अवन्ति का नरेश माना है। अतः दो चन्द्रगुप्त सिद्ध होते हैं।

ऐतिहासिक संदर्भ में श्रुतकेवली भद्रबाहु का और पाटलिपुत्र नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य का साक्षात् गुरु-शिष्य संबंध सिद्ध नहीं होता। मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त के राज्य का अभ्युदय वी. नि. तृतीय शताब्दी (२१५) के प्रारम्भ में होता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास उससे ४५ वर्ष पहले ही हो जाता है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त के जैन होने की संभावना है[३२], पर उन्हें भद्रबाहु द्वारा मुनि दीक्षा प्रदान करने का कहीं उल्लेख नहीं है।

श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर एक शिलालेख है। यह शिलालेख शक संवत् ५७२ के आसपास का माना गया है। इस शिलालेख में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों का उल्लेख है पर उसमें भद्रबाहु को श्रुतकेवली विशेषण से विशेषित नहीं किया है और चन्द्रगुप्त को भी मौर्यवंशी नहीं बताया है।

इससे भी एक प्राचीन शिलालेख पार्श्वनाथ वस्ति का है। वह इस प्रकार है

"महावीर सवितरि परिनिर्वृते भगवत्परमर्षि गौतम गणपरसाक्षाच्छिष्यलोहार्य जम्बु-विष्णुदेवापराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-विशाखा-प्रोष्ठिल-कृतिकाय-जयनाम-सिद्धार्थ-धृतिषेण-बुद्धिलादि गुरु-परम्परीणक्रम (क्र) माभ्यागतमहापुरुषसंत तिसमवद्योतितान्वय-भद्रबाहु स्वामिना उज्जयन्याष्यटाङ्ग, महानिमित्ततत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सर-कालवैषम्यमुपा-लभ्य कथिते सर्वसंघ उत्तरापथाद्दक्षिणापथं प्रस्थितः।"

यह शिलालेख शक संवत् ५२२ के आसपास का माना गया है। इस शिलालेख से श्रुतकेवली भद्रबाहु और निमित्तधर भद्रबाहु की भिन्नता का स्पष्ट बोध होता है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद विशाख, प्रोष्ठिल आदि कई आचार्य हुए। आचार्यों की लंबी शृंखला के बाद निमित्तधर भद्रबाहु का नाम आया है। निमित्तधर भद्रबाहु के मुख से द्वादश-वर्षीय दुष्काल की बात सुनकर तथा उनके आदेश से श्रमण-संघ उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर गया। इस शिलालेख में भद्रबाहु के दक्षिण में जाने का नहीं है। भद्रबाहु के आदेश से श्रमणसंघ का दक्षिण में जाने का उल्लेख है। इस शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है श्रुतकेवली भद्रबाहु के बहुत लम्बे समय बाद निमित्तधर भद्रबाहु हुए हैं।

शुभचंद्र भट्टारक ने द्वितीय भद्रबाहु को प्रथमाङ्गधर माना है।[३३] ब्रह्म हेमचंद्र ने द्वितीय भद्रबाहु का समय अङ्गश्रुत की परम्परा विछिन्न हो जाने के बाद स्वीकार किया है। अङ्ग-विच्छेद का समय दिगम्बर मान्यतानुसार वी. नि. ६८३ है।

तित्थोगालिय पइन्ना, आवश्यकनिर्युक्ति, परिशिष्ट पर्व आदि श्वेताम्बर ग्रंथों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन-प्रसंग उपलब्ध हैं। कहीं चंद्रगुप्त का उल्लेख नहीं

---

३२. उत्पन्नप्रत्ययः साधून्, गुरुन्मेनेऽथ पार्थिवः ॥४३५॥
(परि. पर्व., सर्ग ८)

३३. "अग्गिम अंगि सुभद्दो जसभद्दो भद्दबाहुपरमगणी।
आयरियपरंपराइ, एवं सुदणाणमावहदि ॥४७॥
(अंगपण्णत्ति)

है और न दक्षिण की यात्रा का उल्लेख है। आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथों में श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेपाल जाने का उल्लेख है।[३४]

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का संबंध दिगम्बर ग्रंथों में है और वह भी दसवीं शताब्दी के बाद के ग्रंथों में है। प्राचीन दिगम्बर ग्रंथों में चंद्रगुप्त को दीक्षा प्रदान करने वाले भद्रबाहु को श्रुतकेवली नहीं बताया है उन्हें निमित्तवेत्ता बताया है।

दिगम्बर ग्रन्थों एवं शिलालेखों के आधार पर राजा चंद्रगुप्त का संबंध प्रथम भद्रबाहु के साथ न होकर द्वितीय भद्रबाहु के साथ सिद्ध होता है, जो निमित्तज्ञानी थे। प्रथम भद्रबाहु श्रुतकेवली थे। चन्द्रगुप्त को दीक्षा देने वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली नहीं थे। उनके पीछे कहीं श्रुतधर विशेषण नहीं आया है। श्वेताम्बर परम्परा में उन्हें निमित्तवेत्ता माना है और दिगम्बर परम्परा में उन्हें सुनिमित्तधर[३५] एवं चरम निमित्तधर[३६] विशेषण दिया गया है।

भद्रबाहु ने चंद्रगुप्त के सोलह स्वप्नों के फलादेश की घोषणा की थी। इससे भी चंद्रगुप्त के गुरु द्वितीय भद्रबाहु सिद्ध होते हैं जो निमित्तज्ञानी थे। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वराहमिहिर के बन्धु द्वितीय भद्रबाहु ने अपने निमित्तज्ञान के बल पर कई भविष्य-घोषणाएं की थीं[३७]। वराहमिहिर का समय १९००-२००० वर्ष पूर्व का है, अतः अपने १६ स्वप्नों का फलादेश पूछने वाले चन्द्रगुप्त श्रुतकेवली भदबाहु (प्रथम) के अनुग सिद्ध नहीं होकर द्वितीय भद्रबाहु के अनुग सिद्ध होते हैं।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों के समय द्वादशवर्षीय दुष्काल का आघात लगा था। इस घटना साम्य के कारण द्वितीय भद्रबाहु के समय में होने वाले चन्द्रगुप्त को ही प्रथम भद्रबाहु के समय में होने वाले चन्द्रगुप्त मौर्य को मानकर उसे प्रथम भद्रबाहु का शिष्य मान लिया गया है और भिन्न-भिन्न काल में होने वाले दो दुष्कालों को एक समय का मान लिया गया है इसलिए दिगम्बर परम्परा के अर्वाचीन ग्रंथों में सुदूर अन्तराल में होने वाली घटनाओं का परस्पर सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा के अर्वाचीन ग्रंथों में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को ही निमित्तधर सिद्ध किया गया है।

जैन श्वेताम्बर ग्रंथ प्रबन्ध कोश के आदि में श्रुतधर भद्रबाहु द्वारा निर्युक्तियां रची जाने का उल्लेख है।[३८] श्वेताम्बर विद्वान् शीलाङ्काचार्य आदि ने भी छेदसूत्रकार, निर्युक्तिकार एवं श्रुतधर भद्रबाहु को एक ही माना है।[३९] छेद-सूत्रकार, श्रुतधर भद्रबाहु द्वारा निर्युक्तियां रची गईं यह मान्यता बहुत लम्बे समय तक जैन विद्वानों द्वारा समर्थित होती रही है।

पाश्चात्य विद्वान् डॉ. हर्मन जेकोबी ने सबसे पहले यह शोध की और बताया निर्युक्तिकार भद्रबाहु और छेद-सूत्रकार श्रुतधर भद्रबाहु एक नहीं हैं।

इस संदर्भ में डॉ. हर्मन जेकोबी का परिशिष्ट एवं

---

३४. 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दबाहुसामी अच्छंति चोद्दस्सपुव्वी,
(आवश्यक चूर्णि, भाग-२ पत्रांक १९७)

३५. आसि उज्जोणिणयरे, आयारियो भद्दबाहुणामेण।
जाणियं सुणिमित्तधरो भणियो, भणियो संगो णिओ तेण ॥१३८॥
(भावसंग्रह, आचार्य देवसेनकृत)

३६. "आयारिओ भद्दबाहु अट्ठंगमहणिमित्तजाणधरो।
णिण्णासइ कालवसे, स चरिमो हु णिमित्तओ होदि ॥८०॥
(श्रुतस्कन्ध)

३७. अयं वार्ताः सप्तमे दिने निशीथे विडालिकया ज्ञानिष्यते।
(प्रबंधकोश, भद्रबाहु वराह प्र. प्रबंध पृ. ३, पंक्ति २१)

३८. भद्रबाहुश्चतुर्दशपूर्वी.....। दशवैकालिक-उत्तराध्ययनदशाश्रुतस्कन्ध- कल्प-व्यवहार-आवश्यक-सूर्य प्रज्ञप्ति-सूत्रकृत-आचाराङ्ग-ऋषिभाषिताख्यग्रन्थदशकप्रति बद्धदशनिर्युक्तिकारतया पप्रथे।
(प्रबंध कोश, भद्रबाहु वराह प्रबंध, पृ. २, पं. १७, १८, १९)

३९. "अनुयोगदायिनः सुधर्मस्वामिप्रभृतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति। (शीलाङ्काचार्यकृत आचाराङ्ग टीका, पृ. ४)

इण्ट्रोडक्शन विशेष रूप से द्रष्टव्य है।[४०] डॉ. हर्मन जेकोबी की समीक्षा के मुख्य बिन्दु हैं

श्रुतधर भद्रबाहु वी. नि. १७० में हुए हैं। आवश्यक निर्युक्ति में ७ निह्नवों का उल्लेख है। सातवां निह्नव गोष्ठामाहिल वी. नि. ५८४ में हुआ है। उसका उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में होने के कारण निर्युक्तिकार भद्रबाहु गोष्ठामाहिल के बाद हुए हैं। निर्युक्ति में वी. नि. ६०९ में होने वाले आठवें निह्नव का उल्लेख नहीं है, अतः निर्युक्ति ग्रंथों की रचना वी. नि. ५८४ (वि. ११४) और वी. नि. ६०९ (वि. १३९) के मध्यकाल में हुई संभव है।

As the Niryukti had been written between 584 and 609 A.V.

(Parishistha parva Introductory, page 17)

महावीर का निर्वाण परम्परा सम्मत ई. पू. ५२७ मान लेने पर निर्युक्ति रचना का यह काल ई. सन् ५७ और ८२ का मध्यवर्ती काल प्रमाणित होता है। निर्युक्ति-रचनाकार के विषय में वे लिखते हैं

These stories are scarcely ever alluded to in the sutra, itself, but frequently in the Niryukti belonging to it. There are ten sutras to which Bhadrabahu, a late name sake of the sixth Patriarch, has written Niryuktis i.e.

(Parishistha parva Introductory, Page 6)

उक्त समीक्षा से स्पष्ट है निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न थे।

डॉ. हर्मन जेकोबी की इस शोध के बाद भारतीय जैन विद्वानों ने भी इस विषय पर अनुसंधान कर यह प्रमाणित किया है कि श्रुतधर भद्रबाहु और निर्युक्तिकार भद्रबाहु एक नहीं हैं। दशाश्रुतस्कन्ध में निर्युक्तिकार भद्रबाहु, छेद-सूत्रकार श्रुतधर भद्रबाहु को वंदन करते हैं।[४१] इस उल्लेख से भी श्रुतधर और छेदसूत्रकार भद्रबाहु की निर्युक्तिकार भद्रबाहु से भिन्नता प्रमाणित होती है। पञ्चकल्प चूर्णिकार ने भी निशीथ, वृहत्कल्प, व्यवहार और दशाश्रुतस्कन्ध इन छेदसूत्रों के रचनाकार श्रुतधर भद्रबाहु को माना है।[४२]

इन ग्रंथों के मननपूर्वक अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि इतिहास के लंबे अन्तराल में दो भद्रबाहु हुए हैं। प्रथम भद्रबाहु वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी में हुए। वे श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार श्रुतधर थे एवं छेदसूत्रों के रचनाकार थे। नेपाल की गिरिकन्दराओं में उन्होंने महाप्राण ध्यान की साधना की। द्वितीय भद्रबाहु सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के सहोदर थे। वे विक्रम की पांचवी शताब्दी के विद्वान् थे।

स्थानाङ्ग सूत्र में नौ गणों का उल्लेख है।[४३] उनमें एक गोदासगण है। यह गण गोदास मुनि से संबंधित था। गोदास मुनि आचार्य भद्रबाहु के प्रथम शिष्य थे। गोदासगण की प्रमुखतः (१) ताम्रलिप्तिका, (२) कोटि-

---

४०. The dates within which the kathanaka Literature has been developed, can be fixed almost with 'atitude-for the beginning of that period is marked by the Niryuktis, and the end by Haribhadra's tika. The author of the Niryuktis Bhadrabahu is identified by the Jainas with the Patriarch of that name who died 170 A.V. There can be no dought that they are mistaken for the account of the Seven Schisms (ninhava) in the Avasyaka Niryukti VIII 56-100 must have been written between 584 and 609 of the Era. These are the dates of the 7th and 8th Schisms, of which only the former is mentioned in the Niryukti. It is therefore, certain that the Niryukti was composed before the 8th Schism 609 A.V. The dates 584 and 609 A.V. correspond to 57 and 82 A.D. on assuming the traditional date of the Nirvana 527 B.C.

(Parishistha Parva Introductory Page 6)

४१. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासुकप्पे य ववहारे ॥१॥

(दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति)

४२. तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा। (पंचकल्प चूर्णि, पत्र १)

४३. समणस्स णं भगवतो महावीरस्स णव गणा हुत्था, तं जहा गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइय गणे कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे।

(ठाणं, स्थान ९, सूत्र २९)

वर्धिका, (३) पौण्ड्रवर्धनिका, (४) दासी कर्पटिका ये चार शाखाएं थीं। उनमें ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्धिका एवं पौण्ड्रवर्धनिका इन तीन शाखाओं की जन्म-स्थली बंगाल थी। ताम्रलिप्ति, कोटि-वर्ष एवं पुण्ड्रवर्धन ये तीनों बंगाल की राजधानियां थीं। गोदासगण की तीनों शाखाओं से इन राजधानियों का नाम-साम्य, भद्रबाहु के संघ का बंगाल भूमि से नैकट्य प्रकट करता है अतः कई विद्वानों का अनुमान है भद्रबाहु विशाल श्रमण-संघ के साथ दुष्काल में कुछ समय तक बंगाल में रहे। आचार्य हेमचंद्र का अभिमत भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। परिशिष्ट पर्व में लिखा है

इतश्च तस्मिन्दुष्काले, कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ ॥५५॥

(परि. पर्व, सर्ग ९)

परिशिष्ट पर्व के उक्त उल्लेखानुसार ससंघ भद्रबाहु दुष्काल के समय बंगाल के निकट समुद्री किनारों पर अथवा तटवर्ती बस्तियों में विहरण कर रहे थे। उन्होंने संभवतः इसी प्रदेश में छेदसूत्रों की रचना की।

छेदसूत्रों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है उस समय आहार, पानी आदि मुनिजनोचित सामग्री की सुलभता से उपलब्धि नहीं होने के कारण श्रमण समुदाय वनों की कठिन जीवनचर्या से निराश होकर नगरों और जनपदों की ओर बढ़ रहा होगा, इसीलिए संभवतः शहरी जीवन से संबंधित मुनिचर्या की आचार-संहिता का निर्माण करना भद्रबाहु को आवश्यक अनुभूत हुआ। उन्होंने नगर में गृहस्थों के मकान आदि में रहने से संबंधित मुनिचर्या के अनेक विधि-विधान बनाए। उनके इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप इन छेदसूत्रों की रचना हुई। छेदसूत्रों की रचना के बाद भद्रबाहु स्वयं नेपाल की ओर चले गए। नेपाल की ओर जाते समय उनके साथ शिष्य समुदाय के होने का उल्लेख ग्रंथों में नहीं है। आर्य स्थूलभद्र ने यहीं पर आकर आचार्य भद्रबाहु से दृष्टिवाद आगम का अध्ययन किया। डॉ. हर्मन जेकोबी ने भद्रबाहु के नेपाल जाने की घटना का समर्थन किया है।

श्वेताम्बर परम्परा सम्मत ग्रंथों में भद्रबाहु के साथ किसी राजा का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर परम्परा सम्मत ग्रंथों में भद्रबाहु के साथ चंद्रगुप्त का उल्लेख है। रत्ननंदीकृत 'भद्रबाहु चरित्र' में चंद्रगुप्त के स्थान पर चंद्रगुप्ति का उल्लेख है।

"यो भद्रबाहु मुनिपुंगव पट्ट पद्य।
सूर्यः स वो दिशतु निर्मल संघ वृद्धिम् ॥"

(जैन सिद्धांत भास्कर, भाग-१, किरण ४, पृ. ५१)

श्रुतधर भद्रबाहु का व्यक्तित्व सूर्य के समान तेजस्वी था।

कल्पसूत्र में भद्रबाहु के गोदास आदि चार शिष्यों का, परिशिष्ट पर्व में विशिष्ट अभिग्रहधारी चार शिष्यों का, भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का, स्थूलभद्र को दृष्टिवाद-वाचना देने का एवं दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति में दशा, कल्प, व्यवहार इन तीन छेदसूत्रों की रचना का एवं पंचकल्पचूर्णि में निशीथ आगम के निर्यूहण का उल्लेख है। भद्रबाहु ने निशीथ का निर्यूहण नवमें पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु से किया था।

भद्रबाहु के गोदास शिष्य से संबंधित गोदास गण और गोदास गण की शाखाओं का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में मिलता है पर गोदास शिष्य का दीक्षा संस्कार भद्रबाहु के द्वारा होने का कहीं उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के विशिष्ट अभिग्रहधारी चारों ही शिष्यों का स्वर्गवास भद्रबाहु स्वामी के शासनकाल में हो जाने के बाद उनकी शिष्य परम्परा आगे नहीं बढ़ सकी। श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के बाद शिष्य-परम्परा का विस्तार श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र से हुआ है। आर्य स्थूलभद्र आचार्य संभूतविजय के शिष्य थे।

श्रुतधर भद्रबाहु के समय मगध पर नंदवंश का राज्य था। तित्थोगाली पइन्ना ग्रंथ में वी. नि. से ६० वर्ष तक पालक वंश का शासन और उसके बाद १५० वर्ष तक नंद वंश के शासन का उल्लेख है।[४४]

४४. पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणं।(६२१)
(तित्थोगाली पइन्ना)

साहित्य

आचार्य भद्रबाहु श्रुतधर एवं आगम रचनाकार थे। उन्होंने छेदसूत्रों की रचना की। आगम में छेद आगम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार शुद्धि के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्त संबंधी विधि-विधान मुख्यतः इन सूत्रों में वर्णित हैं। छेद नामक एक प्रायश्चित्त के आधार पर संभवतः इनका नाम छेदसूत्र हुआ है। दशाश्रुतस्कंध, वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ इन चार छेदसूत्रों की रचना आचार्य भद्रबाहु की मानी गई है। इनका परिचय इस प्रकार है

दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदशा) छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कन्ध प्रथम छेदसूत्र है। इसकी दस दशाएं (अध्ययन) हैं। अध्ययनों की संख्या दस होने के कारण इस सूत्र का नाम दशाश्रुतस्कन्ध है। मुनि की आचार-संहिता का वर्णन होने के कारण इसका नाम आचारदशा भी है। वर्तमान में उपलब्ध कल्पसूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध के पज्जोषणा नामक आठवें अध्ययन का ही विस्तार है। इस छेदसूत्र के प्रथम अध्ययन में २० असमाधि स्थानों का, द्वितीय अध्ययन में २१ प्रकार के सबल दोषों का, तृतीय अध्ययन में ३३ प्रकार की आशातनाओं का, चतुर्थ अध्ययन में ८ प्रकार की गणी संपदाओं का, पंचम अध्ययन में १० प्रकार के चित्तसमाधि स्थानों का, षष्ठ अध्ययन में ११ प्रकार की उपासक प्रतिमाओं का, सप्तम अध्ययन में १२ प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं का, अष्टम अध्ययन में पर्यूषण कल्प का, नवम अध्ययन में ३० मोहनीय स्थानों का तथा दसवें अध्ययन में विभिन्न प्रकार के निदान कर्मों का वर्णन है।

वृहत्कल्प छेदसूत्रों में इसका द्वितीय स्थान है। आचार्य भद्रबाहु की यह गद्यात्मक रचना है। इसके छह उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक के ५० सूत्र हैं, द्वितीय उद्देशक के २५ सूत्र हैं, तृतीय उद्देशक के ३१ सूत्र हैं, चतुर्थ उद्देशक के ३७ सूत्र हैं, पंचम उद्देशक के ४२ सूत्र हैं, षष्ठ उद्देशक के २० सूत्र हैं।

प्रथम उद्देशक में पावस-काल के अतिरिक्त एक गांव में रहने के लिए श्रमणों के मासकल्प और द्विमासकल्प की चर्चा है तथा श्रमणों को किस स्थान पर रहना चाहिए और श्रमणियों को किस स्थान पर रहना चाहिए इसका विस्तृत वर्णन है। इसी उद्देशक में श्रमण-धर्म का सार उपशम बताया गया है।

द्वितीय उद्देशक में मुख्यतः श्रमण-श्रमणियों के लिए पांच प्रकार के वस्त्र का एवं पांच प्रकार के रजोहरण का उल्लेख है।

तृतीय उद्देशक में भी साधु-साध्वियों के वस्त्र धारण करने संबंधी विविध विधि-विधान हैं तथा शय्यातर दान नहीं ग्रहण करने का बोध दिया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में गुरु-प्रायश्चित्त, पारांचित और अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के कारणों का उल्लेख है तथा क्लीव व्यक्ति को प्रव्रज्या के अयोग्य बताया गया है। कालातिक्रान्त और क्षेत्रातिक्रान्त आहार ग्रहण करने पर श्रमण लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। यह उल्लेख भी इसी उद्देशक में है।

पंचम उद्देशक में मुख्यतः आहार विषयक मुनिचर्या का बोध दिया गया है।

छठे उद्देशक में नाना प्रकार की प्रायश्चित्त विधियों का निर्देश है।

छह उद्देशकों के इस लघुकाय ग्रंथ में साध्वाचार की अनेक मर्यादाएं और विधान हैं। साध्वाचार की मर्यादाओं का नाम कल्प है। यह जैन का पारिभाषिक शब्द है अतः इस सूत्र का नाम कल्पसूत्र है।

व्यवहार-सूत्र यह तृतीय छेद सूत्र है। इसके दस उद्देशक हैं और लगभग ३०० सूत्र हैं। वृहत्कल्प की भांति यह सूत्र गद्यात्मक है। इसमें मुनि आचार संहिता का निरूपण है तथा साधु-साध्वियों के पारस्परिक व्यवहार की अनेक शिक्षाएं और विधान हैं। आचार-शुद्धि की दृष्टि से कई प्रकार के प्रायश्चित्त का उल्लेख है।

प्रायश्चित्त के विभिन्न प्रकारों को समझने के लिए इस सूत्र का पहला, दूसरा उद्देशक, आचार्य, उपाध्याय आदि की योग्यताओं को समझने के लिए, तृतीय उद्देशक आचार्य उपाध्याय की महत्ता को समझने के लिए, चतुर्थ उद्देशक प्रवर्त्तनी की महत्ता को समझने के लिए, पंचम उद्देशक आचार्य, उपाध्याय के विशेषाधिकार को समझने के लिए, षष्ठ उद्देशक आचार्य, उपाध्याय की आज्ञा का महत्त्व समझने के लिए, सप्तम उद्देशक स्थविरों के उपकरण विशेष का बोध करने, अष्टम उद्देशक द्वादश भिक्षु प्रतिमाओं को समझने के लिए, नवम उद्देशक आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इन पांच व्यवहारों का, तीन प्रकार के स्थविरों का, दीक्षा पर्याय के आधार पर आगम-वाचना ग्रहण करने के क्रम का एवं दशम उद्देशक वैयावृत्य (सेवाधर्म) के दस प्रकारों का ज्ञान करने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

व्यवहार पक्ष को उजागर करने वाला यह व्यवहार सूत्र श्रमण और श्रमणियों के लिए विशेष उपयोगी है।

निशीथ निशीथ छेदसूत्र है। छेदसूत्रों में इसका क्रम चौथा है। वृहत्कल्प और व्यवहार की भांति यह आचार्य भद्रबाहु की गद्य रचना है। ग्रंथ के २० उद्देशक हैं एवं सूत्र संख्या लगभग १५०० है। इसमें विशेष गोपनीय दोषों की चर्चा है, जो छद्मस्थता के कारण साधक के जीवन में संभव है। दोष-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। ग्रंथ में प्रायश्चित्त के चार प्रकार बताए हैं (१) गुरु-मास (मासगुरु) (२) लघुमास (मासलघु) (३) गुरु चातुर्मासिक (४) लघु चातुर्मासिक। प्रथम उद्देशक में गुरुमासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। द्वितीय उद्देशक से लेकर पांचवें उद्देशक तक लघुमासिक प्रायश्चित्त का, छठे से ग्यारहवें तक गुरु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का और आगे के उद्देशकों में लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। गुरु-मास प्रायश्चित्त में उपवास, लघुमास प्रायश्चित्त में एकासन आदि दिए जाते हैं।

एक साथ कई दोष-आचारण करने पर अथवा दोष विशुद्धि के लिए प्राप्त प्रायश्चित्त विधि का तप पूर्ण होने से पूर्व किसी अन्य दोष का सेवन कर लेने पर विशेष प्रकार की तप-विधि का उल्लेख है। एक समान दोष सेवन करने पर मायापूर्वक आलोचना करने वाले को अधिक और सरल हृदय से आलोचना करने वाले के लिए कम प्रायश्चित्त का विधान है। बड़ा दोष सेवन करने पर उत्कृष्टतः षण्मासिक प्रायश्चित्त का विधान आगमों में है।

निशीथ का अर्थ है अप्रकाश। प्रायश्चित्त विषयक बातें सबके समक्ष गोपनीय और अप्रकाशनीय हैं। इन गोपनीय बिन्दुओं का इस सूत्र में उल्लेख होने के कारण इस सूत्र का नाम निशीथ है। निशीथ और व्यवहार दोनों का विषय प्रायः समान है।

वैशिष्ट्य आचार्य भद्रबाहु संयम-सूर्य आचार्य संभूतविजय के सतीर्थ्य श्रमण थे। सकलागम पारगामी विद्वान् थे। दशाश्रुतस्कन्ध आदि छेदसूत्रों के रचयिता एवं महाप्राण ध्यान साधना के विशिष्ट साधक थे। वे अध्यात्म के सबल प्रतिनिधि थे। श्रुतधारा को अविरल और अखण्डित रूप में श्रुतधर आचार्य संभूतविजय से ग्रहण कर उसे सुरक्षित रखने वाले अंतिम श्रुतधर थे। उनका जीवन श्रुतसाधना, योगसाधना और साहित्य साधना का त्रिवेणी संगम था। उनसे जैन-दर्शन की महती प्रभावना हुई।

समय-संकेत

आचार्य भद्रबाहु ४५ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। उनका १७ वर्ष तक सामान्य अवस्था में साधु पर्याय पालन का एवं १४ वर्ष तक युगप्रधान पद वहन का काल विविध घटनाओं को अपने में समेटे हुए था। उनकी सर्वायु ७६ वर्ष की थी। बारह वर्ष तक उन्होंने महाप्राणध्यान की साधना की। उम्र के ६२वें वर्ष में वे आचार्य बने थे।

जिन शासन को सफल नेतृत्व एवं श्रुतसंपदा का अमूल्य अनुदान देकर श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु वीर निर्वाण १७० (वि. पू. ३००) में स्वर्ग को प्राप्त हुए।[४५] उन्हीं के साथ अर्थ वाचना की दृष्टि से श्रुतकेवली का विच्छेद हो गया।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार भद्रबाहु का आचार्य-काल २६ वर्ष का था।[४६]

आचार्य-काल
(वी. नि. १५६-१७०),
(वि. पू. ३१४-३००),
(ई. पू. ३७१-३५७)

---

४५. (क) "पंचचत्वारिंशत् ४५ गृहे, सप्तदश १७ व्रते, चतुर्दश १४ युगप्रधाने चेति सर्वायुः षट् सप्तति ७६ वर्षाणि पारिपाल्य श्रीवीरात् सप्तत्यधिकशत १७० वर्षे स्वर्गभाक्।"
(पट्टावली समुच्चय, पृष्ठ ४४)

(ख) वीरमोक्षाद्वर्षशते, सप्तत्यग्रे गते सति।
भद्रबाहुरिपस्वामी, ययौ स्वर्गं समाधिना ॥११२॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

४६. इग-सीण-वीस वासं गोयद्धन भद्दबाहु गुणतीसं। (५)
(नंदीसङ्घ..... प्राकृत पट्टावली)

८. तेजोमय नक्षत्र आचार्य स्थूलभद्र

कामविजेता आचार्य स्थूलभद्र को श्वेताम्बर परम्परा में अत्यन्त गौरवमय स्थान प्राप्त है। वे तीर्थङ्कर महावीर के आठवें पट्टधर थे। वे श्रुतधर परम्परा के शब्दतः अन्तिम श्रुतकेवली थे। दुष्काल के आघात से टूटती श्रुत शृंखला को सुरक्षित रखने का मुख्य श्रेय महास्थिर योगी आचार्य स्थूलभद्र की सुतीक्ष्ण प्रतिभा को है। आचार्य स्थूलभद्र के लिए श्वेताम्बर परम्परा का प्रसिद्ध श्लोक है

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमप्रभुः।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्या जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

मङ्गलकारक तीर्थङ्करदेव वीरप्रभु और गणधर इन्द्रभूति गौतम के बाद आचार्य स्थूलभद्र के नाम का स्मरण उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का सूचक है।

गुरु-परम्परा

आचार्य स्थूलभद्र के गुरु आचार्य संभूतविजय थे। संभूतविजय श्रुतधर आचार्य थे एवं आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु आचार्य संभूतविजय के गुरुबंधु थे। श्रमण स्थूलभद्र ने आचार्य संभूतविजय से एकादशांगी का गंभीर अध्ययन किया। द्वादशवर्षीय दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद दृष्टिवाद आगम का प्रशिक्षण श्रमण स्थूलभद्र को श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु से प्राप्त हुआ। जिन शासन के संचालन के दायित्व का भार भद्रबाहु के बाद उनके कंधों पर आया था अतः आर्य स्थूलभद्र आचार्य भद्रबाहु के उत्तराधिकारी थे एवं श्रुतधर आचार्य संभूतविजय के स्वहस्त दीक्षित शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य स्थूलभद्र ब्राह्मणपुत्र थे। उनका गौतम गोत्र था। उनका जन्म वी. नि. ११६ (वि. पू. ३५४, ई. पू. ४११) में पाटलिपुत्र में हुआ। पाटलिपुत्र मगध की राजधानी थी। स्थूलभद्र के पिता का नाम शकडाल एवं माता का नाम लक्ष्मी था। शकडाल की नौ संतानें थीं। स्थूलभद्र और श्रीयक दो पुत्र थे। यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा ये सात पुत्रियां थीं[1]।

जीवन-वृत्त

स्थूलभद्र के परिवार को राजसम्मान प्राप्त था। उनके पिता शकडाल की नियुक्ति नंद साम्राज्य में उच्चतम महामात्य पद पर थी।[2] उनकी मंत्रणा से राज्य का संचालन होता था। उनके कार्यकौशल पर प्रजा प्रसन्न थी। नंद साम्राज्य की कीर्तिलता मंत्री के बुद्धिबल पर दिग्दिगन्त में प्रसार पा रही थी एवं लक्ष्मी की आपार कृपा उस राज्य पर थी। लोकश्रुति के अनुसार नंद साम्राज्य में नौ स्वर्ण शैल थे। काशी, कौशल, अविन्त, वत्स, अंग आदि राज्य मगध के अन्तर्गत थे।

स्थूलभद्र की जननी लक्ष्मी यथार्थ में लक्ष्मी थी। धर्म-परायणा, सदाचार संपन्ना, शीलालङ्कारभूषिता नारीरत्न थी।

मेधावी पिता की संतान मेधा संपन्न हो इसमें आश्चर्य क्या? शकडाल की सभी संतानें बुद्धि-वैभव से संपन्न थीं। सातों पुत्रियों की तीव्रतम स्मरणशक्ति विस्मयकारक थी। प्रथम पुत्री एक बार में, दूसरी पुत्री

---

१. पुत्तो य थूलभद्दो, पढमो से बीयओ तहासिरियो।
रूववईओ धूयाओ, सत्त जक्खा पमुक्खाओ ॥२॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह भूयदिन्निया नाम।
सेणा, वेणा, रेणा, ताओ एयाओ अणुक्कमसो ॥३॥
(उपदेशमाला, पत्र २३४)

२. समुत्खातद्विषत्कन्दो नन्दो ऽभून्नवमो नृपः ॥३॥
शकटाल इति तस्य मन्त्र्यभूत्कल्पकान्वयः ॥४॥
(परि. पर्व. सर्ग ८)

दो बार में, क्रमशः सातवीं पुत्री सात बार में अश्रुत श्लोक शृंखला को सुनकर उसे कण्ठस्थ कर लेने में और ज्यों का त्यों तत्काल उसे दुहरा देने में समर्थ थीं।[3]

शकडाल का कनिष्ठ पुत्र श्रीयक भक्तिनिष्ठ था एवं सम्राट् नंद के लिए गोशीर्ष चंदन की तरह आनन्ददायी था।

स्थूलभद्र शकडाल का मेधा-संपन्न पुत्र था। उसे कामकला का प्रशिक्षण देने के लिए मंत्री शकडाल ने गणिका कोशा के पास प्रेषित किया।

उर्वशी के समान रूपश्री से सम्पन्न कोशा मगध की अनिन्द्य सुंदरी थी। पाटलिपुत्र की वह अनन्य शोभा थी। मगध का युवावर्ग, राजा, राजकुमार तक उसकी कृपा पाने के लिए लालायित रहते थे।[4] कामकला से सर्वथा अनभिज्ञ १८ वर्षीय नवयुवक स्थूलभद्र कोशा के द्वार पर पहुंचकर पुनः घर नहीं लौटा। उसका भावुक मन कोशा गणिका के अनुपम रूप पर पूर्णतः मुग्ध हो गया।

मंत्री शकडाल को स्थूलभद्र के जीवन से अनुभव मिला। उसने अपने पुत्र श्रीयक को वहां भेजने की भूल नहीं की। राजतंत्र का बोध देने हेतु अमात्य शकडाल उसे अपने साथ रखता एवं राज्य संचालन का प्रशिक्षण देता।

कार्यकुशल श्रीयक राजा नंद का अंगरक्षक बना। विनय आदि गुणों के कारण राजा को श्रीयक प्रिय लगने लगा।

मगध का विद्वान्, कवीश्वर, वैयाकरण-शिरोमणि, द्विजोत्तम, वररुचि नंद राज्य में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। वह प्रतिदिन राजा की प्रशंसा में स्वरचित १०८ श्लोक राजसभा में सुनाया करता, पर अमात्य शकडाल ने उसकी प्रशंसा में एक शब्द भी नहीं कहा। शकडाल मंत्री के द्वारा श्लोकों की प्रशंसा किए जाने पर ही नंद राजा के द्वारा उसे पुरस्कार प्राप्त हो सकता है इस बात को वररुचि ने अच्छी तरह जान लिया।

एक दिन वररुचि ने एक योजना सोची। वह शकडाल की पत्नी लक्ष्मी को अपनी कविताएं सुनाने लगा। लक्ष्मी विदुषी नारी थी। वह काव्य के मूल्य को पहचानती थी। विद्वान् वररुचि के श्लोकों को सुनकर लक्ष्मी प्रभावित हुई। एक दिन उसने वररुचि से कहा "ब्राह्मणपुत्र! मेरे योग्य कोई कार्य हो तो कहो।" विद्वान् वररुचि नम्र होकर मधुर स्वर में बोला "भगिनी! मंत्री शकडाल द्वारा मेरे श्लोकों की राजा के सामने प्रशंसा होनी चाहिए।" वररुचि इतना कहकर अपने घर पर चला गया।

मंत्री पत्नी ने एक दिन अवसर देखकर मंत्री से कहा "आप वररुचि के श्लोकों की राजा के सामने प्रशंसा अवश्य करें।" अमात्य की अपनी इच्छा नहीं थी, पर पत्नी के कथन पर उसने अपने विचारों को बदला। दूसरे ही दिन वररुचि जब नंद के सामने श्लोक बोल रहा था तभी शकडाल ने कहा "अहो सुभाषितम्"। शकडाल के द्वारा ये शब्द सुनकर नरेश नंद ने वररुचि की ओर कृपा दृष्टि से झांका। उसी दिन से विद्वान् वररुचि को १०८ श्लोकों के बदले १०८ स्वर्ण मुद्राओं का पुरस्कार प्रतिदिन सुलभता से मिलने लगा। अपनी योजना की सफलता पर वररुचि अत्यन्त प्रसन्न था।

प्रतिदिन १०८ दीनारों (स्वर्ण मुद्रा) का राजा नंद के द्वारा दिया जाने वाला यह पुरस्कार महामात्य शकडाल के लिए चिंता का विषय बन गया।

राजतंत्र का संचालन अर्थ से होता है अतः राजनैतिक धुरा के संवाहक मंत्री को अर्थ की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अर्थकोष को उपेक्षित कर कोई भी राज्य सशक्त नहीं बन सकता। मेधावी मंत्री

---

३. इग-दुग-तिगाइपरिवाडिपायडंताणमावडइ कमसो।
सक्कयसिलोगगाहा, सयाइ, मेहापहाणाण ॥४॥
(उपदेशमाला, पत्र २३४)

४. पूरे ऽभूत्तत्र कोशेति वेश्या रूपश्रियोर्वशी।
वशीकृतजगच्चेता बभूव जीवनौषधिः ॥८॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

शकडाल अपने कार्य में पूर्ण सावधान एवं सजग था।

अत्यक्खयं पलोइय, भणियमच्चेण देव! किमिमस्स।
दिज्जइ बज्जरइ निवो, सच्चाविओ जं तए एसो ॥१३॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३५)

अर्थ-व्यय पर विचार-विमर्श करते हुए एक दिन महामात्य ने राजा से निवेदन किया "पृथ्वी-नायक! वररुचि को १०८ दीनारों का यह पुरस्कार प्रतिदिन किस प्रयोजन से दिया जा रहा है?" राजा नंद का उत्तर था "महामात्य! तुम्हारे द्वारा प्रशंसित होने पर वररुचि को यह दान दिया गया है। हमारी ओर से ही देना होता तो हम पहले इसे प्रारम्भ कर देते।"

शकडाल नम्र होकर बोला "भूपते! यह आपकी कृपा है, मुझे सम्मान प्रदान किया पर मैंने श्लोकों की प्रशंसा की थी, वररुचि के वैदुष्य की नहीं। वररुचि जिन श्लोकों को बोल रहा है वह उसकी अपनी रचना नहीं है।"

नंद ने कहा "मंत्रीश्वर! यह कैसे हो सकता है?"

अपने कथन की भूमिका को सुदृढ़ करते हुए मंत्री बोला "वररुचि द्वारा उच्चारित श्लोकों को आप मेरी सातों पुत्रियों द्वारा तत्काल सुन सकते हैं।"

मंत्री ने आगे कहा "राजन्! आपका आदेश मिलने पर मैं इसे आपके सामने प्रमाणित कर सकता हूं।"

राजा को मंत्री की बात पर विस्मय हुआ।

दूसरे दिन मंत्री ने राजा के परिपार्श्व में कनात के पीछे अपनी सातों लड़कियों के बैठने की व्यवस्था कर दी। पण्डित वररुचि हमेशा की भांति राजसभा में उपस्थित हुआ और उसने १०८ श्लोक बोले। वे श्लोक यक्षा ने एक बार सुनकर क्रमशः वेणा ने छह बार और रेणा ने सात बार सुनकर ज्यों-के-त्यों दुहरा दिए। मंत्री शकडाल को अपने कार्य में सफलता मिली।

महामात्य की योजना ने राजा नंद की दृष्टि में वररुचि का महत्त्व क्षीण कर दिया। विद्वान् वररुचि राजा का कोपभाजन बना तथा उसी दिन से उसे १०८ दीनारों का पुरस्कार उसे मिलना बंद हो गया। वररुचि का यह अपमान महामात्य के लिए संघर्ष को आमंत्रण था।

वररुचि के हृदय में महामात्य शकडाल के प्रति प्रतिशोध की भावना अंकुरित हुई। जनसमूह पर पुनः प्रभाव स्थापित करने के लिए मायापूर्वक वररुचि गङ्गा से अर्थराशि प्राप्त करने लगा। प्रातःकाल कटिपर्यंत जल में स्थित विद्वान् वररुचि के द्वारा गङ्गा का स्तुति पाठ होता और उसी समय बड़ी भीड़ के सामने गङ्गा की धारा से एक हाथ ऊपर उठता और १०८ स्वर्ण-मुद्राओं की थैली वररुचि को प्रदान करता। यह सारा प्रपंच वररुचि द्वारा रात्रि के समय सुनियोजित होता था।

निशा के समय वह गङ्गाजल में यंत्र को स्थापित कर देता था उसके साथ एक सौ आठ स्वर्ण-मुद्राओं की एक थैली रख देता। प्रातः कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर जनसमूह के सामने गङ्गा की प्रशंसा में वररुचि स्तुति पाठ करता और पैर से यंत्र को दबाता। दबाव के साथ यंत्र के द्वारा स्वर्ण-मुद्राओं की वह थैली ऊपर की ओर आ जाती तथा वररुचि के हाथ तक पहुंच जाती थी। पैर का दबाव वररुचि के द्वारा शिथिल कर दिए जाने पर यंत्र का भाग नीचे पानी में अदृश्य हो जाता था। वररुचि पर गङ्गा की यह कृपा जनता की दृष्टि में विस्मयकारक थी। नगर-भर में इस अपूर्व दान की चर्चा प्रारम्भ हुई और एक दिन यह चर्चा कर्णानुकर्ण परम्परा से राजा नंद के कानों तक पहुंची। मंत्रणा के समय राजा नंद ने शकडाल से कहा "अमात्य! वररुचि को भागीरथी प्रसन्न होकर एक सौ आठ स्वर्ण-मुद्राओं का दान कर रही है। घटना की यथार्थता से अवगत होने के लिए मेरी भी इसे कल प्रातः देखने की इच्छा है।"

सचिव ने झुककर वसुधानाथ के आदेश को समादृत किया। नगर में गङ्गा-तट पर नरेश नंद के पदार्पण की घोषणा हो गई।

अमात्य शकडाल रहस्यमयी घटना की पृष्ठभूमि को सम्यक् प्रकार से जानना चाहता था। रात्रि के समय मंत्री का निर्देश प्राप्त कर चतुर गुप्तचर गङ्गातट पर पहुंचा। पेड़-पौधों के झुरमुट में पक्षी की भांति अंगों को संकुचित कर बैठ गया। उसने वररुचि के क्रियाकलाप को देखा। निशा के नीरव वातावरण में निःशब्द गति से

चलता हुआ वररुचि गङ्गातट पर आया और जल के अन्दर में कोई वस्तु रखकर चला गया। वररुचि के लौटने के बाद गुप्तचर ने जल में घुसकर वृत्तान्त की पूर्ण जानकारी प्राप्त की तथा यंत्र के मध्य में स्वल्प समय पहले वररुचि द्वारा स्थापित एक सौ आठ दीनारों को लेकर अमात्य शकडाल के पास पहुंचा। उसने वररुचि की रहस्यमयी घटना का सारा भेद उद्घाटित किया।

दूसरे दिन प्रातः राजपरिवार सहित राजा नंद गङ्गातट पर उपस्थित हुआ। सहस्रों नागरिकजन उस विस्मयकारक दृश्य को देखने के लिए उत्सुक थे। वररुचि ने अत्यन्त उल्लास के साथ गंगा जल के मध्य खड़े होकर मंदाकिनी की स्तवना की। चरणद्वय से यंत्र को दबाया। गंगा की धारा से एक हाथ ऊपर उठा और नीचे गिर गया। उससे एक भी दीनार वररुचि को नहीं मिली। इस घटना से वह अत्यन्त लज्जित हुआ।

शकडाल अमात्य आगे आकर बोला "ब्राह्मणपुत्र! यह रही तुम्हारी एक सौ आठ दीनारों की धनराशि, जिसे तुमने विभावरी के समय स्वयं यंत्र के साथ गंगा में स्थापित किया था। दुनिया की आंखों में कुछ समय के लिए धूल झोंकी जा सकती है, सदा के लिए नहीं।"

गंगादान का प्रच्छन्न भेद खुलते ही नागरिकों में विद्वान् वररुचि का घोर अपवाद प्रारम्भ हो गया। जितना उसने इस घटनाचक्र में यश संचित किया था उससे अधिक उसका अपयश प्रसारित हो रहा था। उसे लगा, जैसे उसे अपकीर्ति का नाग डस रहा है।

शकडाल अमात्य द्वारा वररुचि दूसरी बार बुरी तरह से पराजित हुआ। इससे वररुचि के हृदय में प्रतिशोध की आग शतगुणित होकर भभकी। नन्हा-सा छिद्र पूरी नौका को डुबो सकता है। छोटा शत्रु भी विनाश का कारण बन जाता है। वररुचि शकडाल के विनाश का उपाय खोजने लगा।

मंत्री शकडाल, पुत्र श्रीयक के विवाहोपलक्ष पर राजकीय सामग्री से अपने प्रांगण में राजा नंद का विशेष सम्मान करना चाहता था अतः छत्र-चामर आदि राजसम्मानार्ह अलंकारों का निर्माण प्रच्छन्न रूप में मंत्री शकडाल द्वारा करवाया जा रहा था। शुभभावना से किया गया मंत्री शकडाल का यह प्रयत्न वररुचि की भावना को साकार करने में प्रबल निमित्त बना। शकडाल की दासी के योग से विद्वान् वररुचि को अमात्य के गृह पर राज सम्मानार्ह निर्मित सामग्री के भेद का पता लग गया।

उसने सोचा, महामात्य शकडाल के मुख पर कालिख पोतकर बदला लेने का यह अच्छा अवसर है। बालकों को मोदक देकर वररुचि ने उन्हें उत्साहित किया वे चतुष्पथों, त्रिपथों तथा चच्चर मार्गों पर निम्नोक्त श्लोक का उच्चघोष से बार-बार उच्चारण करें

एदु लोउ न वियाणाइ जं शयडालु करे सइ।
नंदु राउ मारेविणु, सिरिओ रज्जि ठवेसइ ॥३२॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २३६)

शकडाल जो काम कर रहा है उसे लोक नहीं जानते। वह राजा नंद को मारकर शकडाल श्रीयक को राजसिंहासन पर आसीन करेगा।

वररुचि द्वारा सिखाया गया यह श्लोक बालकों ने कण्ठस्थ कर लिया। अन्नदान किसी के मुख को बंद कर सकता है और खोल भी सकता है। बालक दल बनाकर चौराहों, राजपथों, सार्वजनिक स्थलों एवं गलियों में घूमते एवं वररुचि द्वारा सिखाए गए श्लोक को बोलते थे। पुनः-पुनः उच्चारण किए जाने पर यह श्लोक महिलाओं को भी कण्ठस्थ हो गया। घर-घर में एक ही चर्चा सुनाई देने लगी।

कई बार कही गई मिथ्या बात भी सत्य प्रतीत होने लगती है। यही इस घटनाचक्र में हुआ। बालकों एवं महिलाओं के मुख से उठती ध्वनियां नंद के कानों तक पहुंचीं। विचारों में मंथन चला। मगधेश्वर ने सोचा, राजभक्तिनिष्ठ अमात्य शकडाल कभी ऐसा नहीं कर सकता।

क्षणान्तर के बाद राजा नंद के विचारों ने मोड़ लिया। उन्होंने मन-ही-मन सोचा हर व्यक्ति के अव्यक्त मन रूपी महासागर में दुर्बलताओं के कई रूप दबे रहते

हैं। अहं और माया की मरीचिका किसी भी क्षण अपना रूप दिखाकर मानव-मन को भ्रांत बना सकती है। अमात्य हो या राजकुमार किसी का अत्यधिक विश्वास राजनीति की भूल है।

राजा नंद के विचारों में कई उतार-चढाव आए। मगधेश्वर की अन्तश्चेतना के दर्पण में अमात्य का विश्वासघाती रूप एक बार भी प्रतिबिम्बित नहीं हुआ। बुद्धि उन्हें बार-बार प्रेरित कर रही थी वह एक बार इस विषय की विश्वस्त जानकारी प्राप्त करे। स्वच्छ अन्तश्चेतना और जटिल तर्क पाशबद्ध मेधा के संघर्ष में बुद्धि की विजय हुई। राजा नंद द्वारा निर्देश पाकर गुप्तचर अमात्य के घर पहुंचा एवं अपने लक्षित भेद की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लौटा और उसने राजा नंद के सामने आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया।

महामात्य के लिए मौत की घंटी बजने लगी। जिस मंत्री को राजा का पूर्ण विश्वास प्राप्त था, उसी मंत्री का रूप राजा की आंखों में संदेहास्पद बन गया। शकडाल सच्चाई के पथ पर होते हुए भी उसके लिए वातावरण का उल्टा चक्र घूमना प्रारम्भ हुआ। वर्षों से संचित यश सूर्य को कालिमा का राहु ग्रसने का प्रयास कर रहा था। मंत्री के घर पर प्राप्त राजसम्मानार्ह सामग्री ने नंद के हृदय को पूर्णतः बदल दिया। कवि की यह अनुभूतिपूर्ण वाणी सत्य प्रमाणित हुई

राजा योगी अगन-जल इनकी उलटी रीत।
डरते रहियो परशराम-ए थोड़ी पाले प्रीत॥

बलिदान हो जाने वाले अमात्य के प्रति भी राजा का विश्वास डोल गया। चिन्तन के हर बिन्दु पर अमात्य का कुटिल रूप उभर-उभर कर राजा नंद के सामने आ रहा था।

प्रातःकालीन क्रियाकलाप से निवृत्त होकर शकडाल राजसभा में पहुंचा। नमस्कार करते समय राजा की मुखमुद्रा को देखकर महामात्य चिंता के महासागर में डूब गया। वह जानता था, राज-प्रकोप की परिणति कितनी भयंकर होती है। समग्रता से अपने परिवार के भावी विनाश का भीषण रूप उसकी आंखों में तैरने लगा। अपकीर्ति से बचने और परिवार को विनाशलीला से बचा लेने के लिए अपने प्राणोत्सर्ग के अतिरिक्त कोई मार्ग अमात्य की कल्पनाओं में नहीं था। उसने अपने घर आकर श्रीयक से कहा "पुत्र! अपने परिवार के लिए किसी पिशुन के प्रयत्न ने संकट की घड़ी उपस्थित कर दी है। हम सबको मौत के घाट उतार देने का राजकीय आदेश किसी भी क्षण प्राप्त हो सकता है। परिवार की सुरक्षा और यश को निष्कलंक रखने के लिए मेरे जीवन का बलिदान आवश्यक है। यह कार्य पुत्र, तुम्हें करना होगा, अतः मैं जिस समय राजा के चरणों में नमस्कार हेतु झुकूं उस समय निश्शंक होकर, अंगज! तीव्र असिधारा से मेरा प्राणान्त कर देना। इस समय पितृ-प्राणों का व्यामोह अदूरदर्शिता का परिणाम होगा।"

पिता की बात सुनकर श्रीयक स्तब्ध रह गया। दो क्षण रुककर बोला "तात! पितृ-हत्या का यह अधन्य कार्य मेरे द्वारा कैसे संभव हो सकता है?"

सयडालेणं भणियं, तालउडे भक्खियंमि मयि पुत्तं।
निवपायपडण काले, मरिज्जसु तं गयासंको॥

(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ. २३६)

पुत्र की दुर्बलता का समाधान करते हुए शकडाल ने कहा "वत्स! मैं नमन करते समय मुख में तालपुट विष स्थापित कर लूंगा, अतः तुम पितृ-हत्या दोष के भागीदार नहीं बनोगे।"

राजभय से आतंकित पिता के सामने श्रीयक को यह कठोर आदेश अन्यमनस्क भाव से स्वीकार करना पड़ा।

पिता-पुत्र दोनों राजसभा में उपस्थित हुए। राजनीति कुशल शकडाल नतमस्तक मुद्रा में राजा नंद को प्रणाम करने झुका। बुद्धिमान श्रीयक ने पिता के नमन करने योग्य शीर्ष को शस्त्र-प्रहार द्वारा धड़ से अलग कर दिया।

इस घटना ने एक क्षण में राजा नंद के विचारों में उथल-पुथल मचा दी। श्रीयक की ओर रक्ताभ नयनों से देखते हुए राजा नंद ने कहा "वत्स! यह क्या किया?" श्रीयक निर्भीक स्वर में बोला

जो तुम्हं पडिकूलो, तेणं पिउणा वि नत्थि मे कज्जं ॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पृ. २३६)

राजन्! आपकी दृष्टि में जो राजद्रोही सिद्ध हो जाता है वह पिता ही क्यों न हो, नंद का अमात्य परिवार उसे सहन नहीं कर सकता। महामात्य शकडाल की भी यही शिक्षा हमें मिलती रही है।

श्रीयक की राजपरिवार के प्रति यह आस्था देखकर राजा नंद के सामने महामात्य शकडाल की अटूट राजभक्ति का चित्र उभर आया। राज्य में की गई उसकी सेवाएं सजीव होने लगीं। अतीत को वर्तमान में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। सुदक्ष अमात्य को खो दिया इससे राजा का मन भारी था। महामात्य शकडाल का राजसम्मान के साथ दाह-संस्कार हुआ।

महामंत्री शकडाल की और्ध्वदैहिक क्रिया संपन्न करने के बाद नरेश्वर नंद ने श्रीयक से कहा "वत्स! सर्व व्यापार सहित मंत्री मुद्रा को ग्रहण करो।"

श्रीयक नम्र होकर बोला "मगधेश! मेरे पितृ तुल्य ज्येष्ठ भ्राता स्थूलभद्र कोशा गणिका के यहां निवास कर रहे हैं। भोगों को भोगते हुए उन्हें वहां बारह वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।[५] वे ही वास्तव में इस पद के योग्य हैं।"

राजा नंद का निमंत्रण स्थूलभद्र के पास पहुंचा। राजाज्ञा प्राप्त स्थूलभद्र ने बारह वर्ष बाद पहली बार कोशा के प्रासाद से बाहर पैर रखा। वे मस्त चाल से चलते हुए राजा नंद के सामने उपस्थित हुए। उनका तेजोदीप्त भाल सूर्य के प्रकाश को प्रतिहत कर रहा था। उनकी मनोरम मुद्रा सबकी दृष्टि को अपनी ओर खींच रही थी। राजा नंद द्वारा महामात्य पद को अलंकृत करने का उन्हें निर्देश मिला। यह गौरवपूर्ण पद कांटों का मुकुट होता है। विवेकसंपन्न स्थूलभद्र ने साम्राज्य के व्यामोह में विमूढ़ होकर बिना सोचे-समझे इस पद को स्वीकृत करने की भूल नहीं की। वे राजा के निर्देश पर विमर्श करने के लिए अशोक वाटिका में चले गए। वृक्ष के नीचे बैठकर चिंतन के महासागर में गहरी डुबकियां लेने लगे। सोचा "उच्च पद पर प्रतिष्ठित एवं राज्य का स्वयं संचालन करता हुआ राजपुरुष राजा के द्वारा अनुशासित होता है। परानुशासित व्यक्ति को सुखानुभूति कहां? सर्वतो भावेन राज्य में समर्पित होने पर भी छिद्रान्वेषी पिशुन लोग उसके मार्ग में उपद्रव करने को तत्पर रहते हैं।[६]

स्थूलभद्र की आंखों के सामने अतीत का चित्र घूमने लगा। श्रीयक के विवाहोत्सव में राजा नंद के सम्मान हेतु निर्मित राजमुकुट, छत्र, चामर, विविध शस्त्र आदि की सूचना पाकर दम्भी वररुचि द्वारा रचा गया षड्यंत्र नरेश नंद के हृदय में महामंत्री शकडाल पर राज्य को छीन लेने का संदेह, राजा के भ्रूविक्षेप में झांकता समग्र मंत्री-परिवार को लील लेने वाला विनाशकारी रूप, लघु भ्राता श्रीयक द्वारा नंद के सामने उनके विश्वासी मंत्री की हत्या आदि विविध प्रसंगों की स्मृति से स्थूलभद्र कांप गए। वे विरक्त हुए। संयम पथ अंगीकार करने का निर्णय लेकर लुंचित मस्तक साधुमुद्रा में स्थूलभद्र राजा नंद की सभा में पहुंचे। स्थूलभद्र के विचारों को समझ कर जनता अवाक् रह गयी। श्रीयक ने भी निर्णय को बदलने के लिए उनसे अनुरोध किया पर स्थूलभद्र अपने संकल्प पर दृढ़ थे। वे धीर-गंभीर परिजनों के मोह से विमुख बन अज्ञात दिशा की ओर चले गये। कहीं हमें धोखा देकर गणिका कोशा के भवन में पुनः नहीं पहुंच रहा है, यह सोचकर मगध नरेश प्रासाद के गवाक्ष से आर्य स्थूलभद्र के बढ़ते चरणों पर दृष्टि टिकाए रहे। वृक्षों की पंक्ति के बीच से निर्जन वन की ओर स्थूलभद्र के गमन को देखकर उन्हें अपने चिंतन के प्रति अनुताप हुआ। नागरिकों को कई दिनों तक स्थूलभद्र की स्मृति

---

५. तेणं भणियं भाया, जेट्ठो मे थूलभद्दनामोत्ति।
बारसमं से वरिसं, वेसाए गिहे वसंतस्स ॥४॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक २३६)

६. त्यक्त्वा सर्वमपि स्वार्थं, राजार्थं कुर्वतामपि।
उपद्रवन्ति पिशुना उद्बद्धानामिव द्विजाः ॥७४॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

सताती रही।

अमात्य पद का दायित्व श्रीयक के कंधों पर आया। मगध नरेश जो सम्मान अनुभवी राजनीति कुशल, विश्वासपात्र, राजभक्त, प्रजावत्सल आमात्य शकडाल को प्रदान करता था, वही सम्मान श्रीयक को देने लगा।

महामात्य पद के लिए श्रीयक जैसे समर्थ व्यक्ति की उपलब्धि से राज्य में पुनः चार चांद लग गए, पर महामात्य शकडाल के अभाव में राजा नंद के हृदय में अत्यन्त दुःख था। एक दिन शोकसंतप्त मुद्रा में मगध नरेश ने श्रीयक के सामने सभा में मंत्री के गुणों का स्मरण करते हुए कहा

भक्तिमाञ्शक्तिमान्नित्यं शकटालो महामतिः।
अभवन्मे महामात्यः शक्रस्येव बृहस्पतिः ॥९८॥
एवमेव विपन्नौ ऽसौ दैवादद्य करोमि किम्?
मन्ये शून्यमिवाऽऽस्थानमहं तेन विनाऽऽत्मनः ॥९९॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

"भक्तिमान, शक्तिमान, महामति, महामात्य शकडाल शक्र के सामने वृहस्पति की भांति प्रतीत होता था। दैवयोग से वह चला गया, क्या करूं? उसके बिना मुझे रिक्तता का अनुभव हो रहा है।"

राजा नंद के इन शब्दों ने एक बार सभी सभासदों को मोह-विह्वल कर दिया।

गुणसंपन्न, नररत्न स्थूलभद्र की विरह-व्यथा से आर्त्त कोशा भी उदास रहने लगी। वह कभी-कभी फूट-फूटकर रोती एवं क्रन्दन करती।

अमात्य श्रीयक राजकार्य में व्यस्त होते हुए भी गणिका कोशा के पास धैर्य प्रदान करने के लिए जाया करता था। गणिका मंत्री श्रीयक से सात्विक बोध प्राप्त कर आश्वस्त हुई।

वररुचि की कपटपूर्ण नीति सबके सामने स्पष्ट थी। शकडाल की मृत्यु के बाद वररुचि स्वच्छन्द विहारी होकर पुनः अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगा। उपकोशा के भवन में उसका निर्विघ्न आवागमन प्रारम्भ हो गया। बुरे कार्य की परिणति अन्ततः अकल्याणकर होती है। सुरापान के कारण वररुचि का दुःखद प्राणान्त हुआ।

अनुभवी मंत्री की भांति राज्यकार्य में व्यस्त अमात्य श्रीयक अपने कार्यकौशल से साक्षात् शकडाल की भांति प्रतीत होने लगा।

संसार से विरक्त अमात्य-पुत्र स्थूलभद्र के गतिशील चरण बढ़ते गए। आचार्य संभूतविजय के पास पहुंचकर स्थूलभद्र ने वी. नि. १४६ (वि. पू. ३२४, ई. पू. ३८१) को दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में स्थूलभद्र सबके वन्दनीय बन गए। उस समय उनकी आयु तीस वर्ष की थी। आचार्य संभूतविजय की श्रमण मण्डली में स्थूलभद्र विनयवान्, गुणवान्, बुद्धिमान् श्रमण थे। उन्होंने संभूतविजय से आगम साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और मुनिचर्या का प्रशिक्षण लिया। धैर्य, स्थैर्य, क्षमा, शान्ति, समतादि गुणों का विकास कर वे आचार्य संभूतविजय के अनन्य विश्वासपात्र बने।

एक दिन विनयवान्-गुणवान् मुनि स्थूलभद्र ने पूर्व परिचिता कोशा गणिका के भवन में पावस बिताने की इच्छा गुरु के समक्ष प्रकट की। आचार्य संभूतविजय ने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दी। मुनि अपने संकल्पित लक्ष्य की ओर चल पड़े। स्थूलभद्र कोशा की उसी चित्रशाला में पहुंचे, जहां वे पहले बारह वर्ष रह चुके थे।

स्थूलभद्र के आगमन से कोशा पुलक उठी। चित्रशाला का बुझा दीप जल गया। वीणा तंत्री पर कामोत्तेजक स्वर-लहरियां थिरकने लगीं। कोयल ने पंचम स्वर में गाया। उपवन महका। पक्षी चहके। नर्तिकाएं घुंघरु बांध कर नाचीं। उस मधुर ध्वनि के साथ सारी चित्रशाला गूंज उठी।

कोशा ने स्थूलभद्र का अभिनन्दन किया। स्थूलभद्र ने कोशा से चित्रशाला में चतुर्मास बिताने के लिए अनुमति मांगी। कोशा बोली "प्राणदेव! आज आपके पधारने से मैं धन्य हो गई हूं। यह चित्रशाला आपकी है। आप इसमें सहर्ष चतुर्मास करें।"

गणिका कोशा की अनुमति से मुनि स्थूलभद्र का चित्रशाला में चतुर्मास प्रारम्भ हुआ। कामस्थल धर्मस्थल

बन गया।

कोशा स्थूलभद्र के लिए प्रतिदिन षट्रसयुक्त भोजन तैयार करती, बहुमूल्य आभूषणों से विभूषित होकर उनके सामने उपस्थित होती। विविध भाव-भङ्गिमाओं के साथ नृत्य करती। पूर्वभोगों की स्मृति कराती और यथासंभव उपाय से उन्हें मुग्ध करने का प्रयत्न करती।

स्थूलभद्र अपने व्रतों में हिमालय की भांति अचल थे। उनके भीतर ब्रह्मचर्य का तेज चमक रहा था। कोशा के कामबाण विफल हो गए। वह स्थूलभद्र की संयम साधना के सामने झुकी और एक दिन नतमस्तक होकर कहने लगी "मुने! मुझे धिक्कार है मैंने आपको व्रत से विचलित करने के लिए जो प्रयत्न किए हैं, उनके लिए आप क्षमा करें।"

स्थूलभद्र मुनि ने कोशा को धर्मोपदेश दिया। अध्यात्म का मर्म समझाया। कोशा जीवन-विज्ञान के रहस्य को समझकर व्रतधारिणी श्राविका बनी और विकल्प के साथ जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया।

पावस सानन्द संपन्न हुआ। स्थूलभद्र कसौटी पर खरे उतरे। नवनीत आग पर चढ़कर भी नहीं पिघला। काजल की कोठरी में रहकर भी अतुल मनोबली मुनि स्थूलभद्र बेदाग रहे। वे आचार्य संभूतविजय के पास लौट आए।

आचार्य सात-आठ पैर स्थूलभद्र के सामने चलकर आए। 'दुष्कर-महादुष्कर क्रिया के साधक' का संबोधन देकर काम विजेता स्थूलभद्र का सम्मान किया।[७]

आचार्य संभूतविजय के बाद उस युग का महत्त्वपूर्ण कार्य आगम वाचना का था। द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो रही थी उसे संकलित करने के लिए पाटलिपुत्र में महाश्रमण-सम्मेलन हुआ। इस आयोजन के व्यवस्थापक स्थूलभद्र थे। ग्यारह अङ्गों का सम्यक् संकलन हुआ।[८] आगम ज्ञान का विशाल भण्डार 'दृष्टिवाद' किसी को याद नहीं था। दृष्टिवाद की अनुपलब्धि ने सबको चिंतित कर दिया। आचार्य स्थूलभद्र में असाधारण क्षमता थी। ज्ञानसागर की इस महान् क्षतिपूर्ति के लिए संघ के निर्णयानुसार वे नेपाल में भद्रबाहु के पास विद्यार्थी बनकर रहे एवं उनसे समग्र चतुर्दशपूर्व की ज्ञान राशि को अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण कर उन्होंने श्रुतसागर से टूटती दृष्टिवाद की सुविशाल धारा को संरक्षण दिया। वे अर्थ-वाचना दस पूर्व तक ही उनसे ले पाए थे। अन्तिम चार पूर्व की उन्हें केवल पाठ-वाचना मिली। वीर निर्वाण के १६० वर्ष के आस-पास यह सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण वाचना संपन्न हुई।

भद्रबाहु के बाद वी. नि. १७० (वि. पू. ३००) में स्थूलभद्र ने आचार्य पद का नेतृत्व संभाला। उनसे विविध रूपों में जैन शासन की प्रभावना हुई। आचार्य पद ग्रहण के समय उनकी आयु ५४ वर्ष की थी।

करुणास्रोत, पतितोद्धारक, परोपकार-परायण आचार्य स्थूलभद्र का पदार्पण एक बार श्रावस्ती नगरी में हुआ। इसी नगरी में उनका बाल सखा, घनिष्ठ मित्र धनदेव श्रेष्ठी सपरिवार निवास करता था। जन-जन हितैषी आचार्य स्थूलभद्र का प्रवचन सुनने विशाल संख्या में मानव-समुदाय उपस्थित था। इस भीड़ में बचपन के साथी श्रेष्ठी धनदेव की सौम्य आकृति कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रही थी। उनकी अन्यत्र गमन की अथवा रुग्ण होने की परिकल्पना आचार्य स्थूलभद्र के मस्तिष्क में उभरी। उन्होंने सोचा संकट की स्थिति में श्रेष्ठी धनदेव अवश्य अनुग्रहणीय हैं। अध्यात्म-उद्बोध देने के निमित्त प्रवचनोपरांत आचार्य स्थूलभद्र विशाल संघ के साथ श्रेष्ठी धनदेव के घर पहुंचे। महान् आचार्य

---

७. स्थूलभद्रमथाचान्तमभ्युत्थायाब्रवीद गुरुः।
दुष्करदुष्करकारिन्महात्मन्! स्वागतं तव ॥१३६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

८. अह बारसवारिसिओ, जाओ कूरो कयाइ दुक्कालो।
सव्वो साहुसमूहो, तओ गओ कत्थई कोई ॥२२॥
तदुवरमे सो पुणरवि, पाउत्ति पुत्ते समागओ विहिया।
संघेण मुपविसया चिंता किं कस्स अत्थित्ति ॥२३॥
जं जस्स आसि पासे उद्देसज्झयणगाइ तं सव्वं।
संघडियं एक्कारसंगाइं तहेव ठवियाइं ॥२४॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक, २४९)

के पदार्पण से धनदेव की पत्नी परम प्रसन्न हुई। उसने भूतल पर मस्तक टिकाकर वंदन किया। महती कृपा कर अध्यात्मानुकंपी आचार्य स्थूलभद्र मित्र के घर पर बैठे एवं मित्र की पत्नी से धनदेव के विषय में पूछा। खिन्नमना होकर वह बोली "आर्यश्रेष्ठ! दुर्भाग्य से घर की संपत्ति नष्ट प्रायः हो गयी है। अर्थहीन व्यक्ति संसार में तृण के समान लघु एवं मूल्यहीन होता है। इस संसार में शरीर नहीं पूजा जाता अर्थ पूजा जाता है।[९] "विदेशो व्यवसायिनाम्" व्यवसाय के लिए विदेश ही आश्रय है। अर्थाभाव में अत्यन्त दयनीय स्थिति को प्राप्त पतिदेव धनोपार्जन हेतु देशान्तर गए हैं।"

श्रेष्ठी धनदेव के आंगन में स्तम्भ के नीचे विपुलनिधि थी। धनदेव इससे सर्वथा अनजान था। आचार्य स्थूलभद्र ने ज्ञान से इसे जाना एवं मित्र की पत्नी से बात करते समय उनकी दृष्टि उसी स्तम्भ पर केन्द्रित हो गयी। हाथ के संकेत भी स्तम्भ की ओर थे। आचार्य स्थूलभद्र ने कहा "बहिन! संसार का विचित्र स्वरूप है। एक दिन धनदेव बड़ा व्यापारी था। आज स्थिति सर्वथा बदल चुकी है पर चिंता मत करो, भौतिक सुख-दुःख चिरस्थायी नहीं होते।" आचार्य स्थूलभद्र के उपदेश-निर्झर के शीतल कणों से मित्र-पत्नी के आधि-व्याधि, ताप-तप्त अधीर मानस को अनुपम शांति प्राप्त हुई।

कुछ दिनो के बाद श्रेष्ठी धनदेव पूर्व जैसी ही दयनीय स्थिति में घर आया। उसकी पत्नी ने आचार्य स्थूलभद्र के पदार्पण से लेकर सारी घटना सुनाई। उसने यह भी बताया कि उपदेश देते समय आचार्य स्थूलभद्र स्तम्भ के अभिमुख बैठे थे। उनका हस्ताभिनय भी इसी स्तम्भ की ओर था।

बुद्धिमान श्रेष्ठी धनदेव ने सोचा महान् पुरुषों की हर प्रवृत्ति रहस्यमयी होती है। उसने स्तम्भ के नीचे से धरा को खोदा। उसे विपुल संपत्ति की प्राप्ति हुई। आचार्य स्थूलभद्र इस समय तक पाटलिपुत्र पधार चुके थे। उनके अमित उपकार से उपकृत धनदेव श्रेष्ठी दर्शनार्थ वहां पहुंचा और पावन, पवित्र, अमृतघोष, कल्याणकारी, शिव पथगामी उपदेश सुनकर व्रतधारी श्रावक बना। मित्र को अध्यात्म पथ का पथिक बनाकर आचार्य स्थूलभद्र ने जगत् के सामने मैत्री का आदर्श उपस्थित किया।

आचार्य स्थूलभद्र के जीवन के अनेक प्रेरक-प्रसंग हैं। एक बार मगधाधिपति नंद ने रथ-संचालन के कला-कौशल से प्रसन्न होकर सारथि को अनिंद्य सुंदरी, कला की स्वामिनी, विविध गुण संपन्न मगध गणिका कोशा को उपहार के रूप में घोषित कर दी।

कोशा चतुर महिला थी। वह आचार्य स्थूलभद्र से श्राविका-व्रत ग्रहण कर चुकी थी। अपने प्रण पर दृढ़ थी। उसकी वाक्पटुता एवं व्यवहार कौशल ने संयम में अस्थिर कामाभिभूत सिंह-गुफावासी मुनि को भी पुनः संयम में स्थिर कर दिया था। अपने व्रत में सुस्थिर रहकर परीक्षा का यह दूसरा अवसर कोशा के सामने प्रस्तुत हुआ। कोशा ने राजाज्ञा का चातुर्य से पालन किया। वह रथिक के सामने सीधी-सादी वेश-भूषा में उपस्थित हुई। उसकी आंखों में न कोई वासना का ज्वार था न शरीर पर साज-सज्जा एवं शृंगार। वह बार-बार आचार्य स्थूलभद्र का नाम लेकर कह रही थी "स्थूलभद्र बिना नान्यः पुमान् कोपीत्यहर्निशम्।" (आज दुनिया में आर्य स्थूलभद्र जैसा उत्तम पुरुष कोई नहीं है।)

विराग भाव से उपस्थित मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए रथिक ने बाण-कौशल से सुदूरवर्ती आम्रफलों के गुच्छे को तोड़कर उसे उपहृत किया। सारथि के इस बाण-कौशल में कोशा को कुछ भी

---

९. सोऽर्थहीनः पुरे ऽत्राभूल्लघुरेव तृणादपि।
अर्थाः सर्वत्र पूज्यन्ते न शरीराणि देहिनाम् ॥१७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १०)

आश्चर्य नहीं लगा। वह अत्यन्त प्रवीण नारी थी। नृत्यकला में उसका चातुर्य अनुपम था। उसने सरसों के ढेर पर सुई की नोक से अनुस्यूत गुलाब की पंखुड़ियों को फैलाकार उस पर नृत्य किया। अपनी लचीली देह को कोशा ने इस तरह साध लिया था कि उसके पादाक्रान्त भार से सर्षप राशि का एक भी दाना इधर से उधर नहीं हुआ और न सूई की नोक की चुभन उसके चरणों को घायल कर सकी। रथिक प्रसन्न होकर बोला "सुभगे! तुम्हारे नृत्य-कौशल पर प्रसन्न होकर मैं तुम्हें कुछ उपहार देना चाहता हूं।" गणिका ने कहा "रथिक! मेरी दृष्टि में तुम्हारा यह आम्रफल के गुच्छों का उच्छेदन दुष्कर नहीं है और न मेरा यह नृत्य कौशल ही, पर स्थूलभद्र जैसा ब्रह्मचर्य का उदाहरण प्रस्तुत करना महादुष्कर है। मेरी कामोद्दीपक चित्रशाला में आर्य स्थूलभद्र ने पूरा पावस बिताया। षट्रसपूर्ण भोजन किया पर कज्जल की कोठरी में रहकर भी आचार्य स्थूलभद्र की सफेद चद्दर पर एक भी दाग न लगा। आग पर चढ़कर भी मक्खन न पिघला, ऐसे महापुरुष समग्र विश्व के द्वारा वन्दनीय होते हैं।"

रथिक आचार्य स्थूलभद्र की महिमा गणिका के द्वारा सुनकर परम प्रसन्न हुआ। हृदय में सात्त्विक भावों का उदय हुआ, विरक्ति की धारा बही एवं पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूलभद्र के पास पहुंचकर रथिक ने दीक्षा ग्रहण की।

स्थूलभद्र के जीवन से पावन प्रेरणा पाकर अनेक व्यक्ति अध्यात्म के पथिक बने।

नंद राज्य के यशस्वी महामात्य शकडाल की नौ संतानें जैन शासन में दीक्षित हुई सात पुत्रियां एवं दो पुत्र। इनमें स्थूलभद्र सबसे ज्येष्ठ थे। शकडाल परिवार में सर्वप्रथम दीक्षा संस्कार उनका हुआ था। आचार्य पद के महिमामय दायित्व को स्थूलभद्र ने अत्यन्त दक्षता के साथ वहन किया। श्रमण संघ में आचार्य महागिरि एवं सुहस्ती जैसे प्रभावी आचार्य उनके प्रमुख शिष्य थे।[१०]

स्थूलभद्र दीर्घजीवी आचार्य थे। उनके काल में मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त और राजनीति-दक्ष, मेधावी, जैन धर्म में आस्थाशील चाणक्य का अभ्युदय हुआ। मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई। नंद साम्राज्य के पतन की दर्दनाक घटना इस युग का मर्मान्तक इतिहास है। दुष्काल की समाप्ति के बाद आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य स्थूलभद्र की सन्निधि में हुआ। आचार्य स्थूलभद्र के जीवन का एक शतक आरोह और अवरोह से भरा ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है।

अर्थतः दसपूर्वधर एवं शब्दतः चतुर्दशपूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र श्रमण समुदाय के शिरोमणि एवं लब्धिसंपन्न तेजस्वी आचार्य थे।

समय-संकेत

आचार्य स्थूलभद्र ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। मुनि जीवन के लगभग ७० वर्ष के काल में ४५ वर्ष तक उन्होंने आचार्य पद के दायित्व को कुशलतापूर्वक वहन किया। उनके जीवन की विशेषताओं से आचार्य पद स्वयं मण्डित हुआ। वैभारगिरि पर्वत पर १५ दिन के अनशन के साथ वी. नि. २१५ (वि. पू. २५५) में आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हुआ।

आचार्य-काल
(वी. नि. १७०-२१५),
(वि. पू. ३००-२५५),
(ई. पू. ३५७-३१२)

---

१०. थूलभद्दस्स जुगप्पहाणा दो सीसा अज्जमहागिरी, अज्जसुहत्थी य ॥

(सभाष्य निशीथ चूर्णि, पत्रांक ३६१)

६. सद्गुण-रत्न-महोदधि आचार्य महागिरि

आर्य महागिरि जैन परम्परा के दशपूर्वधर प्रभावक आचार्य थे। वे निरतिचार संयमधर्म के आराधक थे और जिन-कल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। तीर्थङ्कर महावीर की पट्टधर परम्परा में उनका क्रम नौवां है। दशपूर्वधर परम्परा में आचार्य महागिरि का प्रथम स्थान है।

गुरु-परम्परा

आचार्य महागिरि के दीक्षा गुरु एवं विद्यागुरु श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र थे। आचार्य स्थूलभद्र श्रुतधर आचार्य संभूतविजय के शिष्य एवं आचार्य भद्रबाहु के उत्तराधिकारी थे। सद्गुणरत्न महोदधि आर्य महागिरि अपने दीक्षा गुरु आचार्य स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी थे। उनकी पूर्व परम्परा में सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र जैसे सर्वज्ञ, श्रीसंपन्न एवं श्रुतसंपन्न प्रभावी आचार्य हुए।

जन्म एवं परिवार

आचार्य महागिरि का जन्म एलापत्य गोत्र में हुआ। उनका जन्म समय वी. नि. १४५ (वि. पू. ३२५, ई. पू. ३८२) है। उनके गृहस्थ जीवन से संबंधित विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परिशिष्ट पर्व आदि ग्रंथों के अनुसार आर्य महागिरि का पालन आर्या यक्षा द्वारा हुआ। इसी कारण से महागिरि के नाम से पूर्व आर्य विशेषण जुड़ा हुआ है।[1] लोकश्रुति के अनुसार आर्य शब्द की परम्परा यहीं से प्रारम्भ हुई। जैन ग्रंथों में आचार्य सुधर्मा और जंबू आदि के साथ भी आर्य शब्द का प्रयोग मिलता है।

जीवन-वृत्त

आर्य महागिरि बाल्यकाल से ही श्रीसंपन्न, धृतिसंपन्न एवं शील संपन्न थे। आर्या यक्षा के मार्गदर्शन में उनके जीवन का बहुमुखी विकास हुआ। संसार से विरक्त होकर ३० वर्ष की उम्र में उन्होंने श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र के पास वी. नि. १७५ (वि. पू. २९५, ई. पू. ३५२) में मुनि दीक्षा ग्रहण की। गुरु की सन्निधि में वे ४० वर्ष तक रहे। इस अवधि में आर्य महागिरि ने श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र से दशपूर्वों का ज्ञान ग्रहण किया।

आर्य सुहस्ती, आचार्य स्थूलभद्र द्वारा दीक्षित मेधावी श्रमण थे। आर्य सुहस्ती की दीक्षा के समय आचार्य स्थूलभद्र वृद्धावस्था में थे। भावी-संघ व्यवस्था का प्रश्न उनके सामने प्रमुख था। एक दिन उन्होंने व्यवस्था कार्य के लिए गंभीरता से चिंतन किया। आचार्य पद निर्णय के समय धीर, गंभीर, श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र ने अपने स्थान पर शांत, दांत, लब्धिसंपन्न, आगमविज्ञ, आयुष्मान, भक्ति परायण आर्य महागिरि एवं सुहस्ती इन दोनों शिष्यों की नियुक्ति की।[2] इसका कारण उभय शिष्यों का प्रभावशाली व्यक्तित्व था।

उस समय एकतन्त्रीय शासन की परम्परा प्रचलित थी। उभय शिष्यों की नियुक्ति एक साथ होने पर भी कार्य संचालन की दृष्टि से परस्पर एक दूसरे के कार्यों में वे हस्तक्षेप नहीं करते थे। दीक्षा-क्रम में ज्येष्ठ शिष्य ही आचार्य पद के दायित्व को निभाते थे। आचार्य यशोभद्र एवं स्थूलभद्र के द्वारा आचार्य पद के लिए दो शिष्यों की एक साथ नियुक्ति होने पर भी यशस्वी आचार्य यशोभद्र के बाद उनके दायित्व को दीक्षा-क्रम में ज्येष्ठ होने

---

१. तौ हि यक्षार्यया बाल्यादपि मात्रेव पालितौ।
इत्यार्योपपदौ जातौ महागिरिसुहस्तिनौ ॥३७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १०)

२. शान्तौ दान्तौ लब्धिमन्तावधीतावायुष्मन्तौ वाग्मिनौ दृष्टभक्ती
आचार्यत्वे न्यस्य तौ स्थूलभद्रः कालं कृत्वा देवभूयं प्रपेदे ॥४०॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १०

कारण आचार्य संभूतविजय ने एवं आचार्य स्थूलभद्र के बाद उनका दायित्व आचार्य महागिरि ने संभाला था।

श्रुतसागर आचार्य भद्रबाहु अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता आचार्य संभूतविजय के अनुशासन को एवं आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि के अनुशासन को सुविनीत शिष्य की भाँति पालन करते थे।

निशीथ चूर्णिकार के अभिमत से आचार्य स्थूलभद्र के बाद आचार्य पद का गरिमामय दायित्व आचार्य सुहस्ती के कंधों पर आया था, पर प्रीतिवश आचार्य महागिरि एवं आचार्य सुहस्ती दोनों एक साथ विहरण करते थे।[3]

आर्य महागिरि जैसे प्रभावशाली, श्रुतसंपन्न, जिन शासन के दायित्व को संभालने में सक्षम शिष्य के होते हुए भी नवदीक्षित श्रमण सुहस्ती की आचार्य पद पर नियुक्ति संबंधी चूर्णिकार का यह उल्लेख रहस्यमय है। परिशिष्ट पर्व, कल्पसूत्र आदि ग्रंथों में दोनों की एक साथ नियुक्ति का उल्लेख मिलता है।[4]

आर्य महागिरि महाप्रभावी आचार्य थे। उन्होंने अनेक मुनियों को आगम वाचना प्रदान की।[5] आर्य सुहस्ती उनके विद्यार्थी शिष्य थे। उग्र तपस्वी आचार्य महागिरि के उपकार के प्रति आचार्य सुहस्ती आजीवन कृतज्ञ रहे एवं उनको गुरु तुल्य सम्मान प्रदान करते रहे।

गुरुगच्छ-धुराधारण धौरेय, धीर, गंभीर आचार्य महागिरि ने एक दिन सोचा गुरुतर आत्म-विशुद्धिकारक जिनकल्प तप वर्तमान में उच्छिन्न है, पर तत्सम तप भी पूर्व कर्मों का विनाश कर सकता है।[6] मेरे अनेक स्थिरमति शिष्य सूत्रार्थ के ज्ञाता हैं। मैं कृतकृत्य हूं। गच्छ की प्रतिपालना करने में सुहस्ती दक्ष है। वह गण चिंता से मुझे मुक्त करने में समर्थ है[7] अतः इस गुरुतर दायित्व से निवृत्त होकर आत्महितार्थ विशिष्ट तप में स्वयं को नियोजित करूं यही मेरे लिए कल्याणकारी मार्ग है।

अन्तर्मुखी आचार्य महागिरि की चिंतनधारा दृढ़-निश्चय में बदली। संघ-संचालन का भार आचार्य सुहस्ती को सौंपकर वे जिनकल्प तुल्य साधना में प्रवृत्त हुए। आचार्य महागिरि की यह व्युच्छिन्न जिनकल्प तुल्य साधना गणनिश्रित थी। उनकी विहारचर्या गण से अनुबंधित थी।[8]

आचार्य महागिरि निर्जन वनों में, एकान्त स्थलों में, श्मशान भूमियों में एकाकी ध्यान साधना करते। भयावह उपसर्गों में निष्प्रकम्प रहते पर उनका ग्रामनुग्राम विहरण अपने गण के मुनियों के साथ अथवा आचार्य सुहस्ती के शिष्य समुदाय के साथ होता था।

पाटलिपुत्र में आचार्य महागिरि वसुभूति श्रेष्ठी के घर आहारार्थ (गोचरी) गए। वहां आचार्य सुहस्ती पहले से ही विराजमान थे। वे श्रेष्ठी वसुभूति की प्रार्थना पर उनके परिवार को जैनधर्म का बोध देने आए थे। सपरिवार वसुभूति आचार्य सुहस्ती के पावन चरणों में बैठकर प्रवचन सुन रहा था। आचार्य महागिरि के आगमन पर आचार्य सुहस्ती ने उठकर वंदन किया। आचार्य महागिरि के प्रति आचार्य सुहस्ती का यह

---

३. थूलभद्दसामिणा अज्जसुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो।
तहा वि अज्जमहागिरि अज्जसुहत्थी य पीतिवसेण एक्कओ विहरंति। (निशीथ सूत्र सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ. ३६१)

४. आचार्यत्वे न्यस्य तौ स्थूलभद्रः कालं कृत्वा देवभूयं प्रपेदे ॥४०॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १०)

५. कालक्रमेण भगवाञ्जगद्बन्धुर्महागिरिः।
शिष्यान्निष्पादयामास वाचनाभिरनेकशः ॥२॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

६. गुरुगच्छधुराधारण धोरेया धरियलद्धिणो धीरा।
चिरकाले वोलीणे महागिरि चिंतए ताण
गुरुतर निज्जरकारी, न संपयं जइवि अत्थि जिणकप्पो।
मह तह वि तदब्भासो पण्णासए पुव्व पावाइं ॥३॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३६९)

७. विहिया सुयत्थ-परमत्थविच्छरे थिरमई मए सीसा।
मह गच्छसारणाइविसारओ अत्थि य सुहत्थी ॥४॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३६९)

८. इय चिंतिऊण परिवज्जिऊण, गणगच्छपालणुच्छाहं।
विहरेइ तस्स निस्साए, सायरं वण-मसाणेसु ॥६॥
पुर-नगर-गाम-आराम-आसमाई सुमुक्कपडिबंधो।
उवसग्गवग्गसंसग्गनिप्पकंपो अकंपो य ॥७॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३६९)

सम्मान देखकर श्रेष्ठी वसुभूति के हृदय में आश्चर्यमिश्रित जिज्ञासा उत्पन्न हुई। आचार्य महागिरि के लौट जाने के पश्चात् श्रमणोपासक श्रेष्ठी वसुभूति ने आचार्य सुहस्ती से पूछा "भगवन्? आप श्रुतसंपन्न महाप्रभावी आचार्य हैं। आपके भी कोई गुरु हैं?"[९] निगर्वी भाव से सुहस्ती ने उत्तर दिया "ममैते गुरुवः" ये मेरे गुरु हैं। महान् साधक, विशिष्ट तपस्वी एवं अभिग्रही हैं। आन्त-प्रान्त, नीरस, प्रक्षेप योग्य भिक्षा को ग्रहण करते हैं तथा प्रतिज्ञानुसार भोजन न मिलने पर पुनः तपकर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं।"

आचार्य सुहस्ती से महातपस्वी आचार्य महागिरि का परिचय पाकर श्रेष्ठी वसुभूति अत्यन्त प्रभावित हुआ। आचार्य सुहस्ती श्रेष्ठी परिवार को उद्बोधन देकर स्वस्थान पर लौट आए।

आचार्य महागिरि को लक्षित कर अपने पारिवारिक-जनों को श्रेष्ठी वसुभूति ने कहा "आचार्य महागिरि विशिष्ट साधक हैं। उग्र तपस्वी और घोर अभिग्रही हैं। इनका कभी अपने घर में आगमन हो तो भोजन को प्रक्षेप योग्य कह करके उन्हें दान देना। तभी इनका अभिग्रह पूर्ण हो सकेगा।"

उर्वर धरा में बोए गए बीजों की परिणति अत्यन्त सुखद एवं लाभदायक होती है। इसी भांति त्यागी संतों को प्रदत्त दान विशेष फलदायी होता है। इससे जन्म-जन्मान्तर के कल्मष दूर हो जाते हैं, दुनिया में यश की प्राप्ति होती है।[१०]

आचार्य महागिरि भिक्षाचरी करते हुए संयोगवश पुनः किसी एक दिन श्रेष्ठी वसुभूति के घर पहुंचे। उस दिन वसुभूति श्रेष्ठी के घर में मोदक बने हुए थे। आचार्य महागिरि को देखते ही सबके मन खुशी से भर गए। दान देने के लिए उद्यत श्रेष्ठी वसुभूति के पारिवारिक सदस्यों ने मोदकों को लक्षित कर भक्ति भावित हृदय से निवेदन किया "मुने! ये मोदक हमने अपने लिए तैयार किए हैं, खाने में भी स्वादिष्ट हैं। हम प्रतिदिन दूध के साथ इन्हें खाते हैं। आज हमने अत्यधिक सरस घृत शक्कर परिपूरित भोजन कर लिया है। गरिष्ठ भोजन करने के बाद अब इन मोदकों की आवश्यकता नहीं रही है।" ये सारे मोदक हमारे लिए प्रक्षेप योग्य हो गए हैं, आप इन्हें ग्रहण कर हमें कृतार्थ करें। इससे हम सबको बड़ी प्रसन्नता होगी।"

आचार्य महागिरि अपनी वृत्ति में पूर्ण सजग एवं अभिग्रह में सुदृढ़ थे। श्रेष्ठी वसुभूति के पारिवारिक सदस्यों की मर्यादातिक्रान्त भक्ति एवं अपूर्व चेष्टाएं देखकर उन्होंने विशेष उपयोग लगाया एवं प्रदीयमान भोजन सामग्री को अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप न समझकर उसे ग्रहण नहीं किया। अनाचरणीय मार्ग का अनुगमन करने से कल्याण नहीं होगा यह सोचकर आत्म-गवेषक आचार्य महागिरि बिना भोजन ग्रहण किए वन की ओर चले गए।[११]

आचार्य महागिरि से आचार्य सुहस्ती जब मिले तब उन्होंने वसुभूति के घर पर घटित घटना से अवगत कराते हुए कहा "सुहस्ती! तुमने श्रेष्ठी वसुभूति के सम्मुख मेरा सम्मान कर मेरे लिए अनेषणीय स्थिति

---

९. अह एगया सुहत्थी, कहेइ सकुडुंबसेट्ठिणो धम्मं।
गेहंगणंमि पत्तो, महागिरि विहरमाणो तो ॥१२॥
सहसा सुहत्थिणा सो, दट्ठं अब्भुट्ठिओ सबहुमाणं।
पणमिय पुच्छइ सेट्ठी भंते! तुम्हवि किमत्थि गुरु ॥१३॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३७०)

१०. परजणमेवं जइ एइ, एरिसो महासाहू।
तो पडिलाभेयव्वो, उज्झिय भिक्खाछलं काउं ॥१७॥
सुपवित्तपत्तखेत्तम्मि, खित्तमप्पंपि बीयमिव सस्साए।
अइबहुफारफलेहिं, फलेइ ता देयमेयस्स ॥१८॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३७०)

११. मह जे दिन्ना मइडाए, लड्डआ छड्डिया मया तेऽमी।
परिवज्जियाइं खज्जाइं, अज्ज कज्जं न एएहिं ॥२१॥
पइदिवसं खीरिए खज्जंतीए इमाए खद्धाभि।
अलमत्थु मज्झ घयखंडपुन्नघयपुन्नपत्तेण ॥२२॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३७०)

१२. इय पेक्खंतोऽपुव्वं, सव्व चेट्ठं स चिंतइ किमेयं।
उवओगं दव्वाइसु, दितो जाणेइ जमसुद्धं ॥२३॥
अहमिह नाओ नूणं, अन्नायचरिया तओ न नित्थरिया।
इय स निपत्ति तत्तो, पत्तो य वणे अभत्तट्ठी ॥२४॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३७०)

उत्पन्न कर दी है।"[13]

परम विनीत आचार्य सुहस्ती ने आचार्य महागिरि के चरणों में नत होकर क्षमा प्रार्थना की और बोले "इस भूल का भविष्य में पुनरावर्तन नहीं होगा।"

यह घटना आचार्य महागिरि एवं सुहस्ती के गुरु-शिष्य संबंध पर प्रकाश डालने के साथ अभिग्रहधारी श्रमणों की विशुद्ध, कठोर आचार-साधना, गुरु के कठोर उपालम्भ के प्रति शिष्य का विनम्र भाव, श्रावक समाज की मुनि-जनों के प्रति आस्था, उदग्र भक्ति तथा गृहस्थ समाज को बोध देने हेतु उनके घर पर बैठकर उपदेश देने की पद्धति आदि कई तथ्यों को अनावृत करती है।

कल्पसूत्र स्थविरावली में आचार्य महागिरि के शिष्य परिवार में आठ प्रमुख शिष्यों का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार हैं[14] (१) उत्तर, (२) बलिस्सह, (३) धनाढ्य, (४) श्री आढ्य, (५) कौण्डिन्य, (६) नाग, (७) नागमित्र, (८) रोहगुप्त। इनमें उत्तर (बहुल) और बलिस्सह प्रभावक शिष्य थे।

स्थानांग सूत्र में नौ गणों का उल्लेख है।[15] उनमें 'उत्तर बलिस्सह' गण की स्थापना आचार्य महागिरि के उत्तर और बलिस्सह नामक शिष्यों के नाम पर हुई।

आचार्य महागिरि के आठवें शिष्य कौशिक गोत्रीय षडुलूक रोहगुप्त से त्रैराशिक मत का उद्भव हुआ।[16]

कल्पसूत्र स्थविरावली का त्रैराशिक मत स्थापना संबंधी यह उल्लेख अनुसंधान का विषय है। त्रैराशिक मत की स्थापना करने वाला निह्नव रोहगुप्त आचार्य-महागिरि का शिष्य नहीं हो सकता। निह्नव रोहगुप्त का समय वी. नि. की छठी शताब्दी है।

आचार्य महागिरि विशुद्ध चरित्र पर्याय के वाहक थे। वे दशपूर्वों की विशाल श्रुत-संपदा के स्वामी थे तथा जिन कल्पतुल्य साधना करने वाले विशिष्ट तपस्वी थे। वे धृति, क्षमा, तितिक्षा, त्याग, वैराग्य आदि विविध गुण रत्नों के महोदधि थे।

समय-संकेत

महागिरि आचार्य स्थूलभद्र की भांति दीर्घजीवी आचार्य थे। वे ३० वर्ष गृहस्थ जीवन में रहे। उनका सामान्य मुनि पर्याय का काल ४० वर्ष का एवं युगप्रधान आचार्य का ३० वर्ष का था।[17]

उन्होंने युग का पूरा एक शतक अपनी आँखों से देखा। मालव प्रदेश के गजाग्रपद (गजेन्द्रपुर) स्थान पर वे वी. नि. २४५ (वि. पू. २२५, ई. पू. २८२) में स्वर्गवासी हुए।

आचार्य-काल

(वी. नि. २१५-२४५)
(वि. पू. २५५-२२५)
(ई. पू. ३१२-२८२)

---

१३. अब्भुट्ठाणं बहुमाणमायरं तारिसं कुणंतेण।
तइ तइया विहियाणेसणाहि तब्भत्तिजणणाओ ॥२६॥
(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति, पत्रांक ३७०)

१४. थेरस्सणं अज्जमहागिरिस्स एलावच्छगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अंतेवासी..... तं जहा-थेरे उत्तरे, थेरे बलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिड्ढे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसिएगुत्तेणं।
(कल्पसूत्र स्थविरावली, सूत्र २०६) सं. पुण्यविजयजी

१५. गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे।
(ठाणं ९/२९)

१६. रोहगुत्तेहिंतो, कोसिएगुत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया।
(कल्पसूत्र स्थविरावली, सूत्र २०६)

१७. तत्पट्टे श्री आर्यमहागिरि-आर्यसुहस्तिनामानौ उभौ अष्टमपट्टधरौ जातौ। तत्र प्रथमस्य त्रिंशद्वर्षाणि गृहे, चत्वारिंशत् सव्रते, त्रिंशत् युगप्रधानत्वे, सर्वायुः शतवर्षाणि।
(पट्टावली-समुच्चय, श्री गुरुपट्टावली, पृ. १६५)

१०. सद्धर्म-धुरीण आचार्य सुहस्ती

जिनकल्प तुल्य तप के साधक आचार्य महागिरि के बाद श्वेताम्बर परम्परा में आर्य सुहस्ती हुए। आचार्य सुहस्ती तीर्थङ्कर महावीर के दसवें पट्टधर हैं। दस पूर्वधरों में उनका द्वितीय स्थान है। मौर्य सम्राट् संप्रति को जैन धर्म के अनुकूल बनाने का श्रेय आचार्य सुहस्ती को है।

गुरु-परम्परा

आचार्य सुहस्ती के दीक्षागुरु श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र थे। उनकी पूर्व परम्परा में श्रुत संपन्न आचार्य यशोभद्र, संभूतविजय और भद्रबाहु जैसे यशस्वी आचार्य हुए। आचार्य सुहस्ती को अपने दीक्षागुरु आचार्य स्थूलभद्र की सन्निधि में रहने का अत्यल्प समय प्राप्त हुआ। आचार्य महागिरि से आचार्य सुहस्ती ने आगमों एवं पूर्वों का अध्ययन किया था इसी कारण से आचार्य सुहस्ती ने अपने ज्येष्ठ गुरुबंधु आचार्य महागिरि को गुरु-तुल्य सम्मान प्रदान किया।

जन्म एवं परिवार

आचार्य सुहस्ती का जन्म वाशिष्ठ गोत्र में वी. नि. १९१ (वि. पू. २७९, ई. पू. ३३६) में हुआ और महागिरि की भांति उनका पालन भी आर्या यक्षा ने किया। आचार्य सुहस्ती के नाम के साथ आर्य विशेषण आर्या यक्षा के साथ उनके निकट संबंध को सूचित करता है। इनके गृहस्थ जीवन संबंधी अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं है।

जीवन-वृत्त

आचार्य सुहस्ती २३ वर्ष गृहस्थ जीवन में रहे। आर्या यक्षा द्वारा उन्हें जीवन-चर्या संबंधी प्रशिक्षण मिला। आचार्य स्थूलभद्र से उन्होंने वी. नि. २१५ (वि. पू. २५५ ई. पू. ३१२) में मुनि दीक्षा ग्रहण थी। आचार्य स्थूलभद्र के जीवन का यह संध्याकाल था।

आर्य सुहस्ती का अध्ययन आचार्य महागिरि की सन्निधि में हुआ अतः आर्य सुहस्ती के दीक्षागुरु आचार्य स्थूलभद्र और शिक्षागुरु आचार्य महागिरि थे। आचार्य महागिरि दशपूर्वधर थे। प्रखर बुद्धि के धनी आचार्य सुहस्ती उनसे एकादशाङ्ग शिक्षा के साथ दशपूर्वों की संपूर्ण ज्ञान राशि को ग्रहण करने में सफल हुए। उन्होंने गुरु के मार्गदर्शन में विविध योग्यताओं का विकास किया। आचार्य सुहस्ती श्रमण संघ संचालन एवं धर्म प्रचार का स्वतंत्र रूप से कार्य आचार्य महागिरि के आदेश से उनकी विद्यमानता में ही करने लगे पर आचार्य पद का विधिपूर्वक दायित्व उन्होंने आचार्य महागिरि के स्वर्गवास के बाद वी. नि. २४५ (वि. पू. २२५) में संभाला। नंदीचूर्णि के अनुसार आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ती की गण परम्परा भिन्न-भिन्न थी।

आचार्य महागिरि उग्र तपस्वी एवं जिनकल्प तुल्य साधना में प्रवृत्त योग-साधक थे। आचार्य सुहस्ती साधक एवं धर्म प्रचारक थे। उन्होंने जैन धर्म को विस्तार दिया और तीर्थङ्कर महावीर के महामंगलकारक अहिंसा संदेश को जन-जन तक पहुंचाया।

आचार्य सुहस्ती के धर्मप्रचार कार्य में सम्राट् संप्रति का योगदान जैन इतिहास की उल्लेखनीय घटना है।

एक बार आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ती अपने-अपने शिष्य परिवार सहित कौशाम्बी पधारे। स्थान की संकीर्णता के कारण दोनों आचार्यों का शिष्य परिवार भिन्न-भिन्न स्थानों पर ठहरा। कौशाम्बी में उस समय भंयकर दुष्काल की स्थिति थी। जनता दुष्काल से पीड़ित थी। उस समय साधारण मनुष्य के लिए पर्याप्त भोजन भी मिलना कठिन था।

श्रमणों के प्रति अत्यधिक भक्ति के कारण भक्त लोग उन्हें पर्याप्त भोजन प्रदान करते थे। एक दिन

आचार्य सुहस्ती के शिष्य आहारार्थ एक श्रेष्ठी के गृह पर पहुंचे। उनके पीछे एक रंक भी वहीं चला गया। उसने श्रमणों के पात्रों में श्रेष्ठी प्रदत्त स्वादिष्ट भोजन सामग्री को देखा। श्रमण पर्याप्त आहारोपलब्धि के बाद उपाश्रय की ओर लौट रहे थे। वह रंक उनके साथ चल रहा था। उसने श्रमणों से भोजन मांगा। श्रमण बोले "गुरु के आदेश बिना हम कोई कार्य नहीं कर सकते।"

रंक भी धर्मस्थान तक श्रमणों के पीछे चला आया। रंक की ओर संकेत करते हुए आचार्य सुहस्ती से श्रमणों ने निवेदन किया "आर्य देव! यह दीन मूर्ति रंक हमारे से भोजन की याचना कर रहा है।"

आचार्य सुहस्ती ने गंभीर दृष्टि से उसको देखा और ज्ञानोपयोग से जाना

भावी प्रवचनाधारो यद् रङ्कोऽयं भवान्तरे ॥४८॥

यह रंक भवान्तर में प्रवचनाधार बनेगा। इसके निमित्त से जैन शासन की अतिशय प्रभावना होगी।

अध्यात्म स्रोत, अकारण कारुणिक आचार्य सुहस्ती ने मधुर स्वर में सम्मुख उपस्थित दया पात्र रंक को संबोधित करते हुए कहा "मुनि जीवन स्वीकार करने पर हम तुम्हें भोजन दे सकते हैं। गृहस्थ को भोजन देना साध्वाचार की मर्यादा में सुविहित नहीं है।"

रंक को अन्नाभाव के कारण मृत्यु का आलिंगन करने की अपेक्षा इस कठोर संयम-चर्या का मार्ग सुगम लगा। वह मुनि बनने के लिए तत्क्षण तैयार हो गया।

परोपकार-परायण आचार्य सुहस्ती ने उसे दीक्षा प्रदान की। क्षुधाक्रान्त रंक को कई दिनों के बाद प्रथम बार पर्याप्त भोजन मिला। आहार की मर्यादा का विवेक नहीं रहा। मात्रातिक्रान्त भोजन उदर में पहुंचाने से श्वासनलिका में श्वासवायु का संचार कठिन हो गया। दीक्षा-दिन की प्रथम रात्रि में ही वह समता-भाव की आराधना करता हुआ काल धर्म को प्राप्त हुआ और मगध-नरेश अशोक का पौत्र तथा अवन्ति-नरेश कुणाल के पुत्र संप्रति के रूप में जन्म लिया। अव्यक्त सामायिक की साधना के फलस्वरूप भवान्तर में उसे साम्राज्य की प्राप्ति हुई।[1]

एक दिन राजकुमार संप्रति राजप्रासाद के वातायन में बैठा हुआ था। उसने श्रमणवृन्द से परिवृत आचार्य सुहस्ती को राजपथ पर देखा। पूर्व भव की स्मृति उभर आयी। आचार्य सुहस्ती की आकृति उसे परिचित-सी लगी। विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित होते ही जाति-स्मरण ज्ञान प्रकट हुआ। संप्रति ने पूर्व भव को जाना एवं प्रासाद से नीचे उतरकर आचार्य सुहस्ती को वन्दन किया और विनम्र मुद्रा में पूछा "आप मुझे पहचानते हैं?" परमज्ञानी आचार्य सुहस्ती ने चिंतन किया एवं ज्ञानोपयोग से पूर्वभव का संपूर्ण वृत्तान्त जानकर उसे विस्तारपूर्वक राजकुमार संप्रति को बताया।[2]

संप्रति ने प्रणत होकर निवेदन किया "भगवन्! आपने मुझे पूर्व भव में संयमदान दिया उसके लिए मैं कृतज्ञ हूं। आप मेरे परम उपकारी हैं पूर्व जन्म में आप मेरे गुरु थे। इस जन्म में भी मैं आपको गुरु रूप में स्वीकार करता हूं। मुझे अपना धर्म पुत्र मानकर शिक्षा से अनुगृहीत करें और प्रसन्नमना होकर किसी विशिष्ट कार्य का आदेश दें, जिसे संपादित कर मैं आपसे उऋण हो सकूं।"

आचार्य सुहस्ती के मुख से भवतापोपहारी शिक्षामयी अमृत बूंदें बरसीं "राजन्! उभय लोककल्याणकारी जिन धर्म का अनुसरण करो।" आचार्य सुहस्ती से बोध प्राप्त कर संप्रति सम्यक्त्व गुणयुक्त व्रतधारी श्रावक बना।

कल्पचूर्णि के अनुसार संप्रति ने अवन्ति में श्रमण परिवार से परिवृत सुहस्ती को राज-प्राङ्गण में गवाक्ष से

---

१. कोसंबाऽऽहारकते, अज्जसुहत्थीण दमगपव्वज्जा।
अब्भत्तेणं सामाइएण रण्णो घरे जातो ॥३२७५॥
(बृहत्कल्पभाष्य, विभाग ३)

२. अज्जसुहत्थाऽऽगमणं, दट्ठुं सरणं च पुच्छणा कहणा।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संपतीरण्णो ॥३२७७॥
(बृहत्कल्पभाष्य, विभाग ३)

देखा। चिन्तन चला, जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसके बाद आचार्य सुहस्ती के स्थान पर जाकर उन्होंने जिज्ञासा की 'धम्मस्स किं फलं' प्रभो! धर्म का क्या फल है?

आचार्य सुहस्ती बोले "अव्यक्त सामायिक का फल राज्यपदादि की प्राप्ति है।"

संप्रति ने विस्मित मुद्रा में कहा "आपने सत्य संभाषण किया है। क्या आप मुझे पहचानते हैं?

संप्रति के इस प्रश्न पर आचार्य सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग लगाकर कहा "तुमने पूर्व भव में मेरे पास दीक्षा ग्रहण की थी।" तदन्तर संप्रति ने आचार्य सुहस्ती से श्रावक धर्म स्वीकार किया।

निशीथचूर्णि के एक स्थल पर प्रस्तुत घटना संदर्भ के साथ विदिशा का और दूसरे स्थल पर अवन्ति का उल्लेख है। विदिशा को अवन्ति के राज्याधिकार में मान लेने से इस प्रकार का उल्लेख संभव है।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार आचार्य महागिरि एवं आचार्य सुहस्ती विदिशा में एक साथ गए। उसके बाद आचार्य महागिरि अनशन करने के लिए दशार्णपुर की ओर चले गए। तदनन्तर आचार्य सुहस्ती का अवन्ति में पदार्पण हुआ, उस समय संप्रति आचार्य सुहस्ती का श्रावक बना।

श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाणोत्तर काल में सांभोगिक संबंध विच्छेद की सर्वप्रथम घटना आचार्य सुहस्ती और सम्राट् संप्रति के निमित्त से घटित हुई।

दुष्काल के विपन्न क्षणों में सम्राट् संप्रति ने श्रमणों के लिए भिक्षा संबंधी अनेकविध सुविधाएं प्रदान की। सभी प्रकार के व्यापारी वर्ग को सम्राट् संप्रति का आदेश था "वे मुक्त भाव से श्रमणों को यथेप्सित द्रव्यों का दान करें, उनका मूल्य मैं दूंगा। मेरे घर का भोजन राजपिंड होने के कारण मुनिजनों के लिए ग्रहणीय नहीं है।[3] सम्राट् संप्रति की इस उदारता के कारण आचार्य सुहस्ती के शासनकाल में शिथिलाचार की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। साधुचर्या में अजागरूक श्रमण मुक्त-भाव से सदोष दान ग्रहण करने लगे।

आचार्य महागिरि जब आचार्य सुहस्ती से मिले, और घोर दुष्काल में भी साधुओं को पर्याप्त एवं विशिष्ट भोजन मिलता देखकर आचार्य महागिरि को राजपिण्ड तथा सदोषआहार की शंका हुई। उन्होंने आचार्य सुहस्ती से समग्र स्थिति को जानना चाहा।

गवेषणा किए बिना ही आचार्य सुहस्ती बोले 'यथा राजा तथा प्रजा'। प्रजा राजा की अनुगामी होती है। यही कारण है राजा की भक्ति के अनुसार प्रजा में भी धार्मिक अनुराग है। तेली तेल, घृत बेचने वाला घी, वस्त्र के व्यापारी वस्त्र अपने-अपने भण्डार से मुनि वर्ग को सभी यथेप्सित वस्तुओं का दान कर रहे हैं।

आचार्य महागिरि, आचार्य सुहस्ती के उपेक्षा भरे उत्तर से विक्षुब्ध हुए। वे गंभीर होकर बोले "आर्य! आगमविज्ञ होकर भी शिष्यों के मोहवश जानबूझकर इस शिथिलाचार को पोषण दे रहे हो?"

आचार्य महागिरि चरित्रनिष्ठ, उदात्त चिंतक, निर्दोष परम्परा के पक्षपाती आचार्य थे। संघ व शिष्यों का व्यामोह उनके निर्मल मानस में कभी अपना स्थान नहीं पा सका।

गण में शिथिलाचार को पनपते देख उन्होंने तत्काल प्रतिभासंपन्न प्रभावी शिष्य सुहस्ती से भी अपना सांभोगिक (भोजन आदि का व्यवहार) संबंध विच्छेद कर लिया था।[4]

---

3. साहूण देह एयं, अहं भे दाहामि तत्तियं मोल्लं।
णेच्छंति घरे घेत्तुं, समणा मम रायपिण्डो त्ति ॥३२८०॥
(बृहत्कल्पभाष्य, विभाग ३

4. आर्य सुहस्ती जानानोऽप्यनेषणामात्मीयशिष्यममत्वेन भणतिक्षमाश्रमण !..... राजधर्ममनुवर्तमान एष जन एवं यथेप्सितमहारादिकं प्रयच्छति। तत आर्यमहागिरिणा भणितम् आर्य! त्वमपीदृशो बहुश्रुतो भूत्वा यदेवमात्मीयशिष्यममत्वेनेत्थं ब्रवीषि, ततो मम तव चाद्य प्रभृति विध्वक् सम्भोगः नैकत्र मण्डल्यां समुद्देशनादिव्यवहारइतिः, एवं संभोगस्य विध्वक्करणमभवत्।
(बृहत्कल्पभाष्य, वि. ३, पत्रांक २०)

आचार्य सुहस्ती, आचार्य महागिरि को गुरुतुल्य सम्मान देते थे। उनके उपालम्भ को सुनकर भी क्षमायाचना की तथा वे पुनः ऐसा नहीं करने के लिए संकल्पबद्ध हुए। आचार्य सुहस्ती की विनम्रता के सामने आचार्य महागिरि झुके। उन्होंने अपना विचार बदला एवं सांभोगिक संबंध की विच्छिन्नता के प्रतिबंध को हटा दिया पर भविष्य में मनुष्य की माया प्रधान प्रवृत्ति का विचार कर अपना आहार-व्यवहार उनके साथ नहीं किया।

सरल, सुविनीत, मृदुस्वभावी, पूर्वज्ञानी गुण संपन्न आर्य सुहस्ती ने महिमाशाली आचार्य महागिरि के सुदृढ़ अनुशासनात्मक व्यवहार से प्रशिक्षण पाकर अपनी भूल का सुधार किया, पर शिष्यगण में पनपते सुविधावाद के संस्कारों का प्रवाह सर्वथा नहीं रुक सका।

आधुनिक शोध के आधार पर यह घटना सम्राट् बिन्दुसार के समय की मानी गई है। आचार्य महागिरि का स्वर्गवास वी. नि. २४५ में हुआ। सम्राट् संप्रति के राज्याभिषेक का समय वी. नि. २९५ है। आचार्य महागिरि के स्वर्गवास के समय सम्राट् संप्रति का जन्म भी संभव नहीं है। यह घटना उस दुष्काल की परिकल्पना मानी गई है। संप्रति ने क्षुधा से आक्रान्त होकर आचार्य सुहस्ती के पास दीक्षा ग्रहण की।

उस दुष्काल के समय मगध का शासक सम्राट् बिन्दुसार था। वह महादानी एवं उदारचेता था। उसने जनता को सहायता प्रदान करने के लिए अन्न के भण्डार खोल दिए। श्रमणों को भी सम्राट् की इस प्रवृत्ति से भिक्षाचरी सुलभ हो गई। सम्राट् संप्रति के अत्यधिक प्रभाव के कारण बिन्दुसार के युग की यह घटना संप्रति युग के साथ संयुक्त हुई प्रतीत होती है।

सम्राट् अशोक की भांति सम्राट् संप्रति भी महान् धर्म-प्रचारक था। उसे आन्ध्र आदि अनार्य देशों में जैन-धर्म को प्रसारित करने का श्रेय है। आर्य सुहस्ती के सम्यक्त्व-बोध एवं श्रावक व्रत दीक्षा स्वीकार करने के बाद सम्राट् संप्रति ने अपने सामन्त वर्ग को भी जैन संस्कार दिए तथा राजकर्मचारियों को मुनिवेश पहनाकर द्रविड़, महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि देशों में भेजा।[४] जैन-विहित साधु मुद्रा में विभूषित राजसुभट अपरिचित अनार्य देशों में घूमे तथा उन लोगों को साधुचर्या से अवगत कराने हेतु आधाकर्मादि दोष-विवर्जित आहार को ग्रहणकर जैन मुनियों की विहारचर्या योग्य भूमिका प्रशस्त की। धर्म-प्रचारक आचार्य सुहस्ती ने सम्राट् संप्रति की प्रार्थना पर अपने शिष्यों को अनार्य देशों में भी भेजा।[५] मिथ्यात्वतिमिराछन्न उन क्षेत्रों में अध्यात्म का दीप प्रज्वलित कर श्रमण लौटे। उस समय आचार्य सुहस्ती ने उनसे अनार्य लोगों के विभिन्न अनुभव सुने।[६]

एक बार आचार्य सुहस्ती श्रेष्ठी पत्नी भद्रा के 'वाहक-कुट्टी' स्थान में विराजे। रात्रि के प्रथम पहर में वे 'नलिनी-गुल्म' नामक अध्ययन का परावर्तन (स्वाध्याय) कर रहे थे।[८] निशा का नीरव वातावरण था। भद्रापुत्र अवन्ति सुकुमाल अपनी बत्तीस पत्नियों के साथ उपरितन साप्तभौमिक प्रासाद में आमोद-प्रमोद कर रहा था। स्वाध्यायरत आचार्य सुहस्ती की मधुर शब्द-तरंगें अवन्ति सुकुमाल के कानों से टकराईं। उसका ध्यान शास्त्रीय वाणी पर केन्द्रित हुआ।[९] नलिनी

---

४. ततः प्रैषीदनार्येषु साधुवेषधरानृनरान् ॥९१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

५. एवं राज्ञोऽतिनिर्बन्धादार्यैः केऽपि साधवः।
विहर्तुमादिदिशिरे ततोऽन्ध्रद्रमिलादिषु ॥९९॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

६. निरवद्यं श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधवः।
दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराख्यन्नसविस्मयाः ॥१०१॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

८. परावर्तितुमारेभे, प्रदोषे समये ऽन्यदा।
आचार्यैर्नलिनीगुल्माभिधमध्ययनं वरम् ॥१३३॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

९. भद्रायाश्च सुतो ऽवन्तिसुकुमालः सुरोपमः।
तदा च विलसन्नासीत्सप्तभूमिगृहोपरि ॥१३४॥
द्वात्रिंशता कलत्रैः स क्रीडन् स्वःस्त्रीनिभैरपि।
तस्मिन्नध्ययने कर्णं ददौ कर्णरसायने ॥१३५॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

गुल्म अध्ययन में वर्णित नलिनी गुल्म विमान का स्वरूप उसे परिचित लगा। ऊहापोह करते-करते भद्रापुत्र को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने अपना पूर्व भव देखा और एक नया रहस्य उद्घाटित हुआ। अवन्ति सुकुमाल अपने पूर्व भव में नलिनी गुल्म विमान का देव था।

नलिनी गुल्म विमान को पुनः प्राप्त करने की उत्कट भावना ने उसे मुनि बनने के लिए प्रेरित किया। आचार्य सुहस्ती के पास पहुंचकर अवन्ति सुकुमाल ने अपनी भावना प्रस्तुत की। साधु-जीवन की कठोर चर्या का बोध देते हुए आचार्य सुहस्ती ने कहा "वत्स! तुम सुकुमाल हो। मुनि जीवन मोम के दांतों से लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है।"

अवन्ति सुकुमाल अपने निर्णय पर दृढ़ था। उसे न मुनि जीवन की कठोरता का बोध अपने लक्ष्य से विचलित कर सका, न रूपवती बत्तीस पत्नियों का आकर्षण एवं न मां भद्रा की ममता निर्णीत पथ से हटा सकी। भद्रा द्वारा अनुमति नहीं मिलने पर भी मुनि परिधान को पहनकर आचार्य सुहस्ती के सामने भद्रापुत्र उपस्थित हुआ। अपने ही द्वारा गृहीत साधुवेश में अवन्ति सुकुमाल को आचार्य सुहस्ती ने देखा और उसकी वैराग्यमयी तीव्र विचारधारा को परखा। साधना-सोपान पर चढ़ने के लिए उत्तरोत्तर उत्कर्ष भाव को प्राप्त अवन्ति सुकुमाल को परम कारुणिक आचार्य सुहस्ती ने श्रमण दीक्षा प्रदान की।

कोमल शय्या पर सोने वाले अवन्ति-सुकुमाल दीर्घकालीन तपस्या के द्वारा कर्म-निर्जरा करने में सक्षम थे। दीक्षा के प्रथम दिन ही गुरु से आदेश प्राप्त कर यावज्जीवन अनशनपूर्वक कठोर साधना करने के लिए वहां से प्रस्थित हुए और श्मशान भूमि की ओर बढ़े। उन्हें नंगे पांव चलने का अभ्यास नहीं था। पथ में सुतीक्ष्ण कांटों और कंकरों के प्रहार से उनके कोमल पदतल से रक्तबिन्दु टपकने लगे। पथगत बाधाजनित क्लेश को समतापूर्वक सहन करते हुए अवन्ति सुकुमाल मुनि निर्णीत स्थान पर पहुंचे एवं श्मशान में जाकर ध्यानस्थ हो गए। मध्याह्न के तीव्र आतप ने उनकी कड़ी परीक्षा ली। वे पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करने लगे। दिन ढला, रजनी का आगमन हुआ। रात्रि में सुकोमल मुनि के चरणों से टपकी रक्तबूंदों से मिश्रित पथ के धूलिकणों की गन्ध क्षुधार्त्त शिशुओं के साथ मांसभक्षिणी जंबुकी को खींच लाई। उसने रक्तप्लावित मुनि के तलवों को चाटा। कृतान्त सहोदरा की भांति वह मुनि के वपु का भक्षण करने लगी। चर्म का आवरण चट-चट करता टूटता गया। मांस, मेद और मज्जा के स्वाद में लुब्ध शृंगालिनी रक्त सनी कशेरुका (पीठ की हड्डी), पर्शुका (पार्श्व की हड्डी), करोटि (मस्तक की हड्डी), कपालास्थियों का भी चर्वण करने लगी। उसके शिशु परिवार ने और उसने मिलकर प्रथम प्रहर में मुनि के पैरों को, द्वितीय प्रहर में जंघा को, तृतीय प्रहर में उदर को और चतुर्थ प्रहर में मुनि के शरीर के ऊपरी भाग का मांसादि निगल लिया।

उत्तरोत्तर चढ़ती हुई भावना की श्रेणी से मुनि अपने लक्ष्य तक पहुंच गए। धैर्य से भयंकर वेदना को सहते हुए भद्रापुत्र अवन्ति में उत्पन्न सुकुमाल नलिनी गुल्म विमान हुए। देवताओं ने आकर उनका मृत्यु महोत्सव मनाया। महानुभाव! महासत्त्व! कहकर मुनि के गुणों की प्रशंसा की।

अवन्ति सुकुमाल के मुनि बनने के दूसरे ही दिन भद्रापुत्र की पत्नी ने आचार्य सुहस्ती की परिषद् में अपने पति को नहीं देखा। उसने वन्दनकर मुनीन्द्र से पूछा "भगवन्! मेरे पति कहां हैं?" सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग से अवन्ती सुकुमाल की पत्नी को समग्र वृत्तांत सुनाया। भद्रापुत्र की पत्नी रोती बिलखती घर पहुंची और मुनि भद्रापुत्र के स्वर्गवास की सूचना सबको दी।

पुत्रवधू के द्वारा अपने पुत्र के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त कर भद्रा पागल की भांति दौड़ती हुई श्मशान भूमि में पहुंची। वहां पुत्र के अस्थिपंजर को देखकर फूट-फूटकर रोने लगी और विलपती हुई कहने लगी, "पुत्र, तुमने संसार को छोड़ा, मां की ममता और वधुओं

का मोहपाश तोड़ा, पर प्रव्रजित होकर एक ही अहोरात्रि की साधना कर प्राणों का परित्याग क्यों किया? क्या यही रात्रि तुम्हारे लिए कल्याणकारी थी? तुम परिवार से निर्मोही बने तो क्या धर्मगुरु से भी निर्मोही बन गए? संत वेश में एक बार मेरे आंगन में आकर भवन को पवित्र तो करते।"

पुत्र के दाह-संस्कार के साथ भद्रा के मानस में ज्ञान की लौ जल उठी। भद्रा की पुत्रवधुओं को भी भोगप्रधान जीवन से विरक्ति हो गई। एक गर्भिणी वधू को छोड़कर सारा परिवार आचार्य सुहस्ती के पास दीक्षित हो गया।[१०]

अवन्ति-सुकुमाल के पुत्र ने पिता की स्मृति में उनके देहावसान के स्थान पर जैन मंदिर बनवाया। वह आज भी अवन्ति में महाकाल के नाम से प्रख्यात है।[११]

आचार्य सुहस्ती के जीवन से संबंधित श्रेष्ठि-पुत्र अवन्ति-सुकुमाल निर्ग्रन्थ की यह घटना दुर्बल आत्माओं में धैर्य का सम्बल प्रदान करने वाली है।

आचार्य सुहस्ती तक आचार्य परम्परा विभक्त नहीं थी। गण की सारणा-वारणा एवं शैक्षणिक व्यवस्था दोनों दायित्वों का संचालन एक ही आचार्य की अनुशासना में संपन्न होता था। आचार्य सुहस्ती के बाद यह व्यवस्था विभक्त हो गई। गण के दायित्व को संभालने वाले गणाचार्य, आगम-वाचना प्रदान करने वाले वाचनाचार्य एवं सार्वजनीन अध्यात्म प्रवृत्तियों से युग चेतना को दिशा बोध देने वाले युगप्रधानाचार्य कहलाए।

तीनों दायित्व उत्तरोत्तर एक-दूसरे से व्यापक हैं। गणाचार्य का संबंध अपने गण से होता है। वाचनाचार्य भिन्न गण को भी वाचना प्रदान करते हैं। युगप्रधान का कार्यक्षेत्र सार्वभौम होता है। जैन जैनेतर सभी प्रकार के लोग उनसे लाभान्वित होते हैं।

गणधर वंश की परम्परा गुरुशिष्य की परम्परा थी। वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य परम्परा किसी एक गण या शाखा से संबंधित नहीं थी। किसी भी गण, कुल और शाखा में एक के बाद दूसरे जो भी प्रभावी वाचनाचार्य एवं युगप्रभावी प्रधानाचार्य हुए उनका नामक्रम इन युगप्रधान एवं वाचक परम्पराओं के साथ जोड़ा गया है।

आचार्य सुहस्ती के बाद तीनों परम्पराएं विभक्त रूप से प्रारम्भ हो जाने के बाद भी कई आचार्य ऐसे भी हुए हैं जो गणाचार्य एवं वाचनाचार्य दोनों पदों के संवाहक रहे हैं। युगप्रधानाचार्य भी गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों में से ही बनते रहे हैं।

आचार्य सुहस्ती का शिष्य समुदाय आचार्य महागिरि की अपेक्षा विशाल था। कल्पसूत्र में आचार्य सुहस्ती के १२ प्रभावशाली शिष्यों का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार हैं (१) आर्य रोहण, (२) यशोभद्र, (३) मेघगणी, (४) कामर्द्धिगणी, (५) सुस्थित, (६) सुप्रतिबुद्ध, (७) रक्षित, (८) रोहगुप्त, (९) ऋषिगुप्त, (१०) श्रीगुप्त, (११) ब्रह्मगणी, (१२) सोमगणी।

स्थविर आर्य रोहण से उद्देहगण, यशोभद्र से उदुपाटितगण, कामर्द्धि से वेशपाटितगण, सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध से कोटिकगण, ऋषिगुप्तसूरि से माणवगण, श्रीगुप्तसूरि से चारणगण का विकास हुआ। अवशिष्ट शिष्यों से संबंधित गण का उल्लेख नहीं मिलता।

आर्य सुहस्ती दशपूर्व की ज्ञानराशि से संपन्न प्रभावशाली आचार्य थे एवं धर्म धुरा के सफल संवाहक थे। उनके आचार्यकाल में जैन धर्म के प्रसार की सीमा अधिक विस्तृत हुई।

मगध की भांति सौराष्ट्र और अवन्ति देश भी जैन धर्म के केन्द्र बन गए।

---

१०. भद्राय सदने गत्वा मुक्तवैकां गुर्विणीं वधूम्।
वधूभिः सप्तमन्याभिः परिव्रज्यामुपाददे ॥१७५॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

११. गुर्व्या जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुलं महत्।
अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यते ऽवन्तिभूषणम्।
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकैः ॥१७७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११)

समय-संकेत

आचार्य सुहस्ती लगभग २३ वर्ष गृहस्थ जीवन में रहे। उन्होंने ७७ वर्ष के कुल चारित्र पर्याय में ४६ वर्ष तक युगप्रधान पद को अलंकृत किया। आचार्य महागिरि की भांति उनकी कुल आयु १०० वर्ष थी। सद्धर्म-धुरीण आचार्य सुहस्ती का वी. नि. २९१ (वि. पू. १७९, ई. पू. २३६) में स्वर्गवास हुआ।[१२]

आचार्य-काल
(वी. नि. २४५ से २९१)
(वि. पू. २२५ से १७९)
(ई. पू. २८२ से २३६)

---

१२. श्री आर्यसुहस्तिसूरि.....षट्चत्वारिंशद् ४६ वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायुः शतमेक १०० परिपाल्य श्रीवीरात् एकनवत्यधिकशतद्वये २९१ स्वर्गभाक्।
(पट्टावलीसमुच्चय, श्री पट्टावली सारोद्धार, पत्रांक १४९)

११. विश्वबन्धु आचार्य बलिस्सह

आचार्य बलिस्सह वर्चस्वी व्यक्तित्व के धनी थे। वे प्रभावशाली आचार्य थे। पूर्वों के ज्ञाता थे। आगम श्रुत का उन्हें गहन अध्ययन था। उन्होंने गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों पदों का दायित्व संभाला था।

गुरु-परम्परा

आचार्य बलिस्सह के गुरु आचार्य महागिरि थे।[1] आचार्य स्थूलभद्र ने आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ती दोनों की नियुक्ति आचार्य पद पर की।[2] अवस्था में ज्येष्ठ होने के कारण आचार्य महागिरि की शाखा को प्राचीन आचार्यों द्वारा मुख्यता प्रदान की गई।[3] आचार्य महागिरि की शाखा के गणाचार्य बलिस्सह थे। आचार्य महागिरि के आठ प्रभावशाली शिष्य थे। उनमें प्रथम शिष्य का नाम बहुल उपनाम उत्तर और द्वितीय शिष्य का नाम बलिस्सह था।[4]

जन्म एवं परिवार

आचार्य बलिस्सह ब्राह्मण वंशज थे। उनका गोत्र कौशिक था। बलिस्सह के वन्दना प्रसंग में नंदी सूत्र का उल्लेख है

'तत्तो कोसिअगोत्तं बहुलस्स सरिव्वयं वंदे ॥२४॥'

आचार्य बलिस्सह के जन्मस्थान, परिवार संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है।

जीवन-वृत्त

संयमी जीवन में उन्होंने श्रुतधर्म की विशिष्ट आराधना की। वे आचार्य महागिरिगण के गणाचार्य बने। ज्ञान गुण संपदा से मंडित होने के कारण वाचनाचार्यपद पर उनकी नियुक्ति हुई। इससे पहले वाचनाचार्य पद की पृथक् व्यवस्था नहीं थी। युगप्रधान पद में ही वाचनाचार्य पद समाहित था।

आचार्य बलिस्सह के गण की प्रसिद्धि उत्तरबलिस्सह के नाम से हुई।[5] आचार्य बलिस्सह के ज्येष्ठ गुरुबन्धु बहुल का एक नाम उत्तर था अतः दोनों गुरु-बंधुओं के नाम का समन्वयात्मक रूप उत्तरबलिस्सह नाम में प्रतिबिम्बित है।

आचार्य सुहस्ती के आठ शिष्यों में शिष्य बहुल सबसे ज्येष्ठ थे, पर गणाचार्य पद पर नहीं थे। फिर भी 'उत्तरबलिस्सह' गण के नाम में बहुल के 'उत्तर' नाम की प्रधानता गणाचार्य बलिस्सह का अपने गुरुभ्राता के प्रति सम्मान भाव-सूचक है, अथवा गुरुबन्धु बहुल से आर्य बलिस्सह उत्तर में होने के कारण उत्तरबलिस्सह नामकरण की कल्पना संभव है।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार सम्राट् खारवेल के द्वारा कुमारगिरि पर्वत पर आयोजित महाश्रमण सम्मेलन में आचार्य बलिस्सह उपस्थित थे। इसी प्रसंग पर उन्होंने विद्यानुप्रवाद पूर्व से अंगविद्या जैसे शास्त्र की रचना की।

---

१. महागिरिस्स अंतेवासी बहुलो बलिस्सहो।
(नंदीचूर्णि, पृ. ८)

२. परि. पर्व. सर्ग १० श्लोक ४०।

३. अत्र चायं वृद्धसंप्रदायः स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयं आर्य्यमहागिरिः आर्यसुहस्ती च। तत्र आर्य्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या।
(मेरुतुंगीया स्थविरावली, टीका ५)

४. थेरस्स णं अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिण्णाया हुत्था, तं जहा (१) थेरे उत्तरे (२) थेरे बलिस्सहे, (३) थेरे धणड्ढे, (४) थेरे सिरिड्ढे, (५) थेरे कोडिन्ने, (६) थेरे नागे, (७) थेरे नागमित्ते, (८) थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्ते णं।
(कल्पसूत्र स्थविरावली)

५. थेरेहिन्तो णं उत्तरबलिस्सहेहिन्तो तत्थ णं उत्तर बलिस्सहे नामं गणे निग्गये।
(कल्पसूत्र स्थविरावली)

सम्राट् खारवेल द्वारा आयोजित महाश्रमण सम्मेलन का काल वी. नि. ३२७ से ३२९ (वि. पू. १४३ से १४१, ई. पू. २०० से १९८) तक का संभव है। मगध पर वी. नि. ३२३ (वि. पू. १४७) में शुंगवंश का शासन स्थापित हुआ। उसके बाद कलिंग सम्राट् खारवेल ने चार वर्ष के अन्तराल में दो बार जैन धर्म के विरोधी पुष्यमित्र शुंग के साथ युद्ध कर विजय पाई। तदनन्तर कुमारगिरि पर्वत पर यह महाश्रमण सम्मेलन किया था। सम्राट् खारवेल का वी. नि. ३३० में स्वर्गवास हो गया था।

राजवंश

आचार्य बलिस्सह के शासन-काल में मगध पर मौर्यवंश का राज्य था। इस राज्य का प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य था और अन्तिम सम्राट बृहद्रथ था। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने बृहद्रथ का वध कर वी. नि. ३२३ (वि. पू. १४७, ई. पू. २०४) में मगध की सत्ता को अपने हाथ में ले लिया था। इस प्रसंग से यह सिद्ध है कि आचार्य बलिस्सह के शासन काल में लगभग ७८ वर्ष तक मगध पर मौर्यवंश का शासनकाल रहा। मौर्य सम्राट् अधिकांश जैनी या जैनधर्म के समर्थक रहे हैं। मौर्य शासन का सुप्रसिद्ध अमात्य चाणक्य भी जैन था।

वी. नि. की चतुर्थ शताब्दी के तृतीय दशक में मगध पर शुंग वंश का आधिपत्य हो गया था। शुंग वंश के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म की उन्नति हुई।

कलिंग में इस समय सम्राट् खारवेल का शासन था। सम्राट् खारवेल आर्हद् धर्म का परम उपासक था। सम्राट् खारवेल के कारण श्रमणधर्म विरोधी शुंगवंश के शासनकाल में भी जैन धर्म का बगीचा फलता-फूलता रहा। आचार्य बलिस्सह का धर्मप्रचार कार्य बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियों में भी अनेक दृष्टियों से विकासमान था।

कल्पसूत्र स्थविरावली में बलिस्सह गण की चार शाखाओं का उल्लेख इस प्रकार है (१) कोसंबिया (कौशम्बिका), (२) सोइत्तिया, (३) कोडंबिणी, (४) चंदनागरी। आर्य बलिस्सह के चार शिष्यों से इन चार शाखाओं का जन्म हुआ था।

समय-संकेत

आचार्य बलिस्सह आचार्य महागिरि-गण के गणाचार्य एवं वाचक परम्परा के प्रथम वाचनाचार्य थे। इन्होंने लगभग ८४ वर्षों तक गणाचार्य एवं वाचनाचार्य पद पर रहकर जैन शासन की सेवा की एवं आचार्य महागिरि के गण को चतुर्मुखी विकास दिया। आचार्य बलिस्सह लगभग १०५ वर्ष की उम्र में वी. नि. ३२९ (वि. पू. १४१, ई. पू. १९८) स्वर्गवासी हुए।

आचार्य महागिरि का स्वर्गवास वी. नि. २४५ (वि. पू. २२५, ई. पू. २८२) में हुआ था।

वाचनाचार्य स्वाति का आचार्य-काल वी. नि. ३२९ (वि. पू. १४१ ई. पू. १९८) से प्रारम्भ होता है।

वाचनाचार्य बलिस्सह का आचार्य-काल आचार्य महागिरि और स्वाति के मध्यवर्ती होने के कारण वी. नि. २४५ से ३२९ (वि. पू. २२५ से १४१, ई. पू. २८२ से १९८) तक अनुमानित है।

पट्टावलीकारों ने आचार्य बलिस्सह के आचार्य-काल का उल्लेख नहीं किया है।

आचार्य-काल

(वी. नि. २४५-३२९)
(वि. पू. २२५-१४१)
(ई. पू. २८२-१९८)

१२. गुणगणमण्डित आचार्य गुणसुन्दर

युगप्रधानाचार्यों की परम्परा में आचार्य गुणसुन्दर की गणना है। गुणसुन्दर उनका नाम था। ज्ञानादि गुणों से भी वे संपन्न थे। दशपूर्वधर आचार्यों में गुणसुन्दर तृतीय हैं।

गुरु-परम्परा

आचार्य गुणसुन्दर दशपूर्वधर आचार्य सुहस्ती के शिष्य होने चाहिये। आचार्य सुहस्ती के शिष्य परिवार में एक शिष्य का नाम मेघगणी था। अनेक विद्वानों का अनुमान है आचार्य गुणसुन्दर का ही मेघगणी के नाम से उल्लेख है। दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।

आचार्य सुहस्ती एवं वज्रस्वामी के अन्तराल काल में वल्लभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य रेवती मित्र, आचार्य मंगु, आचार्य धर्म, आचार्य भद्रगुप्त आदि कई प्रभावक युगप्रधान आचार्य हुए। उनमें आचार्य गुणसुन्दर एक थे। युगप्रधान आचार्यों में आचार्य सुहस्ती के बाद गुणसुंदर का क्रम है।[1]

जीवन-वृत्त

आचार्य गुणसुन्दर के वंश, जन्म-स्थान आदि के संबंध की सामग्री उपलब्ध नहीं है। उनका जन्म संवत् वी. नि. २३५, ई. पू. २९२ (वि. पू. २३५) दीक्षा-संवत् वी. नि. २५९ (वि. पू. २११) बताया है। वे वी. नि. २९१ (वि. पू. १७९) में युग प्रधानाचार्य पद पर आसीन हुए। संसार को सार्वभौम अहिंसा और मैत्री का संदेश देकर उन्होंने विश्व-बन्धुत्व की भावना को साकार रूप दिया और जैन दर्शन की विशेष प्रभावना की।

समय-संकेत

आचार्य गुणसुन्दर की आयु १०० वर्ष की थी। उन्होंने ४४ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य के दायित्व का कुशलतापूर्वक संचालन किया।

उनका स्वर्गवास वी. नि. ३३५ (वि. पू. १३५, ई. पू. १९२) का है।[2]

आचार्य-काल

(वी. नि. २९१-३३५)
(वि. पू. १७९-१३५)
(ई. पू. २३६-१९२)

---

१. महागिरि सुहत्थि गुणसुंदर च सामज्ज खंदिलायरियं।
रेवइमित्तं धम्मं च भद्दगुत्तं सिरिगुत्तं ॥११॥
(दुःषमाकाल श्री श्रमणसंघस्तोत्रम्)

२. दुस्सम काल-समण-संघत्थव 'युगप्रधान' पट्टावली।

१३-१४. स्वाध्यायप्रिय आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध

आचार्य सुहस्ती के शासनकाल में गणधर वंश, वाचक वंश और युगप्रधानाचार्य परम्परा प्रारम्भ हुई। गणधर वंश परम्परा में आचार्य सुहस्ती के बाद आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध गणाचार्य पद पर सुशोभित हुए। तप, जप की विशिष्ट साधना से इन युगल बंधुओं ने जैन धर्म की विशेष प्रभावना की। कोटिक गच्छ का उद्भव इनके शासन में हुआ।

गुरु-परम्परा

आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के गुरु आचार्य सुहस्ती थे। आचार्य सुहस्ती दशपूर्वधर थे। आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध ने विविध विषयों का प्रशिक्षण पाया। आचार्य सुहस्ती श्रुतधर आचार्य स्थूलभद्र के शिष्य थे। आचार्य महागिरि सुहस्ती के ज्येष्ठ गुरुबंधु थे। आचार्य स्थूलभद्र के दीक्षा गुरु श्रुतधर आचार्य संभूतविजय थे।

जन्म एवं परिवार

सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध काकन्दी के राजकुमार थे। उनका व्याघ्रापत्य गोत्र था। आचार्य सुस्थित का जन्म वी. नि. २४३ (वि. पू. २२७, ई. पू. २८४) में हुआ। आचार्य सुप्रतिबुद्ध उनके सहोदर एवं गुरु-बन्धु (एक गुरु के शिष्य) थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य सुस्थित ३१ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। श्रुत-संपन्न आचार्य सुहस्ती के पास उन्होंने वी. नि. २७४ (वि. पू. १९६, ई. पू. २५३) में मुनि-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद १७ वर्ष तक गुरु की सन्निधि में रहकर उन्होंने संयम साधना के क्षेत्र में विकास किया। शास्त्रीय ज्ञान ग्रहण में भी उनकी गति उत्तरोत्तर विस्तार पाती रही।

आचार्य महागिरि और आचार्य सुहस्ती की गण व्यवस्था भिन्न-भिन्न थी। प्रीतिवश दोनों एक साथ विहरण करते थे। आचार्य सुहस्ती के गण का दायित्व उनके स्वर्गवास के बाद वी. नि. २९१ (वि. पू. १७९, ई. पू. २३६) में आचार्य सुस्थित ने संभाला। पद-ग्रहण के समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी। सहोदर सुप्रतिबुद्ध उनके अनन्य सहयोगी थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में आचार्य सुहस्ती के बाद सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध दोनों के नाम का गणाचार्य के रूप में एक साथ उल्लेख हुआ है, पर गण के प्रमुख संचालक संभवतः आचार्य सुस्थित थे।

आचार्य सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध के पांच शिष्य थे[1] १. इन्द्रदिन्न, २. प्रियग्रन्थ, ३. विद्याधर गोपाल, ४. ऋषिदत्त, ५. अर्हद्दत्त।

भुवनेश्वर के निकट कुमारगिरि पर्वत पर दोनों सहोदर सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध कठोर तपःसाधना में लगे। यह कुमारगिरि पर्वत वर्तमान में खण्डगिरि पर्वत ही है, जहां की अनेक जैन गुफाएं आज भी कलिंग नरेश खारवेल महामेघवाहन के धार्मिक जीवन की परिचायक है।

कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल के नेतृत्व में इसी पर्वत पर महत्त्वपूर्ण आगम वाचना का कार्य और श्रमणों का सम्मेलन हुआ। उसमें दोनों सहोदर आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध उपस्थित थे। कलिंगाधिपति भिक्षुराज खारवेल ने इन दोनों का विशेष सम्मान किया।[2]

---

१. थेराणं सुट्ठिअसुप्पडिबुद्धाणं कोडीअ काकंदाणं वग्घावच्चसगुत्ताणं इमे पंच थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था, तं जहा १. थेरे अज्जइंददिन्ने, २. थेरे पियगंथे, ३. थेरे विज्जाहरगोवाले कासवगोत्तेणं, ४. थेरे इसिदत्ते, ५. थेरे अरहदत्ते।

(कल्पसूत्र स्थविरावली)

२. सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धे, अज्जे दुन्ने वि ते नमंसामि।
भिक्खुराय-कलिंगाहिवेण सम्माणिए जिट्ठे ॥१०॥

(हिमवंत-स्थविरावली)

पट्टावली ग्रंथ में प्राप्त उल्लेखानुसार काकन्दी नगरी में दोनों साधकों ने जिनेश्वर देव के नाम का एक कोटि (एक करोड़ बार) जप किया। इस उच्चतर साधना से संघ को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उक्त साधना के परिणामस्वरूप आचार्य सुस्थित के गच्छ का नाम कोटिकगच्छ हुआ।[3]

कल्पसूत्र स्थविरावली में कोटिक गण की (१) उच्च नागरी, (२) विद्याधरी, (३) वज्री, (४) माध्यमिका इन चार शाखाओं का उल्लेख है।[4]

कोटिगण के चार कुल थे १. बंभलिज्ज, २. वत्थलिज्ज, ३. वाणिज्ज, ४. पण्णवाहण।

आचार्य इन्द्रदिन्न के शिष्य आचार्य दिन्न एवं आचार्य दिन्न के शिष्य शांतिसेन थे। आचार्य शांतिसेन से उच्चनागरी शाखा का विकास हुआ।[5] उच्चनागरी शाखा का संबंध उच्चनगर से भी बताया जाता है।

शिष्य प्रियग्रन्थ से मध्यम शाखा का, शिष्य विद्याधर गोपाल से विद्याधर शाखा का जन्म हुआ था।[6]

युगप्रधान आचार्य सुहस्ती के १२ प्रमुख शिष्यों में से आचार्य सुस्थित एक थे। आचार्य रोहण आदि अपने ग्यारह गुरु-बन्धु (एक गुरु से दीक्षित) मुनियों में चार मुनि आचार्य सुस्थित से ज्येष्ठ थे और सात मुनि कनिष्ठ थे। इन मुनियों से कई शाखाओं, गणों एवं कुलों का विकास हुआ।

आचार्य सुस्थित स्वाध्याययोग एवं जपयोग की साधना में विशेष रूप से प्रवृत्त थे।

समय-संकेत

आचार्य सुस्थित के गृहस्थ जीवन का काल लगभग ३१ वर्ष का है। उन्होंने ६८ वर्ष की संयम पर्याय में ४८ वर्ष तक श्रमण संघ का नेतृत्व किया। कुमारगिरि पर्वत पर ९६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वाध्यायप्रिय आचार्य सुस्थित वी. नि. ३३९ (वि. पू. १३१, ई. पू. १९८) में स्वर्गवासी हुए।

आचार्य-काल

(वी. नि. २९१-३३९)
(वि. पू. १७९-१३१)
(ई. पू. २३६-१९८)

---

३. (क) प्रीतिं सृजन्ती पुरुषोत्तमानां दुग्धाम्बुराशेरिव पचवासा।
हृदा जिनं विभ्रत आविरासीत्कुसुरियुन्मादिह "कोटिकाख्या" ॥४४॥
(पट्टावली समुच्चय, श्री महावीर पट्ट, परम्परा पृ. १२४)

(ख) थेरेहिंतो सुट्ठिअसुप्पडिबद्धदेहिंतो कोडिअ काकंदगेहिंतो। वग्घावच्चसगुत्तेहिंतो इत्थ णं कोडिअगणे नामं गणे निग्गए ॥
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

४. थेरेहिंतो सुट्ठिअसुप्पडिबुद्धेहिंतो.....इत्थ णं कोडिअगणे नामं गणे निग्गए तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ चत्तारि कुलाइं। से किं तं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति तं जहा उच्चनागरी विज्जाहरी अ वयरी अ मज्झिमिल्ला य। कोडिअगणस्स एआ हवंति चत्तारि साहाओ ॥१॥ से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तं जहा पढमित्थ बंभलिज्ज, बिइअं नामेण वत्थलिज्जं तु। तइअं पुण वाणिज्जं चउत्थयं पण्णवाहणयं ॥२॥
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

५. थेरस्स णं अज्जइंददिन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्नथेरे..... थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो णं माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चनागरी साहा निग्गया।
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

६. थेरेहिंतो णं पियगंथेहिंतो एत्थ णं मज्झिमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो णं विज्जाहरगोवालेहिंतो तत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया।
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

१५. सद्भाव समुद्भावक आचार्य स्वाति

आचार्य बलिस्सह की भांति आचार्य स्वाति भी जैन परम्परा में वाचनाचार्य पद पर नियुक्त थे। उस समय युगप्रधान परम्परा, वाचनाचार्य परम्परा और गणाचार्य परम्परा भिन्न-भिन्न रूप में प्रवर्तमान थी। युगप्रधान परम्परा का प्रतिनिधित्व आचार्य गुणसुन्दर कर रहे थे। वाचनाचार्य बलिस्सह के बाद वाचनाचार्य स्वाति का काल प्रारम्भ होता है, उस समय तक आचार्य गुणसुंदर को युगप्रधान का दायित्व संभाले हुए लगभग ३८ वर्ष हो गये थे।

गुरु-परम्परा

नंदी-सूत्र स्थविरावली के अनुसार प्रस्तुत आचार्य स्वाति वाचनाचार्य बलिस्सह के उत्तराधिकारी थे।[1] आचार्य बलिस्सह दशपूर्वधर आचार्य महागिरि के शिष्य थे। आचार्य महागिरि से पूर्व की गुरु-परम्परा नंदी स्थविरावली और कल्पसूत्र स्थविरावली में प्रायः समान है। आचार्य सुहस्ती की परम्परा में गणाचार्य पद पर इस समय आचार्य सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य स्वाति का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ। नंदी सूत्र के उल्लेखानुसार उनका हारित गोत्र था।[2] पट्टावली समुच्चय के रचनाकार ने प्रस्तुत वाचनाचार्य स्वाति को ही तत्त्वार्थ के रचनाकार उमास्वाति माना है[3] पर ऐसा संभव नहीं है। उमास्वाति का गोत्र कौभीषण था। वे उच्चनागर शाखा के थे।[4] आचार्य स्वाति के समय में उच्चनागर शाखा का उद्भव ही नहीं हुआ था अतः दोनों के जीवन प्रसंग स्पष्टतः उनकी भिन्नता का बोध कराते हैं।

आचार्य स्वाति एक प्रभावशाली आचार्य थे। इन्होंने आचार्य बलिस्सह के बाद वाचनाचार्य पद को कुशलतापूर्वक संभाला और जैन शासन की महती प्रभावना की।

आचार्य स्वाति के समय मगध पर मौर्य वंश का शासन था।

समय-संकेत

वाचनाचार्य स्वाति का काल आचार्य बलिस्सह और आचार्य श्याम के मध्यवर्ती है। आचार्य बलिस्सह का स्वर्गवास वी. नि. ३२९ (वि. पू. १४१) और वाचनाचार्य श्याम का आचार्यकाल वी. नि. ३३५ (वि. पू. १३५) से प्रारम्भ माना गया है अतः वाचनाचार्य स्वाति का समय वी. नि. ३२९ (वि. पू. १४१) से वी. नि. ३३५ (वि. पू. १३५) तक संभव है।

वाचनाचार्य स्वाति ने अहिंसा, समता, सद्भाव आदि का विकास कर जैनधर्म की महती प्रभावना की।

आचार्य-काल

(वी. नि. ३२९-३३५)
(वि. पू. १४१-१३५)
(ई. पू. १९८-१९२)

---

१. बलिस्सहस्स अंतेवासी साती। (नंदी चूर्णि)

२. हारियगोत्तं साइं च। (नंदी पद्य २५)

३. बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते।(पट्टावली, समुच्चय, पृ. ४६)

४. कौभीषणिना स्वातितनयेन .....
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन .... (तत्त्वार्थ भाष्य कारिका)

१६. सन्त-श्रेष्ठ आचार्य श्याम

वाचक परम्परा के आचार्य स्वाति के बाद श्यामाचार्य हुए। युगप्रधान पट्टावलीकारों ने आचार्य श्याम को युगप्रधान माना है। युगप्रधानाचार्यों की शृंखला में श्यामाचार्य का क्रम बारहवां और वाचनाचार्यों की कड़ी में उनका क्रम तेरहवां है।

जैन परम्परा में चार कालकाचार्य हुए हैं। उनमें प्रस्तुत श्यामाचार्य को ही प्रथम कालक के रूप में पहचाना गया है।[1]

वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में युगप्रधान गुणसुंदर के बाद कालकाचार्य का नाम एवं 'दुस्सम-काल समण-संघत्थव' युगप्रधान पट्टावली में गुणसुन्दर के बाद युगप्रधान के रूप में श्यामाचार्य का नाम है। आचार्य गुणसुंदर के बाद एक युगप्रधान पट्टावली में कालक के नाम का उल्लेख और दूसरी युगप्रधान पट्टावली में श्याम नाम का उल्लेख श्यामाचार्य और कालकाचार्य की अभिन्नता को प्रमाणित करता है।

गुरु-परम्परा

वाचनाचार्य क्रम में आचार्य महागिरि के शिष्य बलिस्सह के बाद आचार्य स्वाति और आचार्य स्वाति के बाद श्याम हुए।

युगप्रधान पट्टावली में दशपूर्वधर आचार्य सुहस्ती के बाद युगप्रधान आचार्य गुणसुंदर और उनके बाद आचार्य श्याम का उल्लेख है। युगप्रधान गुणसुंदर और श्यामाचार्य दोनों की गणना दशपूर्वधर आचार्यों में की गई है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य श्याम का जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ। नंदी के उल्लेखानुसार वे हारित गोत्र के थे।[2] उनका जन्म समय वी. नि. २८० (वि. पू. १९०, ई. पू. २४७) है। परिवार संबंधी अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं है।

जीवन-वृत्त

संसार से विरक्त होकर श्यामाचार्य ने वी. नि. ३०० (वि. पू. १७०, ई. पू. २२७) में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था २० वर्ष की थी।

युगप्रधानाचार्य गुणसुन्दर और वाचनाचार्य स्वाति के स्वर्गवास के बाद आचार्य श्याम ने वी. नि. ३३५ (वि. पू. १३५, ई. पू. १९२) में युगप्रधानाचार्य और वाचनाचार्य दोनों पदों का दायित्व एक साथ संभाला।

दोनों पदों पर श्यामाचार्य की नियुक्ति उनके प्रभावक व्यक्तित्व को सूचित करती है। आचार्य श्याम की श्रुत साधना विशिष्ट थी। वे जैन सैद्धान्तिक विषयों के सूक्ष्म व्याख्याकार थे। इतिहास उनकी प्रसिद्धि निगोद व्याख्याता के रूप में है। एक बार महाविदेह क्षेत्र में सीमन्धर स्वामी से सूक्ष्म निगोद की व्याख्या सौधर्मेन्द्र ने सुनी और प्रश्न किया "भगवन्! क्या भरत क्षेत्र में निगोद संबंधी इस प्रकार की व्याख्या करने वाले कोई मुनि, उपाध्याय या आचार्य हैं?"

सौधर्मेन्द्र के प्रश्न का समाधान करते हुए सीमन्धर स्वामी ने आचार्य श्याम के नाम का उल्लेख किया। सौधर्मेन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के रूप में आचार्य श्याम के पास आया। उनके ज्ञान का परीक्षण करने के लिए उसने अपना हाथ उनके सामने किया। हस्त-रेखा के आधार पर आचार्य श्याम ने जान लिया 'नवागन्तुक ब्राह्मण की आयु पल्योपम से ऊपर है।' आचार्य श्याम ने उसकी ओर गंभीर दृष्टि से देखा और कहा "तुम मानव नहीं, देव हो।" सौधर्मेन्द्र को आचार्य श्याम के इस उत्तर से संतोष हुआ एवं निगोद के विषय में

---

१. तिरिवीरओ गएसु, पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥५५॥
(रत्नसंचय प्रकरण, पत्रांक ३२)

२. हारियगोत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं ॥२५॥
(नंदी स्थविरावली)

विस्तार से जानना चाहा। आचार्य श्याम ने निगोद का सांगोपांग विवेचन कर इन्द्र को आश्चर्याभिभूत कर दिया। अपनी यात्रा का रहस्य उद्घाटित करते हुए सौधर्मेन्द्र ने कहा "मैंने सीमन्धर स्वामी से जैसा विवेचन निगोद के विषय में सुना था, वैसा ही विवेचन आपसे सुनकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं।"

देवों की रूप संपदा को देखकर कोई शिष्य श्रमण निदान न कर ले, इस हेतु भिक्षाचर्या में प्रवृत्त मुनियों के आगमन से पूर्व ही सौधर्मेन्द्र श्यामाचार्य की प्रशंसा करता हुआ जाने लगा। तब श्यामाचार्य अपने शिष्यों को सिद्धांतों के प्रति अधिक आस्थाशील बनाने की दृष्टि से बोले "सौधर्मेन्द्र! मेरे शिष्य देवागमन की बात किसी सांकेतिक चिह्न के बिना कैसे पहचानेंगे?" आचार्य देव के संकेत का अनुशीलन करते हुए सौधर्मेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्व से पश्चिमाभिमुख कर दिया। आचार्य श्याम के शिष्य गोचरी करके लौटे। वे इन्द्रागमन से लेकर द्वार के स्थानान्तरण तक की सारी घटना सुनकर विस्मयाभिभूत हो गए।

इन्द्रागमन की यह घटना प्रभावक चरित्र के कालकसूरि प्रबन्ध में आचार्य कालक के साथ एवं विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथों में आचार्य आर्यरक्षित के साथ भी प्रयुक्त हैं।

साहित्य

आचार्य श्याम द्रव्यानुयोग के विशेष व्याख्याकार थे। प्रज्ञापना जैसे विशालकाय सूत्र की रचना उनके विशद वैदुष्य का परिणाम है। प्रज्ञापना का प्राकृत रूप पन्नवणा है। पन्नवणा आगम का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

प्रज्ञापना (पन्नवणा) जैन आगम साहित्य दो भागों में विभक्त हैं। अंग साहित्य और अनङ्ग साहित्य अथवा अंग साहित्य और उपाङ्ग साहित्य। प्रज्ञापना (पन्नवणा) चौथा उपाङ्ग है। इस उपाङ्ग के ३६ प्रकरण हैं। यह समवायाङ्ग आगम का उपाङ्ग माना गया है। प्रज्ञापना के मुख्य दो विभाग हैं जीव प्रज्ञापना और अजीव प्रज्ञापना। जीव प्रज्ञापना में जैन-दर्शन सम्मत जीव विज्ञान संबंधी विस्तृत विवेचन है। पांच स्थावर जीवों के वर्णन में वनस्पति विज्ञान को विस्तार से समझाया गया है। त्रस जीवों के प्रकरण में मनुष्य के तीन प्रकार बताए गए हैं कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपक। अन्तर्द्वीपक मनुष्यों के वर्णन में हयकर्ण, गजकर्ण, गोकर्ण, अयोमुख, गोमुख, गजमुख, हस्तीमुख, सिंहमुख आदि नाना प्रकार के मनुष्यों का अथवा मनुष्य जातियों का उल्लेख है जो शोध का विषय है। अनार्यों के प्रकरण में शक, यवन, किरात, बर्बर आदि म्लेच्छ जातियों का तथा आर्यों के प्रकरणान्तर्गत जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य के वर्णन में नाना प्रकार की आर्य जातियों, आर्य कुलों एवं आर्य जनोचित विविध कोटि के व्यापार का वर्णन है। इस ग्रंथ में अर्धमागधी बोलने वालों को भाषार्य कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य देश निवासी मनुष्यों की प्रमुख भाषा अर्धमागधी थी।

अजीव प्रज्ञापना प्रकरण में जैन-दर्शन सम्मत धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि द्रव्य विभाग का वर्णन है। दार्शनिक दृष्टि से यह विभाग महत्त्वपूर्ण है। पन्नवणा का ग्यारहवां पद भाषा विज्ञान से संबंधित है।

चार अनुयोगों में प्रज्ञापना आगम द्रव्यानुयोग में परिगणित किया गया है। अङ्गों में भगवती आगम और उपाङ्गों में पन्नवणा सर्वाधिक विशाल है। इस सूत्र पर टीकाकार आचार्य हरिभद्र की ३७२८ श्लोक परिमाण लघु टीका और आचार्य मलयगिरि की १६००० श्लोक परिमाण विशद पद व्याख्या नामक विशाल टीका है। विद्वान् हरिभद्र की टीका विषम पदों की व्याख्या मात्र है। मनीषी मलयगिरि की टीका हरिभद्र की लघुटीका के आधार पर रची गई है।

आचार्य श्याम की प्रभावकता एवं बहुश्रुतता के कारण उनके प्रज्ञापना ग्रंथ को आगम रूप में मान्यता प्राप्त हुई। यह आगम तत्त्वज्ञान का विशाल कोष ग्रंथ है। विशाल श्रुत सागर का मंथन कर आचार्य श्याम ने यह ग्रंथरत्न जैन समाज को अर्पित किया है।

प्रज्ञापना ग्रंथ के प्रारम्भिक स्तुति पद्यों में आचार्य श्याम को दुर्धरपूर्वश्रुतधारक २३वां वाचकपुरुष कहा है।[३] इतिहास पुरुष आचार्य मेरुतुंग के अभिमत से गणधर आगमों के वाचकपुरुष हैं। उनकी संख्या संयुक्त कर लेने पर श्यामाचार्य को २३वां वाचकपुरुष माना जा सकता है। तीर्थंकर महावीर की आचार्य पट्ट परम्परा आचार्य सुधर्मा से प्रारंभ होती है। अतः, आचार्य श्याम सुधर्मा की पट्ट परम्परा में १३वें वाचकपुरुष हैं।

समय-संकेत

श्यामाचार्य दीर्घजीवी थे। मुनि जीवन के ७६ वर्ष के काल में ४१ वर्ष तक वाचनाचार्य और युगप्रधानाचार्य दोनों पदों को अंलकृत कर आचार्य श्याम ने संत की भूमिका में श्रेष्ठ एवं गरिमामय स्थान प्राप्त किया। उनका संपूर्ण आयुष्य ९६ वर्ष १ मास में १ दिन कम का बताया गया है। सन्त-श्रेष्ठ श्यामाचार्य का स्वर्गवास वी. नि. ३७६ (वि. पू. ९४, ई. पू. १५१) में हुआ।[४]

आचार्य-काल

(वी. नि. ३३५-३७६),
(वि. पू. १३५-९४),
(ई. पू. १९२-१५१)

---

३. निज्जूढा जेण तया पन्नवणा सव्वभावपन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवरो सो जयइ सामज्जो ॥
(प्रज्ञापना-स्तुति पद्य)

४. दुस्सम-काल-समण-संघत्थव-युगप्रधान पट्टावली।

१७. शिव-सुखाकांक्षी आचार्य षाण्डिल्य

षाण्डिल्य जैन शासन में मेधावी आचार्य थे। वाचक परम्परा और युगप्रधान परम्परा दोनों परम्पराओं में षाण्डिल्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। युगप्रधान परम्परा में उनका क्रम १३वां और वाचक परम्परा में उनका क्रम १४वां है। दशपूर्वधर परम्परा में उनका क्रम पांचवां है।

गुरु-परम्परा

वाचनाचार्य क्रम में आचार्य महागिरि के शिष्य वाचनाचार्य बलिस्सह के बाद आचार्य स्वाति और उनके बाद वाचनाचार्य श्याम हुए। श्यामाचार्य के बाद वाचनाचार्य षाण्डिल्य का क्रम है।

युगप्रधान पट्टावली में युगप्रधान गुणसुंदर के बाद श्याम और षाण्डिल्य का उल्लेख है। षाण्डिल्य का उल्लेख युगप्रधान पट्टावली में स्कन्दिल के नाम से है। आगम वाचनाकार स्कन्दिल से युगप्रधान क्रम में स्कन्दिल नाम से उल्लिखित होने वाले प्रस्तुत षाण्डिल्य भिन्न हैं।

जीवन-वृत्त

आचार्य षाण्डिल्य का कौशिक गोत्र था।[1] उनका जन्म वी. नि.३०६, (वि. पू. १६४, ई. पू. २२१) में हुआ। परिवार संबंधी अन्य सामग्री उपलब्ध नहीं है। भोगों से विरक्त होकर षाण्डिल्य ने वी. नि. ३२८ (वि. पू. १४२, ई. पू. १९९) में मुनि दीक्षा ग्रहण की। आचार्य श्याम के बाद वी. नि. ३७६ (वि. पू. ९४, ई. पू. १४१) में उन्होंने वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य दोनों पदों का दायित्व संभाला। आचार्य पद-ग्रहण के समय उनकी अवस्था ७० वर्ष की थी।

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आचार्य षाण्डिल्य को नंदी सूत्र में जीतधर-विशेषण से विशेषित किया है।[2] यह विशेषण जीत व्यवहार की प्रतिपालना में उनकी पूर्ण जागरूक वृत्ति का संकेत करता है।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार आचार्य षाण्डिल्य के आर्य जीत और आर्य समुद्र नाम के दो शिष्य थे।[3]

आचार्य षाडिल्य का आचार्य जीतधर विशेषण आर्य जीत शिष्य के नाम के आधार पर प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

षाण्डिल्य गच्छ का जन्म आचार्य षाडिल्य से हुआ है। कालान्तर में यह गच्छ चन्द्रगच्छ में सम्मिलित हो गया था। आचार्य वृद्धवादी इन्हीं आचार्य षाण्डिल्य के शिष्य थे। ऐसा कई विद्वान् शोधकर्त्ताओं का अनुमान है।

आचार्य षाण्डिल्य के समय में मगध पर शुंग वंश का शासन था।

समय-संकेत

आचार्य षाण्डिल्य का गृहस्थ जीवनकाल २२ वर्ष का था। वे ४८ वर्ष तक सामान्य मुनि पर्याय में रहे। संयमी जीवन के कुल ८६ वर्ष के काल में ३८ वर्ष तक उन्होंने वाचनाचार्य पद एवं युगप्रधान पद को सुशोभित किया। आचार्य षाण्डिल्य का १०८ वर्ष की उम्र में वी. नि. ४१४ (वि. पू. ५६, ई. पू. ११३) में स्वर्गवास हुआ।

आचार्य-काल

(वी. नि. ३७६-४१४)
(वि. पू. ९४-५६)
(ई. पू. १५१-११३)

---

१. वंदे कोसियगोत्तं ॥२५॥
(नंद स्थविरावली)

२. (क) वंदे कोसियगोत्तं संडिल्लं अज्जजीयधरं ॥२५॥
(नंद स्थविरावली)

(ख) पंडिल्लो कोसियसगोत्तो, सो य अज्जजीतधरो त्ति अज्जं। आर्य .....जीतं ति-सुत्तं धरति.....
(नंदी चूर्णि, पृ. ८)

३. तेषां षाडिल्याचार्याणां आर्य जीतधरार्यसमुद्रौ द्वौ शिष्यावभूताम्।
(हिमवन्त स्थविरावली)

१८-२०. अहमिन्द्र आचार्य इन्द्रदिन्न, आचार्य दिन्न, आचार्य सिंहगिरि

प्रभावक आचार्यों की परम्परा में आचार्य इन्द्रदिन्न, आचार्य दिन्न और आचार्य सिंहगिरि तीनों को एक साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य सुहस्ती की गणाचार्य परम्परा में इन तीनों का क्रमशः उल्लेख है। कल्पसूत्र स्थविरावली में इनका वर्णन है।

गुरु-परम्परा

आचार्य स्थूलभद्र के बाद आचार्य महागिरि और सुहस्ती दोनों की शिष्य परम्परा और गण परम्परा भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध है। आचार्य महागिरि की शिष्य परम्परा में आचार्य बलिस्सह, आचार्य स्वाति आदि का उल्लेख है। आचार्य सुहस्ती की परम्परा में गणाचार्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध के बाद आचार्य इन्द्रदिन्न, आचार्य दिन्न, आचार्य सिंहगिरि हुए हैं। आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के पांच शिष्य थे। उनमें इन्द्रदिन्न का नाम प्रथम है। आचार्य दिन्न के दो शिष्य थे। शांति सेन और सिंहगिरि। दशपूर्वधर गगनगामिनी विद्या के धारक, प्रभावक आचार्य वज्रस्वामी के आचार्य सिंहगिरि गुरु थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य इन्द्रदिन्न और आचार्य दिन्न की जीवन संबंधी सामग्री विशेष प्राप्त नहीं है। आचार्य इन्द्रदिन्न के गुरुबंधु मुनि आचार्य प्रियग्रंथ के जीवन घटना उपलब्ध है।

प्रियग्रंथ मुनि मंत्र-विद्या के ज्ञाता थे। एक बार वे हर्षपुर नगर में गए। वहां एक यज्ञ में बकरे की बलि दी जा रही थी। प्रियग्रंथ ने सोचा किसी प्रकार से इस बकरे की बलि को रोकने पर जैन-धर्म की प्रभावना होगी। मुनि प्रियग्रंथ ने श्रावकों को मन्त्रित चूर्ण दिया और उस चूर्ण को बकरे पर डालने के लिए कहा श्रावकों ने वैसा ही किया। अभिमंत्रित चूर्ण के प्रभाव से बकरा बोलने लगा। बकरे के मुंह से मनुष्य की भाषा सुनकर लोग चकित रह गए। बकरे ने यज्ञ में होने वाली हिंसा को बन्द करने का उपदेश दिया और मुनि प्रियग्रंथ की उपासना करने की प्रेरणा दी।

मंत्रविद्या के बल पर मुनि प्रियग्रंथ ने ब्राह्मण समाज को प्रतिबोध देकर अध्यात्म के अनुकूल बनाया। इतिहास में प्रियग्रंथ मुनि मंत्रवादी के रूप में प्रख्यात हैं।

आचार्य सिंहगिरि

आचार्य सिंहगिरि के चार शिष्य थे आचार्य समित, आचार्य धनगिरि, आचार्य वज्र, आचार्य अर्हद्दत्त। इनमें आचार्य वज्र का जीवन आगे के प्रबन्ध में विस्तार से प्रस्तुत है। आचार्य सिंहगिरि के चारों शिष्यों में आचार्य वज्र अधिक प्रभावक थे। आचार्य समित और धनगिरि, आचार्य वज्रस्वामी के निकट संबंधी (ज्ञातिजन) थे। आर्य धनगिरि वज्रस्वामी के पिता और आर्य समित वज्रस्वामी के मामा थे। दोनों ने आचार्य वज्रस्वामी से पहले आचार्य सिंहगिरि से दीक्षा ग्रहण की। आर्य समित के जीवन की एक प्रभावक घटना है।

अचलपुर नगर के परिपार्श्व में कृष्णा और पूर्णा नामक दो नदियां बहती थीं। दोनों के मध्यवर्ती स्थान में ५०० तापस रहते थे। वह स्थान ब्रह्मद्वीप के नाम से प्रसिद्ध था। ब्रह्मद्वीप निवासी तापसों में एक पादलेप विद्या का विशेषज्ञ था। वह पैरों पर औषधि का लेप लगाकर नदी के पानी पर चलता हुआ पारणे के दिन अचलपुर में भोजन ग्रहण करने आया-जाया करता था। यह चमत्कार किसी मंत्र विद्या का नहीं था। औषधि विशेष का लेप लगाने के कारण ऐसा संभव था। सामान्य-जन इस दृश्य को देखकर बहुत प्रभावित थे। वे तापस के इस चमत्कार को तपस्या का फल मानकर प्रशंसा करते थे। कई लोग कहते थे कि ऐसा प्रभावशाली व्यक्ति अन्य धर्म में नहीं है और जैन शासन में भी नहीं है।

न हि वो दर्शने कोऽपि प्रभावोऽस्ति यथा हि नः।
श्रमणोपासकानेवं प्रजहास स तापसः ॥७३॥

(परि. पर्व, सर्ग १२)

इस प्रकार तापस की चामत्कारिक शक्ति के सामने जैन शासन का उपहास किया जा रहा था।

एक दिन संयोग से वज्रस्वामी के मातुल योगसिद्ध महातपस्वी समित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अचलपुर में पधारे। जैन श्रमणोपासकों ने जैन शासन की अपवादकारी स्थिति की अवगति आचार्य समित को दी। आचार्य समित बोले

नास्य कऽपि तपः शक्तिस्तापसस्य तपस्विनः।
केनाप्यसौ प्रयोगेण प्रतारयति बोऽखिलान् ॥७७॥

(परि. पर्व, सर्ग १२, पृ. १००)

श्रमणोपासको! यह चमत्कार तप का नहीं, पादलेप का है। जल से पाद प्रक्षालन करने के बाद ऐसा चमत्कार तापस के द्वारा संभव नहीं है। स्थिति को विश्वस्त रूप से जान लेने के लिए किसी एक श्रावक ने तापस को अपने घर में निमंत्रण दिया। स्वागत में आग्रह पूर्वक उनके पाद प्रक्षालित किए। उसके बाद भोजन की क्रिया संपन्न हुई। नदी के पास जाते समय कई लोग साथ गए।

यत्किञ्चित् औषधि लेप पैर पर लगे रह जाने की संभावना से अति साहस करके तापस ने अपना पैर नदी में रखा पर श्रमणोपासकों ने पैरों पर लगे लेप का पहले ही अच्छी तरह से प्रक्षालन कर दिया था। अतः जल पर पैर रखते ही चमत्कार प्रदर्शन करने वाला तापस डूबने लगा। उसी समय आर्य समित वहां श्रावकों के साथ आए। उन्होंने उस पार जाने के लिए नदी से रास्ता मांगा।

तटद्वये ततस्तस्याः सरितो मिलिते सति।
आचार्यः सपरिवारः परतीरभुवं ययौ ॥९६॥

(परि. पर्व, सर्ग १२, पृ. १००)

नदी के दोनों पाट तत्काल सिमटकर एक हो गए। सपरिवार आर्य समित तट के उस पार पहुंचे। आर्य के इस अतिशय को देखकर सभी विस्मयाभिभूत हो गए।

आर्य समित से प्रतिबोध प्राप्त कर सभी तापसों ने भागवती दीक्षा ग्रहण की। इस घटना से जैन धर्म की महिमा प्रसारित हुई। तापस के ब्रह्मद्वीप निवासी होने के कारण उनकी शाखा जैन शासन में ब्रह्मद्वीपिक नाम से प्रसिद्ध हुई।

ते ब्रह्मद्वीपवास्तव्या इति जातास्तदन्वये।
ब्रह्मद्वीपिकनामानः श्रमणा आगमोदिताः ॥९९॥

(परि. पर्व, सर्ग १२, पृ. १०१)

ते य पंचतावससया समियायरियस्स समीवे पव्वतिता।
ततो य बंभदीवा साहा संवुत्ता ॥

(निशीथचूर्णि, भा. ३, पृ. ४२६)

पिण्ड निर्युक्ति के अनुसार ५०० तापसों के मुखिया कुलपति देवशर्मा थे।

जैनशासन में मंत्रविद्या का प्रयोग विहित नहीं है पर कभी-कभी जैनधर्म के प्रति हो रहे अपवाद को मिटाने के लिए अथवा जैनधर्म की व्यापक प्रभावना के उद्देश्य से प्रभावक मुनियों, आचार्यों द्वारा ऐसे प्रयोग किए गए हैं। इन्द्रदिन्न के गुरुबंधु प्रियग्रंथ मुनि ने जैनधर्म की प्रभावना के लक्ष्य से और आर्य समित ने अपवाद को मिटाने के उद्देश्य से मन्त्रविद्या का प्रयोग किया।

समय-संकेत

आचार्य इन्द्रदिन्न, आचार्य दिन्न, आचार्य सिंहगिरि तीनों के संबंध में विशेष समय संकेत उपलब्ध नहीं हैं। आचार्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के बाद वे तीनों क्रमशः गणाचार्य बने। आचार्य सिंहगिरि आचार्य वज्रस्वामी के गुरु थे। आचार्य वज्रस्वामी का जन्म वीर निर्वाण ४९६ (वि. २६, ई. पू. ३१) में हुआ। आठ वर्ष की उम्र में आचार्य सिंहगिरि ने उन्हें दीक्षा प्रदान की। आचार्य सिंहगिरि का स्वर्गवास वि. ५४८ में संभव है क्योंकि आचार्य वज्र की वी. नि. ५४८ (वि. सं. ७८, ई. २१) में आचार्य पद पर नियुक्ति हुई। उनका स्वर्गवास वी. नि. ५८४ में हुआ।

आचार्य इन्द्रदिन्न, आचार्य दिन्न, आचार्य सिंहगिरि तीनों आचार्य वज्र से पूर्ववर्ती और वी. नि. की चतुर्थ शताब्दी में होने वाले आचार्य सुस्थित सुप्रतिबुद्ध से उत्तरवर्ती होने के कारण इन तीनों आचार्यों का समय वी. नि. की चौथी शताब्दी के उत्तरांश से छठी शताब्दी के पूर्वांश तक संभव है।

२१-२२. मोक्ष-वीथि-पथिक आचार्य समुद्र, आचार्य मंगू

जैन शासन की ऐतिहासिक आचार्य परम्परा में आचार्य समुद्र और मंगू का नाम विश्रुत है। दोनों ही वाचक परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। आचार्य मंगू का नाम युगप्रधान परम्परा में भी है। वाचक परम्परा में आचार्य समुद्र १५वें और मंगू १६वें पट्टधर थे। युगप्रधान क्रम में आचार्य मंगू का क्रम १५वां है।

गुरु-परम्परा

हिमवन्त स्थविरावली और नंदी स्थविरावली की वाचक गुरु-परम्परा के अनुसार आचार्य थाण्डिल्य के उत्तरवर्ती आचार्य समुद्र और समुद्र के उत्तरवर्ती आचार्य मंगू थे। बल्लभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य मंगू आचार्य रेवतीमित्र के उत्तरवर्ती थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य समुद्र नंदी स्थविरावली में आचार्य समुद्र और आचार्य मंगू की भावपूर्ण शब्दों में स्तुति की गई है। आचार्य समुद्र के गुणानुवाद का श्लोक इस प्रकार है

"तिसमुद्द-खाय-कित्तिं, दीवसमुद्देसु गहियपेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभिय-समुद्द-गंभीरं॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार आचार्य समुद्र की कीर्ति आसमुद्रान्त तक विस्तृत थी। द्वीप समूहों का उन्हें ज्ञान था। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वे अक्षुभित समुद्र की भांति गंभीर थे। किसी भी प्रकार के विकट क्षणों में वे उद्वेलित नहीं होते थे।

आचार्य समुद्र की विस्तृत कीर्ति के विषय में नंदी चूर्णिकार का उल्लेख इस प्रकार है

पुव्व-दक्खिणाऽपरा ततो समुद्दा उत्तरतो
वेतड्ढो एतं तरो खातकित्ती

आचार्य समुद्र का रसासक्ति पर उत्कृष्ट संयम भाव था। वे स्वादविजय की साधना के लिए सभी प्रकार के भोजन को साथ मिलाकर ग्रहण किया करते थे। आचार्य समुद्र के स्वादविजय का यह प्रसंग निशीथ चूर्णि में है।

चूर्णि पाठ इस प्रकार है

पडिपक्खे अज्ज समुद्दा ते रसगिद्धीय भीता
एक्कतो सव्वं मेलेउं भुंजंति।

(निशीथ चूर्णि)

आचार्य समुद्र वी. नि. ४१४ (वि. पू. ५६, ई. पू. ११३) में वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। उन्होंने ४० वर्ष तक जैन शासन की सेवा की एवं जन-जन को अध्यात्म का उद्बोध दिया।

आचार्य शीलाक की आचारांगवृत्ति में प्राप्त वर्णनानुसार जीवन के संध्याकाल में आचार्य समुद्र का जंघा बल क्षीण हो गया था। विहार करने का उनमें सामर्थ्य नहीं रहा था। वृत्ति के इस उल्लेख से अनुमानित होता है, आचार्य समुद्र वृद्धावस्था में कुछ वर्षों तक किसी एक गांव में स्थिरवासी रहे। स्थिरवास की स्थिति में ही उन्होंने संयम यात्रा सानन्द संपन्न की थी।

आचार्य समुद्र के समय में मगध पर शुंग वंश का शासन था। अवन्ती पर आचार्य कालक के सहयोग से शकों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

आचार्य मंगू आचार्य समुद्र की भांति आचार्य मंगू का जीवन भी कई विशेषताओं से मंडित था।

आचार्य मंगू के लिए नंदी स्थविरावली का श्लोक है

भणगं करगं झरगं, पभावगं णाण-दंसण-गुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सुय-सागर-पारगं धीरं॥

प्रस्तुत पद्य की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार की है

कालियपुव्व सुत्तत्थं भणतीति भणको। चरण-करण क्रिया करोतीति कारकः। सुत्तत्थे य मणसा झायंतोज्झरको। परप्पवादिजयेण पवयणपभावको।

नाण-दंसण चरण गुणाणं च पभावको आधारो य।

आचार्य मंगू आगम-अध्येता, आचार-कुशल, सूत्रार्थ का मानसिक चिंतन करने वाले परवादी-विजेता, प्रवचन-प्रभावक, ज्ञान दर्शन-गुण संपन्न, श्रुत-सागर-पारगामी, धृतिधर आचार्य थे।

आचार्य समुद्र के बाद आचार्य मंगू का आचार्यकाल वी. नि. ४५४ (वि. पू. १६, ई. पू. ७३) से प्रारम्भ होता है। युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य मंगू का आचार्यकाल वी. नि. ४५० से प्रारम्भ होता है।

आचार्य मंगू ने वाचनाचार्य एवं युगप्रधानाचार्य दोनों पदों पर रहकर जैन शासन की प्रभावना की।

युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य मंगू का आचार्यकाल २० वर्ष का है।

चूर्णि ग्रंथों में प्राप्त वर्णनानुसार आचार्य मंगू को मथुरा के भक्त श्रद्धालुओं ने अपनी भक्ति भावना से विशेष प्रभावित कर लिया था। भक्तों के द्वारा प्राप्त सरस भोजन में आसक्त होकर आचार्य मंगू स्थिर रूप से वहीं रहने लगे। आचार्य मंगू की इस प्रवृत्ति से असहमत उनके शिष्य परिवार ने वहां से विहार कर दिया था। आचार्य मंगू अन्तिम समय तक वहां रहे। दोषों की आलोचना किए बिना वे मृत्यु को प्राप्त कर यक्ष योनि में उत्पन्न हुए।

निशीथ-भाष्य एवं चूर्णि का यह उल्लेख उच्च व्यक्तित्व के धनी वाचनाचार्य आचार्य मंगू के साथ संगत प्रतीत नहीं होता है।

आचार्य मंगू के शासनकाल में मगध पर शुंग-वंश का राज्य था। प्रतिष्ठानपुर में शातवाहन वंशी कई राजा जैन थे।

समय-संकेत

जैन शासन प्रभावक वाचनाचार्य समुद्र का स्वर्गवास वी. नि. ४५४ (वि पू. १६, ई. पू. ७३) में हुआ।

वाचनाचार्य परम्परा के अनुसार आचार्य मंगू का काल वी. नि. ४५४ से प्रारम्भ होता है।

युगप्रधान परम्परा में आचार्य मंगू का आचार्यकाल वी. नि. ४५० और स्वर्गवास वी. नि. ४७० में माना है।

आ. समुद्र का आचार्य काल	आचार्य मंगू का आचार्य काल
(युग प्रधान पट्टावली के अनुसार)	
(वी. नि. ४१४-४५४)	(वी. नि. ४५०-४७०)
(वि. पू. ५६-१६)	(वि. पू. २०-००)
(ई. पू. ११३-७३)	(ई. पू. ७७-५७)

२३. धर्म-धुरा संवाहक आचार्य धर्म

आचार्य धर्म, आचार्य भद्रगुप्त, आचार्य श्रीगुप्त तीनों अपने युग के प्रभावशाली आचार्य थे। युगप्रधान परम्परा में तीनों का क्रमशः उल्लेख है। "दुस्सम-काल-समण-संघत्थव" की 'युगप्रधान' पट्टावली के अनुसार आचार्य धर्म १५वें, आचार्य भद्रगुप्त १६वें, आचार्य श्रीगुप्त १७वें युगप्रधान आचार्य थे।

गुरु-परम्परा

युगप्रधान रेवतीमित्र के बाद आचार्य धर्म युगप्रधान बने। वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में युगप्रधान रेवतीमित्र के बाद आचार्य मंगू, आचार्य धर्म, आचार्य भद्रगुप्त का क्रमशः उल्लेख है। आचार्य श्रीगुप्त का उल्लेख वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में नहीं है।

जीवन-वृत्त

आचार्य धर्म विशिष्ट श्रुतसंपन्न थे। दशपूर्वधर आचार्यों में उनकी गणना है। आचार्य धर्म का जन्म संवत् वी. नि. ३९५ (वि. पू. ७८) और मुनि दीक्षा संवत् वी. नि. ४१० (वि. पू. ६०) है। संयमी जीवन के ४० वर्ष बाद वी. नि. ४५० (वि. पू. २०) में वे युगप्रधान बने।

मेरुतुंगिया विचार श्रेणी में प्राप्त उल्लेखानुसार वृद्ध परम्परा में आचार्य मंगू का ही दूसरा नाम धर्म बताया गया है। वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में आचार्य मंगू का आचार्यकाल २० वर्ष का और आचार्य धर्म का आचार्यकाल २४ वर्ष का बताया है।[1]

समय-संकेत

धर्म-धुरा संवाहक आचार्य धर्म दीर्घजीवी आचार्य थे। संयमी जीवन के कुल ८५ वर्ष के काल में ४५ वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहकर धर्म संघ को बहुमुखी विकास दिया। उनका स्वर्गवास वी. नि. ४९५ (वि. २५, ई. पू. ३२) में हुआ।[2] वल्लभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य धर्म का स्वर्गवास वी. नि. ४९४ में ही हो गया।

आचार्य-काल
(वी. नि. ४५०-४९५),
(वि. पू. २० वि. २५),
(ई. पू. ७७-३२)

---

१. अज्ज मंगू य बीसं, चउवीस अज्ज धम्मे।
(वल्लभी युगप्रधान पट्टावली)

२. दुस्सम-काल-समण-संघत्थव 'युगप्रधान' पट्टावली।

२४. क्रांतिकारी आचार्य कालक (द्वितीय)

जैन श्वेताम्बर प्रभावक आचार्यों की परम्परा में आचार्य कालक द्वितीय कालक के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे क्रांतिकारी आचार्य थे। उन्होंने पश्चिम में ईरान एवं दक्षिण-पूर्व में जावा, सुमात्रा तक की प्रलम्बमान पद यात्राएं कीं एवं आचार्यों की परम्परा में सुदूर विदेश यात्रा का द्वार सर्वप्रथम खोला।

गुरु-परम्परा

कालक के गुरु गुणाकर थे। वे किस गुरु परम्परा और किस गच्छ के थे, इस संबंध का विशेष उल्लेख ग्रंथों में नहीं है। कालक विद्याधर गच्छ के थे, यह उल्लेख प्रभावक चरित्र के पादलिप्त प्रबंध में है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य कालक का जन्म क्षत्रिय राजपरिवार में हुआ। उनके पिता का नाम वैरसिंह, माता का नाम सुरसुन्दरी एवं बहिन का नाम सरस्वती था। धारानगरी उनकी जन्मभूमि थी।

जीवन-वृत्त

एक दिन कालक राजकुमार अश्वारूढ़ होकर मंत्री के साथ नगर के बहिर्भूभाग में क्रीड़ा करने गया। वहां उसने गुणाकर मुनि को देखा। प्रवचन सुना। घनरव गंभीर गिरा के श्रवण से परम प्रमोद भाव को प्राप्त कालक कुमार संसार से विरक्त हो गया। दीक्षा लेने की भावना जागृत हुई। इस भावना का प्रभाव बहिन सरस्वती पर भी हुआ। भाई-बहिन दोनों मुनि गुणाकर के पास दीक्षित हो गए।

कालक कुमार कालक मुनि बन गए। कालक मुनि प्रतिभा-संपन्न युवक थे। अल्प समय में शास्त्रों के पारगामी विद्वान् बने। उनके गुरु ने उन्हें योग्य समझकर आचार्य पद से विभूषित किया।[1]

एक बार ससंघ आचार्य कालक का पदार्पण उज्जयिनी में हुआ। उस समय उज्जयिनी में गर्दभिल्ल का शासन था। आचार्य कालक की भगिनी साध्वी सरस्वती के अनुपम रूप-सौन्दर्य को देखकर गर्दभिल्ल का मन मुग्ध हो गया। राजा का आदेश पाकर राजपुरुषों ने करुण क्रन्दन करती हुई, 'हा! रक्ष, हा! रक्ष, भ्रात!' कहकर सहोदर आचार्य कालक को स्मरती, कलपती-विलपती साध्वी सरस्वती का अपहरण कर लिया।[2]

आचार्य कालक का इस घटना से उत्तेजित होना स्वाभाविक था। वे राजसभा में पहुंचे एवं राजा गर्दभिल्ल के सम्मुख बोले "फलों की रक्षा के लिए बाड़ का निर्माण होता है। बाड़ स्वयं ही फल को खाने लगे तो फलों की रक्षा कैसे हो सकती है? संरक्षक ही अपहरण करने लगे तो दुःख-दर्द की बात किसके सामने कही जा सकती है?[3]

राजन्! आप समग्र वर्गों के एवं धार्मिक समाज के रक्षक हैं। आपके द्वारा एक साध्वी के अपहरण की बात उचित नहीं है।"

आचार्य कालक ने यह बात संयत स्वर में एवं शालीन शब्दों में कही, किन्तु अधम राजा पर इसका प्रभाव नहीं हुआ। मंत्री सहित पौर जनों ने भी गर्दभिल्ल

---

१. स्वपट्टे कालकं योग्यं प्रतिष्ठाप्य गुरुस्ततः।
श्रीमान् गुणाकरः सूरिः प्रेत्यकार्याण्यसाधयत् ॥२५॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २२)

२. हा रक्ष रक्ष सोदर्य! क्रन्दन्तीं करुणस्वरम्।
अपाजीहरदत्युग्रकर्मभिः पुरुषैः स ताम् ॥३०॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २३)

३. वृत्तिर्विधीयते कच्छे रक्षायै फलसंपदः।
फलानि भक्षयेत् सैवाख्येयं कस्याग्रतस्तदा ॥३२॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २३)

को साग्रह निवेदन किया, पर मोहारूढ़, मूढ़मति राजा ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया।[४]

आचार्य कालक में क्षात्र तेज उद्दीप्त हो गया, "तम्हा सइ सामत्थे आणा भट्ठम्मि नो खलु उवेहा" सामर्थ्य होने पर आज्ञा भ्रष्ट की कभी उपेक्षा नही करनी चाहिए। 'जिन प्रवचन के अहित साधक, अवर्णवादी को पूर्ण शक्ति लगाकर रोकना चाहिए।' यह एक ही बात आचार्य कालक के मस्तिष्क में चक्कर काटने लगी। उन्होंने गर्दभिल्ल को राजच्युत करने की कठिन प्रतिज्ञा की।[५]

आचार्य कालक का स्पष्ट निर्णय था यदि मैं मर्यादा भ्रष्ट गर्दभिल्ल को राजच्युत न कर दूं तो संघ के प्रत्यनीक, प्रवचन उपघातक, संयम-विनाशक व्यक्तियों जैसी गति मुझे प्राप्त हो।[६]

गर्दभिल्ल शक्तिशाली शासक था। उससे लोहा लेना आसान नहीं। आचार्य कालक इस बात को अच्छी तरह जानते थे।

अपनी प्रतिज्ञा का भेद कहीं खुल नहीं जाए, इस बात को गंभीरता से लेते हुए आचार्य कालक शहर में संज्ञाशून्य की भांति घूमने लगे। नगर की गलियों, चौराहों, राजपथों पर असंबद्ध अपलाप करते हुए वे कहते "गर्दभिल्ल नरेन्द्र है तो क्या? देश समृद्ध है तो क्या? उसका अन्तःपुर रम्य है तो क्या? नगरी सुरक्षित है तो क्या? नागरिक जन सुन्दर परिधान पहने हुए हैं तो क्या? मैं भिक्षार्थी भटकता हूं तो क्या? शून्य देवल में निवास करता हूं तो क्या?"[७]

आचार्य कालक के इस अपलाप ने सबको भ्रांति में डाल दिया। राजा गर्दभिल्ल को लगा आचार्य कालक भगिनी के व्यामोह में विक्षिप्त हो गए हैं। अपने करणीय कार्य हेतु निर्विघ्न भूमिका बनाकर राजनीति-दक्ष आचार्य-कालक कतिपय समय के बाद एकाकी वहां से चले गए।

बहिन सरस्वती को गर्दभिल्ल राजा के पंजे से मुक्त कराना था, अतः किसी राजसत्ता का सहयोग लेना कालक के लिए अनिवार्य हो गया। वहां आस-पास कोई राजा कालक की दृष्टि में इतना सबल नहीं था जो गर्दभिल्ल के विपक्ष में युद्ध के मोर्चे पर आकर खड़ा हो सके। भरौंच के बलमित्र और भानुमित्र प्रतापी शासक थे पर उनमें भी नरेश गर्दभिल्ल से लोहा लेने का साहस नहीं था अतः सब प्रकार से निरुपाय कालक पश्चिम दिशा की ओर बढ़ते हुए सिन्धुतट पर पहुंच गए।[८]

वहां से वे शाखी (शाकद्वीप) देश गए। शाखी देश में ९६ शक शाहों (माण्डलिक राजाओं) को विद्या से प्रभावित कर उनके साथ आचार्य कालक ने धनिष्ट

---

४. संघेन मन्त्रिभिः पौरैरपि विज्ञापितो दृढम्।
अवाजीगणदारूढो मिथ्यामोहे मतन्मतिः ॥३५॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २३)

५. प्राक्षात्रतेज आचार्य उन्निद्रमभजत् ततः।
प्रतिज्ञां विदधे घोरां तदा कातरतापनीम् ॥३६॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २३)

६. जे संघपच्चणीया पवयणउवघायगा नरा जे य।
संजमउवघायपरा तदुविक्खाकारिणो जे य ॥
तेसिं वच्चामि गइं, जइ एयं गद्दभिल्लरायाणं।
उम्मूलेमि ण सहसा, रज्जाओ भट्ठभज्जायं ॥
(प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ४५७)

७. (क) गर्दभिल्लो नरेन्द्रश्चेत् ततस्तु किमतः परम्।
यदि देशः समृद्धोऽस्ति ततस्तु किमतः परम् ॥४१॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २३)

(ख) जइ गद्दभिल्लो राया तो किमतः परं।
जइ व अंतेपुरं रम्मं तो किमतः परं।
विलसे जइ वा रम्मो तो किमतः परं।
सुण्णवेट्ठा पुरी जइ तो किमतः परं।
जइ वा जणो सुवेतो तो किमतः परं।
जइ वा हिंडामि भिक्खं तो किमतः परं।
जइ सुण्णे देउले वसामि तो किमतः परं।
(निशीथ-चूर्णि, उद्दे. १०, भाग ३, पत्रांक ५९-६०)

८. दिनैः कतिपयैस्तस्मान्निर्ययावेक एव सः।
पश्चिमां दिशमाश्रित्य सिन्धुतीरमगाच्छनैः ॥४३॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २३)

मित्रता स्थापित की। शक सामन्तों का एक मुख्य शाह था। एक दिन शक शाह राजभय से घिर गए। उस संकट से बचाने के लिए शक सामन्तों को नौका पर चढ़ाकर आचार्य कालक सिंधु नदी को पार करते हुए सौराष्ट्र पहुंचे।[९] शक एक जाति थी, शाह उपाधि थी।

निशीथ चूर्णि में शकों का 'पारस कुल' में होने का उल्लेख है। संभवतः पारस कुल फारस खाड़ी के निकट का कोई प्रदेश था। विद्वानों की दृष्टि में वह वर्तमान में ईरान है। पारस कुल शकों का निवास होने से शक कुल अथवा शाकद्वीप के नाम से प्रसिद्ध रहा। ये शक (शाह) संभवतः सिथियन जाति के लोग थे। एक अभिमत यह भी है किसी समय शक बाहर से ईरान में आए और अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। शक लड़ाकू थे। ईरान की जनता इनसे खुश नहीं थी। ईरान के शाह ने अनेक उपायों से शकों की शक्ति को क्षीण कर ईरान से उन्हें निकाल दिया। शक इधर-उधर घूमते हुए सिंध प्रदेश में पहुंच गए। वहां उनको अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त हो गई। आचार्य कालक इसी सिंध प्रदेश से शकों को विद्या से प्रभावित कर उन्हें भारत में लाए।

भारत में सुदूरवर्ती ईरान से विशाल दल को प्रभावित कर लाना उस समय की कठिन परिस्थितियों एवं यातायात के साधनों की अल्पता में एक आचार्य के लिए कठिन कार्य था।

वर्षा ऋतु का समय निकट होने के कारण शकों सहित आचार्य कालक को सौराष्ट्र में कई महीनों तक रुकना पड़ा। युद्ध के लिए प्रचुर अर्थराशि आवश्यक थी। कालक ने विद्या से विपुल परिमाण में स्वर्ण निष्पन्न कर अर्थ की कमी को पूर्ण किया। शरद-ऋतु का आगमन हुआ। विशाल शक सैन्य दल के साथ आचार्य कालक ने वहां से प्रस्थान किया और आगे बढ़ते हुए भृगुकच्छ के सबल शासक बलमित्र और भानुमित्र को भी अपने साथ लिया। सशक्त सैन्य समूह के साथ आचार्य कालक पांचाल, लाटादि देशों पर विजय का उद्घोष करते हुए मालव की सीमा पर पहुंच गए।[१०]

नरेन्द्र गर्दभिल्ल को अपनी विद्याशक्ति पर अधिक गर्व था। आक्रमण की बात सुनकर गर्दभिल्ल ने ध्यान नहीं दिया, न नगर-दुर्ग को शस्त्रों से सज्जित किया और न सैन्य दल को किसी प्रकार का आदेश-निर्देश दिया। नगर के द्वार भी शत्रु-भय से बंद नहीं किए गए।

निशीथ-चूर्णि के अनुसार आचार्य कालक पूर्ण सावधान थे। उन्होंने अपने दल से कहा "उज्जयिनी का शासक गर्दभिल्ल चतुर्दशी के दिन अष्टोत्तर-सहस्र जपपूर्वक 'रासभी' विद्या की सिद्धि करता है। विद्या सिद्ध होने पर रासभी रेंकती है। उसके कर्कश स्वरों को सुनते ही प्रतिद्वन्द्वी के मुख से पीप झरता है और वह संज्ञाशून्य हो जाता है। रासभी के इन स्वरों का प्रभाव प्रतिद्वन्द्वी पक्ष पर 'सार्ध तीन गव्यूति' पर्यन्त होता है अतः विद्या से अप्रभावित क्षेत्र में तम्बू तैनात करना ठीक है। शक सामन्तों ने वैसा ही किया। रासभी के प्रभाव को समाप्त करने के लिए शब्द-बेधी बाण को चलाने में कुशल एक सौ आठ सुभट राजप्रसाद की ओर निशाना साधकर उचित स्थान पर बैठ गए। विद्या साधने के समय रासभी का मुंह खुलते ही जागरूक सुभटों ने सुतीक्ष्ण बाणों से तत्काल उसका मुंह भर दिया। इससे रासभी कुपित हुई एवं अशुचि पदार्थों का राजा गर्दभिल्ल पर प्रक्षेप करती हुई अदृश्य हो गई।

शत्रु को निर्बल जानकर शक सामन्तों ने सबल सैन्य-शक्ति के साथ अवन्ती पर एक साथ धावा बोल दिया। लाट-प्रदेश की सेना भी इनका साथ दे रही थी। पूर्व तैयारी के अभाव में शक्तिशाली गर्दभिल्ल की

---

९. तरीभिः सिन्धुमुत्तीर्य सुराष्ट्रां ते समाययुः ॥५६॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २३)

१०. पञ्चाल-लाटराष्ट्रेशभूपान् जित्वाऽथ सर्वतः।
शका मालवसन्धिं ते प्रापुराक्रान्तविद्विषः ॥६७॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २४)

विदेशी सत्ता के सामने पराजय हुई। सुभटों ने राजा गर्दभिल्ल को बंदी बनाकर आचार्य कालक के सम्मुख प्रस्तुत किया। बहिन सरस्वती को मुक्त पाकर आचार्य कालक प्रसन्न हुए। सुभटों ने कालक के संकेत से अन्यायी-शासक गर्दभिल्ल को पदच्युत कर छोड़ दिया।

आचार्य कालक ने बहिन सरस्वती को पुनः दीक्षा दी और स्वयं ने प्रायश्चित्त पूर्वक मनोमालिन्य एवं पापमय प्रवृत्ति का शोधन किया।[११] प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण आचार्य कालक पहले की तरह संघ का नेतृत्व करने लगे।

वृहत्कल्प भाष्य-चूर्णि में गर्दभ को अवन्ति राजा 'अनिल-सुतयव' का पुत्र बताया है। गर्दभ का मन अपनी ही बहिन अडोलिया के रूप-सौंदर्य पर मोहित हो गया था। इस कार्य में दीर्घपृष्ठ नामक मंत्री का पूर्ण सहयोग था। वह गर्दभ की इच्छा पूर्ण करने के लिए अडोलिया को सातवें भूमिगृह (अन्तर-घर) में रखा करता था।[१२]

चूर्णि-साहित्य में उल्लिखित गर्दभ तथा सरस्वती के अपहरणकर्ता गर्दभिल्ल दोनों एक ही प्रतीत होते हैं।

दशाश्रुत-स्कंध चूर्णि के उल्लेखानुसार गर्दभिल्लोच्छेद की यह घटना वी. नि. ४५३ (वि. पू. १७) में एवं 'विचार श्रेणी' के अनुसार वी. नि. ४६६ (वि. पू. ४) में घटित हुई। इसी वर्ष मालव प्रदेश पर शकों का राज्य स्थापित हुआ। आचार्य कालक सिंधु प्रदेश में जिस शक सामंत के पास ठहरे थे, उसे अवन्ती के राज्य सिंहासन का अधिकारी बनाया।[१३] इस घटना के बाद शकों का दल शक वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[१४]

भृगुकच्छ लाटदेश की राजधानी थी। वहां के शक्तिशाली शासक बलमित्र और भानुमित्र थे। वे आचार्य कालक के भानेज थे।[१५] आचार्य कालक को विजयी बनाने में उनका पूरा सहयोग था।

अवन्ती पर चार वर्षों तक शकों ने शासन किया। भारत भूमि को विदेशी सत्ता से शासित देखकर भरौंच-शासक बलमित्र एवं भानुमित्र का खून उबल गया। उन्होंने मालव पर आक्रमण किया एवं शक सामन्तों को बुरी तरह से अभिभूत कर वहां का राज्याधिकार अपने हाथ में ले लिया। उज्जयिनी के प्रांगण में एक बार पुनः स्वतंत्रता का सूर्य उदय हुआ। बलमित्र ने वहां का शासन संभाला और लघु भ्राता भानुमित्र को युवराज बनाया।[१६]

निशीथ-चूर्णि के अनुसार एक बार आचार्य कालक ने अवन्ती में चतुर्मास किया। अवन्ती पर उस समय बलमित्र तथा भानुमित्र का शासन था।[१७] बलमित्र एवं भानुमित्र की बहिन का नाम भानुश्री था। भानुश्री के

---

११. (क) आरोपिता व्रते साध्वी गुरुणाऽऽर्य सरस्वती।
आलोचितप्रतिक्रांता गुणश्रेणिमवाप च ॥९७॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक २४)

(ख) "भगिणि पुणरवि संजमे ठविया.....
(निशीथ-चूर्णि, उद्देशक १०, भाग३)

१२. "उज्जेणी णगरी, तत्थ अणिलसुतो जवो नाम राया, तस्स पुत्तो गद्दभो णाम जुवराया, तस्स रण्णो धुआ गद्दभस्स भइणी अडोलिया णाम, सा य रूपवती तस्स य जुवरण्णो दीहपट्ठो णाम सचिवो (अमात्य इत्यर्थः) ताहे सो जुवराया तं अडोलियं भइणिं पासित्ता अज्झोववण्णो दुब्बलो भवइ। अमच्चेण पुच्छितो णिब्बंधे सिट्ठो अमच्चेण भण्णइ सागरियं भविस्सति तो सत्तभूमीघरे धुभउतत्थ भुंजाहि ताए समं भोए लोगो जाणिस्सइ सा कहिं पि गट्ठा एवं होउ त्ति कतं।"
(वृहत्कल्पभाष्य चूर्णि)

१३. "सूरीजप्पाति ठिओ, आसीसोऽवंतिसामिओ सेसा।
तस्सेवंग य जाया, तओ पउत्तो अ सगवंसो ॥९०॥
(कालकाचार्य कथा)

१४. "जं कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ राया अधिवो।
राया ठवितो, ताहे सगवंसो उप्पण्णो ॥"
(निशीथ चूर्णि, उद्देशक १०, पत्र २३६)

१५. इतश्चास्ति पुरं लाटललाटतिलकप्रभम्।
भृगुकच्छं नृपस्तत्र बलमित्रोऽभिधानतः ॥९४॥
भानुमित्राग्रजन्मासीत, स्वसीयः कालकप्रभोः ॥९५॥
(प्रभा. च., पद्य सं. ९४, ९५, पृ. २५)

१६. "बलमित्त भाणुमित्ता, आसि अवंतीइ रायजुवराया।
(कालकाचार्य कथा)

१७. कालगायरिओ विहरंतो उज्जेणिं गतो। तत्थ वासावासं ठितो।
.... तस्स कनिट्ठो भाया भाणुमित्तो जुवराया"
(निशीथ-चूर्णि)

पुत्र का नाम बलभानु था। परम विरक्ति को प्राप्त बलभानु को आचार्य कालक ने दीक्षा प्रदान की। इससे बलमित्र और भानुमित्र प्रकुपित हुए और उन्होंने अनुकूल परिषह उत्पन्न कर आचार्य कालक को पावसकाल में ही विहार करने के लिए विवश कर दिया। प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य कालक का यह चतुर्मास भरौंच में हुआ। बलमित्र की बहिन भानुश्री एवं भागिनेय बलभानु का उल्लेख भी प्रभावक चरित्र में है।[१८] इस ग्रंथ के अनुसार चातुर्मासिक स्थिति में आचार्य कालक के विहार का निमित्त राज-पुरोहित था। भागिनेय बलमित्र व भानुमित्र की अगाधश्रद्धा आचार्य कालक के प्रति थी पर भरौंच का राज-पुरोहित राजसम्मान प्राप्त आचार्य कालक से ईर्ष्या करने लगा।

एक दिन शास्त्रार्थ में आचार्य कालक से पराभव को प्राप्त राज-पुरोहित ने उनके निष्कासन की योजना सोची। उसने बलमित्र और भानुमित्र से निवेदन किया "राजन्! आचार्य कालक के चरण हमारे लिए परम वन्दनीय हैं। पथ पर अङ्कित उनके चरण चिह्नों पर नागरिकों के पैर टिकने से अथवा उनका अतिक्रमण होने से आचार्य की आशातना होती है। यह आशातना राजा के लिए विघ्नकारक है। इससे राष्ट्र में अमंगल हो सकता है।

भ्रातृद्वय के सरल हृदय में निकटवर्ती राज-पुरोहित की यह बात जंच गयी पर पावसकाल में आचार्य कालक का निष्कासन होने से अपवाद का भय था। इस अपवाद से बचने के लिए राजा का आदेश प्राप्त कर राज-पुरोहित ने घर-घर में आधाकर्म दोष निष्पन्न गरिष्ठ भोजन आचार्य कालक को प्रदान करने की घोषणा की। नागरिक-जनों ने वैसा ही किया। एषणीय आहार-प्राप्ति के अभाव में शासन-व्यवस्था की ओर से अनुकूल परिषह उत्पन्न हुआ जानकर आचार्य कालक ने पावस के मध्य ही विहार कर दिया।

वहां से आचार्य कालक प्रतिष्ठानपुर पधारे। प्रतिष्ठानपुर के नरेश शातवाहन के हृदय में जैन धर्म के प्रति अनुराग था। पौरजनों सहित शासक शातवाहन ने आचार्य कालक का सम्मान किया। भाद्रव शुक्ला पंचमी का दिन निकट था। संवत्सरी पर्व को अत्यन्त उत्साह के साथ मनाने की चर्चा चल रही थी। प्रतिष्ठानपुर में इसी दिन इन्द्रध्वज महोत्सव भी मनाया जाता था। दोनों पर्वों के कार्यक्रम में सम्मिलित होने की भावना से प्रेरित होकर नरेश शातवाहन ने कालक से प्रार्थना की "आर्य! संवत्सरी पर्व षष्ठी तिथि को मनाया जाए, जिससे मैं भी इस पर्व की आराधना कर सकूं एवं सबके साथ सामूहिक तप की साधना में सहभागी बन सकूं।"

आचार्य कालक मर्यादा के प्रति दृढ़ थे। राज-भय से इस पर्व तिथि का अतिक्रमण करना उनकी दृष्टि से उचित नहीं था। उन्होंने निर्भय होकर कहा "मेरु प्रकम्पित हो सकता है, पश्चिम दिशा में रवि उदय हो सकता है पर इस पर्व की आराधना में पंचमी की रात्रि का अतिक्रमण नहीं हो सकता।"[१९]

राजा ने संवत्सरी पर्व को चतुर्थी के दिन मनाने का प्रस्ताव रखा। आचार्य-कालक की दृष्टि में इस पर्व को एक दिन पूर्व मनाने में बाधा नहीं थी। उन्होंने नरेश शातवाहन के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अतिशय उल्लास के साथ आचार्य कालक के नेतृत्व में सर्वप्रथम चतुर्थी के दिन संवत्सरी पर्व मनाया गया।

निशीथ-चूर्णि के अनुसार आचार्य कालक अवन्ती से एवं प्रभावक चरित्र के अनुसार भरौंच से चतुर्मासकाल की स्थिति में विहार कर प्रतिष्ठानपुर गए। वहां उन्होंने संवत्सरी पर्व चतुर्थी को मनाया।

गर्दभिल्लोच्छेदक घटना के बाद चार वर्ष तक शकों ने अवन्ती पर शासन किया। उसके बाद वहां बलमित्र,

---

१८. स्वसा तयोश्च भानुश्रीः, बलभानुश्च तत्सुतः ॥६५॥
(प्रभा. च., पृ. २५)

१९. कम्पते मेरुचूलापि रविर्वा पश्चिमोदयः।
नातिक्रमति पर्वेदं पञ्चमीरजनीं ध्रुवम् ॥१२०॥
(प्रभा. च., पत्रांक २५)

भानुमित्र का शासन हो गया। बलमित्र और भानुमित्र ने भरौंच में ५२ वर्षों तक (वी. नि. ४०५ से ४५७) शासन किया था और अवन्ती में ८ वर्षों तक (वी. नि. ४५७ से ४६५) शासन किया। निशीथ-चूर्णि में प्राप्त उल्लेखानुसार कालक ने अपना चतुर्मास अवन्ती में बलमित्र तथा भानुमित्र के शासन-काल में किया। युगल भ्राता का भरौंच में वर्षों तक शासन रहने के कारण प्रभावक चरित्र में अवन्ती के स्थान पर भरौंच नरेश का निर्देश है। बलमित्र-भानुमित्र को कहीं अवन्ती-नरेश और कहीं भरौंच-नरेश कहकर जैन ग्रंथों में उल्लेख किया गया है।

प्रतिष्ठानपुर में चतुर्थी को सवंत्सरी-पर्व मनाने का यह प्रसंग (वी. नि. ४५७ से ४६५) (वि. पू. १३ से ५, ई. पू. ७०-६२) के मध्य का है। बलमित्र, भानुमित्र ने वी. नि. ४५७ (वि. पू. १३, ई. पू. ७०) में उज्जयिनी का राज्य संभाला। उनके राज्य का वी. नि. ४६५ (वि. पू. ५, ई. पू. ६२) में अन्त हो गया। इसके बाद अवन्ती का राज्य नभसेन ने संभाला। यह उल्लेख तित्थोगालीयपइण्णा में है। नभसेन के पांचवें वर्ष में शकों ने पुनः मालव पर आक्रमण किया। इस समय शकों की हार हुई। मालव प्रजा ने विजय प्राप्ति की खुशी में मालव संवत् स्थापित किया। यही मालव संवत् आगे विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। शकों ने १३५ वर्ष बाद एक बार पुनः मालव पर आक्रमण किया। इस समय शकों की विजय हुई। इस विजय के हर्षोल्लास में शक संवत् स्थापित किया। कई इतिहासकारों के अभिमत से शक संवत् का प्रवर्तन शकों ने नहीं प्रतिष्ठानपुर नरेश शालिवाहन ने किया था। यह शक संवत् वी. नि. से ६०५ वर्ष बाद और विक्रम से १३५ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। विक्रम संवत् का संबंध जैनधर्म के उपासक राजा बलमित्र से बताया जाता है।

विक्रम संवत् के संदर्भ में कई अभिमत हैं। इतिहासविदों की एक मान्यता यह भी है गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने मालव बन्धुगण के सहयोग से शकों पर विजय प्राप्त की। नरेश ने अपनी उदारता से मालव-बन्धुओं के नाम पर मालव संवत् स्थापित किया। शनै-शनै यह संवत् विक्रम के नाम से पहचाना जाने लगा।

कई इतिहासकार मानते हैं नरेश विक्रमादित्य के द्वारा वी. नि. ४७० में विक्रम संवत् प्रारम्भ हुआ। राज्य का विस्तार होने पर १३ या १७ वर्ष बाद विक्रम संवत् को सार्वजनिक मान्यता प्राप्त हुई।

कई अन्य इतिहासकारों का अनुमान है मालव में शकों पर विजय प्राप्त कर विक्रमादित्य ने मालव संवत् का प्रवर्तन किया।

कालान्तर में चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ने मालव-प्रदेश पर आक्रमण कर शकों पर पुनः विजय प्राप्त की और अवन्ती का शासक बना। उस समय मालव संवत् को विक्रम संवत् के नाम से प्रचारित कर दिया गया। 'विचार श्रेणी' के कालगणना के आधार पर गर्दभिल्लोच्छेदक घटना का समय वी. नि. ४६६ को मान्य कर लेने पर आचार्य कालक द्वारा चतुर्थी को संवत्सरी पर्व मानने का प्रसंग विक्रम संवत् (४ ७०) स्थापना के बाद ही संभव है।

देश-देशान्तर में विहरण करते हुए आचार्य कालक का पदार्पण एक बार पुनः अवन्ती में हुआ। इस समय आचार्य कालक वृद्धावस्था में थे। वार्धक्य की चिन्ता नहीं कर वे अपने शिष्यों को अत्यन्त जागरूकता के साथ आगम वाचना देते थे। आचार्य कालक जैसा उत्साह उनके शिष्यों में नहीं था। सभी शिष्य आगम-वाचना ग्रहण करने में अत्यन्त उदासीन थे। अपने शिष्यों के इस प्रमत्त भाव से आचार्य कालक खिन्न हुए। उनको शिक्षा देने की दृष्टि से आचार्य कालक ने शिष्यों से अलग होने की बात सोची। मन ही मन सूरिजी ने गहराई से चिंतन किया

"आसन्नऽविनयाः शिष्या दुर्गती दोहदप्रदाः।" ॥१२६॥

(प्रभा. च. पृ. २६)

अविनीत एवं प्रमादी शिष्य कष्टदायक होते हैं। उनके साथ रहने से दुर्गति का बंधन होता है अतः सुविधा की परवाह किए बिना इन शिष्यों का मोह त्याग कर अन्यत्र चले जाना मेरे लिए श्रेयस्कर है।

गंभीरता से विचार करने के बाद शय्यातर के पास जाकर आचार्य कालक बोले "मैं अपने अविनीत शिष्यों को यहां छोड़कर इन्हें बिना सूचित किए अपने प्रशिष्य सागर के पास स्वर्णभूमि की ओर जा रहा हूँ। सोचता हूँ शिष्यों द्वारा अनुयोग नहीं ग्रहण करने पर इनके साथ रहना उपयुक्त नहीं है, प्रत्युत इन शिष्यों की उच्छृंखलता कर्म-बन्धन का हेतु है। हो सकता है मेरे पृथकत्व से ये संभल जाएं और उन्हें अपनी भूल समझ में आ जाए, पर मेरे चले जाने की सूचना शिष्यों को आग्रह-पूर्वक पूछने पर उन्हें सरोष स्वरों में बताना।" शय्यातर को इस प्रकार अपनी बात पूरी तरह से समझाकर शिष्यों को सूचित किए बिना आचार्य कालक ने गुप्त रूप से विहार कर दिया।

आचार्य कालक का यह साहस-भरा निर्णय था पर शिष्यों को जागरूक बनाने के लिए एक बार उनका त्याग करना आवश्यक था अतः आचार्य कालक द्वारा ऐसा कदम उठाया गया था।

मार्गवर्ती बस्तियों को पार करते हुए आचार्य कालक सुदूर स्वर्णभूमि में सुशिष्य सागर के पास पहुंचे। आगम वाचनारत शिष्य सागर ने उन्हें सामान्य वृद्ध साधु समझकर अभ्युत्थानादि पूर्वक स्वागत नहीं किया। अर्थ-पौरुषी (अर्थ-वाचना) के समय शिष्य सागर के सम्मुख आसीन आचार्य कालक को संकेत करते हुए पूछा "वृद्ध! मेरा कथन समझ में आ रहा है?" आचार्य कालक ने 'ओम्' कहकर स्वीकृति दी। सागर सगर्व बोले "वृद्ध! अवधानपूर्वक सुनो।" आचार्य कालक गंभीर मुद्रा में बैठे थे। आचार्य सागर अनुयोग प्रदान में प्रवृत्त हुए।

उधर अवन्ती में आचार्य कालक के शिष्यों ने देखा उनके बीच आचार्य कालक नहीं हैं। उन्होंने इधर-उधर खोज की पर वे कहीं नहीं मिले। शय्यातर से जाकर शिष्यों ने पूछा "आचार्य देव कहां हैं?" मुखमुद्रा को वक्र बनाकर शय्यातर ने कहा "आपके आचार्य ने आपको भी कुछ नहीं कहा, मुझे क्या कहते?" शिष्यों ने पुनः आचार्य कालक को ढूंढने का प्रयत्न किया पर वे असफल रहे। आग्रहपूर्वक पूछने पर शय्यातर ने कठोर रुख बनाकर शिष्यों से कहा "आप जैसे अविनीत शिष्यों की अनुयोग ग्रहण करने में अलसता के कारण खिन्न आचार्य कालक स्वर्णभूमि में प्रशिष्य सागर के पास चले गए।" शय्यातर के कटु उपालम्भ से लज्जित उदासीन शिष्यों ने तत्काल अवन्ती से स्वर्णभूमि की ओर प्रस्थान किया। विशाल श्रमण संघ को विहार करते देख लोग प्रश्न करते "कौन आचार्य जा रहे हैं?" शिष्य कहते "आचार्य कालक।"

यह बात कानोकान तेल-बिन्दु की तरह प्रसारित हो गई। श्रावक वर्ग ने आचार्य सागर से निवेदन किया "विशाल परिवार सहित आचार्य कालक आ रहे हैं।" अपने दादा गुरु के आगमन की बात सुनकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पुलकित मन होकर आचार्य सागर ने अपने शिष्य वर्ग को गुरु के आगमन की सूचना दी और कहा "मैं उनसे कई गंभीर प्रश्न पूछकर समाहित बनूंगा।"

शीघ्र गति से चलते हुए आचार्य कालक के शिष्य स्वर्णभूमि पहुंचे और स्वागतार्थ सामने आए हुए श्रमण सागर के शिष्यों से पूछा "आचार्य कालक यहाँ पधारे हुए हैं?" उत्तर मिला "एक वृद्ध श्रमण के अतिरिक्त यहाँ कोई नहीं आया।" उपाश्रय में पहुंचकर आचार्य कालक के शिष्यों ने आचार्य कालक को सभक्ति वन्दन किया। नवागन्तुक श्रमण संघ द्वारा अभिवन्दित होते देखकर आर्य सागर ने अपने दादा गुरु आचार्य कालक को पहचाना। अपने द्वारा कृत अविनय के कारण उन्हें लज्जा की अनुभूति हुई,[२०] हृदय अनुताप से भर गया।

---

२०. ताहे अज्जकालया चिंतेंति एए मम सीसा अणुओगं न सुणंति तओ किमेएसिं मज्झे तओ सुवन्नभूमीए सागराणं लोगेण कहियं, जहा अज्जकालगा नाम आयरिया बहुस्सुया बहुपरिवारा इहाऽऽगंतुकामा पंथे वट्टंति। ताहे सागरा सिस्साणं पुराओ भणंति मम अज्जया इति, तेसिं सगासे पयत्थे पुच्छीहामित्ति। अचिरेणं ते सीसा आगया। तत्थ अंगिलेहिं पुच्छिज्जंति किं इत्थ आयरिया आगया चिट्ठंति?
नत्थि, नवरं अन्ने खंता आगया। केरिसा वंदिये नायं "एए आयरिया।" ताहे सो सागरो लज्जिओ।
(सभाष्य बृहत्कल्प, भाग १, पृ. ७३, ७४)

गुरुदेव के चरणों में गिरकर क्षमा मांगी। विनम्र स्वरों में पूछा "गुरुदेव! मैं अनुयोग वाचना उचित प्रकार से दे रहा था?" आचार्य कालक ने कहा "तुम्हारा अनुयोग सम्यक् है पर गर्व मत करना। ज्ञान अनन्त है, मुष्टि-भर धूल राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर एवं दूसरे स्थान से तृतीय स्थान पर रखते उठाते समय वह न्यून से न्यूनतर होती जाती है। तीर्थङ्कर प्रतिपादित ज्ञान गणधर, आचार्य, उपाध्याय द्वारा हम तक पहुंचते-पहुंचते अल्प-अल्पतर हो गया है।" आचार्य कालक ने प्रशिष्य सागर को अनेक प्रकार का प्रशिक्षण दिया एवं वे स्वयं अनुयोग-प्रवर्तन में लगे।

प्रभावक चरित्र में प्राप्त वर्णनानुसार अपने शिष्यों का परित्याग कर आचार्य कालक अवन्ती से प्रशिष्य सागर के पास स्वर्णभूमि में पहुंचे। उस समय आगम वाचना कार्य में रत श्रमण सागर आचार्य कालक को सामान्य वृद्ध साधु समझकर न खड़े हुए, न अन्य किसी प्रकार का स्वागत किया। आचार्य कालक उपाश्रय के एक कोने में जाकर सहजभाव से बैठ गए और परमेष्ठि-स्मरण में लीन हो गए। आगम अनुयोग का कार्य संपन्न होने के बाद प्रशिष्य सागर ने कालकाचार्य के पास जाकर कहा

"किञ्चित्तपोनिधे जीर्ण! पृच्छ सन्देहमादृतः ॥१४०॥

(प्रभा. च., पृ. २६)

"वृद्ध तपोनिधे! आपकी कोई जिज्ञासा है, प्रष्टव्य है? आप मुझसे पूछें, मैं उसका यथोचित समाधान देकर सन्देह का निवारण करूंगा।"

आचार्य कालक बोले "वृद्ध होने के कारण मैं तुम्हारे कथन को ठीक से नहीं समझ पा रहा हूं, फिर भी पूछता हूं, अष्टपुष्पी का अर्थ क्या है?" सागर ने गर्व के साथ अष्टपुष्पी की व्याख्या की। इस व्याख्या से आचार्य कालक को संतोष नहीं हुआ, उस समय प्रत्युत्तर में कुछ भी बोलना ठीक नहीं समझ वे मौन रहे। बाद में आए हुए कालकाचार्य के शिष्यों द्वारा गुरु के प्रति विनय भाव, भक्ति को देखकर श्रमण सागर ने जब कालक को पहचाना तब मन में संकोच की अनुभूति हुई। अपने अविनय की क्षमा मांगी तथा अष्टपुष्पी के संबंध में जिज्ञासा प्रकट की। जिज्ञासा के समाधान में आचार्य कालक ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह द्वेष का परिहार, धर्म-ध्यान, शुक्लध्यान इन आठ प्रकार के पुष्पों से आत्मा की अर्चा को कल्याण का मार्ग बताकर विशुद्ध अध्यात्म भाव का प्रतिपादन किया।[21] शिष्य सागर को ज्ञान का गर्व नहीं करने की शिक्षा दी।

आचार्य कालक द्वारा की गई अष्टपुष्पी स्वरूप व्याख्या प्राचीन ग्रंथों में नहीं है। अवन्ती से स्वर्णभूमि में आचार्य कालक के जाने का उल्लेख निशीथ-चूर्णि में है वह इस प्रकार है

"उज्जेणी कालखमणा, सागरखमणा सुवण्णभूमिसु"

यह उल्लेख कालकाचार्य का अवन्ती में और प्रशिष्य सागर का सुवर्णभूमि में होने का स्पष्ट संकेत है।

त्वया कथ्यममीषां च प्रियकर्कशवाग्भरैः।
शिक्षयित्वा विशालायां प्रशिष्यान्ते ययौ गुरुः ॥१३१॥

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ २६)

प्रभावक चरित्र के उक्त पद्य के अनुसार आगम अध्ययन में शिष्यों की उदासीन वृत्ति के कारण आचार्य कालक उनका परित्याग कर अवन्ती में आए पर वे कहाँ से आये इसका उल्लेख नहीं है।

स्वर्णभूमि में आचार्य कालक के जाने का उल्लेख भी प्रभावक चरित्र ग्रंथ में नहीं है। 'मेरुतुंग विचार श्रेणी' में प्राप्त काल-गणना के अनुसार आचार्य द्वारा अविनीत शिष्यों के परित्याग की घटना वी. नि. ४७० के बाद की संभव है। उज्जयिनी पर वी. नि. ४५३ से ४६६ तक गर्दभिल्ल का शासन माना है। इससे स्पष्ट है गर्दभिल्लोच्छेदक घटना के समय आचार्य कालक युवा थे। अपनी बहिन साध्वी सरस्वती को उज्जयिनी-नरेश

---

२१. अष्टपुष्पीं च तत्पृष्टः प्रभुर्व्याख्यानयत् तदा।
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्माकिंचनता तथा ॥१५०॥
रागद्वेषपरिहारो धर्मध्यानं च सप्तमम्।
शुक्लध्यानमष्टमं च पुष्पैरात्मार्चनाच्चिदम् ॥१५१॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. २६)

गर्दभिल्ल के सीकचों से मुक्त कराने के लिए आचार्य कालक सिंधु नदी को पारकर सिंधु प्रदेश गए। मंत्र-विद्या से शक सामन्तों को प्रभावित कर वहां से उन्हें भारत लेकर आए थे। आचार्य कालक ने अविनीत शिष्यों का परित्याग किया उस समय वे वृद्धावस्था में थे।

आचार्य कालक का भूभ्रमण विस्तृत था। उन्हें पश्चिम में ईरान एवं दक्षिण पूर्व में जावा, सुमात्रा तक की पदयात्रा करने का श्रेय है।

आचार्य कालक का शिष्य संघ विशाल था पर उनके साथ आचार्य कालक का दृढ़ अनुबन्ध नहीं था। अविनीत शिष्यों के साथ रहने से कर्म बन्धन होगा, यह सोचकर वे एकाकी पदयात्रा पर चले गये। यह प्रसंग उनकी निर्लेप साधना का प्रशस्त निदर्शन है।

आचार्य कालक का निमित्त एवं ज्योतिष ज्ञान विशद था।[22]

अपने शिष्यों की अस्थिरता देखकर आचार्य कालक को अपने ज्योतिष ज्ञान संबंधी अपूर्णता की अनुभूति हुई। उन्होंने सोचा "मैं अभी तक ऐसा मुहूर्त्त नहीं जान सका जिससे मेरे द्वारा प्रव्रजित शिष्य स्थिरता को प्राप्त हो।" इस प्रेरणा से प्रेरित हो कर आचार्य कालक ने मुहूर्त्त विद्या प्रतिष्ठानपुर में आजीविकों से निःसंकोच ग्रहण की थी।[23] आचार्यत्व का अहंभाव किसी प्रकार से शिक्षा ग्रहण करने में बाधक नहीं बना।

कालकाचार्य जब ईरान गए उस समय वहां के माण्डलिक राजाओं को निमित्तविद्या और मंत्रविद्या से प्रभावित कर उन्हें सौराष्ट्र में लाए थे। इस घटना से ज्ञात होता है ईरान अथवा सिन्धप्रदेश जाने से पूर्व ही आचार्य-कालक ने इस विद्या पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। आजीविकों से ज्योतिष विद्या ग्रहण का यह समय ग्रन्थों में वी. नि. ४५३ (वि. पू. १७) से पूर्व का बताया गया है।

आचार्य कालक का जीवन कई विस्मयकारी प्रसंगों से संयुक्त है। चतुर्थी को संवत्सरी मनाने के उनके सर्वथा सयुक्तिक निर्णय को संघ ने मान्य किया। इसका कारण आचार्य कालक का तेजस्वी एवं क्रांतिकारी व्यक्तित्व था। आचार्य कालक की परम्परा में षाण्डिल्य शाखा का जन्म हुआ।

समय-संकेत

'दशाश्रुतस्कंध चूर्णि' के अनुसार आचार्य कालक वी. नि. ४५३ में आचार्य बने। वह उल्लेख इस प्रकार है

"तह गद्दभिल्लरज्जस्स छेदगो कालगायरियो हो ही।
तेवन्नचउसएहिं (४५३) गुणसयकालिओ पहाजुत्तो॥"

आचार्य कालक जैन इतिहास प्रसिद्ध अवन्ती नरेश गर्दभिल्ल के समकालीन थे। मेरुतुंग की 'विचार श्रेणी' में उज्जयिनी पति गर्दभिल्ल के शासनकाल का उल्लेख वी. नि. ४५३ से ४६६ (वि. पू. १७ से ४) तक का है। गर्दभिल्लोच्छेदक घटना का समय वी. नि. ४६६ माना है।

इन उपर्युक्त संदर्भों के आधार से स्पष्ट है क्रांतिकारी कालक द्वितीय वी. नि. ५वीं (वि. की प्रथम शताब्दी) के विद्वान आचार्य थे।

---

२२. "जोतिस-निमित्त-बलिया।"
(निशीथ-चूर्णि, उद्दे. १०, भाग ३, पत्रांक ५६)

२३. लोगाणुओगे अज्जकालगा। सज्जेतवासिणा (१) एत्तिउं पढिउं सो ना नाओ मुहुत्तो जत्थ पव्वाविओ थिरो होज्जा। तेण निब्बेएण आजीवगाण सगासे निमित्तं पढियं।
(पञ्चकल्प-चूर्णि, पृ. २४)

२५. क्षमाधर आचार्य खपुट

आचार्य खपुट अपने युग के विशिष्ट प्रभावी आचार्य थे। वे प्रभावोत्पादक विद्याओं के स्वामी थे। भव-विभ्रान्त पथिक के लिए विश्राम-स्थल थे। निशीथ चूर्णि में आठ व्यक्तियों का धर्म की प्रभावना में महान् योगदान माना गया है।[1] विद्याबल से प्रभावना करने वालों में आचार्य खपुट का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[2] अतिशय विद्या संपन्नता के कारण प्रबंध कोशकार ने उन्हें 'आचार्य सम्राट्' संज्ञा से अभिहित किया है।[3]

गुरु-परम्परा

आचार्य खपुट किस गच्छ के थे इसका संकेत ग्रंथों में नहीं है। उनके शिष्य समुदाय में भुवन नाम का एक शिष्य था, वह उनका भागिनेय था। एक अन्य शिष्य का नाम महेन्द्र था। आचार्य खपुट का उत्तराधिकार शिष्य भुवन को प्राप्त हुआ। इन दोनों शिष्यों का उल्लेख प्रभावक चरित्र कालक-प्रबन्ध में हुआ है।

जीवन-वृत्त

आचार्य खपुट ने शिष्य भुवन को अनेक प्रकार की विद्याएं प्रदान कीं। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण उसने कर्ण श्रुति से कई विद्याएं ग्रहण की। भृगुकच्छ का राजा बलमित्र बौद्ध था। उनकी सभा में मुनि भुवन का बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ हुआ। राजकीय सम्मान प्राप्त, प्रमाण, तर्क, न्याय की दृष्टि से बौद्ध भिक्षु जैनों से अपने को प्रकृष्ट मानते थे। मुनि भुवन के अकाट्य तर्कों के सामने शास्त्रार्थ में वे परास्त हो गए। 'बड्डकर' नाम बौद्धाचार्य गुड़शस्त्रपुर से भृगुकच्छ आए। शास्त्रार्थ में मुनि भुवन ने उन्हें भी परास्त कर दिया। इससे जैन शासन की विशेष प्रभावना हुई।

एक बार गुड़शस्त्रपुर में यक्ष का उपद्रव होने लगा। जैन संघ विशेषतः इस उपद्रव से आक्रांत था। गुड़शस्त्रपुर से समागत मुनिद्वय के द्वारा विस्तृत विवरण सहित दुःखद घटनाचक्र की सूचना आचार्य खपुट को मिली। इन मुनियों को जैन संघ ने भेजा था। आचार्य खपुट इस घटना से खिन्नता को प्राप्त हुए। भुवन शिष्य को उन्होंने अपनी कपर्दिका (विशिष्ट विद्या से संबंधित पुस्तक) सौंपी और कहा "एषा कपर्दिका वत्स नोन्मोच्या कौतुकादपि" वत्स! यह कपर्दिका मैं तुम्हें दे रहा हूं। यह किसी के हाथ में नहीं देना और न ही कौतुक-वश इसे खोलना। समग्र प्रकार से शिष्य भुवन को उचित प्रशिक्षण देकर आचार्य खपुट भृगुपुर से चले और गुड़शस्त्रपुर पहुंचे। वहां संघ से मिलकर समग्र स्थिति को जाना। वे यक्षायतन में गए एवं यक्ष के कानों में उपानह डालकर सो गए। पुजारी इस व्यवहार से प्रकुपित हुआ। यह बात राजा तक पहुंचाई। राजकीय पुरुषों द्वारा आचार्य खपुट की पिटाई होने लगी पर आगे की घटना से सब विस्मयाभिभूत हो गए। यष्टि-प्रहार आचार्य खपुट की पीठ पर हो रहा था किन्तु करुण-क्रन्दन अन्तःपुर से सुनाई दे रहा था। राजा समझ गया यह चमत्कार उस विद्यासिद्ध योगी का है।[4] वह खपुटाचार्य के पास पहुंचा एवं कठोर आदेश के लिए क्षमा मांगी। इस विद्या से प्रभावित होकर राजा

---

१. अइसेसइड्ढि-धम्मकहि-वादि-आयरिय-खगण-णेमित्ती।
विज्जा-राया-गण-संमत्ता य तित्थं पभावेंति ॥३३॥
(निशीथ भाष्य चूर्णि)

२. विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगावि।
सिज्झिज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धऽज्जखउड्ड ॥९२६॥
(आवश्यक निर्युक्तिदीपिका)

३. क्वापि गच्छेऽनेकातिशयलब्धिसम्पन्नाः श्री आर्यखपुटा नाम आचार्यसम्राजः।
(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ. ९, पंक्ति १६)

४. तदाकर्ण्य नृपो दध्यौ विद्यासिद्धोऽसकौ ध्रुवम् ॥१६२॥
(प्रभावक चरित, पृ. ३३)

खपुटाचार्य का परम भक्त बन गया।[४] लोकश्रुति के अनुसार यक्ष-प्रतिमा भी उन्हें द्वार तक पहुंचाने आई। खपुटाचार्य का नाम जन-जन के मुख पर गूंज उठा। यक्ष का उपद्रव शांत हुआ।

आचार्य खपुट जैन संघ को आश्वस्त करने हेतु उपद्रव शांत हो जाने के बाद भी कुछ दिन तक वहीं रहे। इधर भृगुपुर में विचित्र घटना घटी। मुनिद्वय भृगुपुर से आचार्य खपुट के पास पहुंचे। उन्होंने निवेदन किया "आर्यदेव! आपके द्वारा निषेध करने पर भी आपकी कपर्दिका को भुवन शिष्य ने खोला। उससे उसे आकृष्टि विद्या प्राप्त हो गई है। वह इस विद्या का दुरुपयोग कर रहा है "तत्प्रभावाद् वराहारमानीय स्वदतेतराम्।"

प्रतिदिन गृहस्थों के घर से आकृष्टि विद्या के द्वारा सरस आहार को लाकर उसने उसका उपभोग करना प्रारम्भ कर दिया। रस-लोलुप भुवन को स्थविरों ने कई बार रोका। वह उसे सहन नहीं कर सका। स्थिति विकट हो गई। जैन संघ से अपना संबंध विच्छेद कर विद्या के गर्व से गुर्राता हुआ भुवन बौद्धों के साथ जा मिला। वहां इसी विद्या के आधार पर आकाश-मार्ग से पात्रों को बौद्ध उपासकों के घर भेजता है और भोजन से परिपूर्ण होने के बाद उन्हें वापस खींच लेता है। इस चामत्कारिक विद्या के प्रभाव से अनेक जैन बौद्ध होने लगे। सारी स्थिति आपके ध्यान में ला दी है। 'यदुचितं तत्कुरुध्वम्' "अब जैसा उचित हो वैसा करें।" आचार्य खपुट मुनियों द्वारा समग्र घटना को सुनकर वहां से चले और भृगुपुर पहुंचे। प्रच्छन्न रूप से स्थित होकर आर्य खपुट ने शिष्य भुवन के विद्या के द्वारा आकाश मार्ग से समागत भोजनपूरित पात्रों को शिला प्रहार से खंड-खंड कर दिया।[५] भग्न पात्रों से मोदक आदि नाना प्रकार का स्वादिष्ट भोजन लोगों के मस्तक पर गिरने लगा।[६] शिष्य भुवन ने समझ लिया, उसके प्रभाव को प्रतिहत करने वाले आचार्य खपुट आ गए हैं। वह नाना प्रकार के कल्पित भय से घबरा कर वहां से भाग गया। आचार्य खपुट का जय-जयकार होने लगा।[७]

पाटलिपुत्र में जैन संघ के सामने भयंकर राजकीय संकट उपस्थित हुआ। वहां के राजा का जैन श्रमणों को आदेश मिला वे ब्राह्मण वर्ग को नमन करें अन्यथा उनका शिरच्छेद होगा। राजा की इस घोषणा से जैन संघ में चिन्ता हुई। यह जीवन-संकट का प्रश्न नहीं, धर्म-संकट का प्रश्न था

"देहत्यागान्न नो दुःखं शासनस्याप्रभावना।"

देहत्याग से उन्हें दुःख नहीं था, पर शासन की अप्रभावना पीड़ित कर रही थी।

अतिशय विद्यासंपन्न आचार्य खपुट और उनका शिष्य मंडल ही इस संकट से जैन संघ को बचा सकता है।

जैन संघ ने भृगुपुर में दो गीतार्थ स्थविर मुनियों को आचार्य खपुट के पास भेजा। आचार्य खपुट ने समग्र स्थिति को समझा एवं प्रतिकारार्थ अपने विद्वान् शिष्य महेन्द्र को वहां भेजा। राजा दाहड़ की सभा में ब्राह्मण पण्डितों के सम्मुख मुनि महेन्द्र द्वारा लाल एवं धवल कणेर के माध्यम से विद्या-प्रयोग का प्रदर्शन कर राजा को झुका लिया। यह प्रयोग जैन संघ के हित में हुआ। राजा दाहड़ ने श्रमण वर्ग के लिए प्रदत्त कठोर आदेश हेतु मुनि महेन्द्र से क्षमायाचना की। बार-बार राजा दाहड़ ने नम्र होकर कहा **"क्षमस्वैकंध्यलीकं मे"** ॥२०८॥

(प्रभा. च., पृ. ३५)

---

४. राजा प्रबोध्य सद्यः श्रावकः कृतः।
(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ. १०, पंक्ति २५)

५. पूर्णानि तानि भोज्यानामायान्ति गगनाध्वना।
गुरुभिः कृतयाऽदृश्यशिलया व्योम्नि पुस्फुटुः ॥१७७॥
(प्रभावक चरित, पृ. ३४)

६. पतन्ति पात्रेभ्यः शालि-मण्डक-मोदकार्यशाश्च लोकस्य मस्तकेषु।
(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ. ११, पंक्ति ३)

७. जय जय महर्षिकुलशेखर! इत्यादि स्तुतीरतनिष्ट।
(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ. ११, पंक्ति ५)

इस घटना से जैन धर्म की महती प्रभावना हुई। राजा दाहड़ और ब्राह्मण प्रतिबोध को प्राप्त हुए।[९]

कुछ समय के बाद शिष्य भुवन ने अपने गुरु के पास आकर स्वकृत अविनय की क्षमा-याचना की और श्रमण संघ में मिल गया।[१०] गुरु ने उसे योग्य समझकर बहुमान दिया। गुणवान, विनयवान, चरित्रवान, श्रुतवान बनकर भुवन ने संघ को आश्वस्त किया। आचार्य खपुट ने शिष्य भुवन को सूरिपद पर स्थापित कर अनशनपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया।[११] आर्य कालक की भांति अनेक चामत्कारिक घटनाएं खपुटाचार्य के जीवन के साथ जुड़ी हुई हैं।

उनके चामत्कारिक प्रसंगों के आधार पर प्रभावक चरित्र आदि साहित्य में वे सर्वत्र विद्या सिद्ध आचार्य के रूप में विशेषित हैं। टीकाकार मलयगिरि ने उन्हें विद्या चक्रवर्ती का संबोधन देकर अतिशय विद्याओं पर उनका प्रबल आधिपत्य सूचित किया है।[१२]

समय-संकेत

खपुट के समय का उल्लेख प्रभावक चरित्र के विजयसिंहसूरि प्रबन्ध में इस प्रकार है

श्रीवीरमुक्ततः शतचतुष्टये चतुरशीतिसंयुक्ते।
वर्षाणां समजायत श्रीमानाचार्य खपुटगुरुः ॥७६॥
(प्रभावक चरित, पृ. ४३)

प्रभावक चरित के उक्त उल्लेखानुसार आचार्य खपुट का समय वी. नि. ४८४ (वि. सं. १४, ई. पू. ४३) है।

---

९. प्रतिबोधितो राजा विप्रलोकश्च। एवं प्रभावनाऽभूत।
(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ. ११, पंक्ति २०)

१०. भुवनोऽपि बौद्धान्परिहृत्य स्वगुरूणां मीलितः।
(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ. ११, पंक्ति २१)

११. आर्यखपुटाः सूरिपदं भुवनाय दत्त्वाऽनशनेन द्यामारुरुहुः।
(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृ. ११, पंक्ति २३)

१२. विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोत्ति ॥
(आवश्यक मलय, पृ. ४४१)

२६-२७. नयनानंद आचार्य नंदिल और आचार्य नागहस्ती

वाचक परम्परा में आचार्य मंगू के बाद आचार्य नंदिल और आचार्य नागहस्ती का उल्लेख है। वाचनाचार्य क्रम में आचार्य नंदिल का क्रम १७वां और आचार्य नागहस्ती का क्रम १८वां है।

युगप्रधान पट्टावलीकारों ने आचार्य नागहस्ती को युगप्रधान माना है।

वाचक नागहस्ती एवं युगप्रधान नागहस्ती दोनों एक नहीं हैं।

वाचक नागहस्ती वाचनाचार्य नन्दिल के शिष्य हैं। युगप्रधान नागहस्ती युगप्रधान आचार्य वज्रसेन के शिष्य हैं। इनको नागेन्द्र के नाम से पहचाना गया है। युगप्रधान पट्टावली में आचार्य नागेन्द्र का ही नागहस्ती के नाम से उल्लेख है। वाचनाचार्य नागहस्ती विद्यासिद्ध आचार्य पादलिप्त के गुरु हैं। ये आचार्य आर्य रक्षित से पूर्ववर्ती हैं। अनुयोग द्वार में आचार्य आर्य रक्षित ने आचार्य पादलिप्त का 'तरंगवइकार' के रूप में स्मरण किया है। आचार्य वज्रसेन के शिष्य युगप्रधान नागहस्ती आचार्य आर्य रक्षित से उत्तरवर्ती हैं।

आचार्य देववाचक ने नंदी स्थविरावली में नागहस्ती से संबंधित वाचकवंश की श्रीवृद्धि की कामना की है पर उसमें नाइली शाखा का उल्लेख नहीं है। नाइली शाखा का जन्म युगप्रधान नागहस्ती (नागेन्द्र) से हुआ। इससे स्पष्ट है वाचनाचार्य नागहस्ती और युगप्रधान आचार्य नागहस्ती दोनों भिन्न हैं।

गुरु-परम्परा

नंदी स्थविरावली में आचार्य मंगू के बाद आचार्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्रस्वामी एवं आचार्य आर्य रक्षित का क्रम है। उसके बाद आचार्य नन्दिल का उल्लेख है।

आचार्य नन्दिल के बाद आचार्य नागहस्ती का उल्लेख है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर, टीकाकार आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि आचार्य धर्म से आचार्य आर्य रक्षित तक चारों आचार्यों का उल्लेख करने वाली गाथाओं को प्रक्षिप्त मानकर आचार्य मंगू के बाद आचार्य नन्दिल का क्रम स्वीकार करते हैं।

आचार्य नन्दिल के बाद आचार्य नागहस्ती का उल्लेख है। चूर्णिकार एवं टीकाकार आचार्यों ने धर्म, भद्रगुप्त, वज्रस्वामी, आर्य रक्षित इन चारों आचार्यों का संबंध वाचक परम्परा के साथ मान्य नहीं किया है। यही कारण है जिनदास महत्तर एवं हरिभद्र आदि की नंदी-चूर्णि एवं नंदी टीका में इन आचार्यों का उल्लेख नहीं है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर एवं टीकाकार हरिभद्र के अभिमत से ये चारों आचार्य युगप्रधान थे। वाचनाचार्य क्रम में आचार्य मंगू के शिष्य आचार्य नन्दिल और नन्दिल के शिष्य नागहस्ती थे।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य मंगू और आचार्य नागहस्ती का उल्लेख है। दोनों को चूर्णिकार यतिवृषभ का गुरु माना गया है। दिगम्बर परम्परा सम्मत मंगू और नागहस्ती तथा श्वेताम्बर परम्परा सम्मत मंगू और नागहस्ती ये भिन्न हैं या अभिन्न यह अभी तक गंभीर शोध का विषय है।

जीवन-वृत्त

आचार्य देवर्द्धिगणी ने वन्दन करते समय आचार्य नन्दिल और आचार्य नागहस्ती के गुणों का वर्णन किया है। आचार्य नन्दिल के संबंध में देवर्द्धिगणी रचित नंदी स्थविरावली का पद्य इस प्रकार है

नाणम्मि दंसणम्मि य, तव-विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
अज्जं नंदिलखमणं, सिरसा वंदे पसण्णमणं ॥२६॥

ज्ञान योग, दर्शन योग, तपःयोग, विनय योग में जो निरन्तर प्रयत्नशील हैं उन प्रसन्नमना क्षमाशील आचार्य नन्दिल को मैं वंदन करता हूं।

प्रभावक चरित्र में प्राप्त वर्णनानुसार आचार्य नन्दिल ने सास के व्यवहार से खिन्न वैरोट्या नामक एक बहिन

को क्षमाधर्म का उपदेश देकर उसके मन के आवेग को शांत किया था। वैराग्य को प्राप्त कर एक दिन वह बहिन साध्वी बनी और समताभाव से मृत्यु को प्राप्त कर तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का परम भक्त नागराज धरणेन्द्र की देवी बनी। पूर्व उपकार का स्मरण करती हुई वैराट्या देवी आचार्य नन्दिल के प्रति विशेष आस्था रखती थी। पार्श्वनाथ के भक्तों का दुःख दूर करने के लिए वह सहयोग किया करती थी। प्रभावक चरित्र में इसका उल्लेख इस प्रकार है

सापि प्रभौ भक्तिमतां चक्रे साहाय्यमद्भुतम् ॥७६॥

(प्रभा. च., पृ. २१)

आचार्य नन्दिल ने "नमिऊण जिणं पासं" .....इस मंत्र से युक्त वैरोट्यास्तवन की रचना की थी। उस स्तवना की प्रभावकता को बताते हुए प्रभाचन्द्राचार्य लिखते हैं

"एकचित्तः पठेन्नित्यं त्रिसन्ध्यं य इमं स्तवम्।
विषाद्युपद्रवाः सर्वे तस्य न स्युः कदाचन ॥८१॥

(प्रभा. च. पृ. २१)

आचार्य नन्दिल सार्ध नौ पूर्वों के धारक थे ऐसा उल्लेख प्रभावक चरित्र में है।

आठ नागकुल भी आर्य नन्दिल से प्रभावित थे। आचार्य नन्दिल से संबंधित प्रकरण में पद्मनी खण्ड नगर, पद्मप्रभ राजा, पद्मावती रानी, पद्मदत्त श्रेष्ठी, पद्मयशा पत्नी आदि इस प्रकार पद्म प्रधान नाम रुचिकर प्रतीत होते हैं। उस समय के इतिहास को जानने के लिए भी ये महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं।

आचार्य नागहस्ती वाचनाचार्य नागहस्ती के विषय में नंदी स्थविरावली में उल्लेख है

वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्ज-नागहत्थीणं।
वागरण-करण-भंगी-कम्मपयडी-पहाणाणं ॥३०॥

जीवादि पदार्थों के व्याख्याता, चरणकरणानुयोग में निष्णात, विविध प्रकार के भङ्ग और विकल्पों के प्ररूपक तथा कर्म प्रकृतियों के विशेषज्ञ महान् यशस्वी आचार्य नागहस्ती थे।

युगप्रधान आचार्य नागहस्ती का आचार्यकाल ६९ वर्ष का माना गया है।

समय-संकेत

आचार्य नन्दिल के गुरु आचार्य मंगू का स्वर्गवास वी. नि. ४७० में हुआ था। अतः आचार्य मंगू के उत्तरवर्ती आचार्य नन्दिल और आचार्य नन्दिल के उत्तरवर्ती आचार्य नागहस्ती का सत्ता-समय वी. नि. पांचवीं और छठी शताब्दी संभव है।

२८. परोपकार परायण आचार्य पादलिप्त

आचार्य पादलिप्त चामत्कारिक विद्याओं के स्वामी थे। उनमें पैरों पर औषधियों का लेप लगाकर गगन में यथेच्छ विहरण की असाधारण क्षमता थी। वे सरस काव्यकार और सातवाहन वंशी राजा हाल की सभा के अलङ्कार थे।

गुरु-परम्परा

आचार्य पादलिप्त के गुरु का नाम आचार्य नागहस्ती था। दीक्षा प्रदाता गुरु का नाम संग्रामसिंह और विद्या गुरु का नाम मण्डन था। संग्रामसिंह, नागहस्ती के गुरु-बंधु थे।

नंदी पट्टावली और युगप्रधान पट्टावली दोनों में नागहस्ती का उल्लेख है।

'प्रभावक चरित्र' के पादलिप्त प्रबंध के अनुसार नागहस्ती विद्याधर गच्छ के थे। यह विद्याधर गच्छ नमि, विनमि विद्याधरों के वंश में होने वाले कालकाचार्य से संबंधित था।[1] 'जैन कालगणना' में प्राप्त उल्लेखानुसार कालकाचार्य से संबंधित विद्याधर गच्छ की बात प्रमाणित नहीं है। उनके विचारानुसार कालकाचार्य से किसी विद्याधर गच्छ का उद्भव नहीं हुआ।

आचार्य सुहस्ती की परम्परा में होने वाले आचार्य सुस्थित के शिष्य विद्याधर गोपालक से विद्याधर शाखा का जन्म हुआ। यह विद्याधर शाखा आचार्य सुस्थित के कोटिक गण से संबंधित थी।

आचार्य वज्रसेन के शिष्य आचार्य नागेन्द्र से विद्याधर कुल का उद्भव हुआ। आचार्य पादलिप्त के गुरु नागहस्ती का कोटिक गण की विद्याधर शाखा से संबंध संभव है। प्राचीन शाखाएं कालान्तर में कुल और तदनन्तर गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

वज्रसेन के शिष्य मुनि नागेन्द्र से विद्याधर कुल का जन्म आचार्य आर्य रक्षित के बाद हुआ है। युगप्रधान पट्टावली में आर्य रक्षित के बाद पुष्यमित्र (दुर्बलिका पुष्यमित्र), उनके बाद वज्रसेन का क्रम है। विद्याधर कुल के प्रवर्तक आचार्य नागेन्द्र आचार्य वज्रसेन के शिष्य थे। पादलिप्त आचार्य रक्षित से पूर्व हुए हैं। आचार्य रक्षित के अनुयोग द्वार में 'तरंग वइकार' के रूप में आचार्य पादलिप्त का उल्लेख है अतः पादलिप्त के गुरु नागहस्ती का वज्रसेन के शिष्य आचार्य नागेन्द्र के विद्याधर कुल से किसी प्रकार का संबंध संभव नहीं है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य पादलिप्त का जन्म सरयू और गंगा के तट पर बसी कौशल (अयोध्या) नगरी में हुआ। वहां उस समय विजयब्रह्म का राज्य था। पादलिप्त के पिता का नाम फुल्लचंद्र और माता का नाम प्रतिमा था। पादलिप्त के ६ लघु सहोदर थे परन्तु उनके नामों का उल्लेख ग्रंथों में नहीं है।

जीवन-वृत्त

पादलिप्त के पिता फुल्लचंद्र कौशल नगरी के श्रीसंपन्न श्रेष्ठी थे। उनकी पत्नी प्रतिमा रूपवती एवं गुणवती महिला थी। विविध गुणों से संपन्न होने पर भी निःसंतान होने के कारण प्रतिमा चिंतित रहती। विविध औषधियों का सेवन तथा नाना प्रकार के तंत्र-मंत्र आदि के प्रयोग भी विफल हो गए। प्रतिमा की इच्छा पूर्ति नहीं हुई। एक बार उसने संतान प्राप्ति हेतु वैरोट्या देवी की आराधना में अष्ट दिन का तप किया। तप के प्रभाव से देवी प्रकट हुई। उसने कहा "ज्ञान-सागर, लब्धि-संपन्न

---

१. अथो फणीन्द्रकान्तासावादिदेश सुते! शृणु।
पुरा नमि-विनम्याख्यविद्याधरवरान्वये ॥१४॥
आसीत् कालिकसूरिः श्रीश्रुताम्भोनिधिपारगः।
गच्छे विद्याधराख्यस्यार्यनागहस्तिसूरयः ॥१५॥
(प्रभावक चरित, पृ. २८)

आचार्य नागहस्ती के पाद-प्रक्षालित उदक का पान करो, उससे तुम्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी।"[2]

देवी के मार्गदर्शन से प्रतिमा प्रसन्न हुई। वह भक्ति-भरित हृदय से उपाश्रय में पहुंची। आचार्य नागहस्ती के पाद प्रक्षालित उदक की उपलब्धि उसे एक मुनि के द्वारा हुई।

चरणोदक पान करने के पाद प्रतिमा ने नागहस्ती के निकट जाकर दर्शन किए। नागहस्ती ने प्रतिमा से कहा "तुमने मेरे से दस हाथ दूर चरणोदक पान किया है, अतः तुम्हें दस पुत्रों की प्राप्ति होगी। उनमें तुम्हारा प्रथम पुत्र तुमसे से दस योजन दूर जाकर धार्मिक विकास करेगा। वीतराग-शासन की गौरव वृद्धि करेगा एवं बृहस्पति के समान बुद्धिमान होगा। तुम्हारी अन्य संतानें भी यशस्वी होंगी।"

आर्य नागहस्ती से संतान प्राप्ति का वचन प्राप्त कर प्रतिमा अतीव प्रसन्न हुई। वह मधुर संभाषण करती हुई विनम्र होकर बोली गुरुदेव आपके मंगल आशीर्वाद से मुझे दस संतानों की प्राप्ति होगी उनमें से मैं अपने प्रथम पुत्र को आपके चरणों में समर्पित करूंगी। प्रतिमा गुरु के चरणों में कृतज्ञता ज्ञापित कर संतति प्राप्ति की आशा के साथ अपने घर लौटी। श्रेष्ठी फुल्लचंद्र पत्नी प्रतिमा से समग्र वृत्तान्त सुन प्रसन्न हुए और गुरुचरणों में प्रथम संतान को समर्पित करने का सहर्ष समर्थन किया।

काल-मर्यादा संपन्न होने पर प्रतिमा ने कामदेव के समान सुंदर, सूर्य जैसे तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र के गर्भकाल में प्रतिमा ने नाग का स्वप्न देखा था। स्वप्न के आधार पर पुत्र का नाम नागेन्द्र रखा गया। माता की ममता पिता के वात्सल्य और परिजनों के स्नेहसिक्त वातावरण में वह बड़ा हुआ।

पुत्र जन्म के पूर्व वचनबद्ध होने के कारण प्रतिमा ने अपने पुत्र को नागहस्ती के चरणों में समर्पित कर दिया। नागहस्ती ने अल्पवय शिशु को प्रतिपालना के लिए जननी प्रतिमा के पास ही रखा। आठ वर्ष की अवस्था में बालक को आचार्य नागहस्ती ने अपने संरक्षण में लिया। मुनि संग्रामसिंह नागहस्ती के गुरुबन्धु थे। आचार्य नागहस्ती के आदेश से शुभमुहूर्त में संग्रामसिंह सूरि ने नागेन्द्र को मुनि दीक्षा प्रदान की। मण्डन मुनि की सन्निधि में बाल मुनि का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।[3] मुनि नागेन्द्र की बुद्धि शीघ्रग्राही थी। एक वर्ष की अल्प अवधि में उन्होंने व्याकरण, न्याय, दर्शन, प्रमाण आदि विविध विषयों का गंभीर ज्ञान अर्जन किया।[4]

एक दिन मुनि नागेन्द्र जल लाने के लिए गए। गोचरी से निवृत होकर वे उपाश्रय में लौटे और ईर्यापथिकी आलोचना करने के बाद गुरु के समक्ष उन्होंने एक श्लोक बोला

अंबं तंबच्छीए अपुप्फियं पुप्फदंतपंतीए।
नवसालिकंजियं नववहूइ कुडएण मे दिन्नं ॥३८॥

(प्रभा. च., पृ. २९)

ताम्र की भांति ईषत् रक्ताभ नयनी, पुष्पोपम दंतपंक्ति की धारिणी नववधू ने मिट्टी के बने नए करुए (बर्तन) से मुझे यह कांजी जल प्रदान किया।

शिष्य के मुख से शृंगारमयी भाषा सुनकर गुरु अप्रसन्न हुए। उन्होंने कठोर शब्दों में कहा "पलित्तोऽसि" पलित शब्द प्राकृत भाषा का है एवं कामाग्नि से प्रदीप्त भावों का द्योतक है।

मुनि नागेन्द्र सद्योत्तर प्रतिभा के धनी थे। गुरु द्वारा

---

२. श्री कालिकाचार्यसन्ताने विद्याधरगच्छे श्रुतसमुद्रपारग-श्रीआर्यनागहस्तिगुरुणामनेकलब्धिवतां पुत्रेच्छया पाद प्रक्षालनजलं पिब।

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. ९२, पंक्ति १५, १६)

३. गुरुभिरागत्याष्टमे वर्षे दीक्षितः। मण्डनाभिधस्य मुनेः पार्श्वे पाठितः।

(प्रबन्ध कोश, पृ. सं. १२, पंक्ति ११-१२)

४. लसल्लक्षण-साहित्य-प्रमाण-समयादिभिः।
शास्त्रैरनुपमो जज्ञे विद्वेशो वर्षमध्यतः ॥३४॥

(प्रभावक चरित, पृ. २९)

उच्चरित शब्द को अर्थान्तरित करने हेतु मुनि नागेन्द्र ने नम्र होकर कहा 'आर्यदेव! पलित्त में एक मात्रा बढ़ाकर उसका पालित्त बनाने का आप द्वारा प्रसाद प्राप्त हो। एक मात्रा वृद्धि से 'पालित्तओ' का संस्कृत में पादलिप्त हो जाता है। पादलिप्त से मुनि नागेन्द्र का तात्पर्य था

"गगनगमनोपायभूतां पादलेप विद्यां मे देहि येनाहं 'पादलिप्तक' इत्यभिधीये।" मुझे गगन गमन में उपायभूत पादलेप विद्या का दान करें जिससे मैं पादलिप्तक कहलाऊं।

एक मात्रा की वृद्धि से पलित शब्द को विलक्षण अर्थ प्रदायिनी मुनि नागेन्द्र की प्रज्ञा पर गुरु प्रसन्न हुए। उन्होंने गगन-गामिनी विद्या से विभूषित होने 'पादलिप्तोभव' का शुभ आशीर्वाद शिष्य को दिया। उस समय से मुनि नागेन्द्र का नाम पादलिप्त प्रसिद्ध हो गया।

प्रबन्धकोश के अनुसार गुरु नागहस्ती ने मुनि नागेन्द्र को पादलेप विद्या प्रदान की, जिससे मुनि को गगन में यथेच्छ विहरण करने की क्षमता प्राप्त हो गई।

दस वर्ष की अत्यल्प उम्र में गुरु ने उन्हें विशाल संघ के आचार्य जैसे गरिमापूर्ण पद पर नियुक्त किया।[५]

आचार्य पादलिप्त के शिशुकाल में गुरु ने उनकी माता को बालक के संघ-प्रमुख होने का संकेत किया था। गुरु की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई।

धर्म संघ की प्रभावना के लिए गुरु के आदेश से आचार्य पादलिप्त एक बार मुथरा गए। कुछ समय वहां रहने के बाद उनका मथुरा से पाटलिपुत्र में पदार्पण हुआ। उस समय पाटलिपुत्र का शासन मुरुण्ड नरेश के हाथ में था।[६] आचार्य पादलिप्त के आध्यात्मिक एवं बौद्धिक ज्ञान से नरेश मुरुण्ड अत्यधिक प्रभावित हुआ। नरेश मुरुण्ड छह महीने से भंयकर मस्तिष्क वेदना से पीड़ित था। अनेक उपचार किए परन्तु किसी प्रकार की चिकित्सा वेदना को शांत नहीं कर सकी। राज-परिवार में निराशा छा गई। मंत्री ने राजा को परामर्श दिया "पृथ्वीनाथ! आपकी वेदना का सही उपचार आचार्य पादलिप्त के मंत्र प्रयोग से संभव है।" भूप मुरुण्ड ने आचार्य पादलिप्त को मंत्री के द्वारा महलों में पधारने की प्रार्थना करवाई। मंत्री आचार्य पादलिप्त के पास पहुंचा और विनम्र स्वरों में बोला

"शिरोर्तिर्निवर्त्यताम्, कीर्तिधर्मौ संचीयेताम्"

(प्रबन्धकोश, पृ. १२, पं. २५)

आर्य! राजा की मस्तिष्क पीड़ा को दूर कर कीर्ति का उपार्जन करें।

मंत्री की प्रार्थना को स्वीकार कर आचार्य पादलिप्त राजमहल में पधारे। प्रदेशिनी अंगुली को अपने जानु पर घुमाकर उन्होंने राजा के सिर-दर्द को शांत कर दिया।[७] पादलिप्त की मंत्र-विद्या से पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त कर महाराज मुरुण्ड उनके भक्त बन गए।

आचार्य पादलिप्त के इस प्रसंग का उल्लेख प्रभावक चरित्र, प्रबन्धकोश, निशीथभाष्य-चूर्णि आदि कई ग्रंथों में है। प्रस्तुत घटना से संबंधित एक प्रसिद्ध पद्य है

"जह जह पएसिणिं जाणुयंमि पालित्तउ भमाडेइ।
तह-तह से सिरविअणा पणस्सई मुरुण्डरायस्स" ॥५६॥

(प्रभा. चरित, पृ. ३०)

इस गाथा की प्रसिद्धि वेदना शामक मंत्र के रूप में है। नरेश मुरुण्ड एवं आचार्य पादलिप्त से संबंधित इस प्रकार की कई घटनाएं चामत्कारिक एवं प्रभावोत्पादक हैं।

---

५. इत्यसौ दशमे वर्षे गुरुभिर्गुरुगौरवात्।
प्रत्यष्ठाप्यत पट्टे स्वे कपपट्टं प्रभावताम् ॥४२॥
(प्रभावक चरित, पृ. २६)

६. दिनानि कतिचित् तत्र स्थित्वाऽसौ पाटलीपुरे।
जगाम तत्र राजास्ति मुरुण्डो नाम विश्रुतः ॥४४॥
(प्रभावक चरित, पृ. २६)

७. ततः सूरीन्द्रो राजकुलं गत्वा मन्त्रशक्त्या क्षणमात्रेण-शिरोर्तिमपहरति स्म।
(प्रबन्धकोष, पृ. १२, पंक्ति २६)

सुप्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में मुरुण्ड राजा और आचार्य पादलिप्त से संबंधित एक घटना का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है एक बार नरेश मुरुण्ड ने आचार्य पादलिप्त से प्रश्न किया हमारे वेतन भोगी कर्मचारी वेतन के अनुसार कार्य करते हैं। भिक्षावृत्ति के आधार पर जीने वाले आपके शिष्य वेतन के प्रलोभन के बिना आपके कार्य को करने के लिए तत्पर रहते हैं। इसका क्या रहस्य है? प्रत्युत्तर में पादलिप्त बोले "राजन्! उभयलोक की हित भाव से प्रेरित होकर ये शिष्य गुरु के कार्य को करने के लिए सदा तैय्यार रहते हैं।" पादलिप्त के इस उत्तर से मुरुण्ड के मन को संतोष नहीं हुआ। अपनी बात अधिक स्पष्ट करते हुए राजा मुरुण्ड ने कहा "लोक व्यवहार का प्रमुख आधार धन होता है। हर व्यक्ति धन के प्रलोभन से काम करता है। यह अनुभव-सिद्ध है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।" राजा की बात सुनकर पादलिप्त सूरि मुस्कराए। कुछ समय तक दोनों में इस विषय पर चर्चा होती रही। अपनी-अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए राजा ने मंत्री को और आचार्य पादलिप्त ने अपने नवदीक्षित शिष्य को आदेश दिया। वे जांच कर बताएं "गङ्गा किस दिशा की ओर बह रही है?" मंत्री की मति बरगला गई। उसने सोचा "बाल मुनि के साथ में रहने से राजा की बुद्धि भी बालक जैसी हो गई है। इस साधारण प्रश्न का उत्तर महिलाएं भी दे सकती हैं।" इस प्रकार बुदबुदाता हुआ मंत्री राजा के आदेशानुसार वहां से चला। मंत्री जुए का व्यसनी भी था। अपने दोस्तों के साथ जुआ खेलने में समय बिताकर मंत्री राजा के पास लौटा और निवेदन किया "राजन्! गङ्गा पूर्वाभिमुख बह रही है।" मंत्री ने राजाज्ञा का पालन ईमानदारी से नहीं किया। इस बात की विश्वस्त सूचना राजा को गुप्तचरों द्वारा पहले ही ज्ञात हो गई। इधर पादलिप्त सूरि का नव दीक्षित शिष्य गङ्गा के तट पर गया। पूरी जांच की। लोगों से पूछा। प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर गुरु के पास आया और विनम्र शब्दों में गङ्गा के पूर्वाभिमुख बहने की बात कही। स्थिति का यथार्थ ज्ञान होने पर शिष्य के विनम्र व्यवहार से नरेश मुरुण्ड अत्यधिक प्रसन्न हुआ।

पाटलिपुत्र से विहार कर आचार्य पादलिप्त मथुरा गए तथा वहां से लाट प्रदेशान्तर्गत ओंकारपुर पहुंचे। ओंकारपुर में उस समय राजा भीम का राज्य था। विद्वान् आचार्य पादलिप्त को नरेश भीम ने बहुमान प्रदान किया।

आचार्य पादलिप्त की कई इतिहास प्रसिद्ध चामत्कारिक घटनाएं ओंकारपुर में घटित हुई।

एक बार आचार्य पादलिप्त के बौद्धिक बल से प्रभावित होकर लाट देश के पण्डितों ने उनसे पूछा

पालित्तय! कहसु फुडं सयलं महिमंडलं भमंतेण।
दिट्ठो सुओ व कत्थ वि चंदणरससीयलो अग्गी ॥१०६॥

(प्रभा. चरित., पृ. ३१)

आर्य! महिमण्डल पर भ्रमण करते हुए आपने कहीं अग्नि को चंदन रस के समान शीतल देखा या सुना है?

पादलिप्तसूरि ने त्वरा से काव्यमयी भाषा में उत्तर दिया

"अयसाभियोगसंभिन्नमियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स।
होइ बहन्तस्स फुडं चंदणरससीयलो अग्गी ॥१११॥"

(प्रभा. चरित, पृ. ३२)

अपने अकीर्तिजन्य दुःख से व्यथित व्यक्तियों को अग्नि भी चन्दन रस के समान शीतल अनुभूत होती है।

आचार्य पादलिप्त की प्रत्युत्पन्न प्रतिभा के सामने पंडितों के मस्तक झुक गए।

एक बार आचार्य पादलिप्त ने शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। उसके बाद वे मानखेटपुर गए। मानखेट में उस समय नरेश कृष्ण का राज्य था। राजा कृष्ण ने आचार्य पादलिप्त का भक्तिपूर्वक सत्कार किया। मानखेटपुर में उस समय प्रांशुपुर से रुद्रदेव सूरि और विलासपुर से श्रमणसिंह सूरि आए। विलासपुर में उस समय राजा प्रजापति का शासन था। रुद्रदेवसूरि योनिप्राभृत के ज्ञाता थे एवं जीवोत्पत्ति के विषय का उन्हें अधिकृत ज्ञान था। श्रमणसिंह सूरि ज्योतिष विद्या

के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने नरेश प्रजापति के सामने ज्योतिष विद्या के कई आश्चर्यकारी रहस्य उद्घाटित किए। इन दोनों विद्वानों के साथ आचार्य पादलिप्त के मिलन संबंधी संकेत प्रभावक चरित ग्रंथ में नहीं हैं।

आचार्य पादलिप्त के बुद्धिबल एवं विद्याबल से नरेश कृष्ण और उसकी सभा के विद्वान् अत्यधिक प्रभावित थे। राजा के आग्रह से आचार्य पादलिप्त लम्बे समय तक मानखेटपुर नगर में विराजे। एक बार भरौंच के श्रावकों की प्रार्थना पर आचार्य पादलिप्त ने उन्हें कार्तिक पूर्णिमा को वहां पहुंचने का वचन दिया।

आचार्य महेन्द्र के मंत्रविद्या प्रयोग से अभिभूत पाटलिपुत्र के ब्राह्मणों को आचार्य खपुट ने भरौंच में जैन दीक्षा प्रदान की। तब से जाति वैर के कारण भरौंच के ब्राह्मण जैन समाज से प्रतिकूल हो गए। उस समय का वैमनस्य जैन और ब्राह्मण समाज में विग्रह का कारण बन गया। आचार्य पादलिप्त का भरौंच में यह पदार्पण ब्राह्मणों द्वारा उत्पन्न विग्रह को शांत करने के उद्देश्य से हो रहा था। कार्तिक पूर्णिमा के दिन प्रभात के समय राजा कृष्ण को विहार की योजना बताकर पादलिप्त सूरि ने वहां से प्रस्थान किया। गगन मार्ग से वे भरौंच पहुंचे।

विलक्षण शक्ति संपन्न महाप्रभावी आचार्य पादलिप्त के आगमन से जैन समाज में हर्ष की लहर दौड़ गई। पादलिप्त सूरि की गगनगामिनी विस्मयकारक क्षमता से भयभीत होकर विग्रह उत्पन्न करने वाले व्यक्ति वहां से चले गए थे। सारे शहर में पादलिप्त सूरि की यशोगाथा गूंजने लगी।

भरौंच नरेश भी पादलिप्त सूरि के दर्शन करने आया और निवेदन किया

"राजाह सुकृती कृष्णः पूज्यैर्यो न विमुच्यते।"

मानखेटपुर नरेश कृष्ण भाग्यशाली है जिनको आपका सान्निध्य निरन्तर प्राप्त होता है। अब हमें भी आपके दर्शनों का एवं उपासना का अधिक से अधिक लाभ प्राप्त होना चाहिए।

पादलिप्त सूरि बोले "राजन्! मैं आज अपराह्न में मानखेट पहुंचने के लिए नरेश कृष्ण से वचनबद्ध हूं। मुझे कई स्थानों पर तीर्थ यात्राएं भी करनी है, अतः शीघ्र ही यहां से अब प्रस्थान करना अत्यन्त जरूरी है।" भरौंच नरेश की प्रार्थना पर भी पादलिप्त सूरि नहीं रुके। वे दिन के पश्चिम भाग में आकाश मार्ग से मानखेट नगर में पहुंच गए। वहां से पदयात्री बनकर तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। तीर्थयात्रा के इस क्रम में वे सौराष्ट्र प्रदेशान्तर्गत टंका नामक महापुरी में पहुंचे। वहीं उन्हें नागार्जुन शिष्य की उपलब्धि हुई। नागार्जुन संग्रामसिंह क्षत्रिय का पुत्र था। उसकी माता का नाम सुव्रता था।

नागार्जुन बलशाली परिश्रमी बालक था। रसायन सिद्धि के प्रयोगों में और कलाओं के सीखने में उसकी विशेष रुचि थी। कलाकार पुरुषों से उसने विविध कलाओं का प्रशिक्षण पाया। रसायन-विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह वनों, पर्वतों एवं सरिताओं के तटों पर घूमने लगा। 'जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ' कवि की यह पंक्ति नागार्जुन के लिए पूर्णतः चरितार्थ हुई। पर्वत-शिखरों एवं घने जंगलों में उत्पन्न होने वाली जड़ी-बूटियों के रसों का वह विशिष्ट ज्ञाता हो गया। वह रससिद्धिदायक औषधियों का संग्रह करने लगा। गन्धक, अभ्रक, पारा आदि के सत्त्व को जानने में उसकी बुद्धि असाधारण रूप से प्रकट हुई। अभ्यास करते-करते नागार्जुन रससिद्धि विद्याओं का निष्णात विद्वान् बन गया। सहस्र, लक्ष एवं कोटि पुट रसायन तैयार करने की कला में वह निपुण हो गया। पुरुषार्थी व्यक्ति के लिए धीरे-धीरे सफलता के द्वार खुलते ही जाते हैं। सतत श्रमशील नागार्जुन को एक दिन सुवर्ण-रस-सिद्धि का रहस्य भी ज्ञात हो गया पर गगनगामिनी विद्या को प्राप्त करने में नागार्जुन सफल नहीं हो सका।

दूर देशान्तर की यात्रा संपन्न कर नागार्जुन टंकापुरी में आया। उस समय पादलिप्त सूरि वहीं विराजमान थे। नागार्जुन पादलिप्त सूरि के विराजने की बात सुनकर प्रमुदित हुआ। पादलिप्त सूरि के पास गगनगामिनी

विद्या थी। नागार्जुन इस विद्या को प्राप्त करना चाहता था अतः पादलिप्त सूरि के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के उद्देश्य से नागार्जुन ने रसायन से भरा पात्र अपने शिष्य के साथ उनके पास भेजा। शिष्य ने वह रस-कूपिका पादलिप्त सूरि को विनयपूर्वक भेंट की। रस कूपिका को हाथ में लेकर पादलिप्त सूरि बोले "नागार्जुन का मेरे साथ इतना स्नेह है जिसने मेरे लिए यह रसायन तैयार किया है।" इतना कहकर वे जोर से हँसे और दीवार से टक्कर मारकर रसकूपिका को चूर्ण-चूर्ण कर दिया एवं कांच पात्र को प्रश्रवण (मूत्र) से भरकर उसी शिष्य के हाथ में थमा दिया। शिष्य ने सोचा "मेरे गुरु नागार्जुन कितने मूर्ख हैं जो इस स्नेहहीन पादलिप्त सूरि से मैत्री करना चाहते हैं।" शिष्य ने प्रश्रवण (मूत्र) से भरा वह कांच-पात्र नागार्जुन के सामने ले जाकर रख दिया और कहा "आपके साथ उनकी यह अद्भुत मैत्री है।" विद्वान् नागार्जुन ने कटोरे का ढक्कन उठाकर सूंघा। उसमें दुर्गन्ध आ रही थी। पादलिप्त सूरि के इस व्यवहार से नागार्जुन कुपित हुआ और कांच-पात्र को शिलाखण्ड पर पटककर फोड़ दिया। नागार्जुन के एक शिष्य ने कुछ समय बाद भोजन पकाने के लिए वहां अग्नि प्रज्वलित की। अग्नि और प्रश्रवण का योग होते ही शिलाखण्ड स्वर्ण के रूप में परिवर्तित हो गया। यह बात शिष्य के द्वारा नागार्जुन के पास पहुंची। पादलिप्त सूरि के प्रश्रवण (मूत्र) के स्पर्श से शिलाखण्ड के स्वर्ण के रूप में बदल जाने की घटना सुनकर अपनी रसायन विद्या पर गर्व करने वाले रसायन वेत्ता विद्वान् नागार्जुन का गर्व मिट्टी में मिल गया।

नागार्जुन ने सोचा "कहां सूर्य और कहां दीपक, कहां आम और कहां इमली, कहां लाल सुरंग चित्रावली कहां कृष्ण मुण्डी (चिरमी), कहां विलक्षण क्षमताओं के स्वामी पादलिप्त सूरि और कहां मैं? भिक्षा के आधार पर जीवन निर्वाह करते हुए और औषधियों का संग्रह करते हुए मेरा शरीर म्लान और कृश हो गया है। अभी तक मैं निर्धनता की समस्या को भी समाहित नहीं कर सका। दरिद्रावस्था में मेरी सिद्धियों का क्या मूल्य है? धन्य हैं ये पादलिप्त सूरि जो गगनगामिनी विद्या से संपन्न हैं एवं शिलाखण्ड को भी सोना बना देने में समर्थ हैं।"

विद्वान् नागार्जुन पादलिप्त सूरी के पास गया और विनयपूर्वक बोला "मनीषिवर! आप सिद्धयोगी हैं। आपकी विद्याओं के सामने मेरी सुवर्ण रससिद्धि का अभिमान विगलित हो गया है। अब मैं आपके पास रहना चाहता हूं। मिष्टान्न मिलने पर सामान्य भोजन की कौन इच्छा करता है?"

गगनगामिनी विद्या प्राप्त करने का अभिलाषी विद्वान् नागार्जुन पादलिप्त सूरि की सन्निधि में रहने लगा।[८] वह प्रसन्न भाव से उनकी सुश्रुषा एवं चरण प्रक्षालन का कार्य करता था। पादलिप्त सूरि पैरों पर लेप लगाकर तीर्थ-भूमि स्थलों पर और गिरिशृंगों पर प्रतिदिन गगन मार्ग से आते-जाते थे। उनके आवागमन का यह कार्य एक मुहूर्त में संपन्न हो जाता था। विद्याचरण लब्धि के धारक साधकों जैसी क्षमता पादलिप्त सूरि में थी। आर्य नागार्जुन पाद-प्रक्षालित उदक के वर्ण-गंध, स्वाद आदि को देखकर, सूंघकर और चखकर १०७ द्रव्यों का ज्ञाता हो गया।[९] पादलिप्त सूरि की भांति विद्वान् नागार्जुन भी पैरों पर लेप लगाकर आकाश में उड़ने का प्रयास करता पर पूर्ण ज्ञान के अभाव में वह ताम्रचूड़ पक्षी की तरह थोड़ी ऊंचाई पर जाकर नीचे गिर पड़ता और घायल हो जाता। पैरों के घाव को देखकर पादलिप्त सूरि विद्वान् नागार्जुन की असफलता का कारण समझ गए और उनसे बोले "मनीषी! तुम्हारी इस अपूर्णता का प्रमुख कारण

---

८. स च विद्याध्ययनार्थं पादलिप्तकपुरे पादलिप्ताचार्य विद्यार्थी सेवते।
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. ९१, पंक्ति ११)

९. आगतानां नागार्जुनश्चरणक्षालनं कृत्वा स्वाद-वर्ण गंधादिभिः सप्तोत्तरं शतमौषधानामभीलयतु।
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. ९१, पंक्ति १३)

गुरुगम्य ज्ञान का अभाव है। गुरु के मार्गदर्शन के बिना कला फलवान नहीं होती। ज्ञान-प्राप्ति में अहं का साथ नहीं निभता!" नागार्जुन बोला "देव! आपका वचन प्रमाण है। गुरु के मार्ग-दर्शन के बिना सिद्धि नहीं मिलती।" यह मैं जानता हूं, पर मैं अपनी बुद्धि की परीक्षा कर रहा था।" पादलिप्त सूरि नागार्जुन की सरलता पर प्रसन्न हुए और बोले "नागार्जुन! मैं न तुम्हारी सुवर्ण-रस-सिद्धि से संतुष्ट हूं और न अन्य प्रकार की सेवा-सुश्रूषा से पर तुम्हारी प्रज्ञा पर मुझे संतोष है। मैं तुम्हें विद्या-दान करूंगा। तुम मुझे गुरु-दक्षिणा में क्या दोगे?" नागार्जुन ने झुककर कहा "आप जो कहें, मैं देने के लिए तैयार हूं।" पादलिप्त सूरि ने नागार्जुन को जैन मत स्वीकार करने का उपदेश दिया। नागार्जुन ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उदारवृत्तिक पादलिप्त सूरि ने उनको पादलेप विद्या का समग्रता से बोध देते हुए कहा

"आरनालविनिर्द्धौततन्दुलामलवारिणा।
पिष्ट्वौषधानि पादौ च लिप्त्वा व्योमाध्वगो भव" ॥२६७॥

(प्रभा. च., पृ. ३८)

"शिष्य! तुम्हें एक सौ सात औषधियों का ज्ञान है। इनके साथ कांजीजल मिश्रित साठी तन्दुल का लेप करो। तुम निर्बाध गति से गगन यात्रा कर सकोगे।"[१०] गुरु के मार्ग-दर्शन से नागार्जुन को अपने कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

विद्वान् नागार्जुन पादलिप्त सूरि का गृहस्थ शिष्य था। वह पादलिप्त सूरि का विशेष उपकार मानता था। उसने उनकी पावन स्मृति में शत्रुंजय पर्वत की तलहटी में पादलिप्तक नामक नगर (पालिताणा) बसाया। शत्रुंजय के ऊपरी भाग में महावीर की प्रतिमा स्थापित की। प्रभु की प्रतिमा के सामने पादलिप्त सूरि द्वारा दो पद्यों में वीर की स्तुति की गई। उन दो पद्यों में सुवर्ण-सिद्धि और गगनगामिनी-विद्या के गुप्त संकेत थे। वे आज भी गुप्त हैं।

प्रभावक चरित्र ग्रंथ में प्रस्तुत घटना का उल्लेख इस प्रकार है

कृतज्ञेन ततस्तेन विमलाद्रेरुपत्यकाम्
गत्वा समृद्धिभाक् चक्रे पादलिप्ताभिधं पुरम् ॥२६६॥
श्री पादलिप्तसूरिश्च श्रीवीरपुरतः स्थितः।
स्तवं चक्रे वरं 'गाहाजुअलेणे' ति संज्ञितम् ॥३०२॥
गाथाभिश्चेति सौवर्ण-व्योमसिद्धि सुगोपिते।
प्रभुर्जजल्प नाभाग्याः प्रबुध्यन्तेऽधुनातनाः ॥३०३॥

(प्रभावक चरित्र, पादलिप्त सूरि प्रबन्ध, पृ. ३८)

पादलिप्त सूरि ने शिष्य नागार्जुन के सामने द्वारका नगरी का जैसा वर्णन किया, उसी वर्णन के अनुरूप नागार्जुन ने गिरनार पर्वत के निम्न भाग में द्वारका नगरी जैसे महल बनवाए तथा उन महलों में दशार्हमण्डप, उग्रसेन के भवन, राजीमती की विवाह-वेदिका एवं वैराग्य प्राप्त नेमिनाथ का पाणिग्रहण किए बिना ही वापस लौटने के दृश्य बनाए गए थे।

इससे संबंधित पद्य इस प्रकार हैं

तथा रैवतकक्ष्माभृदधो दुर्गसमीपतः
श्रीनेमिचरितं श्रुत्वा तादृशाप्तप्रभोर्मुखात् ॥३०४॥
कौतुकात् तादृशं सर्वमाभासादि व्यधादसौ,
दशार्हमण्डपं श्रीमदुग्रसेननृपालयम् ॥३०५॥
विवाहादिव्यवस्थां च वेदिकायां व्यधात् तदा।
अद्यापि धार्मिकैस्तत्र गतैस्तत् प्रेक्ष्यतेऽखिलम् ॥३०६॥

(प्रभावक चरित्र, पादलिप्तसूरि प्रबन्ध, पृ. ३८)

विद्वान् नागार्जुन ने योगरत्नावली, योगरत्नमाला आदि ग्रंथों की रचना की पर प्रभावक चरित्र ग्रंथ में इनका उल्लेख नहीं है।

एक बार पृथ्वी प्रतिष्ठानपुर में नरेश शातवाहन की सभा में चार कवि आए। चारों कवियों ने मिलकर राजा को एक श्लोक सुनाया

"जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणिनां दया।
बृहस्पतिरविश्वासः पाञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्" ॥३२०॥

(प्रभा. च., पृ. ३६)

---

१०. गुरुभिरुक्तम् गुरून् विना कलाः कथं फलदाः स्युः।
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. ६१, पंक्ति १५)

११. आरनालमिश्रतन्दुलैर्नैकौषधानि पिष्ट्वा पादलेपे खगमनसिद्धिः।
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. ६४, पंक्ति ३, ४)

आत्रेय ऋषि ने भूख लगने पर भोजन ग्रहण करने की बात कही। कवि कपिल ने प्राणियों पर दया भाव रखने का उपदेश दिया। कवि वृहस्पति ने किसी पर विश्वास न करने का परामर्श दिया एवं कवि पाञ्चाल ने महिलाओं के साथ मृदु व्यवहार करने की शिक्षा दी।

प्रस्तुत पद्य को सुनकर शातवाहन की सभा के सभी सदस्यों ने चारों कवियों की प्रशंसा की परन्तु भोगवती गणिका मौन रही। उन कवियों की उसने प्रशंसा नहीं की। राजा ने गणिका से कहा "तुम भी अपने विचार प्रकट करो।"

भोगवती बोली "गगनविद्या सिद्ध विद्वान् पादलिप्त सूरि के सिवाय मैं किसी अन्य विद्वान् की स्तुति नहीं करती। आज उनके तुल्य संसार में अन्य विद्वान् नहीं है।"

धरती पर सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। वहां पादलिप्त सूरि के गुणों से ईर्ष्या करने वाला शंकर नामक व्यक्ति था। उसने कहा "पादलिप्त सूरि मृत को पुनर्जीवित कर सकते हैं?" प्रत्युत्तर में गणिका ने दृढ़स्वर से कहा "यह संभव है।" भोगवती गणिका द्वारा पादलिप्त सूरि की प्रशंसा सुनकर नरेश शातवाहन की उनसे मिलने की उत्सुकता बढ़ गई।

पादलिप्त सूरि के संबंध में जानकारी प्राप्त कर शातवाहन नरेश ने मानखेट के भूपति कृष्ण के पास पादलिप्त सूरि को अपने यहां भेजने का निमंत्रण भेजा। नरेश शातवाहन की प्रार्थना पर विचार कर पादलिप्त सूरि ने पृथ्वी प्रतिष्ठानपुर की ओर प्रस्थान किया। पथ की दूरी को शीघ्रता से पार कर वे प्रतिष्ठानपुर के बाहर उद्यान में आकर रुके। पादलिप्त सूरि के आगमन की चर्चा वहाँ के दानवीर शासक शातवाहन की विद्वद्मंडली में चली। पण्डितों ने शरत्कालीन सघन (जमा हुआ) घृत से भरा कटोरा उनके पास भेजा। पादलिप्त सूरि तीक्ष्ण प्रतिभा के धनी थे। वे विद्वानों की भावना को भांप गए। सघन (जमे हुए) घृत में सूई सीधी खड़ी कर कटोरे को लौटा दिया।

विद्वानों का अभिप्राय था

"एबमेतन्नगरं विदुषां पूर्णमास्ते,
यथा घृतस्य (वर्तुलकम्) तस्माद्विमृश्य प्रवेष्टव्यम्।"

(प्रबन्धकोश, पृ. १४, पंक्ति १४)

शातवाहन की नगरी घृत से भरे कटोरे की भांति विद्वानों से भरी हुई है। इसका भली-भांति चिंतन कर नगरी में प्रवेश करें।

आचार्य पादलिप्त सूरि का उत्तर था "घृत से भरे कटोरे में जैसे सूई समा गई है, वैसे ही विद्वानों से भरी हुई नगरी में मैं प्रवेश कर सकूंगा।" पादलिप्त सूरि की विद्वत्ता का शातवाहन की विद्वद्मण्डली पर अत्यधिक प्रभाव हुआ।

प्रभावक चरित्र ग्रंथ के अनुसार पादलिप्त सूरि की बुद्धि की परीक्षा हेतु विद्वान् वृहस्पति ने उष्ण घृत से भरा कटोरा उनके सम्मुख भेजा। धारिणी विद्या के द्वारा पादलिप्त सूरि ने घृत में सूई को ऊर्ध्व स्थिति में स्थापित कर कटोरे को वापिस लौटा दिया। पादलिप्त सूरि की विस्मयकारी विद्या को जानकर विद्वान् वृहस्पति हतप्रभ हो गया।

नगर प्रवेश के समय विद्वद्वर्ग सहित शातवाहन नरेश ने पादलिप्त सूरि का स्वागत किया एवं प्रवेश महोत्सव मनाया।

एक बार पादलिप्त सूरि ने 'तरंङ्गलोला' (तरंगवती) नामक चम्पू काव्य की एक दिन में रचना कर राजा शातवाहन की विद्वद्सभा में उसका वाचन किया। काव्य पाठ सुनकर राजा तुष्ट हुआ। कवीन्द्र के नाम से पादलिप्त सूरि की ख्याति हुई। कवियों ने मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा की परन्तु राजसम्मानिता गुणज्ञा गणिका ने उनकी स्तवना में एक शब्द भी नहीं कहा। राजा शातवाहन पादलिप्त सूरि से बोले "तत्क्रियतां येन स्तुतेः।" आप ऐसा उपक्रम करें जिससे यह गणिका भी आपके इस काव्य की स्तुति में हमारे साथ हो। प्रभावक चरित्र के अनुसार गणिका के स्थान पर पांचाल कवि का उल्लेख है। पादलिप्त सूरि के काव्य श्रवण से सब

संतुष्ट थे पर असूयाक्रांत पांचाल कवि प्रसन्न नहीं था। वह इस उत्तम काव्य में कई दोषों को आरोपित करता हुआ बोला

मद्ग्रंथेभ्यो मुषित्वार्थबिन्दुं कंथेयमग्रथि।
बालगोपाङ्गनारङ्गसङ्गि ह्येतद्वचः सदा ॥३३४॥

(प्रभा. च., पृ. ३६)

मेरे ग्रंथों से अर्थ की चोरी कर कथा नहीं कन्था (गुदड़ी) रची है। प्राकृत के ये साधारण वचन बालगोपाल को प्रभावित करने में समर्थ हैं। इससे विद्वानों का चित्त आकृष्ट नहीं हो सकता।

पादलिप्त सूरि का चामत्कारिक विद्याओं पर भी प्रभुत्व था। वे उपाश्रय में गए एवं पवनजय मंत्र विद्या से श्वास की गति का अवरोध कर पूर्ण निश्चेष्ट हो गए। उनकी कपट मृत्यु यथार्थ मृत्यु की प्रतीति करा रही थी। सर्वत्र हाहाकार मच गया। वाद्यों की ध्वनि के साथ शवयान नगर के प्रमुख मार्गों से ले जाया जा रहा था। शव-यात्रा पांचाल कवि के द्वार तक पहुंची। पादलिप्त सूरि को शवयान में देखते ही कवि पांचाल रो पड़ा और बोला

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः ।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥३४०॥

(प्रभा. च., पृ. ३६)

रत्नाकर की भांति समग्र शास्त्रों के आकर महासिद्धि प्राप्त पादलिप्ति सूरि थे। ईर्ष्यावश मैं उनके गुणों से परितुष्ट नहीं हुआ। मेरे जैसे असूयी व्यक्ति को कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। पादलिप्त सूरि उच्च कोटि के कवि थे।

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरंतस्स।
जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला नई वूढा ॥३४१॥

(प्रभा. चरित, पृ. ३६)

जिनके मुख निर्झर से 'तरंगलोला' नदी प्रवाहित हुई उन पादलिप्त के प्राणों का हरण करने वाले यमराज का सिर फूटकर दो टूक क्यों नहीं हो गया।

कवि पांचाल के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर पादलिप्त सूरि उठ बैठे और बोले "मैं कविजी के सत्य वचन से जीवित हो गया हूं।" पादलिप्त सूरि में प्राणशक्ति का संचार देखकर सभी के मुख कमल खिल उठे।

प्रबन्धकोष के अनुसार इस विस्मयकारी घटना को देखकर गणिका बोली "मुने! आप मरकर भी हमारे मुख से स्तुति पाठ करवाते हैं।"

पादलिप्त सूरि ने कहा "पंचम वेद का संगान मृत्यु के बाद होता है।" पादलिप्त सूरि के इस उत्तर से शोकपूरित वातावरण खिलखिला उठा।

मुनिचन्द्र सूरि के शब्दों में पादलिप्त सूरि ज्ञान के सागर थे। अमम चरित्र ग्रंथ में वे लिखते हैं

पालित्तसूरिः स श्रीमानपूर्वः श्रुतसागरः।
यस्मात्तरंगवत्याख्यं कथास्रोतो विनिर्ययौ॥

पादलिप्त सूरि के श्रुत से तरङ्गवती काव्य का स्रोत प्रवाहित हुआ।

पादलिप्त सूरि ने 'पादलिप्ता' भाषा की रचना की थी पर उसके संकेतों को समझने वाले विद्वानों के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति उसको नहीं समझ सकता था। पादलिप्ता भाषा में पादलिप्त सूरि रचित किसी ग्रंथ की सूचना भी उत्तरवर्ती ग्रंथों में नहीं है।

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार पादलिप्त सूरि ने खपुटाचार्य के पास विद्याभ्यास किया था पर यह बात कालक्रम से ठीक नहीं है। पादलिप्त सूरि और खपुटाचार्य के मध्य लगभग दो शतक से अधिक का अन्तराल है।

नरेश शातवाहन ने अपने मंत्री के सहयोग से भरौंच नरेश बलमित्र और भानुमित्र को पराजित किया। शातवाहन के मंत्री को प्रभावक चरित्र ग्रंथ में पादलिप्त सूरि का शिष्य बताया गया है पर यह इतिहास सम्मत प्रतीत नहीं होता। भरौंच नरेश बलमित्र और भानुमित्र दोनों कालकाचार्य के भागिनेय थे अतः उनका राज्य कालकाचार्य के समय में सिद्ध होता है। खपुटाचार्य के समय में बलमित्र और भानुमित्र के राज्य का संध्याकाल था एवं नभसेन का शासन प्रारम्भ होने जा रहा था।

ऐसी स्थिति में कालक और खपुटाचार्य के समय में होने वाले बलमित्र-भानुमित्र को पादलिप्त सूरि के समय में मानना विशेष समालोच्य बन जाता है।

साहित्य

पादलिप्त सूरि अपने युग के विश्रुत विद्वान् थे। वह युग प्राकृत भाषा का उत्कर्ष काल था। पादलिप्त सूरि ने 'तरंगवई' (तरङ्गवती) कथा की रचना प्राकृत भाषा में की। इसमें दस हजार पद्य थे। निर्वाणकलिका और प्रश्नप्रकाश नामक कृतियों के रचनाकार भी पादलिप्त सूरि थे। इन तीनों कृतियों का संक्षिप्त वर्णन निम्न प्रकार से है।

तरंगवई (तरङ्गवती) तरङ्गवती कथा पादलिप्त सूरि की सरस प्राकृत रचना है। जैन प्राकृत कथा साहित्य का यह आदि ग्रंथ है। अनेक जैन विद्वानों ने इस कथा का अपने ग्रंथों में उल्लेख किया है। आचार्य शीलाङ्क 'चउपन्न महापुरिसचरिय' नामक ग्रंथ में लिखते हैं

"सा णत्थि कला तं णत्थि लक्खणं जं न दीसइ फुडत्थं।
पालित्तपाइयविरइय तरंगवइयासु य कहासु ॥१२३॥"

(पृ. ३८)

कलाशास्त्र और लक्षणशास्त्र का सर्वाङ्ग विवेचन इस कथा में है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में वासवदत्ता कथा के साथ इसका उल्लेख किया है। आगम साहित्य और चूर्णि ने इस कथा को लोकोत्तर धर्मकथा कहा है।

तरङ्गलोला ग्रंथ के रचनाकार नेमिचंद्रगणी के मतानुसार तरङ्गवती कथा जन भोग्य नहीं किंतु विद्वद्-भोग्य थी। गहन युगलों और दुर्गम षटकलों के कारण यह अतिशय गंभीर कृति थी। सामान्य मनुष्यों के लिए इस कथा को समझ पाना कठिन था।

तरङ्गवती कृति के आधार पर नेमिचंद्रगणी ने १६४२ गाथाओं में तरङ्गलोला कृति की रचना की।

निर्वाणकलिका और प्रश्नप्रकाश

निर्वाणकलिका को दीक्षा और प्रतिष्ठा विधिविषयक तथा प्रश्नप्रकाश को ज्योतिष विषयक ग्रंथ माना गया है। प्रभावक चरित्र आदि ग्रंथों में पादलिप्त सूरि के उक्त तीन ग्रंथों का ही उल्लेख है। चूर्णि साहित्य में पादलिप्त सूरि के कालज्ञान नामक ग्रंथ का भी उल्लेख मिलता है।

विद्या का प्रभाव

पादलिप्त सूरि के जीवन से स्पष्ट है मंत्र विद्याओं का पादलिप्त सूरि के पास अतिशय बल था। जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। पादलिप्त सूरि द्वारा मंत्रित प्रस्रवण के स्पर्श से प्रस्तर खण्ड स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता था। पारस पुरुष विशेषण पादलिप्त सूरि की इस क्षमता की अभिव्यक्ति के साथ उनकी अन्य क्षमताओं का द्योतक है।

मंत्र-विद्या का प्रयोग कर पादलिप्त सूरि ने पाटण के राजा मुरुण्ड को, मानखेट के राजा कृष्ण को, ओंकारपुर के राजा भीम को, प्रतिष्ठानपुर के राजा शातवाहन को प्रभावित कर धर्म प्रचार में उन्हें सहयोगी बनाया। आश्चर्यजनक कवित्व शक्ति के द्वारा उन्होंने विद्वद्जनों में आदर पाया। पादलिप्तसूरि के संबंध में उद्द्योतन सूरि लिखते हैं

णिम्मलमणेण गुणगरुयएण परमत्थरयणसारेण।
पालित्तएण हालो हारेण व सोहई गोट्ठीसु ॥

(कुवलयमाला)

शातवाहन वंशी राजा हाल की विद्वद्गोष्ठियों में आचार्य पादलिप्त सूरि कण्ठहार के समान सुशोभित हुए।

शातवाहन वंशी राजा हाल के द्वारा संकलित 'गाथा सप्तति' नामक कृति में वृहद्कथा के रचनाकार गुणाढ्य और पादलिप्त सूरि की रचनाओं का भी उपयोग किया गया था।

स्वर्गवास

पादलिप्त सूरि योग-विद्या सिद्ध प्रभावी आचार्य थे। शत्रुंजय पर्वत पर ३२ दिन के अनशन में उनका

स्वर्गवास हुआ।[१२] पादलिप्त सूरि के योग विद्या से एवं मंत्र विद्या के प्रयोगों से जैनशासन की विशेष प्रभावना हुई।

समय-संकेत

पादलिप्त सूरि के दीक्षा-गुरु नागहस्ती थे। नागहस्ती का समय वी. नि. ६२० से ६८६ (वि. सं. १५० से २१६, ई. सन् ९३ से १६२) माना है। नागहस्ती सूरि ने पादलिप्त सूरि की १० वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर नियुक्ति की अतः पादलिप्त सूरि का समय वी. नि. की ७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध (वि. की तृतीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध) सिद्ध होता है।

प्रो. लॉयमन ने पादलिप्त सूरि का समय ईस्वी सन् दूसरी, तीसरी शताब्दी माना है। इस आधार पर भी पादलिप्त सूरि वी. नि. की ७वीं, ८वीं (वी. की द्वितीय व तृतीय) शताब्दी के विद्वान् हैं।

---

१२. अथ प्रभुः शत्रुञ्जये रत्नसंख्योपवासानशनेन ईशानेन्द्र-सामानिकत्वेनोदपद्यतेति।
(प्रबंधकोश, पृ. १४, पंक्ति २६)

२९-३०. भव्य जन-उद्‌बोधक आचार्य भद्रगुप्त और श्रीगुप्त

आचार्य भद्रगुप्त

आचार्य भद्रगुप्त आगम वाणी के विशिष्ट ज्ञाता थे। ज्योतिष विद्या के प्रकांड विद्वान् थे एवं दशपूर्वों की विशाल राशि के वे स्वामी थे। इतिहास प्रसिद्ध वज्रस्वामी ने दशपूर्वों का ज्ञान आचार्य भद्रगुप्त से ग्रहण किया था।

आचार्य भद्रगुप्त वी. नि. ४४९ (वि. पू. २१) में मुनि बने। आचार्य धर्म के बाद वी. नि. ४९४ अथवा ४९५ (वि. २४ या २५) में युगप्रधान बने थे।

आचार्य भद्रगुप्त की अनशन की स्थिति में आर्य रक्षित ने उनकी उपासना की थी। आर्य रक्षित के अनुकूल सेवा सहयोग से आचार्य भद्रगुप्त को परम समाधि का अनुभव हुआ था।

आर्य रक्षित वी. नि. ५२२ में जन्मे। आचार्य तोषलिपुत्र से उन्होंने वी. नि. ५४४ में मुनि दीक्षा स्वीकार की। आचार्य भद्रगुप्त का वी. नि. ५३३ में स्वर्गवास हुआ। आचार्य भद्रगुप्त के स्वर्गवास के समय में आर्य रक्षित ११ वर्ष के थे। उनकी मुनि दीक्षा हुई ही नहीं थी अतः आचार्य भद्रगुप्त की अनशन की स्थिति में आर्य रक्षित द्वारा अंतिम आराधना कराने का प्रसंग अवश्य ही विशेष चर्चनीय है।

आचार्य श्रीगुप्त

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव युगप्रधान के अनुसार आचार्य भद्रगुप्त के बाद श्रीगुप्त युगप्रधान आचार्य बने। दशपूर्वधर आचार्यों में आचार्य श्रीगुप्त के नाम का उल्लेख है।

आचार्य श्रीगुप्त का जन्म संवत् वी. नि. ४४८ (वि. पू. २२) तथा मुनि दीक्षा संवत् ४८३ (वि. १३) बताया गया है। वे युगप्रधान पद पर वी. नि. ५३३ (वि. सं. ६३) में आसीन हुए।

आचार्य श्रीगुप्त के जीवन प्रसंग लगभग अज्ञात हैं।

कल्पसूत्र स्थविरावली में कौशिक गोत्रीय षडुलूक रोहगुप्त को आचार्य महागिरि का शिष्य एवं त्रैराशिक मत का संस्थापक बताया गया। निह्नव परम्परा में षडुलूक रोहगुप्त छठा निह्नव हुआ। उसके द्वारा त्रैराशिक मत की स्थापना वी. नि. ५४४ के बाद हुई। आचार्य महागिरि का स्वर्गवास वी. नि. २४५ (वि. पू. २२५) में ही हो गया था अतः कई विद्वानों का अनुमान है त्रैराशिक मत-संस्थापक रोहगुप्त को आचार्य महागिरि का साक्षात् शिष्य नहीं माना जा सकता। वह आचार्य महागिरि का शिष्यानुशिष्य एवं युगप्रधान आचार्य श्रीगुप्त का साक्षात् शिष्य होना चाहिए।

समय-संकेत

आचार्य भद्रगुप्त की कुल आयु १०५ वर्ष की थी। उनका जन्म वी. नि. ४२८ (वि. पू. ४२) और स्वर्गवास वी. नि. ५३३ अथवा ३५ (वि. ६३ अथवा ६५, ई. ६ या ८) में हुआ।

आचार्य भद्रगुप्त ३८ अथवा ३९ वर्ष तक युगप्रधान पद पर रहे। वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में आचार्य भद्रगुप्त का आचार्य-काल ४१ वर्ष का माना गया है।

आचार्य श्रीगुप्त की आयु १०० वर्ष की थी। उन्होंने १५ वर्ष तक युगप्रधान पद के दायित्व का सम्यक् संचालन किया। उनका जन्म वी. नि. ४४८ (वि. पू. २२) एवं स्वर्गवास वी. नि. ५४८ (वि. ७८, ई. २१) में हुआ। आचार्य धर्म, आचार्य भद्रगुप्त, आचार्य श्रीगुप्त ये तीनों आचार्य दशपूर्व ज्ञान संपदा के स्वामी थे।

भद्रगुप्त का आचार्य-काल	आर्य श्रीगुप्त का आचार्य-काल
(वी. नि. ४९५-५३३)	(वी. नि. ५३३-५४८)
(वि. २५-६३)	(वि. ६३-७८)
(ई. पू. ३२ से ई. ६)	(ई. ६-२१)

३१. विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी

आचार्य वज्रस्वामी का जीवन विलक्षण विशेषताओं से मण्डित था। जन्म के दिन महिलाओं द्वारा पिता धनगिरि के मुनि बन जाने की परस्पर की चर्चा सुनकर उनको जातिस्मरण ज्ञान उपलब्ध हुआ। शैशवकाल में उनका मानस विरक्ति के झूले में झूलता रहा। दुग्धपान के साथ एकादशांगी का अमृतपान कर वे अध्यात्म पोष को प्राप्त हुए। गृहस्थ जीवन में दीक्षा गुरु द्वारा उनका नामकरण हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में मातृ-वात्सल्य को ठुकराकर साधु-संगति से प्यार किया। आठ वर्ष की अवस्था में संयम पथ के पथिक बने। मुनि जीवन में अनेक आत्मिक शक्तियों को उजागर कर उन्होंने विविध रूपों में जैन शासन की प्रभावना की।

आचार्यों की परम्परा में वज्रस्वामी अंतिम दशपूर्वधर एवं गगनगामिनी विद्या के उद्धारक थे।[1]

गुरु-परम्परा

वज्रस्वामी के गुरु सिंहगिरि थे। सिंहगिरि आचार्य सुहस्ती की परम्परा से संबंधित कोटिकगण के आचार्य थे। आचार्य सुहस्ती की गणाचार्य की परंपरा में आचार्य इन्द्रदिन्न के पश्चात् आचार्य दिन्न हुए। आचार्य दिन्न के दो मुख्य शिष्य थे आचार्य शान्तिसेन और आचार्य सिंहगिरि। आचार्य शांतिसेन के मुख्य चार शिष्य थे श्रेणिक, तापस, कुबेर, ऋषिपालित। इन चारों शिष्यों से क्रमशः सेणियां, तापसी, कुबेरी, इसीपालिया शाखा का उद्भव हुआ। आचार्य सिंहगिरि आचार्य दिन्न के पश्चात् गणाचार्य के रूप में नियुक्त हुए। गणाचार्य सिंहगिरि के शिष्य वज्रस्वामी थे। आचार्य सुहस्ती की गणाचार्य की परम्परा कल्पसूत्र-स्थविरावली में है।

आचार्य सिंहगिरि के प्रमुख चार शिष्य थे[2] अचार्य धनगिरि, आचार्य वज्र, आचार्य समित, आचार्य अर्हदिन्न। आचार्य धनगिरि के पुत्र वज्रस्वामी थे और आचार्य समित के धनगिरि बहनोई थे। इन चारों में वज्रस्वामी की ख्याति युगप्रधानाचार्य के रूप में हुई। दीक्षा-पर्याय में कनिष्ठ होते हुए भी युगप्रधान होने के कारण कल्प स्थविरावली में आचार्य वज्र का नाम आचार्य समित से पहले आया है।

वज्रस्वामी के पाँच सौ श्रमणों का परिवार था, उनमें तीन प्रमुख थे[3] वज्रसेन, पद्म, आर्यरथ। वज्रसेन इनमें ज्येष्ठ थे। वज्रस्वामी से वाज्री शाखा का जन्म हुआ था।

वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन युगप्रधान आचार्य वज्रसेन से भिन्न थे।

जन्म एवं परिवार

वज्रस्वामी का जन्म वी. नि. ४९६ (वि. सं. २६, ई. पू. ३१) में वैश्य परिवार में हुआ। अवन्ति प्रदेशान्तर्गत तुम्बवन नामक नगर उनका जन्म-स्थल था। वज्रस्वामी के पितामह का नाम धन, पिता का नाम धनगिरि और माता का नाम सुनन्दा था। नाना का नाम धनपाल तथा मामा का नाम समित था। समित और धनगिरि दोनों मित्र थे। समित की दीक्षा आचार्य सिंहगिरि के पास धनगिरि का सुनन्दा से विवाह होने से पहले हो गई थी।

जीवन-वृत्त

आचार्य वज्र का जन्मस्थल तुम्बवन ग्राम तत्कालीन व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। इसकी गणना समृद्ध नगरों

---

१. जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाओ।
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुयधराणं ॥७६६॥
(आवश्यक-निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्रांक ३६०)

२. थेरस्स णं अज्जसीहगिरिस्स जाईसरस्स कोसियगुत्तस्स इमे चत्तारि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था, तं जहा थेरे धणगिरी, थेरे अज्जवइरे, थेरे अज्जसमिए, थेरे अरिहदिन्ने।
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

३. थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगुत्तस्स इमे तिन्नि थेरा अंतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया हुत्था तं जहा थेरे
(कल्पसूत्र-स्थविरावली)

में थी। इसकी शोभा स्वर्ग के समान थी। वज्रस्वामी के पितामह श्रेष्ठी धन तुम्बवन के ख्याति प्राप्त दानवीर थे। उनके द्वार पर आया हुआ याचक खाली नहीं लौटता था।

पूर्व पुण्योदय से श्रेष्ठी धन के पुत्र धनगिरि को धन संपदा के साथ अनुपम रूप संपदा भी प्राप्त थी, पर विवेकी बालक धनगिरि को न धन संपदा का गर्व था और न रूप संपदा का, न भोगों में रस था, न घर में आकर्षण।

रूपश्री और धनश्री दोनों में से एक भी धनगिरि की दृष्टि को भ्रांत नहीं कर सकी। विवाह संबंध हो जाने पर भी श्रेष्ठीपुत्र का चिंतन संयमी जीवन की ओर आकृष्ट था। एक दिन युवा धनगिरि ने वैराग्य-वृत्ति से भोगों को ठुकराकर मुनि जीवन में प्रवेश किया। उस समय पुत्र वज्र गर्भावस्था में था। एक दिन पुत्र वज्र भी पिता के मार्ग का अनुसरण करने में सफल हुआ। न पत्नी के यौवन की मादकता पति धनगिरि को रोक सकी और न मां की ममता पुत्र वज्र को बांध सकी। धनगिरि और वज्र दोनों संयम पथ के पथिक बने। दोनों का दीक्षा प्रसंग अत्यन्त रोचक और मार्मिक है। वह इस प्रकार है

श्रेष्ठि-पुत्र धनगिरि का बाल्यकाल आनन्द से बीता। माता की अपार ममता और पिता का वात्सल्य उन्हें प्राप्त था। घर में सब प्रकार से संपन्नता थी पर धनगिरि का मन कर्दम में कमल की भांति सांसारिक विषयों से निर्लिप्त था। उसी नगर में विपुल लक्ष्मी का स्वामी धनपाल रहता था। वह प्रसिद्ध व्यापारी था। धनपाल के पुत्र का नाम समित था एवं पुत्री का नाम सुनंदा था। धनगिरि की भांति कुमार समित भी भोगों के प्रति अनासक्त था। श्रुत मलयाचल आचार्य सिंहगिरि के आगमन पर परम वैराग्य को प्राप्त समित ने उनसे मुनि दीक्षा ग्रहण की। गुणवती सुनन्दा धनपाल की रूपवती कन्या थी। धनपाल को पुत्री के विवाह की चिंता का भार अधिक समय तक नहीं वहन करना पड़ा। सुनन्दा धनगिरि के रूप और गुणों पर मुग्ध थी। उसने एक दिन अपने विचार पिता के सम्मुख प्रस्तुत किए "आप मुझे श्रेष्ठि-पुत्र धनगिरि को प्रदान करें।"[४] इस प्रकरण से अनुभव होता है उस युग में लड़कियां वर-चुनाव में स्वतंत्र थीं। धनपाल ने पुत्री के विचारों को ठीक समझा। धनगिरि से इस संबंध में बातचीत की। उसने अपनी रूपवती कन्या सुनन्दा से पाणिग्रहण करने के लिए उनसे आग्रह किया। प्रभावक चरित्र के अनुसार सुनन्दा ने अपनी ओर से किसी भी प्रकार का विचार पिता के समक्ष प्रकट नहीं किया। धनपाल ने ही यह संबंध ठीक समझकर धनगिरि से अपनी कन्या के साथ पाणिग्रहण का आग्रह किया था।

धनगिरि का मन विरक्त था। दामाद बनाने को उत्सुक श्रेष्ठी धनपाल से धनगिरि ने कहा अपने मित्रजनों को भव बंधन में डालना स्वजनों के लिए कहां तक समीचीन है?

धनगिरि की बात सुनकर श्रेष्ठी धनपाल गंभीर हुआ और आध्यात्मिक भावभूमि पर भावों को अभिव्यक्त करता हुआ बोला "कर्मों के विपाक भोगने के लिए भवार्णवपारगामी तीर्थङ्कर ऋषभ प्रभु ने भी सांसारिक बंधन स्वीकार किया था, अतः मेरी बात किसी प्रकार से अनुचित नहीं है।"

नारी को बंधन मानते हुए भी धनगिरि श्रेष्ठी धनपाल के आग्रह को नहीं टाल सके। उन्होंने अन्यमनस्क भाव से मौन स्वीकृति प्रदान की।

शुभ मुहूर्त एवं शुभ घड़ी में सुनन्दा एवं धनगिरि का विवाह उल्लासमय वातावरण में संपन्न हुआ। सांसारिक भोगों को भोगते हुए उनका जीवन सानन्द बीतता गया। एक दिन सुनन्दा गर्भवती हुई। स्वप्न के आधार पर पुत्ररत्न का आगमन जानकर पति और पत्नी दोनों

४. धणपालसेट्ठिधूया, भणइ सुनंदत्ति तंमि चेव पुरे।
देह मम धणगिरिणो, जेणाहं तं वसे नेमि ॥१४॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २०७)

प्रसन्न हुए।

धनगिरि ने अपने को धन्य माना। उन्हें लगा अपनी मनोकामना पूर्ण करने का अब उचित अवसर आ गया है। एक दिन अपनी भावना को पत्नी के सामने रखते हुए उन्होंने कहा, "सुनंदे! नारी को बाल्यकाल में पिता के द्वारा, यौवन में पति के द्वारा संरक्षण प्राप्त होता है।[४] तुम्हारे स्वप्न के आधार पर तुम निःसन्देह पुत्रवती बनने के सौभाग्य को प्राप्त करोगी। तुम्हारे मार्ग में अब किसी प्रकार की चिंता नहीं है। मैं अपने ऋण को उतार चुका हूं। अब तुम मुझे प्रसन्नतापूर्वक संयम-मार्ग पर बढ़ने के लिए आज्ञा प्रदान करो।" नारी भावुक होती है। सौम्य हृदया सुनन्दा पति के पुनः-पुनः प्रस्ताव पर विवश मन से सहमत हुई एवं उसने संयम-पथ ग्रहण करने के लिए पति धनगिरि को आज्ञा प्रदान कर दी।

उत्तम पुरुष श्रेय कार्य में क्षणमात्र भी प्रमाद नहीं करते। पत्नी के द्वारा स्वीकृति मिलते ही श्रेष्ठि-पुत्र धनगिरि जीर्ण धागे की तरह प्रेम बन्धन को तोड़कर त्याग के कठिन पथ पर चल पड़े। उनके दीक्षा-प्रदाता आचार्य सिंहगिरि थे।

आर्य समित एवं धनगिरि परस्पर साला-बहनोई थे। दोनों का संबंध सुनन्दा के निमित्त से था। जैन शासन में दोनों प्रभावी मुनि थे। पैरों पर लेप लगाकर नदी तैरने वाले ५०० तापसों के विस्मयाभिकारक मायावी आवरण को हटाकर भ्रान्त जनता के सामने सत्य धर्म का यथार्थ रूप प्रकट करने वाले मुनि समित एवं प्रचार में अनन्य सहयोगी मुनि धनगिरि दोनों आचार्य सिंहगिरि की दो सुदृढ़ भुजा स्वरूप थे। इन मुनियों के सहयोग से आचार्य सिंहगिरि का धर्म-प्रचार दिन-प्रतिदिन उत्कर्ष पर था।

इधर गर्भकाल का समय संपन्न होने पर सुनन्दा ने तेजस्वी पुत्ररत्न को वी. नि. ४९६ (वि. २६, ई. पू. ३१) में जन्म दिया। पुत्र जन्मोत्सव की तैयारियां प्रारम्भ हुईं। कई सखियां सुनन्दा को घेरकर खड़ी थीं। जन्मोत्सव की आनन्दमयी घड़ी में धनगिरि का स्मरण करती हुई बोली "बालक के पिता धनगिरि प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करते और इस समय उपस्थित होते तो आज जन्मोत्सव के हर्षोल्लास का रूप कुछ दूसरा ही होता। स्वामी के बिना घर की शोभा नहीं होती। चंद्र के बिना नभ की शोभा नहीं होती।"

नारी समूह के आलाप-संलाप को नवजात शिशु ने सुना। उसका ध्यान इस वार्तालाप पर विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। भीतर ही भीतर ऊहापोह चला। तदावरण क्षीण होता गया। प्रबल क्षयोपशम भाव का जागरण होते ही बालक को जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई।[५] चिंतन की धारा आगे बढ़ी। "पुण्य भाग पिता ने संयम ग्रहण कर लिया है। मेरे लिए भी अब यही मार्ग श्रेष्ठ है। इस उत्तम पथ की स्वीकृति में मां की ममता बाधक बन सकती है।" ममत्व के गाढ़ बंधन को शिथिल करने हेतु बालक ने रुदन प्रारम्भ किया। वह निरन्तर रोता रहता। सुनन्दा सुखपूर्वक न सो सकती थी, न बैठ सकती थी, न भोजन कर सकती थी। वह घर का कोई भी कार्य व्यवस्थित रूप से नहीं कर सकती थी। उसने बालक को प्रसन्न करने के नाना प्रयत्न किए। किसी प्रकार की राग-रागिनी उसके क्रंदन को बन्द ने कर सकी और न ही अन्य प्रकार के साधन ही उसे लुभा सके। सुनन्दा उसे बहुत स्नेह देती, प्यार करती, मधुर लोरियां गाकर सुलाने का प्रयत्न करती पर बालक का रुदन कम नहीं हुआ। छह महीने पूर्ण हो गए, किसी भी जन्त्र-मन्त्र, औषधि-चिकित्सा का उस पर प्रभाव नहीं हुआ। सुनन्दा बाल-रुदन से खिन्न हो गई। उसे छः माह छः सौ साल जैसे लगने लगे।

"एवं जम्मुश्च षण्मासाः षड्वर्षशतसन्निभाः" ॥५५॥

(प्रभा. च., पृ. ३)

एक दिन आचार्य सिंहगिरि का तुम्बवन नगर में

---

४. जेण कुमारीण पिया जोव्वण भर भारियाण भत्तारे।
थेरत्ते पुत्तो पुण, नारीण रक्खओ होई ॥२२॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २०७)

५. ता ऊसवो स सन्नी, निम्मलमइनाणसंगओ सुणइ।
महिलाण तमुल्लावं जाइसरणो तओ होई ॥३१॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २०८)

पदार्पण हुआ। आचार्य समित एवं मुनि धनगिरि उनके साथ थे। प्रवचनोपरांत गोचरी के लिए धनगिरि ने गुरु से आदेश मांगा। उसी समय पक्षी का कलरव सुनाई दिया। निमित्त ज्ञान के विशेषज्ञ आचार्य सिंहगिरि ने कहा "मुने! यह पक्षी का शब्द शुभ कार्य का संकेत है। आज तुम्हें भिक्षा में सचित्त-अचित्त जो कुछ प्राप्त हो उसे ले आना।" प्रसन्नमना धनगिरि ने गुरु के निर्देश को 'तथेति' कह स्वीकृत किया और अपने लक्ष्य की ओर चले। दोनों ने सर्वप्रथम सुनन्दा के गृह की पूर्व परिचित राह पकड़ी। मुनि समित एवं धनगिरि को आते देखकर सखियों ने सुनन्दा को उनके आगमन की सूचना दी "सुनन्दे! चिंता-मुक्त होने के लिए सुन्दर अवसर है। बालक के पिता मुनि धनगिरि तुम्हारे प्रांगण को पवित्र करने वाले हैं। उन्हें अपने पुत्र का दान कर सुखी बन जाओ।"

बालक के अनवरत रुदन से खिन्न सुनन्दा को सखियों की बात पसन्द आयी। वह मुनि के आगमन से पूर्व ही पुत्र को गोद में लेकर खड़ी हो गयी। मुनि समित एवं मुनि धनगिरि सुनन्दा के घर पहुंचे। सुनन्दा ने उनको वन्दन किया और बोली "मुने! मैं पुत्र के अनवरत रुदन से खिन्न हूं। माता-पिता दोनों पर सन्तान के संरक्षण का दायित्व होता है। मैंने इतने दिन बालक का पालन किया, अब आप इसका दायित्व संभालें। इसे अपने पास रखें। बालक मेरे पास रहे या आपके पास इसकी कोई चिन्ता नहीं। यह सुखी रहे, इसी में मैं प्रसन्न हूं।"

दूरदर्शी मुनि धनगिरि ने कहा "मैं इस पुत्र को दान में स्वीकार कर सकता हूं पर भविष्य में इस घटना से कोई समस्या पैदा नहीं हो, अतः विवाद से बचने के लिए यह कार्य साक्षीपूर्वक करो। सोच लेना, भविष्य में तुम पुत्र के लिए किसी प्रकार की मांग नहीं करोगी।

निर्वेद प्राप्त सुनन्दा बोली "इस समय मुनि समित और ये मेरी सखियां साक्षी हैं। मैं अपने पुत्र के लिए भविष्य में किसी प्रकार की समस्या उत्पन्न नहीं करूंगी।"[७]

मुनि धनगिरि ने अपने करणीय कार्य की पूर्व भूमिका को सुदृढ़ बनाकर बालक को पात्र में ग्रहण किया।

मुनि धनगिरि के पास आते ही बालक चुप हो गया मानो उसे अपना लक्ष्य मिल गया हो।

मुनि धनगिरि बालक सहित पात्र को उठाकर चले। गुरु के समीप पहुंचे। भारी पात्र से मुनि धनगिरि का हाथ लचक रहा था, कंधा झुक गया था। चलने में कठिनाई का अनुभव हो रहा था। आचार्य सिंहगिरि, मुनि धनगिरि को अधिक भार सहित आते देखकर उनका सहयोग करने के लिए उठे और धनगिरि के हाथ से पात्र को अपने हाथ में लिया। आचार्य सिंहगिरि को पात्र अपने हाथ से छूटता सा लगा था। उनके मुंह से निकला "यह वज्रोपम क्या लाए हो?" सहज-भाव से उच्चरित वज्र शब्द बालक का नाम हो गया। आज भी वज्र की प्रसिद्धि वज्र-स्वामी के रूप में है।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' यह लोकोक्ति वज्र के जीवन में सत्य प्रतीत हुई। उसका सौम्य वदन, तेजस्वी भाल एवं चमकते नेत्र शुभ भविष्य की सूचना दे रहे थे। निमित्त ज्ञानी आचार्य सिंहगिरि को लगा, यह बालक प्रवचनाधार एवं धर्म शासन का विशेष प्रभावक होगा। दीर्घ प्रतीक्षा के बाद प्राप्त पुत्र का जितना हर्ष एक पिता को होता है उससे शतगुणाधिक आनन्द आचार्य सिंहगिरि को बालक वज्र की प्राप्ति से हुआ। साध्वियों के उपाश्रय में शय्यातर महिला को शिशु संरक्षण का दायित्व संभलाकर लोक कल्याणार्थ आचार्य सिंहगिरि ने वहां से विहार कर दिया।

शय्यातर श्राविका बालक के पालन-पोषण का पूरा ध्यान रखती, माता जैसा प्रगाढ़ स्नेह देती। स्नान, दुग्ध-

७. अतिखिन्ना च साऽवादीदाऽऽर्यसमितो मुनिः।
साक्षी सख्यश्च साक्षिण्यो भाषे नाऽतः किमप्यहम् ॥६४॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक ४)

पान, शयन आदि की सम्यक् व्यवस्था करती। बालक का अधिकांश समय साध्वियों के परिपार्श्व में बीतता। झूले में झूलता हुआ बालक वज्र अतन्द्र रहकर साध्वियों के स्वाध्याय को सुनता एवं शास्त्रीय पद्यों की स्पष्टोच्चारण-विधि तथा प्रत्येक शब्द के व्यंजन, स्वर, मात्रा, बिन्दु, घोष पर विशेष ध्यान रखता था। उपदेश माला वृत्ति के अनुसार बालक के पास पदानुसारिणी लब्धि थी उसके कारण आगम-पद्यों के श्रवण मात्र से बालक को एकादशांगी का पूर्ण ज्ञान हो गया।[८] शिशु के द्वारा इस प्रकार से ज्ञान-ग्रहण-क्षमता की जानकारी साध्वियों को भी नहीं थी।

सुनन्दा साध्वियों के दर्शनार्थ आया करती थी। उसने शय्यातर के सम्यक् संरक्षण में प्रफुल्ल वदन अपने पुत्र को देखा। मां का ममत्व जाग गया। उसे लेने की स्पृहा जागी। सुनन्दा ने शय्यातर महिला से अपने पुत्र को मांगा। साध्वियों से पुत्र को लौटा देने के लिए उसने बहुत बार अनुनय-विनय किया। साध्वियों ने उसे समझाया। बहिन! गुरु चरणों में समर्पित यह बालक गुरु की धरोहर है। वस्त्र, पात्र की भांति भक्ति भाव से संतों को प्रदत्त इस बालक को भी लौटाया नहीं जा सकता तुम्हारा अपने पुत्र में मोह है। तुम यहां आकर इसका लालन-पालन कर सकती हो। गुरुदेव के आदेश बिना इसे घर नहीं ले जा सकती। कुछ समय तक सुनन्दा वहीं पुत्र को स्नेह प्रदान कर अपनी मनोकामना पूर्ण करती रही। 'आम्र स्वाद इमली में नहीं होता।' यह स्थिति सुनन्दा की थी।

आचार्य सिंहगिरि का पुनः तुम्बवन में आगमन हुआ। सुनन्दा ने मुनि धनगिरि से पुत्र की मांग की। उस समय तक बालक तीन वर्ष का हो गया था। उसकी प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई। मुनि ने कहा "कन्यादान की भांति उत्तम पुरुषों के वचन भी बार-बार नहीं बदले जाते।"

"एवं विमृश धर्मज्ञे! नो वा सन्त्यत्र साक्षिणः ॥७६॥
(प्रभा. च., पृ. ४)

धर्मज्ञे! जिनको साक्षी बनाकर तुमने दान किया था वे भी उपस्थित हैं। तू अपने वचन की सम्यक् प्रतिपालना कर। पुत्र गुरु की निधि है। उस पर अब तुम्हारा अधिकार नहीं रह गया है।

निरुपाय सुनन्दा राजा के पास पहुंची और न्याय मांगा। उस युग में न्याय अधिक निष्पक्ष था। नारी हो या पुरुष, धनी हो या निर्धन, न्याय सबके लिए समान सुलभ था। एक नारी को न्याय देने के लिए राजा ने ससंघ मुनिजनों को आमंत्रित किया।

श्रमण परिवार सहित आचार्य सिंहगिरि यथानिर्दिष्ट स्थान पर पधारे। सुनन्दा भी अपनी सखियों के साथ वहां पहुंच गई।

"धर्माधिकरणायुक्तैः पृष्टौ पक्षावुभावपि" ॥८२॥
(प्रभा. च., पृ. ४)

राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधिकारी वर्ग ने उभय पक्ष की बात सुनी। एक ओर पुत्र की याचना करती हुई माता अप्रतिकार्य थी, दूसरी ओर धर्मसंघ का प्रश्न था। मुनियों की दृष्टि में माता द्वारा स्वेच्छा एवं साक्षीपूर्वक प्रदत्त पुत्र का दान धर्मसंघ की संपदा हो गई थी। इस जटिल गुत्थी को सुलझाने के लिए राजा ने गंभीर चिंतन किया और बालक सहित उभय पक्ष को अपने सामने उपस्थित होने की आज्ञा दी और कहा "बालक स्वेच्छा से जिसको चाहेगा, वह उसी का होगा।"

दोनों पक्षों ने इस अभिमत पर बिना ननुनच किए अपनी सहमति प्रदान की। यथासमय राजा के समीप दोनों पक्षों के लोग पहुंच गए। पूर्वाभिमुख होकर राजा बैठा। राजा के दक्षिण पार्श्व में धर्मसंघ बैठा। बाएं पार्श्व में खिलौने और मिठाइयां लेकर परिवार सहित सुनन्दा बैठी। राजा ने कहा "पुरुष ज्येष्ठ माना जाता है। अतः पहला अवसर पिता धनगिरि को देता हूं।"

८. निवसंतो तो तासि समीवदेसे सुणइ अंगाई।
एक्कारसवि पढंतीण, ताव तेणोवलद्धाणि ॥६७॥
एगपयाओ पयसयमणुसरइ मइ तहाविहा तस्स।
जाओ य अट्ठ वरिसो, ठविओ गुरुणा नियसमीवे ॥६८॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २१०)

नागरिक लोग सुनन्दा का पक्ष लेते हुए बोले "पहला अवसर माता को मिलना चाहिए। माता अपनी संतान के लिए अनेक कष्ट सहती है, उसका पुत्र के प्रति असीम वात्सल्य होता है।" नागरिक लोगों का बहुमत था, अतः पुरुष प्रधान परम्परा होते हुए भी जनता की आवाज का सम्मान कर बालक को मुग्ध करने का पहला अवसर सुनन्दा को दिया गया। परिशिष्ट पर्व के अनुसार सुनन्दा राजा के दक्षिण पार्श्व में बैठी थी।

सुनन्दा हर्षित हुई। वह खिलौने दिखाती हुई तथा मिठाइयों का प्रलोभन देती हुई मिश्री से मधुर स्वर में बोली "आओ वज्र! मेरी तरफ आओ। मैं कब से तुम्हारी बाट देख रही हूं। प्रिय बेटे! मेरी सूनी गोदी को भर दो। मां के स्नेहिल हाथों से बनी इन मिठाइयों को मस्ती से खाओ और इन खिलौनों से खेलो। दीर्घ प्रतीक्षारत मां की भावना को पूर्ण करो। मेरे लाल" ... .ममतामयी मां द्वारा पुनः-पुनः बुलाने पर भी वज्र नहीं गया। उसने सोचा मां का पक्ष लेने पर संसार की वृद्धि होगी। धर्म संघ की शरण ग्रहण करने से मेरा कल्याण होगा। मां सुनन्दा का भी कल्याण होगा। वह भी मेरे साथ अवश्य श्रमणी बनेगी।" बालक वज्र इस प्रकार अन्तर्मुखी चिंतन करता हुआ उदासीन भाव से मौन बैठा रहा और आंखों से मां को अस्वीकृति की भाषा समझाता रहा।

द्वितीय अवसर पिताश्री मुनि धनगिरि को दिया गया। मुनि ने बालक के सामने रजोहरण रखा और सरल भाषा में वे बोले "वत्स! तुम्हारा व्यवहार बताता है तू तत्वज्ञ है। सुलभ बोधि है। अध्यात्म के प्रति तेरा सहज अनुराग है। तुम्हारे भावी जीवन के ये निर्णयात्मक क्षण हैं। कर्म रजों का हरण करने वाला यह रजोहरण तुम्हारे सामने है। प्रसन्नमना तू इसे ग्रहण कर।"

बालक वज्र मृगशावक की भांति ऊपर उछला एवं मुनिजनों के चामराकृति रजोहरण को लेकर उनके उत्संग में बैठ गया। न्याय मुनि धनगिरि को मिला। जय-जय की ध्वनि से दिगृदिगंत गूंज उठा। राजा ने संघ का सम्मान किया। इस समय बालक तीन वर्ष का था।

सरल स्वभावी सुनन्दा ने चिंतन किया "मेरे सहोदर समित एवं प्राणाधार पति दीक्षित हो गए हैं एवं पुत्र भी श्रमण बनने के लिए संकल्पबद्ध है। मेरे लिए अब यही पथ श्रेष्ठ है।" परम विरक्त-भाव को प्राप्त सुनन्दा आचार्य सिंहगिरि के पास दीक्षित हुई और श्रमणी समूह में सम्मिलित हो गई। ग्रन्थों में श्रमणी संघ की प्रमुखा का नाम-निर्देश प्राप्त नहीं है।

प्रभावक चरित्र, परिशिष्ट पर्व, उपदेशमाला इन ग्रंथों में वज्र की आचार्य सिंहगिरि द्वारा तीन वर्ष की अवस्था में दीक्षा प्रदान करने का तथा विहार आदि के योग्य न होने के कारण उसे शय्यातर के घर पर ही रखने का उल्लेख है। इन ग्रंथों के अनुसार आठ वर्ष की उम्र होने पर वज्र को आचार्य सिंहगिरि ने अपनी नेश्राय में लिया।[६] पर यह दीक्षा शिष्य स्वीकृति के रूप में संभव है। युगप्रधान पट्टावलियों के अनुसार वज्र की दीक्षा आठ वर्ष की अवस्था में वी. नि. ५०४ (वि. ३४) में हुई। बालक वज्रमुनि कोमल प्रकृति के थे। सहज, नम्र एवं आचार के प्रति दृढ़-निष्ठावान थे। एक बार श्रमण परिवार से परिवृत्त आचार्य सिंहगिरि विहारचर्या में किसी पर्वत की तलहटी में पहुंचे। तभी तीव्रधार तेज वर्षा प्रारम्भ हुई। बादलों की गरजना, झपाझप कौंधती बिजली की चमक प्रलयंकारी थी। चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देने लगा। नदी नाले पानी से भर गए। आवागमन के रास्ते बंद हो गए। जल-जीवों की विराधना से बचने के लिए श्रमण संघ को गिरिकन्दरा में रुकना पड़ा। उपदेशमाला के अनुसार इस समय ससंघ आचार्य सिंहगिरि अवन्ति के उद्यान में स्थित थे। आहारोपलब्धि की संभावना न देख तपःपूत, क्षमाप्रधान, परीषह विजेता, समता रसलीन श्रमणों ने उपवास

६. अष्ट वर्षोऽभवद्वज्रो यावदार्या प्रतिश्रये।
ततो वसत्या मानिन्ये हर्षभाग्भिर्महर्षिभिः ॥१३८॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

स्वीकार कर लिया। प्रभावक चरित्र ग्रंथ के अनुसार वह असामयिक अतिवृष्टि प्रकृति का प्रकोप नहीं अपितु देवमाया थी। बाल मुनि वज्र की परीक्षा के लिए पूर्व भव के मित्र जृंभक देव ने कुतूहलवश इस सघन घनाघन घटा की रचना की थी।[10]

वर्षा के रुकने पर जृंभक देव श्रावक रूप बनाकर आचार्य सिंहगिरि के पास आया और गोचरी की प्रार्थना करता हुआ बोला "गुरुदेव! हमारा दल आगे बढ़ रहा था। भारी वर्षा के कारण अटवी में रुकना पड़ा इस जंगल में भी आपके दर्शन हुए यह हमारा अहोभाग्य है। हमने अपने लिए भोजन बनाया है। कृपा कर आप हमें इस अवसर पर संयतिदान का लाभ प्रदान करें। हमारी आपसे एक और प्रार्थना है लघु शिष्य वज्र मुनि को हमारे यहां गोचरी के लिए आदेश प्रदान कर हमें कृतार्थ करें।"

दयानिधि आचार्य सिंहगिरि ने शिष्य वज्र को गोचरी का आदेश दिया। आचार्य देव की अनुमति पाकर वज्रमुनि माधुकरी वृत्ति के लिए अक्लांत, अखिन्न मन से उठे एवं द्वार तक पहुंचकर रुक गए। नन्हीं-नन्हीं बूंदें तब तक आ रही थीं। पूर्ण वर्षा रुकने पर ईर्यासमितिपूर्वक मंद-मंद गति से चलते हुए वज्र मुनि आगे बढ़े। मार्ग निर्देश करता हुआ श्रावक वेश में देव भी वज्र मुनि के साथ-साथ चल रहा था। चलते-चलते वज्र मुनि उस बस्ती में प्रविष्ट हुए जो देव निर्मित थी। मानव रूपधारी देव बाल मुनि वज्र को अपनी कुटिया में ले गया एवं भक्तिभाव-पूर्वक दान देने को तैयार हुआ।

बालमुनि वज्र भिक्षा की गवेषणा में जागरूक थे। इस अवसर पर प्रदीयमान सामग्री को अशुद्ध आधाकर्मी दोषयुक्त देवपिण्ड जानकर उसे लेना अस्वीकार कर दिया। भिक्षा में प्रदीयमान वस्तु द्रव्य से कुष्माण्डपाक द्रव्य, क्षेत्र से मालवा देश में प्राप्त हो रहा है। काल से ग्रीष्मकाल का समय है। भाव की दृष्टि से अनिमिष नयन, अम्लान कुसुम मालाधारी व्यक्ति भोज्य सामग्री प्रदान कर रहा था। दान प्रदाता के चरण धरा से ऊपर उठे हुए थे। इस प्रकार का दान मानव से संभव नहीं था। कुष्माण्डपाक ग्रीष्मकाल में और मालव देश में सर्वथा अप्राप्य था। वज्र की दृष्टि में यह आहार देवपिण्ड था तथा देवता के द्वारा दिया जा रहा था। साधु के लिए देवपिण्ड आहार सर्वथा अकल्प्य है, यह जान वज्रमुनि ने क्षुधा से व्यथित होने पर भी उसे ग्रहण नहीं किया।[11]

जृंभक देवों ने प्रकट होकर वज्र मुनि के उच्चतम साधनानिष्ठ जीवन की प्रशंसा की एवं नाना रूप निर्मात्री वैक्रिय विद्या उन्हें प्रदान की।[12]

उपदेशमाला के अनुसार यह मेघमाला देवकृत नहीं थी।

मुनि वज्र के सामने आहार-पानी की गवेषणा में उत्तीर्ण होने का एक अवसर और आया। ग्रीष्मऋतु के मध्याह्नकाल में माधुकरी वृत्ति में व्यस्त बालमुनि वज्र को देखकर जृंभक देव पुनः धरती पर वैक्रिय शक्ति द्वारा मानव रूप बनाकर आया एवं प्रार्थनापूर्वक वज्रमुनि को देव-निर्मित गृह में ले गया। श्रावक रूप में प्रकटीभूत जृंभक देवों ने मुनि को दान देने के लिए घृत निष्पन्न मिष्ठान्न (मिठाई) से भरा थाल रखा। थाल में शरद्कालीन मिष्ठान्न थे। ग्रीष्मऋतु में इस प्रकार की मिष्ठान्न सामग्री को देखकर वज्रमुनि संभल गए। उसे देवपिण्ड समझकर उन्होंने ग्रहण नहीं किया।

भाग्यवान व्यक्तियों को पग-पग पर निधान मिलता है। वज्रस्वामी के जृंभकदेव पूर्व जन्म के मित्र थे। वज्र मुनि के आचार कौशल से वे अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं इस समय उन्हें गगनगामिनी विद्या प्रदान की।[13]

---

१०. परि. पर्व सर्ग १२, श्लोक संख्या १३६ से १४४ तक।

११. निषद्यं देवपिण्डोऽयं साधूनां नहि कल्पते।
तस्मादनातपिण्डोऽपि व्रजामि गुरुसन्निधौ ॥१५४॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

१२. अथ वैक्रियलब्ध्याख्यां विद्यां लोपभृतोऽमराः।
निष्कयं क्लृप्तमायाया इव वज्राय ते ददुः ॥१५७॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

१३. वज्राय पूर्व सुहृदे विद्यामाकाशगामिनीम्।
प्रददुस्तोषभाजस्ते स्वं स्वं स्थानमथो ययुः ॥१६०॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

सुविनीत मुनि वज्र के पास श्रुत का गंभीर अध्ययन था। एक दिन आचार्य सिंहगिरि शौचार्थ बाहर गए। माधुकरी में प्रवृत्त अन्य मुनि भी उस समय उपाश्रय में नहीं थे। बालमुनि वज्र अकेले थे। नीरव वातावरण से उनके मन में कई प्रकार के भाव जागृत हुए। आगम वाचना प्रदान करने की उत्सुकता जगी। वातावरण को अनुकूल पाया। अपने चारों ओर श्रमणों के उपकरणों को रखकर उन्हें ही श्रमणों का प्रतीक मानकर मुनि वज्र ने वाचना प्रदान करने का कार्य प्रारम्भ किया। मनोनुकूल कार्य में सहज लीनता आती है। वज्रमुनि वाचना प्रदान कार्य में तल्लीन हो गए। उन्हें समय का भान नहीं रहा। आचार्य सिंहगिरि उपाश्रय के निकट आए। उन्हें मात्रा, बिन्दु सहित आगम पद्यों का स्पष्ट उच्चारण सुनाई दे रहा था। मधुर ध्वनि ने आचार्य सिंहगिरि के मन को मुग्ध कर दिया। आगम के प्रत्येक पद्य का अतीव सुंदर सांगोपांग विवेचन सुनकर आचार्य सिंहगिरि शिशु मुनि वज्र की प्रतिभा पर आश्चर्यविभोर थे।

वज्र मुनि के स्वाध्याय कार्य में बाधा न पहुंचे यही सोच कर आचार्य सिंहगिरि आगे बढ़ते-बढ़ते रुक गए। फिर भी मंद-मंद पदचाप की ध्वनि से और वातावरण की सूक्ष्म हलचल से जागरूक बाल मुनि वज्र को आचार्य देव के आगमन का आभास हुआ। उपकरणों को तत्काल यथास्थान रखकर बाल मुनि वज्र उठे। गुरु के सम्मुख गए। चरणों में झुके। अभिवादन के बाद गुरु के पीछे चलते अपने स्थान पर लौट आए। आचार्य सिंहगिरि अपने शिष्य की योग्यता पर अत्यन्त प्रमुदित हो रहे थे। मन ही मन चिंतन किया

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि नरस्तिरस्कृतिं लभते।
निवसन्नन्तर्दारूणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु प्रज्वलितः ॥१६॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पृ. २१२)

शक्ति गुप्त रहने पर सबल व्यक्ति भी तिरस्कार को प्राप्त होते हैं। अन्तर्निहित अग्निक काष्ठ को लांघा जा सकता है, प्रज्वलित काष्ठ को नहीं।

वैयावृत्यादिषु लघोर्माऽवज्ञाऽस्य भवत्विति।
ध्यात्वाऽऽहुर्गुरवः शिष्यान् विहारं कुर्महे वयम् ॥११८॥

(प्रभावक चरित्र, पृ. ६)

ज्ञान संपन्न मुनि वज्र की योग्यता अज्ञात रहने पर स्थविर मुनियों द्वारा वैयावृत्य आदि कराते समय किसी प्रकार से वज्र मुनि की अवज्ञा न हो इस हेतु मेरा अन्यत्र प्रस्थान उपयुक्त होगा, यह सोचकर दूसरे दिन आचार्य सिंहगिरि ने शिष्य समूह को देशान्तर जाने का निर्णय सुनाया। आगे कहा "शिक्षार्थी मुनियो! यात्रा में धर्म प्रचार का कार्य प्रमुख होता है। अध्ययन-अध्यापन के लिए समय कम ही बच पाता है अतः अध्ययनार्थी शिष्यों का यहीं रुकना उचित होगा, जिससे ज्ञानाराधना का क्रम अनवरत रूप से चलता रहे। मेरी इस यात्रा में धर्म-प्रचारक स्थविर मुनि ही सहभागी बन सकेंगे।

अध्ययनार्थी मुनियों ने निवेदन किया "गुरुदेव! हमें वाचना कौन प्रदान करेंगे?

आचार्य सिंहगिरि ने लघु मुनि वज्र का नाम वाचना प्रदानार्थ घोषित किया।

अध्यापनार्थ बाल मुनि वज्र का नाम सुनकर वय ज्येष्ठ, पर्याय ज्येष्ठ रत्नाधिक मुनियों को एक बार विस्मय अवश्य हुआ पर दूसरे ही क्षण उन्होंने सोचा "निर्विचारं गुरोर्वचः" गुरु के वचन अतर्कणीय होते हैं। विनीत शिष्यों ने 'तथेति' कहकर आचार्य सिंहगिरि के आदेश को स्वीकार किया।

स्थविर मुनियों से परिवृत आचार्य सिंहगिरि का विहार हुआ एवं मुनि वज्र ने शिष्य समूह को वाचना देनी प्रारम्भ की। लघुवय होने पर भी मुनि वज्र का विशद ज्ञान एवं तत्व-बोध प्रदान करने की पद्धति सुंदर थी। मंदमति शिष्य भी सुखपूर्वक मुनि वज्र से वाचना को ग्रहण करने लगे।

कई मुनियों ने अपने पठित पाठों के संदर्भ में भी अनेक प्रकार की जिज्ञासाएं रखीं। प्रश्न-प्रतिप्रश्न किए। मुनि वज्र ने प्रत्येक प्रश्न को बहुत सुंदर, सरल और सुरुचिपूर्ण ढंग से समाहित किया एवं गूढ़ पाठों का भी

तार-तार खोलकर रख दिया। मुनि वज्र की वाचना से सभी को पूर्ण संतोष था। कतिपय समय के बाद आचार्य सिंहगिरि का आगमन हुआ। श्रमण वर्ग को मुनि वज्र की वाचना से संतुष्ट पाया। वाचनाचार्य के रूप में मुनि वज्र की नियुक्ति के लिए स्वयं मुनियों ने आचार्य देव से प्रार्थना की।[14]

श्रुत्वेति गुरवः प्राहुर्मत्वेदं विहृतं मया।
अस्य ज्ञापयितुं युष्मान् गुणगौरवमद्भुतम् ॥१२५॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ६)

आचार्य सिंहगिरि बोले "मैंने पहले ही मुनि वज्र की योग्यता को परख लिया पर तुम्हें इससे अवगत कराने के लिए मैंने अन्यत्र विहार किया।

गुरु की दूरदर्शिता पर श्रमण संघ हर्षित हुआ। प्रतिभासंपन्न सुविनीत योग्य शिष्यों को पाकर आचार्य सिंहगिरि को भी पूर्ण तोष था।

मुनि वज्र का उस समय तक ज्ञान गुप्तरीति से ग्रहण किया हुआ था। श्रुतवाचना देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए विधिपूर्वक गुरुगम्य ज्ञान होना आवश्यक था। आचार्य सिंहगिरि के पास मुनि वज्र का तपोयोगपूर्वक अध्ययन प्रारम्भ हुआ। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण स्वल्प समय में ही बाल मुनि वज्र गुरु द्वारा प्रदत्त आगम वाचना को ग्रहण करने में सफल हुए।

आचार्य सिंहगिरि का आगमन दशपुर में हुआ। उन्होंने पूर्वों का ज्ञान ग्रहण करने के लिए मुनि वज्र को अवन्ति में विराजमान दशपूर्वधर आचार्य भद्रगुप्त के पास भेजा। इस समय आचार्य सिंहगिरि दशपुर में विराज रहे थे।

गुरु का आदेश प्राप्त कर मुनि वज्र ने अवन्ति की ओर विहार किया। वे अवन्ति नगर के बहिर्भूभाग की सीमा तक पहुंचे तब तक संध्या हो गई थी। उन्होंने रात्रि निवास नगर के बाहर किया।

उसी रात्रि में आचार्य भद्रगुप्त ने स्वप्न देखा

पात्रं मे पयसा पूर्णमतिथिः कोऽपि पीतवान् ॥१२६॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ६)

मेरा दूध से भरा हुआ पात्र कोई अतिथि आकर पी गया। रात्रिकालीन इस स्वप्न की बात आचार्य भद्रगुप्त ने अपनी शिष्यमण्डली से कही और इस स्वप्न के आधार पर अपना विश्वास प्रकट करते हुए वे बोले "दशपूर्वों का ग्राहक विद्यार्थी अवश्य मेरे पास आएगा।"

बात का यह प्रसंग चल रहा था कि मुनि वज्र वहां पहुंच गए।

प्रतिभासंपन्न, पूर्व ज्ञानराशि को ग्रहण करने में सक्षम, सुयोग्य शिष्य मुनि वज्र को पाकर आचार्य भद्रगुप्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने सलक्ष्य अपना संपूर्ण अधीत-श्रुत उन्हें पढ़ाया। दशपूर्व ज्ञानामृत का समग्रता से पान कर मुनि वज्र को परम तृप्ति हुई। निर्धारित लक्ष्यसिद्धि के बाद आचार्य भद्रगुप्त ने उन्हें पुनः अपने गुरु के पास जाने का आदेश प्रदान किया। सुविशाल ज्ञान-संपदा का अर्जन कर वे आचार्य सिंहगिरि के पास आए। अपने शिष्य की योग्यता से गुरु को संतोष हुआ। संघ ने होनहार शिष्य का सम्मान किया।

आचार्य सिंहगिरि इस समय वृद्ध हो गए थे। अब वे उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहते थे। सुयोग्य शिष्य मुनि वज्र को वी. नि. ५४८ (वि. ७८, ई. सन् २१) में आचार्य पद पर नियुक्त कर वे संघ चिंता से मुक्त बने। पूर्व जन्म के मित्र देव ने इस अवसर पर उत्सव मनाया।[15]

आचार्य वज्रस्वामी संघ का कुशल नेतृत्व करते हुए पांच सौ श्रमणों के साथ विहरण करने लगे। उनके व्यक्तित्व में रूप-सौंदर्य एवं वाक् माधुर्य का अनुपम

---

१४. अस्माकं वाचनाचार्यो वज्रोऽभूद्युष्मदाज्ञया ॥१६७॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

१५. वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः।
तस्याचार्यप्रतिष्ठायां चक्रुरुत्सवमद्भुतम् ॥१३२॥
(प्रभावक चरित्र, पत्रांक ६)

संयोग था।

पाटलिपुत्र के श्रीसंपन्न धनश्रेष्ठी की पुत्री रुक्मिणी थी। वह ज्ञानशाला में विराजित साध्वियों को स्वाध्याय करते समय प्रतिदिन सुना करती थी

एवं अखंडियसीलो, बहुस्सुओ एस एस पसमट्ठो।
एसो य गुणनिहाणं, एस सरित्थो परो नत्थि ॥४८॥

(उपदेशमाला-विशेष, वृत्ति, पृ. २१४)

अखण्डित शील, बहुश्रुत, प्रशांत भाव से संपन्न, गुणनिधान आचार्य वज्र के समान दुनिया में कोई दूसरा पुरुष नहीं है। "वइस्स गुणे सरदिंदुनिम्मले" उनके गुण शरच्चन्द्र की भांति निर्मल हैं। रुक्मिणी वज्रस्वामी के यशोगान श्रवण से उनके व्यक्तित्व एवं रूप-सौंदर्य पर मुग्ध हो गई थी। पिता के सामने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए उसने स्पष्ट कहा "तात!"

जइ मन्न वरो वइरो, हो ही ताहं विवाहमीहेमि।
जालाजाल करालो, जलणो मे अन्नहा सरणं ॥५०॥

(उपदेशाला-विशेष वृत्ति, पृ. २१४)

"मैं वज्रस्वामी के साथ पाणिग्रहण करूंगी, अन्यथा अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वालाओं की शरण ग्रहण कर लूंगी। उत्तम कुल की कन्याएं कभी दो बार वर का चुनाव नहीं करतीं।"

पुत्री द्वारा अग्निदाह की बात सुनकर वात्याचक्र के तीव्र झोंकों से प्रताड़ित पीपल के पत्ते की भांति धन-श्रेष्ठी का दिल कांप गया।

साहिंति साहुणीओ, जहा न वइरो विवाहेइ ॥५१॥

(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ. २१४)

साध्वियों ने रुक्मिणी को बोध देते हुए कहा "आचार्य वज्र श्रमण हैं वे विवाह नहीं करेंगे।" रुक्मिणी दृढ़ शब्दों में बोली "मुझे प्रव्रजित होना स्वीकार है। मैं वज्र के सिवाय दूसरे वर का चुनाव हरगिज नहीं करूंगी।"

आचार्य वज्र को पा लेने की प्रतीक्षा में रुक्मिणी अपने दृढ़-संकल्प का वहन करती रही। तपस्या निष्फल नहीं जाती। वह एक दिन अवश्य फलवान् होती है।

रुक्मिणी के सौभाग्य से आचार्य वज्रस्वामी का आगमन पाटलिपुत्र में हुआ। पाटलिपुत्र का राजा आचार्य वज्रस्वामी के व्यक्तित्व से विशेष प्रभावित था। उनके आगमन की सूचना पाकर वह हर्षित हुआ। आचार्य वज्र के स्वागतार्थ उनके सम्मुख गया। वज्रस्वामी से आगे आने वाले मुनियों से राजा पूछता "आप में वज्रस्वामी कौन है?" उत्तर मिलता "वज्रस्वामी पीछे आ रहे हैं।" आगे आने वाले श्रमण द्युतिमान, कान्तिमान थे। कुछ देर बाद विशाल मुनि मण्डली से परिवृत आचार्य वज्र को दूर से ही आते देखकर राजा का मन प्रफुल्ल हो गया। वज्रस्वामी के रूप ने सबको आश्चर्यचकित कर दिया। भक्तिपूरित श्रावक की भांति मुकुलित पाणियुगल नत-मस्तक मुद्रा में राजा ने विधिपूर्वक वज्रस्वामी को वन्दन किया तथा 'अभिवंदिओ अभिणंदिओ' आदि शब्दों से उनका स्वागत किया।

आचार्य वज्र पाटलिपुत्र के उद्यान में ठहरे। विशाल मानव-मेदिनी को संबोधित करते हुए उन्होंने मोह-विनाशिनी धर्मकथा प्रारम्भ की। घनरव-गंभीर घोष में वे बोले

खणदिट्ठनट्ठविहवे, खणपरियट्टंत विविहसुहदुक्खे।
खणसंजोगवियोगे, नत्थि सुहं किंपि संसारे ॥५८॥

(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ. २१५)

संसार प्रतिक्षण परिवर्तनधर्मा है। वैभव स्थायी नहीं है। सुख-दुःख, संयोग-वियोग का प्रतिक्षण चक्र चलता रहा है।

"पोइणिदलग्ग जल बिन्दुचंचलजीवियं" पद्मिनी दलाग्र पर स्थित जलबिन्दु के समान जीवन अस्थिर है। जिन धर्म की शरण ही संसार में सर्वोत्तम है।

आचार्य वज्र की अमृतोपम देशना को राजा के साथ राजकुमारों, श्रेष्ठि-पुत्रों, प्रशासकों, मंत्रियों एवं सहस्रों नागरिकों ने सुना। आचार्य वज्र की प्रभावोत्पादक वाणी से श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो गए। प्रवचनोपरांत शहर में वज्रस्वामी के प्रवचन की चर्चा हुई।

आचार्य वज्रस्वामी द्वारा प्रदत्त प्रथम धर्म देशना की प्रशंसा सुनकर अन्तःपुर में हलचल हुई। रानियां आचार्य

वज्र के रूप-सौंदर्य को देखने एवं मधुर वाणी का रसास्वाद करने के लिए उत्सुक हुई एवं अनेक नारियों से परिवृत होकर वे धर्मस्थान पर उपस्थित हुईं। आचार्य वज्र विविध लब्धियों के स्वामी थे। क्षीराश्रवलब्धि से संपन्न आचार्य वज्र की वाणी में मधुमिश्रित दुग्ध जैसा मिठास था।[१६] राजकुमारियां और रानियां भी आचार्य वज्र की धर्म देशना सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुईं तथा सभी ने अपने आप में धन्यार्हता का अनुभव किया।

एक बार विशाल जन-समुदाय के सामने अपने आपको विरूपाकृति में प्रस्तुत कर आचार्य वज्र ने पुष्करावर्त मेघ की नांई धारा प्रवाह प्रवचन दिया। लोग विचार करने लगे

जइ नाम-रुव-लच्छी हुंति एयस्स तो न तिजए वि।
असुरो सुरो व विज्जाहरो व इमिणा समो हुंतो ॥७१॥

(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ. २१५)

आचार्य वज्र में अद्भुत वाक् कौशल के साथ रूप होता तो सुर-असुर, विद्याधर कोई व्यक्ति इनकी तुलना नहीं कर सकता। आचार्य वज्र ने जनता की भावना को जाना एवं दूसरे दिन रूप परिवर्तन किया। प्रवचन के समय वे सहस्र दलाकृति आसन पर स्थित अत्यन्त सौंदर्य संपन्न एवं विद्युत्पुंज की भांति प्रकाशमय दिखाई देने लगे, लोगों में पुनः चर्चा चली 'नारियां इनके रूप-सौंदर्य पर विमूढ़ न बन जाएं संभवतः इसीलिए आचार्य वज्र ने व्याख्यान के समय विरूप का प्रदर्शन किया था।' सभी ने आचार्य वज्र के व्यक्तित्व की प्रशंसा की।

विस्मितानन समग्र सभा को देखकर आचार्य वज्र बोले "तपोधन, लब्धिसंपन्न अणगार असंख्यात सौंदर्यसंपन्न रूपाकृतियों का प्रदर्शन कर सकते हैं इसमें आश्चर्य क्या है?"

आचार्य वज्र के गुणों की चर्चा रुक्मिणी के कानों तक पहुंची। वह उनके दर्शन करने को उत्सुक हुई। संकल्प की बात पिता के सामने दुहराती हुई बोली "श्रीमद्वज्राय मां यच्छ शरणं मे अन्ययानलः तात! मेरी मनोकामना पूर्ण करने का अवसर आ गया है। आचार्य वज्र यहां आ गए हैं। आप मुझे उन्हें समर्पित कर दें, अन्यथा मैं अग्निदाह कर लूंगी।"

पुत्री के संकल्प से श्रेष्ठी सिहर उठा। वह शत-कोटि संपदा के साथ पुत्री रुक्मिणी को लेकर वज्रस्वामी की प्रवचन-परिषद् में पहुंचा।

प्रवचनोपरांत धन श्रेष्ठी आचार्य वज्रस्वामी के निकट गया, वंदन किया और नम्र शब्दों में बोला "आर्यदेव! आपका जैसा विस्मयकारी रूप है मेरी यह पुत्री भी रूप-सौंदर्य में कम नहीं है। कृपया शतकोटि संपदा सहित आप इसे स्वीकार करें।"

आचार्य वज्र ने कहा "श्रेष्ठिन्! तुम स्वयं संसार में बद्ध हो और दूसरों को भी बांधना चाहते हो? जानते नहीं भोग भुजंग के समान भीषण होते हैं। मधुलिप्त असिधारा के समान कष्टकारक होते हैं। किम्पाक फल के समान मुख-मधुर कटु विपाकी होते हैं। श्मशान भूमि की तरह भयप्रद होते हैं। अधिक क्या, चातुर्गतिक दुःखों के कारण भोग हैं। कल्याण चाहने वाले व्यक्ति इनमें रंजित नहीं होते।"

'श्रेष्ठिन्! भौतिक द्रव्य एवं विषयानंद का प्रलोभन देकर अनन्त आनंद स्रोत तपःसंपदा को मेरे से छीनना चाहते हो, यह प्रयास रेणु के बदले रत्नराशि को, तृण के बदले कल्पवृक्ष को, काक के बदले कोकिला को, कुटिया के बदले प्रासाद को, क्षार जल के बदले अमृत को पाने जैसा है। संयम-धन की तुलना में ये विषयभोग तुच्छ हैं, क्षुद्र हैं। इनसे प्राप्त क्षण भर का सुख भावी संकट का सूचक है। यह तुम्हारी पुत्री मेरे में अनुरक्त है। छाया की भांति मेरा अनुगमन करना चाहती है, उसकी चाह की सर्व सुंदर राह यह है

---

१६. क्षीराश्रवलब्धिमतः श्रीवज्रस्वामिनस्तया।
धर्मदेशनया राजा हृतचित्तोऽभवत्तराम् ॥२६४॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

मयाऽऽदृतं व्रतं पत्तां, ज्ञानदर्शनसंयुतम् ॥१४६॥

(प्रभावकचरित्र, पृ. ६)

मेरे द्वारा स्वीकृत इस ज्ञान, दर्शन युक्त त्याग मार्ग का अनुसरण करे।

आचार्य वज्रस्वामी की सहज सुमधुर उपदेशधारा से रुक्मिणी के अंतर्नयन खुल गए। वह साध्वी बनी एवं श्रमणी संघ में सम्मिलित हो गई।[१७] वज्रस्वामी के आज्ञानुवर्ती साध्वी समुदाय कितना बड़ा था उनमें अग्रगण्या साध्वी का नाम क्या था? वज्रस्वामी से दीक्षित होकर रुक्मिणी किनके पास रही? संयमी जीवन के संस्कार उसको किससे प्राप्त हुए, आगम ज्ञान का प्रशिक्षण उसको किससे मिला ये सारे प्रसंग अभी तक इतिहास के संदर्भ में अछूते हैं। वज्रस्वामी के जीवन में कई असाधारण क्षमताएं थीं। आचारांग के महापरिज्ञा अध्ययन से वज्रस्वामी ने गगन-गामिनी विद्या का उद्धार किया।[१८] गगनगामिनी विद्या के द्वारा जंबूद्वीप से मानुषोत्तर पर्वत तक निर्बाधगति से गमन करने की क्षमता हासिल हो जाती है।

ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए श्रुतधर आचार्य वज्रस्वामी ने पूर्वी भारत में धर्म की अतिशय प्रभावना की। दूर-दूर तक अध्यात्म का स्वर गुंजित हुआ। आचार्य वज्र के समय दो बार दुष्काल की स्थिति बनी। प्रथम दुष्काल के समय वज्रस्वामी का पदार्पण पूर्व से उत्तरापथ की ओर हुआ।[१९] वहां अति क्षयकारी दुर्भिक्ष का विकट संकट था।

बरसात न होने के कारण पानी की बूँद-बूँद के लिए लोग तरसने लगे एवं क्षुधा से आकुल-व्याकुल हो उठे। पशु-पक्षियों की स्थिति और भी अधिक भयावह एवं दयाजनक थी। भोजन के अभाव में बिलखते-छटपटाते बालकों का करुण क्रन्दन, भिखारियों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती संख्या भोजन के लिए छीना-झपटी, भिखमंगों के अचानक आक्रमण से घरों के बंद द्वार, सूने कुटीर, दुकानों पर ताले, दुष्काल के विकराल रूप की सूचना दे रहे थे। धर्म संघ भी अकाल की काली छाया से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। निर्दोष आहार पानी की उपलब्धि मुनियों के लिए कठिन हो गई।

गृहिणामन्न दारिद्र्यादल्प भोजन कारिणाम्।
बभूव नित्यमप्यूनोदर यातिनाभिव ॥३१३॥

(परि. पर्व सर्ग १२ पत्रांक २५१)

भोजन पानी की गवेषणा में कठिन परिश्रम करने के बावजूद भी भिक्षा की अल्पता से निरंतर का ऊनोदरी तप सबके लिए सहज नहीं था। अनेक श्रुतधर, स्वाध्यायी, ध्यानी, सेवाभावी, व्याख्यानी, शासन प्रभावक, बाल, वृद्ध, युवा मुनि दुष्काल की चपेट में आहत होकर काल कवलित होने लगे।

एक दिन प्रबुद्ध, विनयी, विचारशील, शिष्यों ने मिलकर वज्रस्वामी से करुण स्वरों में निवेदन किया

सीदन् संघः प्रभो! पार्श्वमाययौ रक्ष रक्ष नः।
वदन्निति ततोः वज्रप्रभुस्तन्निदधे हृदि ॥१५०॥

(प्रभावक चरित्र पृ. ७)

करुणानिधे! आप लब्धिधर हैं। विशिष्ट शक्तियों से सम्पन्न हैं। सब प्रकार से सक्षम हैं। विरल विशेषताएं आपके व्यक्तित्व में विकासमान हैं। आप जैसे धीर, वीर, गंभीर, संघहितचिन्तक, प्रज्ञाधर आचार्य के होते हुए भी धर्म संघ विकटातिविकट संकट से जूझ रहा है। धर्म संघ की सुरक्षा के लिए इस समय आपको अवश्य सोचना चाहिए, विशिष्ट लब्धि जन्य शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

---

१७. तत्रैव महाधनधन श्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी वज्रस्वामिनं पतीयन्ती।
प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोचचूड़ामणिना प्रव्राजिता।
(विविध तीर्थकल्प, पाटलिपुत्र नगरकल्प, पृ. ६६)

१८. अन्यदा जन्मसंसिद्धपदानुसृतिलब्धिना।
ततो भगवता वज्रस्वामिनाऽऽकाशगामिनी ॥३०७॥
महापरिज्ञाध्ययनादाचाराङ्गान्तरस्थिताः।
विद्योद्धृते भगवतः सङ्घस्योपचिकीर्षुणा ॥३०८॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

१९. अन्यदा पूर्वदिग्भागाच्छ्रीवज्रोऽगान्महामुनिः।
सूर्यो मकरसङ्क्रान्ताविवाघाच्याउदङ्मिशम् ॥३११॥
(परि. पर्व. सर्ग १२)

सङ्घप्रयोजने विद्योपयोगी ऽपि न दुष्यति ॥३२०॥

(परि. पर्व सर्ग १२, पत्रांक २५२)

संघीय प्रयोजन के लिए विद्या के उपयोग से संयम जीवन की प्रवृति दूषित नहीं होगी। यह धर्म संघ का चिन्तन है। वीतराग शासन में लब्धिजन्य शक्तियों का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। किसी भी स्थिति में लब्धि का प्रस्फोटन करना जिनाज्ञा सम्मत नहीं है। वज्रस्वामी इस बात को अच्छी तरह से जानते थे, फिर भी दुष्काल जनित भीषण संकट से धर्म संघ को बचाने के लिए उन्होंने गगनगामिनी विद्या का प्रयोग किया। वज्रस्वामी ने विशाल पट फैलाया। संघ को उस पर बैठाकर स्वयं सबके मध्य में आसीन हुए।

वज्रर्षिणां भगवता विद्याशक्त्या प्रयुक्तया।
उत्पुप्लुवे पटो व्योम्नि पवनोत्क्षिप्ततूलवत् ॥३२३॥

(परि. पर्व सर्ग १२, पृ. २५२)

विद्याबल के प्रभाव से संघ सहित पट वायुयान की भांति आकाश की ओर ऊपर उठने लगा। वज्रस्वामी के जीवन के इस प्रसंग पर कई प्रश्न दिमाग को कुरेदते हैं

प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के उल्लेख की भांति परिशिष्ट पर्व का भी उल्लेख है दुष्काल की घड़ियों में संघ ने आकर वज्रस्वामी को गण की सुरक्षा के लिए निवेदन किया था। यह उल्लेख इस प्रकार है

ततश्च सकलः सङ्घो दुष्कालने कदर्थितः।
दीनो विज्ञापयामास सुनन्दानन्दनं मुनिम् ॥३१६॥

(परि. पर्व सर्ग १२)

मन समाधान मांगता है वज्रस्वामी को निवेदन करते समय संघ के साथ साध्वियां भी अवश्य रही होंगी, उन्होंने भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति दी होगी। पाटलीपुत्र नगर में वज्रस्वामी ने बहिन रुक्मणी को महाव्रत दीक्षा प्रदान की थी। वह साध्वी बनी एवं साध्वी समुदाय में सम्मिलित हुई। दुष्काल की घड़ियों में साध्वी समुदाय में किस प्रकार की कठिनाइयां थीं? क्या व्यवस्थाएं थीं? उस समय किस साध्वी के हाथ में साध्वी संघ के संचालन का दायित्व था? कौन सार-संभल कर रही थी?

संघ को आश्वस्त रखना, उनको सुव्यवस्था प्रदान करना, साधना में आने वाली बाधाओं को निरस्त करना आचार्य का अनिवार्य दायित्व होता है। वज्रस्वामी ने संघ सुरक्षा के लिए विशाल पट फैलाया, संघ को बैठाया, पट आकाश की ओर ऊपर उठाकर साध्वियों की व्यवस्था क्या रही? एक पट पर मुनियों के साथ साविध्यों का बैठना मुनिचर्यानुसार कैसे संभव था?

वज्रस्वामी ने साध्वियों के लिए दूसरे पट की विकुर्वणा की हो ऐसा उल्लेख तो ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है अथवा साध्वियों के लिए अन्य किसी प्रकार की व्यवस्था की सूचना भी नहीं है। ऐसा क्यों हुआ? इतिहास लेखक प्रभाचन्द्राचार्य एवं हेमचन्द्राचार्य ने इस सम्बन्ध का संकेत ग्रन्थों में क्यों नहीं किया। जबकि प्रभावक चरित्र परिशिष्ट पर्व में एक शय्यातर श्रावक का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है। यह सारा प्रकरण गहन अनुसंधान की अपेक्षा रखता है।

वज्रस्वामी ने संघ सुरक्षा का प्रबन्धन किया, उस समय परम भक्त शय्यातर किसी कार्यवश बाहर गया हुआ था। कार्य से निवृत होकर वह लौटा। उसने पट पर आसीन धर्म संघ को, वज्रस्वामी के साथ आकाश मार्ग में उड़ते हुए देखा। वह खिन्न हुआ।

सङ्घेन सहितं वज्रस्वामिनं व्योमयायिनम्।
निरीक्ष्य मूर्धजान्शीघ्रमुत्स्रायैवमुवाच सः॥३२५॥

(परि. पर्व सर्ग १२, पत्रांक २५२)

शय्यातर ने अत्यक्त त्वरा से केश लुंचन किया। सामायिक पाठ पढ़ा और उच्च स्वर से बोला

शय्यातरोऽहं युष्माकमभवं भगवन्पुरा।
अथ साधर्मिको ऽप्यस्मि निस्तारयसि किं न माम् ॥३२६॥

(परि. पर्व सर्ग १२, पत्रांक २५३)

दया सागर! मैं भी आपका भक्त हूं। साधर्मिक बन्धु हूं। मेरा कल्याण करना भी आपका दायित्व है। क्या आप मुझे इस कठिन घड़ी में यहीं छोड़कर पधारेंगे। कृपया मुझे उबारिये मेरी प्रार्थना पर ध्यान दीजिए। मुझे अपने साथ लीजिए। केश लुंचन का यह उल्लेख परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थों में है।

आगमार्थमिमं स्मृत्वा वज्रस्वामिमहर्षिणा।
पटे तस्मिन्नध्यरोपि सो ऽपि शय्यातरोत्तमः ॥३२९ ॥
(परि. पर्व सर्ग १२, पत्रांक २५३)

वज्रस्वामी को शय्यातर पर दया आ गई। उन्होंने रुककर शय्यातर को भी अपने साथ लिया। मार्गवर्ती बाधाओं को पार कर गगन मार्ग से आगे बढ़ते हुए तथा धरती के पहाड़, नदियों आदि का मनोरम दृश्य देखते हुए संघ वज्रस्वामी उत्तर भारत से महापुरी (जगन्नाथपुरी) नगरी में पहुंचे। महापुरी में सुकाल की स्थिति थी। जैन लोग वहां सुख से रहने लगे। वज्रस्वामी वहीं विराजे। चतुर्मास प्रारम्भ हुआ। महापुरी का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी था। पर्युषण पर्व मनाने में राजा की ओर से आने वाली बाधाएं वज्रस्वामी के विद्या प्रयोग से निरस्त हो गईं। निर्ग्रन्थ धर्म की महिमा मुखरित हुई। प्रजा सहित राजा वज्रस्वामी का भक्त बन गया।[20]

आचार्य वज्र धर्म प्रचार के साथ शिष्य समुदाय को आगम वाचना भी देते थे। आचार्य तोषलिपुत्र के शिष्य आर्य रक्षित को उन्होंने सार्ध नौ पूर्वों का ज्ञान प्रदान कर पूर्वज्ञान की राशि को सुरक्षित किया।

वज्रस्वामी का मुख्य विहारक्षेत्र मालव, मगध आदि स्थल थे। धर्म प्रभावना की दृष्टि से दुष्काल की घड़ियों में वे माहेश्वरी पुरी और हिमालय तक भी गए थे।[21] ऐसा उल्लेख 'प्रभावक चरित्र' और 'उपदेशमाला' आदि ग्रंथों में है।

दुष्काल का पुनः आगमन और अनशन

आचार्य वज्रस्वामी से संबंधित दक्षिणांचल की घटना विस्मयकारक है। एक बार वे यथोचित समय पर औषध लेना भूल गए। उन्हें अपनी स्मृति की क्षीणता पर आयुष्य की अल्पता का भान हुआ। इस समय उनके ज्ञानदर्पण में भावी दुष्काल के संकेत झलक रहे थे। वज्रस्वामी के समय में वह दुष्काल का द्वितीय बार आगमन था। आचार्य वज्र को पिछले दुष्काल से आने वाला दुष्काल भयावह प्रतीत हुआ। गण-सुरक्षा हेतु पांच सौ मुनियों सहित आचार्य वज्रसेन को कङ्कुण देश में विहरण करने का आदेश दिया।

द्वादशवर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न होने के कारण दक्षिण विहारी श्रमण संघ को आहारोपलब्धि कठिन हो गई।[22] वज्रस्वामी ने आपातकालीन स्थिति में क्षुधा शांति के लिए लब्धि-पिण्ड (लब्धि द्वारा निर्मित भोज्य सामग्री) ग्रहण करने का या अनशन स्वीकार करने का अभिमत शिष्यों के सामने प्रस्तुत किया। निर्मल चरित्र पर्याय के पालक आचार्य वज्रस्वामी ने इस प्रकार का परामर्श शिष्यों की धृति परीक्षणार्थ किया होगा।

ताहे भणंति, सव्वे, भत्तेणेएण सामि! अलमत्थु।
अणसणविहिणाववस्सं, साहिस्सामो महाधम्मं ॥३६॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २१८)

संयमनिष्ठ श्रमणों ने कहा "भगवन्! सदोष आहार (भोज्य सामग्री) हमें किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं है। आहार अनेक बार किया है। अब हम अनशनपूर्वक उत्कृष्ट चारित्र धर्म की आराधना में अपने-आपको नियोजित करेंगे।"

मारणान्तिक स्थिति में भी शिष्यों का दृढ़ आत्मबल देखकर वज्रस्वामी प्रसन्न हुए एवं विशाल श्रमण परिवार सहित वे अनशनार्थ निकटवर्ती गिरिशृंग की ओर प्रस्थित हुए। उनके साथ एक लघु वय का शिष्य था। बाल्यावस्था के कारण वज्रस्वामी उसे अनशन में साथ नहीं लेना चाहते थे। उन्होंने कोमल शब्दों में शिष्य से

---

२०. बौद्धभावमपहाय पार्थिवः सप्रजोऽपि परमार्हतोऽभवत् ॥३८८॥
(परि. पर्व, सर्ग १२)

२१. स्वामी निमेषमात्रेणाथागान्माहेश्वरीं पुरीम् ॥३५३॥
अक्षुद्रः क्षुद्रहिमवद्गिरिं वज्रमुनिर्ययौ ॥३६१॥
(परि. पर्व, सर्ग १२)

२२. इतो य वइरस्सामि दक्खिणावहे विहरति दुभिक्खं च जायं।
बारसवरिसगं सव्वतो समंता छिन्नपंथा निराधार जातं ॥
(आवश्यकचूर्णि, पत्रांक ४०४)

कह

अज्ज वि तं वच्छ लहू! अच्छसु एत्थेव ताव पुरे ॥४११॥

(उपदेशमाला-विशेष वृत्ति, पृ. २१५)

वत्स! अनशन का मार्ग बहुत कठिन है। तुम बालक हो। तुम यहीं पुर या नगर में रुक जाओ।

आचार्य वज्रस्वामी द्वारा निर्देश मिलने पर भी कष्ट-सहिष्णु उच्च अध्यवसायी बाल मुनि रुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। अनशन की कठोरता उसे तिलमात्र भी विचलित नहीं कर सकी।

स्वेच्छापूर्वक बाल मुनि के नहीं रुकने पर किसी कार्य के बहाने उसे एक ग्राम में प्रेषित कर ससंघ वज्रस्वामी आगे बढ़े। शैल शिखर पर आरोहण कर सबने देवगुरु का स्मरण किया। शिष्यों ने पूर्वकृत दोषों की आचार्य वज्र के पास आलोचना की। गिरिखण्ड पर अधिष्ठित देवी से आज्ञा ग्रहण कर उन्होंने यथोचित स्थान ग्रहण किया। वहीं पर वज्रस्वामी और पांच सौ श्रमण यावज्जीवन के लिए अनशन स्वीकार कर मेरू की भांति अकम्प समाधिस्थ बने।

कार्य-निवृत होकर वह लघु शिष्य लौटा, उसे संघ का एक भी श्रमण दिखाई नहीं दिया। वह खिन्न हुआ, चिन्तन किया मुझे इस पण्डित-मरण में गुरुदेव ने अपने साथ नहीं लिया। क्या मैं इतना निःसत्व, निर्वीर्य, निर्बल हूं? कई संकल्प-विकल्पों के साथ वह चला मेरे द्वारा उनके तपोयोग एवं ध्यान-योग में किसी प्रकार का विक्षेप न हो यह सोच वज्रस्वामी जिस पर्वतमाला पर अनशनस्थ हो गए थे उसी अद्रि की तलहटी में पहुंचकर तप्त पाषाण शिला पर पादोपगमन अनशन ग्रहण कर लिया। तप्त शिला के तीव्र ताप से शिशु मुनि का नवनीत-सा कोमल शरीर झुलसने लगा। भयंकर वेदना को समता से सहन करता हुआ शैक्ष मुनि उन सबसे पहले स्वर्ग का अधिकारी बना। बाल मुनि की उत्तम साधना को जैन धर्म की प्रभावना का निमित्त मान देव महोत्सव के लिए आए। देवागमन देखकर वज्रस्वामी ने श्रमण संघ को सूचित किया। तीव्र परिणामों से भीषण ताप को सहन करता हुआ लघुवय मुनि का अनशन पूर्ण हो गया। लघु मुनि का अनशन पूर्ण होने की बात सुनकर एक ही लक्ष्य में उद्यत सभी श्रमण क्षण भर के लिए विस्मित हुए। उनके भावों की श्रेणी चढ़ी। चिंतन चला "बाल मुनि ने स्वल्प समय में परमार्थ को पा लिया है। चिरकालिक संयम प्रव्रज्या को पालन करने वाले क्या हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाएंगे?" उत्तरोत्तर उनकी भावतरंगें तीव्रगामी बन रही थी। रात्रि के समय प्रत्यनीक देवों का उपसर्ग हुआ। उस स्थान को अप्रतीतिकारी जानकर ससंघ वज्रस्वामी अन्य गिरिशृंग पर गए। वहां पर दृढ़-संकल्प के साथ अपना आसन-स्थिर किया। मृत्यु और जीवन की आकांक्षा से रहित उच्च भावों में लीन श्रमण प्राणों का उत्सर्ग कर स्वर्ग को प्राप्त हुए।

अनशन की स्थिति में समाधि के साथ वज्रस्वामी का स्वर्गवास हुआ।

पांच सौ श्रमणों सहित आचार्य वज्रस्वामी की समाधिस्थली गिरिमण्डल के चारों ओर रथारूढ़ इन्द्र ने रथ को घुमाकर प्रदक्षिणा दी, अतः उस पर्वत का नाम रथावर्त पर्वत हो गया।

आचार्य वज्रस्वामी जैन शासन के सबल, सक्षम एवं महान् प्रभावी आचार्य थे। उनके स्वर्गगमन के साथ दसवें पूर्व की ज्ञान-संपदा एवं चतुर्थ अर्धनाराच संहनन की क्षति हुई।[२३]

कालिक सूत्रों की अपृथक्त्व व्याख्यान पद्धति (प्रत्येक सूत्र का चरणकरणानुयोग आदि चारों अनुयोगों से विभागशः विवेचन) भी आचार्य वज्रस्वामी के बाद अवरुद्ध हो गई।[२४]

---

२३. वास पंचसएहिं अज्जवयरे दसमं पुव्वं संघयणचउक्कं च अवगच्छिही।

(विविधतीर्थ कल्प, पृ. ३८)

२४. जावंता अज्जवइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ ॥१६३॥

(आवश्यक मलय निर्युक्ति, पत्रांक ३८३)

वज्रस्वामी दशपूर्वधर थे। पदानुसारी लब्धि, क्षीरास्रवलब्धि आदि के धारक थे। गगनगामनी विद्या के उद्धारक थे। नानारूप निर्मात्री विद्या के स्वामी थे। दशपूर्वों विशाल ज्ञान राशि के अंतिम संरक्षक आचार्य थे। उनके बाद ऐसी क्षमता किसी को प्राप्त नहीं हुई। महानिशीथ सूत्र के तृतीय अध्ययन में प्राप्त उल्लेखानुसार, पंचमंगल श्रुतस्कंध को मूल सूत्रों के साथ नियोजित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया। इससे पहले पंचमंगल महाश्रुतस्कंध (नमस्कार महामंत्र) एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित था। इस सूत्र की व्याख्या में कई निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि ग्रंथ थे। कालक्रम से ये लुप्त हो गए।

गगनगामिनी विद्या वज्रस्वामी के पास थी पर भविष्य में अधृतिवश कोई इसका गलत उपयोग न कर ले, यह सोच वज्रस्वामी ने यह विद्या अन्य किसी को प्रदान नहीं की।

वज्रस्वामी कुशल व्याख्याता थे। उनके प्रवचनों में जिनवाणी का अमृत बरसता था। दिनभर लोगों का तांता जुड़ा रहता। व्याख्यान के समय भारी भीड़ उमड़ती। धर्मप्रचार की दृष्टि से वज्रस्वामी का शासनकाल विशेष प्रभावक एवं प्रेरक रहा। वज्रस्वामी ६ वर्ष तक गृहस्थ में रहे, जन्म के बाद उनका छह मास का समय मां के संरक्षण में बीता। उसके बाद उनका पालन-पोषण गुरु नेश्राय में शय्यातर के घर पर हुआ। उनकी कुल आयु ८८ वर्ष थी। मुनि पर्याय के ८० वर्ष में लगभग ३६ वर्ष तक उन्होंने युगप्रधान पद पर रहकर धर्मसंघ का संचालन किया। विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्रस्वामी वी. नि. ५८४ (वि. सं. ११४, ई. सन् ५७) में स्वर्गवासी हुए।

विद्याओं के धनी, विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्र जैन धर्म के आधार स्तंभ थे।

आचार्य-काल

(वी. नि. ५४८-५८४)

(वि. ७८-११४)

(ई. २१-५७)

३२. अक्षयकोष आचार्य आर्यरक्षित

अनुयोग व्यवस्थापक आर्यरक्षित की गणना युगप्रधान आचार्यों में है। वल्लभी युगप्रधान स्थविरावली के अनुसार आर्यरक्षित १९वें युगप्रधान आचार्य हैं। माथुरी स्थविरावली में उनका २०वां क्रम है। पूर्वधर आचार्यों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आर्यरक्षित अन्तिम सार्ध नौ पूर्वधर थे। उन्होंने जैन शासन में कई नई प्रवृत्तियों की स्थापना की और विकास के अनेक द्वार खोले।

गुरु-परम्परा

आर्यरक्षित के दीक्षा गुरु आर्य तोषलिपुत्र थे। आचार्य तोषलिपुत्र किस गण, कुल, शाखा से संबंधित थे, इसका उल्लेख न तो आचार्य आर्यरक्षित ने स्वयं किया है और न प्रभावक चरित्र आदि ग्रंथों में है।

आर्यरक्षित ने दीक्षा प्रदाता गुरु तोषलिपुत्र से आगमों का अध्ययन किया तथा पूर्वों का अध्ययन दश पूर्वधर वज्रस्वामी के पास किया, अतः तोषलिपुत्र आर्यरक्षित के दीक्षा गुरु और विद्यागुरु भी थे। आचार्य वज्रस्वामी उनके पूर्वज्ञान प्रदाता थे।

जन्म एवं परिवार

आर्यरक्षित का जन्म मध्यप्रदेश अन्तर्गत (मालव) दशपुर (मंदसौर) निवासी ब्राह्मण परिवार में वी. नि. ५२२ (वि. ५२, ई. पू. ५) में हुआ। आर्यरक्षित के पिता का नाम सोमदेव और माता का नाम रुद्रसोमा एवं लघुभ्राता का नाम फल्गुरक्षित था।

जीवन-वृत्त

आर्यरक्षित के पिता सोमदेव दशपुर नरेश उदायन के राज्य में राजपुरोहित थे। ऐतिहासिक संदर्भ में नरेश उदायन का किसी प्रकार का प्रसंग प्राप्त नहीं है।

राजपुरोहित सोमदेव की पत्नी रुद्रसोमा उदारहृदया और प्रियभाषिणी महिला थी। वह जैन धर्म की उपासिका थी।

वर्णज्येष्ठ, कुलज्येष्ठ, क्रियानिष्ठ, कलानिधि सोमदेव का नागरिकों में विशेष आदर था। उसके दो पुत्र थे रक्षित और फल्गुरक्षित। दोनों पुत्र सूर्याश्व की भांति कुल की धुरा को वहन करने में सक्षम थे।[1] पुरोहित ने दोनों पुत्रों को वेदों का सांगोपांग अध्ययन करवाया। रक्षित को अपने अध्ययन से संतोष नहीं था। उसमें उच्च शिक्षा पाने की तीव्र उत्कंठा थी। पुत्र की भावना को समझकर पिता ने विशिष्ट अध्ययन के लिए उसे पाटलीपुत्र भेजा। पाटलीपुत्र उच्चशिक्षा का केन्द्र था। रक्षित ने वहां रहकर वेद-वेदाङ्ग आदि चतुर्दश विद्याओं का गहन अध्ययन किया। यथेप्सित अध्ययन कर लेने के बाद उपाध्याय का आदेश प्राप्त कर विद्वान रक्षित दशपुर लौटा। राज-पुरोहित-पुत्र होने के कारण रक्षित को राज सम्मान प्राप्त हुआ तथा नागरिकों ने हार्दिक स्वागत किया। सभी का भव्य स्वागत स्वीकार करता हुआ रक्षित मां के पास पहुंचा। रुद्रसोमा उस समय सामायिक कर रही थी। उसने आशीर्वाद देकर अपने पुत्र का वर्धापन नहीं किया।

राजसम्मान पाने पर भी मां के आशीर्वाद के बिना जननी-वत्सल रक्षित खिन्न था। उसने सोचा अनेक शास्त्र पढ़ने पर भी मैं मां को तोष नहीं दे सका।[2] सुत के उदासीन मुख को देखकर सामायिक-संपन्नता के बाद रुद्रसोमा बोली "पुत्र! जो विद्या तुझे आत्मबोध नहीं करा सकी उससे क्या? मेरे मन को प्रसन्न करने के लिए आत्म-कल्याणकारी जिनोपदिष्ट दृष्टिवाद का अध्ययन करो।" रक्षित ने चिंतन किया दृष्टिवाद का

---

१. सूर्याश्वयोरिव यमौ तयोः पुत्रौ बभूवतुः।
आर्यरक्षित इत्याद्यो द्वितीयः फल्गुरक्षितः॥६॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ६)

२. धिग्! मयाधीतशास्त्रौघं बहव्यवकरप्रभम्।
येन मे जननी नैव परितोषमवापिता ॥१६॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ६)

नाम सुंदर है। मुझे इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। मां से रक्षित ने दृष्टिवाद के अध्यापनार्थ अध्यापक का नाम जानना चाहा। रुद्रसोमा ने बताया "पुत्र! अगाध ज्ञान के निधि, दृष्टिवाद के ज्ञाता तोषलिपुत्र नामक आचार्य इक्षुवाटिका में विराज रहे हैं।[3] उनके पास जाकर अध्ययन प्रारम्भ करो। तुम्हारी इस प्रवृत्ति से मुझे शांति की अनुभूति होगी।"

मां का आशीर्वाद प्राप्त कर दूसरे दिन प्रातःकाल रक्षित ने इक्षुवाटिका की ओर प्रस्थान किया। नगर के बहिर्भाग में उसे पिता का मित्र वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसके हाथ में ९ इक्षुदण्ड पूर्ण थे। दशवां आधा था। इक्षु का यह उपहार लेकर वह रक्षित से मिलने आ रहा था। संयोगवश मित्र के पुत्र को मार्ग में पाकर वह प्रसन्न हुआ। रक्षित ने उनका अभिवादन किया। पिता के मित्र वृद्ध ब्राह्मण ने प्रीति-वश उसे गाढ़ आलिंगन में बांध लिया। रक्षित ने कहा "मैं अध्ययन करने के लिए जा रहा हूं। आप मेरे बंधुजनों की प्रसन्नता के लिए उनसे घर पर मिलें।" रक्षित ने अनुमान लगाया इक्षुवाटिका की ओर जाते हुए मुझे साढ़े नौ इक्षुदण्ड का उपहार मिला। इस आधार पर मुझे दृष्टिवाद के सार्ध नौ परिच्छेदों की प्राप्ति होगी।[4]

उल्लास के साथ रक्षित इक्षुवाटिका में पहुंचा। डड्ढर श्रावक को वंदन करते हुए देखकर रक्षित ने उसी भांति आचार्य तोषलिपुत्र को वंदन किया। श्रावकोचित क्रिया से अनभिज्ञ नवागन्तुक व्यक्ति को विधियुक्त वंदन करते हुए देखकर आचार्य तोषलिपुत्र ने पूछा "वत्स! तुमने यह विधि कहां से सीखी?" रक्षित ने डड्ढर श्रावक की ओर संकेत किया और अपने आने का प्रयोजन बताया। आचार्य तोषलिपुत्र ने ज्ञानोपयोग से जाना "वज्रस्वामी के बाद यह बालक प्रभावी होगा।" उन्होंने रक्षित को सम्बोधित करते हुए कहा "वत्स! दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए मुनि बनना आवश्यक है।" रक्षित में ज्ञानपिपासा प्रबल थी। वह श्रमण दीक्षा स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गया। आचार्य तोषलिपुत्र ने संयम मार्ग पर बढ़ने के लिए उत्सुक रक्षित को वी. नि. ५४४ (वि. ७४, ई. १७) में भागवती दीक्षा प्रदान की। दीक्षा लेने के बाद मुनि रक्षित ने निवेदन किया "गुरुदेव! मैं राज-पुरोहित सोमदेव का पुत्र हूं। राज-पुरोहित का पुत्र होने के कारण दशपुर नरेश उदायन का और वहां के नागरिकों का मेरे प्रति अनुराग है। मेरे प्रायः पारिवारिक जन जैन संस्कारों से अनभिज्ञ हैं। उनका मोहानुबन्ध सघन है। मेरे मुनि बनने की बात ज्ञात होने पर राजा द्वारा अथवा पारिवारिक-जनों द्वारा बल पूर्वक मुझे घर ले जाने को विवश किया जा सकता है। प्रभो! मेरे कारण किसी प्रकार से जैन शासन की अवमानना न हो, अतः आप शीघ्र अन्यत्र किसी दूसरे क्षेत्र में प्रस्थान करें, यही मेरे लिए आपके लिए श्रेयस्कर है।"

नवदीक्षित मुनि के निवेदन पर आचार्य तोषलिपुत्र ने इक्षुवाटिका से अन्यत्र विहार किया। मुनि रक्षित में आगमों के अध्ययन की तीव्र उत्कंठा थी। आचार्य तोषलिपुत्र ने नवदीक्षित मुनि रक्षित को एकादशांग आगमों का प्रशिक्षण दिया एवं दृष्टिवाद आगम का आंशिक अध्ययन करवाया। अग्रिम अध्ययन के लिये उन्होंने मुनि रक्षित को पूर्वधर आचार्य वज्रस्वामी के पास भेज दिया।

गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर मुनि रक्षित वहां से चले। मार्गान्तरवर्ती अवन्तीनगर में आचार्य भद्रगुप्त से उनका मिलन हुआ। वार्तालाप के प्रसंग में मुनि रक्षित ने कहा मैं अवशिष्ट दृष्टिवाद का एवं पूर्वों का अध्ययन

---

३. ताव चिंतेइ नामं पि चेव सुन्दरं, जइ कोई अज्झावेई अज्झामि, माया वि तोसिया भवई, ताहे भणई, कहिं ते दिट्ठिवायजाणंतगा? सा भणइ अम्हं उच्छुघरे तोसलिपुत्ता नाम आयरिया।
(आवश्यक मलय वृत्ति, पत्रांक ३९४)

४. नवाहं दृष्टिवादस्य पूर्वाण्यध्ययनानि वा।
दशमं खण्डमध्येष्ये दध्यौ यावितिं सोमभूः ॥५४॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३)

करने के लिए आचार्य वज्रस्वामी के पास जा रहा हूँ। आचार्य भद्रगुप्त वज्रस्वामी के विद्यागुरु थे। उन्होंने मुनि रक्षित को स्नेह प्रदान करते हुए कहा "रक्षित! पूर्वों को पढ़ने की तुम्हारी अभिलाषा प्रशंसनीय है। तुम्हारा यहां आना उचित समय पर हुआ है। मेरी मृत्यु निकट है। अनशन की स्थिति में तुम मेरे पास रहकर सहायक बनो। कुलीन व्यक्तियों का यही कर्त्तव्य है।" आचार्य भद्रगुप्त का निर्देश पाकर मुनि रक्षित ने प्रसन्न मन से स्वयं को सेवा में समर्पित कर दिया। परम समाधि में लीन और अनशन में स्थित आचार्य भद्रगुप्त ने एक दिन प्रसन्न मुद्रा में कहा "मैं तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हूँ। तुम्हारी परिचर्या से मुझे क्षुधा एवं तृषा का परीषह अनुभूत नहीं हुआ। मैं तुम्हें मार्गदर्शन दे रहा हूँ तुम वज्रस्वामी के पास पढ़ने के लिए जाओ, परन्तु अपनी भोजन एवं शयन की व्यवस्था पृथक् रखना, क्योंकि आचार्य वज्र की जन्म-कुण्डली का योग है जो भी नवागन्तुक उनकी मंडली में भोजन करेगा और उनके पास रात्रि शयन करेगा, वह उनके साथ मृत्यु को प्राप्त होगा। तुम शासन के प्रभावक आचार्य बनोगे, संघाधार बनोगे, इसीलिए मैं तुम्हें यह परामर्श दे रहा हूँ।"

मुनि रक्षित ने शीश झुकाकर अत्यन्त विनीत भाव से आचार्य भद्रगुप्त के मार्गदर्शन को स्वीकार किया। समाधिपूर्ण अवस्था में आचार्य भद्रगुप्त के स्वर्गगमन के पश्चात् मुनिरक्षित ने वज्रस्वामी की दिशा में अध्ययनार्थ प्रस्थान किया। वहां पहुंचते ही आचार्य वज्रस्वामी के पास न जाकर उन्होंने रात्रि में अपनी सोने की व्यवस्था अलग की। आचार्य वज्रस्वामी ने ढलती रात में स्वप्न देखा नवागन्तुक पथिक आकर दूध से भरा कटोरा पी गया है परन्तु उसमें कुछ पेय अवशेष रह गया है। प्रातःकाल आचार्य वज्रस्वामी ने अपने शिष्यों से स्वप्न की बात कही। वार्तालाप का यह प्रसंग पूर्ण नहीं हुआ तभी एक अपरिचित अतिथि ने आकर वज्रस्वामी को वन्दन किया। आचार्य वज्रस्वामी ने पूछा "तुम कहां से आ रहे हो?" मुनि रक्षित बोले, "मैं आचार्य तोषलिपुत्र के पास से आ रहा हूँ।" दूरदर्शी, सूक्ष्मचिन्तक आचार्य वज्रस्वामी ने कहा "तुम मुनि रक्षित हो? अवशिष्ट पूर्वों का ज्ञान करने के लिये मेरे पास आए हो? तुम्हारे उपकरण, पात्र कहां हैं? उनको यहीं ले आओ। यहां आहार-पानी की व्यवस्था करके अध्ययन प्रारम्भ करो। पृथक् रहने से पूर्वों का अध्ययन कैसे कर पाओगे?" मुनिरक्षित ने आचार्य भद्रगुप्त द्वारा प्रदत्त मार्ग-दर्शन को बताया और अपनी पृथक् रहने की व्यवस्था भी बता दी। वज्रस्वामी ने ज्ञानोपयोग से समग्र स्थिति को जाना और आचार्य भद्रगुप्त के निर्देशानुसार उनके पृथक् रहने की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

दृष्टिवाद का पाठ विविध भंगों, पर्यायों एवं गंभीर शब्दों के प्रयोग से अत्यन्त दुर्गम था। मुनिरक्षित ने स्वल्प समय में ही इसके २४ यव पढ़ लिये। उनकी अध्ययनशीलता और ज्ञान ग्रहण की क्षमता अद्भुत थी।

इधर दशपुर में रुद्रसोमा को पुत्र की स्मृति बाधित करने लगी। उसने सोचा, घर से दीपक की तरह प्रकाश करने वाला पुत्र चला गया। इससे सारा वातावरण अंधकारमय हो गया है। सोमदेव से परामर्श करके रुद्रसोमा ने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित से कहा "पुत्र! मेरा संदेश लेकर ज्येष्ठ भ्राता के पास जाओ। उनसे कहना "भ्रात! आपने संसार का मोह त्याग दिया है, परन्तु माता-पिता का आपके प्रति मोह है। जननी रात-दिन आपको याद करती है। उन्होंने आपके लिए संदेश भेजा है। तीर्थंकर महावीर ने मातृ भक्ति को प्रधान माना था। उन्होंने गर्भावास में ही माता-पिता के रहते हुए दीक्षा न लेने की प्रतिज्ञा कर माता के प्रति अपूर्व भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया। सन्त श्रेष्ठ! आपका घर से अनुबन्ध नहीं है पर मां के द्वारा किए गए उपकार का स्मरण करते हुए आप एक बार अवश्य दशपुर पधारें। पिता के सम्मुख कृतज्ञ भाव प्रकट करें और माता का आशीर्वाद लें।"

फल्गुरक्षित मां का आदेश प्राप्त कर वहां से चले। मुनिरक्षित के पास पहुंचे। मां की भावना को उनके

सम्मुख रखते हुए बोले "मुने! मां आपके वियोग में दुःखी है। आपके दर्शनों के लिए लालायित है। सोते-जागते, उठते-बैठते आपके नाम का स्मरण करती है। उन्होंने आपको बुलाया है। आप घर चलें और जननी की भावना को पूर्ण करें। आपके दर्शन से मां को, पिताजी को और परिवार वालों को असीम खुशी होगी। आपका उपदेश सुनकर वे भी इस पथ का अनुसरण कर सकते हैं। मुनि बनने के लिए एक भी व्यक्ति तैयार हुआ तो यह उपकार का काम होगा।"

बन्धु की बात सुनकर मुनि रक्षित शांत और धीमे स्वर में बोले "फल्गुरक्षित! मोह बन्धन का कारण है। बन्धन दुःख है। बन्धनमुक्त होने के लिए अध्यात्मपथ का अनुसरण करना आवश्यक है। तुम्हारा मेरे प्रति मोह है और सच्चा प्रेम है तो मेरे पथ का अनुसरण करो। माता-पिता के दीक्षित होने की बात कहते हो तो पहले तुम मुनि बन जाओ।"

मुनिरक्षित के उपदेश से फल्गुरक्षित दीक्षित हो गए। मुनिचर्या के नियमों का सजगता से पालन करते, जब ये दोनों बन्धु एकांत में मिलते, मुनि फल्गुरक्षित जननी को दर्शन देने की बात मुनिरक्षित को याद करा देते थे। बंधु द्वारा बार-बार मां की प्रार्थना सुनने से मुनिरक्षित के विचारों में मोड़ आया। चिंतन की धारा बदली। दशपुर जाने की भावना बन गई।

पूर्वों का अध्ययन करते हुए मुनिरक्षित ने आचार्य वज्रस्वामी से पूछा "भगवन्! अध्ययन कितना अवशिष्ट है?" आचार्य वज्रस्वामी गंभीर होकर बोले "यह प्रश्न पूछने से तुम्हें क्या लाभ है? तुम दत्तचित होकर पढ़ते रहो।" कई दिन के बाद पुनः यही प्रश्न मुनिरक्षित ने आचार्य वज्रस्वामी से पूछा। मुनिरक्षित के मन को समाहित करते हुए आचार्य वज्र बोले "वत्स! तुम सर्षप मात्र पढ़े हो; मेरु जितना शेष है। तुम मोहवश पूर्वों के अध्ययन को छोड़ने की सोच रहे हो यह कांजी के बदले क्षीर का, लवण के बदले कर्पूर का, कुसुम के बदले कुंकुम का, गुंजाफल के बदले स्वर्ण का परित्याग करने जैसा है।" गुरु से प्रतिबोध पाकर मुनिरक्षित पुनः अध्ययन में स्थिर हुए और नवपूर्वों का पूर्ण भाग एवं दसवें पूर्व का अर्धभाग उन्होंने सम्पन्न कर लिया। अध्ययन के अंतराल काल में मुनि फल्गुरक्षित पुनः-पुनः ज्येष्ठ भ्राता को माता-पिता की स्मृति कराते रहते थे। दृष्टिवाद के अथाह ज्ञान को ग्रहण करते हुए एक दिन मुनिरक्षित का धैर्य डोल उठा। उन्होंने वज्रस्वामी से निवेदन किया "आप मुझे दशपुर जाने का आदेश दें, मैं शेष अध्ययन के लिए शीघ्र ही लौटकर आने का प्रयास करूंगा।" आचार्य वज्र ने ज्ञानोपयोग से जाना मेरा आयुष्य कम है। मुनिरक्षित का मेरे से पुनर्मिलन असंभव है। दूसरा कोई व्यक्ति दृष्टिवाद को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। दसवां पूर्व मेरे तक ही सुरक्षित रह पाएगा। ऐसा प्रतीत हो रहा है।

आचार्य वज्र ने मुनिरक्षित से कहा "वत्स! परस्पर उच्चावच्च व्यवहार के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' है। तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो। तुम्हारा मार्ग शिवानुगामी हो!" इतना कहकर वज्रस्वामी मौन हो गए। गुरु का आदेश प्राप्त कर तथा उन्हें वंदन कर मुनिरक्षित फल्गुरक्षित के साथ वहां से चले।

संयमपूर्वक यात्रा करते हुए बन्धु सहित मुनिरक्षित पाटलिपुत्र पहुंचे। दीक्षा प्रदात्ता आचार्य तोषलिपुत्र से प्रसन्नतापूर्वक मिले एवं उनसे सार्ध नौ पूर्वों के अध्ययन की बात कही। आचार्य तोषलिपुत्र ने सार्ध नौ पूर्वधर मुनिरक्षित को सर्वथा योग्य समझकर आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति की।[५]

आचार्य आर्यरक्षित ने दशपुर की ओर विहार किया। मुनि फल्गुरक्षित ने आगे जाकर मां को आचार्य आर्यरक्षित के आगमन की सूचना दी। ज्येष्ठ पुत्र के

५. श्रीमत्तोसलिपुत्राणां मिलितः परया मुदा।
पूर्वाणां नवकं सार्द्धं संगृहीती गुणोदधिः ॥११७॥
तं च सूरिपदे न्यस्य गुरवोऽगुः परं भवम्।
अथार्यरक्षिताचार्यः प्रायाद् दशपुरं पुरम् ॥११८॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक १२)

दर्शनार्थ उत्कंठित जननी रुद्रसोमा पुत्रागमन की प्रतीक्षा कर रही थी। आचार्य आर्यरक्षित आ गए।

बिना सूचना दिए अपने पुत्रों का यह आगमन पिता सोमदेव को अच्छा नहीं लगा। वे चाहते थे दोनों पुत्रों का नगर-प्रवेश भारी उत्साह के साथ होता। सोमदेव ने विशेष स्वागतार्थ दोनों पुत्रों को नगर के बाह्य उद्यान में लौटने को कहा पर आचार्य आर्यरक्षित ने इस बात को स्वीकार नहीं किया।

पिता सोमदेव का दूसरा प्रस्ताव था "पुत्र! श्रमणवेश को छोड़कर गृहस्थाश्रम में रहो और रूप-यौवन-संपन्ना योग्य कन्या के साथ महोत्सवपूर्वक श्रौत विधि से विवाह कर परिवार का कुशलतापूर्वक संचालन करो। तुम्हारी माता को इससे आनन्द प्राप्त होगा। गृहस्थ जीवन की गाड़ी को वहन करने के लिए तुम्हें धनोपार्जन की चिंता नहीं करनी होगी। दशपुर नरेश की कृपा से सात पीढ़ी सुख से रह सकें इतना द्रव्य मेरे पास है।"

अध्यात्म-साधना में रत आचार्य आर्यरक्षित ने राजपुरोहित पिता सोमदेव को उद्‌बोधन देते हुए कहा "विप्रवर! आप शास्त्रों का भार वहन कर रहे हो। अपने जीवन के यथार्थ को नहीं पहचाना। जन्म-जन्म में माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पत्नी, सुता आदि अनेक बार ये संबंध हुए हैं, इनमें क्या आनंद है? राजप्रसाद को भृत्य रूप में रहकर अर्जित किया है, इसमें किस बात का गर्व? अर्थ-संपदा अनर्थ की जननी है, बहुत उपद्रवकारिणी है। मनुष्य-जन्म रत्न की तरह दुष्प्राप्य है। गृहमोह में फंसकर विज्ञ मनुष्य इसको खोया नहीं करते। मेरा दृष्टिवाद का अध्ययन अभी पूर्ण नहीं हुआ है, मैं यहां कैसे रुक सकता हूँ? आपका मेरे प्रति सच्चा अनुराग तभी समझूंगा जब आप भी संयम पथ का अनुगमन करेंगे।"

आचार्य आर्यरक्षित की धीर-गंभीर वाणी को सुनकर राजपुरोहित परिवार प्रतिबुद्ध हुआ एवं श्रमण धर्म में दीक्षित हुआ। सोमदेव का दीक्षा संस्कार आपवादिक था। उन्होंने छत्र, जनेऊ, कौपीन एवं पादुका का अपवाद रखा। आचार्य आर्यरक्षित मुनि सोम को इन अपवादों से मुक्त कर जैन-विहित संयम विधि में स्थित करने के लिए प्रयत्नशील बने।

एक बार मुनि सोमदेव श्रमणों के साथ कहीं जा रहे थे। आचार्य आर्यरक्षित के संकेतानुसार मार्गवर्ती बालकों ने कहा "छत्रधारी के अतिरिक्त सब मुनियों को हम वन्दन करते हैं।" सोमदेव मुनि ने इसे अपना अपमान समझा और छत्र धारण करना छोड़ दिया। इसी तरह कौपीन के अतिरिक्त अन्य उपकरण भी छोड़ दिए। कौपीन त्याग की चर्चा के प्रसंग पर सोमदेव मुनि ने कहा

नग्नो न स्यामहं यूयं मा वन्दध्वं सपूर्वजाः।
स्वर्गोऽपि सोऽस्य मा भूयाद् यो भावी भवदर्चनात् ॥१६८॥
(प्रभा. च. पृ. १४)

"मुझे तुम वंदन भले न करो और तुम्हारी अर्चा से प्रापणीय स्वर्ग की उपलिब्ध भी भले न हो, मैं नग्नत्व को स्वीकार नहीं करूंगा।"

इस प्रसंग से ज्ञात होता है सोमदेव मुनि ने कौपीन का परित्याग लंबे समय के बाद किया। सोमदेव मुनि भिक्षा लेने नहीं जाते थे। आचार्य आर्यरक्षित के निर्देशानुसार एक दिन मुनियों ने उन्हें भोजन के लिए निमंत्रण नहीं दिया। सोमदेव मुनि कुपित हुए। पिता की परिचर्या के लिए आचार्य आर्यरक्षित स्वयं भिक्षाचरी के लिए उठे। सोमदेव मुनि ने आचार्य आर्यरक्षित से निवेदन किया "आप आचार्य हैं। धर्मसंघ की धुरा के संवाहक हैं। आचार्य गोचरी करें और मैं न करूं, यह लोक व्यवहार में उचित नहीं है, अतः आप मुझे आज्ञा प्रदान करें। मैं स्वयं गोचरी के लिए जाऊंगा।"

आर्यरक्षित ऐसा ही चाहते थे। वे मौन हो गए। सोमदेव मुनि आर्यरक्षित से आज्ञा प्राप्त कर भिक्षाचरी के लिए चले। एक सम्पन्न श्रेष्ठी के द्वार पर पहुंचे। घर में पीछे के द्वार से उन्होंने प्रवेश किया। सोमदेव मुनि को चोर पथ से आते देख श्रेष्ठी कुपित हुआ। सोमदेव मुनि बुद्धि के धनी थे, वाक्पटु थे। उन्होंने तत्काल कहा श्रेष्ठी! लक्ष्मी का आगमन पीछे के द्वार से ही

होता है। मधुरवाणी में वातावरण को बदल देने की क्षमता होती है। विवेकपूर्वक बोला गया एक वाक्य भी विष को अमृतमय बना देता है। सोमदेव मुनि के सुमधुर शब्दों के प्रयोग से श्रेष्ठी के क्रोध का पारा उतर गया। वह मुनि पर प्रसन्न हुआ। श्रेष्ठी मुनि सोमनाथ को भक्तिभावपूर्वक अपने घर में ले गया और बत्तीस मोदकों का दान दिया। सोमदेव मुनि धर्मस्थान पर आए। मोदकों से भरा पात्र आर्यरक्षित के सामने रख दिया। सोमदेव मुनि का मन अत्यंत प्रसन्न था।

आगम-विहित संयम विधि में सोमदेव मुनि को स्थिर देखकर आर्यरक्षित का मन प्रसन्न था। प्रसन्नता के इन क्षणों में आर्यरक्षित से दिशा निर्देश प्राप्त कर सोमदेव मुनि ने अपने हाथ से तत्रस्थ सब मुनियों को मोदक दिये, और दान धर्म का लाभ प्राप्त किया।

आर्यरक्षित और मुनि सोमदेव का यह प्रसंग आगम के व्याख्या ग्रंथों में है।

आचार्य आर्यरक्षित का युगप्रधान काल वी. नि. ५८४ (वि. ११४, ई. सन् ५७) से प्रारम्भ होता है। आर्यरक्षित का युग विचारों का संक्रमण काल था। पुरातन परम्पराओं के प्रति जनमानस में आस्थाएं डगमगा रही थीं।

"मुझे स्वर्ग की उपलब्धि भले न हो, मैं नग्नत्व को स्वीकार नहीं करूंगा।" पूर्वधर आर्यरक्षित के सामने पिता सोमदेव मुनि के ये शब्द प्राचीन नग्नत्व परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह का संकेत था।

आचार्य आर्यरक्षित स्थितिपालक नहीं थे। वे स्वस्थ परम्परा के पोषक थे। वे क्रांतिकारी विचारों के समर्थक थे। उन्होंने चतुर्मास की स्थिति में दो पात्र रखने की प्रवृत्ति स्वीकार कर नई परम्परा को जन्म देने का साहस किया।[६] उनके शासनकाल में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनुयोग व्यवस्था का हुआ। आगम-वाचना का यह विशिष्ट एवं नया क्रम था। इससे पहले आगमों का अध्ययन समग्र नयों एवं चारों अनुयोगों के साथ होता था। अध्ययन क्रम की यह जटिल व्यवस्था थी। अस्थिरमति शिष्यों का धैर्य डगमगा जाता था। आचार्य आर्यरक्षित के युग में अध्ययन की नई व्यवस्था प्रारम्भ हुई। इसके मुख्य हेतु विंध्य मुनि बने। विंध्य मुनि प्रतिभा संपन्न, शीघ्रग्राही मनीषा के धनी थे। आचार्य आर्यरक्षित द्वारा प्रदत्त आगम-वाचना को विंध्य मुनि तत्काल ग्रहण कर लेते थे। उनके पास अग्रिम अध्ययन के लिए पर्याप्त समय अवशिष्ट रह जाता। आचार्य आर्यरक्षित से विंध्य मुनि ने प्रार्थना की "आर्यदेव! मेरे अध्ययन की पृथक् व्यवस्था करने की कृपा करें।" आचार्य आर्यरक्षित ने इस कार्य के लिए मेधावी दुर्बलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया। कुछ समय के बाद अध्यापनरत दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आचार्य आर्यरक्षित से निवेदन किया "प्रभो! आर्य विंध्य को आगम-वाचना देने से मेरे कंठस्थ पाठ के पुनरावर्तन में बाधा पहुंचती है। इससे मेरा अधीत पूर्व ज्ञान विस्मृत हो जाएगा।"

शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के इस निवेदन पर आर्यरक्षित ने सोचा मेधावी शिष्य की यह स्थिति है। आगम-वाचना प्रदान करने मात्र से अधीत ज्ञान विस्मरण की संभावना है। ऐसी स्थिति में आगम ज्ञान का सुरक्षित रहना कठिन है।

दूरदर्शी आर्यरक्षित ने समग्रता से चिंतन कर अध्ययन की जटिल व्यवस्था को सरल बनाने हेतु आगम अध्ययन क्रम को चार अनुयोगों में विभक्त किया।[७] इस महत्त्वपूर्ण अनुयोग पद्धति की स्थापना का कार्य द्वादश वर्षीय दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद दशपुर में वी. नि. ५९२ (वि. सं. १२२) के आसपास सम्पन्न हुआ।

सीमंधर स्वामी द्वारा इंद्र के सामने निगोद व्याख्याता

---

६. व्यवहार-चूर्णि, उद्देशो ८

७. देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खियअज्जेहिं।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो ता कओ चउहा ॥७७४॥
(आ. नि. मलय वृत्ति भाग २, पृ. ३९१)

के रूप में आर्यरक्षित की प्रशंसा, मथुरा में आर्यरक्षित की आगम-ज्ञान की गहराइयों को जानने के लिए इन्द्रदेव का वृद्ध रूप में आगमन, रूप परिवर्तित वृद्ध की हस्तरेखा देखकर आर्यरक्षित द्वारा देव होने की घोषणा तथा निगोद की सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर सुरेन्द्र द्वारा मुनीन्द्र के ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा, जाते समय अन्य मुनियों की जानकारी हेतु वातावरण में सुगंधित पदार्थों का विकीर्णन तथा उपाश्रय द्वार के दिक् परिवर्तन तक की समग्र घटना का विस्तार से आवश्यक निर्युक्ति मलयवृत्ति में उल्लेख है।[८] पन्नवणा सूत्र के रचनाकार श्यामाचार्य के साथ इसी प्रकार की घटना अधिक प्रसिद्धि प्राप्त है, अतः इसे आचार्य श्याम के जीवन प्रसंग में ससंदर्भ निबद्ध कर दिया गया है।

आर्यरक्षित के पास योगसाधक शिष्यों की प्रभावक मंडली थी। तीन पुष्यमित्र उनके शिष्य थे दुर्बलिका पुष्यमित्र, घृत पुष्यमित्र एवं वस्त्र पुष्यमित्र। तीनों शिष्य लब्धि-सम्पन्न थे[९] आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ध्यानयोग के विशिष्ट साधक थे।

आर्यरक्षित का प्रमुख विहार-क्षेत्र अवन्ति, मथुरा एवं दशपुर (मंदसौर) के आसपास का क्षेत्र था। उनके जीवन की विशेष घटनाएं इन्हीं नगरों से संबंधित हैं।

आर्यरक्षित विविध क्षमताओं से संपन्न थे। वे आगम-ज्ञान के अक्षयकोष थे। आगम-वाचना के लिए अनुयोग व्यवस्था की स्थापना आर्यरक्षित की जैन समाज को विशिष्ट देन है। आवश्यक निर्युक्ति में आर्यरक्षित को देवेन्द्र पूजित एवं अनुयोग-व्यवस्थापक बताया गया है।

समय-संकेत

आचार्य आर्यरक्षित २२ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। उनका सामान्य मुनि जीवन ४० वर्ष का था। संयमी जीवन के कुल ५३ वर्ष के काल में १३ वर्ष तक वे युगप्रधानाचार्य पद पर रहे। उनका ७५ वर्ष की आयु में वी. नि. ५९७ (वि. १२७ ई. सन् ७०) में स्वर्गगमन हुआ।[१०] यह क्रम 'विचार श्रेणी' में प्राप्त युगप्रधान पट्टावली के आधार पर है। वल्लभी युग प्रधान पट्टावली में आर्यरक्षित का स्वर्गगमन वी. नि. ५८४ (वि. सं. ११४, ई. ५७) में मान लिया गया है।

आचार्य काल
(वी. नि. ५८४-५९७)
(वि. सं. ११४-१२७)
(ई. ५७-७०)

८. (क) आवश्यक मलयवृत्ति, पत्रांक ४००।
(ख) इत्थ भूयघरे ठिआ निगोयवत्तव्वयं निवाउपरिमाणं च पुच्छिय तुट्ठचित्तेण सक्केण अज्जरक्खिअसूरी वंदिआ उवस्सयस्स य अन्नओहुत्तं दारं कयं।
(विविधतीर्थ कल्प, पृ. १९)

९. इत्थ वत्थपूसमित्तो घयपूसमित्तो दुब्बलियापूसमित्तो य लद्धिसंपन्ना विहरिया।
(विविधतीर्थ कल्प, पृ. १९)

१०. दुस्सम-काल-समण-संघत्थव 'युग प्रधान' पट्टावली।

३३. दुरितनिकन्दन आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र स्वाध्याय योग और ध्यानयोग के विशिष्ट साधक थे। वे कृशकाय और अतुल बुद्धि के स्वामी थे। सार्ध नौ पूर्वधर आचार्य रक्षित से उन्होंने ९ पूर्वों का अध्ययन किया एवं पूर्वधर परम्परा में स्थान पाया।

गुरु-परम्परा

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के गुरु पूर्वधर आचार्य आर्यरक्षित थे। आचार्य आर्यरक्षित के दीक्षा गुरु आचार्य तोषलिपुत्र थे एवं पूर्वों के प्रदाता आचार्य वज्रस्वामी उनके विद्यागुरु थे। आचार्य तोषलिपुत्र को आचार्य सुहस्ती की परम्परा का स्थविर माना गया है। इस आधार पर दुर्बलिका पुष्यमित्र की गुरु-परम्परा आचार्य सुहस्ती की परम्परा से संबंधित है।

जीवन-वृत्त

दुर्बलिका पुष्यमित्र धृतिधर, कष्टसहिष्णु, मेधावी श्रमण थे। इनका जन्म वी. नि. ५५० (वि. ८० ई. सन् २३) में हुआ। उनके गृहस्थ जीवन संबंधी अन्य सामग्री अनुपलब्ध है। संयमी जीवन में प्रवेश पाने के बाद दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आचार्य आर्यरक्षित के पास आगमों एवं पूर्वों का अध्ययन किया। शास्त्रों के अनवरत गुणन-मनन, पुनरावर्तन में दत्तचित्तता एवं प्रबल ध्यान साधना के परिणामस्वरूप उनका शरीर अत्यंत कृश था। दुर्बलिका पुष्यमित्र उनका यह नाम कृशकाय होने के कारण था।

एक बार बौद्ध भिक्षु आचार्य आर्यरक्षित के पास आए। प्रभावक चरित के अनुसार बौद्ध उपासक आये थे।[1] उन्होंने बौद्धों की उच्चतम ध्यान प्रणाली की प्रशंसा की और कहा 'हमारे संघ में विशिष्ट ध्यान साधक भिक्षु हैं, आपके संघ में ध्यान साधना का विकास नहीं है।'

आचार्य आर्यरक्षित ने कहा 'जैन परम्परा में ध्यान साधना का समुचित क्रम है।' उन्होंने दुर्बलिका पुष्यमित्र को लक्षित कर कहा 'इस शिष्य के वपुः दौर्बल्य का निमित्त ध्यान साधना ही है।[2] यह दुर्बलिका पुष्यमित्र अप्रमत्त भाव से ध्यान साधना में रत रहता है।'

बौद्ध उपासकों को आचार्य आर्यरक्षित के कथन पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कहा, 'मुनि की कृशता का कारण स्निग्धाहार का अभाव है। आपको गरिष्ठ भोजन की उपलब्धि नहीं होती।'

बौद्ध उपासकों की शंका के समाधान के लिए आचार्य आर्यरक्षित ने घृत पुष्यमित्र और वस्त्र पुष्यमित्र का परिचय देते हुए कहा 'इन शिष्यों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संबंधित चारों प्रकार की घृतलब्धि और वस्त्रलब्धि प्राप्त है।[3] ये श्रमण लब्धियों के प्रभाव से घृत और वस्त्र संबंधी सामग्री को पर्याप्त रूप में लाकर समग्र संघ की आवश्यकता को पूरी करने में समर्थ हैं।'

दोनों शिष्यों की क्षमता को उदाहरण के द्वारा समझाते हुए आचार्य आर्यरक्षित बोले, मथुरा देश की एक अनाथ कृपण महिला अपने हाथ से कपास को बीनकर वस्त्र बनाती है और उनके विक्रय से अपनी आजीविका चलाती है। श्रमण वस्त्र पुष्यमित्र वर्षा,

---

१. सौगतोपासकास्ते च सूरिपार्श्वे समाययुः ॥२२०॥
(प्रभावकचरित, पृ. १६)

२. ताणि भणंति अम्हं भिक्खुणो झाणपरा, तुज्झं झाणं नत्थि, आयरिया भणंति अम्हं चेव झाणं, ...दुब्बलिपुसमित्तो सो झाणेणं चेव दुब्बलो।
(आवश्यक मयलवृत्ति, पत्रांक ३६८)

३. तत्रायपुष्यमित्रस्य लब्धिरासीच्चतुर्विधा।
द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालतो भावतस्तथा ॥२०६॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६)

शिशिर और हेमन्त जैसे शीत मौसम में इस कृपण महिला के घर पर चला जाए तो वह अति हर्ष से सारे वस्त्र मुनि वस्त्र पुष्यमित्र को देने के लिए उद्यत हो जाती है।

अवन्ति प्रदेश की गर्भिणी निकट प्रसवा महिला ने छह मास के श्रम से घृत का संचय किया है। वह इतनी कृपण है कि क्षुधातुर पति द्वारा घृत मांगने पर भी उसे खाने की नहीं देती। वही महिला जेठ आषाढ़ जैसी घृत प्राप्ति की कठिन मौसम में भी लब्धिधर घृत पुष्यमित्र को तीव्र भाव से सारा संचित घृत देने को तैयार हो जाती है।[४]

लब्धिधर इन समर्थ मुनियों के होते हुए भी संघ में पौष्टिक भोजन के अभाव की कल्पना भ्रांति मात्र है। शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र को पौष्टिक भोजन पर्याप्त रूप से प्राप्त है।[५] वह ध्यानाग्नि की तीव्रता के कारण कृशकाय है। इसकी विश्वसनीयता के लिए इन्हें अपने स्थान में रखकर परीक्षा कर सकते हैं।[६]

श्रमण दुर्बलिका पुष्यमित्र गुरु के आदेश से बौद्ध उपासकों के साथ गये। बौद्ध उपासकों ने अपने स्थान पर शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना और आहार विधि का समग्रता से कई दिन तक अवलोकन किया। अति-स्निग्ध भोजन को ग्रहण करने पर भी कृशकाय मुनि दुर्बलिका पुष्यमित्र का शरीर दिन-प्रतिदिन अधिक कृश हो गया। भस्म में प्रक्षिप्त घृत की भांति रस परिणत आहार उनके शरीर में अरस परिणत सिद्ध होता।[७] इसका कारण उनके शरीर में पाचन शक्ति की दुर्बलता नहीं, पर स्वाध्याय, ध्यानरत दुर्बलिका पुष्यमित्र द्वारा अनास्वाद वृत्ति से भोजन का ग्रहण था। बौद्ध उपासकों को दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना से अंतःतोष हुआ।

आचार्य आर्यरक्षित के घृत पुष्यमित्र के अतिरिक्त अन्य चार और प्रमुख शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विंध्य, गोष्ठामाहिल।[८] दुर्बलिका पुष्यमित्र विनय, धृति आदि गुणों से सम्पन्न थे। आचार्य आर्यरक्षित की इन पर विशेष कृपा थी।

मेधावी फल्गुरक्षित आचार्य आर्यरक्षित के लघु सहोदर थे। गोष्ठामाहिल तार्किक एवं वादी मुनि थे। घृत पुष्यमित्र एवं वस्त्र पुष्यमित्र श्रमण परिषद् के अलंकार थे।

एक बार श्रमण परिवार परिवृत आचार्य आर्यरक्षित दशपुर में विहरण कर रहे थे। मथुरा में अक्रियावादी अपना प्रभुत्व स्थापित करने लगे। आचार्य आर्यरक्षित ने उनके प्रभाव को प्रतिहत करने के लिए शास्त्रार्थ-कुशल गोष्ठामाहिल को वहां भेजा। उनके वाक्-कौशल का अमित प्रभाव मथुरा के नागरिकों पर हुआ। श्रावकों ने वादजयी मुनि के पावस काल की विशेष मांग आचार्य देव के सामने प्रस्तुत की। जैन शासन की विशेष प्रभावना की संभावना का चिंतन कर आचार्य आर्यरक्षित ने गोष्ठामाहिल को मथुरा में चातुर्मासिक प्रवास करने का आदेश दिया।

आचार्य आर्यरक्षित का यह चतुर्मास दशपुर में था। इस चतुर्मास में उनके सामने भावी उत्तराधिकारी की

---

४. द्रव्यतो घृतमेव स्यात् क्षेत्रतोऽवनिमण्डलम्।
ज्येष्ठाषाढे कालतस्तु भावतोऽथ निगद्यते ॥२१०॥
दुर्गता ब्राह्मणी षड्भिर्मासैः प्रसवधर्मिणी।
तद्भर्तेति विमृश्याज्यं भक्षित्वा संचये दधौ ॥२११॥
ततः सा प्रसवे जाताऽतीने क्षुद्व्याधितं द्विजम्।
तद् घृतं याचमानं तं रुणद्धयन्यनिराशया ॥२१२॥
स मुनिश्छेदयेत दत्ते तदपि सा मुदा।
यावद्गच्छोपयोग्यं स्यात् तावदाप्नोति भावतः ॥२१३॥
(प्रभावक चरित, पृ. ९६)

५. दुर्बलः पुष्यमित्रोऽपि यथालब्धं घृतं घनम्।
भुनक्ति स्वेच्छयाऽभीक्ष्णं पाठाभ्यासात् तु दुर्बलः ॥२१८॥
(प्रभावक चरित, पृ. ९६)

६. स्वजना व्यमृशन्नस्य भुक्तं भस्मनि होमवत्।
ददुर्बहुतरं ते च ततोऽप्यस्य न किंचन ॥२२८॥
(प्रभावक चरित, पृ. ९६)

७. तत्थ य गच्छे चत्तारि जणा पहाणा, सो चेव दुब्बलियपूसमित्तो विंझो फग्गुरक्खितो गोट्ठमाहिलोति।
(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्रांक ३९८)

नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। आचार्य पद के लिए आचार्य आर्यरक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को योग्य समझा।[८] उस समय का श्रमण वर्ग भी इस विषय में जागरूक था। उन्होंने मेधावी मुनि फल्गुरक्षित और वादजयी मुनि गोष्ठामाहिल का नाम रखा।[९]

आचार्य का दायित्व श्रमण संघ को अधिक से अधिक तोष प्रदान करना है। श्रमणों की जिज्ञासा को समाहित करने के लिए तीन कलशों का दृष्टांत देते हुए आचार्य आर्यरक्षित बोले "सुविज्ञ श्रमणो! कल्पना करो.....एक कलश उड़द धान्य से, दूसरा कलश तेल से, तीसरा कलश सघन घृत से पूर्ण भरा हुआ है। तीनों कलशों के उलटने (औंधा) का क्या परिणाम होगा?" संघ हितैषी श्रमणों ने नम्र होकर कहा, "पहला कलश पूर्ण रिक्त हो जाएगा। दूसरे कलश में तेल अल्प मात्रा में एवं तीसरे कलश में घृत अत्यधिक मात्रा में कलश के भीतर ही रह जायेगा।"

दृष्टांत को शिष्यों पर घटित करते हुए आचार्य आर्यरक्षित मधुर एवं गंभीर शब्दों में समझाने लगे, 'शिष्यो! उड़द धान्य से भरे प्रथम कलश की भांति मैं अपना संपूर्ण ज्ञान दुर्बलिका पुष्यमित्र में निहित किया है। फल्गुरक्षित द्वितीय कलश के समान एवं गोष्ठामाहिल तृतीय कलश के समान ही मेरे से अल्प ज्ञान राशि ग्रहण कर पाए हैं।'"[१०]

सुविनीत, श्रद्धानिष्ठ, चिंतनशील श्रमणों ने आचार्य आर्यरक्षित के विचारों की गहराई को समझा। उनको समाधान मिल गया।

आचार्य आर्यरक्षित की सूझ-बूझ से निर्विरोध वातावरण तैयार हुआ। आचार्य-पद की नियुक्ति के लिए यह सर्वथा उचित समय जानकर आचार्य आर्यरक्षित ने शिष्य समुदाय को संबोधित करते हुए कहा "शिष्यो! सूत्रागम और अर्थागम के ज्ञाता दुर्बलिका को मैं आचार्य पद पर मनोनीत कर रहा हूँ।" धर्मसंघ को आचार्य के निर्विरोध निर्णय से प्रसन्नता हुई।

आचार्य आर्यरक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को प्रशिक्षण दिया 'आर्य! मैंने फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल को विशेष सम्मान दिया है, तुम भी इन्हें इसी प्रकार सम्मान से रखना।' श्रमणों को भी आचार्य के प्रति कर्त्तव्य-बोध का पथ-दर्शन दिया। समग्र संघ को समुचित शिक्षाएं देकर आचार्य आर्यरक्षित गण-चिंता से मुक्त हो गए। उनका उसी वर्ष स्वर्गवास हो गया। आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने वी. नि. ५६७ (वि. १२७, ई. ७०) में संघ का दायित्व संभाला।

गोष्ठामाहिल को आचार्य आर्यरक्षित के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त हुई। मन में संघ की भावी व्यवस्था के संबंध में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उठने लगे। पावस की पूर्णता के बाद गोष्ठामाहिल ने मथुरा से विहार किया। मार्गवर्ती लोगों ने पूछा "गणधारक कौन हैं?" उत्तर में सभी के द्वारा दुर्बलिका पुष्यमित्र का नाम सुनकर गोष्ठामाहिल का मन खिन्न हुआ। दशपुर पहुंचने के बाद संघ में सम्मिलित न होकर गोष्ठामाहिल ने अपने रहने की पृथक् व्यवस्था की। श्रमणों एवं श्रावकों ने गोष्ठामाहिल को संघ में सम्मिलित रहने के लिए प्रेरित किया और नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया परन्तु गोष्ठामाहिल ने किसी के कथन का समादर नहीं दिया।

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र शिष्यों को आगम वाचना देते। गोष्ठामाहिल उसमें सम्मिलित न होकर

---

८. आर्यरक्षितसूरिश्च व्यमृशत् कः पदोचितः।
दुर्बलः पुष्यमित्रोऽयं तद्विचारे समागमत् ॥२६४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७)

९. जो पुण से सयणवग्गो तेसिं गोट्ठमाहिलो फग्गुरक्खितो य अभिमतो।
(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्रांक ४००)

१०. दुब्बलियापूसमित्तं ठवित्ता सुत्तत्थतदुभएसु निप्फावकुडसमाणो अहं जातो, फग्गुरक्खियं ठवित्ता तेल्लकुडसमाणो, गोट्ठामाहिलं ठवित्ता घयकुडसमाणो, अतो मम।
(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्रांक ४००)

विन्ध्य द्वारा दी जाने वाली आगम वाचना में उपस्थित रहता और उनसे अर्थागम-वाचना ग्रहण करता। कर्म प्रवाद पूर्व की वाचना देते समय मुनि विंध्य ने कर्मबंध की बद्ध, स्पृष्ट और बद्ध-स्पृष्ट इन तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश के बन्ध की व्यवस्था के साथ बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशम, निधत्ति, निकाचना इन कर्म की दस अवस्थाओं का एवं भेद-प्रभेदों का विभिन्न प्रकार से बोध दिया।

मोहकर्म की प्रबलता एवं उग्र अहंकार के कारण गोष्ठामाहिल में मिथ्या अभिनिवेश उत्पन्न हुआ। वह कर्मबन्धन की प्रक्रिया को पढ़ते समय उलझ गया। गोष्ठामाहिल का अभिमत था आत्म प्रदेशों के साथ कर्म का स्पृष्ट अवस्था का ही बन्ध होता है। बद्ध और बद्ध-स्पृष्ट जैसा सघन बंध (कर्म प्रदेशों का आत्म प्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाना) कभी नहीं होता।

प्रतिक्षण जागरूक, निष्पक्ष, निराग्रही, पापभीरु, आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नाना प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया, पर पूर्वाग्रह ग्रस्त गोष्ठामाहिल ने अपना मत नहीं बदला।

इक्षु में रस, तिल में तेल, पय में नवनीत की भांति कर्म की आत्म प्रदेशों के साथ बद्ध अवस्था को स्वीकार नहीं करने के कारण गोष्ठामाहिल द्वारा वी. नि. ५८४ (वि. सं. ११४, ई. ५७) में अबद्धिक मत की स्थापना हुई।[११] जैन परम्परा में गोष्ठामाहिल सातवां निह्नव माना गया। उसका समय जैन इतिहास में वी. नि. ६०९ के पश्चात् स्वीकृत है। 'विचार श्रेणी' युगप्रधान पट्टावली के अनुसार दुर्बलिका पुष्यमित्र का आचार्यकाल वी. नि. ५९७ से प्रारम्भ होता है। आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के शासनकाल के प्रारम्भ के समय गोष्ठामाहिल द्वारा अबद्धिक मत की स्थापना हुई, अतः वल्लभी युगप्रधान पट्टावली के आधार पर अबद्धिक मत की स्थापना का समय ५८४ मानना भी विमर्शनीय है तथा दुर्बलिका पुष्यमित्र के शासनकाल को लक्षित कर वी. नि. ५९७ मानना भी अनुसंधान मांगता है।

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के जीवन में ज्ञान, दर्शन, चरित्र तीनों का संगम था। उनके अध्यात्म जीवन की सफलता का प्रमुख निमित्त उनकी ध्यान साधना थी। बौद्ध उपासकों को भी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की साधना से अन्तःतोष प्राप्त हुआ था। जैन शासन की आचार्य परम्परा में आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र विशिष्ट ध्यान योगी के रूप में विश्रुत हैं।

समय संकेत

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र लगभग १७ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। संयम पर्याय के ५० वर्षीय काल में २० वर्ष तक उन्होंने आचार्य पद के दायित्व का कुशलतापूर्वक वहन किया। विशिष्ट ध्यान-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वी. नि. ६१७ (वि. सं. १४७, ई. ९०) में वे स्वर्ग सम्पदा के स्वामी बने।[१२]

आचार्य काल
(वी. नि. ५९७-६१७)
(वि. सं. १२७-१४७)
(ई. सं. ७०-९०)

---

११. विंझो आणुभासइ, तं सुणेइ, अट्ठमे कम्मपवायपुव्वे कम्मं वन्निज्जइ, जहा कम्मं बज्झइ, जीवस्स य कहं बंधो, एत्थ विचारे सो अभिनिवेसेण अन्नहा मन्नंतो पन्नवंतो य निण्हवो जातो।
(आवश्यक-मलयवृत्ति, पत्रांक ४०१)

१२. दुस्सम-काल-समणसंघत्थव 'युगप्रधान' पट्टावली।

३४. विवेक-दर्पण आचार्य वज्रसेन

श्वेताम्बर परम्परा में वज्रसेन अपने युग के प्रभावी आचार्य थे। युगप्रधान आचार्यों में उनकी गणना है। वज्रसेन को सोपारक नगर के श्रेष्ठी जिनदत्त और उनके परिवार को प्रतिबोध देने का श्रेय है। सवा सौ वर्ष की वृद्धावस्था में आचार्य पद को अलंकृत करने वाले आचार्य वज्रसेन वीर निर्वाण की उत्तरवर्ती आचार्य-परम्परा में सर्वप्रथम हैं।

गुरु-परम्परा

वज्रसेन की वज्रस्वामी द्वारा गणाचार्य-पद पर नियुक्ति हुई। वज्रस्वामी, वज्रसेन के दीक्षा गुरु नहीं थे। प्रभावक चरित्र आदि ग्रंथों में वज्रसेन के दीक्षा गुरु का उल्लेख नहीं है पर वज्रस्वामी से वय-ज्येष्ठ और चरित्र पर्याय-ज्येष्ठ होने के कारण वज्रसेन के दीक्षागुरु संभवतः गणाचार्य सिंहगिरि हैं। आचार्य सिंहगिरि आचार्य सुहस्ती की कोटिकगण की शाखा के थे। वज्रस्वामी के दीक्षा गुरु भी आचार्य सिंहगिरि ही थे।

युगप्रधानाचार्य क्रम में आचार्य वज्रस्वामी के बाद आर्यरक्षित, आर्यरक्षित के बाद दुर्बलिका पुष्यमित्र, दुर्बलिका पुष्यमित्र के बाद वज्रसेन का क्रम है।

वज्रसेन के चार प्रमुख शिष्य थे १. नागेन्द्र, २. निवृत्ति, ३. चन्द्र और ४. विद्याधर।[1] इन चार शिष्यों से क्रमशः नागेन्द्र कुल, निवृत्ति कुल, चन्द्र कुल और विद्याधर कुल का उद्भव हुआ। प्रत्येक कुल में उत्तरोत्तर अनेक प्रभावक आचार्य हुए। वज्रस्वामी की गण-परम्परा आर्य रथ से आगे बढ़ती है। वज्रसेन के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित चारों गच्छ प्रभावक चरित्र ग्रंथ की रचना के समय विद्यमान थे।[2]

जीवन-वृत्त

आचार्य वज्रसेन का जन्म वी. नि. ४९२ (वि. २२, ई. पू. ३५) में हुआ था। उम्र का एक दशक ही पूर्ण नहीं हो पाया, वे त्याग के कुलिश-कठोर पथ पर बढ़ने को उत्सुक हुए। पूर्ण वैराग्य के साथ वी. नि. ५०१ (वि. सं. ३१, ई. पू. २६) में उन्होंने मुनि-जीवन में प्रवेश किया। आगमों का गम्भीर अध्ययन कर वे जैन दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता बने।

उत्तर भारत उनका प्रमुख विहार-क्षेत्र था। वीर निर्वाण की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध भीषण संकट का समय था। द्वादशवर्षीय दुष्काल की काली छाया से पूरा उत्तर भारत भयंकर रूप से आक्रांत था। यह समय वी. नि. ५८० (वि. सं. ११०, ई. सन् ५३) से वी. नि. ५९२ (वि. सं. १२२, ई. सन् ६५) तक था। इस समय लब्धिधर विलक्षण वाग्मी एवं संघ की नौका को कुशलतापूर्वक वहन करने वाले आचार्य वज्रस्वामी वृद्धावस्था में थे। जीवन के संध्याकाल में वे पांच सौ मुनियों सहित अनशनार्थ रथावर्त पर्वत पर जाने की तैयारी में लगे थे। उस समय वज्रसेन आचार्य वज्रस्वामी के साथ ही थे। दीर्घायु होने के कारण वज्रसेन गण-परम्परा एवं युगप्रधान के दायित्व को वहन करने में समर्थ हैं यह सोच वज्रस्वामी ने वी. नि. ५८४ (वि. ११४, ई. ५७) में वज्रसेन को गणनायक बनाकर कुंकुण देश में विहरण करने का आदेश दिया।

अनशन की स्थिति में आचार्य भद्रगुप्त ने वज्रस्वामी के पास जाते हुए आर्यरक्षित को कहा था जो भी व्यक्ति वज्रस्वामी की मंडली में भोजन ग्रहण करेगा और उनके पास रात्रिशयन करेगा वह उन्हीं के साथ स्वर्गवासी होगा, पर वज्रसेन के साथ यह नियम लागू

---

१. नागेन्द्रो निर्वृत्तिश्चन्द्रः श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥९६॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ८)

२. अद्यापि गच्छास्तन्नाम्ना जयिनोऽवनिमण्डले।
वर्तन्ते तत्र तीर्थे च मूर्तयोऽप्यापि साधूनाः ॥९८॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ८)

नहीं हुआ, क्योंकि वज्रसेन आचार्य वज्रस्वामी से उम्र और चरित्र पर्याय दोनों से ज्येष्ठ थे।

वज्रसेन अनुभवों के धनी थे। दुष्काल के इन क्षणों में वज्रस्वामी के आदेशानुसार वहां से ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए कुंकुण देश पहुंचे। मुनि-वृन्द से परिवृत गणाचार्य वज्रसेन का पदार्पण वी. नि. ५९२ (वि. १२२, ई. सन् ६५) में सोपारक नगर में हुआ।[1] दुष्काल इस समय समाप्ति पर था। सोपारक देश का राजा जितशत्रु एवं रानी धारिणी थी। वहां का धनी-मानी श्रेष्ठी जिनदत्त निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। धृति सम्पन्न एवं विपुल सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी श्रेष्ठी जिनदत्त दुष्काल के उग्र प्रकोप से विक्षुब्ध हो उठा। क्षुधा-पिशाचिनी के क्रूर प्रहार से प्रताड़ित श्रेष्ठी का परिवार जिंदगी की आशा खो चुका था। श्राविका ईश्वरी का धैर्य धान्याभाव के कारण डगमगा गया। पारिवारिक जनों ने परस्पर परामर्शपूर्वक सविष भोजन खाकर प्राणान्त करने की सोची।[2] ईश्वरी ने एक लक्ष स्वर्ण मुद्रा मूल्य के शालि पकाए। वह भोजन में विष मिलाने का प्रयत्न कर रही थी। नगर में भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए आचार्य वज्रसेन श्रेष्ठी जिनदत्त के घर पहुंचे।[3] मुनि को देखकर ईश्वरी एवं जिनदत्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपना अहोभाग्य माना। विषपूरित पात्र को भोजन से दूर रख दिया एवं मुनि को विशुद्ध भावों से दान दिया।

ईश्वरी चतुर महिला थी। उसने अपने अन्तर्द्वन्द्व को मुनि के सामने रखा एवं लक्ष मुद्रा मूल्य के शालि पाक को विष-मिश्रित करने की योजना बताई।[4] यह सुनते ही आचार्य वज्रसेन को दश पूर्वधर वज्रस्वामी के कथन का स्मरण हो आया और जिनदत्त श्रेष्ठी के समग्र परिवार को आश्वासन देते हुए वे बोले "भोजन में जहर मत मिलाओ[5], अब यह कष्ट अधिक समय का नहीं है। दुष्काल चरमसीमा पर पहुंच गया है। मुझे दशपूर्वधर वज्रस्वामी ने कहा था, जिस दिन लक्ष मुद्रा मूल्य के शालि पाक की उपलब्धि होगी, वही दुष्काल की परिसमाप्ति का दिन होगा। इस कथन के आधार पर कल ही सुखद प्रभात का उदय होने वाला है।"

वज्रसेन मुनि के अमृतोपम वचनों को सुनकर जिनदत्त श्रेष्ठी एवं उसके परिवार को आत्मतोष की अनुभूति हुई एवं भोजन के साथ विष मिश्रण की योजना स्थगित कर सारा परिवार सुकाल की प्रतीक्षा में समता से कालयापन करने लगा।

दूसरे दिन प्रभात में अन्न से भरे पोत नगर की सीमा पर आ गए।[6] आचार्य वज्रसेन की वाणी सत्य प्रमाणित हुई। श्रेष्ठी का पूरा परिवार काल-कवलित होने से बच गया।

प्रस्तुत घटना-वृत्त के बाद संसार से विरक्त होकर जिनदत्त श्रेष्ठी और ईश्वरी ने अपने पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर और निवृत्ति के साथ आचार्य वज्रसेन से वी. नि. ५९२ (वि. १२२) में आर्हती दीक्षा ग्रहण की।[7] चारों

---

३. वज्रसेनश्च सोपारं नाम पत्तनमभ्यगात् ॥९८५॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ८)

४. विना धान्यक्रयाद् दुःखं जीविता स्मः कियच्चिरम्।
तदहं सविसं भोज्यमुपभुज्य समाहिताः ॥९८६॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९३)

५. पक्त्वाधान्यं लक्षमूल्यं सा यावन्नाक्षिपद्विषम्।
वज्रसेनमुनिस्तावत्तज्जीवातुरिवागमत् ॥९८९॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९३)

६. हृष्टाथ तस्मै विस्मेरचक्षुर्भिक्षामदत सा।
लक्षमूल्यस्य पाकस्य वृत्तान्तं च न्यवेदयत् ॥९९२॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९३)

७. तो भणइवइरसेणो, मा खीरीए खिवेइ विसमेयं ॥३७०॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २२०)

८. अह अवरण्हे देसंतराहि पत्ताणि जाणवत्ताणि।
अइपउर धन्नपुन्नाइं, तेहिं जायं अहसुभिक्खं ॥७६॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २२०)

९. ध्यात्वेति सा सपुत्राऽथ, व्रतं जग्राह साग्रहा।
नागेन्द्रो निवृत्तिश्चन्द्रः, श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥९९६॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ८)

पुत्रों के नाम पर चार कुल (गण) स्थापित हुए नागेन्द्र कुल, चन्द्र कुल, विद्याधर कुल, निवृत्तिकुल। प्रत्येक शाखा में अनेक प्रभावक आचार्य हुए हैं। नागेन्द्र आदि चारों मुनियों के लिए कुछ कम दशपूर्वधारी होने का उल्लेख भी मिलता है।[10]

आचार्य वज्रसेन द्वारा सोपारक में धर्म की अतिशय प्रभावना हुई। जिनदत्त का परिवार अन्नाभाव के कारण मृत्यु का ग्रास बनने जा रहा था, उस समय आचार्य वज्रसेन ने अत्यन्त विवेक से काम लिया। उन्होंने श्रेष्ठी परिवार को इस प्रकार बोध दिया जिससे सभी ने अन्तःतोष का अनुभव किया। दुष्काल की परिसमाप्ति के बाद श्रेष्ठी जिनदत्त का परिवार मुनिचर्या को स्वीकार कर धर्म के प्रचार-प्रसार में आचार्य वज्रसेन का अनन्य सहयोगी बना।

जैन इतिहास का यह प्रभावक प्रसंग आचार्य वज्रसेन के विवेकबोध को युग-युग तक दुहराता रहेगा।

समय-संकेत

विवेक दर्पण आचार्य वज्रसेन दीर्घजीवी आचार्य थे। वे नौ वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। उन्होंने युगप्रधान के रूप में आचार्य पद का दायित्व ध्यान योगी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के बाद वी. नि. ६१७ (वि. १४७, ई. सन् ९०) में संभाला। संयम-पर्याय का उन्होंने ११९ वर्ष तक पालन किया। उनकी सर्वायु १२८ वर्ष की थी। वे वी. नि. ६२० (वि. १५०, ई. सन् ९३) में स्वर्गगामी बने।[11]

आचार्य काल
(वी. नि. ६१७-६२०)
(वि. सं. १४७-१५०)
(ई. स. ९०-९३

---

१०. अभूवंस्ते किञ्चिदूनदशपूर्वविदस्ततः।
चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धारधुरंधराः ॥१९७॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ८)

११. तत्पट्टे १४ श्री वज्रसेनसूरिः स च दुर्भिक्षे श्रीवज्रस्वाम्याज्ञया सोपारके पत्तने गत्वा जिनदत्तगृहे ईश्वरीनाम्न्या भार्यया दुर्भिक्षभयात्तक्षपाकभोज्ये विषक्षेपादिकारणे निवेदिते प्रातः सुकालो भावीत्युक्त्वा विषनिक्षेपं निवार्य्य नागेन्द्र १. चन्द्र २. निर्वृत्ति ३. विद्याधरा ४. आख्यानृचतुरः पुत्रान् प्रव्राजितवान् तेभ्यश्चत्वारि कुलानि जज्ञिरे। स वज्रसेनो ९ वर्षाणि गृहे, ११९ व्रते त्रीणि वर्षाणि युगप्रधानत्वे, सर्वायुः साष्टाविंशतिशतं प्रपाल्य वीरात् ६२० वर्षान्ते स्वर्गभाग् बभूव।
(पट्टावली समुच्चय, श्रीगुरुपट्टावली, पृ. १६६, १६७)

३५. आलोक कुटीर आचार्य अर्हद्बलि

दिगम्बर परम्परा के आचार्य अर्हद्बलि समर्थ संघनायक थे। उन्हें नन्दी, वीर, अपराजिता आदि एक साथ कई संघों की स्थापना करने का श्रेय है। वे ज्ञानबल से सम्पन्न थे। अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता थे और अंगों के एक देशपाठी विद्वान् थे। उन्हें पूर्वांशों का ज्ञान भी था।[1] अर्हद्बलि का दूसरा नाम गुप्तिगुप्त था।[2]

गुरु-परम्परा

'इन्द्रनंदी श्रुतावतार' की गुरु-परंपरा के अनुसार आचार्य अर्हद्बलि की पूर्व गुरु-परंपरा में लोहाचार्य के पश्चात् अंग और पूर्वों के एक देशपाठी आचार्य विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हदत्त हुए। उनके बाद अर्हद्बलि का उल्लेख है। तिलोयपण्णत्ती में आचारांग के संपूर्ण ज्ञाता तथा शेष अंगों और पूर्वों के एक देशपाठी आचार्य सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु तत्पश्चात् लोहाचार्य का क्रम है।[3] इससे आगे की गुर्वावलि तिलोयपण्णत्ती में नहीं है। नंदी संघ की प्राकृत पट्टावली में सुभद्राचार्य, यशोभद्राचार्य, भद्रबाहु, लोहाचार्य के पश्चात् अर्हद्बलि का उल्लेख है।[4] नंदी संघ की पट्टावली में प्राप्त उल्लेखानुसार अर्हद्बलि से पूर्व गुरु लोहाचार्य थे।

जीवन-वृत्त

इन्द्रनन्दी के 'श्रुतावतार' में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य अर्हद्बलि पूर्व देश मध्यवर्ती पुण्ड्रवर्धन के निवासी थे। वे विशुद्ध सक्रिया करने वाले आचार्य थे तथा उनमें संघ पर अनुग्रह-निग्रह करने का सबल सामर्थ्य भी था।[5]

पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय एक बार आन्ध्र प्रदेश में वेणा नदी के तट पर बसे महिमा नगर में महामुनि सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य अर्हद्बलि ने की।

धार्मिक महोत्सव के इस प्रसंग पर १०० योजन तक के मुनिनायक अपने गण सहित उपस्थित हुए। इन मुनिगणों में विद्वान्, स्वाध्यायी, ध्यानी, मौनी, त्यागी, तपस्वी, अध्ययन और अध्यापनरत श्रमण थे।

आचार्य अर्हद्बलि ने मुनिजनों से पूछा[6] "सर्वेप्यागताः" आप सब आ गए हैं? मुनिजनों की ओर से उत्तर था 'हम अपने गण सहित पहुंच गए हैं।'

आचार्य अर्हद्बलि अनुभवी थे। प्रखर मेधा के धनी थे। मानव मन के कुशल पारखी थे। मुनिजन के उत्तर से उन्होंने सब की पक्षपात पूर्ण अंतरंग नीति को पहचाना। धर्म संघ के समग्र वातावरण का सूक्ष्मता से अध्ययन किया।

उस समय दिगम्बर परम्परा में मूल संघ काफी बड़ा था। इस संघ में अनेक प्रभावी मुनि थे। ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न थे। धृतिवान, क्षमावान थे एवं संघ संचालन की दिशा में भी वे सुदक्ष थे।

---

१. सर्वाङ्गपूर्वदिशैकदेशवित्पूर्वदेश मध्य गते। ॥८५॥
(इन्द्रनन्दी श्रुतावतार)

२. श्रीमानशेषनरनायकवन्दिताघ्रि श्रीगुप्तिगुप्त इति
विश्रुतनामधेयाः। (नन्दी संघपट्टावली)

३. पढमो सुभद्दणामो जसभद्दो तह य होदि जसबाहू।
तुरिमो य लोहणामो एदे आयार-अंगधरा ॥१४९०॥
सेसेक्करसंगाणं चोद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा।
एक्कसयं अट्ठारसवासजुदं ताण परिमाण ॥१४९१॥
(तिलोयपण्णत्ती)

४. सुभद्दं च जसोभद्दं भद्दसपुव्वाणमेक्कदेसधरा।
लोहाचप्प मुणीसं च कहियं च जिणागमे ॥१३॥
अरिह माघन्दि य धरसेणं पुप्फयंत भूदबलि ॥१६॥
(नन्दी संघपट्टावली

५. श्री पुण्ड्रवर्धनपुरे मुनिरजनि ततोऽर्हद्बल्याख्यः ॥८५॥
स च तत्प्रसारणा धारणा विशुद्धति सक्रियो युक्तः।
अष्टांग निमित्तज्ञः संघानुग्रहनिग्रह समर्थः ॥८६॥
(इन्द्रनंदि श्रुतावतार)

६. आस्त संजसरपंचकवासाने युगप्रतिक्रमणम्।
कुर्वन्योजनशतमात्रवर्ति मुनिजनसमास्य ॥८७॥
अथ सोऽपदा युगान्ते कुर्वन् भवान्युगप्रतिक्रमणम्।
मुनिजनवृन्दपृच्छति सर्वेऽप्यागता यतः ॥८८॥
(इन्द्रनंदि श्रुतावतार)

गण की सारणा-वारणा करने में प्रवीण आचार्य अर्हद्बलि के द्वारा महामुनि सम्मेलन के इस अवसर पर ग्यारह नये संघों की स्थापना हुई। उनके नाम इस प्रकार हैं १. नन्दी संघ, २. वीर संघ, ३. अपराजित संघ, ४. देव संघ, ५. पंचस्तूप संघ, ६. सेन संघ, ७. भद्र संघ, ८. गुणधर संघ, ९. गुप्त संघ, १०. सिंह संघ, ११. चन्द्र संघ।

ये ग्यारह ही संघ मूल संघ के उपसंघ अथवा शाखा रूप थे।

मौलिक सूझबूझ के साथ इन संघों की स्थापना कर आचार्य अर्हद्बलि ने एक नई संघ व्यवस्था को जन्म दिया। इन संघों को स्थापित करने में धर्म वात्सल्य की अभिवृद्धि एवं जैन संघ की एकता को अखण्ड बनाए रखना ही उनका प्रमुख उद्देश्य था।

महामुनि सम्मेलन की अध्यक्षता एवं नए संघों की स्थापना आचार्य अर्हद्बलि के सफल एवं सबल संघ नायकत्व को सूचित करती है।

समय-संकेत

आचार्य अर्हद्बलि का समय नन्दी संघ की प्राकृत पट्टावलि में प्राप्त उल्लेखानुसार वी. नि. ५६५ (वि. ९५) में शुरू होता है। इसी पट्टावली में अर्हद्बलि का काल २८ वर्ष माना गया है। आचार्य अर्हद्बलि के अनन्तर होने वाले आचार्य माघनंदी का समय वी. नि. ५९३ के पश्चात् प्रारंभ होता है। अतः नंदी संघ की पट्टावली के आधार पर आचार्य अर्हद्बलि का समय वी. नि. ५६५ से ५९३ (वि. ९५ से १२३) तक का है।

जिनसेन का हरिवंश पुराण, धवला, जय धवला, उत्तर पुराण, तिलोयपण्णत्ती, जम्बूद्वीपपण्णत्ती, इन्द्रनन्दी-श्रुतावतार इन सभी पट्टावलियों में अर्हद्बलि से लगभग १०० वर्ष पहले हुए अन्तिम आचारांगधर लोहाचार्य का समय वी. नि. ६८३ बताया है। लोहाचार्य का यह समय नंदी संघ की पट्टावली के अतिरिक्त अन्य सभी दिगम्बर संघ की पट्टावलियों से समर्थित है। इन्द्रनन्दी-श्रुतावतार और हरिवंशपुराण के अतिरिक्त अन्य पट्टावलियों में लोहाचार्य के बाद की पट्ट-परम्परा का उल्लेख नहीं है।

नंदी संघ की पट्टावली में लोहाचार्य का समय वी. नि. ५६५ तक माना है। जिनसेन के हरिवंश पुराण, तिलोयपण्णत्ती आदि दिगम्बर ग्रन्थों की पट्टावलियों में प्राप्त एवं नंदी संघ की पट्टावली में प्राप्त लोहाचार्य की काल संबंधी मान्यता में ११८ वर्ष का अंतराल है। इन्द्रनंदी श्रुतावतार में लोहाचार्य के बाद विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त, अर्हदत्त और उसके बाद अर्हद्बलि आचार्य का क्रम है। हरिवंश पुराण में भी नामान्तर भेद के साथ इन चार आचार्यों का उल्लेख है। उसके बाद आचार्य अर्हद्बलि का क्रम है। इन चारों आचार्यों में से प्रत्येक आचार्य का २० वर्ष का काल अनुमानित कर आचार्य अर्हद्बलि का समय वी. नि. ७६३ से ७८३ तक मान्य किया है। नंदी संघ की पट्टावली के अनुसार अर्हद्बलि का समय वी. नि. ५६५ से ५९३ है। अतः अर्हद्बलि की काल संबंधी दोनों मान्यताओं में १९० वर्ष का अन्तराल है।

दिगम्बर परम्परा में 'तिलोयपण्णत्ती' ग्रंथ को प्रामाणिक ग्रंथ माना है।

इस ग्रंथ में वीर निर्वाण के बाद केवली काल से लोहाचार्य तक की काल गणना का क्रम इस प्रकार है

वीर निर्वाणोत्तर काल में (३) केवली, (५) श्रुतधर, (११) दशपूर्वधर, (४) एकादशांगधर, (४) आचारांगधर मुनि हुए हैं।

केवली काल ६२ वर्ष अथवा ६४ वर्ष
श्रुतधर काल १०० वर्ष
दशपूर्वधर १८३ वर्ष
एकदशांगधर काल २२० वर्ष
आचारांगधर काल ११८ वर्ष इनका कुलयोग ६८३ वर्ष है।

अंतिम आचारांगधर लोहाचार्य हुए हैं। नंदी संघ की पट्टावली के अतिरिक्त सभी दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियों की कालगणना का क्रम यही है। अतः नंदी पट्टावली में लोहाचार्य का काल वी. नि. ५६५ तक एवं अर्हद्बलि का काल वी. नि. ५६५ से ५९३ तक की मान्यता अन्य दिगम्बर पट्टावलियों से समर्थित नहीं है।

३६. गौरवशाली आचार्य गुणधर

गुणधर दिगम्बर परम्परा के मनीषी आचार्य थे। दिगम्बर परम्परा के श्रुतधर आचार्यों में आचार्य गुणधर का नाम प्रमुख है। आचार्य गुणधर को पंचम ज्ञानप्रवादपूर्वगत दशम वस्तु के तृतीय पेज्जदोष पाहुड़ का ज्ञान था। यह उनके कषाय पाहुड़ के अध्ययन से प्रतीत होता है। आचार्य गुणधर महाकम्म पयड़ि पाहुड़ के भी विशिष्ट ज्ञाता थे। कषाय पाहुड़ के बंध, संक्रमण आदि अधिकारों में कर्मविज्ञान का जो विशुद्ध विवेचन हुआ है वह महाकम्म पयडि पाहुड़ के अनुयोग द्वारों से संबंधित बताया जाता है। महाकम्म पयडि पाहुड़ का २४वां अल्पबहुत्व नामक अनुयोग द्वार कषाय पाहुड़ के अर्थाधिकारों से संबद्ध माना गया है। इससे सिद्ध है, पेज्जदोष पाहुड़ ज्ञान के साथ महाकम्मपयडि पाहुड़ पर भी गुणधर आचार्य का आधिपत्य था।

गुरु-परम्परा

इन्द्रनंदी के 'श्रुतावतार' में दिगम्बर समाज समर्थित जो गुरु-परम्परा प्राप्त है उसमें गुणधर का उल्लेख नहीं है। इन्द्रनन्दी सूत्र सिद्धांत के पारगामी विद्वान् थे। उनके द्वारा विशिष्ट आचार्यों के साथ गुणधर का उल्लेख न हो यह चिंतन की अपेक्षा है पर इतिहास के अन्य संदर्भों को देखते हुए स्पष्ट है गुणधर उस समय के प्रभावी आचार्य थे। आचार्य अर्हद्बलि की अध्यक्षता में पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के समय वृहद् मुनि सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में सौ योजन तक के मुनि सम्मिलित हुए तथा नंदी, वीर, अपराजित आदि कई संघ स्थापित हुए। उनमें एक गुणधर संघ की स्थापना भी हुई। यह गुणधर संघ की स्थापना आचार्य गुणधर के नाम पर थी। इससे स्पष्ट है उस समय आचार्य गुणधर का व्यक्तित्व या उनसे संबंधित संघ या गण इतना प्रभावी रहा है जिसके कारण उस वृहद् सम्मेलन में गुणधर संघ की स्थापना हुई।

साहित्य

साहित्यिक क्षेत्र में श्रुतधर गुणधर का मूल्यवान् योगदान है। गुणधर और धरसेन दोनों की श्रुत प्रतिष्ठापक के रूप में प्रसिद्धि है। गुणधर ने कषाय पाहुड़ सुत्त जैसे उत्तम ग्रंथ की रचना की और धरसेन ने श्रुतज्ञान का दान पुष्पदत्त और भूतबलि जैसे योग्य शिष्यों को देकर श्रुत की धारा को अविच्छिन्न बनाए रखा। आचार्य गुणधर द्वारा रचित कषाय पाहुड़ का परिचय इस प्रकार है

कषाय पाहुड़ कषाय पाहुड़ ग्रंथ समुद्र के तुल्य है। यह ग्रंथ दिगम्बर परम्परा का कर्म विज्ञान संबंधी प्रतिनिधि ग्रंथ है। इसका दूसरा नाम पेज्जदोष पाहुड़ है। कषाय पाहुड़ के १६,००० पद्य परिमाण में वर्णित कर्म संबंधी गंभीर विषय को १८० गाथाओं में उपसंहृत करना गुणधर आचार्य की विशेष क्षमता का प्रतीक है। गाथासूत्र शैली में कषाय पाहुड़ की रचना हुई है।[1] प्रमेयरत्न माला टिप्पण में सूत्र लक्षणों की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढ़निर्णयम्।
निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्र सूत्रविदो विदुः॥

अल्पाक्षरता, असंदिग्धता, सारवत्ता, गूढ़ निर्णायकता, निर्दोषता, सहेतुता ये सूत्र के लक्षण हैं। इन समग्र लक्षणों से युक्त ग्रंथ की सूत्र शैली सरस और प्रभावक है।

कषाय पाहुड़ ग्रंथ में १५ अधिकार हैं और ५३

---

१. गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि।
वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥
(कषायपाहुड़सुत्त, गाथा २)

विवरण गाथाओं सहित २३३ गाथाएं हैं। इन अधिकारों और २३३ गाथासूत्रों में क्रोधादि कषायों का, राग-द्वेष की परिणतियों का, कर्मों की विभिन्न अवस्थाओं का तथा इन्हें शिथिल करने वाले आत्म-परिणामों का विस्तृत विवेचन है।

गुणधराचार्य ने कषाय पाहुड़ की सूत्र गाथाओं का वाचन आर्य मंक्षु और नागहस्ती को दिया।[२] चूर्णिकार यतिवृषभ को कषाय पाहुड़ के गाथासूत्र गुणधराचार्य से नहीं, आर्य मंक्षु और नागहस्ती से प्राप्त हुए।[३] जयधवला टीका के अनुसार यतिवृषभ आर्य मंक्षु के शिष्य और नागहस्ती के अंतेवासी थे।[४]

आर्य मंक्षु और नागहस्ती श्वेतांबर परम्परा के आर्य मंगू और आर्य नागहस्ती ही हैं या भिन्न हैं यह शोध का विषय है।

आचार्य वीरसेन एवं जिनसेन ने इसी ग्रंथ पर ६० सहस्र श्लोक परिमाण जयधवला नामक टीका की रचना की, एवं यतिवृषभ ने प्रस्तुत ग्रंथ पर ६००० श्लोक परिमाण चूर्णि ग्रंथ की रचना की।

जयधवला के मंगलाचरण में वीरसेन लिखते हैं :

जेणहि कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहि विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥

मैं उन आचार्य गुणधर को वंदन करता हूँ जिन्होंने कषाय पाहुड़ जैसे उत्तम उज्ज्वल ग्रंथ का गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया है।

समय-संकेत

श्रुतधर गुणधर आचार्य के समय का निर्धारण आधुनिक शोधों द्वारा अर्हद्बलि के समय के आधार पर किया गया। नंदी संघ की प्राकृत पट्टावलि में अर्हद्बलि का समय वी. नि. ५६५ (वि. ९५) है। अर्हद्बलि के नेतृत्व में होने वाले वृहद् मुनि सम्मेलन में गुणधर संघ की स्थापना हुई। संघ स्थापना की स्थिति में पहुंचने तक की ख्याति अर्जन करने में गुणधर की परम्परा को कम-से-कम सौ वर्ष लगे ही होंगे। इस आधार पर डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री आदि विद्वानों ने गुणधर आचार्य का समय वि. पू. प्रथम शताब्दी निर्धारित किया है।[५] इस आधार पर गुणनिधि आचार्य गुणधर का समय वीर निर्वाण चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध प्रमाणित होता है।

---

२. एवं गाथा सूत्राणि, पञ्चदशमहाधिकाराणि।
प्रविरच्य व्याचख्यौ, स नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम् ॥
(श्रुतावतार, पद्य १५४)

३. पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणीओ अज्जमंखु णागहत्थीणं पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभट्टारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं।
(कषायपाहुड़, जयधवला टीका, भाग-१, पृ. ८८)

४. अज्ज मंखु सीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
(जयधवला टीका, पृ. ४)

५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। (पृ. ३०-३१)

३७. धैर्यधन आचार्य धरसेन

दिगम्बर परम्परा के आचार्य धरसेन अष्टांग निमित्त के पारगामी विद्वान् थे। उन्हें अंग और पूर्वों का एकदेशीय ज्ञान परंपरा से प्राप्त था।[1] आग्रायणी पूर्व की पञ्चम वस्तु के अंतर्गत 'महाकम्मपयडी' नामक चतुर्थ प्राभृत का उन्हें विशिष्ट ज्ञान था।[2] मंत्र-तंत्र शास्त्रों पर उनका आधिपत्य था। षट्खण्डागम का सम्पूर्ण विषय उनके द्वारा सम्यक् प्रकार से गृहीत था।

गुरु-परम्परा

आचार्य धरसेन की गुरु-परम्परा स्पष्ट नहीं है। नंदी संघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलि, माघनंदी, धनसेन, पुष्पदंत, भूतबलि का नाम क्रम से है। इंद्रनंदी के श्रुतावतार में भी अर्हद्बलि, माघनंदी और धरसेन का उल्लेख है। इन दोनों ग्रंथों के आधार पर आचार्य धरसेन के गुरु माघनंदी और माघनंदी के गुरु अर्हद्बलि के होने की संभावना है।

जीवन-वृत्त

आचार्य धरसेन सौराष्ट्र के गिरिनगर की चंद्र गुफा में निवास करते थे।[3] वे लेखन कला में प्रवीण थे। प्रवचन एवं प्रशिक्षण देने की उनकी शैली विलक्षण थी। ज्ञान-दान में उनका हृदय उदार था और चिंतन दूरगामी था। श्रुत की धारा को अविच्छिन्न रखने के लिए उन्होंने महिमा महोत्सव में (आंध्र प्रदेश, वेणानदी के तट का पार्श्ववर्ती स्थान) एकत्रित दक्षिणापथ विहारी आचार्य महासेन प्रमुख श्रमणों के पास एक पत्र भेजा। इस पत्र के द्वारा उन्होंने प्रतिभा-सम्पन्न मुनियों की मांग की।

श्रमणों ने धरसेन द्वारा प्रेषित पत्र पर गम्भीरता से चिंतन किया और मुनि परिवार से चुनकर दो मेधावी मुनियों को उनके पास भेजा। दोनों श्रमण विनयवान, शीलवान, जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न एवं कलासम्पन्न थे। आगमार्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ थे और वे आचार्यों से तीन बार पूछकर आज्ञा लेने वाले थे।

टीकाकार वीरसेन के शब्दों में यह प्रसंग निम्नोक्त प्रकार से उल्लिखित है

"तेण वि सोरट्ठ-विसयगिरिणयरपट्टणचंदगुहाठिएण अट्ठंग महाणिमित्त पारएण गन्थवोच्छेदो होहदित्ति जादभएण पवयणवच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो। लेहट्ठिय धरसेण वयणमवधारिय ते हि वि आइरिएहि ये साहू गहण-धारण समत्था धवलामलबहुविह विणयविहूसियंगा सीलमालाहरा गुरुपेसणासणतित्ता देसकुलजाइसुद्धा सयलकलापारयात्तिक्खुत्ता बुच्छियाइरिया अन्धवि-सयवेण्णायणादो पेसिदा।"

जब दोनों श्रमण वेणानदी के तट से धरसेन आचार्य के पास जाने के लिए प्रस्थित हुए उस समय पश्चिम दिशा में आचार्य धरसेन ने स्वप्न देखा जिसमें दो धवल कर्ण ऋषभ उनके पास आए और प्रदक्षिणा देकर उनके चरणों में बैठ गए। इस स्वप्न से आचार्य धरसेन को प्रसन्नता हुई। उत्तम पुरुषों के स्वप्न सत्य फलित होते हैं। आचार्य धरसेन का स्वप्न भी फलवान बना। दोनों श्रमण ज्ञान ग्रहण करने के लिए उनके पास आये।

आचार्य धरसेन की परीक्षा में उभय मुनि उत्तीर्ण हुए

---

१. तदो सव्वेसिमं-पुव्वाणामेगदेसो आइरिय परम्पराए।
आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो ॥
(धवला. पु. १, पृ. ६७)

२. अग्गायणीय णामं पंचम वत्थुगत कम्मपाहुडया।
पयडि ट्ठिदि अणुभागो जाणति पदेसबंधो वि ॥८२॥
(श्रुतस्कन्ध ब्रह्महेमचन्द)

३. उज्जिते गिरि सिहरे धरसेणो धरइ वय-समिदिगुत्ती।
चंदगुहाई णिवासी भवियहु तसु णामहु पय जुयलं ॥८१॥
(श्रुतस्कन्ध ब्रह्महेमचंद्र)

और विनयपूर्वक श्रुतोपासना करने लगे। उनका अध्ययनक्रम शुभनक्षत्र शुभदिन में प्रारम्भ हुआ। आचार्य धरसेन की ज्ञान प्रदान करने की अपूर्व क्षमता एवं युगल मुनियों की सूक्ष्मग्राही प्रतिभा का मणि-कांचन योग था। अध्ययन का क्रम द्रुतगति से चला। आषाढ़ शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्नकाल में वाचना-कार्य सम्पन्न हुआ। कहा जाता है, इस महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्नता के अवसर पर देवताओं ने भी मधुरवाद्य ध्वनि की। इसी प्रसंग पर धरसेन आचार्य ने एक का नाम भूतबलि और दूसरे का नाम पुष्पदंत रखा।

निमित्त ज्ञान से अपना मृत्युकाल निकट जानकर धरसेन आचार्य ने सोचा, 'मेरे स्वर्गगमन से इन्हें कष्ट न हो, इसलिए उन्होंने दोनों मुनियों को श्रुत की उपसम्पदा प्रदान कर सकुशल उन्हें विदा किया।

आगम निधि सुरक्षित रखने का यह कार्य आचार्य धरसेन के दूरदर्शी गुण को प्रकट करता है। जैन समाज के पास आज षट्खंडागम जैसी अमूल्य कृति है, उसका श्रेय आचार्य धरसेन को है।

समय-संकेत

आचार्य धरसेन अर्हद्बलि के समसामयिक थे। नंदी संघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलि के लिए वी. नि. ५६५ (ई. सन् ३८) का उल्लेख है। अर्हद्बलि का काल २८ वर्ष का है। तदनन्तर माघनंदी और धरसेन के समय का क्रमशः उल्लेख है। माघनंदी का काल २१ वर्ष का है। माघनंदी के बाद धरसेन का समय वी. नि. ६१४ से प्रारम्भ होता है। धरसेन का काल १९ वर्ष का माना गया है। इस आधार पर दूरदर्शी आचार्य धरसेन का समय वी. नि. ६१४ से ६३३ (वि. ११४ से १६३) तक सिद्ध होता है। यह समय-संकेत नंदी संघ की पट्टावली के आधार पर है।

इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार में अर्हद्बलि के पश्चात् धरसेन आदि आचार्यों का उल्लेख है, पर इनके काल के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं है।

हरिवंश पुराण के अनुसार धरसेन अर्हद्बलि से उत्तरवर्ती होने के कारण इनका काल वी. नि. ७८३ के बाद का संभव है।

नंदी संघ पट्टावली में आचार्य धरसेन से संबंधित समय सूचक पद्य इस प्रकार है।

पंचसये पणसठे अंतिम-जिण-समयजादेसु।
उप्पण्णा पंचजणा इयंगधारी मुणेयव्वा ॥१५॥
अरहबल्लि माघनंदि धरसेणं पुप्फयंत भूदबली।
अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस बीस वास पुणो ॥१६॥

(नंदी संघ प्राकृत पट्टावली)

नंदी संघ की पट्टावली के अनुसार धरसेन वी.नि. की ७वीं शताब्दी के आचार्य थे।

हरिवंश आदि ग्रन्थों के अनुसार आचार्य धरसेन का समय वी.नि. की ८वीं शताब्दी संभव है।

३८-३९. प्रबुद्धचेता आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि

पुष्पदन्त और भूतबलि मेधा सम्पन्न आचार्य थे। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा आचार्य धरसेन के ज्ञान को ग्रहण करने में सक्षम सिद्ध हुई। उन्होंने अगस्त्य ऋषि के सागर-पान की परम्परा को श्रुतोपासना की दृष्टि से दुहरा दिया।

गुरु-परम्परा

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के शिक्षागुरु धरसेन थे। धरसेन आचार्य ने महिमा नगरी में होने वाले धार्मिक महोत्सव में सम्मिलित आचार्यों के पास पत्र भेजा। उस पत्र में दो मुनियों को अध्ययनार्थ प्रेषित करने की मांग की। इसी पत्र के अनुसार दक्षिणापथ के आचार्यों ने मेधा-संपन्न श्रमण पुष्पदन्त और भूतबलि को धरसेन आचार्य के पास भेजा। दोनों ने विनयपूर्वक धरसेन आचार्य से षट्खण्डागम का तथा सैद्धांतिक तत्त्वों का गम्भीर अध्ययन किया। अतः पुष्पदन्त और भूतबलि धरसेन आचार्य के विद्या शिष्य थे। श्रमणबेलगोल १०५ संख्यक अभिलेख में पुष्पदन्त और भूतबलि को अर्हद्बलि का शिष्य बताया है।[1]

जीवन-वृत्त

पुष्पदन्त श्रेष्ठिपुत्र थे और भूतबलि सौराष्ट्र के नहपान नामक नरेश थे। गौतम पुत्र शातकर्णी से पराजित होकर नहपान नरेश ने श्रेष्ठिपुत्र सुबुद्धि के साथ दिगम्बर श्रमण दीक्षा ग्रहण की। धरसेन आचार्य के पास सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में उन्होंने अध्ययन किया। शिक्षा संपन्न होने के बाद आचार्य धरसेन से आशीर्वाद पाकर पुष्पदन्त और भूतबलि वहां से विदा हुए। दोनों ने एक साथ अंकलेश्वर में चतुर्मास किया। वर्षावास समाप्त होने के बाद पुष्पदन्त और भूतबलि ने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। दोनों सानन्द करहाटक पहुंचे। करहाटक में श्रमण पुष्पदन्त जिनपालित से मिले। जिनपालित योग्य बालक था। पुष्पदंत ने उसे मुनि दीक्षा प्रदान की और वे नवदीक्षित मुनि जिनपालित को साथ लेकर वनवास देश में गए। भूतबलि द्रविड़ देश की मथुरा नगरी में रुके।[2] उत्तर कर्णाटक का प्राचीनतम नाम वनवास बताया गया है।

साहित्य

दिगम्बर परम्परा में कषाय प्राभृत के रचनाकार आचार्य गुणधर के बाद साहित्य रचना के क्षेत्र में आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि का अनुदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। षट्खण्डागम की रचना इन दोनों आचार्यों के सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम है। षट्खण्डागम रचना का घटना प्रसंग इस प्रकार है

आचार्य पुष्पदंत ने वनवास देश (उत्तर कर्णाटक) में रहते हुए आचार्य धरसेन द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर वीसदिसुत्त के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रों की रचना की। जिनपालित को उन सूत्रों का प्रशिक्षण दिया और उन्हें भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने पुष्पदंत आचार्य रचित वीसदिसुत्त को पढ़ा और आचार्य पुष्पदंत के जीवन का सन्ध्याकाल जानकर भूतबलि ने सोचा "महाकर्म प्रकृति प्राभृत की श्रुतधारा का कहीं विच्छेद नहीं हो जाए", अतः उन्होंने 'वीसदिसुत्त' के सूत्रों सहित छह सहस्र सूत्रों में ग्रंथ के ५ खण्डों की रचना की। छठे महाबंधक नामक खण्ड में ३० हजार

---

१. यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभुजः ॥२५॥
अर्हद्बलिस्सङ्घ चतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसङ्घः।
कालस्वाभाव्यादिह जायमान द्वेधेतरल्लीकरणमाचख्के ॥२६॥
(श्रवणबेलगोल अभिलेख संख्या १०५)

२. जग्मतुरथकरहाटे तयोः स यः पुष्पदंत नाम मुनिः।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वाऽसौ भागिनेयं स्वं ॥१३३॥
दत्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासम्।
तस्थौ भूतबलिरपि मथुरायां द्रविड़देशेऽस्थात् ॥१३६॥
(श्रुतावतार)

सूत्र रचे। इस ग्रंथ का नाम षट्खंडागम है।[3] इस घटना से स्पष्ट है आचार्य भूतबलि महाकर्म प्रकृति के ज्ञाता थे। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक सूत्रों की रचना पुष्पदंत आचार्य द्वारा वनवास (उत्तर कर्नाटक) में हुई। अवशिष्ट ग्रंथ सूत्रों की रचना आचार्य भूतबलि द्वारा द्रविड़ देश में हुई। षट्खंडागम रचना का यह समय ई. सन् ७५ माना गया है। षट्खंडागम ग्रंथ का परिचय इस प्रकार है

षट्खंडागम जीवट्ठाण खण्ड यह विशाल ग्रंथ है। इसके छह खण्ड हैं। प्रथम खण्ड का नाम जीवट्ठाण (जीवस्थान) है। इस खण्ड में सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व नाम के आठ प्रकरण हैं, तदन्तर ९ चूलिकाएं हैं। जीव के गुण-धर्म और नाना अवस्थाओं का वर्णन इस खण्ड में है। इसकी कुल सूत्र संख्या २३७५ है।

खुद्दाबंध खण्ड द्वितीय खंड का नाम खुद्दाबंध (क्षुद्रकबंध) है। इस खण्ड में ११ अनुयोगद्वार हैं। इस खण्ड के प्रारम्भ में अनुयोगों से पूर्व बंधकों की प्ररूपणा है एवं अनुयोगों के बाद चूलिका में महादण्डक प्रकरण दिय गया है। इस प्रकार प्रस्तुत खण्ड के १३ अधिकार हैं। कर्म प्रकृति प्राभृत के बंधक अधिकार के बंध आदि चार अनुयोगों में से बंधक विषय का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। खण्ड के कुल सूत्र १५८२ हैं। महाबंधक की अपेक्षा यह प्रकरण छोटा होने के कारण इस खण्ड का नाम क्षुद्रक बंध है।

बंधसामित्त विचय खण्ड (बंध स्वामित्व विचय) इस खण्ड में कर्मबंध करने वाले स्वामियों पर विचार किया गया है। यह इस खण्ड के नाम से स्पष्ट है। इस खण्ड के कुल ३२४ सूत्र हैं।

वेयणा खण्ड (वेदना खण्ड) इसके दो अनुयोग द्वार हैं। सूत्र संख्या १४४९ है। इस खण्ड की प्रथम कृति अनुयोग द्वार की सूत्र संख्या ७५ है। द्वितीय वेयणा अनुयोग द्वार विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण खण्ड का नाम वेयणा है।

वर्गणा खण्ड इसमें स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोग द्वार हैं। इन तीनों अनुयोग द्वारों में प्रथम अनुयोग द्वार के ६३, द्वितीय के ३१ एवं तृतीय के १४२ सूत्र हैं। इस खण्ड में विभिन्न प्रकार की कर्म पुद्गल वर्गणाओं का प्रतिपादन है।

महाबंध खण्ड षष्ठ का नाम महाबंध है। महाबंध का विस्तार ३० सहस्र श्लोक परिमाण है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंध की व्याख्या इस खण्ड में है।

षट्खण्डागम के छह खण्डों में चालीस सहस्र श्लोक हैं। यह अंतिम खण्ड महाबंध के नाम से प्रसिद्ध है। महाबंध का दूसरा नाम महाधवल भी है। षट्खण्डागम ग्रंथ से संयुक्त होते हुए भी यह स्वतंत्र कृति के रूप में उपलब्ध है। षटखण्डागम के पांचों खण्डों से महाबंध का विस्तार अधिक है। 'धवला' टीकाकार आचार्य वीरसेन ने इस पर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी। यह महाबंध आधुनिक शैली में सात भागों में 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित है। जैन दर्शन सम्मत कर्मवाद का विवेचन इस कृति में है।

षट्खण्डागम की प्रामाणिकता छह खण्डों में परिपूर्ण यह षट्खण्डागम कषाय पाहुड़ की भांति सैद्धांतिक ग्रंथ है।

महाकर्म प्रकृति प्राभृत का उपसंहार षट्खण्डागम कृति में होने के कारण दिगम्बर परम्परा में इसे आगम ग्रंथ की भांति प्रामाणिक माना गया है।

जिनपालित, आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि के मध्य ग्रंथ निर्माण में संयोजक सिद्ध हुए। संभवतः आचार्य

---

३. तदो भूदबलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभाणीए भविपालोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खण्डाणि कयाणि।

(धवला पृष्ठ १३३)

भूतबलि के पास रहकर ग्रंथ लेखन का कार्य भी जिनपालित ने किया हो।

षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन पूर्ण हुई। आचार्य भूतबलि ने संघ-सहित इस ग्रंथ की भक्तिपूर्वक और विधि से पूजा की। तब से यह पंचमी श्रुतपंचमी के नाम से प्रसिद्ध हुई।[४] यह ग्रंथ संपन्न हुआ, इस समय तक आचार्य पुष्पदंत विद्यमान थे। भूतबलि ने इस ग्रंथ को सम्पन्न कर आचार्य जिनपालित के साथ प्रेषित किया। विविध सामग्री से परिपूर्ण इस ग्रंथ को देखकर आचार्य पुष्पदंत को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने भी भक्तिभाव से श्रुतपंचमी के दिन ग्रंथ की पूजा की।

समय-संकेत

पुष्पदंत और भूतबलि दोनों का अधिकांश जीवन साथ-साथ व्यतीत हुआ। दोनों ने एक साथ दीक्षा ली। दोनों ने एक साथ आचार्य धरसेन के पास अध्ययन किया। षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना दोनों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर की। जिस समय भूतबलि ने ग्रंथ रचना प्रारम्भ की, उस समय पुष्पदंत के जीवन का संध्याकाल था। संयोग से षट्खण्डागम ग्रंथ की सम्पन्नता तक आचार्य पुष्पदंत विद्यमान थे।

नंदी संघ की पट्टावली में आचार्य अर्हद्बलि, आचार्य माघनंदी, आचार्य धरसेन के बाद पुष्पदंत और भूतबलि का क्रमशः उल्लेख है। पांचों आचार्यों के इस क्रम में आचार्य भूतबलि से पुष्पदंत आचार्य ज्येष्ठ थे।

नंदी संघ की पट्टावली में इन आचार्यों के समय की सूचना है। आचार्य धरसेन का समय वी. नि. ६१४ से ६३३ तक है। पुष्पदंत और भूतबलि का समय इसके बाद प्रारम्भ होता है। आचार्य पुष्पदंत का काल ३० वर्ष का और भूतबलि का काल २० वर्ष का माना गया है।[५] इस आधार पर आचार्य पुष्पदंत का समय वि. नि. ६३३ से ६६३ (वि. १६३ से १९३) तक और आचार्य भूतबलि का काल वी. नि. ६६३ से ६८३ (वि. १९३ से २१३) तक सिद्ध होता है। आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि दोनों का सम्मिलित समय वी. नि. ६३३ से ६८३ तक का है। यह काल-गणना प्राकृत नंदी पट्टावली के आधार पर है।

इन्द्रनंदी श्रुतावतार और हरिवंशपुराण में आचारांगधर लोहाचार्य की जो पट्ट परम्परा है उस आधार पर अर्हद्बलि का समय वी. नि. की ८वीं सदी सम्भव है। अर्हद्बलि से उत्तरवर्ती धरसेनाचार्य हैं। धरसेनाचार्य के बाद आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि हुए हैं अतः पुष्पदंत और भूतबलि का समय वी. नि. की ८वीं शताब्दी से पूर्व संभव नहीं है।

---

४. ज्येष्ठसितपक्ष पंचम्यां चतुर्वर्ण्यं संघसमेतः।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यंपात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपंचमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजा कुर्वते जैनाः ॥१४४॥
(इन्द्रनंदी श्रुतावतार)

५. अहिबल्लि माघनंदि य धरसेणं पुप्फयंत भूतबली।
अडवीसं इगवीसं उगणीसं तीस बीस वास पुणे ॥१६॥
(नंदी संघ पट्टावली)

४०-४१. रत्नत्रयी-आराधक आचार्य रेवतीनक्षत्र, आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह

वाचक परम्परा में आचार्य नागहस्ती के बाद आचार्य रेवतीनक्षत्र और आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह हुए हैं। दोनों ही श्रुत-सम्पन्न, मेधावी आचार्य हुए हैं। वाचनाचार्यों में रेवतीनक्षत्र का क्रम १९वां और आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह का क्रम २०वां है।

युग-प्रधान परम्परा में युगप्रधान नागहस्ती के बाद रेवतीमित्र और सिंह युग-प्रधान आचार्य हुए हैं।

गुरु-परम्परा

नंदी स्थविरावली में आचार्य नागहस्ती, आचार्य रेवतीनक्षत्र, आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह का क्रमशः उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है वाचनाचार्य नागहस्ती के उत्तरवर्ती वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र तथा उनके बाद वाचनाचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह थे।

युगप्रधान परम्परा के अनुसार युगप्रधान नागहस्ती के शिष्य रेवतीमित्र और उनके शिष्य सिंह युगप्रधान थे।

जीवन-वृत्त रेवती नक्षत्र आचार्य देवर्द्धिगणी ने वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और ब्रह्मदीपकसिंह की स्तुति की है। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र के संबंध में नंदी स्थविरावली के स्तुत्यात्मक पद्य इस प्रकार हैं

"जच्चंजण-धाउसमप्पहाण मुद्दीय-कुवलयनिहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइनक्खत्तनामाणं ॥३१॥

आचार्य रेवतीनक्षत्र जातीय अंजन, पकी हुई द्राक्षा एवं नीलोत्पल के समान श्याम वर्ण थे। आचार्य रेवतीनक्षत्र का वाचक वंश वर्धमान स्थिति को प्राप्त हो ऐसी शुभकामना देवर्द्धिगणी ने उनके प्रति प्रकट की है।

वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र एवं रेवतीमित्र दोनों एक नहीं हैं। आचार्य रेवतीनक्षत्र से पूर्ववर्ती वाचनाचार्य नागहस्ती का स्वर्गवास आचार्य पादलिप्त की युवावस्था में ही हो गया था। उसके बाद रेवतीनक्षत्र वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए हैं। आचार्य पादलिप्त का समय आचार्य आर्यरक्षित से पूर्व का माना गया है।

युग-प्रधान रेवतीमित्र आचार्य वज्रसेन के प्रशिष्य हैं। युगप्रधान आर्यरक्षित से वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र पूर्ववर्ती एवं युगप्रधान रेवतीमित्र उत्तरवर्ती आचार्य हैं। आचार्य रेवतीमित्र का युगप्रधान काल ५९ वर्ष का माना गया है।

वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधान रेवतीमित्र इन दोनों के बीच लगभग सौ वर्ष का अन्तराल संभव है।

आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह के अधिकांश जीवन-प्रसंग अज्ञात हैं। नंदी स्थविरावली में उनके गुणानुवाद का पद्य इस प्रकार हैं

अयलपुरा निक्खंते, कालियसुय-आणुओगिए धीरे।
बंभद्दीवय सीहे, वायगपयमुत्तमं पत्ते ॥३२॥

उपर्युक्त पद्य के अनुसार ब्रह्मद्वीपकसिंह कालिकश्रुत के ज्ञाता, अनुयोग कुशल, धीर, गम्भीर एवं उत्तमपद से सुशोभित आचार्य थे। अचलपुर में ब्रह्मद्वीपकसिंह ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

इन दोनों आचार्यों से संबंधित उपर्युक्त पद्यों से स्पष्ट है कि अपने युग के ये महान् आचार्य थे।

समय-संकेत

आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह के बाद आचार्य स्कंदिल हुए। उनकी आगमवाचना का समय वी. नि. ८२७ से ८४० (वि. पू. ३५७ से ३७०, ई. ३००-३१३) का मध्यकाल है। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह वाचनाकार आचार्य स्कंदिल से पूर्ववर्ती होने के कारण इन दोनों आचार्यों का सत्ता-समय वी. नि. की सातवीं-आठवीं शताब्दी सम्भव है।

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य नागहस्ती का युगप्रधान काल वी. नि. ६२० से ६८९ (वि. १५० से २१९, ई. ९३-१६२) तक

का है। आचार्य रेवतीमित्र का समय वी. नि. ६८६ से ७४८ (वि. २१६ से २७८, ई. १६२-२२१) तक का है और आचार्य सिंह सूरि का आचार्यकाल वी. नि. ७४८ से ८२६ (वि. २७८ से ३५६, ई. २२१-२६६) तक का है।

आचार्य रेवतीमित्र	आचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह
(वी. नि. ६८६-७४८)	(वी. नि. ७४८-८२६)
(वि. सं. २१६-२७८)	(वि. सं. २७८-३५६)
(ई. स. १६२-२२१)	(ई. स. २२१-२६६)

४२.-४४. आगम-पिटक-आचार्य स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन

स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन वाचक परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। अगाध आगम ज्ञान के धनी थे। नंदी स्थविरावली में तीनों का क्रमशः उल्लेख है। स्कन्दिल और नागार्जुन आगम वाचनाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

गुरु-परम्परा

नंदी स्थविरावली के अनुसार वाचनाचार्य हिमवंत के पश्चात् आचार्य नागार्जुन एवं पूर्व आचार्य स्कंदिल थे। नंदी स्थविरावली को गुर्वावली के रूप में मान लेने पर इन तीनों का परस्पर गुरु-शिष्य क्रम सिद्ध होता है।

आर्य स्कन्दिल का नाम इस स्थविरावली में वाचनाचार्य ब्रह्मद्वीपकसिंह के बाद है। ब्रह्मद्वीपकसिंह कालिक सूत्र के ज्ञाता, अनुयोग कुशल, धीर-गंभीर एवं उत्तम वाचक पद से सुशोभित थे।[1] ब्रह्मद्वीपकसिंह से पूर्व नीलोत्पल की भांति श्याम-वर्ण वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र हैं।[2]

नंदी टीकाकार ने आचार्य स्कन्दिल को ब्रह्मद्वीपकसिंह सूरि का शिष्य माना है। ब्रह्मद्वीपक विशेषण के आधार पर इनका संबंध ब्रह्मद्वीपिका शाखा से है।[3] ब्रह्मद्वीपिका शाखा का जन्म आचार्य समित से हुआ था। समित आचार्य सुहस्ती की परम्परा में होने वाले आचार्य सिंहगिरि के शिष्य थे।

इन संदर्भों के आधार पर स्कन्दिल की गुरु-परम्परा का संबंध ब्रह्मद्वीपिक शाखा से जुड़ता है।

आधुनिक शोध विद्वान् मुनि कल्याणविजयजी ने विविध युक्तियों के आधार पर नंदी स्थविरावली स्थविर परम्परा के युग प्रभावी आचार्यों का क्रम प्रस्तुत किया है। उनके अभिमत से नंदी स्थविरावली में गुरु-शिष्य का क्रम प्रस्तुत नहीं है। इस संबंध की चर्चा 'वीर निर्वाण संवत् जैन काल गणना' पृष्ठ ११६ से आगे विस्तार से प्रस्तुत है। प्रभावक चरित्र में अनुयोग प्रवर्तक आचार्य स्कन्दिल को विद्याधर आम्नाय से संबंधित माना है। 'वृद्धवादी प्रबंध' में प्रभाचंद्राचार्य लिखते हैं

पारिजातोपारिजातो, जैनशासननन्दने।
सर्वश्रुतानुयोगार्ह-कुन्दकन्दलनाम्बुदः ॥४॥
विद्याधरवराम्नाये, चिंतामणिरिवेष्टदः ।
आसीच्छ्रीस्कंदिलाचार्यः, पादलिप्तप्रभोः कुले ॥५॥

इस उल्लेखानुसार आचार्य स्कंदिल विद्याधरीय आम्नाय के आचार्य पादलिप्तसूरि की परम्परा के थे। जैन शासन रूपी नंदन वन में कल्पवृक्ष के समान तथा समग्र श्रुतानुयोग को अंकुरित करने में वे मेघ के समान थे। 'चिंतामणिरिवेष्टदः' चिंतामणि की भांति वे इष्ट के प्रदाता थे।

प्रभाचंद्राचार्य के उक्त उल्लेख से आचार्य स्कंदिल विद्याधरी शाखा के थे। विद्याधरी शाखा का जन्म आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध के शिष्य विद्याधर गोपालक से हुआ।

आचार्य स्कंदिल को विद्याधर शाखा का मानना अधिक निर्विवाद है।

हिमवन्त और नागार्जुन नंदी स्थविरावली में

---

१. अयलपुरा णिक्खंते कालियसुयआणुओगिए धीरे।
बंभद्दीवगसीहे वायगपयमुत्तमं पत्त ॥३१॥
(नन्दी सूत्र)

२. जच्चंजणधाउसमप्पहाण मुद्दिय-कुवलयनिहाणं।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइणक्खत्तनामाणं ॥३०॥
(नन्दी सूत्र)

३. क. वंदे सिद्धवाचकशिष्यान् स्कंदिलाचार्यान् ॥३३॥
ख. ब्रह्मद्वीपिकशाखोपलक्षितान् सिद्धाचार्यान् रेवतिनक्षत्रकशिष्यान् ॥
(नंदी टीका, पृ. ९३)

अनुयोगधर आचार्य नागार्जुन का नाम हिमवंत के बाद है। इस स्थविरावली के अनुसार नागार्जुन का क्रम २३वां है।[3] वल्लभी युगप्रधान पट्टावली में सिंहसूरि के बाद नागार्जुन का क्रम २५वां है। जिनदास महत्तर ने अपनी चूर्णि में और हिमवंत स्थविरावली में नागार्जुन को हिमवंत का शिष्य माना है। नंदी स्थविरावली में नागार्जुन के शिष्य भूतदिन्न को नाइल कुल वंश वृद्धिकारक बताया है।[4] नाइल कुल या नागेन्द्र कुल का संबंध वज्रसेन के शिष्यों से था। इनके पूर्व की परम्परा आचार्य सुहस्ती की परम्परा से संबंधित थी, अतः नाइल कुल वंश वृद्धिकारक भूतदिन्न के गुरु नागार्जुन भी आचार्य सुहस्ती की परम्परा के स्थविर सिद्ध होते हैं।

जीवन-वृत्त

'वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना' कृति में प्रदत्त हिमवंत स्थविरावली के अनुसार आचार्य स्कंदिल का जन्म मथुरा के ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम मेघरथ और माता का नाम रूपसेना था। मेघरथ और रूपसेना दोनों उत्कृष्ट धर्म की उपासना करने वाले जिनाज्ञा के प्रतिपालक श्रावक थे। गृहस्थ में आचार्य स्कंदिल का नाम सोमरथ था। ब्रह्मद्वीपिका शाखा के स्थविर सिंहरथ के उपदेश से प्रभावित हो सोमरथ ने उनके पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की।

द्वादश-वर्षीय दुष्काल के प्रभाव में अनेक श्रुतधर मुनि वैभारगिरि एवं कुमारगिरि पर्वत पर अनशनपूर्वक स्वर्गस्थ हो चुके थे। इस अवसर पर आगमश्रुत की भी बहुत क्षति हुई। दुष्काल की समाप्ति पर मथुरा में आयोजित श्रमणों के महासम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य स्कंदिल ने की। सम्मेलन में मधुमित्र, गंधहस्ती आदि १५० श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र एवं स्कंदिल दोनों आचार्य सिंह के शिष्य थे। नंदी सूत्र में इन्हें ब्रह्मद्वीपक सिंह कहा गया है। आचार्य गंधहस्ती मधुमित्र के शिष्य थे। उनका वैदुष्य उत्कृष्ट था। आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर आठ हजार श्लोक परिमाण महाभाष्य की रचना आचार्य गंधहस्ती ने की।

गुरुभाई आचार्य मधुमित्र, महाविज्ञ आचार्य गंधहस्ती एवं तत्सम अनेक विद्वान् श्रमणों के स्मृत पाठों के आधार पर आगम श्रुत का संकलन हुआ। अनुयोगधर आचार्य स्कंदिल ने उसे प्रमाणित किया। आचार्य स्कंदिल की प्रेरणा से विद्वान् शिष्य गंधहस्ती ने ग्यारह अंगों का विवरण लिखा। मथुरा निवासी ओसवाल वंशज श्रावक पोशालक ने गंधहस्ती विवरण सहित सूत्रों को ताड़पत्रों पर लिखवाकर निर्ग्रंथों को अर्पित किया। आचार्य गंधहस्ती को ब्रह्मद्वीपिका शाखा में मुकुटमणि के तुल्य माना है।[5]

हिमवंत, धृति-संपन्न, महापराक्रमी, परम स्वाध्यायी, अनुयोगधर आचार्य थे एवं उपसर्गादि प्रतिकूलताओं को सहने में वे हिमालय की भांति अकंप थे।[6] इनके जन्म, वंश, परिवार आदि की सामग्री उपलब्ध नहीं है।

आचार्य हिमवंत का जीवन परिचय चूर्णिकार के शब्दों में इस प्रकार है

---

४. कालियसुयअणुओगस्स धारए य पुव्वाणं।
हिमवंतखमासमणे वंदे णागज्जुणायरिए ॥३४॥
(नन्दी सूत्र)

हिमवंतो चेव हिमवंतखमासमणो। तस्स सीसो णागज्जुणायरितो॥
(नंदीचूर्णि, पृ. १२)

५. अड्ढभरहप्पहाणे बहुविहसज्झायसुमुणियपहाणे।
अणुओगियवरवसहे णाइलकुलवंसणंदिकरे ॥३७॥
भूयहियप्पगब्भे वंदेहं भूयदिण्णमायरिए।
भवभयवोच्छेयकरे सीसे णागज्जुणरिसीणं ॥३८॥
(नन्दी सूत्र)

६. हिमवंत स्थविरावली, पृ. १७६ से आगे।

७. तत्तो हिमवंतमहंतविक्कमे धिइपरक्कममहंते।
सज्झायमणंतधरे हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥३३॥
(नन्दी सूत्र)

हिमवंतपव्वतेण महंतत्तणं तुल्लं जस्स सो हिमवंतमहंतो, इह भरहे णत्थि अण्णो तत्तुल्लो त्ति, एस थुतिवादो। उत्तरतो वा हिमवंतेण सेसदिसासु य समुद्देण निवारितो जसो, हिमवंत निवारणो जसो महंतो त्ति अतो हिमवंत महंतो। मंहतक्किमो कहं? उच्येत-सामत्थतो, महंते वि कुत-गण-संघप्पयोयणे तरति त्ति परंपवदिजएण वा तवविसेसे वा थितिबलेण परक्कमंतो महंतो। अणंतगम-पज्जवत्तणतो अणंतधरो तं, महंतं हिमवंतणामं वंदे सेसं कंठं।

(नंदी चूर्णि, पृ. १०)

चूर्णिकार ने आचार्य हिमवंत के यश को आसमुद्रांत विस्तृत बताया है।

नागार्जुन का जन्म वी. नि. ७९३ (वि. ३२३), दीक्षा वी. नि. ८०७ (वि. ३३७) और आचार्य-पद वी. नि. ८२६ (वि. ३५६) बताया गया।[८] आचार्य पदारोहण के समय नागार्जुन ३३ वर्ष के युवा थे।

आगम वाचना जैन निर्युक्ति, भाष्य, टीका आदि ग्रंथों में तीर्थंकर महावीर के निर्वाणोत्तर काल से अब तक चार आगम वाचनाओं का उल्लेख है। उनमें प्रथम वाचना वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संपन्न हुई। उस समय दुष्काल के प्रभाव से श्रुतधर मुनियों की क्षति होने पर भी श्रुतधारा सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुई थी। चौदह पूर्वों के ज्ञाता भवाब्धि पतवार आचार्य भद्रबाहु एवं श्रुतसागर का समग्रता से पान करने में सक्षम प्रतिभा-संपन्न स्थूलभद्र जैसे श्रमण विद्यमान थे।

वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी में द्वादश-वर्षीय दुष्काल का श्रुत विनाशकारी भीषण आघात पुनः जैन शासन को लगा। साधु-जीवन की मर्यादा के अनुकूल आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो गई। अनेक श्रुत संपन्न मुनि काल के अंक में समा गए। सूत्रार्थ ग्रहण-परावर्तन के अभाव में श्रुत-सरिता सूखने लगी। जैन शासन के सामने विषम स्थिति थी। बहुसंख्यक मुनिजन सुदूर प्रदेशों में विहरण करने के लिए प्रस्थान कर गए थे।

दुष्काल की समाप्ति के बाद अवशिष्ट श्रुत-संकलना के उद्देश्य से मथुरा में श्रमण सम्मेलन हुआ। सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कंदिल ने किया। श्रुत-संपन्न मुनियों की उपस्थिति सम्मेलन की अनन्य शोभा थी। श्रमणों की स्मृति के आधार पर आगम-पाठों का व्यवस्थित संकलन हुआ। इस द्वितीय आगम वाचना का समय वी. नि. ८२७ से ८४० (वि. स. ३५७ से ३७०) का मध्यकाल है। यह आगम वाचना मथुरा में होने के कारण माथुरी वाचना कहलाई।[९] आचार्य स्कंदिल की अध्यक्षता में होने के कारण इसे स्कंदिली वाचना के नाम से अभिहित किया गया।

नंदी चूर्णि के आधार पर प्रस्तुत घटना-चक्र का दूसरा पक्ष भी है दुष्काल के इस क्रूर आघात से श्रुत नष्ट नहीं हुआ, सहस्रों श्रुतधर मुनि काल-कवलित हो गए। अनुयोगधर मुनियों में संपूर्ण अनुयोग के धारक एक स्कंदिल बच गए। उन्होंने मथुरा में अनुयोग का प्रवर्तन किया, अतः यह वाचना स्कंदिल वाचना के नाम से विश्रुत हुई। इसी समय के आस-पास एक आगम-वाचना वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में संपन्न हुई। इसे वल्लभी वाचना एवं

---

८. विचार-श्रेणि-युगप्रधान पट्टावली।

९. कहं पुण तेसिं अणुओगे? उच्यते, बारसवच्छरिए महते दुब्भिक्खे काले पत्तट्ठा किडियाणं गहण-गुणण-ऽणुप्पेहाऽभावतो सुते विप्पणट्ठे पुणो सुब्भिक्खे काले जाते महुराए महते साहुसमुदए खंदिलायरियप्पमुहसंघेण 'जो जं संभरति' त्ति एवं संघडितं (जे. १९० प्र.) कालियसुतं। जम्हा य एतं मधुराए कतं तम्हा माथुरा वायणा भण्णति। सा य खंदिलायरियसम्मय त्ति कातुं तस्संतियो अणुओगो भण्णति। सेसं कंठं। अण्णे भणंति जहा सुतं ण णट्ठं, तम्मि दुब्भिक्खकाले जे अण्णे पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा, एगे खंदिलायरिए संघरे, तेण मधुराए अणुयोगो पुणो साधूणं पवत्तितो त्ति माथुरा वायणा भण्णति, तस्संतितो य अणियोगो भण्णति ॥३२॥

(नंदी चूर्णि, पृ. ९)

नागार्जुनीय वाचना की संज्ञा मिली। स्मृति के आधार पर सूत्र-संकलना होने के कारण वाचना भेद रह जाना स्वाभाविक था।[१०] आचार्य देवर्द्धिगणी के समय में आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण कार्य वल्लभी में हुआ। अतः वर्तमान में आचार्य नागार्जुन की आगम वाचना को प्रथम वल्लभी वाचना के नाम से जानते हैं।

आचार्य देवर्द्धिगणी ने इन दोनों आचार्यों की भावपूर्ण शब्दों में स्तुति की है। वाचनाचार्य स्कंदिल के विषय में उनका प्रसिद्ध श्लोक है

जेसिं इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहु नगरनिग्गयजसे ते वंदे खंदिलायरिए ॥३२॥

(..... नन्दी सूत्र)

प्रस्तुत पद्य में आचार्य स्कंदिल के अनुयोग को संपूर्ण भारत में प्रवृत्त बताकर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने सम्मान प्रकट किया है। नंदी सूत्र के इस उल्लेख से आचार्य स्कंदिल के उदात्त व्यक्तित्व का वर्चस्व पूरे भारत में छाया हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है।

वे आचार्य नागार्जुन के विषय में कहते हैं

भिउमद्दवसंपण्णे अणुपुव्विं वायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे णागज्जुणवायए वंदे ॥३५॥

(..... नन्दी सूत्र)

मृदुतादि गुणों से संपन्न, सामायिक श्रुतादि के ग्रहण से अथवा परंपरा से विकास की भूमिका का क्रमशः आरोहणपूर्वक वाचक पद को प्राप्त ओघश्रुत समाचारी में कुशल आचार्य नागार्जुन को मैं प्रणाम करता हूँ।

आचार्य देवर्द्धिगणी ने नागार्जुन को वंदन करते समय उनका गुणानुवाद किया है।

उन्होंने आर्य स्कंदिल की स्तुति में उनके अनुयोग का संपूर्ण भारत में प्रभाव प्रदर्शित कर स्कंदिली वाचना को प्रमुख स्थान दिया।

वैशिष्ट्य आर्य स्कंदिल और नागार्जुन की अध्यक्षता में आगमों की महत्त्वपूर्ण वाचनाएं हुईं। आगम वाचना के समय दुष्काल के प्रभाव से क्षत-विक्षत एकादशांगी का संकलन कर इन दोनों अनुयोगधर आचार्यों ने जैन शासन पर असीम उपकार किया है एवं रत्नपिटक की भांति आगम को सुरक्षित रखा है।

इतिहास के पृष्ठों पर आचार्य स्कंदिल और नागार्जुन की आगम वाचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वाचनाचार्य हिमवंत का नंदी स्थविरावली में उल्लिखित आगम का गहन स्वाध्यायी रूप आगम ज्ञान की विशिष्टता का सूचक है।

तीनों आचार्य आगम वाणी के महापिटक थे।

समय संकेत

आचार्य स्कंदिल, हिमवंत, नागार्जुन तीनों समकालीन थे। आचार्य मेरुतुङ्ग ने विचार-श्रेणि में आचार्य स्कंदिल की काल-निर्णायकता के विषय में लिखा "श्री विक्रमात् ११४ वर्षेवज्रस्वामी तदनु २३९ वर्षे स्कंदिलः।" (विक्रम सं. ११४ में वज्रस्वामी का स्वर्गवास हुआ। आचार्य स्कंदिल का समय आचार्य वज्र के स्वर्ग सम्वत् से २३९ वर्ष बाद का है।) 'वीर निर्वाण संवत् जैन कालगणना' में प्राप्त वर्णनानुसार वज्रस्वामी एवं आचार्य स्कंदिल दोनों का मध्यवर्ती समय २४२ वर्ष का है। वज्रस्वामी के बाद १३ वर्ष आर्य रक्षित के, २० वर्ष पुष्यमित्र के, ३ वर्ष वज्रसेन के, ६९ वर्ष नागहस्ती के, ५९ वर्ष रेवतीमित्र के, ७९ वर्ष ब्रह्मद्वीपकसिंह के हैं। कुल जोड़ २४२ वर्ष का है। इस २४२ की संख्या में वज्रस्वामी के ११४ वर्ष एवं अनुयोग प्रवर्तक प्रसिद्ध

---

१०. 'इह हि स्कंदिलाचार्य प्रवृत्तौ दुष्यमानुभावतो दुर्भिक्षाप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षाप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्पर-वाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हिः सूत्रार्थसंघटने स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यवाचना भेदो ने काचिदनुपपत्तिः।'
(ज्योतिष्करण्डक टीका)

५।घनाकार आचार्य स्कंदिल के युगप्रधान-काल में १४ वर्ष मिलाने से उनका (आर्य स्कंदिल) समय वी. नि. ८२७ से ८४० तक का स्वीकृत किया गया है।[११] यही काल स्कंदिली वाचना का मान्य है।[१२]

आचार्य हिमवंत से संबंधित जीवन प्रसंग का काल संवत् प्राप्त नहीं है।

अनुयोगधर आचार्य नागार्जुन का स्वर्गवास वी. नि. ९०४ (वि. सं. ४३४) में बताया गया है।[१३] आचार्य स्कंदिल जिस समय वृद्धावस्था में थे, उस समय आचार्य नागार्जुन युवा थे।

११. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ. १०९।
१२. दसवेआलियं (भूमिका)।
१३. दुस्सम काल समण संघत्थव-युगप्रधान पट्टावली।

४५. अर्हन्नीति-उन्नायक आचार्य उमास्वाति

प्रभावक आचार्यों की परम्परा में उमास्वाति वाचक का विशिष्ट स्थान है। वे संस्कृत भाषा के धुरन्धर विद्वान् थे। उन्हें आगमों का गंभीर अध्ययन था। जैन वाङ्मय का सुप्रसिद्ध ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र उनकी बहुश्रुतता का द्योतक है।

गुरु-परम्परा

उमास्वाति की गुरुपरम्परा श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के ग्रंथों में भिन्न है। श्वेताम्बर विद्वानों ने उमास्वाति की गुरु-परम्परा को श्वेताम्बर गुर्वावली से संबद्ध माना है। दिगम्बर विद्वान् उमास्वाति की गुरु-परम्परा को दिगम्बर परम्परा से संबंधित मानते हैं।

उमास्वाति द्वारा रचित तत्त्वार्थ भाष्य प्रशस्ति के अनुसार उमास्वाति के दीक्षा गुरु घोषनन्दि श्रमण थे। घोषनन्दि एकादशाङ्ग के धारक एवं वाचक मुख्य शिव श्री के शिष्य थे। उमास्वाति के विद्या गुरु 'मूल' वाचनाचार्य थे। वाचनाचार्य 'मूल' महावाचक मुण्डपाद के शिष्य थे। उच्चनागर शाखा में उमास्वाति को वाचनाचार्य का पद प्राप्त था।

पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्त्यार आदि ने उमास्वाति को दिगम्बर परम्परा का माना है। वे भाष्य को स्वोपज्ञ मानने के पक्ष में नहीं हैं।

पण्डित सुखलालजी ने उमास्वाति को कई प्रमाणों के आधार पर श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध किया है।[1] उनके अभिमत से तत्त्वार्थ भाष्य उमास्वाति की स्वोपज्ञ रचना है। भाष्य प्रशस्ति में संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

दिगम्बर परम्परा की नन्दीसंघ पट्टावली में भद्रबाहु द्वितीय, गुप्ति गुप्त, माघनन्दी, जिनचन्द्र, कुन्कुन्दाचार्य, उमास्वामी का क्रमशः उल्लेख है। प्रस्तुत उल्लेखानुसार, उमास्वाति को कुन्द-कुन्द का शिष्य माना गया है। दिगम्बर परम्परा में उमास्वामी और उमास्वाति दोनों नाम प्रचलित हैं।

श्रवणबेलगोल के ६५वें शिलालेख में प्राप्त उल्लेखानुसार उमास्वाति कुन्द-कुन्द के अन्वय में हुए हैं।[2] इस शिलालेख के आधार पर कुन्द-कुन्द और उमास्वाति का साक्षात् गुरु-शिष्य संबंध सिद्ध नहीं होता।

इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार में कुन्द-कुन्द का उल्लेख होने पर भी उमास्वाति का कहीं उल्लेख नहीं किया है।

आदि पुराण तथा हरिवंश पुराण में भी प्रचीन आचार्यों के गुरुक्रम में उमास्वाति का नाम नहीं है।

आचार्य कुन्द-कुन्द और उमास्वाति के संबंध को बताने वाले श्रवणबेलगोल के सभी शिलालेख शोध विद्वानों के अभिमत से विक्रम की १०वीं, ११वीं शताब्दी के बाद के हैं। इससे पहले के किसी भी शिलालेख में ऐसा उल्लेख नहीं है।

तत्त्वार्थ भाष्य की कारिकाओं में नन्यन्त प्रधान नामों के आधार पर तथा कई सैद्धान्तिक मान्यताओं के आधार पर पं. नाथूराम प्रेमीजी ने आचार्य उमास्वाति का संबंध यापनीय संघ परम्परा के साथ अनुमानित किया है।[3]

मैसूर नगर ताल्लुका के ४६ नं. के शिलालेख में एक श्लोक आया है

---

१. तत्त्वार्थ परिचय (पण्डित सुखलालजी द्वारा प्रस्तुत)। (पृ. २१)

२. अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥
(जैन शिलालेख संग्रह, भाग-१, अभिलेख सं. ४३)

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ५३३।

तत्त्वार्थसूत्र कर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम् ।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम् ॥

इस श्लोक में 'श्रुतकेवलिदेशीय' विशेषण आचार्य उमास्वाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। यही विशेषण यापनीय संघ के अग्रणी वैयाकरण शाकटायन के साथ भी है। इस आधार से उमास्वाति यापनीय संघ की परम्परा से सम्बन्धित सिद्ध होते हैं।

श्वेताम्बर विद्वान् धर्मसागरजी की पट्टावली से प्रज्ञापना सूत्र के रचनाकार श्यामाचार्य के गुरु हारितगोत्रीय स्वाति को ही तत्त्वार्थ रचनाकार उमास्वाति मान लिया है।[४] यह उमास्वाति के नाम के अर्धांश की समानता के कारण पैदा हुई भ्रान्ति संभव है।

उमास्वाति और स्वाति दोनों का गोत्र भी एक नहीं है। स्वाति हारितगोत्रीय थे।[५] उमास्वाति का गोत्र कौभीषण माना गया है।[६] स्वाति के पूर्ववर्ती वाचनाचार्य बलिस्सह थे[७] जो महागिरि के उत्तराधिकारी थे। उमास्वाति के गुरु का नाम घोषनन्दि बताया गया है।[८]

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य को श्वेताम्बर विद्वानों ने एक मत से उमास्वाति की रचना माना है। इस भाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति की गुरु-परम्परा के साथ उच्चनागर शाखा का उल्लेख है। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उच्चनागर शाखा का उल्लेख है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आचार्य सुहस्ती के शिष्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध, उनके शिष्य इन्द्रदिन्न, इन्द्रदिन्न के शिष्य दिन्न एवं दिन्न के शिष्य शान्ति श्रेणिक थे। शान्ति श्रेणिक से उच्चनागरी शाखा का उद्भव हुआ था।

भाष्य प्रशस्ति में उच्चनागर शाखा के उल्लेख से आचार्य उमास्वाति की गुरु-परम्परा श्वेताम्बराचार्य सुहस्ती की परम्परा के साथ सिद्ध होती है।

जीवन-वृत्त

प्रभावक आचार्यों की परम्परा में उमास्वाति ऐसे आचार्य हुए हैं जिनको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान भावेन सम्मान देते हैं और इन्हें अपनी परम्परा का मानने में गौरव का अनुभव करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में उमास्वाति और उमास्वामी दोनों नाम प्रचलित हैं। श्वेताम्बर परम्परा में केवल उमास्वाति नाम प्रसिद्ध है।

दिगम्बर ग्रंथों में गृध्रपिच्छ उमास्वाति को तत्त्वार्थ का कर्ता बताया है।[९] पण्डित सुखलालजी ने तत्त्वार्थ सूत्र की प्रस्तावना में वाचक उमास्वाति को तत्त्वार्थ सूत्र का कर्ता माना है। गृध्रपिच्छ उमास्वाति नाम के आचार्य अवश्य हुए हैं पर उन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र या तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र की रचना नहीं की थी। तत्त्वार्थ के कर्ता वाचक उमास्वाति थे। श्रवणबेलगोल के शिलालेख में उमास्वाति के बलाकपिच्छ नामक एक शिष्य का उल्लेख भी है।[१०]

उमास्वाति ऐसे युग में पैदा हुए जब संस्कृत भाषा का मूल्य बढ़ रहा था। जैनेतर संघों में उच्च-कोटि के संस्कृत ग्रंथों का सृजन हो रहा था। जैन शासन में जैन

---

४. श्री आर्य महागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमलभ्रातरौ तस्य बलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः, तत्त्वार्थादयो ग्रंथास्तु तत्कृता एव संभाव्यते ॥
(पट्टावली समुच्चय, पृ. ४६)

५. हारियगोत्तं साइं च ॥१५॥
(नंदी स्थविरावली)

६. कौभीषणिना स्वातितनयेन ॥३॥
(तत्त्वार्थभाष्य कारिका)

७. बलिस्सहस्स अंतेवासी साति ॥
(नंदी चूर्णि, पृ. ८)

८. शिष्येण घोषनन्दिक्षमाश्रमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥
(तत्त्वार्थभाष्य कारिका)

९. अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतशास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किलगृद्धपक्षाः।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्य शब्दोत्तरगृद्धपिच्छम् ॥
(जैन शिलालेख संग्रह, भाग-१, अभिलेख सं. १०८)

१०. श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः शिष्यष्टजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिं कीर्तिं ॥
(जैनशिलालेख सं., भाग-१, पृ. ७२)

संस्कृत विद्वानों की अपेक्षा अनुभूत होने लगी थी। इस आवश्यकता की संपूर्ति में उमास्वाति जैसे उच्चकोटिक विद्वान की उपलब्धि जैन संघ को हुई।

उमास्वाति का जीवन कई विशेषताओं से मंडित था। ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने के कारण संस्कृतभाषा का ज्ञान उनको प्रारम्भ से ही था। जैन आगम का प्रतिनिधि ग्रंथ 'तत्त्वार्थ सूत्र' उनके आगम ज्ञान की गहराई को प्रकट करता है तथा जैन आगमातिरिक्त न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि भारतीय दर्शनों के गंभीर अध्ययन की सूचना देता है। उमास्वाति के वाचक पद को देखकर श्वेताम्बर परम्परा पूर्वविद् (पूर्वों के ज्ञाता) के रूप में मानती है और दिगम्बर परम्परा श्रुतकेवली तुल्य सम्मान प्रदान करती है।

आचार्य उमास्वाति बेजोड़ संग्राहक थे। जैन तत्त्व के संग्राहक आचार्यों में उमास्वाति सर्वप्रथम हैं। उनके तत्त्वार्थ सूत्र में जैन दर्शन के प्रायः सभी विषयों का अनुपम संग्रह है। आगम वाणी का यह अपूर्व संग्राहक ग्रंथ है।

आचार्य उमास्वाति की संग्राहक बुद्धि से प्रभावित होकर आचार्य हेमचंद्र ने कहा 'उप उमास्वाति संग्रहीतार' (जैन तत्त्व के संग्राहक आचार्यों में उमास्वाति अग्रणी हैं)।'

जनश्रुति के अनुसार उमास्वाति चामत्कारिक भी थे। उन्होंने एक बार प्रस्तर प्रतिमा के मुख से शब्दोच्चारण करवाया। आचार्य उमास्वाति का व्यक्तित्व चामत्कारिक प्रयोगों से नहीं अपितु उनकी निर्मल प्रतिभा के आधार पर चमका।

ग्रंथ रचना

संपूर्ण जैन समाज में उमास्वाति का नाम आदर से लिया जाता है। इसका प्रमुख कारण तत्त्वार्थ सूत्र जैसे उच्चकोटि ग्रंथ का निर्माण है। तत्त्वार्थ सूत्र ज्ञान, विज्ञान, भूगोल, खगोल, कर्म-सिद्धांत, आत्म-तत्त्व, पदार्थ-विज्ञान आदि विषयों का आकर ग्रंथ है। जैन-दर्शन के मूल तत्त्वों की आधारभूत व्याख्याएँ इस ग्रंथ से उपलब्ध की जा सकती हैं। श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों परम्परा में अत्यल्प पाठ भेद के साथ यह समान रूप से समादृत है। इस ग्रंथ में जैन समाज की एकात्मकता के दर्शन होते हैं। मोक्ष-मार्ग के रूप में रत्नत्रयी (सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चरित्र) का युक्ति पुरस्सर निरूपण, द्रव्यों एवं तत्त्वों की विवेचना, ज्ञान एवं ज्ञेय की समुचित व्यवस्था तथा जैन दर्शन सम्मत अनेक मान्यताओं के प्रतिपादन से समाज में इस ग्रंथ की महती उपयोगिता है। आत्मा, बंध और मोक्ष का साङ्गोपाङ्ग वर्णन पाठकों को प्रभावित करता है। ग्रंथ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

तत्त्वार्थ सूत्र सूत्र ग्रंथों में तत्त्वार्थ सूत्र जैन साहित्य का प्रथम सूत्र ग्रंथ है। यह विपुल सामग्री से परिपूर्ण है। इसकी रचनाशैली प्रौढ़ और गंभीर है। कणादसूत्र के साथ तत्त्वार्थसूत्र का साम्य है। इसके १० अध्याय हैं। इन दस अध्यायों में कुल सूत्र संख्या ३५७ है। प्रथम अध्याय के ३३ सूत्र हैं। इन सूत्रों में प्रमुखतः ज्ञान के ५ भेदों का वर्णन है। द्वितीय अध्ययन के ५३ सूत्र हैं। इनमें संसारी जीवों के भेदों-उपभेदों का विवेचन है। तृतीय अध्याय में ३९ सूत्र हैं। इनमें अधोलोक और मध्यलोक का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय के ४२ सूत्र हैं। इनमें उर्ध्वलोक का वर्णन है। पंचम अध्याय के ४२ सूत्र हैं। इनमें धर्म-अधर्म आदि द्रव्य विभाग का प्रतिपादन है। षष्ठ अध्याय में २७ सूत्र हैं। इनमें आश्रव-तत्त्व का निरूपण है। सप्तम अध्याय के ३९ सूत्र हैं। इनमें आस्रव निरोधक तत्त्वों का वर्णन है। अष्टम अध्याय के २६ सूत्र हैं। कर्म-बंध की व्याख्या है। नवम अध्याय के ४७ सूत्र हैं। इनमें संवर, निर्जरा धर्म की व्याख्या है। दशम अध्याय में मोक्ष मार्ग का विवेचन है।

श्वेताम्बर परम्परा में इसको प्रामाणिक ग्रंथ स्वीकार किया गया है। दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ सूत्र के स्वाध्याय का उपवास के बराबर फल माना गया[19] है।

१९. दशाध्याये परिच्छन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलस्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः॥

दस लक्षण पर्व के दिनों में इसका विशेष स्वाध्याय किया जाता है।

व्याख्या ग्रंथ तत्त्वार्थ के व्याख्या ग्रंथों में तत्त्वार्थाधिगम भाष्य व्याख्या ग्रंथ उमास्वाति की स्वोपज्ञ रचना है। उमास्वाति गद्यकार ही नहीं पद्यकार भी थे। उनकी भाष्य-कारिकाएं सुललित पद्यों में सन्निहित हैं। दुःखार्त एवं आगमों के गूढ़ ज्ञान को प्राप्त करने में असमर्थ लोगों पर अनुकंपा कर आचार्य उमास्वाति ने गुरु-परम्परा से प्राप्त आर्हत उपदेश को 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रंथ में निहित किया। आचार्य उमास्वाति के शब्दों में यह ग्रंथ अव्याबाध सुख को प्राप्त कराने वाला है। इस ग्रंथ की रचना कुसुमपुर में हुई।

'तत्त्वार्थाधिगम' भाष्य में आचार्य उमास्वाति की जीवन परिचायक सामग्री निम्नोक्त पद्यों में है

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमाक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥१॥
वाचनया च महावाचकश्रमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं सम्यग्, गुरुक्रमेणागतं समवधार्य।
दुःखार्तं च दुरागम-विहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

(तत्त्वार्थ भाष्य कारिका)

दिगम्बर विद्वानों के अभिमत से तत्त्वार्थाधिगम-भाष्य अर्वाचीन रचना है। तत्त्वार्थ सूत्र प्राचीन है। दोनों एककर्तृक नहीं है।

श्वेताम्बर विद्वानों के अभिमत से तत्त्वार्थ-भाष्य प्राचीन है। टीकाकार आचार्य अकलंक भट्ट, आचार्य वीरसेन आदि विद्वान् आचार्य उमास्वाति की भाष्यकारिकाओं से सुपरिचित थे। उन्होंने अपने ग्रंथों में 'उक्तंच' कहकर भाष्यकारिकाओं का उपयोग किया है। सर्वार्थसिद्धि टीका में भी कई वाक्य और पद भाष्य के साथ मिलते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र प्रथम सूत्र ग्रंथ है। उससे पहले वैदिक और बौद्ध विद्वानों द्वारा कई सूत्र ग्रंथ रचे गये और उन पर भाष्यों की रचना भी हुई, अतः उमास्वाति द्वारा सूत्रग्रंथ के साथ भाष्य का लिखना स्वाभाविक था।

पंडित सुखलालजी ने तत्त्वार्थ प्रस्तावना में कई पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इसे एककर्तृक सिद्ध किया है।

तत्त्वार्थ सूत्र, जैन साहित्य में उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसके दो तरह के सूत्रपाठ हैं, पर दोनों सूत्रपाठों की संख्या समान नहीं है। भाष्य सूत्रपाठ के सूत्रों की संख्या ३४४ एवं टीका के सूत्रपाठ की संख्या ३५७ है।

दोनों ग्रंथों के सूत्रपाठों की शब्द रचना में भी कहीं-कहीं परिवर्तित रूप है। फिर भी इस सिद्धांत प्रधान एवं दर्शन प्रधान ग्रंथ ने श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। इस ग्रंथ की व्याख्या में दिगम्बर विद्वान् पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक टीका और आचार्य विद्यानंद ने श्लोक वार्तिक टीका की रचना की है। स्थान-स्थान पर 'आप्त परीक्षा' आदि ग्रन्थों की रचना में आचार्य विद्यानंद ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के सूत्रों का प्रामाणिक आधार दिया है।

अकलंक की राजवार्तिक और विद्यानंद की श्लोक वार्तिक टीका इन दोनों का आधार सर्वार्थसिद्धि टीका है। राजवार्तिक (तत्त्वार्थ वार्तिक) गद्य में है और श्लोकवार्तिक पद्य में है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक दोनों टीकाएं उच्चकोटि की हैं। राजवार्तिक में दार्शनिक बिंदुओं का विस्तार है, श्लोकवार्तिक में विस्तार व गहराई दोनों हैं।

दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ को एवं श्वेताम्बर परम्परा में भाष्य सूत्रपाठ को प्रामाणिक माना है। श्वेताम्बराचार्यों ने तत्त्वार्थ पर व्याख्या लिखते समय भाष्य मान्य पाठ का अनुगमन किया है। दिगम्बराचार्यों ने 'सर्वार्थसिद्धि' मान्य पाठ का अनुगमन

किया है। तत्त्वार्थ भाष्य पर किसी दिगम्बराचार्य ने टीका नहीं की है। श्वेताम्बराचार्यों ने तत्त्वार्थभाष्य पर टीकाएं रची हैं।

तत्त्वार्थभाष्य पर श्वेताम्बराचार्यों ने जो टीकाएं रची हैं, उनमें सबसे बड़ी टीका सिद्धसेन की है। प्रस्तुत टीकाकर सिद्धसेन तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति की प्रशस्ति में 'भास्वामी' के शिष्य बताए गये हैं। भास्वामी दिन्नगणी के प्रशिष्य और सिंह सूरि के शिष्य थे।

आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वार्थभाष्य पर लघुवृत्ति की रचना की है। उनकी यह वृत्ति लगभग ५ अध्यायों पर है। शेष वृत्ति की रचना यशोभद्र और उनके शिष्य ने पूर्ण की। मलयगिरि ने तत्त्वार्थभाष्य पर वृत्ति रचना की। ऐसा प्रज्ञापना वृत्ति में उल्लेख है। वर्तमान में वह उपलब्ध नहीं है।

जम्बूद्वीप समास प्रकरण, पूजा प्रकरण, श्रावक-प्रज्ञप्ति, क्षेत्र विचार, प्रशमरति-प्रकरण आदि रचनाएं उमास्वाति की बताई जाती हैं।

विशुद्ध अध्यात्म भूमिका पर प्रतिष्ठित उनका प्रशमरति-प्रकरण समता को प्रवाहित करने वाला निर्झर है।

वृत्तिकार सिद्धसेन ने प्रशमरति को भाष्यकार की कृति के रूप में सूचित किया है। निशीथ चूर्णि में भी प्रशमरति प्रकरण की १२०वीं कारिका 'आचार्य आह' कहकर उद्धृत की गई है।

उमास्वाति ५०० ग्रंथों के रचनाकार थे।[१२] इस प्रकार की प्रसिद्धि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में है।

समय-संकेत

दिगम्बर विद्वान् आचार्य उमास्वाति को विक्रम की द्वितीय शताब्दी का विद्वान् मानते हैं। उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र पर स्वोपज्ञ भाष्य की रचना की। यह रचना भाष्य युग की सूचना है।

मल्लवादी के नयचक्र और उसकी टीका में तत्त्वार्थ सूत्र और भाष्य के उद्धरण हैं। मल्लवादी वी. नि. ८८४ (वि. ४१४) में विद्यमान थे, अतः उमास्वाति का समय इनसे पूर्व का है।

पं. सुखलालजी ने तत्त्वार्थ प्रस्तावना में विविध शोध बिंदुओं के आधार पर वाचक उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय वी. नि. की ५वीं (वि. की प्रथम) और अर्वाचीन से अर्वाचीन समय वी. नि. ८वीं ९वीं (वि. ३-४) शताब्दी का प्रमाणित किया है।

---

१२. 'पंचशतीप्रकरणप्रणयनप्रवीणैरत्र भगवद्भिरुमास्वाति वाचकमुख्यैः'।
(वादिदेवसूरि कृत स्याद्वादरत्नाकर)

४६. कीर्ति-निकुञ्ज आचार्य कुन्दकुन्द

आचार्य कुन्दकुन्द का दिगम्बर परम्परा में गरिमामय स्थान है। अध्यात्म दृष्टियों को उजागर करने का उन्हें श्रेय है। श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में उनको प्रमुख माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण उनकी उत्तरवर्ती परम्परा के आचार्य मूल संघ और कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव अनुभव करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में जो महत्त्व पूर्वधर आचार्य स्थूलभद्र का है, वही महत्त्व दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का है। जैन धर्म का सुप्रसिद्ध श्लोक श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य स्थूलभद्र के नाम के साथ और दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के नाम के साथ स्मरण किया गया है। वह श्लोक इस प्रकार है

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमप्रभुः।
मंगलं स्थूलभद्राद्या (कुन्दकुन्दाद्या) जैनधर्मोस्तु मंगलम्॥

तीर्थंकर महावीर और गणधर गौतम के बाद दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का उल्लेख उनकी महत्ता का परिचायक है।

गुरु-परम्परा

आचार्य कुन्दकुन्द की गुरु-परम्परा के संबंध में सर्वसम्मत एक विचार नहीं है। बोध प्राभृत के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य थे।[1] पर भद्रबाहु उनके साक्षात् गुरु नहीं थे। कुन्दकुन्द ग्रंथों के टीकाकार आचार्य जयसेन के अभिमत से आचार्य कुन्दकुन्द कुमारनंदी सिद्धांतदेव के शिष्य थे[2] शुभचंद्र गुर्वावली में प्राप्त उल्लेखानुसार भद्रबाहु के शिष्य माघनंदी, माघनंदी के शिष्य जिनचंद्र, जिनचंद्र के शिष्य पद्मनंदी थे।[3] पद्मनंदी का दूसरा नाम कुन्दकुन्द था। नंदी संघ पट्टावली में भद्रबाहु द्वितीय, गुप्तिगुप्त, माघनंदी, जिनचंद्र के बाद कुन्दकुन्द का उल्लेख है।[4] इन दोनों पट्टावलियों में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु आचार्य जिनचंद्र थे, दादागुरु माघनंदी थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रुतधर भद्रबाहु को अपना गमक गुरु माना था।[5]

जन्म और परिवार

आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी एवं वैश्य वंशज थे। उनका जन्म दक्षिण भारत के कौण्डकुंदपुर में हुआ। कुन्दकुन्द के पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती था। कौण्डकुन्दपुर निवासी करमण्डु को दीर्घ प्रतीक्षा के बाद एक तपस्वी ऋषि की कृपा से पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। करमण्डु का यह पुत्र जन्म-स्थान के नाम के आधार पर कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ। जन्म-स्थान का

---

१. सद्दवियारो हूओ भासा सुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६०॥
(बोध पाहुड़)

२. अथ श्रीकुमारनन्दिसिद्धांतदेव शिष्यै.....
(जिनसेन टीका पृ. २)

३. श्रीमानशेषनर नायक-वंदिताङ्घ्रिः श्री गुप्तिगुप्त (१) इति विश्रुत नामधेयः यो भद्रबाहु, (२) ..... तत्राभवत्पूर्व-पदांश्वेदी श्रीमाघनंदी, (३) .....पट्टे तदीये मुनिमान्यवृत्तो जिनादिचंद्र, (४) स्समभूदतंद्र ततोऽभवत्पद्मसु नाम धाम श्री पद्मनंदी मुनि चक्रवर्ती ॥३॥
(शुभचंद्रगुर्वावली)

४. (१) भद्रबाहु द्वितीय, (२) गुप्तिगुप्त, (३) माघनंदी, (४) जिनचंद्र, (५) कुन्दकुन्दाचार्य।
(नंदी संघ-पट्टावली)

५. बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६१॥
(बोध पाहुड़)

नाम कोण्डकुन्द है। उच्चारण की मधुरता के कारण कोण्डकुन्द ही कुन्दकुन्द नाम में परिवर्तित हुआ।

जीवन-वृत्त

आचार्य कुन्दकुन्द उग्रविहारी थे। वे दुर्गम घाटियों और वनों में निर्भीक भाव से विहरण करते थे।[५] उनके पास तप का तेज और साधना का बल था। उनका चिंतन अध्यात्म-प्रधान था।

शुभचंद्राचार्य की गुर्वावली में टीकाकार श्रुतसागरजी की षट्पाहुड़ टीकाओं की पुष्पिकाओं में तथा विजयनगर के शक संवत् १३०७ के एक अभिलेखांश में कुन्दकुन्द के पांच नाम बताये हैं[७] १. पद्मनंदी, २. कुन्दकुन्द, ३. वक्रग्रीव, ४. एलक (एलाचार्य), ५. गृद्धपिच्छ।

आचार्य कुन्दकुन्द का दीक्षा के समय प्रदत्त नाम पद्मनंदी था। जन्मस्थान के आधार पर उनका नाम कुन्दकुन्द तथा सतत अध्ययन में ग्रीवा झुकी रहने के कारण वक्रग्रीवा हुआ। कुरल कृति के रचनाकार एलाचार्य नाम भी आचार्य कुन्दकुन्द का माना गया है। किसी समय गृद्धपिच्छी धारण करने के कारण वे गृद्धपिच्छ कहलाए।

इन पांचों नामों में अंतिम तीन नाम संशयास्पद हैं। गृद्धपिच्छ नाम उमास्वाति के लिए प्रसिद्ध है। शिलालेखों में प्राप्त जीवन प्रसंगों की भिन्नता के कारण एलाचार्य नाम कुन्दकुन्द नहीं है। 'श्रवणबेलगोल' के अभिलेख संख्यक ३०५ के अनुसार वक्रग्रीवा (कुन्दकुन्द) द्रमिल संघ के अधिपति थे।[८] आचार्य कुन्दकुन्द का द्रमिल संघ के साथ कोई संबंध नहीं था।

इंद्रनंदी के 'श्रुतावतार' में जिनसेनाचार्यकृत समयसार टीका में एवं 'श्रवणबेलगोल' संख्यक ४० के शिलालेख में पद्मनंदी नाम का उल्लेख है।[९] द्वादशानुप्रेक्षा में रचनाकार का नाम कुन्दकुन्द बतलाया है।

आचार्य कुन्दकुन्द का पहला नाम पद्मनंदी एवं दूसरा नाम कुन्दकुन्द था। कुन्दकुन्द को तीव्रतपश्चरण के परिणामस्वरूप चारणलब्धि प्राप्त थी।[१०]

दर्शनसार के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द को महाविदेह में सीमंधर स्वामी से ज्ञानोपलब्धि हुई थी। टीकाकार जयसेन ने आचार्य कुन्दकुन्द की विदेह यात्रा का उल्लेख किया है, पर इस विदेह यात्रा के लिए शिलालेख आदि का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द वास्तव में अध्यात्म दृष्टियों के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्त्वों को तर्क-संगत परिधान दिया।

उनकी दृष्टि में भावशून्य क्रियाएं सर्वथा निष्फल थीं। इन्हीं विचारों की अभिव्यक्ति में उनका एक श्लोक है

भावरहिओ ण सिज्झई, जइवि तवं चरई कोडिकोडियो।
जम्मंतराइं बहुसो लंबियहत्थो गलियवत्थो ॥

(अष्ट पाहुड़, भाव पाहुड़, श्लोक ४)

जीव दोनों हाथ लटकाकर और वस्त्र त्यागकर करोड़ जन्म तक तपश्चर्या करता रहे पर भाव-शून्यावस्था में उसे सिद्धि प्राप्त नहीं होगी।

साहित्य

अध्यात्म की भूमिका पर रचित आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथ रत्न महत्त्वपूर्ण हैं। समयसार, प्रवचनसार,

---

५. सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा।
गिरि-गुह गिरिसिहरे वा भीमवणे-अवहवसिते वा ॥
(बोध प्राभृत)

७. आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो (५) वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः ॥४॥
(शुभचंद्रगुर्वावली)

८. श्रीमद्द्रमिलसंघाग्रे..... गतिवक्रग्रीवामि।

९. जयउ रिसिपउमणंदी जेण महातच्चपाहुड सेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥
(समयसार टीका)

१०. तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः।
श्रीकौण्डकुन्दादि-मुनीश्वराख्य रसत्संयमादुद्गत-चारणर्द्धिः ॥
(जैन शिलालेख संग्रह, भाग-१, लेख नं. ४०, पृ. २४)

पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ (प्राभृत), दसभत्ति अथवा भत्ति संग्गहो (दस भक्ति अथवा भक्ति संग्रह) एवं बारस अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) ये ग्रंथ आचार्य कुन्दकुन्द के हैं। इन ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

समयसार समयसार आर्यावर्त में गुम्फित प्राकृत शौरसेनी भाषा का उत्तमकोटि का ग्रंथ है। टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र के अभिमत से इस ग्रंथ की ४१५ गाथाएं और टीकाकार जयसेन के अभिमत से ४३९ गाथाएं हैं। यह ग्रंथ ९ अधिकारों में विभक्त है। अधिकारों के नाम ये हैं (१) जीवाजीवाधिकार, (२) कर्ताकर्माधिकार, (३) पुण्य-पाप अधिकार, (४) श्रावक अधिकार, (५) संवर अधिकार, (६) निर्जरा अधिकार, (७) बंध अधिकार, (८) मोक्ष अधिकार, (९) सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार।

आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों में यह ग्रंथ शीर्ष स्थानीय है। इस ग्रंथ में सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार किया गया है। वह पद्य इस प्रकार है

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुड़मिणमो सुयकेवलीभणियं ॥

निश्चय और व्यवहार की भूमिका पर विशुद्ध आत्म तत्त्व का विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में है। आचार्य अमृतचंद्र की आत्मख्याति नामक टीका और जयसेन की तात्पर्य वृत्ति इस ग्रंथ पर उपलब्ध है।

प्रवचनसार यह उत्तम अध्यात्म ग्रंथ है। इसकी शैली सरल और सुबोध हैं। इस ग्रंथ पर अमृतचंद्र और जयसेन की संस्कृत टीकाएं हैं। अमृतचंद्र की टीका के अनुसार इस ग्रन्थ के तीन प्रकरण कुल २७५ गाथाएं हैं। जयसेन की टीका के अनुसार इस ग्रन्थ के तीन प्रकरण, ३१७ गाथाएं हैं। प्रथम अधिकार में आत्मा और ज्ञान के संबंधों की चर्चा है। दूसरे अधिकार में द्रव्य, गुण, पर्याय आदि ज्ञेय पदार्थों का विस्तृत वर्णन है, तथा सप्तभङ्गी का सम्यक् प्रतिपादन है और तृतीय अधिकार में चरित्र के स्वरूप का विवेचन है। इस ग्रंथ में तीर्थंकर के प्रवचन का सार संग्रह है। अतः इस ग्रंथ का प्रवचनसार नाम सार्थक है।

तीन अधिकारों में परिसमाप्य यह ग्रंथ जैन तत्त्व की गहनता को समझने के लिए विशेष पठनीय है। इस ग्रंथ का द्वितीय प्रकरण सबसे बड़ा है। इसमें १०८ गाथाएं हैं। तृतीय अधिकार में दिगम्बर परम्परा संबंधी मुनिचर्या का वर्णन मुख्यतः है। सचेलकत्व निषेध, स्त्री मुक्ति-निषेध, केवली कवलाहार निषेध आदि विषय इस अधिकार में चर्चित हैं।

पञ्चास्तिकाय इस ग्रंथ के दो प्रकरण हैं। आचार्य अमृतचंद्र के अनुसार इस ग्रंथ की १७३ गाथाएं और जयसेनाचार्य की टीका के अनुसार १८१ गाथाएं हैं। इस ग्रंथ में पांच अस्तिकाय का विवेचन होने के कारण ग्रंथ का नाम पञ्चास्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव इन पांचों अस्तिकायों के साथ कालद्रव्य की व्याख्या भी इस ग्रंथ में है। ग्रंथ में प्रथम प्रकरण में छह द्रव्यों का वर्णन, और द्वितीय प्रकरण में नव पदार्थों की व्याख्या है।

जैन दर्शन सम्मत द्रव्य की स्पष्ट व्याख्या इस ग्रंथ में है। सप्तभङ्ग का नाम निर्देश ग्रंथ के प्रथम प्रकरण में उपलब्ध है। आचार्य अमृतचंद्र की पञ्चास्तिकाय टीका इस ग्रंथ के रहस्यों को समझने के लिए सहायक है।

नियमसार नियमसार ग्रंथ के १२ अधिकार हैं। गाथा संख्या १८७ है। ग्रंथ गत अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं (१) जीव अधिकार, (२) अजीव अधिकार, (३) शुद्ध भाव, (४) व्यवहार चरित्र, (५) परमार्थ प्रतिक्रमण, (६) निश्चय प्रत्याख्यान, (७) परमालोचन, (८) शुद्ध-निश्चय प्रायश्चित्त, (९) परम समाधि, (१०) परमभक्ति, (११) निश्चय परमावश्यक, (१२) शुद्धोपयोग।

इन अधिकारों में ध्यान, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि के छह आवश्यक अधिकारों का वर्णन है। अध्यात्म बिन्दुओं के समझने मे लिए ये ग्रंथ उपयोगी

हैं। मोक्ष मार्ग में नियम से (आवश्यक) करणीय ज्ञान, दर्शन, चरित्र की आराधना पर बल दिया है। इनसे विपरीत आचरण को हेय बतलाया गया है। इसी ग्रंथ के अनुसार सर्वज्ञ भी निश्चय नय से केवल आत्मा को जानता है, व्यवहार नय से सबको जानता है।

अष्टपाहुड़ आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुड़ों (प्राभृतों) के रचनाकार थे, पर वर्तमान में उनके पूरे नाम उपलब्ध नहीं हैं। पाहुड़ साहित्य में दंसण पाहुड़ आदि आठ पाहुड़ प्रमुख माने गए हैं। उनके रचनाकार भी कुन्दकुन्द हैं। पाहुड़ ग्रंथों का परिचय इस प्रकार हैं

(१) दंसण पाहुड़ की ३६ गाथाएं हैं। इसमें सम्यक् दर्शन का विवेचन है। (२) चरित्त पाहुड़ की ४४ गाथाएं हैं। श्रावक और मुनि धर्म का संक्षिप्त वर्णन है। (३) सुत्त पाहुड़ में २७ गाथाएं हैं। इनमें आगम का महत्त्व समझाया गया है। (४) बोध पाहुड़ की ६२ गाथाएं हैं। इनमें आयतन, देव, तीर्थ, अर्हत और प्रव्रज्या आदि ११ विषयों का बोध दिया गया है। (५) भाव पाहुड़ में १६३ गाथाएं हैं। इनमें चित्त शुद्धि की महत्ता पर बल दिया गया है। (६) मोक्ख पाहुड़ की १०६ गाथाओं में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आत्मा की इन तीन अवस्थाओं का वर्णन इसमें है। (७) लिङ्ग पाहुड़ की २२ गाथाओं में श्रमणलिङ्ग और श्रमण धर्म का निरूपण है। (८) शील पाहुड़ में ४० गाथाएं हैं। इनमें शील की महत्ता का वर्णन है।

यह पाहुड़ साहित्य तात्त्विक दृष्टि से उपयोगी है। इसकी शैली सुबोध है। विषय का वर्णन संक्षिप्त है। प्राभृत साहित्य के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द का यह साहित्य-जगत् को विशिष्ट उपहार है। प्रथम छह पाहुड़ों पर आचार्य श्रुतसागरजी की संस्कृत टीका भी है।

भक्ति संग्रह भक्ति संग्रह में आचार्य कुन्दकुन्द की आठ भक्तियां हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं सिद्ध भत्ति, सुद भत्ति, चरित भत्ति, जोइ भत्ति, आइरिय भत्ति, णिव्वाण भत्ति, पंचगुरु भत्ति, तित्थयर भत्ति।

सिद्ध भत्ति (सिद्ध भक्ति) इस भक्ति की १२ गाथाएं हैं। सिद्धों के गुणों का वर्णन इसमें है। इस पर प्रभाचंद्राचार्यकृत संस्कृत टीका है। संस्कृत की सभी भक्तियां पूज्यपाद की और प्राकृत की भक्तियां कुन्दकुन्द की हैं। प्रभाचंद्राचार्य की टीका के अन्त में इस प्रकार का उल्लेख है।

सुद भत्ति (श्रुत भक्ति) इसमें आचाराङ्ग, सूत्रकृतांग आदि १२ अंगों का भेद-प्रभेद सहित वर्णन है तथा १४ पूर्वों की वस्तु संख्या तथा प्रत्येक वस्तु के प्राभृतों की संख्या भी इसमें है। इस कृति की कुल ११ गाथाएं हैं।

चरित भत्ति इस भक्ति में सामायिक आदि पांचों चरित्रों का तथा १० धर्मों का प्रतिपादन है।

जोइ भत्ति (योगी भक्ति) इसकी २३ गाथाएं हैं। योगियों की ऋद्धि का वर्णन है।

आइरिय भत्ति (आचार्य भक्ति) इसकी १० गाथाएं हैं। आचार्य के गुणों का वर्णन है।

णिव्वाण भत्ति इस कृति के अन्तर्गत २७ गाथाओं में निर्वाण प्राप्त तीर्थंकरों की स्तुति एवं निर्वाण स्वरूप का वर्णन है।

पंचगुरु भत्ति इसके सात पद्य हैं। इन पद्यों में परमेष्ठी पुरुषों को स्तवनापूर्वक नमन किया गया है।

तित्थयर भत्ति (तीर्थंकर स्तुति) इसमें तीर्थंकरों की स्तवना है। इसमें आठ पद्य हैं। प्रत्येक तीर्थंकर को नामोल्लेखपूर्वक वंदन किया गया है।

बारसाणुपेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) यह ९१ गाथाओं का लघु ग्रंथ है। इसमें अनित्य, अशरण, भव, एकत्व, अन्यत्व, संसार, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन बारह भावनाओं का सम्यक् प्रतिपादन है। वैराग्य रस से परिपूर्ण यह प्रभावक कृति है। १२ भावनाओं का निरूपण कई श्रावकाचार ग्रन्थों में प्राप्त है। विनय विजयसिंह सूरि रचित शांतसुधारस कृति में इन्हीं १२ भावनाओं का वर्णन है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ इन चार भावनाओं का वर्णन इस कृति में अधिक है।

समय-संकेत

आचार्य कुन्दकुन्द के समय के विषय में सभी दिगम्बर विद्वान् एक मत नहीं हैं। पं. नाथूराम प्रेमी ने कुन्दकुन्द का समय वि. की तृतीय शताब्दी का उत्तरांश स्वीकार किया है। डॉ. पाठक ने कुन्दकुन्द का समय शक संवत् ४५०, ईस्वी सन् ५२८ सिद्ध किया है। डॉ. उपाध्याय ने ई. सन् प्रथम शताब्दी को मान्य किया है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने भी कुन्दकुन्द के लिए ई. सन् प्रथम शताब्दी को प्रमाणित किया है।

कुन्दकुन्द के ग्रंथों में केवली-कवलाहार, सचेलकता, स्त्री-मुक्ति आदि श्वेताम्बर मान्यताओं का निरसन है। अतः कुन्दकुन्द का समय दिगम्बर और श्वेताम्बर संघ की स्थापना हो जाने के बाद का अनुमानित होता है।

कुन्दकुन्द के ग्रंथों में दार्शनिक रूप की जो विवेचना है वह उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगम में नहीं है। सप्तभङ्गी का रूप आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों में अधिक विकासगत है। उत्तरवर्ती दार्शनिक धाराओं में कुन्दकुन्द के ग्रंथों में उपलब्ध सप्तभङ्गी का रूप आधार बना है। अतः इन बिन्दुओं के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द वाचक उमास्वाति के बाद के विद्वान् हैं।

४७. विमल विचारक आचार्य विमल

आचार्य विमल उच्चकोटि के कवि, दिग्गज विद्वान् और प्राकृत वाङ्मय में चरित्र काव्य के श्रेष्ठ रचनाकार थे। साहित्यिक भाषा में गुम्फित 'पउमचरिय' (जैन रामायण) आचार्य विमल की उत्तम पद्यमयी रचना है जो उनकी कुशल कवित्व शक्ति का परिचय है।

गुरु-परम्परा

पउमचरिय कृति की प्रशस्ति में आचार्य विमल की गुरु-परम्परा उपलब्ध है। इस प्रशस्ति के अनुसार आचार्य विमल नाइल कुल के आचार्य राहु के प्रशिष्य और आचार्य विजय के शिष्य थे।[1] नाइल कुल, नागिल कुल, नागेन्द्र गच्छ एक ही हैं। प्रारम्भ में कुल संज्ञा से प्रसिद्ध गण कालान्तर में गच्छ कहलाने लगे।[2] नाइल कुल या नागेन्द्र कुल का संबंध वज्रसेन के शिष्य नागेन्द्र (नाइल) से था, अतः आचार्य विमल की गुरु-परम्परा वज्रसेन शाखीय सिद्ध होती है।

पउमचरिय ग्रंथ में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों मान्यताओं का वर्णन देखकर विमलाचार्य को यापनीय संघ का माना गया है।[3]

जीवन-वृत्त

आचार्य विमल प्रज्ञा के स्वामी थे। उनके वंश, परिवार, माता-पिता के संबंध में सामग्री उपलब्ध नहीं है। आचार्य विमल द्वारा रचित पउमचरिय ग्रंथ उनके व्यक्तित्व की झांकी प्रस्तुत करता है; इस ग्रंथ के अनुसार आचार्य विमल उदार विचारों एवं समन्वयात्मक वृत्ति के परिपोषक थे। उनमें मौलिक चेतना का विकास था। अपने काव्य में उन्होंने कपोल-कल्पित कल्पनाओं को विशेष प्रश्रय नहीं दिया किंतु यथार्थवाद को उभारा है और देववाद को समर्थन न देकर मानवीय पक्ष को अधिक उजागर किया है।

वाल्मीकि रामायण जैसे अद्भुत और विस्मयकारक प्रसंग पउमचरिय काव्य में नहीं हैं। न इस काव्य में स्वर्ण मृग का वर्णन है और न दशकंधर सहोदर कुम्भकरण को षण्मासशायी बताया है और न उद्दाम वीचियों से उद्धत सागर पर वानर सेना द्वारा पुल निर्माण का प्रकरण है।

पउमचरिय के अनुसार सीता का जन्म भूखनन के समय हल की नोक से नहीं हुआ, वह मिथिला की राजकुमारी थी और जनक की प्यारी सुता थी।[4]

लंका प्रवेश करते समय अंजनि-सुत ने लंका सुंदरी के साथ युद्ध किया। वह लंका सुंदरी देवी नहीं, मानव पुत्री थी और वज्रमुख उसका पिता था। वह दुर्ग रक्षक विभाग से संबंधित था।[5]

लंका-विजय के लिए प्रस्थित राम के मार्ग को रोकने के लिए किसी प्रकार की देव शक्ति समुद्र के रूप में प्रकट नहीं हुई अपितु वह लंका की सीमा पर लंकेश द्वारा नियुक्त समुद्र नाम का राजा था।[6]

---

१. राहू नामायरिओ, ससमयपरसमयगहियसब्भावो।
विजओ य तस्स सीसो, नाइलकुलवंसनन्दियरो ॥११७॥
सीसेण तस्स रइयं, राहवचरियं तु सूरिविमलेणं।
सोऊण पुव्वगए, नारायण-सीरिचरियाइं ॥११८॥
(पउमचरिय, पर्व ११८)

२. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना। (पृ. १२३)

३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा।
(भाग-२, पृ. २२५)

४. जं एवं पुच्छिओ सो, भणइ तओ नारओ पसंसंतो।
अत्थि मिहिलाए राया, जणओ सो इन्दकेउसुओ ॥१५॥
तस्स महिला विदेहा, तीए दुहिया इमा पवरकन्ना।
जोव्वणगुणाणुरूवा, सीया नामेण विक्खाया ॥१६॥
(पउमचरिय, उद्देशक २८)

५. दट्ठूण पिइवहं सा, अह लङ्कासुंदरी ससोगभरा।
कोवं समुव्वहंती, अभुट्ठिया रहवारारूढा ॥१२॥
(पउमचरिय, पर्व ५२)

६. अह सो समुद्दराया, नलेण जिणिऊण रणमुहे बद्धो।
मुक्को य नियनयरे, परिट्ठिओ राहवं पणओ ॥४१॥
(पउमचरिय, पर्व ५४)

लक्ष्मणजी की चिकित्सा के लिए पवन-पुत्र द्वारा पर्वत को ही कंधे पर उठा लाने के घटना प्रसंग पर विमलाचार्य ने कुशल चिकित्सक महिला विशल्या का उल्लेख किया है।[७]

इन्द्र, सोम, वरुण, मेघवाहन, दशानन, सुग्रीव, हनुमान, विराधित आदि मुख्य या गौण पात्र पउमचरिय के अनुसार न देव थे, न दैत्य थे और न वानर-वंशज थे। सभी मानवपुत्र थे और समाज के सुसंस्कारित शिष्ट व्यक्ति थे।

आचार्य विमल ने प्रस्तुत महाकाव्य में यथार्थ बुद्धिवाद की प्रतिष्ठापना और मानव संस्कृति का समीचीन पल्लवन किया है। ये सारे बिंदु आचार्य विमल के व्यक्तित्व की ऊंचाई और चिंतन की गहराई को प्रकट करते हैं।

साहित्य

आचार्य विमल प्राकृत भाषा के विद्वान् थे। उन्होंने जो भी लिखा प्राकृत में लिखा। वर्तमान में उनकी दो रचनाएं हैं पउमचरिय और हरिवंसचरिय। ग्रंथ परिचय इस प्रकार है

पउमचरिय यह महाराष्ट्री प्राकृत का उत्तम ग्रंथ है। जैन पुराण साहित्य में यह सर्वाधिक प्राचीन है। चरित्र काव्यों में भारतीय वाङ्मय का यह प्राकृत भाषा में रचित सर्वप्रथम चरित महाकाव्य है। इसके ११८ पर्व और ७ सर्ग हैं।[८] पद्य संख्या ८६५१ है। राम का आद्योपांत जीवन-चरित इन सात सर्गों में कुशलता के साथ निबद्ध किया गया है। जैन मान्यतानुसार रामकथा को प्रस्तुत करना कथाकार का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। राम का एक नाम पद्म भी है। पद्म नाम के आधार पर इस कृति का नाम पउमचरिय रखा गया है।

शलाका पुरुष का जीवन-चरित प्रतिपादित होने के कारण यह जैन पुराण ग्रंथ है। इसके बीसवें पर्व में जैन सम्मत ६३ शलाका पुरुषों के नाम की सूचर है। पुराण साहित्य के अन्वय आदि आठों अंगों का इस ग्रंथ में पर्याप्त विवेचन है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश आदि पुराण के पांचों लक्षण इस पुराण में हैं।

शैली के आधार पर यह ग्रंथ काव्य-गुणों को प्रकट करता है। भाषा में प्रवाह है, सरसता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि विविध अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग है। रसों की अभिव्यक्ति, भयानक रौद्र रस आदि का सोदाहरण प्रस्तुतिकरण एवं प्रकृति के सांगोपांग विवेचन से यह ग्रंथ महाकाव्य है। अर्थ-व्यञ्जना अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। शिक्षात्मक सूक्तों से कथानक सरस है। ग्रंथ की भाषा ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण मंडित है। देशी शब्दों के प्रयोग भी हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उदात्त भूमिका है। स्त्री पात्रों को भी उदात्तीकरण के साथ प्रस्तुत किया गया है। ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से यह ग्रंथ विशेष पठनीय और मननीय है।

ग्रंथ मुख्यतः मात्रिक गाथा छंद में निबद्ध है। उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि संस्कृत छंदों का उपयोग किया गया है। यह पूरा काव्य-ग्रंथ कथाओं, उपकथाओं, नवीन कथाओं, पारम्परिक कथाओं का भण्डार है।

इस ग्रंथ में राम के जीवन चरित् के साथ तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषों के संबंध की विविध सामग्री है। ब्राह्मण साहित्य में जो महत्त्व वाल्मीकि रामायण का है, जैन साहित्य में वही महत्त्व पउमचरिय का है।

रविषेण का 'पद्मचरित' ग्रंथ पउमचरिय का ही रूपांतरण है। विद्वान् रविषेण लक्ष्मणसेन के शिष्य और

---

७. सा वि य तहिं विसल्ला, सुतलियसिवधामरेहि विज्जंती।
हंसीव संघरंती, संपत्ता लक्खणसमीवं ॥२३॥
सा तीए फुसिय संती, सत्ती वच्छत्थला उ निप्फिडिया।
कामुयघरस्स नज्जइ, पदुट्ठमहिला इव पणट्ठा ॥२४॥
(पउमचरिय, पर्व ६४)

८. तिहवंससमुप्पत्ती, पत्थाणरणं लवंकुसुप्पत्ती।
निव्वाणगमणेयभवा, सत्त पुराणेत्थ अहिगारा ॥३२॥
(पउमचरिय, उद्देशक, १)

अर्हन् मुनि के प्रशिष्य थे।[९] उद्योतनसूरि की कुवलय माला में पउमचरिय ग्रंथ की भाँति इस ग्रंथ का उल्लेख है। पउमचरिय ग्रंथ की रचना गाथा छंद में हुई है और पद्मचरित ग्रंथ की रचना अनुष्टुप् छंद में हुई है। पद्मचरित, पउमचरिय का छायानुवाद होते हुए भी पद्य परिमाण में पर्याप्त अंतर है। पउमचरिय १० हजार श्लोक परिमाण है और पद्मचरित १८ हजार श्लोक परिमाण है। काव्यगत गंभीरता जो पउमचरिय में है वह पद्मचरित में नहीं।

हरिवंसचरिय रामकथा का जैन रूप पउमचरिय ग्रंथ में और कृष्ण-कथा का जैन रूप हरिवंसचरिय ग्रंथ में काव्यकार ने निबद्ध किया। हरिवंसचरिय को विमलसूरि की रचना मानने में मूल आधार कुवलय माला का यह पद्य है

बहुयणसहस्सदयियं हरिवंसुपत्तिकारयं पढमं।
वंदामि वंदयंपि हु हरिवरिसं चेय विमलपयं ॥[१०]

वर्तमान में हरिवंसचरिय अनुपलब्ध है। कई विद्वान् इसे विमल सूरि की रचना नहीं मानते।

आचार्य विमल के विचार विमल और प्रज्ञा निर्मल थी। पउमचरिय जैसी उत्तम कृति की रचना कर उन्होंने प्राज्ञ जनों में आदरास्पद स्थान प्राप्त किया है।

समय-संकेत

'पउमचरिय' ग्रंथ का सर्वप्रथम उल्लेख कुवलयमाला में हुआ है। कुवलयमालाकार 'उद्योतनसूरि' ने विमलाङ्क (विमलसूरि) की प्राकृत को अमृत के समान मधुर माना है।[११] कुवलयमाला में पउमचरिय नाम का उल्लेख नहीं है पर संकेत उस ओर ही किया गया है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।[१२] रचनाकार ने कुवलयमाला का रचनाकाल शक् संवत् ७०० बताया है।[१३] इस आधार पर पउमचरिय ग्रंथ वी. नि. १३०५ (वि. ८३५ शक् संवत् ७००) से पूर्व का है।

आचार्य रविषेण का संस्कृत काव्य पद्मचरित ग्रंथ पउमचरिय का रूपांतर है। पद्मचरित ग्रंथ का रचनाकाल वी. नि. १२०३ (वि. ७३३) बताया गया है।[१४] इस आधार पर आचार्य विमल का काव्य इससे भी पूर्ववर्ती प्रमाणित होता है।

विमलसूरि ने ग्रंथ की प्रशस्ति में ग्रंथ का रचनाकाल वी. नि. ५३० बताया है।[१५] डॉ. हर्मन जेकोबी ने ग्रंथ का अंतः परीक्षण कर इसका रचनाकाल ईस्वी सन् तीसरी-चौथी शताब्दी सिद्ध किया है।[१६] डॉ. कीथ[१७], डॉ. वूल्लर[१८] आदि पाश्चात्य विद्वान्, मुनि जिनविजयजी, स्व. डॉ. नेमीचंद्र शास्त्री[१९], पं. परमानंद शास्त्री[२०] आदि जैन

---

९. आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
तस्माद्वलक्षणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तत्समृतः ॥६८॥
जहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरियावित्थारे।
कहव ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय-रविसेणो ॥७०॥
(पद्मचरित)

१०. कुवलयमाला।
(पृ. ३)

११. जारिसियं विमलंको विमलंको तारिसं लहइ अत्थं।
अमयमइयं च सरसं सरसं सरसंचिय पाइअं जस्स ॥
(कुवलयमाला प्रस्तावना)

१२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास।
(भाग-६, पृ. ३६)

१३. समकाले वोलीणे, वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एग दिणे पूणेहिं, एस समत्ता वरण्हम्मि ॥
(कुवलयमाला, पृ. २८३)

१४. द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्धचतुर्थवर्षयुक्ते।
जिनभास्करवर्द्धमानसिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम् ॥
(पद्मचरित)

१५. पञ्चेव य वाससया, दुसमाए तीसवरिससंजुत्ता।
वीरे सिद्धिमुवगए, तओ निबद्धं इमं चरियं ॥१०३॥
(पउमचरिय, पर्व ११८)

१६. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स।
(भाग-७, पृ. ४३७)

१७. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर।

१८. इंट्रोडक्शन टु प्राकृत।

१९. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा।
(भाग-२, पृ. २५६-५७)

२०. अनेकांत किरण।
(भाग-१०-११)

विद्वान्, डॉ. के. एच. ध्रुव[21] आदि जैनेतर विद्वान् भी इस ग्रंथ को अर्वाचीन मानने के पक्ष में हैं। विमलसूरि द्वारा ग्रंथ की प्रशस्ति में प्रदत्त समय को सही न मानने में विद्वानों के ये मुख्य बिंदु हैं

(१) विमलसूरि ने अपने को और अपनी गुरु-परम्परा को नाइल कुल से संबंधित बताया है। नाइल कुल या नाइल शाखा का जन्म वज्रसेन के शिष्य परिवार से वी. नि. ६०० के लगभग हुआ था। इस शाखा में होने वाली कई पीढ़ियों के बाद विमलसूरि हुए, अतः विमलसूरि की ग्रंथ रचना का समय वी. नि. ५३० (वि. ६०, ईसा की प्रथम शताब्दी) किसी प्रकार संभव नहीं है। काव्य रचना की पूर्वावधि कम से कम वी. नि. सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक पहुंच जाती है।

(२) परिष्कृत महाराष्ट्री प्राकृत में काव्य रचना होने के कारण पउमचरिय का काल ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के बाद प्रमाणित होता है। भाषा शास्त्रियों की दृष्टि में महाराष्ट्री प्राकृत का परिमार्जित रूप इससे पहले नहीं था।

(३) उज्जयिनी नरेश सिंहोदर का उनके अधीनस्थ नरेश के साथ युद्ध का प्रसंग[22] महाक्षत्रपों और गुप्त वंशी राजा कुमारगुप्त के बीच हुए संघर्ष का संकेत है। युद्ध का यह प्रकरण काव्य को ईस्वी सन् दूसरी शताब्दी के बाद का प्रमाणित करता है।

(४) काव्य में ग्रीक भाषा के शब्दों का प्रयोग देखकर डॉ. हर्मन जेकोबी लिखते हैं [23]

"Perhaps of the .....3rd century A.D."

अन्यत्र वे लिखते हैं

"As it (the Paumchariya) gives a lagna in which some planets are given under their Greek names, the book for example, must have been written after Greek astrology had been adopted by the Hindus, and that was not before the 3rd century A.D. Therefore, unless the passage which contains the lagna is a later addition, the book itself may be placed in the 3rd century A.D. or somewhat later."

इस उल्लेख से ग्रंथ रचना ईस्वी सन् तृतीय शताब्दी या उसके बाद की सिद्ध होती है।

(५) इस ग्रंथ में दीनार[24], शक, यवन, सुरङ्ग, सीयंवर[25] (श्वेताम्बर) आदि शब्दों का उल्लेख है। अपभ्रंश भाषा का प्रभाव है। ग्रंथगत प्रत्येक उद्देशक के अंत में गाहिनी, सरभा, आर्या आदि उत्तरकालीन छंदों का प्रयोग है। पद्य खण्ड के अंत में स्रग्धरा आदि वर्ण छंदों का प्रयोग है। गीति छंद में यमक का प्रयोग है। प्रत्येक सर्गांत में रचनाकार 'विमल' नाम का निर्देश है। इन सबके आधार पर ग्रंथ अर्वाचीन प्रमाणित होता है।[26]

दीनार शब्द के प्रयोग से कृति गुप्तकालीन सिद्ध होती है। दक्षिण भारत के निवासी कैलकिलों और शैलवासियों के उल्लेख से भी कृति ईस्वी सन् तीसरी शताब्दी के बाद की ज्ञात होती है। आनंद लोगों का उल्लेख[27] ईस्वी सन् तीसरी चौथी शताब्दी के आनंदवंश से संबंधित प्रतीत होता है।

काव्य में प्रवचनसार और तत्त्वार्थ सूत्र के वर्णन

---

२१. जैन योग, Jain Yoga, Vol. 1, Part 2, 1981, pp. 68-69
..... Vol. 1, Part-5, 1982, pp. 180-82

२२. पउमचरिय, पर्व ३३, पद्य २५ से आगे।

२३. माडर्न रिव्यू, दिसम्बर १९१४।

२४. दीणारेसु हसंतो, पञ्चसु विक्केइ रक्खसाहिवई।
निययपुरिसस्स हत्थे, सवइ पुणो तिब्बसद्देण ॥३२॥
(पउमचरिय, पर्व ६८)

२५. पेच्छइ परिब्भमन्तो, दाहिणदेसे सियम्बरं पणओ ॥७८॥
(पउमचरिय, पर्व २२)

२६. It is so late as that : (i) Vimalasuri's use of some metres of comparatively later origin such as Gahini, Sarabha and Aryakandhaka, (ii) the employment of Sragdhara at the end of a Canto and of Yamaka in Gita and of the poet's or name Vimala as a key-word or catch-word in the concluding stanza of every and the, (iii) comparatively modern Prakrit of Vimala K. H. dhruva.
(Jain Yoga, Vol.1, Part-2, 1981, pp. 68-69)

२७. पउमचरिय, पद्य सं. ६६, पर्व ६८।

समरूपता से उमास्वाति और कुन्दकुन्द का विमलसूरि पर प्रभाव प्रतीत होता है। इससे यह रचना उनसे भी बाद की ज्ञात होती है।[२८]

विद्वान् ल्यूमेन, विंटरनित्सज, पंडित हरगोविंद, श्री प्रेमीजी, ज्योति प्रसाद जैन, प्रो. के. वी. अभयंकर आदि विद्वानों ने काव्य में प्रदत्त संवत् को ही सही माना है। उनके अभिमत से काव्य में दीनार, सुरङ्ग आदि शब्दों के तथा ग्रीक शब्दों के प्रयोग हुए हैं, इसका मुख्य कारण है बहुत प्राचीनकाल से भारत पर यूनानी और रोम संस्कृति का प्रभाव छाया हुआ था।

ज्योतिष शास्त्र संबंधी काल गणना बराबर नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्र, प्रवचनसार आदि ग्रंथों की वर्णन समानता और शब्द-प्रयोगों की समानता काव्य तिथि निर्धारण की आधार सीमा नहीं हो सकती। प्राचीन महाकाव्यों के वर्णन की समानता इस ग्रंथ में है। अतः कवि द्वारा प्रयुक्त संवत् को सही मानने में कोई बाधा नहीं है।[२९]

इस संदर्भ में डॉ. वी. एम. कुलकर्णी का पउमचरिय प्रस्तावना विशेष द्रष्टव्य है।[३०]

डॉ. के. आर. चंद्र ने काव्यगत वी. नि. सं. ५३० को वि. सं. ५३० मान लेने का अभिमत प्रकट किया है।

काव्यगत संवत् के निरसन में डॉ. हर्मन जेकोबी आदि विद्वानों द्वारा प्रदत्त युक्तियों में सर्वाधिक सबल आधार विमलसूरि की गुरु-परम्परा का नाइल कुल से संबंधित होना है। इस शाखा का जन्म वी. नि. ५८०-६०० से पहले किसी प्रकार से भी संभव नहीं है।

---

२८. अनेकांत किरण, भाग १०-११, १९४२।

२९. (क) ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर।
(ख) पाइयसद्दमहण्णवो भूमिका।
(ग) जैन साहित्य और इतिहास
(संशोधित संस्करण-१९५९, पृ. ९१)।
(घ) श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रंथ।
(विमलार्या और उनका पउमचरिय, पृ. ४४४-४४५)
(ङ) फॉरवार्ड टू पउमचरिय।

३०. पउमचरिय प्रस्तावना (Paumachariya Introduction) पृ. ८ से आगे।
(प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, १९६२)

४८-५०. भव्यजन-दुःख विभञ्जक आचार्य भूतदिन्न, आचार्य लोहित्य, आचार्य दूष्यगणी

भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणी तीनों श्रुत-संपन्न आचार्य थे। आगम ग्रंथों में तीनों का सम्मान पूर्ण शब्दों में उल्लेख है। वाचकवंश परम्परा में तीनों का गरिमामय स्थान है।

गुरु-परम्परा

नंदी स्थविरावली में आगम वाचनाकार नागार्जुन के बाद भूतदिन्न, लोहित्य एवं दूष्यगणी का क्रमशः उल्लेख है। अतः वाचक गुरु-परम्परा के अनुसार नागार्जुन के उत्तरवर्ती वाचनाचार्य भूतदिन्न, उनके उत्तरवर्ती वाचनाचार्य लोहित्य और दूष्यगणी क्रमशः हुए।

जीवन-वृत्त

भूतदिन्न, लोहित्य और दूष्यगणी का विशेष जीवन प्रसंग प्राप्त नहीं है। नंदी स्थविरावली में आचार्य देवर्द्धिगणी द्वारा रचित स्तुति पद्यों में इन आचार्यों के विविध गुणों का वर्णन है। इन गुणों के आधार पर तीनों आचार्यों के जीवन का स्वल्प परिचय ज्ञात है।

आचार्य भूतदिन्न आचार्य भूतदिन्न के विषय में नंदी स्थविरावली के स्तुत्यात्मक पद्य इस प्रकार हैं

"वरतविय-कणग-चंपग-विमउल-वरकमल-गब्भ-सरिवण्णे।
भविय-जण-हियय-दइए, दया-गुण-विसारए धीरे ॥३७॥
अड्ढभरह-प्पहाणे, बहुविह-सज्झाय-सुमुणिय-पहाणे।
अणुओगिय-वरवसभे, नाइल-कुलवंस-नंदिकरे ॥३८॥
'भूयहिअ-प्पगब्भे, वंदेहं भूयदिण्णमायरिए।
भव-भय वुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं ॥३९॥

आचार्य भूतदिन्न आगम वाचनाकार नागार्जुन के शिष्य माने गए हैं। आचार्य भूतदिन्न का वपु आग में तप्त-स्वर्ण की भांति कांतिमान था। वे भव्यजनों के हितैषी, करुणार्द्रहृदय तथा नाइल कुलवंश वृद्धिकारक महाप्रभावी आचार्य थे।

आचार्य लोहित्य लोहित्याचार्य के संबंध में नंदी का उल्लेख है

सुमुणिय-णिच्चाणिच्चं, सुमुणिय-सुत्तत्थ-धारयं निच्चं।
वंदेहं लोहिच्चं, सब्भावुब्भावणा-तच्चं ॥४०॥

लोहित्याचार्य सूत्रार्थ के सम्यग् धारक, पदार्थस्थ नित्यानित्य स्वरूप के विवेचक एवं शोभन भाव में स्थित थे।)

आचार्य-दूष्यगणी देवर्द्धिगणी द्वारा दूष्यगणी की निम्नोक्त पद्यों में अत्यन्त समीचीन शब्दों में प्रशस्ति की गई है।

अत्थ-महत्थ-क्खाणिं सुसमण-वक्खाण-कहण-निव्वाणि।
पयईए महुरवाणिं, पयओ पणमामि दूसगणिं ॥४१॥
सुकुमाल-कोमल-तले, तेसिं पणमामि लक्खण-पसत्थे।
पाए पावयणीणं, पाडिच्छगसएहिं पणिवइए ॥४२॥

(नन्दी स्थविरावली)

दूष्यगणी आगमश्रुत के ज्ञाता थे, समर्थ वाचनाचार्य थे। प्रकृति से मधुरभाषी थे। तप, नियम, सत्य, संयम, आर्जव, मार्दव, क्षमा आदि उत्तम गुणों से सुशोभित थे एवं अनुयोगधर युगप्रधान आचार्य थे। उनके चरण प्रशस्त लक्षणों से युक्त सुकोमल तलवे वाले थे।

नंदी स्थविरावली में इन आचार्यों के जीवन गुणों के वर्णन से स्पष्ट है जैन धर्म की व्यापक प्रभावना में इन वाचनाचार्यों का विशिष्ट योगदान रहा है।

समय-संकेत

आचार्य भूतदिन्न की युगप्रधानाचार्यों में गणना है। युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य भूतदिन्न का युगप्रधान पद वी. नि. ६०४ से ६८३ (वि. ४३४ से ५१३, ई. ३७७-४५६) तक है। आचार्य पद का दायित्व

उन्होंने ७६ वर्ष तक संभाला।

युगप्रधान आचार्य भूतदिन्न और वाचनाचार्य भूतदिन्न दोनों एक नहीं होने चाहिए। युगप्रधान भूतदिन्न का स्वर्गवास वी. नि. ६८३ में हुआ है। इस स्वर्गवास संवत् के आधार पर युगप्रधान भूतदिन्न आचार्य देवर्द्धिणी के समकालीन सिद्ध होते हैं।

वाचनाचार्य की परम्परा में आचार्य भूतदिन्न, आचार्य लोहित्य, आचार्य दूष्यगणी और बाद में देवर्द्धिगणी हैं। देवर्द्धिगणी ने आगम वाचना कार्य वी. नि. ६८० (वि. सं. ५१०, ई. ५५३) में संपन्न किया था। भूतदिन्न, लोहित्य और दूष्यगणी इन तीनों आचार्यों का समय देवर्द्धिगणी से पूर्ववर्ती होने के कारण वी. नि. ६वीं शताब्दी और १०वीं शताब्दी का पूर्वार्द्धकाल संभव है।

५१. जैन आगम निधि-संरक्षक आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

आचार्य देवर्द्धिगणी का नाम जैन इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है। उन्होंने प्रकीर्ण आगमज्ञान को स्थायित्व प्रदान करने के लिए श्रुत लेखन का महत्त्वपूर्ण कार्य मौलिक सूझबूझ से किया, उस कार्य को समय की घनी परतें भी ढक न सकेंगी।

गुरु-परम्परा

नंदी सूत्र में लोहित्याचार्य की समीचीन शब्दों में प्रशस्ति हुई है। सूत्रार्थ के सम्यक् धारक, पदार्थस्थ नित्यानित्य स्वरूप के विवेचक एवं शोभन भाव में स्थित लोहित्याचार्य को बताकर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने हार्दिक सम्मान प्रकट किया है।[1] इस उल्लेख से प्रतीत होता है देवर्द्धिगणी के दीक्षा गुरु लोहित्याचार्य थे।

चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने देवर्द्धिगणी (देववाचक) को दूष्यगणी का शिष्य माना है।[2] देवर्द्धिगणी के शब्दों में आचार्य दूष्यगणी आगमश्रुत के ज्ञाता थे, समर्थ वाचनाचार्य थे, प्रकृति से मधुर भाषी थे; तप, नियम, सत्य संयम, विनय, आर्जव, मार्दव, क्षमा आदि उत्तम गुणों से सुशोभित थे एवं अनुयोगधर युगप्रधान थे। उनके चरण प्रशस्त लक्षणों से युक्त सुकोमल तलवों वाले थे।[3]

आचार्य देवर्द्धिगणी द्वारा आचार्य दूष्यगणी की ज्ञान-सम्पदा के साथ शरीर संपदा का सूक्ष्म विवेचन, दोनों का गुरु शिष्य जैसा नैकट्य स्थापित करता है।

टीकाकार मलयगिरि, चूर्णिकार जिनदास महत्तर और विद्वान मेरुतुङ्ग के द्वारा इसी मत का समर्थन किया गया है। मलयगिरि की टीका के अनुसार नंदी स्थविरावली आचार्य महागिरि की परम्परा है। देवर्द्धिगणी सुहस्ती की परम्परा के नंदी, आचार्य महागिरि की परम्परा के हैं।[4]

मेरुतुङ्ग ने वृद्ध सम्प्रदाय का आधार देकर आचार्य महागिरि की परम्परा को मुख्य माना है।[5] उनके अभिमत से देवर्द्धिगणी २७वें पुरुष हैं। नंदी स्थविरावली देवर्द्धिगणी की गुरु परम्परा है। प्रस्तुत स्थविरावली में दूष्यगणी और देवर्द्धिगणी का क्रमशः उल्लेख है। अतः इस नंदी स्थविरावली को देवर्द्धिगणी की गुरु परम्परा मान लेने पर देवर्द्धिगणी दूष्यगणी के शिष्य हैं।

दूष्यगणी और देवर्द्धिगणी दोनों का गणी पदान्त नाम गुरु-शिष्य होने ही संभावना प्रकट करता है।

---

१. सुमुणियणिच्चाऽणिच्चं सुमुणियसुत्त-ऽत्थधारयं णिच्चं।
वंदे हं लोहिच्चं सब्भावुब्भावणातच्चं ॥४०॥
(नंदीसूत्र-स्थविरावली)

२. एत्थ जाणिया अजाणिया य अरिहा ॥ एवं कतमंगलोवयारो थेरावलिकमे य दंसिए अरिहेसु य दंसितेसु दुस्सगणिसीसो देववायगो साहुजणहितट्ठाए इणमाह।
(नंदी-चूर्णि, पत्र १३)

३. अत्थ-महत्थक्खाणी सुसमणवक्खाणकहणणिच्चाणी।
पयतीए महुरवाणी पयओ पणमामि दूसगणी ॥४१॥
सुकुमाल-कोमलतले तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे।
पाये पावयणीणं पाडिच्छगसएहिं पणिवइए ॥४२॥
(नंदीसूत्र-स्थविरावली)

४. (क) "तत्र सुहस्तिन आरभ्य सुस्थितसुप्रतिबुद्धादिकमेणावलिका विनिर्गता सा यथा दशाश्रुतस्कंधे तथैव द्रष्टव्या, न च तयेहाधिकारः, तस्यामवलिकायां प्रस्तुताध्ययनकारकस्य देववाचकस्याभावात्, तत इह महागिर्यावलिकयाधिकारः"।
(नंदी-टीका)

(ख) थूलभद्दस्स अंतेवासी इमे दो थेरा महागिरि सुहत्थी सुहत्थिस्स सुट्ठित-सुपडिबुद्धादयो आवलीते जहा दसासु ....तहा भावितव्वा इहं तेहिं अहिगारो णत्थि, महागिरिस्स आवलीए अधिकारो।
(नंदी चूर्णि, पृ.८)

५. अन्य चार्यं वृद्धसंप्रदायः स्थूलभद्रस्य शिष्यद्वयम् आर्यमहागिरिः आर्यसुहस्ती च। तत्र आर्यमहागिरेर्या शाखा सा मुख्या। सा चैवं स्थविरावल्यामुक्ता
महागिरिबलिस्सह साई, ...य देवड्ढी ॥
"असौ च श्री वीरादनुसप्तविंशतमः पुरुषो देवर्द्धिगणिः सिद्धांतान् अव्यवच्छेदाय पुस्तकाधिरूढानकार्षीत्।"
(मेरुतुंगीया थेरावली, टीका ५)

जिनदास महत्तर गणी की चूर्णी और मलयगिरि की टीका में देववाचक नाम है। देववाचक देवर्द्धिगणी का ही नामान्तर है।

मुनि कल्याणविजयजी ने नंदी स्थविरावली को गुरु-शिष्य परम्परा नहीं माना है। उनकी समीक्षा के मुख्य बिन्दु हैं[६] नंदी स्थविरावली युगप्रधानाचार्यों की स्थविरावली है। अपने-अपने गुरुजनों की क्रमाङ्क प्रशस्तियां ग्रंथ के अन्त में देने की परम्परा रही है। ग्रंथ के आदि में उत्तम पुरुषों का विघ्न विनाशक के रूप में स्मरण किया जाता है। देवर्द्धिगणी ने नंदी में अनुयोगधरों का मंगल रूप में वंदन किया है। अनुयोगधरों का गुरु-शिष्य का संबंध होना आवश्यक नहीं था। किसी भी परम्परा, गण, गच्छ से संबंधित होने पर भी युग प्रभावकता के कारण उनको कालक्रम के अनुसार अनुक्रम से इस स्थविरावली में वंदन किया गया है।

गुरु-शिष्य परम्परा में आचार्य संभूतविजय के बाद शिष्य स्थूलभद्र का, महागिरि के बाद बलिस्सह का उल्लेख होना चाहिए। आचार्य सुहस्ती की शाखा में आचार्य स्थूलभद्र के बाद सुहस्ती और सुहस्ती के बाद सुस्थित-सुप्रतिबद्ध का क्रम है। इस स्थविरावली में संभूतविजय के बाद भद्रबाहु का, महागिरि के बाद सुहस्ती का उल्लेख है तथा आगे के क्रम में स्कंदिल आदि आचार्यों का उल्लेख है, जो सुहस्ती की परम्परा के विद्याधर आम्नाय से संबंधित थे। अतः अनुयोगधरों की इस परम्परा में दूष्यगणी के बाद देवर्द्धिगणी का नाम होने मात्र से वे उनके शिष्य सिद्ध नहीं होते। कल्प स्थविरावली में गुरु-शिष्य परम्परा के क्रम से आचार्यों के नाम हैं। कल्प स्थविरावली के गद्य-भाग में अन्तिम नाम षाण्डिल्य का है। देवर्द्धिगणी के नाम का उल्लेख नहीं है पर स्थविरावली के अन्त में गद्य-भाग पूर्ण होने के बाद एक पद्य है जो देवर्द्धिगणी की विशेषताओं को प्रकट करता है। इस स्थविरावली में आदि से अन्त तक आचार्य सुहस्ती से संबंधित गुरु-शिष्य परम्परा प्रस्तुत की गई है। इस आधार पर देवर्द्धिगणी सुहस्ती की परम्परा के आचार्य षाण्डिल्य के शिष्य सिद्ध होते हैं। मुनि कल्याणविजयजी की यह समीक्षा अधिक शोधपूर्ण और साधार प्रतीत होती है।

जन्म एवं परिवार

देवर्द्धिगणी के गृहस्थ जीवन का परिचय प्रदान करने वाली प्रामाणिक सामग्री नहीं के बराबर है। 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार क्षान्त, दांत, मृदुतादि गुणों से सम्पन्न, सूत्रार्थ रत्नमणियों के धारक आचार्य देवर्द्धिगणी काश्यप गोत्रीय थे। लोकश्रुति के आधार पर वे सौराष्ट्र नरेश अरिमर्दन के राज सेवक कामर्द्धि क्षत्रिय के पुत्र थे। उनकी माता का नाम कलावती था। माता ने ऋद्धि संपन्न देव को स्वप्न में देखा था। उसी स्वप्न के आधार पर पुत्र को देवर्द्धि संज्ञा से अभिहित किया गया है। देवर्द्धि को मित्र देव द्वारा उद्‌बोध प्राप्त हुआ।

आगम-कार्य

दुष्काल ने हृदय को कंपाने वाले नाखूनी पंजे फैलाए। उस समय अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए एवं श्रुत की बहुत क्षति हुई। दुष्काल की समाप्ति के बाद वल्लभी में पुनः जैन संघ एकत्रित हुआ। विशिष्ट वाचनाचार्य नानागुणालंकृत श्रीदेवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण इस श्रमण संघ के अध्यक्ष थे।

श्रमण सम्मेलन में त्रुटित-अत्रुटित समग्र आगम-पाठों का श्रमणों की स्मृति से संकलन हुआ एवं श्रुत को स्थायित्व प्रदान करने हेतु उसे लिपिबद्ध किया गया। आगम-लेखन का कार्य आचार्य आर्यरक्षित के युग में भी अंशतः प्रारम्भ हो चुका था। अनुयोगद्वार में दो प्रकार के श्रुत का उल्लेख है द्रव्यश्रुत एवं भावश्रुत। लिखित श्रुत द्रव्यश्रुत में मान्य है।[७]

आचार्य स्कंदिल और आचार्य नागार्जुन के समय में

६. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना, पृ. १२०-१२५

७. से किं तं.....दव्वसुअं? पत्तयपोत्थयलिहिअं।
(अनुयोगद्वार सूत्र)

भी आगम लिपिबद्ध होने के उल्लेख मिलते हैं[८] पर देवर्द्धिगणी के नेतृत्व में समग्र आगमों का जो व्यवस्थित संकलन एवं लिपिकरण हुआ, वह अपूर्व था, अतः परम्परा से वह श्रेय आचार्य देवर्द्धिगणी को है। इस संदर्भ का प्रसिद्ध श्लोक है

वल्लहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ वीराओ॥

वल्लभी नगरी में देवर्द्धिगणी प्रमुख श्रमण संघ ने वी. नि. ९८० (वि. सं. ५१०) में आगमों को लिपिबद्ध किया था।

आगम-वाचना के समय स्कन्दिली एवं नागार्जुनीय उभय वाचनाएं देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समक्ष थीं। नागार्जुनीय वाचनाओं के प्रतिनिधि आचार्य कालक (चतुर्थ) थे। स्कंदिली वाचना के प्रतिनिधि देवर्द्धिगणी स्वयं थे। उभय वाचनाओं में पूर्ण समानता नहीं थी। विषमांश रह जाने के कारण आचार्य स्कन्दिल एवं आचार्य नागार्जुन का प्रत्यक्ष मिलन नहीं हो पाया। अतः दोनों निकटवर्ती वाचनाओं में यह भेद स्थायी रूप में रह गया।[९] देवर्द्धिगणी ने श्रुत संकलन कार्य में अत्यन्त तटस्थ नीति से काम किया। पूर्व वाचनाकार आचार्य स्कंदिल की वाचना को प्रमुखता प्रदान कर तथा नागार्जुनीय वाचना को पाठान्तर के रूप में स्वीकार कर उदारता और गंभीरता का परिचय दिया तथा जैन संघ को विभक्त होने से बचा लिया।

नंदी निर्यूहणकार्य आगम-वाचना के इस अवसर पर नंदीसूत्र का निर्यूहण भी आचार्य देवर्द्धिगणी ने किया। इस निर्यूढ़ कृति में ज्ञान की व्यवस्थित रूपरेखा के साथ-साथ आगम सूत्रों की सूची तथा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का उल्लेख है। आचार्य सुधर्मा से दूष्यगणी तक के वाचनाचार्यों की समीचीन परम्परा के नामों का क्रम इस प्रकार है

१. आर्य सुधर्मा	२. आर्य जम्बू
३. आर्य प्रभव	४. आर्य शय्यम्भव
५. आर्य यशोभद्र	६. आर्य संभूतविजय
७. आर्य भद्रबाहु	८. आर्य स्थूलभद्र
९. आर्य महागिरि	१०. आर्य सुहस्ती
११. आर्य बलिस्सह	१२. आर्य स्वाति
१३. आर्य श्याम	१४. आर्य षांडिल्य
१५. आर्य समुद्र	१६. आर्य मंगू
१७. आर्य नन्दिल	१८. आर्य नागहस्ती
१९. आर्य रेवतीनक्षत्र	२०. आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह
२१. आर्य स्कंदिलाचार्य	२२. आर्य हिमवन्त
२३. आर्य नागार्जुन	२४. आर्य भूतदिन्न
२५. आर्य लोहित्य	२६. आर्य दूष्यगणी
२७. आर्य देवर्द्धिगणी।	

चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर, टीकाकार आचार्य हरिभद्र एवं मलयगिरि ने धर्म, भद्रगुप्त, वज्रस्वामी, रक्षित, गोविन्द इन पांचों आचार्यों के नामगत पद्यों को प्रक्षिप्त मानकर इनकी गणना वाचक वंश परम्परा में नहीं की है।

चूर्णिकार एवं टीकाकार ने नंदीसूत्र की रचना का श्रेय आचार्य देववाचक को प्रदान किया है। देववाचक और देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण दोनों अभिन्न पुरुष थे।

भद्रेश्वरसूरिकृत 'कहावली' में वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर, वाचक इन शब्दों को एकार्थक माना है।[१०]

विद्वान् मुनि पुण्यविजयजी द्वारा नंदीसूत्र की

---

८. जिनवचनं च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा। भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तकेषु न्यस्तम्। (योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७)

९. परोप्परमसंपण्णमेलावा य तस्समयाओ खंदिल्ल-नागज्जुणायरियाकालं काउं देवलोगं गया। तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धंताणं जो संजाओ कथम (कहमवि) वायणाभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं। (कहावली, २९९)

१०. वाई य खमासमणे दिवायरे वायगे ति एगट्ठा। (कहावली)

प्रस्तावना में इस संदर्भ की समीचीन मीमांसा प्रस्तुत है।[11]

देवर्द्धिगणी ने दर्शन एवं न्याय के युग को आगम युग के साथ अपनी साहित्य-धारा के माध्यम से जोड़ा। नंदीसूत्र इसी दिशा का एक प्रयत्न है।

आगम निधि का संरक्षण

जैन शासन आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का युग-युग तक आभारी रहेगा। आगम-लेखन कार्य से उन्होंने वीतराग-वाणी को दीर्घकालवत्ता प्रदान की है एवं जैन आगम निधि को समुचित संरक्षण दिया है। उनके इस प्रयत्न के अभाव में श्रुतनिधि का जो आज रूप प्राप्त है वह नहीं होता।

समय-संकेत

देवर्द्धिगणी के समय में आगम-वाचना का कार्य वी. नि. ९८० (वि. सं. ५१०) में संपन्न हुआ। यह उल्लेख प्राप्त है पर उनके स्वर्गवास का संवत् उल्लेख प्राप्त नहीं है।

देवर्द्धिगणी अन्तिम पूर्वधर थे। पूर्वज्ञान का विच्छेद वी. नि. १००० वर्ष में होने का उल्लेख आगमों में है।[12] इस आधार पर पूर्वधर देवर्द्धिगणी का स्वर्गवास संवत् भी यही संभव है। देवर्द्धिगणी के स्वर्गस्थ होने के साथ पूर्वज्ञान धारा का लोप हो गया।

देवर्द्धिगणी वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दि के आगम-निधि के महान् संरक्षक आचार्य थे।

---

११. नंदी प्रस्तावना पृ. ५।

१२. (क) एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ।
(भगवती-२०/८)

(ख) वोलीणम्मि सहस्से, वरिसाणं वीरमोक्खगमणाओ।
उत्तरवायगवसभे, पुव्वगयस्स भवे छेदो ॥९०॥
(तित्थोगालीय पइन्ना)

अध्याय २

उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य

(संख्या ५२ से ११५)

५२. बोधिवृक्ष आचार्य वृद्धवादी

आचार्य वृद्धवादी ने वृद्धावस्था में दीक्षित होकर भी विद्वानों में अपना सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया। वे वाद-कुशल एवं संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनका श्रम-प्रधान जीवन आदर्श रूप था।

गुरु-परम्परा

वृद्धवादी के गुरु अनुयोगधर आचार्य स्कंदिल थे। प्रभावक चरित्र में प्राप्त उल्लेखानुसार अनुयोगधर आचार्य स्कंदिल विद्याधर गच्छ के थे। विद्याधर आम्नाय के आचार्य पादलिप्त की परम्परा में वे चिन्तामणि की तरह सकल चिन्तापहारी आचार्य थे।[1] महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन, आचार्य वृद्धवादी के शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

वृद्धवादी ब्राह्मण पुत्र थे। उनका जन्म गौड़ देश के कौशल ग्राम में हुआ। माता-पिता तथा अन्य प्रसंग का उल्लेख नहीं है। गृहस्थ जीवन में वृद्धवादी का नाम मुकुन्द था।

जीवन-वृत्त

ब्राह्मण मुकुन्द की वृद्ध अवस्था थी। वैराग्य भाव जगा। संसार से विरक्ति हुई। सर्प-कञ्चुकी सम भोगों का परित्याग कर विप्र मुकुन्द ने सुप्रसिद्ध अनुयोगधर आचार्य स्कंदिल के पास जैन मुनि दीक्षा ग्रहण की।

विकास का अनुबंध अवस्था से अधिक हार्दिक उत्साह से जुड़ा रहता है। व्यक्ति का अदम्य उत्साह हर अवस्था में सभी प्रकार के विकास के द्वार उद्घाटित कर सकता है। मुनि मुकुन्द का जीवन इस बात का सबल प्रमाण है।

घटना भृगुपुर की है। नवदीक्षित वृद्ध मुनि मुकुन्द में ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कंठा थी। वे प्रहर रात्रि बीत जाने के बाद भी उच्चघोष से अप्रमत्त भावेन स्वाध्याय करते थे। उनकी गुणनिष्पन्नकारक यह स्वाध्याय प्रवृत्ति दूसरों की नींद में विघ्न-विधायक थी। गुरुवर्य ने मुनि मुकुन्द को प्रशिक्षण देते हुए कहा "तुम्हारा यह उच्चध्वनिक स्वाध्याय अन्य लोगों की नींद में अन्तरायभूत होने के कारण कर्म बंध का कारण है। हिंस्र पशुओं के जागरण से अनर्थ की संभावना है।[2] अतः नमस्कार मंत्र का जाप अथवा ध्यानमय आभ्यन्तर तप ही श्रेष्ठ मार्ग है।"[3]

सुविनीत मुनि मुकुन्द ने आचार्य देव से प्रशिक्षण पाकर दिन में स्वाध्याय करना प्रारम्भ कर दिया। ज्ञान की तीव्र पिपासा उन्हें विश्राम नहीं करने देती थी। प्रतिपल अप्रमत्त भाव में लीन दृढ़संकल्पी, अध्यवसायी, अनवरत जागरूक, स्वाध्याय प्रवृत्त मुनि मुकुन्द का कर्णभेदक उच्चघोष श्रावक-श्राविका समाज को भी अखरा। किसी व्यक्ति ने व्यंग्य किया "मुने! आप इतना स्वाध्याय करके क्या मूसल (शुष्क लकड़ी) को पुष्पित करोगे?" श्रावक द्वारा कही गई यह बात मुनि मुकुन्द के हृदय में तीर की भांति गहरा घाव कर गयी। उन्होंने ब्राह्मी विद्या की आराधना में इक्कीस दिन का तप किया। देवी प्रकट होकर बोली "सर्वविद्यासिद्धो भव।" दैविक वरदान से मुकुन्द मुनि विद्या-सम्पन्न बने। शक्ति सामर्थ्य को प्राप्त कर मुनि मुकुन्द ने श्रावक के

---

१. विद्याधरवरम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टदः।
आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्यः पादलिप्तप्रभोः कुले ॥५॥
(प्रभा. च., पृ. ५४)

२. यतिरेको युवा तस्मै शिक्षामक्षामधीर्ददौ।
मुने! विनिद्रिता हिंस्रजीवा भूतदुहो यतः ॥१६॥
(प्रभा. च., पृ. ५४)

३. तस्मादध्यानमयं साधु विधेह्याभ्यन्तरं तपः।
अर्हः संकोचितुं साधोर्वाग्योगो निर्ध्वनिक्षणे ॥१७॥
(प्रभा. च., पृ. ५४)

वचनों को सत्य सिद्ध करने की बात सोची। चौराहे पर बैठ सबके सामने मूसल को धरती में धमा, मुनि मुकुन्द बोले

अस्मादृशा अपि यदा भारती! त्वत्प्रसादतः।
भवेयुर्वादिनां प्राज्ञा मुसलं पुष्यतां ततः ॥३०॥[3]

भारती! तुम्हारे प्रसाद से हमारे जैसे व्यक्ति भी वादीजनों में प्राज्ञ का स्थान प्राप्त कर सके हैं, अब यह मूसल भी पुष्पित हो। यह कहकर मुनि मुकुन्द ने अचित्त जल का सिंचन देकर मंत्र महात्म्य से मूसल को पुष्पवान कर दिखाया।[4]

वृद्धावस्था में अनवरत अध्ययन प्रवृत्त मुनि मुकुन्द को देखकर 'मूसल के फूल लगाओगे क्या?' इस प्रकार फब्तियां कसने वाले वाचाल व्यक्तियों के मुंह मुनि मुकुन्द ने बंद कर दिये।

वाद-गोष्ठियों में मुनि मुकुन्द सर्वत्र दुर्जेय बनकर चमके। अप्रतिमल्लवादी के रूप में उनकी महिमा महकी।

सब प्रकार से योग्य समझकर वादजयी वृद्धवादी को आचार्य स्कंदिल ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया।[5]

जैन शासन सरोवर के उत्पल दल को विकसित करने वाले भास्कर आचार्य स्कंदिल के स्वर्गगमन के पश्चात् आचार्य वृद्धवादी का शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य सिद्धसेन के साथ हुआ। इस शास्त्रार्थ में जय प्राप्त कर आचार्य वृद्धवादी ने सिद्धसेन को अपना शिष्य बनाया। मुनि सिद्धसेन राज्याश्रय पाकर शिथिलाचार का पोषण करने लगे। उस समय पुनः उन्हें शुद्ध संयम मार्ग में स्थिर करने का कार्य आचार्य वृद्धवादी ने किया। यह सारा प्रकरण आचार्य सिद्धसेन प्रबंध में प्रस्तुत है।

वृद्धावस्था में दीक्षित मुनि मुकुन्द वादकुशल आचार्य होने के कारण वृद्धवादी नाम से प्रसिद्ध हुए। जन-जन में उन्होंने बोधिवृक्ष के अध्यात्म बीजों का वपन कर जैन धर्म की महती प्रभावना की।

समय-संकेत

अनुयोगधर आचार्य स्कंदिल के वृद्धवादी शिष्य थे एवं महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन के गुरु थे। आचार्य स्कंदिल की आगम वाचना का समय वी. नि. ८२७ से ८४० प्रमाणित हुआ है। संस्कृत भाषा के महामनीषी आचार्य सिद्धसेन का समय पण्डित सुखलालजी ने वि. की पांचवीं शती निर्धारित किया है।

---

४. प्रभावकचरित।
(श्री वृद्धवादिसूरिचरितम्, पृ. ५५)

५. इत्युक्त्वा प्रासुकैर्नीरैः सिषेच मुशलं मुनिः।
सद्यः पल्लवितं पुष्पैर्युक्तं तारैर्यथा नभः ॥३१॥
(प्रभा. च., पृ. ५५)

६. ततः सूरिपदे चक्रे गुरुभिर्गुरुवत्सलैः।
वर्द्धिष्णवो गुणा अर्या इव पात्रे नियोजिता ॥३४॥
(प्रभा. च., पृ. ५५)

५३. सरस्वती-कंठाभरण आचार्य सिद्धसेन

उच्चकोटि के साहित्यकार, दिग्गज विद्वान्, कुशलवादी सिद्धसेन श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य हैं। उनके उदार व्यक्तित्व, सूक्ष्म चिंतन-शक्ति और गंभीर दार्शनिक दृष्टियों ने संपूर्ण जैन समाज को प्रभावित किया, जिसके परिणामस्वरूप दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों परम्परा के विद्वान् आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में आदर भाव सहित आचार्य सिद्धसेन का स्मरण किया है।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का मस्तक आचार्य सिद्धसेन की प्रतिभा के सामने झुक गया। उन्होंने अयोगव्यवच्छेदिका में कहा

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था,
अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः,
स्खलद्गतिः स्वस्य शिशुर्न शोच्यः ॥३॥

सिद्धसेन की गूढ़ार्थक स्तुतियों के सामने मेरे जैसे व्यक्ति का प्रयास अशिक्षित व्यक्ति का आलाप मात्र है।

हेमशब्दानुशासन में हेमचन्द्र ने (उत्कृष्टेऽनूपेन २-२-३६) सूत्र की व्याख्या में 'अनुसिद्धसेन कवयः' कहकर अन्य कवियों को सिद्धसेन का अनुगामी सिद्ध किया है।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं

सुयकेवलिणा जओ भणियं
आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठियजसेणं।
दुस्सम-णिसा-दिवाकर कप्पंतणओ तदक्खेणं ॥

(हरिभद्र-पंचवस्तुक गाथा १४०८)

हरिभद्र ने प्रस्तुत श्लोक में आचार्य सिद्धसेन को दुस्सम काल-रात्रि में दिवाकर के समान प्रकाशवान माना है एवं श्रुतकेवली तुल्य उनको सम्मान प्रदान किया है।

हरिवंश पुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन लिखते हैं

जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयंति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥

(हरिवंश पुराण १।३०।)

ऋषभदेव की सुक्तियों के समान सिद्धसेन की सूक्तियां सज्जनों की बुद्धि का विकास करती हैं।

राजवार्तिक के कर्त्ता भट्टअकलंक, पार्श्वनाथ चरित्र के रचनाकार वादिराजसूरि आदि दिगम्बर विद्वान तथा वादिदेवसूरि, प्रभाचन्द्रआचार्य, अमम चरित्र के रचनाकार आचार्य मुनिचन्द्र, प्रद्युम्नसूरि आदि श्वेताम्बर विद्वान् आचार्य सिद्धसेन की प्रतिभा के प्रशंसक रहे हैं।

जन्म एवं परिवार

आचार्य सिद्धसेन ब्राह्मण वंश और कात्यायन गोत्र के थे। उनका जन्म उज्जयिनी में हुआ। पिता का नाम देवर्षि और माता का नाम देवश्री था। उज्जयिनी पर उस समय विक्रमादित्य का राज्य था। देवर्षि राजमान्य ब्राह्मण थे।

जीवन वृत्त

सिद्धसेन अवन्ति के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्हें वैदिक दर्शन का गंभीर ज्ञान था। न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि विविध दर्शनों पर उनका आधिपत्य था। उनकी शास्त्रार्थ करने में विशेष रुचि थी। सिद्धसेन को अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य पर भारी अभिमान था। वे अपने को अपराजेय मानते थे। वे शास्त्रार्थ में हारने पर विजेता का शिष्यत्व स्वीकार करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे।

वादकुशल आचार्य वृद्धवादी के वैदुष्य की चर्चा सर्वत्र प्रसारित थी। सिद्धसेन में उनसे शास्त्रार्थ करने की उग्र इच्छा थी।

एक बार आचार्य वृद्धवादी ने अवन्ति की ओर विहार किया। मार्ग में विद्वान् सिद्धसेन का आचार्य वृद्धवादी से मिलन हुआ। परस्पर वार्तालाप से एक दूसरे

का परिचय मिला। सिद्धसेन ने वृद्धवादी के सामने शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव रखा। आचार्य वृद्धवादी शास्त्रार्थ विद्वानों की गोष्ठी में करना चाहते थे, पर अतिउत्सुक सिद्धसेन के आग्रह पर उनके प्रस्ताव को आचार्य वृद्धवादी ने स्वीकार किया। गोपालकों ने मध्यस्थता की। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। प्रथम वक्तव्य विद्वान् सिद्धसेन ने दिया। वे सानुप्रास संस्कृत भाषा में धारा-प्रवाह बोलते गए। गोपालकों की समझ में उनका एक भी शब्द नहीं आया। वे उन्मुख होकर बोले "पण्डित! कब से अनर्गल प्रलाप कर रहा है। तुम्हारी कर्णकटूक्तियाँ हमारे लिए असह्य हो रही हैं। चुप रह, अब इस वृद्ध को बोलने दे।"

सर्वज्ञत्व की निषेध सिद्धि विषय पर पक्ष प्रस्तुत कर विद्वान् सिद्धसेन बैठ गये। आचार्य वृद्धवादी खड़े हुए। उनकी प्रतिपादन शैली सरल एवं स्पष्ट थी। वाणी में मिश्री का मिठास था। उन्होंने सर्वज्ञत्व सिद्धि पर वक्तव्य देना प्रारम्भ किया और वे गोपालकों को संबोधित करते हुए मधुर स्वर में बोले

"बन्धुओ! तुम्हारे गाँव में कोई सर्वज्ञ है या नहीं?" गोपालक बोले "हमारे गाँव में एक जिन चैत्य है उसमें वीतराग सर्वज्ञ विराजमान हैं।"

उनके इस उत्तर के साथ ही सर्वज्ञ निषेध सिद्धि पर विद्वान् सिद्धसेन द्वारा प्रदत्त पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन गोपालकों की दृष्टि में व्यर्थ सिद्ध हो गया। तदन्तर आचार्य वृद्धवादी ने युक्ति पुरस्सर सर्वज्ञत्व को प्रमाणित किया।

सर्वज्ञ सिद्धि के बाद वृद्धवादी कर्णप्रिय चिन्दणी छन्द में बोले

नवि मारियइ नवि चोरियइ परदारह गमणु निवारियइ।
थोवा थोवं दाइयइ सग्गि टुकुटुकु जाइयइ ॥६॥

(प्रबन्ध कोश, पृ. १६)

हिंसा नहीं करने से, चोरी नहीं करने से, परदारा सेवन नहीं करने एवं शुद्धदान से व्यक्ति धीमे-धीमे स्वर्ग पहुँच जाता है।

अपने विचारों को सहज ग्रामीण भाषा में प्रस्तुत करते हुए वे पुनः बोले

काश्ल कंबलु अनुनी घादु
छासिहिं खालडु भरिउ नि पादु।
अइवडु पडियउ नीलइ झाड़ि
अवर किसर गह सिंग निलाडि ॥८॥

(प्रबन्ध कोश, पृ. १६)

प्रस्तुत दोहे का राजस्थानी रूपान्तर इस प्रकार उपलब्ध होता है

काली कम्बल अरणी सट्ठ, छाछड़ भरियो दीवड़ भट्ठ।
एवड़ पड़ियो लीले झाड़,अवर कवण छै स्वर्ग विचार ॥

शीत निवारणार्थ काली कम्बल हो, हाथ में अरणि की लकड़ी हो, छाछ से भरा मटका हो और एवड़ को नीली घास प्राप्त हो, तो इससे बढ़कर स्वर्ग क्या हो सकता है?

सुमधुर ग्रामीण भाषा में आचार्य वृद्धवादी द्वारा स्वर्ग की परिभाषा सुनकर गोपालक जय-जय का घोष करते हुए नाच उठे। उन्होंने कहा

"वृद्धवादी सर्वज्ञ हैं। श्रुति सुखद उपदेश के वाचक हैं। सिद्धसेन अर्थहीन बोल रहा है।"

प्रभावक चरित्र के अनुसार यह शास्त्रार्थ अवन्ति के मार्ग में हुआ था। प्रबन्धकोश आदि ग्रंथों के अनुसार यह शास्त्रार्थ भृगुकच्छ (भृगुपुर) के नजदीक हुआ था।

गोपालकों की सभा में आचार्य वृद्धवादी विजयी हुए। जय-पराजय का निर्णय आचार्य वृद्धवादी भृगुपुर में पहुँचकर विद्वद्सभा में करवाना चाहते थे, पर आचार्य सिद्धसेन अपने संकल्प पर दृढ़ थे। आचार्य वृद्धवादी ने पाण्डित्य का प्रदर्शन न कर समयज्ञता का कार्य किया। इस अभिमत पर आचार्य वृद्धवादी को सर्वज्ञ और उनकी सूझ-बूझ के सामने अपने को अल्पज्ञ मानते हुए विद्वान् सिद्धसेन ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। वे मुनि बन गए। उनका दीक्षा नाम कुमुदचंद्र रखा गया। वृद्धवादी के शिष्य परिवार में कुमुदचंद्र अत्यन्त योग्य एवं प्रतिभावान् शिष्य थे।

कुल को उजागर करने वाले सुयोग्य पुत्र को पाकर

जितनी प्रसन्नता एक पिता को होती है, आचार्य वृद्धवादी को भी कुमुदचंद्र जैसे कुशाग्र बुद्धि के धनी, काव्यचेता शिष्य को पाकर उतनी ही प्रसन्नता हुई। जैनशासन की सार्वभौम एवं व्यापक प्रभावना शिष्य कुमुदचंद्र के व्यक्तित्व से संभव है यह सोचकर एक दिन वृद्धवादी ने विद्वान शिष्य कुमुदचन्द्र की नियुक्ति आचार्य पद पर की। उनका नाम कुमुदचंद्र से पुनः सिद्धसेन कर दिया गया जो पहले था। आचार्य वृद्धवादी ने सिद्धसेन को स्वतंत्र विहरण का आदेश देकर अन्यत्र विहार कर दिया। नीति के अनुसार गुरु अपने शिष्यों की योग्यता को दूर रहकर भी परखा और देखा करते हैं।

प्रखर वैदुष्य के कारण आचार्य सिद्धसेन की प्रसिद्धि सर्वज्ञ-पुत्र के नाम से हुई।

एक दिन सिद्धसेन अवन्ति के राजपथ से कहीं जा रहे थे। जनसमूह उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सर्वज्ञपुत्र की जय हो कहकर आचार्य सिद्धसेन की विरुदावलि उच्च घोषों से मार्गवर्ती चतुष्पथों पर बोली जा रही थी। अवन्ति-शासक विक्रमादित्य का सहज आगमन सामने से हुआ। वे हाथी पर आरूढ़ थे। सर्वज्ञता की परीक्षा के लिए उन्होंने वहीं से आचार्य सिद्धसेन को मानसिक नमस्कार किया। निकट आने पर विक्रमादित्य को आचार्य सिद्धसेन ने उच्चघोषपूर्वक हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। विक्रमादित्य बोले, "बिना वंदन किए ही आप किसको आशीर्वाद दे रहे हैं?"

आचार्य सिद्धसेन ने कहा, "आपने मानसिक नमस्कार किया था, उसी के उत्तर में मैंने आशीर्वाद दिया है।"

आचार्य सिद्धसेन की इस सूक्ष्म ज्ञानशक्ति से विक्रमादित्य प्रभावित हुआ और उसने विशाल अर्थराशि का अनुदान किया।[1] सिद्धसेन ने उस अनुदान को अस्वीकार कर दिया। उनकी इस त्यागवृत्ति ने नरेश विक्रम को और भी अधिक प्रभावित किया तथा धर्म प्रचार कार्य में उस अर्थराशि का उपयोग हुआ।

चित्रकूट में सिद्धसेन ने विविध औषधियों के चूर्ण से बना एक स्तम्भ देखा। प्रतिपक्षी औषधियों का प्रयोग कर आचार्य सिद्धसेन ने उसमें एक छेद कर डाला। स्तम्भ में हजारों पुस्तकें थीं। अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी आचार्य सिद्धसेन को उस छेद में से एक पुस्तक के प्रथम पृष्ठ के पठन से सर्षप-विद्या (सैन्य सर्जन विद्या) और स्वर्ण सिद्धि-विद्या ये दो विद्याएं उपलब्ध हुईं।[2]

सर्षप-विद्या के प्रभाव से मांत्रिक द्वारा जलाशय में प्रक्षिप्त सर्षप कणों के अनुपात में चौबीस प्रकार के उपकरण सहित सैनिक निकलते थे और प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत कर वे पुनः जल में अदृश्य हो जाते थे।

स्वर्ण-सिद्धि-विद्या के द्वारा मांत्रिक किसी भी प्रकार की धातु को सहजतः स्वर्ण में परिवर्तित कर सकता था।

इन दो विशिष्ट विद्याओं की प्राप्ति से आचार्य सिद्धसेन के मन में उत्सुकता बढ़ी। वे पूरी पुस्तक को पढ़ना चाहते थे पर देवी ने आकर उनसे पुस्तक को छीन लिया[3], और उनकी मनोकामना पूर्ण नहीं हो सकी।

आचार्य सिद्धसेन भ्रमणप्रिय आचार्य थे। वे चित्रकूट की पूर्व दिशा की ओर बढ़े। अनेक ग्राम-देशों में विहरण करते हुए पूर्व में कूर्मारदेश में पहुंचे। कूर्मारदेश का शासक देवपाल था। आचार्य सिद्धसेन से बोध प्राप्त

---

१. धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूराद्युद्धृतपाणये।
सूरये सिद्धसेनाय ददौ कोटिं नराधिपः ॥६४॥
(प्रभा. च., पृ. ५६)

२. द्वे विद्ये लभते स्म। एका सर्षपविद्या, अपरा हेमविद्या। तत्र सर्षपविद्या सा-प्रयोत्पन्ने कार्ये मान्त्रिको यावन्तः सर्षपान् जलाशये क्षिपति तावन्तोऽश्ववारा द्विचत्वारिंशदुपकरणसहिता निःसरन्ति। ततः परबलं भज्यते। सुभटाः कार्यसिद्धेरनन्तरमदृश्यी भवन्ति। हेमविद्या पुनरक्लेशेन शुद्धहेमकोटीः सद्यो निष्पादयति, येन तेन धातुना। तद्विद्याद्वयं सम्यग् जग्राह।
(प्रबन्ध कोश, पृ. १७ पंक्ति १०-१४)

३. सावधानः पुरो यावद् वाचयत्येष हर्षभूः।
तत्पत्रं पुस्तकं चाथ, जहे श्रीशासनामरी ॥७२॥
(प्रभा. च., पृ. ५६)

कर वह उनका भक्त बन गया। देवपाल की राजसभा में नित्य नवीन एवं मधुर गोष्ठियां होतीं थी। आचार्य सिद्धसेन के योग से उन गोष्ठियों की सरसता अधिक बढ़ जाती थी। राजसम्मान प्राप्त कर सिद्धसेन का मन उस वातावरण से मुग्ध हो गया और वे वहीं रहने लगे। राजा देवपाल के सामने पर चक्र का भय उपस्थित हुआ।

कामरूप (असम) देश के विजयवर्मन नरेश ने सैन्यदल के साथ कूर्मार देश पर आक्रमण किया। नरेश देवपाल के सैन्य दल का इनके सामने टिकना कठिन था। आचार्य सिद्धसेन के सामने नरेश देवपाल ने अपनी दुर्बलता को प्रकट किया और कहा "गुरुदेव! अब आपका ही आश्रय है।" चिंतित नरेश देवपाल को धैर्य बंधाते हुए आचार्य सिद्धसेन बोले "राजन्! चिंता मत करो। जिसका मैं सखा हूँ, विजयश्री उसकी है।" सिद्धसेन से सान्त्वना पाकर देवपाल को प्रसन्नता हुई। प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत करने में नरेश को आचार्य सिद्धसेन से पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ। युद्ध की संकटकालीन स्थिति में आचार्य सिद्धसेन ने 'सुवर्ण सिद्धियोग' नामक विद्या से पर्याप्त परिमाण में अर्थ को निष्पन्न कर तथा सर्षप मंत्र के प्रयोग (सैन्य सर्जन विद्या) से विशाल संख्या में सैनिक समूह की रचना कर देवपाल को समर्थ और शक्तिसम्पन्न बनाया। युद्ध में देवपाल की विजय हुई।

विजयोपरांत राजा देवपाल ने आचार्य सिद्धसेन से कहा "हे भवतारक गुरुदेव! मैं प्रतिद्वंद्वी द्वारा उपस्थित भयरूपी अंधकार से भ्रांत हो गया था। आपने सूर्य के समान मेरे मार्ग को प्रकाशित किया है, अतः आपकी प्रसिद्धि दिवाकर नाम से हो।" तब से आचार्य सिद्धसेन के नाम के साथ 'दिवाकर' विशेषण जुड़ गया। वे लोक में 'सिद्धसेन दिवाकर' संज्ञा से विश्रुत हुए।[४]

निशीथ चूर्णि के अनुसार सिद्धसेन ने अश्व रचना की थी।[५] देवपाल की भावभीनी मनुहार से आचार्य सिद्धसेन राज सुविधाओं का मुक्तभाव से उपयोग करने लगे। वे हाथी पर बैठते और शिविका का प्रयोग करते।[६] सिद्धसेन दिवाकर के साधनाशील जीवन में शैथिल्य की जड़ें विस्तार पाने लगीं। "श्रावकाः षोषधशालायां प्रवेशमेव न लभन्ते।" उनके पास उपासक वर्ग का आवागमन निषिद्ध हो गया। आचार्य होते हुए भी राजसम्मान प्राप्त कर संघ-निर्वहण के दायित्व को उन्होंने उपेक्षित कर दिया था। धर्म-संघ में चर्चा प्रारम्भ हुई

दगपाणं पुप्फफलं अणेसणिज्जं गिहत्थकिच्चाइं।
अजया पडिसेवंती जइवेसविडंबगा नवरं ॥१३॥

(प्रबन्ध कोश, पृ. १७, पं. २८)

सचित्तजल, पुष्प, फल, अनेषणीय आहार का ग्रहण एवं गृहस्थ कार्यों का अयत्नापूर्वक सेवन श्रमण वेश की प्रत्यक्ष विडम्बना है।

आचार्य सिद्धसेन के अपयश की यह गाथा आचार्य वृद्धवादी के कानों तक पहुंची। वे गच्छ के भार को योग्य शिष्यों के कंधों पर स्थापित कर एकाकी वहां से चले। कूर्मार देश में पहुंचे। वहां राजा की भांति सुखासन (पालकी) में बैठे एवं सैकड़ों जनों से घिरे हुए शिष्य सिद्धसेन को राजमार्ग में देखा। वेश परिवर्तित कर आचार्य वृद्धवादी सिद्धसेन के सामने उपस्थित हुए और बोले "आप विद्वान् हैं। आपकी ख्याति सुनकर मैं दूर देशांतर से आया हूँ। मेरे मन में संदेह है उसे आप दूर करें।"

आचार्य सिद्धसेन ने स्वाभिमान के साथ सिर ऊँचा कर कहा "जो भी तुझे पूछना हो, पूछो।"

आसपास में खड़े लोगों के सम्मुख आचार्य वृद्धवादी

---

४. ततो दिवाकर इति ख्याताख्या भवतु प्रभोः।
ततः प्रभृति गीतः श्रीसिद्धसेनदिवाकरः ॥८४॥
(प्रभा. च. पृ. ५७)

५. सिद्धसेनाचार्येणाश्वा उत्पादिताः।
(बृहत्कल्प सूत्र, सनिर्युक्ति भाष्य वृत्तिक, विभाग ३, पृ. ५३)

६. तस्य राज्ञो दृढं मान्यः सुखासनगजादिषु।
बलादारोपितो भक्तयागच्छति क्षितिपालयम् ॥८४॥
(प्रभा. च. पृ. ५७)

उच्च स्वर से बोले

'अणफुल्लिय फुल्ल म तोडहिं मा रोवा मोडहिं।
मण कुसुमेहिं अच्चि निरंजणु
हिंडहि कीं वणेण वणुं ॥१४॥

(प्रबंधकोश, पृ. १८)

आचार्य सिद्धसेन बुद्धि पर पर्याप्त बल लगाकर भी प्रस्तुत श्लोक का अर्थ नहीं कर सके। उन्होंने सोचा ये मेरे गुरु वृद्धवादी तो नहीं हैं? पुनः-पुनः समागत विद्वान् की मुखाकृति को देखकर आचार्य सिद्धसेन ने वृद्धवादी को पहचाना।

'पाइयोः प्रणम्य क्षामिताः पथार्थपृष्टाः' चरणों में गिरकर अविनय की क्षमा याचना की और विनम्र होकर श्लोक का अर्थ पूछा।

आचार्य वृद्धवादी बोले

'योगकल्पद्रुमः' श्रमण योग कल्पवृक्ष के समान है। यम और नियम इस वृक्ष के मूल हैं। ध्यान प्रकाण्ड एवं समता स्कंध हैं। कवित्व, वक्तृत्व, यश, प्रताप, स्तंभन, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाएं पुष्प के समान हैं। केवलज्ञान की उपलब्धि मधुर फल है। अभी तक साधना जीवन का कल्पवृक्ष पुष्पित हुआ है। फलवान बनाने से पहले ही इन पुष्पों को मत तोड़। महाव्रत रूपी पौधों का उन्मूलन मत कर। प्रसन्न मन से अहंकार रहित होकर वीतराग प्रभु की आराधना कर। मोहादि तरुओं से गहन इस संसार अटवी में भ्रमण क्यों कर रहा है?'

अथवा

अल्पायु खंड रूपी पुष्पों को राजसम्मान जनित गर्व की लाठी से मत तोड़। यम रूपी बगीचे को नष्ट मत कर। क्षमा आदि गुणों से भूषित विशुद्ध मन रूपी कुसुमों से निरंजन (अहंकार आदि अंजन से निर्लिप्त) प्रभु की पूजा अर्चना कर। मोहादि वृक्षों से गहन इस संसार रूपी अरण्य में क्यों भटक रहा है?

अथवा

स्याद्वाद् वचन रूपी पुष्पों को मत तोड़, पवित्र मन रूपी बगीचे को नष्ट मत कर, विशुद्ध भावना रूपी कुसुमों से रागद्वेषादि रहित निरंजन आत्मा की पूजा कर, भौतिक विषयों के संसार में क्यों भ्रमण कर रहा है?

आचार्य वृद्धवादी की विविध अर्थ प्रदायिनी उद्बोधक वाणी से आचार्य सिद्धसेन के अन्तःचक्षु उद्घाटित हुए। उन्होंने गुरु चरणों में नत हो, क्षमा याचना की।

किंवदंती के अनुसार वृद्धवादी ने कुमार देश में पहुंचकर आचार्य सिद्धसेन की पालकी के नीचे अनेक शिविकावाही पुरुषों के साथ अपना कंधा लगा दिया। अवस्था वृद्ध होने के कारण वृद्धवादी के पांव लड़खड़ा रहे थे एवं उनकी ओर से सुखपालकी लचक रही थी। आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि कृशकाय-वयोवृद्ध वृद्धवादी पर पहुंची और दर्प के साथ वे बोले

अयमान्दोलिकादण्डः वृद्धस्तव किन्नु बाधति।

"वृद्ध! इस सुखपालकी का दंड तुम्हें कष्टकर प्रतीत हो रहा है?"

आचार्य सिद्धसेन द्वारा उच्चरित बाधति धातु के प्रयोग पर आचार्य वृद्धवादी चौंके। संस्कृत में 'बाधृङ्' धातु का परस्मैपद व्यवहार सर्वथा अशुद्ध है। इस अशुद्ध प्रयोग को परिलक्षित कर वे बोले

न बाधते तथा दंडः यथा बाधति बाधते।

"मुझे इस दंड से वैसा क्लेश नहीं हो रहा, जैसा बाधति धातु के प्रयोग से क्लेश हो रहा है।"

आचार्य सिद्धसेन जानते थे, मेरी अशुद्धि की ओर संकेत करने वाला व्यक्ति मेरे गुरु वृद्धवादी के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता अतः आचार्य सिद्धसेन तत्क्षण सुख शिविका से नीचे उतरे, आत्मालोचन करते हुए गुरु-चरणों में गिर पड़े। आचार्य वृद्धावादी ने उन्हें प्रायश्चित्तपूर्वक संयम में स्थिर किया एवं अपने स्थान पर गणनायक रूप में उनकी नियुक्ति की, तदनन्तर

---

७. सकलानप्यागमानहं संस्कृतान् करोमि, यदि आदिशथ।
(प्रबन्धकोश, पृ. १८, पं. १५-१६)

करने के बाद सिद्धसेन अवंति में आए तथा शिवमंदिर में पहुंचकर प्रतिमा को नमन किए बिना ही बैठ गए। पुजारी ने उनसे प्रतिमा को प्रणाम करने के लिए पुनः-पुनः कहा, पर आचार्य सिद्धसेन पर इसका कुछ प्रभाव नहीं हुआ। उन्होंने पुजारी की बात को सुनकर अनसुना कर दिया। इस घटना की सूचना राजा के कानों तक पहुंची। विक्रमादित्य स्वयं शिव मंदिर में आया और सिद्धसेन से बोला, **"क्षीरलिलिक्षो भिक्षो! किमिति त्वया देवो न वंद्यते** हे दूधपान करने वाले श्रमण! देव प्रतिमा को वंदन क्यों नहीं करते?"

आचार्य सिद्धसेन बोले, "मेरा वंदन प्रतिमा सहन नहीं कर सकेगी।"

राजा बोला, "**भवतु क्रियतां नमस्कारः** जो कुछ घटित होता है, होने दो। पहले वंदन करो।"

नरेश की आज्ञा से शिव प्रतिमा के सामने बैठकर आचार्य सिद्धसेन ने काव्यमयी भाषा में उच्चस्वर से पार्श्वनाथ की स्तवना प्रारंभ की। फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन द्वारा स्तुति काव्य के रूप में 'महान् प्रभावक कल्याण मंदिर स्तोत्र' का निर्माण हुआ। कल्याण मंदिर स्तोत्र के ११वें श्लोक के साथ पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई।[१०]

आचार्य सिद्धसेन के इस कार्य से जैन शासन की प्रभावना शत-गुणित हुई। राजा विक्रमादित्य ने आचार्य सिद्धसेन का सम्मान किया और उनका भक्त बना। राजा विक्रमादित्य की विद्वन्मंडली में भी आचार्य सिद्धसेन को गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ।

आचार्य सिद्धसेन के इस प्रयत्न को संघ की अतिशय प्रभावना का महत्त्वपूर्ण अंग मान कर श्रमण संघ ने उन्हें दंड मर्यादा से पांच वर्ष पूर्व ही गण में सम्मिलित कर लिया।[११]

सिद्धसेन प्रगतिशील विचारों के धनी थे। उनके नवीन विचारों का विरोध होना स्वाभाविक था। द्वादश-वर्षीय संघ बहिष्कार के रूप में दंड की यह पद्धति अवश्य अनुसंधान का विषय है।

आचार्य समंतभद्र द्वारा भी चंद्रप्रभु तीर्थंकर की स्तुति करते समय चंद्रप्रभुजी का बिम्ब शिवालय में प्रकट हुआ था, अतः सिद्धसेन और समंतभद्र के जीवन की ये दोनों घटनाएं एक जैसी लगती हैं।

इन दोनों आचार्यों के घटना प्रसंग का कालांतर में सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

संघ में सम्मिलित किए जाने के बाद एक बार आचार्य सिद्धसेन ने गीतार्थ मुनियों के साथ अवंति से दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए वे भृगुकच्छ के सीमावर्ती स्थान पर पहुंचे। वहां ग्रामीण गोपालकों ने आचार्य सिद्धसेन से कहा, "गुरु महाराज! हमें कुछ सुनाओ।" तब आचार्य सिद्धसेन ने वृक्ष की छाया के नीचे गोरस के समान मधुर उपदेश दिया एवं सहज, सरल प्राकृत पद्यों में ताल रास सुनाया।

प्राकृत भाषा का यह रास सुनकर ग्वाले प्रतिबुद्ध हुए। उन्होंने वहां ताल रास नामक ग्राम बसाया।

सिद्धसेन वहां से भृगुकच्छ (भृगुपुर) गए। भृगुपुर में उस समय बलमित्र के पुत्र धनंजय का राज्य था। राजा ने आचार्य सिद्धसेन का भक्तिपूर्वक सत्कार किया। धनंजय शत्रुओं से आक्रांत हुआ तब सिद्धसेन ने सैन्यरचना कर धनंजय को विजयी बनाया था।

सैन्य-रचना में सिद्धहस्त होने के कारण उनका नाम सिद्धसेन प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है।

अवंति नरेश विक्रमादित्य और बंग नरेश देवपाल की तरह भूपति धनंजय भी आचार्य सिद्धसेन का परम भक्त था।

जीवन के संध्याकाल में आचार्य सिद्धसेन

---

१०. प्रभोः श्रीपार्श्वनाथस्य प्रतिमा प्रकटाऽभवत् ॥१४८॥
(प्रभा. च. पृ. ५८)

११. वत्सराणि ततः पंच संघोऽमुष्य मुमोच च।
चक्रे च प्रकटं श्रीमत्सिद्धसेनदिवाकरम् ॥१५१॥
(प्रभा. च. पृ. ६०)

अनशन ग्रहण कर परम समाधि में आचार्य वृद्धवादी स्वर्ग को प्राप्त हुए।

आचार्य सिद्धसेन जैनधर्म का जन-जन को बोध प्रदान करते हुए गांवों, नगरों, राजधानियों में विहरण करते रहे। आचार्य सिद्धसेन की कुशल वाग्मिता से उनकी यशःज्योत्स्ना विश्व में प्रसारित हुई। मुख-मुख पर उनका नाम गूंजने लगा।

आचार्य सिद्धसेन संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उस समय संस्कृत भाषा का प्रचलन बढ़ रहा था। प्राकृत भाषा ग्रामीण भाषा समझी जाने लगी थी। जैनेतर विद्वान् अपने-अपने ग्रंथों का निर्माण संस्कृत में करने लगे थे। आगमों को विद्वद्भोग्य बनाने के लिए सिद्धसेन ने आगम ग्रंथों को प्राकृत से संस्कृत में अनुदित करना चाहा। उन्होंने यह भावना गुरुजनों के सामने प्रस्तुत की[७]। उस समय स्थितिपालक मुनियों द्वारा नवीन विचारों के लिए समर्थन पाने का मार्ग सरल नहीं था। संघ ने आचार्य सिद्धसेन का विरोध किया। श्रमण बोले

"किं संस्कृतं कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्तः तीर्थंकराः गणधराः वा यदधर्ममागधेनागमानकृषत? तदेवं जल्पतस्तव महत् प्रायश्चित्तमापन्नम्।" तीर्थंकर और गणधर संस्कृत नहीं जानते थे? उन्होंने अर्धमागधी भाषा में आगमों का प्रणयन क्यों किया? अतः आगमों को संस्कृत भाषा में अनुदित करने का विचार करना ही प्रायश्चित्त का निमित्त है।

संघ के इस अन्तर्विरोध के फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन को मुनिवेश बदलकर बारह वर्ष तक गण से बाहर रहने का कठोर दण्ड मिला।[८] इस पारांचित नामक दशवें प्रायश्चित्त को वहन करते समय आचार्य सिद्धसेन के लिए एक अपवाद था, बारह वर्ष की इस अवधि में उनसे जैनशासन की महनीय प्रभावना का कार्य संपादित हो सका तो दण्ड काल की मर्यादा से पूर्व भी उन्हें संघ में सम्मिलित किया जा सकता है।[९]

संघमुक्त आचार्य सिद्धसेन मुनि वेश परिवर्तित कर सात वर्ष तक विहरण करते रहे। तदनन्तर उनका आगमन अवन्ति में हुआ। अवंति नरेश विक्रमादित्य की सभा में पहुंचकर सिद्धसेन ने राजा की स्तुति में चार श्लोक बोले

'अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगंतरम् ॥१॥
'अमी पान कुरंकाभाः सप्तापि जलराशयः।
यशो राजहंसस्य पंजरं भुवनत्रयम्'॥२॥
'सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नार्थो लेभिरे पृष्ठं न वक्षःपरयोषितः' ॥३॥
'भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा।
ददासि तच्च तेनास्ति राजंश्चित्रमिदं महत् ॥४॥

इन श्लोकों को सुनकर राजा विक्रमादित्य अत्यंत प्रसन्न हुए और बोले "धन्य है वह सभा जहां आप जैसे विद्वान् विराजमान होते हैं। अब आप हमारी सभा को अलंकृत करें।"

राजा के आग्रह पर विद्वान् सिद्धसेन वहां रहने लगे।

एक दिन सिद्धसेन राजा विक्रमादित्य के साथ शिव-मंदिर में गए पर शिव प्रतिमा को प्रणाम किए बिना ही वापस मुड़े। राजा विक्रमादित्य ने सिद्धसेन से नमन न करने का कारण जानना चाहा और कहा "आप ऐसा करके देव की अवज्ञा कर रहे हैं।" तब सिद्धसेन बोले, "राजन्! साधारण मनुष्यों के सामने कुछ बोलकर कंठ शोष करने से कुछ लाभ नहीं होता पर तुम पुण्यशाली पुरुष हो, अतः मैं नमन नहीं करने का रहस्य तुम्हें बता रहा हूं। मेरा नमस्कार ये देव सहन नहीं कर सकेंगे।"

प्रबंध कोश के अनुसार सात वर्ष अन्यत्र परिभ्रमण

---

८. अहमारितमौनो द्वादशवार्षिकं पारांचितं नाम प्रायश्चित्तं गुप्तमुखवस्त्रिकारजोहरणादिलिंगः प्रकटितावधूतपश्चरिष्यामपुपपुक्तः।
(प्रबन्धकोश, पृ. १८, पं. १८-१९)

९. जैनप्रभावनां काचिदद्भुतां विदधाति चेत्।
तदुक्तावधिमध्येऽपि लभते स्वं पदं भवान् ॥११९॥
(प्रभा. च. पृ. ५८)

प्रतिष्ठानपुर (पृथ्वीपुर) पहुंचे। आयुष्यबल को क्षीण जानकर आचार्य सिद्धसेन ने अपने योग्य शिष्य को पद पर नियुक्त किया और स्वयं अनशन ग्रहण किया। परम समाधि में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का स्वर्गवास हुआ।[१२]

एक समर्थ कवि, मधुर वक्ता, महान् धर्मोपदेशक, चिंतनशील, गंभीर विचारक, जैन शासन के अतिशय प्रभावी आचार्य के चले जाने से लोगों के हृदय में आघात लगा। संयोग से एक वैतालिक चारण कवि विशाला गया, वहां आचार्य सिद्धसेन की भगिनी साध्वी सिद्धश्री से मिला। उस समय चारण को आचार्य सिद्धसेन की याद आ गई। वह उदास मन से श्लोक का अर्धांश बोला

'स्फुरंति वादिखद्योताः सांप्रतं दक्षिणापथे'

इस समय दक्षिण में वादी रूपी जुगनू चमक रहे हैं।

साध्वी सिद्धश्री आचार्य सिद्धसेन की भांति बुद्धि की धनी थी। वैतालिक चारण की कविता सुनकर वह समझ गई अब विद्वान् बंधु आचार्य सिद्धसेन संसार में नहीं रहे। उसने वाग्मी चारण द्वारा उच्चारित श्लोक का उत्तरांश पूर्ण करते हुए कहा

'नूनमस्तंगतो वादी, सिद्धसेनो दिवाकरः' ॥१७४॥

(प्रभा. च., पृ. ६१)

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर निश्चय ही अस्त हो गए हैं।

साध्वी सिद्धश्री में भाई के स्वर्गवास से विशेष वैराग्य उदय हुआ। नश्वर धर्मा इस शरीर की अंतपरिणति समझकर उसने अनशन ग्रहण किया। गीतार्थ श्रुतधर मुनियों के निर्देशन में अपने चारित्ररत्न की सम्यग् आराधना करती हुई वह भी सद्गति को प्राप्त हुई।

आचार्य सिद्धसेन ने अपने प्रभाव से अनेक राजाओं को बोध दिया। सात राजाओं अथवा अठारह राजाओं को आचार्य सिद्धसेन द्वारा बोध देने की बात विश्रुत है। प्रभावक चरित्र एवं प्रबंधकोश में राजाओं की संख्या का उल्लेख नहीं है।

आचार्य सिद्धसेन का युग आरोहण और अवरोहण का युग था। संस्कृत भाषा का उत्कर्ष एवं प्राकृत भाषा का अपकर्ष हो रहा था। पुस्तकों के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति आरम्भ हो चुकी थी। श्रमण जीवन में शिथिलाचार प्रवेश कर रहा था। राजसम्मान प्राप्त जैनाचार्यों की दृष्टि में व्यक्तित्व प्रभावना का लक्ष्य प्रमुख एवं साधुचर्या की बात गौण हो गई थी। श्रमणों द्वारा गज और शिविका आदि विशेष वाहनों का उपयोग भी उस युग में होने लगा था।

आचार्य सिद्धसेन का जीवन इन सारे बिंदुओं का संकेत है।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में आचार्य सिद्धसेन का अवदान अनुपम था। उन्हें आगमिक तथ्यों को तर्क की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय है। वे जैन न्याय के प्राण-प्रतिष्ठापक थे। वे दिग्गज विद्वान् धर्मकीर्ति, दिङ्नाग और वसुबंधु के प्रतिद्वंद्वी थे।

आचार्य सिद्धसेन में आस्था एवं तर्क का अपूर्व समन्वय था। वे मौलिक चिंतन के धनी, स्वतंत्र विचारक एवं नवीन युग के प्रवर्तक थे तथा महान् स्तुतिकार थे। उन्होंने चिंतन-प्रधान मौलिक दार्शनिक ग्रंथों की रचना की। उनके ग्रंथों का परिचय इस प्रकार है

बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं आचार्य सिद्धसेन ने द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिकाओं की रचना की। इनमें इक्कीस द्वात्रिंशिकाएं उपलब्ध हैं। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओं में प्रथम छह द्वात्रिंशिकाएं स्तुतिमय हैं। इन स्तुतियों में भगवान् महावीर के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा के दर्शन होते हैं।

---

१२. एवं प्रभावनास्तत्र कुर्वतो दक्षिणापथे।
प्रतिष्ठानपुरं प्रापुः प्राप्तरेखाः कविव्रजे ॥१६६॥
आयुःक्षयं परिज्ञाय तत्र प्रायोपवेशनात्।
योग्यं शिष्यं पदे न्यस्य सिद्धसेनदिवाकरः ॥१७०॥
दिवं जगाम संघस्य ददानोऽनाथतामथाम्।
तादृशां विरहे को न दुःखी यदि सचेतनः ॥१७१॥
(प्रभा. च. पृ. ६०)

अवशिष्ट द्वात्रिंशिकाओं में विविध विषयों का वर्णन मिलता है। जैनेतर दर्शनों को समझने के लिए १३वीं, १४वीं, १५वीं, १६वीं द्वात्रिंशिकाएं उपयोगी हैं। इनमें क्रमशः सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध एवं नियतिवाद की चर्चा है। जैन तत्त्व दर्शन को समझने के लिए १९वीं द्वात्रिंशिका विपुल सामग्री प्रदान करती है। आत्म-स्वरूप एवं मुक्ति मार्ग का बोध २०वीं द्वात्रिंशिका में है। प्रथम पांच द्वात्रिंशिकाओं की भांति २१वीं द्वात्रिंशिका भी स्तुतिमय है। ये द्वात्रिंशिकाएं अपूर्व हैं, गूढ़ हैं और गंभीरार्थक हैं। इनमें जैन, बौद्ध, वैदिक सभी दार्शनिक तत्त्वों की चर्चाएं हैं। ये पद्यमयी हैं। इनकी भाषाशैली गहन एवं गंभीर है। इनकी रचनाओं में उन्होंने अनुष्टुप, उपजाति, पृथ्वी, आर्या, वसन्ततिलका, शिखरिणी, मंदाक्रांता, शालिनी, आदि विविध छंदों का उपयोग किया है। इन द्वात्रिंशिकाओं पर किसी भी समर्थ विद्वान् ने टीका नहीं लिखी। आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शन-समुच्चय, आचार्य हेमचंद्र के अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा प्रमाणमीमांसा पर सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। आचार्य यशोविजयजी के न्याय ग्रंथों पर सन्मतितर्क और इन द्वात्रिंशिकाओं की छाया है।

सन्मतितर्क यह ग्रंथ आचार्य सिद्धसेन की प्राकृत रचना है। उस समय आगम समर्थक जैन विद्वान् प्राकृत भाषा को पोषण दे रहे थे। सम्भवतः इन विद्वानों की अभिरुचि का सम्मान करने के लिए 'सन्मतितर्क' का निर्माण सिद्धसेन ने प्राकृत भाषा में किया। नय का विशद विवेचन, तर्क के आधार पर पांच ज्ञान की परिचर्चा, प्रतिपक्षी दर्शन का भी सापेक्ष भूमिका पर समर्थन तथा सम्यक्त्व स्पर्शी अनेकांत का युक्ति पुरस्सर प्रतिपादन इस ग्रंथ का प्रमुख विषय है। प्रमाण विषयक सामग्री को प्रस्तुत करने वाला यह सर्वप्रथम जैन ग्रंथ है। इस ग्रंथ के ३ कांड और १६७ गाथाएं हैं। प्रथम कांड में ५४ गाथाएं हैं और इसमें नयवाद का विशद विवेचन है। नयों का गंभीर तलस्पर्शी अध्ययन करने वालों को यह कांड समुचित सामग्री प्रस्तुत करता है। दूसरे कांड की ४३ गाथाएं हैं। पांच ज्ञान का समुचित विवेचन एवं प्रत्यक्ष, परोक्ष ज्ञान की व्याख्या इनमें उपलब्ध है। तृतीय कांड की ७० गाथाएं हैं। इसमें ज्ञेय तत्त्व की चर्चा और अनेकांत तथा स्याद्वाद का वर्णन है। यथार्थ में यह ग्रंथ स्याद्वाद का अनुपम खजाना है।

इस ग्रंथ में आचार्य सिद्धसेन ने सर्वज्ञ के केवलज्ञान और केवलदर्शन में अभेद सिद्ध किया है। युगपत् ज्ञानद्वयी का यह समर्थन सिद्धसेन का सर्वथा मौलिक था। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने इस मान्यता का विरोध किया, मल्लवादी ने इसका समर्थन किया और यशोविजयजी ने ज्ञान बिंदु विवरण में इन तीनों आचार्यों की मान्यताओं को विविध नयों के आधार पर सिद्ध कर स्याद्वाद को पुष्ट किया।

न्यायावतार गौतम ऋषि द्वारा न्यायसूत्र की रचना के बाद न्यायशास्त्रों की उपयोगिता बढ़ रही थी। इस उपयोगिता की पूर्ति में आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार ग्रंथ की रचना की। यह बत्तीस श्लोकों की न्याय विषयक मौलिक रचना है। जैन न्याय ग्रंथों में संस्कृत भाषा का यह प्रथम ग्रंथ है। उत्तरवर्ती ग्रंथों पर इस न्याय ग्रंथ का प्रभाव स्पष्ट है। आचार्य सिद्धर्षि ने इस ग्रंथ पर २०७३ श्लोकों की टीका और आचार्य भद्रेश्वरसूरि ने १०५३ श्लोकों का टिप्पण लिखा है। अंग्रेजी संस्करण भी इस ग्रंथ के प्रकाशित हुए हैं। जैन न्याय का यह आदिग्रंथ है। इसकी भाषा सुललित और प्रभावमयी है। आगमों में बीज रूप से प्राप्त प्रमाण एवं नयों का आधार लेकर बत्तीस अनुष्टुप् श्लोकों में न्याय जैसे गंभीर विषय को प्रस्तुत कर देना उनकी प्रतिभा का चमत्कार है।

कल्याण मंदिर स्तोत्र इस स्तोत्र की रचना शिवालय में हुई। यह स्तोत्र वसन्ततिलका छंद में संस्कृत भाषा में रचा गया है। इस स्तोत्र की भाषा सुललित और प्रवाहमयी है। इस स्तोत्र में पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। इस स्तोत्र के ४४ पद्य हैं। उज्जयिनी के महाकाल मंदिर में रुद्रलिङ्ग का स्फोटन कर पार्श्वनाथ के बिम्ब

प्रकटन की घटना इस स्तोत्र के प्रभाव से घटित हुई थी।

आचार्य सिद्धसेन कवि थे। सिद्धहेमशब्दानुशासन में हेमचंद्र ने उत्कृष्टेऽनूपेन (२।२।३६) सूत्र की व्याख्या में 'अनुसिद्धसेन कवयः' कहकर अन्य कवियों को सिद्धसेन का अनुगामी सिद्ध किया है।

आदि पुराण के कर्त्ता दिगम्बर आचार्य जिनसेन उनकी कवित्व-शक्ति से अति प्रभावित हुए और उन्होंने कहा

कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मताः।
मणयः पद्मरागाद्या ननु काचेऽपि मेचकः ॥३६॥

(आदि पुराण, भाग-१)

हम तो गणना मात्र कवि हैं। यथार्थ में कवि आचार्य सिद्धसेन थे।

आचार्य अभयनंदी ने जैनेन्द्र व्याकरण के 'उपेन' सूत्र (१।४।१६) की व्याख्या में 'अनुसिद्धसेनं वैयाकरणं' कहकर प्रवर वैयाकरणों में सिद्धसेन को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया है।

पूज्यपाद (देवनंदी) के व्याकरण के अंतर्गत 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' (५।१।७) सूत्र की व्याख्या में सिद्धसेन के मत को उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस सूत्र के नियमानुसार अनुपसर्ग सकर्मक धातु से रेफ का आगम होता है। सिद्धसेन की नवमी द्वात्रिंशिका के २२वें पद्य में 'विदृते' इस प्रकार की धातु का प्रयोग है। इस प्रकार के धातु प्रयोग की विलक्षणता आचार्य सिद्धसेन की बहुश्रुतता को प्रकट करती है। सिद्धसेन स्वतन्त्रचेता व्यक्ति थे। उन्हें युक्ति के आधार पर जिस सत्य की अनुभूति हुई उसे निस्संकोच एवं निर्भय होकर जनता के सामने प्रस्तुत किया था। उनका चिंतन प्राचीनता अथवा नवीनता के साथ बंधा हुआ नहीं था। पूर्वाग्रह का भाव उनमें कभी नहीं था। निम्नोक्त द्वात्रिंशिका के श्लोकों में उनके स्वतंत्र और मौलिक चिंतन के दर्शन होते हैं

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव
सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तवेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहन्न
जातः प्रथयन्तु विद्विषः।

(द्वात्रिंशिका ६।२)

पुरातन पुरुषों की असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मैं नहीं जन्मा हूँ। भले इससे विरोधीजनों की संख्या बढ़ती है तो बढ़े।

बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं,
विरोधयुक्ताः कथमाशुनिश्चयः।
विशेषसिद्धाविदमेव नेति वा,
पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते ॥

(द्वात्रिंशिका ६।४)

पुरातन व्यवस्थाएं अनेक प्रकार की हैं और वे परस्पर-विरोधी भी हैं अतः उनके समीचीन और असमीचीन होने का निर्णय शीघ्र ही कैसे किया जा सकता है? पुरातन प्रेमी के लिए ही एक पक्षीय निर्णय उचित हो सकता है किसी परीक्षक के लिए नहीं।

जनोयमन्यस्य मृतः पुरातनः,
पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः,
पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥

(द्वात्रिंशिका ६।५)

आज जिसे हम प्राचीन कहते हैं वह भी कभी नया था और जिसे हम नया कहते हैं वह भी कभी प्राचीन हो जाएगा। इस प्रकार प्राचीनता भी स्थिर नहीं है, अतः बिना परीक्षा किए पुरानी बात पर भी कौन विश्वास कर सकता है?

यदेव किंचिद् विषमप्रकल्पितं,
पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते।
विनिश्चिताऽप्यथ मनुष्यवाक्कृतिर्न
पठ्यते यत् स्मृतिमोह एव सः।

(द्वात्रिंशिका ६।८)

जो व्यक्ति पुरातन पुरुषों द्वारा रचित होने के कारण असंबद्ध शास्त्र की भी प्रशंसा करते हैं एवं समीचीन ग्रंथ की भी नवीन होने के कारण उपेक्षा करते हैं, यह उनकी स्मृति का व्यामोह मात्र है।

आचार्य सिद्धसेन की उक्त पद्यावलियां उनकी स्पष्ट वादिता, निर्भीकता और चिंतन की उन्मुक्तता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्येक पद्यावली में पुरातन रूढ़ धारणाओं

पर क्रांति का सबल घोष प्रतिध्वनित है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की अनेकान्तवाद में अनन्य निष्ठा थी

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो नमो नमो अणेगंतवायस्स॥

आचार्य सिद्धसेन ने दर्शन के क्षेत्र में नई दृष्टियां दीं, जैन न्याय का बीजारोपण किया। जैन सिद्धांतों की युक्ति पुरस्सर सूक्ष्म चर्चा कर तात्त्विक मान्यताओं पर चिंतन-मनन का द्वार उद्घाटित किया।

एक ओर आचार्य सिद्धसेन ने आगम में बिखरे अनेकांत सुमनों को माला का रूप दिया, दूसरी ओर उनके उर्वर मस्तिष्क से अनेक मौलिक तथ्य भी उभरे। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता में मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान पर मेय रूप का समर्थन, प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के रूप में प्रमाणत्रयी की परिकल्पना, प्रत्यक्ष और अनुमान में स्वार्थ और परार्थ की अनुमति और प्रमाण लक्षण में स्वपरावभासक के साथ बाधवर्जित स्वरूप का निश्चयीकरण सिद्धसेन की अपनी मौलिक सूझ थी।

जैन सैद्धांतिक मान्यताओं का भी समीक्षात्मक विश्लेषण आचार्य सिद्धसेन की दार्शनिक प्रतिभा का विशिष्ट अनुदान है।

समय-संकेत

आचार्य सिद्धसेन विक्रमादित्य के समकालीन थे। भारतीय इतिहास में विक्रमादित्य नाम के कई राजा हुए हैं। आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित विक्रमादित्य गुप्तवंशीय नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य अलंकरण) संभव है। संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य इनसे भिन्न एवं पूर्ववर्ती हैं।

पूज्यपाद (देवनंदी) ने जैनेन्द्र व्याकरण में 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' वाक्य में सिद्धसेन के मत का उल्लेख किया है। पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि टीका में भी सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं के श्लोक उद्धृत हैं। अतः विक्रम की ५वी सदी के उत्तर भाग में एवं छठी सदी के पूर्व भाग में होने वाले पूज्यपाद से पूर्ववर्ती होने के कारण सिद्धसेन वि. ५वीं सदी के विद्वान् अनुमानित होते हैं। इससे अधिक अर्वाचीन समय किसी प्रकार से संभव नहीं है।

पण्डित सुखलालजी ने भी सन्मतिप्रकरण की प्रस्तावना में सिद्धसेन को वि. की ५वीं शताब्दी का मान्य किया है।

आचार्य सिद्धसेन द्वारा रचित साहित्य में सुललित, सालंकारिक, प्रवाहमयी संस्कृत भाषा के आधार पर उनको वी. नि. की १०वीं-११वीं (वि. की ५वीं) शताब्दी का विद्वान् मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

पण्डित बेचरदासजी ने सिद्धसेन दिवाकर को वि. की ५वीं शताब्दी का आचार्य माना है। पण्डित दलसुख मालवणिया ने इस स्थिति का निर्बाध समर्थन किया है।

सिद्धसेन आचार्य वृद्धवादी के शिष्य थे। वृद्धवादी अनुयोगधर स्कंदिल के शिष्य थे। वाचनाकार स्कंदिल का आगम वाचनाकाल वी.नि. ८२७ से ८४० (वि.सं. ३५७ से ३७०) स्वीकृत हुआ है। दिवाकर सिद्धसेन आचार्य स्कंदिल के प्रशिष्य होने के कारण उनका समय विक्रम की ५वीं शताब्दी सिद्ध होता है।

आचार्य सिद्धसेन न्याय प्रतिष्ठापक, कुशल वाग्मी एवं साहित्याकाश के दिवाकर थे। उनकी नव-नवोन्मेषप्रदायिनी मनीषा जैन शासन के लिए वरदान सिद्ध हुई।

५४. महाप्राज्ञ आचार्य मल्लवादी

संसारवार्द्धिविस्तारान्निस्तारयतु दुस्तरात्।
श्रीमल्लवादिसूरिर्वो यानपात्रप्रभः प्रभुः ॥१॥

मल्लवादी संसार सागर को पार करने के लिए यान थे। वे प्रज्ञा के धनी थे। तर्कशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे एवं वाद-कुशल आचार्य थे। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र ने सिद्धहेमशब्दानुशासन के 'उत्कृष्टेऽनूपेन' सूत्र की व्याख्या में 'अनुमल्लवादिनं तार्किकाः' कहकर आचार्य मल्लवादी को सर्वोत्कृष्ट तार्किक बतलाया है। अनेकांत जयपताका ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र ने मल्लवादी को वादिमुख का संबोधन दिया है।

गुरु-परम्परा

आचार्य मल्लवादी की गुरु-परम्परा के संबंध में विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं है। प्रभावक चरित्र के अनुसार उनके गुरु का नाम जिनानन्दसूरि था।[1] वे मल्लवादी के मामा थे। मल्लवादी के समय में जैन परम्परा के अन्तर्गत विभिन्न गण और गच्छ विकासमान थे। उनमें मल्लवादी का संबंध नागेंद्र गच्छ से था। गुरु जिनानंदसूरि के लिए किसी गण गच्छ का उल्लेख प्राप्त नहीं है; पर मल्लवादी को प्रभावक चरित्र मल्लवादी सूरि प्रबंध में नागेंद्र कुल के मस्तकमणि बताकर उनके प्रति आदर प्रकट किया है।[2] प्रबंध कोश के अनुसार शिलादित्य की भगिनी दुर्लभदेवी ने अष्टवर्षीय पुत्र मल्ल के साथ सुस्थित आचार्य की सन्निधि में संयमी जीवन ग्रहण किया था।[3]

जन्म और परिवार

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार मल्लवादी का जन्म वल्लभी में हुआ। वल्लभी सौराष्ट्र की राजधानी थी। मल्लवादी की माता का नाम दुर्लभदेवी था। दुर्लभदेवी के तीन पुत्र थे।[4] अजितयश, यक्ष और मल्ल। इन तीनों में अजितयश और यक्ष मल्ल के ज्येष्ठ भ्राता थे। प्रबंध कोश के अनुसार दुर्लभदेवी वल्लभी नरेश शिलादित्य की भगिनी थी।[5] मल्लवादी शिलादित्य के भानजे एवं क्षत्रिय पुत्र थे।

जीवन-वृत्त

मल्लवादी का परिवार जैन धर्म के प्रति आस्थाशील था। मल्लवादी की जननी दुर्लभदेवी जैन धर्म की उपासिका थी। उनके मामा जिनानंदसूरि थे। वे भरुंच में विराजमान थे। एक बार शास्त्रार्थ में बौद्ध भिक्षु बुद्धानंद से पराजित होने के कारण उन्हें भरुंच छोड़ना पड़ा। उस समय वे वल्लभी में आए।[6] उन्होंने वल्लभी की जनता को मंगलकारक धर्मोपदेश दिया। दुर्लभदेवी भी अपने तीनों पुत्रों के साथ भ्राता जिनानंदसूरि का

---

१. चारुचारित्रपाथोधिशमकल्लोलकेलितः।
सदानन्दो जिनानन्दः सूरिस्तत्राच्युतः श्रिया ॥६॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ७७)

२. श्रीनगेन्द्रकुलैकमस्तकमणिः प्रामाणिकाग्रामणी।
आसीदप्रतिमल्ल एव भुवने श्रीमल्लवादीगुरुः ॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ७६)

३. इतश्च सा शिलादित्यभगिनी भर्तृ मृत्युतः।
विरक्ता व्रतमादत्त सुस्थिताचार्यसन्निधौ ॥२७॥
अष्टवर्षनिजं बालमपि व्रतमजिग्रहत्।
सामाचारीमपि प्राज्ञं किंचित्कञ्चिदजिज्ञपत् ॥२८॥
(प्रबंध कोश, पृ. २२)

४. तत्र दुर्लभदेवीति गुरोरस्ति सहोदरी।
तस्याः पुत्रास्त्रयः संति ज्येष्ठोऽजितयशोऽभिधः ॥१०॥
द्वितीयो यक्षनामाभून्मल्लनामा तृतीयकः।
संसारासारता चैषां मातुलैः प्रतिपादिता ॥११॥
(प्रभा. चरित, पत्रांक ७७)

५. प्रबंधकोश, पत्रांक २२।

६. पराभवात् पुरं त्यक्त्वा जगाम वलभीं प्रभुः।
प्राकृतोऽपि जितोऽन्येन कस्मिन्ष्ठेत् तत्पुरांतरा ॥६॥
(प्रभावक चरित, पृ. ७७)

उपदेश सुनने के लिए वहां उपस्थित थी। उनसे प्रेरणादायी उद्‌बोधन सुनकर दुर्लभदेवी और तीनों पुत्र वैराग्य को प्राप्त हुए। उन्होंने संसार की असारता को समझा। जननी सहित तीनों ने जिनानंदसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की।[७] गुरु से लक्षणादि शास्त्रों का गंभीर अध्ययन कर, वे तीनों भाई प्रख्यात विद्वान् बने। तीनों भाइयों में मल्लमुनि सबसे अधिक विद्वान् थे। जिनानंदसूरि स्वयं विविध विषयों के गंभीर अध्येता थे। पूर्वाचार्यों द्वारा 'ज्ञानप्रवाद' नामक पंचम पूर्व से उद्धृत नयचक्र नाम का ग्रंथ उनके पास था, जिसका अध्ययन अध्यापन विशेष विधिपूर्वक ही किया और करवाया जा सकता था। एक बार तीर्थ यात्रा पर जाते समय गुरु ने सोचा 'बाल सुलभ चपलता के कारण कुशाग्रमति महाप्राज्ञ मल्लमुनि द्वारा इस ग्रंथ को पढ़ लिए जाने पर अनिष्ट की संभावना हो सकती है, अतः इस संबंध में स्पष्ट निषेधात्मक निर्देश देकर मेरा तीर्थ-यात्रा के लिए जाना उचित है।' इसका चिंतन कर सूझबूझ के धनी, अनुभवी, दूरदर्शी जिनानंदसूरि ने साध्वी दुर्लभदेवी के सामने मल्लमुनि को बुलाकर कहा "प्रिय शिष्य! मैं तीर्थयात्रा पर जा रहा हूँ, मन लगाकर अध्ययन करते रहना पर ध्यान रखना इस 'नयचक्र' ग्रंथ को भूल से भी नहीं पढ़ना है, अन्यथा उपद्रव हो सकता है।" शिष्य मल्लमुनि एवं साध्वी दुर्लभदेवी को सारी बात पूरी तरह से समझाकर गुरु ने प्रस्थान किया।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि निषिद्ध की हुई बात को जानने का आकर्षण अधिक होता है। मल्लमुनि का मन भी 'नयचक्र' को पढ़ने के लिए आतुर हो गया। गुरु द्वारा ग्रंथ को पढ़ने के लिए पूर्णतः निषेध किए जाने पर भी बाल मुनि मल्ल अपनी इच्छा को रोक नहीं सके। इन्होंने साध्वी दुर्लभदेवी का बिना निर्देश प्राप्त किए ग्रंथ खोलकर पढ़ना प्रारंभ कर दिया। ग्रंथ का आदि श्लोक था

विधिनियमभङ्गवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकमवोचत्।
जैनादन्यच्छासनमनृतं भवतीति वैधर्म्यम् ॥२१॥

(प्रभा. च., पृ. ७७)

श्लोक का अर्थ समझने का मल्लमुनि प्रयत्न कर ही रहे थे, अचानक शासनदेवी ने आकर ग्रंथ को छीन लिया। इससे मल्लमुनि का मन खिन्न हो गया। सारे संघ में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के खोने की चिन्ता व्याप्त हो गई पर उसे प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं था। गहरे अनुताप से तापित होकर मल्लमुनि गिरि खण्ड की गुहाओं में विशेष साधना करने लगे और उन्होंने घोर तप प्रारम्भ किया। वे निरन्तर षष्ठम भक्त तप (दो दिनों का उपवास) करते एवं पारणक के दिन रुक्ष भोजन लेते थे। चातुर्मासिक पारणक के दिन संघ की प्रार्थना पर उन्होंने श्रमणों द्वारा आनीत स्निग्ध भोजन ग्रहण किया था।

उनकी घोर तपःसाधना पर प्रसन्न होकर देवी प्रकट हुई। उसने मुनि की बुद्धि की परीक्षा की। मल्लमुनि हर परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। देवी साक्षात् प्रकट होकर बोली "मुने! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। अब तुम कोई वर मांगो।" मल्लमुनि ने उसी ग्रंथ को लौटाने के लिए कहा।

देवी बोली "यह असंभव है, पर नयचक्र ग्रंथ की जो कारिका तुमने पढ़ी है उसके आधार पर स्वयं 'नयचक्र' ग्रंथ के निर्माण करने में सफल बन सकते हो।" देवी रहस्य खोलकर अदृश्य हो गई।

मल्लमुनि अत्यंत उत्साह के साथ अपने इष्टदेव का स्मरण कर ग्रंथ रचना में लगे। उन्होंने पूर्व पठित उस एक कारिका के आधार पर दस हजार श्लोक परिमाण 'नयचक्र' नामक ग्रंथ का निर्माण किया जो आज 'द्वादशार' नयचक्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ को

---

७. जनन्या सह ते सर्वे बुद्धा दीक्षामयादधुः।
संप्राप्ते हि तरण्डे कः पाथोधिं न विलंघयेत् ॥१२॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ७७)

हाथी पर रखकर समूचे संघ ने महोत्सव मनाया और मल्लमुनि का सम्मान किया।

कुछ समय बाद तीर्थ-यात्रा संपन्न कर जिनानंदसूरि वल्लभी में आए। मल्लमुनि को सर्वथा योग्य समझकर उनकी सूरिपद पर नियुक्ति की।

मल्लमुनि की दीक्षा से पहले भृगुकच्छ (भरुंच) में जिनानंदसूरि का बौद्धभिक्षु नंद के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। उसमें जिनानंदसूरि की पराजय हुई। पराभव के फलस्वरूप जैन श्रमणों को भारी क्षति उठानी पड़ी। वहां से उनका निष्कासन हो गया। यह वृत्तान्त मल्लवादी ने स्थविर मुनिजनों से जाना। मल्लवादी अवस्था से बालक थे, विचारों से नहीं। यह दुःखद वृत्तांत सुनकर अन्तर्वेदना उन्हें कचोटने लगी। जिनानंदसूरि की हार एवं जैन शासन का अपमान उनके लिए असह्य हो गया। अपने खोये गौरव को पुनः प्राप्त करने के लिए उन्होंने दृढ़संकल्प किया।

पराभव का बदला लेने के लिए मल्लमुनि ने वहां से प्रस्थान किया और भरुंच पहुंचे। बौद्धभिक्षु नंद के साथ राजसभा में शास्त्रार्थ किया। नयचक्र महाग्रंथ के आधार पर यह शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ और छह महीने तक चलता रहा। अंत में वाक् निपुण मल्लमुनि की विजय हुई। विजयोल्लास के प्रसंग पर शासनदेवी ने पुष्प वृष्टि की। राजा ने महोत्सव बनाया और कलानिधि मल्लसूरि को 'वादी' की उपाधि दी। तब से मल्लमुनि मल्लवादी के नाम से प्रसिद्ध हुए।[८] जिनानंदसूरि भी ससंघ वल्लभी से भृगुकच्छ (भरुंच) आए। मल्लवादी ने उनका स्वागत किया। साध्वी दुर्लभदेवी पुत्र की शास्त्रार्थ विजय पर प्रसन्न हुई। जिनानंदसूरि ने उसे प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया। इस अवसर पर गच्छ का भार जिनानंदसूरि ने मल्लवादी के कंधों पर आरोपित किया। गच्छ नायक के रूप में मल्लवादी हीरकोपम तेजस्वी प्रतीत होने लगे।[९]

'प्रबंध कोश' के अनुसार मल्लवादी का यह शास्त्रार्थ बौद्धों के साथ वल्लभी में राजा शिलादित्य की सभा में हुआ था।[१०] जिनानंदसूरि के पराभव की बात मल्लवादी को अपनी जननी के द्वारा ज्ञात हुई और उसने यह भी जाना

तीर्थं शत्रुञ्जयाद्रं यद्विदितं मोक्षकारणम्।
श्वेताम्बराभावतस्तद्बौद्धैर्भूतैरियाश्रितम्॥३२॥
(प्रबंधकोश, पृ. २२)

जैनों का प्रमुख तीर्थस्थान शत्रुंजय था, उस पर भी जैनों का अपना अधिकार नहीं रहा।

जननी से बात सुनकर तेजस्वी मल्लमुनि ने प्रतिज्ञा की

नोन्मूलयामि चेद्बौद्धान् नदीरय इव द्रुमान्।
तदा भवामि सर्वज्ञ-ध्वंस पातकभाजनम् ॥३५॥
(प्रबंधकोश, पृ. २२)

इस भीषण प्रतिज्ञा के साथ मल्लमुनि ने गिरि गुहाओं में घोर तप किया। तपस्या के प्रभाव से देवी ने प्रकट होकर मल्लमुनि की बुद्धि परीक्षा ली। परीक्षोत्तीर्ण मल्लमुनि को देवी ने आशीर्वाद देते हुए कहा **'भूयाः परमतापहः'** वत्स तुम परमत विजेता बनो। देवी से इस प्रकार वर प्राप्त कर एवं न्यायविद्या में प्रवीण बनकर मल्लमुनि ने बौद्ध भिक्षु नन्द के साथ वल्लभी में शास्त्रार्थ किया एवं विजयलक्ष्मी को वरा था।[११] यह शास्त्रार्थ प्रभावकचरित्र के विजयसूरि प्रबंध के अनुसार वी. नि. ८८४ (वि. ४१४) में हुआ था।

साहित्य

आचार्य मल्लवादी वादकुशल एवं समर्थ साहित्यकार थे। उनके द्वारा रचित तीन ग्रंथों की सूचना मिलती

८. विरुदं तत्र 'वादी' ति, ददौ भूपो मुनिप्रभोः।
मल्लवादी ततो जातः सूरिर्भूरिकलानिधिः ॥६१॥
(प्रभा. चरित, पृ. ७६)

९. एष मल्लो महाप्राज्ञस्तेजसा हीरकोपमः ॥१७॥
(प्रभावक चरित, पृ. ७७)

१०. शिलादित्यनृपोपांते बौद्धाचार्येण वाग्मिना।
वादिवृन्दारकचक्रे तर्कबर्करमुल्बणम् ॥४७॥
(प्रबंधकोश, पृ. २३)

११. प्रबंधकोश श्लोक २६ से ४८, पृ. २२, २३।

है (१) द्वादशार नयचक्र, (२) पद्मचरित्र (रामायण), (३) सन्मतितर्क टीका।

इन तीनों का परिचय इस प्रकार है

(१) द्वादशार नयचक्र यह न्याय का उत्तम ग्रंथ था। इस ग्रंथ में चक्र के बारह अरों के समान बारह अध्याय थे। इन बारह अध्यायों में नयों का विशद विवेचन किया है। कृति के तेरहवें अध्याय में बारह अध्यायों में वर्णित नयों का संयोजन हुआ। आचार्य मल्लवादी ने अपने समय तक प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं का तलस्पर्शी विवेचन तथा समालोचना इस कृति में की। नय और अनेकांत दर्शन का विवेचन करने वाला संस्कृत भाषा का यह अद्वितीय ग्रंथ था।

वर्तमान में यह ग्रंथ मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। आचार्य प्रद्युम्न सूरि के पट्टधर आचार्य चन्द्रसेन सूरि एवं मलधारी हेमचंद्र के समय तक यह ग्रंथ विद्यमान था। प्रद्युम्न सूरि कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र सूरि के गुरुभ्राता थे। आचार्य मल्लवादी का यह ग्रंथ वि. सं. १३३४ से पहले विलुप्त हो गया था। वर्तमान में इस ग्रंथ पर आचार्य सिंहगणि क्षमाश्रमणकृत 'न्यायमार्गानुसारिणी' नामक अठारह हजार श्लोक परिमाण संस्कृत टीका उपलब्ध है और यशोविजयकृत आदर्श पाठ भी इस ग्रंथ पर उपलब्ध है। इन व्याख्या ग्रंथों के आधार पर प्रतीत होता है आचार्य मल्लवादी की यह कृति उच्चकोटि की थी। प्रभावक चरित्र में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य मल्लवादी ने प्रतिवाद रूपी गज कुम्भ को भेदने में केसरी तुल्य इस ग्रंथ का वाचन अपने शिष्य समुदाय के सम्मुख किया[१२] और तर्क शास्त्र का गंभीर बोध उन्हें प्रदान किया। यह ग्रंथ यथार्थ में अज्ञानतम को हरण करने वाला था।

२. श्रीपद्मचरित्र (रामायण) श्री पद्मचरित्र नामक रामायण की रचना २४ सहस्र परिमाण पद्यों में मल्लवादी ने की।[१३] यह ग्रंथ भी वर्तमान में अप्राप्य है।

३. सन्मतितर्क टीका सन्मतितर्क टीका आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क ग्रंथ पर मल्लवादी की रचना थी। वह भी आज प्राप्त नहीं है। इस टीका के अवतरण आचार्य हरिभद्र की अनेकांत जयपताका आदि ग्रंथों में कहीं-कहीं उपलब्ध हैं। वे अवतरण ही आचार्य मल्लवादी के तार्किक ज्ञान की सूचना देते हैं।

आचार्य मल्लवादी के ज्येष्ठ भ्राता अजितयश ने अल्ल भूप की सभा के वादी श्रीनंद की प्रेरणा से 'प्रमाण' ग्रंथ रचा[१४] एवं यक्षमुनि ने 'अष्टांग निमित्त बोधनी' संहिता का निर्माण किया था। दीपमालिका के तुल्य सकलार्थ प्रकाशिनी यह संहिता थी।[१५] वर्तमान में यह ग्रंथ अप्राप्य है।

समय-संकेत

आचार्य हरभिद्र रचित अनेकांत जयपताका में आचार्य मल्लवादी की सन्मतितर्क टीका के कई अवतरण दिए गए हैं। इससे आचार्य मल्लवादी हरिभद्र से पूर्व सिद्ध होते हैं।

आचार्य मल्लवादी का बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ वी. नि. ८८४ (वि. सं. ४१४) में हुआ था।[१६] इस आधार पर आचार्य मल्लवादी वी. नि. की ९वीं (वि. की ५वीं) शताब्दी के प्रमाणित होते हैं।

---

१२. नयचक्रमहाग्रन्थः शिष्याणां पुरतस्तदा।
व्याख्यातः परवादीभकुम्भभेदनकेसरी ॥६९॥
(प्रभावक चरित, पृ. ७९)

१३. श्रीपद्मचरितं नाम रामायणमुदाहरत्।
चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानतः ॥७०॥
(प्रभावक चरित, पृ. ७९)

१४. तयाऽजितयशोनामा प्रमाणग्रन्थमादधे।
अल्लभूपसभेवादिश्रीनन्दकगुरोर्गिरा ॥३७॥
(प्रभावक च., पृ. ७८)

१५. यक्षेण संहिता चक्रे निमित्ताष्टाङ्गबोधनी।
सर्वान् प्रकाशयत्यर्थान् या दीपकलिका यथा ॥३९॥
(प्रभावक च., पृ. ७८)

१६. श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीतिसंयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धास्तद्व्यन्तरांश्चापि ॥८३॥
(प्रभावक च., पृ. ४४)

आचार्य मल्लवादी के ज्येष्ठ भ्राता अजितयश मुनि ने अल्लभूप की सभा के वादी श्रीनंद की प्रेरणा से प्रमाण ग्रंथ की रचना की थी। प्रभावक चरित्र ग्रंथ में प्राप्त उल्लेखानुसार नरेश अल्ल के पौत्र भुवनपाल जिनेश्वर सूरि एवं बुद्धिसागरसूरि के गुरु वर्धमानसूरि के समकालीन नरेश थे।[१७] वर्धमान सूरि वि. ९९४ में बड़गच्छ की स्थापना करने वाले उद्योतन सूरि के शिष्य थे, अतः वर्धमानसूरि के समकालीन नरेश भुवनपाल के पिता अल्ल नरेश एवं अल्ल नरेश की सभा के विद्वान् श्रीनंद का समय १०वीं सदी के करीब प्रमाणित है।

मल्लवादी ने बौद्ध विद्वान् आचार्य लघुधर्मोत्तर के टीका ग्रंथ पर टिप्पण लिखा। बौद्धाचार्य के लघुधर्मोत्तर के टीका ग्रंथ का समय वि. सं. ९०४ के आसपास मान्य हुआ है।

आचार्य मल्लवादी के उक्त घटना प्रसंगों के समय की अत्यधिक दूरी भिन्न-भिन्न मल्लवादी होने की सूचना है।

द्वादशार नयचक्र के रचनाकार एवं जिनानंद सूरि के शिष्य आचार्य मल्लवादी के जीवन की प्रमुख घटना शिलादित्य की सभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ का प्रसंग है। प्रभावक चरित्र के अनुसार शास्त्रार्थ का समय वी.नि. ८८४ एवं वलभी का विनाश एवं शिलादित्य के देहावसान का समय वी.नि. ८४५ है। वलभी भंग के बाद नरेश शिलादित्य की सभा में शास्त्रार्थ होने का प्रसंग विशेष समालोचनीय प्रतीत होता है।

प्रबन्धकोश में वलभीभंग का पूरा प्रसंग पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत है, वह इस प्रकार है किसी विशेष घटना प्रसंग पर नरेश शिलादित्य की 'रंक' नामक वणिक् से ठन गई। म्लेच्छ जाति का पूर्ण सहयोग रंक वणिक् को प्राप्त होने के कारण सामर्थ्य सम्पन्न शिलादित्य को भी विकट संकट से गुजरना पड़ा। इससे सौराष्ट्र में अत्यधिक जन-धन की क्षति हुई।

विक्रमादित्य भूपाला पञ्चर्षिंत्रिक (५७३) वत्सरे।
जातोऽयं वलभी भङ्गो ज्ञानिनः प्रथमं ययुः ॥६६॥
भग्ना वलभी तेन सरजातमसमञ्जसम्।
शिलादित्यः क्षयं नीतो वणिजा स्फीत ऋद्धिना ॥६४॥

प्रबन्धकोश, पृ. २३

प्रबन्धकोश के प्रस्तुत उल्लेखानुसार सौराष्ट्र की श्रेष्ठ नगरी वलभी का विनाश वि.सं. ५७३ में हुआ। वलभी विनाश के साथ ही नरेश शिलादित्य भी कालधर्म को प्राप्त हुए।

आचार्य मल्लवादी की कालनिर्णायकता में प्रबन्धकोश का यह घटना प्रसंग विशेष सहायक है। प्रस्तुत घटनाचक्र में उल्लिखित वि.सं. ५७३ के आधार पर महाराज शिलादित्य के समकालीन आचार्य मल्लवादी वी.नि. ११वीं सदी (१०४३) के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

---

१७. अल्लभुपालपौत्रोऽस्ति प्राक्पोत्रीव धराधरः।
श्रीमान् भुवनपालाख्यो विख्यातः सान्वयाभिधः ॥३२॥
(प्रभावक च., पृ. १६२)

५५. संस्कृत-सरोज-सरोवर आचार्य समन्तभद्र

श्वेताम्बर परम्परा में जो स्थान आचार्य सिद्धसेन का है वही, स्थान दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र स्वामी का है। आचार्य समन्तभद्र असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। वे सारस्वत आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम थे। दिगम्बर विद्वानों ने उनको श्रुतधर आचार्यों के समकक्ष माना है।

गुरु-परम्परा

आचार्य समन्तभद्र ने अपने को काञ्ची का नग्नाटक कहा है।[१] काञ्ची मैसूर प्रान्त में है और वर्तमान में वह काञ्चीवरम् नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य समन्तभद्र के इस उल्लेख से स्पष्ट है उन्होंने जैन परम्परा में दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। उनका सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय की किस गुरु परम्परा से था, उनके दीक्षा गुरु कौन थे? इस सम्बन्ध का निर्देश उपलब्ध नहीं है, पर मुनि जीवन में काञ्ची से उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य था।

जन्म एवं परिवार

आचार्य समन्तभद्र दक्षिण के क्षत्रिय राजकुमार थे। वे फणिमण्डलान्तर्गत (तमिलनाडु) उरगपुर नरेश के पुत्र थे। 'आप्तमीमांसा' कृति की प्रति-विशेष में उनके जीवन का यह परिचायक उल्लेख है।[२] उरगपुर चोल राजाओं की सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी।[३]

आचार्य समन्तभद्र के 'जिन स्तुति विद्या' नामक काव्य के अन्तर्गत ११६वें पद्य की चित्र रचना के बाहर से सातवें वलय में 'शान्ति वर्म' नाम का एवं चतुर्थ वलय में 'जिन स्तुति शतं' नाम का बोध होता है। इससे प्रतीत होता है स्तुति विद्या कृति का ही दूसरा नाम जिन स्तुति और शान्तिवर्म स्वयं समन्तभद्र का ही दूसरा नाम सम्भव है। मुनियों के लिए वर्मान्त नामों के उल्लेख उपलब्ध नहीं हैं, अतः यह समन्तभद्र के गृहस्थ जीवन का नाम हो सकता है।

जीवन-वृत्त

गृहस्थ जीवन में आचार्य समन्तभद्र कितने वर्ष तक रहे? किस प्रकार के संस्कारों में पले? जैन संस्कार उन्हें कहां से प्राप्त हुए? यह अज्ञात है। मुनि जीवन में प्रवेश पाकर वे गणियों के गणी कहलाए एवं स्वामी शब्द से पहचाने गये।

आचार्य समन्तभद्र के जीवन में कई विशेष क्षमताओं का विकास था, वे प्रांजल प्रतिभा के धनी थे, ज्ञान के भण्डार थे। संस्कृत भाषा पर उनका विशेष आधिपत्य था। सरस्वती की कृपा उन पर थी।[४] दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, पुराण, इतिहास आदि तत्कालीन भारतीय विद्याओं के विविध विषय उनके आत्मगत हो गये थे।

वे स्याद्वाद के संजीवक आचार्य थे। उनका दर्शन स्याद्वाद का दर्शन था। उनकी अभिव्यक्ति स्याद्वाद की अभिव्यक्ति थी। वे जब बोलते अपने वचन को स्याद्वाद की तुला से तौलते थे। उनके उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्यों ने उनको स्याद्वाद विद्यापति, स्याद्वाद शरीर[५] स्याद्वाद विद्यागुरु तथा स्याद्वाद मार्ग-अग्रणी[६] का सम्बोधन देकर

---

१. काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं।
(आराधनासार, रचनाकार नेमिचन्द्र वर्णी)

२. इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।
(आप्तमीमांसा)

३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, पृ. १७४।

४. सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
(गद्यचिन्तामणि)

५. श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य त्रिभुवनजयपताकस्य प्रमाणनयचक्षुषः स्याद्वादशरीरस्य देवागमाख्याकृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतविस्मरणशीलेन वसुनंदिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय। (वसुनंद्याचार्यकृत देवागमवृत्ति)
(देवागमवृत्ति समाप्त)

६. स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद् विभूर्भानुमान्।
विद्यानंदघनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः॥
(अष्टसहस्री प्रशस्ति पद्य)

अपना मस्तक झुकाया। भट्ट अकलंक ने समन्तभद्र को भव्य जीवों के लिए अद्वितीय नेत्र कहा है एवं स्याद्वाद मार्ग का विशेषण प्रदान किया है।[७]

आदि पुराण के कर्ता जिनसेन के शब्दों में कवित्व, गमकत्व, वादित्व, वाग्मित्व ये चार गुण उनके व्यक्तित्व के अलंकार थे। अपने इन विरल गुणों के कारण वे काव्य के उच्चतम अधिकारी, आगम मर्मज्ञ, सतत शास्त्रार्थ प्रवृत्त और वाग्पटु थे। आचार्य समन्तभद्र कवियों के लिए विधाता थे। उनके वचन-वज्रपात से मिथ्यात्व के भीमकाय शैल चूर-चूर हो जाते थे।[८]

मुनिचर्या के नियमों में आचार्य समन्तभद्र सतत् जागरूक थे। कठोर तपश्चर्या के पालक एवं कष्ट सहिष्णु थे। 'राजवलिकथे' में वर्णित एक प्रसंग है। एक बार 'मणुवकहल्ली' स्थान में मुनि समन्तभद्र को भीषण भस्मक व्याधि ने आक्रान्त कर लिया। इस व्याधि के कारण वे जो कुछ खाते वह अग्नि में पतित अन्न कण की तरह भस्म हो जाता। क्षुधा असह्य हो गई। कोई उपचार न देखकर उन्होंने अनशन की सोची। गुरु से आदेश मांगा पर मुनि समन्तभद्र की प्रभावकता एवं क्षमता को देखकर गुरु ने अनशन की आज्ञा प्रदान नहीं की।

समन्तभद्र ने रोगोपचार हेतु मुनि मुद्रा का परित्याग किया और उन्होंने संन्यासी की मुद्रा धारण कर ली। भ्रमण करते हुए वे पौंडुपुर नगर में पहुंचे। वहां बौद्ध भिक्षु की मुद्रा में कुछ दिन तक रहे। पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण वहां से प्रस्थान कर वे दशपुर पहुंचे। परिव्राजक का वेश धारण कर सदावर्त के रूप में भिक्षा ग्रहण करते हुए उन्होंने कुछ समय तक अपना निर्वाह किया। वहां पर भी उन्हें यथेष्ट भोजन की उपलब्धि नहीं हुई। काशी नरेश शिव भक्त थे। उनके आदेश से शिवालय में षड्रस व्यंजन युक्त नैवेद्य पर्याप्त मात्रा में शिवजी को अर्पण किया जाता था। समन्तभद्र ने यह बात सुनी। उनके मन को सन्तोष मिला। वे काशी नरेश शिवकोटि की सभा में पहुंचे। अपने बौद्धिक बल से उन्हें प्रभावित किया। राजा शिवकोटि ने उन्हें शिवालय में रहने और पूजा करने की अनुमति प्रदान की। समन्तभद्र शिवालय में पुजारी के रूप में सानन्द रहने लगे और शिवजी को प्रतिदिन अर्पण किया जाने वाला ४० सेर का चढ़ावा उन्हें मिलने लगा। सरस भोजन की पर्याप्त सामग्री मिलने के कारण कुछ ही महीनों में समन्तभद्र की व्याधि शान्त होने लगी और नैवेद्य बचने लगा। यह बात नरेश के कानों तक पहुंची। यथार्थ स्थिति का पता लगाने के लिए शिवकोटि ने कुछ व्यक्तियों को मन्दिर में छुपा दिया। नैवेद्य का भोजन करते हुए समन्तभद्र ने मन्दिर के भीतर बिल्व पत्तों की ओट में कुछ व्यक्तियों को छिपे देखा। तत्क्षण सारी स्थिति को उन्होंने भांप लिया। अपने लिए उपसर्ग उत्पन्न हुआ जान वे तीर्थंकरों की काव्यमयी भाषा में स्तुति करने लगे। राजा द्वारा धमकी दिये जाने पर भी समन्तभद्र ध्यान से विचलित नहीं हुए। अभ्रपटल को चीरकर आने वाली सूर्य-रश्मियों की भांति भस्मावच्छन्न देह के भीतर से उनमें जैनत्व का तेज उद्भासित हो रहा था। चन्द्रप्रभ प्रभु की स्तुति प्रारम्भ होते ही शिवपिण्डी को विदीर्ण कर तीर्थंकर चंद्रप्रभनाथ का कनक कांति तुल्य चमकता हुआ बिम्ब प्रकट हुआ। इस प्रभावोत्पादक घटना के घटित होने पर भी समंतभद्र तन्मयता से तीर्थंकरों की स्तुति करते रहे। प्रभु वर्धमान पर्यंत जिन-स्तुति सम्पन्न करने के बाद समन्तभद्र प्रसन्न मुद्रा में उठे और नरेश को उन्होंने आशीर्वाद दिया। शिव-भक्त नरेश शिवकोटि इस अपूर्व वृत्तान्त को देखकर आश्चर्यचकित हुए और समन्तभद्र

---

७. "भव्यैकलोकनयनपरिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ॥"
(अष्टशती)

८. कवीनां गमकानाञ्च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः सामंतभद्रीय मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥४३॥
नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयः ॥४४॥
(आदिपुराण)

के यथार्थ रूप को उन्होंने जानना चाहा। समन्तभद्र ने राजा को जैनत्व का बोध दिया और पूर्व संकटकालीन स्थिति का चित्रण करते हुए बताया

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलितनुः लाम्बशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशिधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी॥

राजन्! मैं अपनी व्याधि को शांत करने के लिए शाक्य भिक्षु बनकर पौंदपुर (पुण्ड्रोड्रे) पहुँचा, परिव्राजक का रूप धारण कर दशपुर पहुँचा, कहीं मेरी व्याधि उपशांत नहीं हुई। वाराणसी में आकर अब मैं रोगमुक्त हुआ। मेरा शरीर शशि-तुल्य धवल निर्मल कान्ति वाला हो गया है। मैं जैन निर्ग्रन्थ हूँ और वादी हूँ। कोई भी शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति मेरे साथ आकर शास्त्रार्थ करे।

शिवकोटि नरेश आचार्य समन्तभद्र की पीयूषस्रावी वाणी सुनकर और धर्म के तत्त्व को समझकर प्रभावित हुआ। इस घटना का उल्लेख ब्रह्मनेमिदत्त के आराधना कथाकोष में है।

मल्लिषेण प्रशस्ति का उल्लेख इस प्रकार है

'वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावती देवता।
दत्तोदात्तपदस्वमन्त्रवचनव्याहूत चन्द्रप्रभः॥
आचार्यस्य समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ।
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहुः॥६॥

जो भस्मक रोग को भस्म करने में पटु है, पद्मावती देवी की कृपा से जिनको उदात्त पद की प्राप्ति हुई, मन्त्र प्रयोग से जिन्होंने चन्द्रप्रभ का बिम्ब प्रकट किया और इस कलिकाल में जिनके द्वारा जैनधर्म की प्रभावना हुई, वे समन्तभद्र पुनः-पुनः वंदनीय हैं।

सेनगण की पट्टावली का उल्लेख इस प्रकार है

'नवतिलिंगदेभिरामद्राक्षाभिरामभीमलिङ्गः स्वयन्वादि-स्तोटकोत्कीरण रुद्रसांद्रचंद्रिका विशदयशः श्री चन्द्रजिनेन्द्र सद्दर्शन समुत्पन्नकौतूहलकलितशिवकोटि महाराजतपोराज्य-स्थापकाचार्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्।'

सेनगण की प्रस्तुत पट्टावली में शिवकोटि को नवतिलिङ्ग का राजा बताया गया है, काशी का नहीं। विद्वानों का अभिमत है नवतिलिङ्ग की राजधानी सम्भवतः काञ्ची रही है जिसको दक्षिण भारत की काशी (काञ्ची) भी कहते हैं। राजवलिकथे, आराधनाकथाकोष, मल्लिषेण प्रशस्ति एवं सेनगण पट्टावली इन ग्रन्थों में उपलब्ध सारे सन्दर्भों का सम्मिलित निष्कर्ष यह है आचार्य समन्तभद्र भस्मकरोग से आक्रांत हुए। काशी के शिवालय में शिवजी को अर्पित चढ़ावा भक्षण करने से उनको स्वास्थ्य लाभ हुआ। जिन स्तुति किए जाने पर लिंग स्फोटन और उसके महत्त्व से चन्द्रप्रभु का बिम्ब प्रकट होने की घटना घटी। काशी नरेश शिवकोटि इस घटना से अत्यन्त प्रभावित हुआ। व्याधिमुक्त होने के बाद समन्तभद्र ने पुनः मुनि दीक्षा ग्रहण की तथा संयम में स्थिर होकर वे जैनधर्म की प्रभावना में प्रवृत्त हुए। आचार्य समन्तभद्र का परिचय उन्हीं के द्वारा रचित एक श्लोक में प्राप्त होता है। वह इस प्रकार है

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाय-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥३॥
(स्वयंभू स्तोत्र)

स्वामी समन्तभद्र आचार्य, कवि वादिराट्, पण्डित दैवज्ञ (ज्योतिषज्ञ) वैद्य, मांत्रिक, तांत्रिक, आज्ञासिद्ध और सारस्वत थे। आसमुद्रात् पृथ्वी पर उनका आदेश अनतिक्रमणीय था और सरस्वती उनके कंठ में विराजमान थी। समन्तभद्र, आचार्य कब और किन परिस्थितियों में बने, भस्मक व्याधि द्वारा आक्रांत होने से पहले बने या बाद में बने? किसके द्वारा उनकी नियुक्ति आचार्य पद पर हुई? इस का प्रसंग प्राप्त नहीं है पर अपने द्वारा दिए गए परिचय में 'आचार्योऽहं' यह प्रथम विशेषण उनके आचार्य होने का समर्थन करता है। इसी श्लोक में आज्ञासिद्ध विशेषण शब्द-संसार पर उनके पूर्ण आधिपत्य का सूचक है और सिद्ध सारस्वत का विशेषण उनकी अप्रतिहत वादशक्ति का परिचायक है। वे वादकुशल ही नहीं वादरसिक आचार्य भी थे।

दहाड़ते हुए पञ्चानन की भांति वे सर्वत्र निर्भीक होकर विहरण करते, जैन धर्म के यथार्थ रूप को प्रकट करते और दर्शनांतरीय विद्वानों से जमकर लोहा लेते। सुप्रसिद्ध ज्ञान केन्द्रों में, जनपदों में एवं सुदूर प्रदेशों में पहुंचकर उन्होंने शास्त्रार्थ किए। उनके तर्क अकाट्य हुआ करते। प्रतिद्वंद्वी का उनके सामने टिक पाना कठिन हो जाता। उनका नाम सुनते ही प्रतिवादी कांप उठते, हत्प्रभ हो जाते एवं हकलाने लगते। दक्षिण के दिग्-दिगंत उनके शास्त्रार्थ विजय के उद्घोषों से ध्वनित थे।

एक बार आचार्य समन्तभद्र करहाटक पहुंचे। करहाटक उद्भट विद्वानों का प्रमुख केन्द्र था। आचार्य समन्तभद्र राजसभा में खड़े होकर बोले "हे राजन्! सर्वप्रथम मैंने पाटलिपुत्र में भेरीवादनपूर्वक शास्त्रार्थ किया। तत्पश्चात् मालव, सिन्ध, ढक्कप्रदेश, काञ्चीपुर (काञ्चीवरम्) और वैदिश में इसी प्रकार शास्त्रार्थ करता हुआ मैं विद्या केन्द्र करहाटक में पहुंचा हूँ। शास्त्रार्थ हेतु मैं शार्दूल की तरह परिभ्रमण कर रहा हूँ।"[६]

प्रस्तुत उल्लेख में समागत देशों के नामों से स्पष्ट है, पाटलीपुत्र, वाराणसी, उज्जैन, धार, पंजाब और कांजीवरम् (दक्षिणप्रदेश) ये आचार्य समन्तभद्र के प्रमुख 'वाद-क्षेत्र' थे।

आचार्य समन्तभद्र वाद कुशल एवं कमनीय काव्यकार थे। उनकी वाद कुशलता और कवित्व शक्ति की उत्तरवर्ती आचार्यों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

आचार्य वादिराज सूरि ने यशोधरचरित्र में समन्तभद्र को काव्यमणियों का पर्वत कहा है। जिनसेनाचार्य की दृष्टि में आचार्य समन्तभद्र महाकवि 'वेधा' हैं व आचार्य भट्ट अकलङ्क की दृष्टि में कलिकाल में स्याद्वाद-तीर्थ के प्रभावक हैं।

ज्ञानार्णव के रचनाकार आचार्य शुभचन्द लिखते हैं

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति
यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ।१।१४।

जहां कवीन्द्र सूर्य आचार्य समन्तभद्र की सूक्तियां स्फुरित होती हैं वहां ज्ञान कण को प्राप्त करके उद्धत बने व्यक्तियों का वाणी-विलास खद्योत की तरह हास्यास्पद जैसा लगता है।

अजित जिनसेनाचार्य ने श्री समन्तभद्र को कवि कुंजर, मुनि-वन्द्य, वर्धमानसूरि ने वरांग चरित में 'महाकवीश्वर' तथा 'सुतर्कशास्त्रामृत सागर' एवं प्रशस्त टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने अनेकांत जयपताका में 'वादिमुख्य' विशेषण से विशेषित किया है।

हरिवंश पुराण के रचयिता जिनसेन ने **"वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते"** इस वाक्य में आचार्य समन्तभद्र के वचनों को वीरवाणी के समान आदर प्रदान किया है।

'श्रवणबेलगोल' के शिलालेख संख्यक १०५ में आचार्य समन्तभद्र के सूक्ति समूह को वादीरूपी उन्मत्त गजों को वश में करने के लिए वज्रांकुश के समान माना है।

'श्रवणबेलगोल' के शिलालेख संख्यक १०८ में समन्तभद्र को जिनशासन का प्रणेता लिखा है।

आचार्य वर्धमान, आचार्य सकलकीर्ति आदि विद्वानों ने भी आचार्य समन्तभद्र की प्रतिभा का लोहा माना है।

आचार्य समन्तभद्र पण्डितों के पण्डित और दार्शनिकों, योगियों, त्यागियों, तपस्वी सन्तों तथा वाग्मियों के अग्रणी थे, अतः उनकी प्रख्याति स्वामी शब्द से हुई।

आचार्य समन्तभद्र अपने युग के अनुपम रत्न थे।

---

६. पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालव-सिंधु-ढक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे ॥
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभट विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपतेः शार्दूलविक्रीडितं ॥
(श्रवणबेलगोल शिलालेख न. ५४, पृ. ३६)

साहित्य

आचार्य समन्तभद्र में प्रखर प्रतिभा का विकास था। उनकी कवित्व-शक्ति विलक्षण थी। वे आद्य स्तुतिकार थे। जैन स्तोत्रों की रचना पहले प्राकृत में हुई, उसके बाद संस्कृत स्तोत्रों का विकास हुआ। संस्कृत में सबसे प्राचीन स्तोत्र आचार्य समन्तभद्र के हैं।

देवागम स्तोत्र, स्वयंभू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिन-स्तुति-शतक ये स्तोत्र आचार्य समन्तभद्र के उच्चकोटि के काव्य ग्रन्थ हैं। प्रत्येक स्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र की अपूर्व जिनभक्ति एवं विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

आचार्य समन्तभद्र बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त आदि विभिन्न दर्शनों के ज्ञाता थे। सभी दर्शनों की समीक्षा करते हुए उन्होंने उत्तम कोटि के साहित्य का सर्जन किया। उनके ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

आप्त-मीमांसा (देवागम स्तोत्र) आचार्य समन्तभद्र की यह प्रथम रचना है। कृति का प्रारम्भ देवागम शब्द से हुआ है। इस कृति के १० परिच्छेद और ११४ कारिकाएं हैं। एकान्तवादी दृष्टिकोणों का समुचित निरसन और आप्त पुरुषों के आप्तत्व की सम्यक् मीमांसा की है, अतः इस कृति का दूसरा नाम आप्त-मीमांसा है। आचार्य समन्तभद्र पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आप्त पुरुषों के आप्तत्व को भी तर्क के निकर्ष पर परख कर उसे मान्य किया है। यह ग्रन्थ जैन दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है। स्याद्वाद सम्बन्धी विस्तृत विवेचन सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में हुआ है।

विद्वानों ने देवागम स्तोत्र को उच्चकोटि का ग्रंथ माना है। पांडव पुराण रचनाकार लिखते हैं भारत भूषण आचार्य समन्तभद्र ने देवागम स्तोत्र के द्वारा जिनेश्वर देव के सिद्धांतों को व्यक्त किया है।[10]

आचार्य अकलंक ने इस ग्रन्थ पर अष्टशती नामक भाष्य लिखा है। अष्टशती नाम से स्पष्ट है कि इस भाष्य में ८०० पद्य हैं। अष्टशती भाष्य पर आचार्य विद्यानन्द ने आठ हजार पद्यों में 'अष्ट सहस्री' नामक विशाल टीका लिखी है। इसी टीका को 'आप्त मीमांसालंकृति' एवं देवागमालंकृति संज्ञा से भी पहचाना गया है। यह टीका अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस टीका में अष्टशती भाष्य पूर्णतः समाहित हो गया है। अष्टसहस्री टीका के माध्यम से ही अष्टशती भाष्य के गम्भीर रहस्यों को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अष्टसहस्री पर संस्कृत टीका और वसुनन्दी ने संक्षिप्त देवागम कृति की रचना की है। पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा (जयपुर) की एक हिन्दी टीका भी प्रकाशित है।

स्वयंभू स्तोत्र इसमें चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति होने के कारण ग्रन्थ का दूसरा नाम चतुर्विंशति जिनस्तुति है। इसके १४३ पद्य हैं। रचना-शैली सरल है। ग्रन्थ की भाषा अलंकारपूर्ण है। इस ग्रन्थ के विषय का युक्तिपूर्ण विवेचन विज्ञ-गणों को भाव-विभोर कर देता है। स्तुति-प्रधान इस ग्रन्थ में न्याय एवं दर्शन के मौलिक बिन्दुओं की अभिव्यञ्जना तथा पौराणिक और ऐतिहासिक बिन्दुओं का समावेश रचनाकार के बहुमुखी ज्ञान की सूचना है। विषय वर्णन की स्पष्टता के कारण पाठक को तीर्थंकरों के प्रत्यक्ष दर्शन जैसी अनुभूति होने लगती है।

वसन्त, इंद्रवज्रा आदि तेरह छन्दों में इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

कवियों ने इस ग्रन्थ को सरस्वती की स्वच्छन्द विहार भूमि कहा है। इस स्तोत्र के 'निर्दयभस्मसात् क्रियाम्' (१।४) पद से आचार्य समन्तभद्र को भस्मक व्याधि होने का संकेत है।

स्वतःबोध होने के कारण तीर्थंकरों को स्वयंभू कहा जाता है। प्रस्तुत स्तोत्र में तीर्थंकरों की स्तुति है, अतः

10. समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारत भूषणः।
देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवागमः कृतः ॥५५॥
(पाण्डव पुराण प्रथम पर्व)

इस कृति का नाम स्वयंभू स्तोत्र है अथवा ग्रन्थ का प्रारम्भ स्वयंभू शब्द से होने के कारण भी यह स्तोत्र स्वयंभू के नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

युक्त्यनुशासन यह अर्थ गरिमा से परिपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ है। इसके ६४ पद्य हैं। ग्रन्थ की शैली संक्षिप्त सूत्रात्मक एवं गम्भीर है। इसमें आप्त स्तुति के साथ विविध दार्शनिक विषयों का पर्याप्त विवेचन एवं स्व पर मत के गुण दोषों का सयौक्तिक निरूपण है। ग्रन्थकार ने युक्त्यनुशासन का नामोल्लेख ग्रन्थ में कहीं नहीं किया है पर युक्त्यनुशासन शब्द की स्वरूप व्याख्या समझाते हुए उन्होंने कहा

"दृष्टागमाभयामविरुद्धमर्थप्ररूपणं
युक्त्यनुशासनं ते ॥४८॥"

प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थप्रतिपादन का अनुशासित क्रम ही युक्त्यनुशासन है।

पुन्नाट संघीय आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में युक्त्यनुशासन का उल्लेख किया है। वह श्लोक इस प्रकार है

जीवसिद्धिविधायीह, कृतंयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥१।३०॥

हरिवंश पुराण में आचार्य समन्तभद्र के वचन को वीरवाणी के तुल्य माना गया है। उन्होंने जीवसिद्धि ग्रन्थ की रचना के बाद युक्त्यनुशासन की रचना की थी। **"जीयात् समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्"** टीकाकार आचार्य विद्यानन्द के इस कथन के आधार पर आचार्य समन्तभद्र के 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ का बोध होता है।

आचार्य जिनसेन और विद्यानन्द के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र की प्रस्तुत कृति का नाम 'युक्त्यनुशासन' रहा है। साहित्य क्षेत्र में आज यही नाम अधिक प्रसिद्ध है।

ग्रन्थकार आचार्य समन्तभद्र प्रस्तुत ग्रन्थ की आदि में वीरस्तुति करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं। इस कारण कृति का नाम वीरस्तुति अथवा वीरस्तोत्र भी सम्भव है।

आज के युग में सर्वोदय शब्द अधिक व्यवहृत हो रहा है। इस सर्वोदय शब्द का प्रयोग सहस्राधिक वर्षों पहले आचार्य समन्तभद्र ने इस कृति में किया है। वह श्लोक इस प्रकार है

सर्वांतवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वांतशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामंतकरं निरंतं सर्वोदयं
तीर्थमिदं तवैव ॥६२॥

समानभाव से सबकी आपदाओं का अन्त करने वाला आपका तीर्थ ही सर्वोदय है।

जिनशासन के प्रति आचार्य समन्तभद्र की अगाध आस्था थी। निर्ग्रंथ प्रवचन को सर्वोत्कृष्ट गौरव प्रदान करते हुए उन्होंने लिखा

"जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम्" जिनदेव! आपका मत ही अद्वितीय है, अनुपम है। स्तोत्र की भावना और शब्द संयोजना को देखने से यह प्रतीत होता है कलाकार की यह प्रौढ़ रचना है। इस कृति पर आचार्य विद्यानन्द की संस्कृत टीका जो वर्तमान में प्रकाशित है। इसी टीका में 'परीक्षेक्षण' शब्द का प्रयोग कर समन्तभद्र को परीक्षा के नेत्र से सबको देखने वाला कहा है।

स्तुति विद्या (जिन-स्तुति-शतक) प्रस्तुत ग्रन्थ स्तवना प्रधान है। यह कृति के नाम से स्पष्ट है इस ग्रन्थ में तीर्थङ्करों की स्तुति है। शब्दालङ्कार और चित्रालङ्कार दोनों दृष्टियों से यह स्तुतिविद्या ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इस कृति का प्रत्येक श्लोक चित्रबद्ध काव्य है। चक्रबंध, मुरजबंध आदि चित्र पद्यों की बंध रचना कवि की विलक्षण क्षमता को प्रकट करती है।

ग्रन्थकार ने एक ही अक्षर द्वारा पूरे श्लोक की रचना कर अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दिया है, वह श्लोक इस प्रकार है

ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः।
ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततो ततः ॥१३॥

एक ही अक्षर द्वारा रचित इस श्लोक में अनेक अर्थ प्रतिध्वनित हैं।

कई पद्य ऐसे भी हैं जिनको अनुयोग क्रम से पढ़ने पर उनका अर्थ बोध भिन्न प्रकार का होता है और प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर उनका अर्थ कुछ और ही हो जाता है। अनुलोम एवं प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर भिन्नार्थ बोधक श्लोक इस प्रकार हैं

अनुलोम क्रम

"रक्षमाक्षरवामेश शमीचारुरुचानुतः।
भो विभोनशनजोरुनग्रेन विजरामय ॥९६॥

(स्तुतिविद्या)

प्रतिलोम क्रम

"यमराज विनग्रेन रुजोनाशन भो विभो।
तनुचारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥९७॥

शब्द चमत्कार का एक और उदाहरण निम्न श्लोक है जिसकी रचना चार अक्षरों में हुई है। प्रत्येक चरण की समाप्ति पर अक्षर बदल जाता है। श्लोक इस प्रकार है

येयायायायेयाय नानाननाननानन।
ममाममामामामि तातताततीतितीतितः ॥१४॥

इस प्रकार पूरी कृति का शब्द विन्यास ही अलंकृत भाषा में प्रस्तुत है। आचार्य समन्तभद्र प्रस्तुत ग्रन्थ में मंगलाचरण में 'स्तुतिविद्या' संज्ञक ग्रन्थ रचना के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं और कृति के अन्तर्गत चित्र बद्ध रचना में 'जिन-स्तुति-शतं नाम का बोध होता है। इससे लगता है कि ग्रन्थकार को अपनी इस कृति के दोनों नाम अभिप्रेत थे। कृति का मूल नाम 'स्तुति-विद्या' सम्भव है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्रावकाचार सम्बन्धी यह उत्तम ग्रन्थ है। इसके सात अध्याय और १५० पद्य हैं। ग्रन्थ की शैली सरस है और भाषा अर्थगरिमा से पूर्ण है, सरल है, सुबोध है, गुणरत्नों से भरा पिटारा है, अतः इस ग्रन्थ का नाम रत्नकरण्ड उपयुक्त है। कृति में अपने विषय का प्रतिपादन समीचीन है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्र इस रत्नत्रयी का भी पर्याप्त विवेचन इस ग्रन्थ में है।

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में अष्टांग सहित सम्यग् दर्शन का, द्वितीय अध्याय में सम्यग्ज्ञान का, तृतीय अध्याय में सम्यक् चारित्र (मुनि आचार-संहिता एवं श्रावक आचार संहिता) का, चतुर्थ अध्याय में दिग्व्रत, अनर्थ-दण्डव्रत एवं भोगोपभोगव्रत श्रावक के इन तीन गुणव्रतों का, पंचम अध्याय में चार शिक्षाव्रतों का, छठे अध्याय में संलेखना का और सातवें अध्याय में श्रावक प्रतिमा का पर्याप्त विवेचन है।

श्रावक-चर्या सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों में यह ग्रन्थ प्राचीन माना गया है। वादिराजसूरि ने इस ग्रन्थ को अक्षय सुखावह की संज्ञा प्रदान की। आचार्य समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ पर संस्कृत टीका लिखी, जो वर्तमान में प्रकाशित है।

आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थों में गम्भीर दार्शनिक दृष्टियां हैं एवं आस्था का छलकता निर्झर है।

जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र को है।

समय-संकेत

जैनेन्द्र व्याकरण में समागत 'चतुष्ट्यं समन्तभद्रस्य' (सूत्र ५।४।१६) के उल्लेख से आचार्य समन्तभद्र पूज्यपाद (देवनन्दी) से पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं।

आचार्य समन्तभद्र की सर्वज्ञता विषयक मान्यता की पुष्टि में प्रदत्त तर्कों का शाबर भाष्य के व्याख्याकार मीमांसक कुमारिल ने निरसन किया है। मीमांसक कुमारिल भट्ट ई. सन् ६२५ से ६८० तक के विद्वान् माने गए हैं। इस आधार पर आचार्य समन्तभद्र का समय वि. की पांचवीं-छठी शताब्दी अनुमानित होता है। डॉ. महेन्द्र कुमार ने सिद्धिविनिश्चय टीका की प्रस्तावना में आचार्य समन्तभद्र का समय ई. सन् द्वितीय शताब्दी बताया है। कई इतिहासकार उनको पांचवीं शताब्दी एवं अनेक विद्वान् उनको वि. की छठी शताब्दी के मनीषी आचार्य मानने के पक्ष में हैं।

५६. दिव्य विभूति आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद)

दिगम्बर परम्परा के आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) योग, दर्शन, तर्क, काव्य, सिद्धान्त, छन्द आदि विभिन्न विषयों के उद्भट विद्वान् थे। जैन परम्परा में प्रथम वैयाकरण थे। उच्चकोटि के कवि एवं तपोयोग के विशिष्ट साधक थे। जैन धर्म की प्रभावना में उनका कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण योगदान है। आचार्य समन्तभद्र के बाद दिगम्बर परम्परा के विशिष्ट आचार्यों की गणना में आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) का स्थान प्रथम है।

गुरु-परम्परा

शुभचन्द्राचार्य के पाण्डुपुराण में देवनन्दी की गुर्वावली प्राप्त है। उनके अनुसार मूल संघ के अन्तर्गत नन्दी संघ बलात्कार गण में माघनन्दी नाम के आचार्य हुए। उनके बाद जिनचन्द्र, पद्मनन्दी आदि क्रमशः होने वाले कई आचार्यों के साथ एक नाम देवनन्दी का भी है। इस कथन के आधार पर पूज्यपाद देवनन्दी मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दी संघ बलात्कार गण के आचार्य थे।[1] 'राजबलिकथे' ग्रन्थ में भी देवनन्दी को नन्दी संघ का माना है। देवनन्दी के शिष्य का नाम वज्रनन्दी था।

जीवन-वृत्त

देवनन्दी ब्राह्मण वंशज थे। वे बुद्धिमान बालक थे। ब्राह्मण परिवार में जन्म होने के कारण उनकी सहज आस्था ब्राह्मण धर्म-दर्शन के प्रति थी। आचार्य समन्तभद्र के 'देवागमस्तोत्र' को पढ़कर वे जैन धर्म के प्रति झुके, आस्थाशील बने। उन्होंने बाल वय में सुविधाओं को त्यागकर जैन दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में देवनन्दी ने बहुमुखी विकास किया। अपनी योग्यता के आधार पर वे तीन नामों से प्रसिद्ध हुए देवनन्दी, जिनेन्द्र-बुद्धि और पूज्यपाद।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख के अनुसार आचार्यजी का प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धि की विशेषता के कारण जिनेन्द्रबुद्धि और देवों द्वारा पूजाभाव प्राप्त होने के कारण वे पूज्यपाद कहलाए[2]। जैन शिलालेख संग्रह संख्यक १०५ का अभिलेख इस प्रकार है[3]

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी,
बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्रीपूज्यपाद इति चैष बुधैः प्रचख्ये,
यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥

शक सं. १३६५ में उत्कीर्ण शिलालेख में पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि इन दोनों नामों का उल्लेख है। यह शिलालेख इस प्रकार है

श्री पूज्यपादोद्धृतधर्मराजस्ततः
सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं
वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि ॥१५॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्रयोगिभिः
कृत्यकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चकैः।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहत्स
जिनेन्द्रबुद्धिरिति सापुवर्णितः ॥१६॥

नन्दी संघ की पट्टावली में देवनन्दी और पूज्यपाद इन दोनों नामों का उल्लेख है। देवनन्दी का दूसरा नाम पूज्यपाद है। आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण में देवनन्दी के लिए देव शब्द का प्रयोग किया है[4] और

---

१. पाण्डव पुराण १-२

२. यो देवनन्दी प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धि।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥
(श्रवणबेलगोल शि. न. ४०)

३. जैन शिलालेख संग्रह भाग-१, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला।

४. कवीनां तीर्थकृद्देवः ॥१।५२।
(आदिपुराण)

आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में देवनन्दी शब्द प्रयुक्त हुआ है[५]। कवि धनंजय की 'नाममाला' में लक्षण ग्रन्थ रचयिता के रूप में पूज्यपाद नाम का उल्लेख है[६]। जैनेन्द्र प्रक्रिया में आचार्य गुणनन्दी द्वारा पूज्यपाद नाम का स्मरण किया गया है[७]। कन्नड़ साहित्य में आचार्य जी का पूज्यपाद नाम अधिक प्रचलित है।

आचार्यजी का जीवन विविध गुणों का समवाय था। उनके पास कई चामत्कारिक शक्तियां थीं। श्रवणबेलगोल न. १०८ के शिलालेख के आधार पर उन्हें अद्वितीय औषध ऋद्धि प्राप्त थी।[८] एक बार उनके चरण प्रक्षालित जल के छूने मात्र से लोहा सोना बन गया। उनके 'विदेहगमन' की बात भी इसी शिलालेख में है।

आचार्य देवनन्दी के जीवन की प्रभावकता इन चामत्कारिक प्रसंगों से नहीं अपितु ज्ञानादि गुणों के कारण से है। ये चामत्कारिक प्रसंग यथार्थ की अपेक्षा प्रशंसात्मक अधिक होते हैं।

चन्द्रय्य नामक कवि द्वारा कन्नड़ भाषा में रचित 'पूज्यपाद-चरिते' ग्रन्थ में पूज्यपाद की जीवनसामग्री उपलब्ध है। उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है

पूज्यपाद की जननी का नाम श्रीदेवी था। पिता का नाम माधव भट्ट था। वे कर्नाटक निवासी थे। श्रीदेवी की प्रेरणा से माधव भट्ट ने जैन धर्म स्वीकार किया। श्रीदेवी के भाई का नाम पाणिनि था। श्रीदेवी ने उनको भी जैन बनने की प्रेरणा दी पर उन्होंने जैन धर्म स्वीकार नहीं किया। वे मंडीगुंडी गांव में वैष्णव संन्यासी बन गये।

पूज्यपाद की छोटी बहन का नाम कमलिनी था। उसकी शादी गुणभट्ट नामक ब्राह्मण विद्वान् के साथ हुई। कमलिनी के पुत्र का नाम नागार्जुन था।

पूज्यपाद बचपन से ही धार्मिक वृत्ति के थे। उन्होंने एक बार साँप के मुंह में फंसे मेंढक को देखा। उनको वैराग्य हो गया। परिवार के मोह बंधन को त्यागकर जैन मुनि बन गये।

एक बार विद्वान् पाणिनि व्याकरण ग्रन्थ की रचना कर रहे थे। उन्हें अपनी आसन्न मृत्यु का आभास हुआ। उन्होंने पूज्यपाद से कहा मैं अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकूंगा। व्याकरण-ग्रन्थ रचना का कार्य अधूरा है। तुम मेरे अवशिष्ट व्याकरण ग्रन्थ के रचना कार्य को पूरा कर देना। पूज्यपाद ने पाणिनि के कथन को स्वीकार कर लिया।

पूज्यपाद दृढ़-संकल्पी थे। पाणिनि की मृत्यु के बाद उनके अधूरे व्याकरण ग्रन्थ रचना के कार्य को सम्पन्न कर उन्होंने अपना वचन पूरा किया।

पिता गुणभट्ट की मृत्यु के बाद अतिशय दरिद्रावस्था में नागार्जुन पूज्यपाद के पास पहुंचा। पूज्यपाद ने उसे पद्मावती मन्त्र दिया और सिद्ध करने के प्रयोग बताए। 'पद्मावती देवी' ने नागार्जुन को सिद्धरस की वनस्पति का बोध दिया। सिद्धरस की ज्ञान प्राप्ति से नागार्जुन को सोना बनाने की कला हाथ लग गई। इस विद्या को प्राप्त कर नागार्जुन घमण्डी हो गया। उसके घमण्ड को दूर करने के लिए पूज्यपाद ने साधारण सी वनस्पति से कई घड़े परिमाण सिद्धरस निष्पन्न कर दिखाया। पूज्यपाद की विद्याशक्ति के सामने नागार्जुन का गर्व विगलित हो गया। उसने पद्मावती के कहने से इस विद्या का उपयोग धर्म प्रेरक प्रवृत्तियों में किया।

कन्नड़ कवि द्वारा वर्णित पूज्यपाद का उक्त जीवन प्रसंग विशेष विमर्शनीय है। ऐतिहासिक सन्दर्भ में इसकी प्रासंगिकता नहीं। पाणिनि और पूज्यपाद के मध्य कई शताब्दियों का लम्बा अन्तराल है।

नगरतालुका के शिलालेख न. ४६ में पाणिनि

---

५. .....सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥१।१५ (ज्ञानार्णव)

६. प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। (अमरकोश)

७. नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्। (जैनेन्द्र प्रक्रिया 'गुणनन्दी')

८. श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥
(श्रवणबेलगोल, शि. न. १०८)

व्याकरण पर पूज्यपाद द्वारा 'शब्दावतार' रचा जाने का उल्लेख है, पर पाणिनि व्याकरण के अधूरे अंश को पूज्यपाद ने पूरा किया ऐसा उल्लेख नहीं है।

पूज्यपाद का वज्रनन्दी नाम का एक शिष्य था। पूज्यपाद यात्रा पर थे। पीछे से साथियों के साथ विचार भेद होने के कारण शिष्य वज्रनन्दी ने द्रविड़ संघ की स्थापना की।

पूज्यपाद ने लम्बे समय तक योगाभ्यास किया। एक बार तीर्थ यात्रा करते समय मार्ग में उनकी नेत्र ज्योति लुप्त हो गई थी। शान्त्यष्टक का एक निष्ठा से जाप करने पर उनकी लुप्त नयन ज्योति पुनः लौट आई। दिगम्बर समाज में ऐसी मान्यता प्रचलित है।

पूज्यपाद योगाभ्यास प्रमुख असाधारण क्षमताओं के कारण शक्ति सम्पन्न और तेजस्वी आचार्य थे। वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथ चरित्र प्रथम सर्ग में आपके गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है

'अचिन्त्यमहिमा देव' आचार्य देवनन्दी की महिमा अचिन्त्य है।

आदिपुराण में जिनसेनाचार्य लिखते हैं

कवीनां तीर्थकृदेवः, कतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ् मलध्वंसि, तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥५२॥

देवनन्दी कवियों के तीर्थंकर हैं। उनका वाङ्मय रूपी तीर्थ विद्वानों की वाणी को निर्मल एवं परिष्कृत करता है।

शिलालेखों के अवतरण भी पूज्यपाद की निर्मल प्रज्ञा एवं चतुर्मुखी प्रतिभा के परिचायक हैं।

पूज्यपाद से सम्बन्धित उल्लेखों एवं आकलनों का सार यह है

देवनन्दी पूज्य-पाद अपने युग के श्रेष्ठ साहित्यकार, धुरन्धर कवि, अद्वितीय वैयाकरण, अपूर्व वैद्य एवं उच्च कोटि के तपस्वी थे। राजधानी तलवरनगर की प्रधान जैन बस्ती के वे अध्यक्ष थे। यह संस्थान दक्षिण भारत में उस काल का एक महान् विद्यापीठ था। सांस्कृतिक अधिष्ठान के रूप में प्रतिष्ठित इस विद्यापीठ में दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, सिद्धान्त, चिकित्सा विज्ञान, समाज विज्ञान, राजनीति आदि विविध विषयात्मक शिक्षाओं के स्रोत खुले थे। दक्षिण भारत के इस प्रमुख ज्ञान केन्द्र को आचार्य पूज्यपाद का हर तरह से समुचित संरक्षण प्राप्त था।

राजवंश

आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद का गंग-राजवंश से विशेष सम्बन्ध रहा है। मुक्त हस्तदानी, धर्म तथा संस्कृति के संरक्षक, जिनेश्वर देव के प्रति अचल मेरु की तरह सुदृढ़ आस्थाशील जैन शासक अविनीत कोंगुणी आचार्य पूज्यपाद के समय में गङ्गवंश के प्रतापी नरेश थे। वे दीर्घजीवी शासक थे। शिलालेखों में उन्हें शतजीवी कहा है।

अतुल पराक्रमी, धर्मानुरागी गङ्ग-नरेश अविनीत कोंगुणी के गुरु जैनाचार्य विजयकीर्ति थे। गुरु के मार्गदर्शन में नरेश ने जीवन-विज्ञान का प्रशिक्षण पाया। अविनीत कोंगुणी के पिता गङ्ग-नरेश माधव तृतीय भी जिनेश्वर देव के परम भक्त थे। जैन धर्म के संस्कार अविनीत कोंगुणी को अपने पिता से प्राप्त थे।

धर्म की इस गंगा का प्रभाव आगे से आगे गतिशील रखने हेतु नरेश अविनीत कोंगुणी ने अपने महत्त्वाकांक्षी पुत्र युवराज दुर्विनीत कोंगुणी को शिक्षा प्राप्त करने के लिए जैनाचार्य देवनन्दी पूज्यपाद के पास रखा था। बाल वय में राजकुमार दुर्विनीत कोंगुणी ने अनेक विषयों की शिक्षा आचार्य देवनन्दी से प्राप्त की।

दुर्विनीत कोंगुणी की गणना दक्षिण भारत के प्रतापी नरेशों में हुई। अपने पिता की भांति जैन धर्म के प्रति उनकी आस्था अडोल थी। गुरु पूज्यपाद को पाकर वे अपने आपको धन्य मानते और गर्व की अनुभूति करते।

नरेश दुर्विनीत कोंगुणी साहित्य प्रेमी थे और सफल अनुवादक थे। उन्होंने अपने गुरु पूज्यपाद द्वारा रचित 'शब्दावतार न्यास' का कन्नड़ अनुवाद किया तथा 'प्राकृत वृहद् कथा' का संस्कृत अनुवाद भी इनका बताया जाता है।

नरेश दुर्विनीत कोंगुणी के द्वितीय पुत्र गंगनरेश मुष्कर भी जैन धर्म के प्रति सुदृढ़ आस्थावान् थे। इनके

समय में जैन धर्म गंगवंश का राज-धर्म बन गया था। इस नरेश के सामंत भी जैन थे। जैनाचार्यों को अपने धर्म प्रचार कार्यों में गंग नरेशों का प्रबल प्रोत्साहन था। आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद को अपने कार्यक्षेत्र में गंग नरेश दुर्विनीत कोंगुणी का यथेप्सित सहयोग मिल पाया था।

साहित्य

आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे शास्त्रज्ञ, समीक्षक, दार्शनिक, कवि, वैयाकरण तथा ग्रन्थ रचनाकार थे। वे अपने प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करने में निर्भीक मनोवृत्ति के थे। हरिवंश पुराण एवं आदि पुराण के कर्ता जिनसेनद्वय, जिनेन्द्र प्रक्रिया के रचनाकार गुणनन्दी, ज्ञानार्णव के रचनाकार शुभचन्द्र आदि आचार्यों ने विद्वान् आचार्य देवनन्दी, (पूज्यपाद) के बुद्धि बल की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। श्रवणबेलगोल आदि के शिलालेखों में भी उनकी प्रशस्तियां अंकित हैं।

आचार्य देवनन्दी ने अपनी विकासशील बुद्धि का उपयोग साहित्य रचना की दिशा में भी किया। उन्होंने उत्तम कोटि के ग्रन्थ रचे। उनके ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद की यह गद्यात्मक संस्कृत टीका है। तत्त्वार्थ के मूल सूत्रों पर इसकी रचना हुई है। इसके दस अध्याय हैं। यह ग्रन्थ दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है। पुण्य और पाप तत्त्व को बन्धतत्त्व के अन्तर्गत ही मान लिया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र के प्रत्येक पद की विशद व्याख्या होने के कारण वृत्ति के लक्षण इसमें सम्यक्तया घटित हैं। रचनाकार ने स्वयं अपनी इस रचना को वृत्ति कहा है और वृत्ति का नाम सर्वार्थसिद्धि दिया है। ग्रन्थान्तर्गत प्रत्येक अध्याय के समाप्ति प्रसंग पर वे लिखते हैं

इति सर्वार्थसिद्धिसंज्ञायां तत्त्वार्थवृत्तौ
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः.....

यह टीका सुखकर एवं परमार्थ सिद्धि का हेतु है। परमार्थ के साथ जीवन के अन्य समस्त अर्थ स्वतः सिद्ध होते हैं, अतः इस टीका का नाम सर्वार्थसिद्धि उपयुक्त है। प्रस्तुत वृत्ति ग्रन्थ की रचनाशैली संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी एवं अर्थ गरिमा से परिपूर्ण है। ग्रन्थ की समुचित शब्द संयोजना और प्रवाहमयी भाषा ग्रन्थकार के वैदुष्य को प्रकट करती है।

स्वर्ग और अपवर्ग के अभिलाषी व्यक्ति को मनोयोगपूर्वक अहर्निश इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करना चाहिए ऐसा इस वृत्ति की प्रशस्ति में बताया गया है।[६]

आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर दिगम्बर सम्प्रदाय की उपलब्ध टीकाओं में यह टीका सर्वप्रथम है। तत्त्वार्थसूत्र की अन्य टीकाएं इसी आधार पर रची गई हैं।

समाधि तन्त्र यह अध्यात्म विषयक उच्च कोटि का गम्भीर ग्रन्थ है। ग्रन्थ का दूसरा नाम समाधिशतक भी है। ग्रन्थ की शैली मनोरम और हृदयस्पर्शी है। ग्रन्थगत विषय का प्रतिपादन मनोमुग्धकारी है। ग्रन्थकार ने मानो स्थितप्रज्ञ जैसी स्थिति में पहुंचकर इस अध्यात्म के गूढ़ ग्रन्थ की रचना की है। अध्यात्म सुधारस से ओत-प्रोत यह कृति पाठक के लिए मननीय एवं पठनीय है। इस पर कई संस्कृत टीकाएं हैं।

इष्टोपदेश यह ग्रन्थकार की लघु रचना है। इसके ५१ पद्य हैं। समाधितन्त्र की तरह इस ग्रन्थ में भी अध्यात्म का सरस विवेचन है। अध्यात्म साधक के लिए आत्मस्वरूप का बोध ही परम इष्ट होता है, इसका

---

६. स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरामैः
जैनेन्द्रशासन-वरामृतसारभूता।
सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा
तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या॥
(तत्त्वार्थवृत्ति प्रशस्ति)

मर्म-स्पर्शी उपदेश होने के कारण कृति का इष्टोपदेश नाम सार्थक है। पण्डित आशाधरजी की इस पर संस्कृत टीका है। वर्तमान में टीका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

जैनेन्द्र व्याकरण पूज्यपाद साहित्य-रसिक और महान् शाब्दिक थे। 'जिनेन्द्र व्याकरण' साहित्य जगत् की प्रतिष्ठित कृति है। इस व्याकरण के कर्ता देवनन्दी पूज्यपाद ही थे। यह आज अनेक विद्वानों ने विविध प्रमाणों से मान्य किया है। जैन विद्वान् द्वारा लिखा गया यह प्रथम संस्कृत व्याकरण है। शाकटायन आदि व्याकरण ग्रन्थों की रचना इसके बाद की है। इस व्याकरण ग्रन्थ के पांच अध्याय हैं और बीस पाद हैं। प्रत्येक अध्याय के पाद बराबर हैं एवं सूत्र संख्या करीब ३००० है। इस व्याकरण में संक्षिप्त सूत्रात्मक शैली और संज्ञा प्रकरण में सांकेतिक संज्ञाओं का प्रयोग इसकी विशेषता है। स्त्री प्रत्यय समास तद्धित एवं कृदन्त प्रकरणों की मौलिक विशेषताएं हैं। कारक प्रकरण अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी इसमें आवश्यक बिन्दुओं का पर्याप्त निर्देश है। व्याकरण के नियमों की व्याख्या में प्रयुक्त उदाहरण तत्कालीन सांस्कृतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति देते हैं एवं ज्योतिष, भौगोलिक आदि विविध पक्षों से सम्बन्धित मान्यताओं का बोध कराते हैं। जैसे

शरदं मधुरा रमणीया(१।४।४)
मधुरा पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतरा(१।४।५०)
पुष्येण योगं जानाति, पुष्येण भोजयति(२।५।२४)

इस प्रकार पाठक के लिए विविध रूपा सामग्री इसमें उपलब्ध है। व्याकरण साहित्य में यह उत्तम रचना है। इसके कारण आचार्य देवनन्दी पूज्यपाद आठ महान् शाब्दिकों में एक हैं। इस व्याकरण पर अभयनन्दी रचित महावृत्ति, प्रभाचन्द्र का शब्दाम्भोजभास्कर न्यास, श्रुतकीर्ति की पञ्चवस्तुप्रक्रिया एवं पण्डित महाचन्द्र की लघु जैनेन्द्र टीकाएं उपलब्ध हैं।

इन टीकाओं में महावृत्ति सबसे प्राचीन टीका है। इस टीका में न ग्रन्थ रचना का समय है, न गुरु-परम्परा का उल्लेख है। प्रभाचन्द्र का शब्दाम्भोज भास्कर न्यास का पद्य परिमाण महावृत्ति से अधिक है। इसके शब्द प्रयोगों में महावृत्ति का प्रभाव परिलक्षित होता है। पञ्चवस्तु टीका की रचना व्यवस्थित रूप में सुन्दर शैली में हुई है। इसकी श्लोक संख्या ३३०० के लगभग है। यह ज्ञानवर्धक टीका है। लघु जिनेन्द्र टीका रचना में अभयनन्दी की महावृत्ति का आधार लिया गया है। शब्दार्णव चन्द्रिका, शब्दार्णव प्रक्रिया (जैनेन्द्र प्रक्रिया) ये ग्रन्थ भी जैनेन्द्र व्याकरण से सम्बन्धित हैं।

आचार्य गुणनन्दी ने इस व्याकरण की समीक्षा करते हुए लिखा

नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।
यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्क्वचित्॥

मैं पूज्यपाद को नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने लक्षणशास्त्र (व्याकरण शास्त्र) की रचना की। उनका रचा यह शास्त्र इतना विशाल है कि जो सामग्री इसमें है वह अन्यत्र भी है। जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र नहीं है।

कवि धनञ्जय ने इस व्याकरण को अपश्चिम रत्न माना है।

जैनेन्द्र न्यास शिमोगा जिले की नगर तहसील के ४६वें शिलालेख में पूज्यपाद के ४ ग्रन्थों की सूचना है।[१०] उसमें सबसे पहला ग्रन्थ जैनेन्द्र न्यास है। पूज्यपाद ने स्वरचित जैनेन्द्र व्याकरण की व्याख्या में इस न्यास की रचना की होगी। पर वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

---

१०. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥
(नगरतालुका शि., न. ४६)

शब्दावतार न्यास पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार न्यास की रचना पूज्यपाद ने की थी। इससे स्पष्ट है पूज्यपाद को पाणिनि व्याकरण का गहरा अनुभव था। पर जैनेन्द्र न्यास की तरह यह न्यास भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

वैद्यक (चिकित्सा शास्त्र) शिमोगा जिले के शिलालेख में वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख है। ग्रन्थ का 'वैद्यक' नाम चिकित्सा सम्बन्धी सामग्री की सूचना देता है। पूज्यपाद का ज्ञान बहुमुखी था। चिकित्सा के सम्बन्ध में भी उनका ज्ञान परिपक्व था। शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में पूज्यपाद की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाग्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं, देवनन्दी नमस्यते ॥१५॥

जिनकी वाणी प्राणियों के काय, वचन और चित्त के विकारों को नष्ट करने में सक्षम है, वे देवनन्दी नमस्कार करने योग्य हैं।

इस श्लोक में समागत काय शब्द का प्रयोग शरीर विज्ञान सम्बन्धी उनकी विशेषज्ञता को समर्थित करता है। वर्तमान में पूज्यपाद का चिकित्सा सम्बन्धी कोई वैद्यक नामक ग्रन्थ प्राप्त नहीं है।

जैनाभिषेक श्रवणबेलगोल संख्यक ४० के अभिलेख में आचार्य पूज्यपाद के कई ग्रन्थों के साथ जैनाभिषेक ग्रन्थ का उल्लेख है। वह अभिलेख इस प्रकार हैं।

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा।
सिद्धान्ते निपुणत्वमुग्रकविता जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

प्रस्तुत अभिलेख पद्य के अनुसार जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि टीका, जैनाभिषेक एवं समाधिशतक ये चारों ग्रन्थ आचार्य पूज्यपाद के हैं।

ग्रन्थान्तरों में निर्देशित ग्रन्थ धवला टीका में पूज्यपाद के सार संग्रह ग्रन्थ का उल्लेख है।[11] यह एक न्याय विषयक ग्रन्थ सम्भव है।

कन्नड़ ग्रन्थ 'पूज्यपाद चरिते' में पूज्यपाद रचित 'अर्हद् प्रतिष्ठा लक्षण' और शान्त्यष्टक इन दो ग्रन्थों का उल्लेख है। जयकीर्ति के छन्दोनुशासन ग्रन्थ में पूज्यपाद के छन्द शास्त्र का निर्देश है। सार संग्रह, अर्हत् प्रतिष्ठा लक्षण, शान्त्यष्टक, जैनाभिषेक ये चारों ग्रन्थ वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।

भक्ति ग्रन्थ सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति, निर्वाणभक्ति, आचार्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, तीर्थंकरभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति और चैत्यभक्ति संस्कृत भाषा में रचित ये भक्तिप्रकरण आचार्य पूज्यपाद के माने गए हैं। प्राकृत भक्ति-प्रकरण आचार्य कुंदकुंद के हैं।[12]

समय संकेत

आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) का समय आचार्य सिद्धसेन, आचार्य समन्तभद्र की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होंने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में भूतबलि, श्रीदत्त, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन, समन्तभद्र इन छह आचार्यों का उल्लेख किया है। उल्लेख करने वाले ये सूत्र हैं

१. राद् भूतबलेः। (३-४-८३)
२. गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् । (३-१-९८)
३. कृवृषि भृजां यशोभद्रस्य। (३-१-९९)
४. रात्रैः कृति प्रभाचन्द्रस्य। (४-३-१८०)
५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य। (५-१-७)
६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य। (५-४-१४०)

इन आचार्यों में भूतबलि षट्खण्डागम के रचनाकार सम्भव हैं। आचार्य श्रीदत्त जल्प निर्णय ग्रन्थ के रचनाकार एवं त्रिषष्टिवादी विजेता विद्वान् हुए हैं। आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में

---

११. सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमम्.....
(धवला टीका)

१२. संस्कृताः सर्वा भक्तयः पूज्यपादस्वामीकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।
(प्रभाचन्द्र क्रियाकल्प टीका)

इनका उल्लेख है। दिगम्बर परम्परा के चार आरातीय मुनियों में एक श्रीदत्त नाम भी है, पर विद्वानों ने प्रस्तुत श्रीदत्त को उनसे भिन्न माना है। आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र जैन दर्शन के प्राण-प्रतिष्ठापक आचार्य माने गए हैं। यशोभद्र और प्रभाचन्द्र कौन थे इस सम्बन्ध में तथ्य अभी तक स्पष्ट नहीं है।

जैनेन्द्र व्याकरण में भूतबलि, सिद्धसेन आदि आचार्यों का उल्लेख होने के कारण व्याकरण ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) इनसे उत्तरवर्ती हैं।

आचार्य अकलङ्कदेव ने तत्त्वार्थ वार्तिक में सर्वार्थ सिद्धि के वाक्य प्रयोगों को वार्तिका के रूप में स्थान दिया है। इससे स्पष्ट है आचार्य देवनन्दी भट्ट अकलङ्क से पूर्ववर्ती हैं।

आचार्य पूज्यपाद के शिष्य प्राभृतवेत्ता, महासत्त्वशाली वज्रनन्दी ने वी. नि. ९९६ (वि. ५२६) में दक्षिण मथुरा में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।[१३]

गंग नरेशों में जैनाचार्य देवनन्दी पूज्यपाद का विशेष सम्बन्ध माधव तृतीय के पुत्र एवं उत्तराधिकारी अविनीत कोंगुणी एवं उनके उत्तराधिकारी दुर्विनीत कोंगुणी से था। दुर्विनीत कोंगुणी ने पूज्यपाद देवनन्दी के चरणों में बैठकर विविध प्रकार की शिक्षाएं प्राप्त की थीं।

नरेश दुर्विनीत कोंगुणी का राज्यकाल ईस्वी सन् ४८१ से ५२२ के लगभग बताया जाता है। इस प्रमाण के आधार पर देवनन्दी (पूज्यपाद) वी. नि. १००८ से १०४९ (वि. सं. ५३८ से ५७९) के मध्यकाल में विद्यमान थे एवं दुर्विनीत कोंगुणी के शिक्षक थे। अतः उनका कालमान वी. नि. ११वीं सदी (वि. छठी शताब्दी) का अनुमानित होता है।

पाण्डव पुराण के रचनाकार ने आचार्य पूज्यपाद को व्याकरण सागर का पारगामी विद्वान् माना है।[१४]

---

१३. सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो ॥२४॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुरा जादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥
(दर्शनसार)

१४. पूज्यपादः सदा पूज्यपादः, पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्ण सद्गुणः ॥१६॥
(पाण्डव पुराण प्रथम पर्व)

५७. भवार्णव पारगामी आचार्य भद्रबाहु-द्वितीय (निर्युक्तिकार)

द्वितीय भद्रबाहु की प्रसिद्धि निर्युक्तिकार आचार्य के रूप में है। श्रुतकेवली भद्रबाहु से निर्युक्तिकार भद्रबाहु भिन्न थे एवं पश्चात्वर्ती थे। निमित्त-शास्त्र तथा मन्त्र विद्या का निर्युक्तिकार भद्रबाहु को विशेष ज्ञान था। वे बहुश्रुत आचार्य थे। आगमिक निर्युक्तियों में जैन परम्परा के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की विशद व्याख्या प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय उन्हें है।

जन्म एवं परिवार

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ब्राह्मण वंशज थे। उनका जन्म महाराष्ट्र के प्रतिष्ठानपुर में हुआ[1]। उनके गृहस्थ जीवन सम्बन्धी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है और न उनके माता-पिता के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सूचना ग्रन्थों में है। इतिहास में सुप्रसिद्ध ज्योतिर्विद् विद्वान् वराहमिहिर भद्रबाहु का लघु सहोदर था।

जीवन-वृत्त

गृहस्थ जीवन में भद्रबाहु और वराहमिहिर दोनों सहोदर निर्धन एवं निराश्रित थे। संसार से विरक्त होकर उन्होंने जैन दीक्षा ली और ज्योतिषशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् बने। वराहमिहिर में प्रतिस्पर्धा का भाव अधिक था। विनय आदि गुणों से सम्पन्न सुशील एवं सरल स्वभावी मुनि भद्रबाहु को सर्वथा योग्य समझकर उन्हें आचार्य पद पर अलंकृत किया गया। इससे पदाकांक्षी वराहमिहिर का अहं प्रबल हो गया। मुनि-वेश का परित्याग कर वह प्रतिष्ठानपुर में पहुंचा तथा अपने निमित्त ज्ञान से वहां के राजा जितशत्रु को प्रभावित कर उनका कृपापात्र पुरोहित बना। अपने को प्रख्यात करने के उद्देश्य से उसने विचित्र घोषणाएं कीं और जनता को बताया सूर्य के साथ विमान में बैठकर मैंने ज्योतिषचक्र का परिभ्रमण किया है। मेरे बुद्धिबल पर प्रसन्न होकर स्वयं सूर्य ने मुझे ज्योतिष-विद्या का बोध दिया तथा ग्रहमण्डल एवं नक्षत्रों की गति-विधि से अवगत कराया है। मैं उनके आदेश से ही जनहितार्थ पृथ्वी पर चंक्रमण कर रहा हूँ।[2] ज्योतिष-शास्त्र की रचना मैंने स्वयं की है।

ज्येष्ठ सहोदर आचार्य भद्रबाहु के व्यक्तित्व को प्रभावहीन करने के लिए उसने अनेक प्रयत्न किए परन्तु सर्वत्र असफल रहा। सूर्य-प्रकाश के सामने ग्रह-नक्षत्रों का ज्योतिर्मण्डल हीन प्रतीत होता है, इसी प्रकार श्रावकों की प्रार्थना पर भद्रबाहु का पदार्पण प्रतिष्ठानपुर में होते ही वराहमिहिर का प्रभाव कम होने लगा।

ज्योतिष के आधार पर वराहमिहिर द्वारा की गई भविष्यवाणियां निष्फल गईं। अपने नवजात पुत्र के सम्बन्ध में शतायु होने की उनकी घोषणा गलत हुई।

लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या, मन्त्रविद्या एवं ज्योतिषविद्या के प्रयोग का गृहस्थ के सम्मुख सम्भाषण करना साधु के लिए वर्जित है[3] फिर भी जैन धर्म की प्रभावना को प्रमुख मानकर आचार्य भद्रबाहु ने निमित्त ज्ञान से लघु सहोदर के नवजात शिशु का आयुष्य सात दिन घोषित किया था तथा बिल्ली के योग से उसकी मौत बताई थी।[4]

---

१. दक्षिणापथे प्रतिष्ठानपुरे भद्रबाहु वराहाख्यौ द्वौ द्विजौ कुमारौ।
(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराहप्रबन्ध, पृ. २, पं. ८)

२. सूर्यमापृच्छ्य ज्ञानेन च जगदुपकर्तुं महीलोकं भ्रमन्नस्मि ॥
(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराहप्रबन्ध, पृ. ३, पं. ५)

३. (क) नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंत-भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं ॥
(दशवै, ८।५०)

(ख) छिन्नं सरं भोमं अंतलिक्खं, सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं।
अंगविया सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खु ॥
(उत्तरा., १५।७)

४. अयं बालः सप्तमे दिवसे निशीथे विडालिकया पास्यिते।
(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराहप्रबन्ध, पृ. ३, पं. २१)

वराहमिहिर द्वारा शतशः प्रयत्न होने पर भी सात दिन से अधिक बालक बच नहीं सका। उसकी मौत का निमित्त अर्गला थी, जिस पर बिल्ली का आकार था। भद्रबाहु का निमित्त ज्ञान सत्य सिद्ध हुआ। जन-जन के मुख पर उनका नाम प्रसारित होने लगा। भद्रबाहु ने वराहमिहिर के घर पंहुचकर लघु भ्राता के शोक सन्तप्त परिवार को सांत्वना प्रदान की। आचार्य भद्रबाहु की ज्योतिषविद्या से प्रभावित होकर वहां के राजा जितशत्रु ने उनसे श्रावक धर्म स्वीकार किया।[४]

साहित्य

आचार्य भद्रबाहु आगम मर्मज्ञ थे। उन्होंने निर्युक्ति साहित्य के रूप में आगमों की सूत्रस्पर्शी व्याख्याएं कीं। 'उवसग्गहर स्तोत्र' और 'भद्रबाहु संहिता' भी आचार्य भद्रबाहु की रचना है। 'भद्रबाहु संहिता' वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध है, वह निर्युक्तिकार भद्रबाहु की नहीं है।

व्यंतरदेव के उपद्रव से क्षुब्ध जनमानस को शान्ति प्रदान करने के लिए भद्रबाहु ने 'उवसग्गहरं पासं' इस पंक्ति से प्रारंभ होने वाला विघ्न-विनाशक मंगलमय स्तोत्र बनाया था। वह स्तोत्र अत्यधिक चामत्कारिक सिद्ध हुआ। आज भी लोग संकट की घड़ियों में हार्दिक निष्ठा से इस स्तोत्र का स्मरण करते हैं।

ग्रन्थकारों के अभिमत से यह व्यन्तरदेव वराहमिहिर था। तपस्वी मुनियों के सामने उसका कोई बल काम नहीं कर सका। वह पूर्व वैर से रुष्ट होकर श्रावक समाज को त्रास दे रहा था। संघ ने भद्रबाहु से विनती की "आप जैसे तपस्वी आचार्य के होते हुए भी हम कष्ट पा रहे हैं।"

'कुञ्जरस्कंधाधिरूढोऽपि भषणैर्भक्ष्यते"

(गजारूढ़ व्यक्ति भी कुत्तों से काटा जा रहा है।)

श्रावक समाज की इस दर्द भरी प्रार्थना पर आचार्य भद्रबाहु का ध्यान केन्द्रित हुआ। उन्होंने इस प्रसंग पर पंच श्लोकात्मक महाप्रभावी उक्त स्तोत्र का पूर्वों से उद्धार किया था[५]।

निर्युक्ति साहित्य का सृजन कर आचार्य भद्रबाहु ने विपुल ख्याति अर्जित की। भद्रबाहु की अधिकांश निर्युक्तियां आगम साहित्य पर हैं, अतः आगम के व्याख्या ग्रन्थों में उनका सर्वोच्च स्थान है।

निर्युक्तियां आर्या छन्द में निर्मित पद्यमयी प्राकृत रचनाएं हैं। काल की दृष्टि से भी वे प्राचीन हैं। उनकी शैली गूढ़ और सांकेतिक है। आगम के पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या करना उनका मुख्य उद्देश्य है। निक्षेप पद्धति के आधार पर प्रतिपाद्य शब्दों में सम्भावित विविध अर्थों की सूचना देने के बाद स्वाभिप्रेत अर्थ का ग्रहण और वर्णन इन निर्युक्तियों में हुआ है। शब्द व्याख्या में यह निक्षेप शैली शोध पाठकों के लिए विशेष उपयोगी और ज्ञानवर्धक है। ये निर्युक्तियां अपने-आप में परिपूर्ण हैं, स्वाभिप्रेत की अभिव्यक्ति में सफल हैं। विषय सामग्री की दृष्टि से सम्पन्न हैं एवं मधुर सूक्तियों के प्रयोग से सरस भी। भारत की सुप्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के दर्शन इनमें किए जा सकते हैं। विभिन्न घटनाओं, दृष्टांतों, कथानकों के संकेतों एवं उपयोगी सूचनाओं से गर्भित निर्युक्ति-साहित्य मूल्यवान् है।

आचार्य भद्रबाहु ने १० निर्युक्तियों की रचना निम्न ग्रन्थों पर की है[६]

(१) आवश्यक (२) दशवैकालिक (३) उत्तराध्ययन (४) आचारांग (५) सूत्रकृतांग (६) दशाश्रुतस्कंध (७) बृहत्कल्प (८) व्यवहार (९) सूर्यप्रज्ञप्ति (१०) ऋषिभाषित।

इन दसों निर्युक्तियों का रचना क्रम भी इसी प्रकार

---

४. राजा श्रावकधर्मं प्रतिपेदे।
(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु-वराहप्रबन्ध, पृ. ४, पं. १७)

५. ततः पूर्वेभ्य उद्धृत्य 'उवसग्गहरं पासं' इत्यादि स्तवनं गाथापञ्चकमयं सन्दर्भे गुरुभिः,
(प्र. को. भद्रबाहु-वराह प्रब., पृ. ४, पं. 23, २४)

६. आवस्सगस्स दसवेकालिअस्स तह उत्तरज्झाणे।
सूअगडे निज्जुत्तिं वोच्छामि तहा दसाणं च ॥
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमनिउणस्स।
सूरिअपन्नत्तीए वुच्छं इसीभासिआणं च ॥
(आवश्यक निर्युक्ति)

बताया गया है।

इन निर्युक्तियों के अतिरिक्त निशीथ निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, संसक्त (संसक्त) निर्युक्ति, पंचकल्प निर्युक्ति, गोविन्द निर्युक्ति, आराधना निर्युक्ति, आदि निर्युक्तियों के नामों का उल्लेख भी मिलता है।

आचारांग आगम की पंचम चूलिका ही निशीथ आगम के रूप में प्रतिष्ठित है, अतः यह स्वतन्त्र निर्युक्ति ग्रन्थ न होकर आचारांग निर्युक्ति में ही समाविष्ट है। वर्तमान में निशीथ निर्युक्ति, निशीथ भाष्य की गाथाओं के साथ सम्मिश्रित अवस्था में प्राप्त होती है। पिण्डनिर्युक्ति का विषय दशवैकालिक आगम के पंचम अध्ययन की निर्युक्ति में, ओघनिर्युक्ति का विषय आवश्यक निर्युक्ति में एवं पंचकल्प निर्युक्ति का विषय वृहत्कल्प निर्युक्ति में समाहित है। संसक्तनिर्युक्ति एक स्वतन्त्र रचना है। चौरासी आगमों में इसका स्थान है। गोविन्द निर्युक्ति में नय-शास्त्र चर्चित है। इसकी रचना किसी आगम ग्रन्थ पर न होकर स्वतन्त्र रूप से हुई है। आराधना निर्युक्ति का निर्देश मूलाचार में है। ये दोनों निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। आराधना निर्युक्ति का विषय अज्ञात है।

आचार्य भद्रबाहु के निर्युक्ति ग्रन्थों में अन्तिम दो निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। टीकाकार मलयगिरि के अभिमत से उनके (मलयगिरि के) समय में ही सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति का लोप हो गया था। टीकाकार मलयगिरि ने केवल सूर्यप्रज्ञप्ति के मूल सूत्रों पर टीका रचना का कार्य किया था।

ऋषिभाषित निर्युक्ति एक स्वतन्त्र रचना सम्भव है परन्तु वह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

आचार्य भद्रबाहु की उपलब्ध निर्युक्तियों का परिचय इस प्रकार है

आवश्यक निर्युक्ति आचार्य भद्रबाहु की इस निर्युक्ति के प्रारम्भ में आवश्यक आदि १० निर्युक्तियों का उल्लेख है। आवश्यक सूत्र में छह आवश्यक हैं। उनका पद्यबद्ध विस्तृत विवेचन इस निर्युक्ति में है। विषय सामग्री की दृष्टि से यह निर्युक्ति अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। इस निर्युक्ति में जैनशास्त्र सम्मत तिरेसठ शलाका पुरुषों का पूर्वभव सहित जीवन चरित्र तथा उनके माता-पिता से सम्बन्धित सामग्री भी इसमें है। इसमें आर्य महागिरि, सुहस्ती आदि आचार्यों का, शालिवाहन आदि राजाओं का तथा निह्नवों का विस्तृत वर्णन भी है।

कालिक-उत्कालिक सूत्रों में भेद-प्रभेदों के आधार पर इस निर्युक्ति की रचना नन्दी के बाद की सम्भव है। आवश्यक निर्युक्ति के प्रारम्भ में ८८० गाथाओं का विस्तृत उपोद्घात है, जो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा लगता है। आगम की अन्य निर्युक्तियों में समागत कई विषयों को विस्तार से समझने के लिए आवश्यक निर्युक्ति का अध्ययन आवश्यक है।

दशवैकालिक निर्युक्ति इसके ३७१ पद्य हैं। धर्म, मंगल आदि अनेक पदों की इसमें निक्षेप पूर्वक व्याख्या है एवं विविध प्रकार के शिक्षात्मक सूत्र हैं। लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों प्रकार की कथाओं का वर्णन इसमें उपलब्ध है। कई कथाओं के संकेत मात्र हैं जिन्हें समझने के लिए चूर्णि और टीकाओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। यह संक्षिप्त निर्युक्ति विविध प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण है।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति इस निर्युक्ति की ६०३ गाथाएं हैं। विविध विषयक सामग्री प्रस्तुत करती हुई यह निर्युक्ति पाठक के लिए विशेष उपयोगी है। स्थूलभद्र, कालक आदि विशिष्ट पुरुषों के ऐतिहासिक सन्दर्भ, भद्रबाहु के चार विशिष्ट अभिग्रहधारी शिष्यों का उल्लेख इस निर्युक्ति में है। शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययन-निर्युक्ति गाथाओं पर टीका रची है। इस निर्युक्ति की कई गाथाएं भावपूर्ण और शिक्षात्मक हैं। इसकी एक गाथा है

राईसरिसवमित्ताणि परछिद्दाणि पाससि।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासन्तोऽवि न पाससि॥

आचारांग-निर्युक्ति आचारांग के दो श्रुतस्कंध हैं। भद्रबाहु ने दोनों पर निर्युक्ति रचना की है। इस निर्युक्ति की लगभग ३४८ गाथाएं हैं।

इस निर्युक्ति की निम्नोक्त गाथाएं सुप्रसिद्ध हैं।

अंगाणं किं सारो ? आयारो, तस्स हवइ किं सारो?
अणुओगत्थो सारो, तस्सवि य परूवणा सारो ॥
सारो परूवणाए चरणं, तस्सवि य होइ निव्वाणं।
निव्वाणस्स सारो, अव्वाबाहं जिणा बिंति॥

अंगों का सार आचार की प्ररूपणा, प्ररूपणा का सार चरित्र, चरित्र का सार निर्वाण और निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है। प्रस्तुत निर्युक्ति की रचना उत्तराध्ययन निर्युक्ति के बाद हुई है। इस निर्युक्ति में रोचक कथाएं भी हैं। आगम के महत्त्वपूर्ण शब्दों की व्याख्या निक्षेप पद्धति के आधार पर की गई है।

निर्युक्तिकार ने द्वितीय श्रुतस्कंध की पंचम चूलिका पर बाद में निर्युक्ति रचना करने का उल्लेख किया है।

सूत्रकृतांग निर्युक्ति आचारांग की भांति इस निर्युक्ति में भी अनेक शब्दों की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की गई है। इस निर्युक्ति की २०५ गाथाएं हैं। दार्शनिक और सैद्धांतिक चर्चाओं की दृष्टि से यह निर्युक्ति महत्त्वपूर्ण है। इसमें क्रियावादी आदि ३६३ मतांतरों का उल्लेख है। प्रस्तुत निर्युक्ति की रचना आचारांग निर्युक्ति के बाद हुई है।

दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति ऐतिहासिक बिन्दुओं के सन्दर्भ में यह निर्युक्ति महत्त्वपूर्ण है। इस निर्युक्ति में निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने छेद सूत्रकार श्रुतकेवली भद्रबाहु को प्राचीन गोत्रीय कहकर नमस्कार किया है।[८] इससे छेद सूत्रकार और निर्युक्तिकार भद्रबाहु की भिन्नता का बोध होता है। उपासक के प्रकारों को समझने के लिए छठे अध्ययन की निर्युक्ति, भिक्षु प्रतिमा के प्रकारों को समझने के लिए सातवें अध्ययन की निर्युक्ति सम्यक् सामग्री प्रदान करती है। अष्टम अध्ययन की निर्युक्ति में पर्युषण कल्प की व्याख्या है। परिवसना, पर्युषण, पर्युपशमना, वर्षावास, प्रथम समवसरण, स्थापना, ज्येष्ठअवग्रह इन शब्दों को प्रस्तुत निर्युक्ति में एकार्थक कहकर उल्लेख किया गया है।

बृहत्कल्प-निर्युक्ति और व्यवहार निर्युक्ति छेद आगम पर आधारित ये दोनों निर्युक्तियां महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों का प्रतिपाद्य विषय श्रमणाचार के विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण लगभग एक जैसा है। वर्तमान में ये दोनों निर्युक्तियां भाष्य मिश्रित अवस्था में प्राप्त हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में नहीं हैं। बृहत्कल्प निर्युक्ति संघदासगणीकृत लघुभाष्य की गाथाओं के साथ तथा व्यवहार निर्युक्ति व्यवहार भाष्य के साथ मिश्रित है।

इन निर्युक्तियों में अन्य महत्त्वपूर्ण सामग्री के साथ सुप्राचीन विविध कथानकों के निर्देश भी हैं। कहीं-कहीं कथानकों का विस्तृत रूप है, जिनमें तत्कालीन संस्कृति एवं सभ्यता की झलक है। निर्युक्तियों की रचना से कथा साहित्य अत्यन्त समृद्ध बना है एवं आगमों के पारिभाषिक शब्दों की सुसंगत व्याख्याओं के प्रस्तुतिकरण से जैन साहित्य के क्षेत्र में नवीन विद्या का द्वार उद्घाटित हुआ है। इन बिन्दुओं के आधार पर निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का जैन परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समय-संकेत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा रचित 'जैन परम्परा का इतिहास' में निर्युक्ति-काल विक्रम की पांचवीं-छठी सदी माना है।[९] आचार्य भद्रबाहु के लघु सहोदर वराहमिहिर द्वारा रचित 'पंचसिद्धान्तिका' नामक ग्रन्थ की रचना का समय वी. नि. १०३२, श. सं. ४२७ (वि. सं. ५६२, ई. सन् ५०५) निर्णीत है।[१०] उपर्युक्त दोनों प्रमाणों के आधार पर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय 'वीर निर्वाण की दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी' सिद्ध होता है।

---

८. वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिमसगलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥
(दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति)

९. जैन परम्परा का इतिहास, पृ. ८३

१०. सप्ताश्विवेदसंख्यं, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।
अर्द्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ॥८॥
(पंच सिद्धांतिका)

५८. जिनागम सिन्धु आचार्य जिनभद्रगणी

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आगम प्रधान आचार्य थे। वे ज्ञान के सागर, कुशल वाग्मी एवं आगमवाणी के प्रति अगाध श्रद्धाशील थे। उनका चिन्तन स्वतन्त्र नहीं, आगमतन्त्र से बंधा हुआ था। आचार्य सिद्धसेन ने युक्ति पर आगमों को परखा। आचार्य जिनभद्र ने आगम को प्रथम स्थान दिया था। आगम का आलम्बन लेकर ही उन्होंने युक्त और अयुक्त का चिन्तन किया।[1] अन्य मतों की आलोचना आगम वाक्यों के आधार पर की एवं आगमिक परम्परा को सुरक्षित रखा। इतिहास के पृष्ठों पर आगम परम्परा के पोषक आचार्यों में आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का नाम अग्रणी स्थान पर है।

गुरु-परम्परा

जिनभद्रगणी ने अपने ग्रन्थों में गुरु-परम्परा का उल्लेख नहीं किया है। अङ्कोट्टक (अकोट) ग्राम से प्राप्त दो प्रतिमाओं पर टङ्कित अभिलेख में निवृत्ति कुल के वाचनाचार्य जिनभद्र का उल्लेख है।[2] प्राचीन जैन मूर्तियों के गम्भीर अध्येता श्री उमाकांत प्रेमचन्द शाह के अभिमत से यह उल्लेख भाष्यकार जिनभद्रगणि से सम्बन्धित है। प्रतिमा के अभिलेख में वाचनाचार्य का उल्लेख है। जिनभद्रगणी की प्रसिद्धि क्षमाश्रमण के नाम से है। वाचक, क्षमाश्रमण आदि शब्दों को विद्वानों ने एकार्थक माना है। अतः वाचनाचार्य का विशेषण क्षमाश्रमणजी के लिए ही सम्भव है।

प्रस्तुत प्रतिमा लेख के आधार पर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण निवृत्ति कुल के हैं। उनके गुरु और गुरु-परम्परा के नामों की सूची नहीं है। नवांगवृत्ति संशोधक द्रोणाचार्य, सूराचार्य, गर्गर्षि, दुर्गर्षि, उपमिति भवप्रपंचकथारचनाकार सिद्धर्षि जैसे प्रभावशाली आचार्य निवृत्ति कुल में हुए हैं।

निवृत्ति कुल का सम्बन्ध वज्रसेन के शिष्य निवृत्ति से था। अतः जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आचार्य सुहस्ती की परम्परा में होने वाले वज्रसेन शाखीय सम्भव है।

जिनवाणी के गहन अध्येता आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को शताब्दियों तक पट्टावली परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिला।

जैनाचार्यों द्वारा १५वीं शताब्दी में रची गई पट्टावलियों से पहले किसी भी पट्टावली में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का उल्लेख नहीं है यह आश्चर्य का विषय है।

गम्भीर भाष्यकार क्षमाश्रमणजी के ग्रन्थों की प्रभावकता के कारण जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के कई शताब्दियों बाद उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्यों ने उनका नाम अपनी गुरु-परम्परा के साथ जोड़ा। उन्हें युगप्रधान माना और उनको टीकाकार हरिभद्र का शिष्य बताया है। पट्टावलीकारों द्वारा जिनभद्र को हरिभद्र का शिष्य माना जाना भ्रांत प्रतीत होता है। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हरिभद्र से बहुत पूर्व हुए हैं। दोनों में लगभग एक शताब्दी का अन्तराल है। टीकाकार हरिभद्र ने जिनभद्रगणी के अवतरणों का अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है, अतः जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण टीकाकार हरिभद्र के शिष्य नहीं हो सकते।

जीवन-वृत्त

आगम के मर्मज्ञ जिनभद्रगणी का जैन साहित्य के इतिहास में गरिमामय स्थान है। भाष्य के रूप में जैन समाज को आचार्य जिनभद्रगणी की महान् देन है।

---

१. सोतूण हेउवायं आगममेत्तावलंबिणो होउं।
सम्ममणुचिन्तणिज्जं किं जुत्तमजुत्तमेयंति ॥
(विशेषणवती)

२. (क) 'ओ देवधर्मोयं निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य'।
(ख) 'ओ निवृतिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य'।

"No more information is available about the life of this great Acharya."

प्राचीन जैन ग्रन्थों में महान् आचार्य जिनभद्रगणी के जीवन की अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं है और न ही उनके जन्म, माता-पिता, परिवार आदि की सूचना है। प्राचीन पट्टावलियों में उनका नाम भी नहीं है। विविध तीर्थ कल्प के १६वें पृष्ठ पर जिनभद्रगणी से सम्बन्धित एक उल्लेख है, वह इस प्रकार है[3]

"इत्थं देवनिम्मिअथूभे पक्खक्खमणेण देवयं आराहित्ता जिणभद्दखमासमणेहिं उद्ददेहिया भक्खिय पुत्थय पत्तणेण तुट्टं भग्गं महानिसीहं संधिअं।"

इस उल्लेखानुसार १५ दिन की दीर्घ तपःसाधना के द्वारा जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने मथुरा में देवनिर्मित स्तूप के अधिष्ठित देव की आराधना की। इसी देव की सहायता से उन्होंने कीटों द्वारा नष्टप्रायः महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया। यह घटना मथुरा से जिनभद्रगणी का सम्बन्ध सूचित करता है।

वल्लभी के जैन भण्डार में विशेषावश्यकभाष्य की एक प्रति है। वह शक सं. ५३१ में लिखी गई थी। इससे जिनभद्रगणी का वल्लभी के साथ किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अनुमानित होता है।

चूर्णिकार सिद्धसेनगणी ने जीतकल्प की चूर्णि के छह पद्यों (गा. ५-१०) के द्वारा जिनभद्रगणी के गुणों का भावपूर्ण शब्दों में व्याख्यान किया है। उसका सार संक्षेप इस प्रकार है

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण अर्थागम के धारक थे। वे युगप्रधान, ज्ञानी जनों में प्रमुख, श्रुतज्ञान में दक्ष तथा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग के विशिष्ट ज्ञाता थे। सुवास से आकृष्ट भ्रमर जैसे कमलों की उपासना करता है, उसी प्रकार ज्ञान मकरन्द के पिपासु मुनि जिनभद्रगणी के मुख से निःसृत ज्ञानामृत का पान करने के लिए उत्सुक रहते थे। स्वसमय-परसमय से सम्बन्धित आगम, लिपि गणित, छन्द और शब्दशास्त्र के विषयों पर प्रदत्त व्याख्यानों से उनका यश दसों दिशाओं में व्याप्त हो गया। उन्होंने अपने बुद्धिबल से आगमों का सार विशेषावश्यक भाष्य में निबद्ध किया। उन्होंने छेद सूत्रों के आधार पर प्रायश्चित्त के विधि-विधानों से सम्बन्धित जीतकल्प सूत्र की रचना की। इस प्रकार अनेक विशेषताओं के धनी, आगमवेत्ता, पर-समय-निपुण, संयमशील, श्रमणों के पथ का अनुगमन करने वाले क्षमाश्रमणों में अग्रणी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को मैं नमस्कार करता हूँ। सिद्धसेनगणी के इस वर्णन से जिनभद्रगणी के विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

क्षमाश्रमणजी के गुणानुवाद में सिद्धसेन की जीतकल्प चूर्णि के तीन चयनित पद्य इस प्रकार हैं

१. **"नमह य अणुओगधरं**
जुगप्पहाणं पहाणंनाणायमयं।
सव्व-सुइ-सत्थ-कमलं
दंसण-नाणोवओगमग्गम्मि ठियं॥"

२. **ससमय पर-समयागम-लिवि-**
णिगय-छन्द-सद्दनिम्माओ।
दससु वि दिसासु जस्स
य अणुओगे (अणुबमो) भणइ जसपडहो॥

३. **परसमयागम-निउणं सुसमिय-**
सुसमण-समाहिमग्गणमयं।
जिणभद्द खमासमणं
खमासमणाणं निहाणमिव एकं॥

मुनि चन्द्रसूरि ने वीर वचनों के प्रति अगाध निष्ठाशील जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को जिनमुद्रा के समान माना है

"वाक्यैः विशेषातिशयैर्विश्वसन्देहहारिभिः।
जिनमुद्रं जिनभद्रं किं क्षमाश्रमणं स्तुवे॥"

(अममचरित्र मुनिचन्द्र सूरि)

टीकाकार मलयगिरि ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को ज्ञान का समुद्र कहा है। उन्होंने लिखा है

---

3. विविध तीर्थकल्प, पृ. १६

तं नमत बोधजलधिं गुणमन्दिरमखिलवाग्मिनां श्रेष्ठम् ॥
(बृहत्क्षेत्र समास-वृत्ति)

जिनभद्रगणी आगम के अद्वितीय व्याख्याता थे। आचार्य हेमचन्द्र ने 'उपजिनभद्रक्षमाश्रमणाः व्याख्यातारः' *(शब्दानुशासन, सूत्र ३९)* कहकर जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के प्रति विशेष आदरभाव प्रकट किया है एवं व्याख्याकार आचार्यों में उनको उत्कृष्ट बताया है।

भाष्य एवं भाष्यकार आगम के व्याख्या ग्रन्थों में निर्युक्ति के बाद भाष्य का क्रम आता है। निर्युक्तियों की भांति भाष्य पद्यबद्ध प्राकृत में है। निर्युक्तियां सांकेतिक भाषा में निबद्ध हैं। पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना उनका मुख्य प्रयोजन है। निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य अर्थ को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत करते हैं। बहुत बार आगमों के गूढ़ार्थ को समझने के लिए निर्युक्ति एवं निर्युक्ति को समझने के लिए भाष्य का सहारा लेना पड़ता है। निर्युक्ति के पारिभाषिक शब्दों में गुंफित अर्थ बाहुल्य के प्रकाशनार्थ भाष्यों की रचना हुई, पर वे भी कहीं-कहीं संक्षिप्त होकर निर्युक्ति के साथ एक हो गए। अनेक स्थलों पर दोनों को पृथक् करना असम्भव सा लगता है।

वर्तमान में दो भाष्यकारों के नाम उपलब्ध होते हैं

(१) संघदासगणी (२) जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

स्वर्गीय मुनिश्री पुण्यविजयजी ने चार भाष्यकारों के होने का अनुमान किया है। उनके अभिमत से संघदासगणी और जिनभद्रगणी इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त तृतीय भाष्यकार व्यवहार भाष्य आदि के प्रणेता और चतुर्थ भाष्यकार बृहत्कल्प बृहत् भाष्य के प्रणेता हुए हैं।

भाष्य ग्रन्थ

भाष्यों की रचना निर्युक्तियों पर हुई है। कई भाष्यों का आधार मूलसूत्र भी है। भाष्य का उद्देश्य आगमों और निर्युक्तियों के प्रतिपाद्य को स्पष्ट करना था।

अब तक दस भाष्य उपलब्ध हैं

(१) आवश्यक-भाष्य
(२) दशवैकालिक-भाष्य
(३) उत्तराध्ययन-भाष्य
(४) बृहत्कल्प-भाष्य
(५) पंचकल्प-भाष्य
(६) व्यवहार-भाष्य
(७) निशीथ-भाष्य
(८) जीतकल्प-भाष्य
(९) ओघनिर्युक्ति-भाष्य
(१०) पिण्डनिर्युक्ति-भाष्य

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति पर जो भाष्य प्राप्त हैं, वे भाष्य अज्ञातकर्तृक हैं। प्रथम तीनों भाष्य परिमाण में बहुत छोटे हैं। उत्तराध्ययन भाष्य की ४५ गाथा, दशवैकालिक भाष्य की ६३ गाथा, पिण्डनिर्युक्ति भाष्य की ४६ गाथा हैं। इन लघुकाय भाष्यों को कण्ठाग्र भी किया जा सकता है। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं लघुभाष्य, वृहद् भाष्य। ओघनिर्युक्ति लघु भाष्य की ३२२ गाथाएं हैं। वृहद् भाष्य की २५१७ गाथाएं बताई गई हैं। लघु भाष्य पर द्रोणाचार्य की वृत्ति भी हैं। उत्तराध्ययन भाष्य की गाथाएं पाइय टीका में प्राप्त हैं। इसकी कई गाथाएं निर्युक्ति के साथ मिश्रित प्रतीत होती हैं।

दशवैकालिक भाष्य की गाथाएं हरिभद्रसूरि की टीका के साथ प्राप्त हैं।

व्यवहार भाष्य यह १० उद्देशकों में विभक्त है। इसके प्रारम्भ में विस्तृत पीठिका है। निक्षेप पद्धति के आधार पर व्यवहार और व्यवहारी का वर्णन है। पीठिका में व्यवहार को जानने वाले को ही गीतार्थ बताया है। व्यवहार भाष्य में आलोचना, प्रायश्चित्त, गच्छ, पदवी, विहार आदि विषयों का प्रतिपादन है। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार आदि के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है। व्यवहार भाष्य की ४६२९ गाथाएँ हैं।

निशीथ भाष्य जैन आचार संहिता और प्रायश्चित्त विधि का विस्तार से विवेचन निशीथ भाष्य में है। इस भाष्य में सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विविध विषयात्मक सामग्री है। शोध विद्यार्थी के लिए यह भाष्य विशेष उपयोगी है। निशीथ भाष्य की ६५०० गाथाएं हैं। यह भाष्य सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

संघदासगणी (वि. छठी शताब्दी) संघदासगणी के दो भाष्य उपलब्ध हैं वृहत्कल्प-लघुभाष्य और पंचकल्प-महाभाष्य।

वृहत्कल्प-लघुभाष्य वृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं लघुभाष्य और वृहद्भाष्य। वृहत्कल्प का वृहद्भाष्य उपलब्ध नहीं है। लघुभाष्य छः उद्देशकों में विभक्त है। इसकी गाथा संख्या ६४६० है। भाष्य के प्रारम्भ में ८०५ श्लोकों में विस्तृत पीठिका है। जैन श्रमणों की आचार चर्या के साथ ही सांस्कृतिक सामग्री भी इस लघुभाष्य में निहित है।

पंचकल्प-महाभाष्य इसकी रचना पंचकल्प निर्युक्ति पर है। इस भाष्य की २५७४ गाथाएं हैं। आर्य देशों और राजधानियों की सूचना इस ग्रन्थ में है।

वसुदेवहिण्डी के प्रथम खण्ड के प्रणेता संघदासगणी से भाष्यकार संघदासगणी भिन्न माने गए हैं।

भाष्यकार जिनभद्रगणी आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण विशिष्ट भाष्यकार हैं। भाष्यकारों में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने भाष्यसुधाम्भोधि, भाष्य पीयूष पाथोधि, भगवान् भाष्यकार, दुःषमान्धकार-निमग्न-जिनवचनप्रदीपप्रतिभ, संदेह-संदोह-शैल-शृंग-भंगदम्भोलि आदि का सम्बोधन देकर उच्चकोटिक भाष्यकार के रूप में जिनभद्रगणी का स्मरण किया है।

साहित्य

आचार्य जिनभद्रगणी के ६ ग्रन्थों की सूचना मिलती है

(१) विशेषावश्यक-भाष्य
(२) विशेषावश्यक-भाष्य-स्वोपज्ञ वृत्ति (अपूर्ण)
(३) वृहत्-संग्रहिणी
(४) वृहत्-क्षेत्र-समास
(५) विशेषणवती
(६) जीतकल्प
(७) जीतकल्प-भाष्य
(८) अनुयोगद्वार-चूर्णि
(९) ध्यान शतक।

इन ग्रन्थों में अनुयोगद्वार चूर्णि गद्यात्मक हैं, शेष रचनाएं पद्यात्मक हैं। विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति संस्कृत में है, अवशिष्ट रचनाएं प्राकृत में हैं। ध्यानशतक के कर्त्ता जिनभद्रगणी को मानने में विद्वान् संदिग्ध हैं।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का साहित्यिक क्षेत्र में भाष्य साहित्य को विशेष अनुदान है। उनके दो भाष्य उपलब्ध हैं विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प भाष्य।

विशेषावश्यक भाष्य आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य हैं। उनमें विशेषावश्यक भाष्य आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक सूत्र पर है। इसमें ३६०३ गाथाएं हैं। जिन प्रवचन को प्रकाशित करने के लिए यह दीपक के समान माना गया है।

नय, निक्षेप, प्रमाण, स्याद्वाद आदि दार्शनिक विषयों पर गूढ़ परिचर्चा, कर्मशास्त्र का सूक्ष्म प्रतिपादन, ज्ञानपंचक की भेद-प्रभेदों के साथ व्याख्या, शब्दशास्त्र का विस्तार से विवेचन तथा औदारिक आदि आठ प्रकार की वर्गणाओं के सम्बन्ध में नए तथ्य इस ग्रन्थ में हैं। जैन दर्शन के साथ दर्शनेतर सिद्धांतों का तुलनात्मक रूप भी इस कृति में प्रस्तुत है। इसमें गणधरवाद का सर्वांगपूर्ण विवेचन है। सिद्धों की विभिन्न अवस्थाओं का हृदयग्राही वर्णन है। सात निह्नवों के साथ आठवें निह्नव 'बोटिक' का उल्लेख है। 'बोटिक' निह्नव को दिगम्बर बताया गया है।

आचार्य सिद्धसेन ने केवलज्ञान, केवलदर्शन को युगपद् माना है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने आगमिक मान्यता का आधार देकर ज्ञान, दर्शन के युगपद् सिद्धान्त का खंडन किया है।

जिनभद्रगणी का मौलिक चिन्तन था। उन्होंने प्रत्येक प्रयोग के साथ अनेकांत और नय को घटित किया। परोक्ष की परिधि में परिगणित इन्द्रिय प्रत्यक्ष को संव्यवहार प्रत्यक्ष संज्ञा देने की पहल भी उन्होंने की। ये समग्र बिन्दु भाष्य साहित्य में अधिकांशतः हैं। शोध विद्यार्थियों के लिए यह कृति विशेष सहायक है।

इस भाष्य की महत्ता को प्रकट करते हुए अन्त में भाष्यकार लिखते हैं इस सामायिक भाष्य के श्रवण, अध्ययन, मनन से बुद्धि परिमार्जित हो जाती है। शिष्य

में शास्त्रानुयोग को ग्रहण करने की क्षमता आती है।

विशालकाय भाष्यसाहित्य में आचार्य जिनभद्र के विशेषावश्यक-भाष्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह जैन आगमों में बहुविध विषयों का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में जिनभद्रगणी की तर्क एवं व्याख्या शक्ति के दर्शन होते हैं।

जीतकल्प-भाष्य इस भाष्य की रचना जीतकल्प सूत्र पर हुई। जीतकल्प सूत्र की रचना भी स्वयं जिनभद्रगणी ने की है। सूत्र की गाथाएं १०३ और भाष्य की गाथाएं २६०६ हैं। भाष्य के प्रारम्भ में आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत इन पांच व्यवहारों का विस्तृत वर्णन है।

प्रायश्चित्त विधि का प्रतिपादन मुख्यतः जीत व्यवहार के आधार पर किया गया है। भाष्य में भाष्यकार का नाम नहीं है, पर विषय को विस्तार से जानने के लिए भाष्यकार ने **'हेट्ठावस्सए भणियं'** इस पद में 'आवश्यक' की सूचना दी है। इससे विशेषावश्यक के भाष्यकार ही इस भाष्य के रचनाकार सिद्ध होते हैं।[४]

टीकाकार तिलकाचार्य का उल्लेख है

जिनभद्रगणिं स्तौमि क्षमाश्रमणमुत्तमम्।
यः श्रुताम्भोजीतमुद्यद्ये शौरिः सिन्धोः सुधामिव ॥

(आवश्यकवृत्ति, तिलकाचार्य)

वृहत्कल्प-भाष्य, व्यवहार-भाष्य, पंचकल्प-भाष्य गाथाओं का संग्रह ग्रन्थ यह जीतकल्प भाष्य है। जिनभद्रगणी ने दो भाष्य लिखे थे। उनका यह दूसरा भाष्य है।

वृहत्संग्रहणी इसमें जैन दर्शन सम्मत जीवों की गति, स्थिति, देव-नारकों के उपपात-विमान-भवन, अवगाहन एवं मनुष्य तथा तिर्यंचों की आयु आदि का वर्णन है। यह एक तात्त्विक रचना है। ग्रन्थकार ने इस कृति का नाम संग्रहणी लिखा है।[५] कई जैनाचार्यों ने इस प्रकार की संग्रहणी कृतियों की रचना की है। उनकी अपेक्षा से यह ग्रन्थ पद्य परिमाण में विस्तृत है। इस हेतु इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि वृहत् संग्रहणी नाम से है।

इस ग्रन्थ पर आचार्य मलयगिरि की टीका है। टीका के प्रारम्भ में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण को नमस्कार किया गया है।[६] मलयगिरि के अनुसार इस ग्रन्थ की मूल गाथाएं ३५३ हैं।

इस ग्रन्थ पर आचार्य हरिभद्र की टीका भी है। यह जैन दर्शन के भूगोल-खगोल विषयक मान्यताओं का वर्णन करने वाला उत्तम संग्रह ग्रन्थ है।

वृहत् क्षेत्र समास इस ग्रन्थ के पांच प्रकरण एवं ६५६ गाथाएं हैं। जंबूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखंड, कालोदधि, पुष्करार्ध इन पांच प्रकरणों में जैन मान्यतानुसार द्वीपों तथा समुद्रों का वर्णन है। विषय के साथ गणितानुयोग भी चर्चित है। मलयगिरि आदि आचार्यों की इस पर टीकाएं हैं। क्षेत्र समास नाम की कई कृतियां हैं, उनमें 'वृहत् क्षेत्र समास' नाम से प्रसिद्ध कृति निर्विवाद रूप से जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की है। ग्रन्थकार ने अपने इस ग्रन्थ का नाम 'समय क्षेत्र समास' अथवा 'क्षेत्र समास प्रकरण' रखा पर अन्य कृतियों से वृहत् होने के कारण इस कृति की प्रसिद्धि 'वृहत् क्षेत्र समास' नाम से है।

विशेषणवती इस ग्रन्थ में आगम मान्यताओं को परिपुष्ट किया गया है इसलिए विशेषणवती नाम सार्थक है। जैन सिद्धान्त सम्मत विषयों का वर्णन और असंगतियों का निराकरण इस ग्रन्थ में है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार आगम और हेतुवाद में आगम प्रमुख है। आगम सर्वज्ञ की वाणी है, अतः आगम का स्थान सर्वोपरि है। हेतु और युक्तियों में आगम वाणी का निरसन करने का सामर्थ्य नहीं है। यह बात इस ग्रन्थ में बलपूर्वक कही गई है।[७]

---

४. जीतकल्प सूत्र की प्रस्तावना।

५. 'ता संग्रहणि त्ति नामेणं ॥गाथा १॥
(वृहत् संग्रहणी)

६. नमत जिनबुद्धितेजः प्रतिहतनिःशेषकुमतनतिमिरम्।
जिनवचनैकनिधण्णं जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणम्॥
(वृहत् संग्रहणी)

७. विशेषणवती पद्य २४७।

यह विशेषणवती ग्रन्थ ४०० पद्य परिमाण है। इसमें वनस्पति अवगाहन आदि विविध विषयों का वर्णन है। जैन कथा साहित्य के सुप्रसिद्ध प्राचीनतम कथा-ग्रन्थ वसुदेवहिण्डी का इस ग्रन्थ में उल्लेख है। वसुदेवहिण्डी गद्यात्मक एवं समासांत पदावलि में रचित एक विशिष्ट कृति है। ऐतिहासिक कथानकों का वह स्रोत है। जर्मन विद्वानों ने इसकी तुलना गुणाढ्य की वृहत्कथा से की है। परिशिष्ट पर्व की कथाओं का मूल स्रोत वसुदेवहिण्डी है। विशेषणवती ग्रन्थ में वसुदेवहिण्डी का उल्लेख होने के कारण उसकी (विशेषणवती) प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। केवलज्ञान और केवलदर्शन का युगपद् उपयोग मानने वाले सिद्धसेन दिवाकर की उक्त मान्यता का विशेषणवती ग्रन्थ में खण्डन किया है।

अनुयोग चूर्णि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अनुयोग चूर्णि की रचना अनुयोग सूत्र के अंगुल पद के आधार पर की थी। वर्तमान में यह चूर्णि जिनदास महत्तर की अनुयोग चूर्णि में एवं आचार्य हरिभद्र की अनुयोग टीका में उद्धृत है। स्वतन्त्र रूप से यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति आगम के विशिष्ट भाष्यकार आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की यह अन्तिम कृति विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ टीका है। विशेषावश्यक भाष्य आचार्य जिनभद्रगणि की प्राकृत रचना है। संस्कृत विज्ञ पाठकों के लिए इस प्राकृत ग्रन्थ पर संस्कृत टीका का निर्माण उन्होंने प्रारम्भ किया। षष्ठ गणधर व्यक्त तक टीका रचना के बाद भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वर्गवास हो गया था। अतः कोट्याचार्य ने अवशिष्ट टीका रचना को १३७०० श्लोक परिमाण में पूर्ण किया।[८]

भाष्यकार की स्वोपज्ञ टीका सरल एवं विविध सामग्री से परिपूर्ण है। टीका का प्रारम्भ भाष्य गाथाओं से हुआ है। जिनभद्र क्षमाश्रमण की भांति इस भाष्य के अवशिष्ट भाष्य पर कोट्याचार्य की टीका भी सरस एवं प्रसाद गुण सम्पन्न है।

आगमवाणी का मूर्त रूप जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आगमवाणी के मूर्त रूप थे। उनका जीवन आगममय ही था। उनका हर वाक्य आगम की कसौटी पर कसा हुआ होता था। उनके चिन्तन का हर पहलू आगमवाणी का अभिन्न अंग होता था। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भाष्यों की रचना की एवं आगमिक परम्परा को सुरक्षित रखा। आगमवादी आचार्यों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है।

समय-संकेत जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण गम्भीर ग्रन्थकार एवं श्रेष्ठ भाष्यकार थे। वर्तमान में उनकी ९ रचनाएं उपलब्ध हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं रचनाकाल सूचक संवत् संकेत नहीं किया है। जैसलमेर भण्डार से प्राप्त विशेषावश्यक भाष्य की प्रति के अन्त में दो गाथाएं दी गई हैं, वे इस प्रकार हैं

"पंचसता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स।
तो चेत्तपुण्णिमाए बुद्धिदिण सातिमि णक्खत्ते॥
रज्जे णु पालणपरे सी (लाइ) च्चम्मि णरवरिन्दम्मि।
बलभीणगरीए इमं महवि.....मि जिणभवणे॥"

पुरातत्त्ववेत्ता मुनिश्री जिनविजयजी के अभिमत से इन गाथाओं का तात्पर्य इस प्रकार है

विशेषावश्यक-भाष्य की रचना शक संवत् ५३१ (वि. ६६६) चैत्र शुक्ला पूर्णिमा बुधवार स्वाति नक्षत्र में पूर्ण हुई थी। उस समय वल्लभी में शिलादित्य का राज्य था।

इन गाथाओं के आधार पर मुनि जिनविजयजी ने विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल शक सं. ५३१ (वि. ६६६) मान्य किया है।

कई शोध विद्वान् मुनि जिनविजयजी के इस अभिमत से सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में इन गाथाओं का सम्बन्ध ग्रन्थ रचना से नहीं, ग्रन्थ के लेखन से है।

---

८. निर्मांप्य षष्ठगणधरव्यक्तं किल दिवंगताः पूज्या।
अनुयोगमार्य (ग) देशिकजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणाः॥
तानेव प्रणिपत्यातः परमवि (व) शिष्टविवरणं क्रियते।
कोट्टार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य॥गाथा १८६४॥
(विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ-वृत्ति)

ये दोनों गाथाएं जैसलमेर से प्राप्त विशेषावश्यक भाष्य की प्रति के अतिरिक्त अन्य किसी विशेषावश्यक भाष्य की प्रति में उपलब्ध नहीं हैं।

कोट्याचार्य एवं मलधारी हेमचन्द्र ने इस भाष्य पर टीकाएं रची हैं। इन टीकाओं में भी उक्त दोनों गाथाओं का उल्लेख नहीं है और इन पर टीका रचना का कार्य भी नहीं हुआ है। रचनाकार से इन गाथाओं का सम्बन्ध होता तो ये गाथाएं अवश्य ही विशेषावश्यक-भाष्य की प्रत्येक प्रति में मिलनी चाहिए एवं इन पर टीका रचना का कार्य भी होना चाहिए था।

कोट्याचार्य और मलधारी हेमचन्द्र विशेषावश्यक-भाष्य पर टीका रचना करते समय रचनाकार की इन गाथाओं को क्यों छोड़ते? इससे स्पष्ट है ये गाथाएं रचनाकार की नहीं हैं। इन गाथाओं में खंडित अक्षरों के स्थान पर मन्दिर शब्द मान लिया जाए तो इनका यह अर्थ भी सम्भव है विशेषावश्यक भाष्य की प्रतिलिपि तैयार कर शक सं. ५३१ (वि. ६६६) में जैसलमेर के मन्दिर में भेंट की गई है।

विशेषावश्यक-भाष्य के लेखन का समय वी. नि. ११३० (वि. ६६६) स्वीकार कर लेने पर रचनाकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण वि. ६६६ से आगे किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

जिनभद्रगणी ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना करने के बाद उस पर टीका रचने का कार्य भी प्रारंभ किया था, किन्तु टीका रचने का कार्य पूर्ण होने से पहले ही जिनभद्रगणी का स्वर्गवास हो गया था। टीका रचने के इस अपूर्ण कार्य को कोट्याचार्य ने पूर्ण किया था। इससे कई शोध विद्वानों का अनुमान है जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का उत्तरकाल वि. सं. ६५० तक सम्भव है।

५९. पुण्यश्लोक आचार्य पात्रकेशरी (पात्रस्वामी)

पात्रकेशरी दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। वे कवि एवं दर्शन-शास्त्र के प्रकांड विद्वान् थे। न्याय-विद्या पर भी उनका विशेष आधिपत्य था। प्रभावक आचार्यों की शृंखला में न्याय-विद्या को उजागर करने वाले स्वामी नाम से दो आचार्य प्रसिद्ध हुए हैं समन्तभद्र स्वामी और पात्रकेशरी स्वामी। इनका संक्षिप्त नाम पात्रकेशरी या पात्रस्वामी है।

गुरु-परम्परा

पात्रकेशरी की गुरु-परम्परा से सम्बन्धित विशेष सामग्री नहीं है। आराधना कथाकोष के अनुसार एक बार पार्श्वनाथ चैत्य में चारित्रभूषण मुनि के मुख से समन्तभद्र विरचित देवागम-स्तोत्र का पाठ पात्रकेशरी ने सुना और उस पर अर्थ-चिन्तन करते-करते उन्हें जैन-धर्म का बोध हो गया। इस दृष्टि से जैन-धर्म की उपलब्धि में निमित्त गुरु पात्रकेशरी के लिए चारित्रभूषण मुनि बने। चारित्रभूषण मुनि किस संघ या गण के थे तथा कौन-सी गुरु-परम्परा से सम्बन्धित थे इसका उल्लेख नहीं है।

बेल्लूर तालुका के संख्यक १७ के अभिलेख में पात्रकेशरी को द्रमिल संघ का प्रधान माना है। उनका नाम समन्तभद्र स्वामी के बाद आया है। पात्रकेशरी के उत्तरवर्ती नामों में क्रमशः वक्रग्रीव, वज्रनन्दी, अकलंक प्रभृति आचार्यों के नामों का उल्लेख है। इस अभिलेख से आचार्य पात्रकेशरी का सम्बन्ध द्रमिल संघ की गुरु-परम्परा से सिद्ध होता है।[1]

जन्म एवं परिवार

पात्रकेशरी का जन्म ब्राह्मण वंश में हुआ। उनका निवास-स्थान अहिच्छत्रनगर में था। अहिच्छत्र अपने समय का समृद्ध नगर था।[2] जैन इतिहास के अनुसार महत्त्वपूर्ण प्रसंग का बोध भी अहिच्छत्र नाम से होता है। यह घटना इस प्रकार है तीर्थंकर पार्श्वनाथ इस नगर में या इस नगर के आसपास कहीं पाषाणखंड पर ध्यान कर रहे थे। पूर्व वैर का स्मरण कर कमठ के जीव ने देव भव में बदला लेने की भावना से उन पर घनघोर वर्षा प्रारम्भ कर दी।[3] जिन मतानुरागी धरणेन्द्र देव ने उस समय तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मस्तिष्क पर नागफण का छत्र तान दिया था। तीर्थंकर के तेज से विघ्नकारक देव हतप्रभ हो गया। तत्पश्चात् तीर्थंकर पार्श्व को सर्वज्ञश्री की उपलब्धि हुई। नागफण से सम्बन्धित इस घटना के कारण नगरी का नाम अहिच्छत्र प्रसिद्ध हुआ। पात्रकेशरी का जन्म अहिच्छत्र नगर में हुआ या अन्यत्र? उनके माता-पिता कौन थे? इस सम्बन्ध में कोई संकेत उपलब्ध नहीं है। आराधना कथाकोष के अनुसार पात्रकेशरी अहिच्छत्र के निवासी थे।

जीवन-वृत्त

पात्रकेशरी वैदिक दर्शन के प्रकांड विद्वान् थे। अहिच्छत्र नगर में उस समय अवनिपाल का राज्य था।[4] नरेश अवनिपाल के राज्य में वेद-वेदांत के ज्ञाता, राज्य कार्य में सहयोग करने वाले ५०० विद्वान् रहते थे। उनके अध्यक्ष पात्रकेशरी थे। वे ब्राह्मण परम्परा में

---

१. तत्....त्येयमं सहस्रगुणमंडितसमन्तभद्रस्वामिगलुसन्दर सवीरं बालिकतदीय श्रीमद् द्रमिल संघाग्रेसरद अप्पपात्रकेशरि-स्वामि गलिवक्रग्रीवामि.... (बेल्लूर तालूका अभिलेख संख्यक १७)

२. निवासे सारसमृद्धे देशे श्रीमगधाभिधे।
अहिच्छत्रे जगच्चित्रे नागरै नगरे वई ॥१८॥
(आराधना कथाकोष)

३. "यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमं भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारं।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे, तेनैव तस्य जिन! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥३२॥ (कल्याण मन्दिर)

४. पुण्यादवनिपालाख्यो राजा राजकलान्वितः।
प्रांतं राज्यं करोत्पुण्यैर्विप्रैः पंचशतैर्व्रतः ॥१९॥
(आराधना कथाकोष)

प्रचलित संध्या-वंदना आदि क्रियाओं को निरन्तर निष्ठा से सम्पादित करते थे।[५] अवनिपाल के राज्य में विप्र-वंशाग्रणी पात्रकेशरी की नियुक्ति सम्भवतः महामात्य पद पर थी। ब्राह्मण समाज के सम्मानित एवं अहंकारी विद्वान् होते हुए भी स्थानीय पार्श्वनाथ मन्दिर में उनका आवागमन था। एक दिन उन्होंने पार्श्वनाथ के चैत्यालय में चारित्रभूषण मुनि के मुख से समन्तभद्र द्वारा विरचित देवागम-स्तोत्र का पाठ सुना। उन्हें पाठ अत्यन्त रुचिकर लगा। उन्होंने चारित्रभूषण मुनि से स्तोत्र पाठ का अर्थ जानना चाहा, पर अर्थ समझाने में चारित्रभूषण मुनि असमर्थ थे। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण उनसे एक बार पुनः स्तोत्र पाठ सुनकर पात्रकेशरी ने उसे कंठस्थ कर लिया। स्तोत्र गम्भीर था। उस पर पात्रकेशरी एकाग्रता से चिन्तन करने लगे। जैसे-जैसे उन्हें स्तोत्र-पाठ का अर्थ-बोध होता गया, वैसे-वैसे जैन धर्म के प्रति उनकी आस्था दृढ़ होती गई। स्तोत्र-पाठ का सम्पूर्ण अर्थ जान लेने के पश्चात् उन्हें जैन-धर्म का सम्यक् ज्ञान हुआ, पर अनुमान विषयक हेतु लक्षण में वे उलझ गए। पुनः-पुनः उसे समझने का प्रयत्न किया पर यथार्थ बोध नहीं हुआ। पैर में चुभे कांटे की तरह हेतु-लक्षण सम्बन्धी संदिग्धता उन्हें खलने लगी एवं उनके दिल को कचोटने लगी। चिन्तन करते-करते वे नींद में सो गए। रात्रि के समय पद्मावती देवी ने प्रकट होकर कहा "पण्डितवर्य! खिन्न मत बनो। तुम्हारी शंका का समाधान तुम्हें कल चैत्यालय में प्राप्त होगा।" देवी अदृश्य हो गई। प्रभात के समय पण्डित पात्रकेशरी उठे। चैत्यालय में गए। उन्हें पार्श्वनाथ मूर्ति के फण पर एक कारिका लिखी मिली। वह इस प्रकार थी

"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्॥"

इस कारिका को पढ़ लेने के पश्चात् हेतु के लक्षण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से उनकी समझ में आ गया। जैन दर्शन के प्रति उनके हृदय में अगाध आस्थाभाव जगा। विप्रवंशाग्रणी विद्वान् पात्रकेशरी द्वारा जैन-धर्म स्वीकार करने पर ब्राह्मण-समाज में ऊहापोह होना स्वाभाविक था, वह हुआ। चर्चाएं चलीं। जैन-धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या से पात्रकेशरी ने उनको निरुत्तर कर दिया। महामात्य पद का परित्याग कर पात्रकेशरी जैन मुनि बने एवं द्रमिल संघ के प्रभावक आचार्य हुए।

आचार्य जिनसेन ने आचार्य पात्रकेशरी की योग्यता को भट्ट अकलङ्क के समकक्ष माना है। उन्होंने आदिपुराण में लिखा है

भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेशरिणां गुणाः।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥१५३॥

भट्ट अकलंक, श्रीपाल और पात्रकेशरी इन आचार्यों के निर्मल गुण विद्वज्जनों के हृदय पर हार की तरह सुशोभित होते हैं।

कुछ वर्षों पूर्व विद्यानन्द का ही दूसरा नाम पात्रस्वामी या पात्रकेशरी समझा जाता था परन्तु वर्तमान में इतिहास गवेषक पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'विद्यानन्द और पात्रकेशरी' निबंध में दोनों की भिन्नता को विविध युक्तियों से साधार प्रमाणित किया है।

साहित्य

पात्रकेशरी गम्भीर दार्शनिक, तार्किक, न्यायविज्ञ आचार्य थे। उनकी साहित्यिक रचना में सन्तुलित तर्क प्रधान मेधा के साथ आस्थामय व्यक्तित्व की झलक मिलती है। वर्तमान में दो रचनाएं पात्रकेशरी की मानी गई हैं। उनका नाम और परिचय इस प्रकार है

त्रिलक्षण कदर्थन यह ग्रन्थ आचार्य पात्रकेशरी का

---

५. विप्रास्ते वेदवेदांगपारगाः कुलगर्विताः।
कृत्वा सन्ध्याद्वये संध्यावन्दनां च निरन्तरम् ॥२०॥
(आराधना कथाकोष)

उच्चकोटि का ग्रन्थ था। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है पर इस ग्रन्थ की कारिकाएं उत्तरवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में यत्र-तत्र उद्धरण रूप में मिलती हैं। इन कारिकाओं में पात्रकेशरी की प्रौढ़ दार्शनिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ की रचना बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग द्वारा स्थापित त्रिलक्षण हेतु के प्रतिवाद में हुई है।

बौद्धाचार्य दिङ्नाग ने हेतु के तीन लक्षण निर्धारित किए थे (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्ष सत्व, (३) विपक्ष व्यावृत्ति।

बौद्धों के त्रिलक्षणात्मक हेतु के स्थान पर पात्रकेशरी ने 'अन्यथानुपपन्नत्व' किसी दूसरे प्रकार से उत्पन्न न होना हेतु-लक्षण की यह व्याख्या उनका मौलिक चिन्तन था, जिसने न्यायविज्ञ विद्वानों को हेतु-लक्षण के विषय में पुनः चिन्तन करने को विवश कर दिया और कर्णगोभि जैसे उद्भट बौद्ध विद्वानों के ग्रन्थों में समालोचना का यह महत्त्वपूर्ण विषय बन गया।

श्रवणबेलगोल के संख्यक ५४वें अभिलेख में त्रिलक्षण कदर्थन ग्रन्थ का उल्लेख है, वह इस प्रकार है

महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत्।
पद्मावतिसहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥[६]

पात्रकेशरी गुरु की महिमा अपरम्पार है। उनकी भक्ति में नतमस्तक पद्मावती देवी 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ की रचना में सहायक बनी थी। लक्षण ग्रन्थ में पात्रकेशरी के लक्षण ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अमर कोषकार ने इनके लक्षण ग्रन्थ को अपश्चिम रत्न माना है।

टीकाकार अनन्तवीर्य ने स्वामी पद के साथ पात्रकेशरी का और उनकी त्रिलक्षण कदर्थन टीका का उल्लेख अपनी सिद्धिविनिश्चय नामक टीका में किया है।[७]

पात्रकेशरी स्तोत्र (जिनेन्द्र गुण संस्तुति) यह स्तोत्र पात्रकेशरी की लघु रचना है। इसके ५० पद्य हैं। प्रस्तुत कृति में जिनेश्वर देव के गुणों की स्तुति की गई है। अतः इस कृति का नाम जिनेन्द्र स्तुति भी है। जिन गुण स्तुति का उद्देश्य बताते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है

जिनेन्द्र! गुणसंस्तुतिस्तव मनागपि प्रस्तुता,
भवत्यखिलकर्मणां प्रहतये परं कारणम्।
इति व्यवसिता मतिर्मम ततोऽहमत्यादरात्,
स्फुटार्थनयपेशलां सुगत! संविधास्ये स्तुतिम् ॥१॥

जिनेन्द्र प्रभो! आपकी स्वल्प स्तुति भी अखिल कर्मों का नाश करने में परम निमित्त है इसलिए मैं अत्यन्त आदरभाव के साथ नयों से अलंकृत अर्थ परिपूर्ण स्तुति के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ।

प्रस्तुत श्लोकांतर्गत 'नयपेशलां' वाक्यावलि से यह स्तोत्र न्यायशास्त्र का उत्तम ग्रन्थ है।

इस कृति में पात्रकेशरी की वीतराग प्रभु के प्रति अटूट आस्था एवं दार्शनिक विचारों का अपूर्व समन्वय है। अर्हत् गुणों की पुष्टि नाना युक्तियों के आधार पर की गई है। आत्मकर्तृत्व, पुनर्जन्म आदि अनेक दार्शनिक दृष्टियों का सुंदर विवेचन है और जैन सिद्धांतानुरूप सर्वज्ञ सिद्धि वर्णन में नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि जैनेतर दर्शनों से सम्मत आप्त पुरुषों की सम्यक् समीक्षा है।

संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार अन्य की अभिव्यक्ति के लिए परस्मैपदी धातु प्रयोग और 'स्व' की अभिव्यक्ति के लिए आत्मनेपदी धातु का प्रयोग होता है। पात्रकेशरी ने अपने इस ग्रन्थ में स्वमत की स्थापना और परमत का निरसन करते समय स्थान-स्थान पर आत्मनेपदी धातु का प्रयोग किया है। स्वलक्ष्य सिद्धि में इस प्रकार के प्रयोग पात्रकेशरी के व्याकरण सम्बन्धी गम्भीर ज्ञान की सूचना देते हैं।

---

६. जैन शिलालेख संग्रह।

७. इत्यत्राह स्वामिनः पात्रकेसरिण इत्येके। कुत एतत्? तेन तद्विषयत्रिलक्षणकदर्थनम्.....।
(सिद्धिविनिश्चय टीका)

यह 'पात्रकेशरी स्तोत्र' पात्रकेशरी की प्रौढ़ रचना है। वर्तमान में संस्कृत टीका सहित यह स्तोत्र प्रकाशित है। टीका अज्ञातकर्तृक है।

समय-संकेत

पात्रकेशरी ने त्रिलक्षण कदर्थन ग्रन्थ में दिङ्नाग द्वारा स्थापित हेतु के त्रिलक्षण स्वरूप का निरसन किया है, अतः पात्रकेशरी बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग से उत्तरवर्ती हैं।

आचार्य अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ तथा न्यायविनिश्चय ग्रन्थ में, आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में पात्रकेशरी की कारिकाओं को उद्धृत किया गया है। भट्ट अकलङ्क का समय ई. सन् ७२० से ७८० (वि. ७७७ से ८३७) तथा विद्यानन्द का समय ई. सन् ७७५ से ८४० तक सिद्ध किया गया है।[८]

पात्रकेशरी की कारिकाओं का सबसे अधिक प्राचीन उल्लेख शान्तिरक्षित के तत्त्व संग्रह में पाया गया है। बौद्ध विद्वान् कर्णगोभि ने भी इन कारिकाओं की समीक्षा की है। शान्तिरक्षित का समय ई. सन् ७०५-७६३ है एवं कर्णगोभि का समय ई. ७वीं सदी का उत्तरार्द्ध एवं ८वीं सदी का पूर्वार्द्ध है।

दिङ्नाग से उत्तरवर्ती और तत्त्वसंग्रह रचनाकार शान्तिरक्षित से पूर्ववर्ती होने के कारण पात्रकेशरी का समय ईसा की छठी शताब्दी सम्भव है। यही समय स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री आदि शोध विद्वानों द्वारा अनुमानित है।[९]

८. सिद्धिविनिश्चय, प्रस्तावना।

९. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। (पृ. २३९)

(पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य)

६०. मुक्ति-दूत आचार्य मानतुंग

स्तोत्र काव्य में भक्तामर स्तोत्र उत्तम रचना है। भक्ति रस का यह छलकता निर्झर है। इस स्तोत्र के रचनाकार आचार्य मानतुङ्ग थे। वे अपने युग के प्रतिष्ठित कवि और यशस्वी विद्वान् थे। उनमें कवित्व शक्ति का विकास एवं उनका संस्कृत भाषा पर आधिपत्य था।

गुरु-परम्परा

आचार्य मानतुङ्ग ने श्वेताम्बर मुनि-दीक्षा और दिगम्बर मुनि-दीक्षा दोनों प्रकार की दीक्षा ग्रहण की थी। यह उल्लेख दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में प्राप्त है। प्रभावक चरित्र के अनुसार श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य मानतुङ्ग के दीक्षा गुरु अजितसिंह[1] और दिगम्बर परम्परा में उनके दीक्षा गुरु चारुकीर्ति थे।[2] आचार्य अजितसिंह और आचार्य चारुकीर्ति किस गण, गच्छ, परम्परा से सम्बन्धित थे इस सम्बन्ध का उल्लेख प्रभावक चरित्र ग्रंथ में नहीं है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य मानतुङ्ग का जन्म वाराणसी में हुआ। वे ब्रह्मक्षेत्रिय श्रेष्ठी धनदेव के पुत्र थे।[3] उनकी बहिन का सम्बन्ध वाराणसी निवासी लक्ष्मीधर श्रेष्ठी के साथ हुआ था।[4] मां और बहिन के नाम का उल्लेख नहीं है। लक्ष्मीधर श्रेष्ठी का आस्तिक जनों में शीर्षस्थ स्थान था।

जीवन-वृत्त

मानतुङ्ग का परिवार धार्मिक संस्कारों से संस्कारित था। धर्मनिष्ठ पिता धनदेव के योग से मानतुङ्ग को धार्मिक संस्कार प्राप्त हुए। जैन दिगम्बर मुनियों से प्रवचन सुनकर धीर, गम्भीर मानतुङ्ग को संसार से विरक्ति हुई। मां-बाप से अनुमति लेकर उन्होंने आचार्य चारुकीर्ति से दिगंबर मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में उनका नाम महाकीर्ति रखा गया। मुनि-चर्या में सजग महाकीर्ति एक दिन लक्ष्मीधर श्रेष्ठी के घर गोचरी को गए। लक्ष्मीधर श्रेष्ठी की पत्नी मानतुङ्ग की बहिन थी। वह श्वेताम्बर परम्परा को मानती थी। उसने मुनि के सामने श्वेताम्बर मुनि-चर्या का वर्णन किया।

बहिन से बोध प्राप्त कर महाकीर्ति मुनि ने दिगम्बर मुनि-चर्या का परित्याग कर श्वेताम्बराचार्य अजितसिंह के पास श्वेताम्बर मुनि दीक्षा स्वीकार की। श्वेताम्बर श्रमण बनने के बाद सम्प्रदाय-परिवर्तन के साथ सम्भवतः उनका नाम परिवर्तित हुआ। वे मानतुङ्ग से सम्बोधित होने लगे जो उनके गृहस्थ जीवन का नाम था।

गुरु के पास तपोविधि पूर्वक मुनि मानतुङ्ग ने आगम का अध्ययन किया। स्वल्प समय में वे आगम विज्ञ मुनियों की गणना में आने लगे। गुरु ने योग्य समझकर उनकी नियुक्ति सूरि पद पर की।[5] मानतुङ्गसूरि को गच्छ से विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। सरस्वती उन पर प्रसन्न थी। वे बुद्धि के धनी एवं कुशल काव्यकार थे।

---

१. अन्यदाऽजितसिंहाख्याः सूरयः पुरमाययुः ॥३३॥
(प्रभावक चरित, पत्रांक ११२)

२. तन्मातापितरौ पृष्ट्वाऽऽचार्यस्तस्य व्रतं ददौ।
चारुकीर्तिर्महाकीर्तिरित्यस्याख्यां ददौ च सः ॥१२॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११२)

३. ब्रह्मक्षत्रियजातीयो धनदेवाभिधः सुधीः।
श्रेष्ठी तत्राभवद् विश्वप्रजाभूपार्थसाधकः ॥६॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११२)

४. अस्य स्वसृपतिर्लक्ष्मीधरो लक्ष्मीवरस्थितिः ॥१७॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११२)

५. योग्यः सन् गुरुभिः सूरिपदे गच्छाद्भुतः कृतः ॥३८॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११३)

उस समय वाराणसी में राजा हर्षदेव का राज्य था।[६] निष्कलङ्क चरित्र का धनी, विद्वद्शिरोमणि हर्षदेव विद्वानों और कविजनों का विशेष आदर करता था। वेद, वेदांग के पारगामी विद्वान् मयूर और बाण नामक कवियों की चामत्कारिक विद्याओं के कारण राजा हर्षदेव की सभा में सम्मान था। पुरातन प्रबन्ध संग्रह एवं प्रभावक चरित्र के अनुसार मयूर श्वसुर था; बाण कवि दामाद था। प्रबन्ध-चिन्तामणि के अनुसार कवि बाण और मयूर साला-बहनोई थे।[७] किसी कारणवश बेटी या बहिन द्वारा दिये गये अभिशाप से पिता[८] अथवा भ्राता को[९] को कुष्ठ रोग हो गया। वस्त्र से शरीर को ढककर कवि मयूर राजसभा में उपस्थित हुआ, तब बहनोई बाण ने उनका उपहास किया। राजसभा में हुए अपमान से कवि मयूर दुःखी हुआ। वह घर आया। सूर्योपासना में बैठा। शार्दूलवृत्त में श्लोक रचना कर बोलने लगा। पांचवें श्लोक की रचना पूर्ण करते समय उसका कुष्ठरोग शान्त हो गया। उसके बाद उसने सूर्य स्तुति में शतक काव्य के रूप में पूर्व रचित पांच श्लोक सहित सौ पद्यों की रचना की। चण्डीशतक की रचना द्वारा चण्डीदेवी को प्रसन्न करने से बाण कवि के विच्छिन्न हाथ पैर यथोचित स्थान पर जुड़ गए।

हर्षदेव इन दोनों विद्वानों के मंत्र प्रयोगों से प्रभावित हुआ और बोला "आज चामत्कारिक विद्याओं का धनी ब्राह्मण वर्ग है। इनका अतिशय प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। किसी सम्प्रदाय में इन जैसा प्रभावक व्यक्ति हो तो मुझे सूचित करें।"

राजा हर्षदेव का मन्त्री जैन था। उसने राजा से नम्र निवेदन किया भूमिनाथ! यह धरा रत्नगर्भा है। इसके गर्भ में बहुमूल्य रत्नों के भण्डार भरे हैं। जैनों का भी चामत्कारिक विद्याओं पर आधिपत्य है। जैन विद्वान् प्रभाव-सम्पन्न श्वेताम्बराचार्य मानतुङ्ग आपकी नगरी में विराजमान हैं। आपकी जिज्ञासा को पूर्ण करने में वे समर्थ हैं। आप उनको सादर आमंत्रित करें।[१०] राजा ने मन्त्री को उन्हें सम्मानपूर्वक बुला लाने का निर्देश दिया। मन्त्री ने आचार्य मानतुङ्ग के पास जाकर समग्र स्थिति से उन्हें अवगत किया और कहा कृपा कर आप अपने चरणों से राजप्रांगण को पवित्र करें और चामत्कारिक विद्या के प्रयोग का प्रदर्शन करें।" आचार्य मानतुङ्ग बोले "समग्र सांसारिक कामनाओं से मुक्त मुनियों को इस प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नहीं है।" मन्त्री ने प्रार्थना की "मैं जानता हूं आप निस्संग और अनासक्त हैं, परन्तु जैन धर्म की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख है।" मन्त्री की युक्तिसंगत प्रार्थना को स्वीकार कर मानतुङ्ग राजसभा में पहुंचे और सबको धर्मलाभ देकर उचित स्थान पर बैठ गए। राजा हर्षदेव ने सम्मुखासीन आचार्य मानतुङ्ग से कहा "सन्त-श्रेष्ठ! इस पृथ्वी पर ब्राह्मण प्रभावशाली हैं

एकेन सूर्यमाराध्य स्वांगाद्रोगो वियोजितः।
अपरश्चंडिकासेवावशाल्लेभे करक्रमौ॥

एक ब्राह्मण पण्डित ने सूर्य की आराधना कर अपने शरीर से कोढ़ जैसे महारोग को नष्ट कर दिया, दूसरे पण्डित के विच्छिन्न हाथ-पैर चण्डिका देवी की उपासना करने से यथोचित स्थान पर जुड़ गए। ये अतिशय-प्रभावी विद्वान् ब्राह्मण आपके सामने हैं। अब आप भी अपनी मन्त्र विद्या का प्रभाव प्रदर्शित करें।"

---

६. तत्र श्री हर्षदेवाख्यो राजा न तु कलङ्कभृत् ॥५॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११२)

७. (क) तदनुरूपबाणनामानं कविमुद्वाहिता।
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. १५, पंक्ति २२)

(ख) कोविदानां शिरोरत्नं मयूर इति विश्रुतः ॥४२॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११३)

(ग) अथ मयूरबाणाभिधानौ भावुकशालकौ पण्डितौ।
(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ४४, पंक्ति १)

८. शशाप कोपाटोपेन पितरं प्रकटाक्षरम्। कुष्ठीभव.....॥६६॥
(प्रभावकचरित, पृ. ११४)

९. इति भ्रातृमुखात्तुर्यं पदमाकर्ण्य क्रुद्धा सा 'कुष्ठी भवे' ति तं भ्रातरं शशाप।
(प्रबंध चिन्तामणि, पत्राङ्क ४४, पंक्ति ६)

१०. मन्त्रिणोक्तम् जिनशासनेऽपि महाप्रभावोऽस्ति। यदि कौतुकं ततः श्री मानतुङ्गाख्यं सूरिमाकार्य विलोकय।
(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ. १६, पंक्ति १४, १५)

आचार्य मानतुङ्ग बोले 'भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति से निस्पृह मुनिजनों को लोक-रंजन से क्या प्रयोजन है? उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य मोक्ष की सिद्धि है।'

आचार्य मानतुङ्ग की बात सुनकर राजा हर्षदेव क्रोधित हो गया। राजा के आदेश से राजसेवकों ने लोह-शृंखला के ४४ निगड़ बंध से आपादकंठ मानतुङ्ग को बांधकर घोर तमिस्राच्छन्न अन्तर्गृह में बंद कर दिया।[११]

आचार्य मानतुङ्ग चामत्कारिक विद्याओं का प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। जैन-धर्म की दृष्टि से विद्याओं का प्रदर्शन अविहित माना गया है, पर जैन शासन की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख बन गया था। आचार्य मानतुङ्ग भगवान ऋषभ की स्तुति में लीन हो गए। भक्ति रस से परिपूर्ण ४४ श्लोक रचे। प्रति श्लोक के साथ अयोमयी शृंखला की सघन कड़ियां ढीली होती गईं और ताले टूटते गए।[१२] सुधीर, गम्भीर आचार्य लौह-शृंखला से मुक्त होकर राजसभा में उपस्थित हुए। उन्होंने शान्त और सुमधुर स्वरों में भूपाल को धर्म-लाभ (आशीर्वचन) दिया। प्रभात के समय उदयगिरि शिखर पर उदीयमान सूर्य के तुल्य मानतुङ्ग का तेजोदीप्त भाल दर्शकों को आकर्षित कर रहा था।

इस विस्मयकारक घटना से नरेश हर्षदेव अत्यन्त प्रभावित हुआ और बोला "मुने! आपका समताभाव, समर्पण भाव अद्भुत है। मैं धन्य हूं, मेरा देश धन्य है और मेरा आज का दिवस धन्य है। आप जैसे त्यागी सन्त पुरुषों के दर्शन का शुभ लाभ मुझे प्राप्त हुआ है। आज से मैं आपके उपदेश को स्वीकार करता हूं। विष-तुल्य पदार्थ का परित्याग कर स्वादिष्ट द्रव्य को ग्रहण करता हूं। आप मेरा मार्गदर्शन करें और सद्-शिक्षाओं के सुधा-पान से तृप्त करें।" आचार्य मानतुङ्ग के पावन उपदेश से नरेश हर्षदेव ने जैन शासन की उन्नति के लिए अनेक कार्य किए और स्वयं ने जैन-धर्म स्वीकार किया।[१३]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महाकवि आचार्य मानतुङ्ग श्वेताम्बर थे। एक दिगम्बराचार्य द्वारा व्याधि मुक्त होने पर उन्होंने दिगम्बर मार्ग का अनुसरण किया और प्रश्न पूछा **'भगवन्! किं क्रियताम्'** (मैं क्या करूं?) गुरु ने आज्ञा दी **परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयताम्'** (परमात्मा के गुणों के स्तोत्र की रचना करो।) आचार्य का आदेश प्राप्त कर मुनि मानतुङ्ग ने भक्तामर स्तोत्र की रचना की। यह उल्लेख दिगम्बर विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र रचित 'क्रियाकलाप' टीका के अन्तर्गत भक्तामर स्तोत्र टीका की उत्थानिका में है। वह उत्थानिका इस प्रकार है

'मानतुङ्गनामा सिताम्बरो महाकविः निर्ग्रंथाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रंथमार्गो भगवन्! किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्रविधीयतामित्यादिष्टः भक्तामरेत्यादि।'

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आचार्य मानतुङ्ग ने पहले दिगम्बर और बाद में श्वेताम्बर दीक्षा ग्रहण की। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वे पहले श्वेताम्बर बाद में दिगम्बर बने। एक ही व्यक्ति के जीवन प्रसंग को लेकर दोनों परम्पराओं में विसंगति और विपर्यय कैसे हुआ? इसके पीछे किसी प्रकार की भूमिका अवश्य रही है। भक्तामर स्तोत्र से सम्बन्धित इस चामत्कारिक घटना के

---

११. ततो राज्ञा तस्मिं आपादमस्तकं चतुश्चत्वारिंशल्लोहशृङ्खलाभिर्नियंत्र्यापवरके क्षिप्त्वा तालकं दत्वा मोचिताः।
(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ. १६, पंक्ति १८, १९)

१२. ततो भक्तामरस्तवः कृतः। एकैकवृत्तपाटे एकैकनिगडभङ्गे निगडसंख्यया वृत्तभणनम्। सूरयो मुक्तता जाताः। तालकं भग्नम्।
(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ. १६, पंक्ति १९, २०)

१३. राज्ञाऽनेकस्तुतिं कृत्वा सविनयं नत्वा कृत्यादेशेन प्रसीदत। सूरिणोक्तम् अस्माकं कापीच्छा नहि। परं तव हिताय ब्रूमः जिनधर्मं प्रपद्यस्व। राजाऽङ्गीचकार।
(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ. १६, पंक्ति २१, २२)

कारण आचार्य मानतुङ्ग का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली हो गया था जिससे इस स्तोत्र रचना प्रसंग के साथ दोनों सम्प्रदायों ने उन्हें अपना मानने का प्रयत्न किया है।

जिन शासन में मानतुङ्ग धर्म के अतिशय उद्द्योतक आचार्य हुए। उन्होंने अपने शिष्यों को अनेक प्रकार से बोध देकर योग्य बनाया। गुणाकर नामक शिष्य को अपने पद पर स्थापित कर वे इंगिनी अनशन के साथ स्वर्ग पधारे।[१४]

साहित्य

आचार्य मानतुङ्ग की प्रखर प्रतिभा थी। उनकी काव्य रचना-शक्ति विलक्षण थी। उन्होंने विशाल काव्य नहीं लिखे, पर उनकी रचना का प्रत्येक श्लोक उच्च कोटि का है। श्लोक की प्रत्येक पंक्ति से भक्तिरस का निर्झर झलकता है। वर्तमान में आचार्य मानतुङ्ग की दो रचनाएं उपलब्ध हैं १. भक्तामर स्तोत्र और २. भयहर स्तोत्र।

इन दोनों रचनाओं का परिचय इस प्रकार है

भक्तामर-स्तोत्र संस्कृत भाषा का यह सुमधुर काव्य है। भक्तामर इस वाक्यावली से प्रारम्भ होने के कारण स्तोत्र का नाम भक्तामर है। इस स्तोत्र की रचना 'वसन्ततिलका' छन्द में हुई है। दिगम्बर परम्परा में इस स्तोत्र की पद्य संख्या ४८ है। श्वेताम्बर परम्परा में पद्य संख्या ४४ और ४८ दोनों मान्य हैं। स्तोत्र में पद्यों की संख्या ४४ मानने वाले प्रतिहार्य बोधक पद्यों से सम्बन्धित ४ पद्यों को छोड़ देते हैं। रचना का मुख्य प्रतिपाद्य आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की स्तवना है। भाव, भाषा, शैली तीनों दृष्टियों से रचना प्रभावक और गम्भीर है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि विविध अलंकार इसमें समाहित हैं। स्तोत्र की पद्य रचना का प्रत्येक चरण असाधारण भक्ति का मूर्तरूप है। आचार्य सिद्धसेन रचित 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' का प्रभाव इस पर स्पष्ट दिखाई देता है। कहीं-कहीं कल्पनाओं में और शब्द संयोजनाओं में अत्यन्त निकट का साम्य है।

कल्याणमन्दिर बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ॥५॥
भक्तामर बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥
कल्याणमन्दिर आस्तामचिन्त्यमहिमाजिन! संस्तवस्ते,
नामाऽपि पाति भवतो जगन्ति ॥७॥
भक्तामर आस्तां तव स्तवनमस्त-समस्त-दोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ॥६॥

कल्याणमन्दिर स्तोत्र के साथ पार्श्वनाथ के बिम्ब-स्फोटन जैसी चामत्कारिक घटना सम्बद्ध है। भक्तामर स्तोत्र भी इसी प्रकार अतिशय चामत्कारिक है। इसके साथ भी कई चामत्कारिक आख्यान और कथाएं सम्बद्ध हैं। भक्तामर स्तोत्र का एक पद्य है

आपाद-कण्ठमुरु-शृंखल-वेष्टितांगा,
गाढं बृहन्निगडकोटि-निघृष्टजंघाः।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबंधभया भवन्ति ॥४२॥

इस पद्य में आचार्य मानतुङ्ग के जीवन का चामत्कारिक प्रसंग स्वयं सजीव होकर बोल रहा है।

प्रस्तुत पद्य के आधार पर ही सम्भवतः आचार्य मानतुङ्ग के स्तुति-पाठ से लोह शृंखलाएं टूटने की घटना भक्तजनों के दिमाग में उतरी होगी। इस स्तोत्र का एक और पद्य है

उद्भूत-भीषण-जलोदर-भारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः।
त्वत्पाद-पंकज-रजोऽमृत-दिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वज-तुल्यरूपाः ॥४१॥

रुग्णावस्था में इस पद्य का विधिवत् पुनः-पुनः पाठ करने पर व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ होता है, ऐसा माना गया है।

---

१४. इत्थं प्रभावनां कृत्वाऽन्तसमयं प्राप्य श्रीगुणाकरसूरिं न्यस्य पदेऽनशनमरणेन सूरयो दिवं ययुः।
(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ. १६, पंक्ति ३१, ३२)

आज भी यह स्तोत्र विद्यमान है।[15] पूरे जैन समाज पर इस विघ्न-विनाशक स्तोत्र का प्रभाव है। सहस्रों श्रमण-श्रमणियां, उपासक-उपासिकाएं इस स्तोत्र को कण्ठस्थ करते हैं, निरन्तर स्वाध्याय करते हैं। संकटकाल में श्रद्धा के साथ पुनः-पुनः इसका पाठ करते हैं। भक्तिरस से ओत-प्रोत इस स्तोत्र के प्रत्येक पद्य के किसी एक चरण के आधार पर, विशेषतः प्रथम चरण के आधार पर कई कवियों ने समस्या-पूर्त्यात्मक नये स्तोत्र तैयार किए। कई विद्वानों ने टीकाएं रचीं। कई विद्वानों ने संस्कृत और हिन्दी में पद्यानुवाद किए हैं। आचार्य मानतुङ्ग का यह एक ऐसा स्तोत्र है जिससे प्रथम तीर्थंकर के साथ सभी तीर्थंकरों की स्तुति का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। इसका प्रत्येक श्लोक प्रभावशाली मंत्र के समान है।

भयहर स्तोत्र यह स्तोत्र आचार्य मानतुङ्ग की प्राकृत रचना है। इस स्तोत्र के २१ पद्य हैं। स्तोत्र में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति है। स्तोत्र रचना के साथ एक विशेष प्रसंग जुड़ा हुआ है, वह इस प्रकार है

एक बार आचार्य मानतुङ्ग अस्वस्थ हो गए। शलाका पुरुषों को भी कर्मों का दारुण विपाक भोगना पड़ता है। रोगोपशान्ति न होने पर आचार्य मानतुङ्ग ने अनशन की सोची। धरणेन्द्र का स्मरण किया। धरणेन्द्र ने प्रकट होकर १८ अक्षरों का एक मन्त्र उन्हें दिया। उन मन्त्राक्षरों के आधार पर आचार्य मानतुङ्ग ने भयहर नामक स्तवन की रचना की। वह स्तवन आज भी विद्यमान है। उस मन्त्र के प्रभाव से मानतुङ्गसूरि रोगमुक्त हो गए।[16]

भक्तामर स्तोत्र की तरह यह स्तोत्र भी चामत्कारिक और विपत्ति के समय में धैर्य प्रदान करने वाला है। सायं प्रातः शुभाशय से इस स्तोत्र का पाठ करने पर विविध प्रकार के उपसर्ग दूर होते हैं।[17]

भक्तामर स्तोत्र हो या भयहर स्तोत्र किसी भी अध्यात्म परक स्तोत्र या ग्रन्थ का भौतिक उपलब्धि के लिए नहीं, आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से पाठ करना सर्वोत्तम है।

आचार्य मानतुङ्ग ने भौतिक कामना की सिद्धि के लिए स्तुति काव्यों की रचना नहीं की, परन्तु उनकी अगाध आस्था का परिणाम था। परमात्म-भक्ति में लीन होकर श्लोक रचना करने से उनकी अयोमयी शृंखलाओं के बन्धन टूट गए। वे बाह्य बन्धन से मुक्त हुए। साथ ही जन्म-जन्मान्तर की पाशबद्धता को शिथिल और जर्जरित करने में आचार्य मानतुङ्ग सफल हुए।

समय-संकेत

प्रभावक चरित्र में आचार्य मानतुङ्ग को काशी नरेश हर्षदेव के समकालीन माना गया है। प्रबन्ध चिन्तामणि में उन्हें भीम और भोज के समकालीन तथा ब्रह्मचारी पायमल्लकृत भक्तामर वृत्ति, भट्टारक विष्णुभूषण कृत 'भक्तामर चरित' कथा आदि ग्रन्थों में उन्हें भोज के समकालीन माना है। इन दोनों ग्रन्थों के अनुसार आचार्य मानतुङ्गसूरि ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से लोहमयी ४८ जंजीरों को तोड़कर नरेश भोज को प्रभावित किया था, उसे जैन-धर्म का अनुयायी बनाया था।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में कालिदास, भारवि, माघ, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, धनञ्जय, वररुचि आदि विद्वानों का उल्लेख भी हुआ है। ऐतिहासिक सन्दर्भ में इन सब विद्वानों का एक साथ योग कालक्रम की दृष्टि से ठीक प्रतीत नहीं होता, न इनके जीवन का कोई भी प्रसग

---

१५. सर्वोपद्रवनिर्नाशी 'भक्तामर' महास्तवः।
तदा तैर्विहितः ख्यातो वर्ततेऽद्यापि भूतले ॥१५७॥
(प्रभा. च., पृ. ११७)

१६. सूरयः सर्वोपद्रवहरं तन्मन्त्रगर्भितं भयहरस्तवं कृत्वा पुनर्नवतां प्राप्ताः।
(पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, पृ. १६, पंक्ति २५, २६)

१७. सायं प्रातः पठेदेतत् स्तवनं यः शुभाशयः।
उपसर्गा व्रतन्त्यस्य विविधा अपि दूरतः ॥१६४॥
(प्रभा. च., पृ. ११७)

आचार्य मानतुङ्ग के जीवन के साथ सम्बद्ध है, अतः आचार्य मानतुङ्ग को भोज के समकालीन प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

डॉ. ए. बी. कीथ के अभिमत में आचार्य मानतुङ्ग की कोठरियों के ताले या पाशबद्धता संसार बन्धन का रूपक है। इस प्रकार के रूपकों का निर्माण समय छठी-सातवीं शताब्दी है। इस आधार पर स्वर्गीय डॉक्टर नेमिचन्द्र शास्त्री ने भक्तामर स्तोत्र के रचनाकार का समय विक्रम की छठी सदी का उत्तरार्द्ध या सातवीं सदी का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया है।[१८]

आचार्य मानतुङ्ग के चामत्कारिक प्रसंग का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में कवि मयूर और बाण से अवश्य जुड़ा है। ये दोनों विद्वान् हर्ष की सभा में थे। इससे आचार्य मानतुङ्ग की समसामयिकता भी नरेश हर्षवर्द्धन के साथ प्रमाणित होती है। हर्ष का राज्याभिषेक-समय ईस्वी सन् ६०८-६४८ बताया गया है।

हर्ष के समकालीन होने के कारण मानतुङ्गाचार्य का समय वी. नि. १२वीं (वि. ७वीं) शताब्दी सम्भव है।

---

१८. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ. २७३।

६१. कोविद-कुलालङ्कार आचार्य भट्ट अकलङ्क

भट्ट अकलङ्क दिगम्बर परम्परा के कुशल वाग्मी, श्रेष्ठ कवि, शास्त्रार्थ-प्रवीण एवं गम्भीर दार्शनिक विद्वान् थे। वे जैन न्याय के प्राण-प्रतिष्ठापक थे। वे शास्त्रविज्ञ आचार्यों में अग्रणी थे। श्रवणबेलगोल के संख्यक १०८ के अभिलेख में भट्ट अकलङ्क के लिए लिखा है

ततः परं शास्त्रविदांमुनीना
मग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः
प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः ॥१८॥

प्रस्तुत अभिलेख में भट्ट अकलङ्क के वचनों को मिथ्यात्व अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य रश्मियों के समान प्रकाशक माना है।[1]

भट्ट अकलङ्क महान् तार्किक थे एवं परमत निरसन में वे पञ्चानन के तुल्य निर्भीक थे। आचार्य प्रभाचन्द्र लिखते हैं

इत्थं समस्त मतवादिकरीन्द्रदर्प
मुन्मूलयन्नमलमानदृढ़प्रहारैः।
स्याद्वाद-केसरजटाशततीव्रमूर्तिः
पञ्चाननो जयत्यकलङ्कदेवः ॥

(न्याय कुमुदचन्द्र)

गुरु-परम्परा

भट्ट अकलङ्क के दीक्षा गुरु कौन थे? उन्होंने किस गुरु-परम्परा में दीक्षा ली, इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। राजवलिकथे में उनको सुधापुर के देशीय गण के आचार्य पद पर सुशोभित माना है। इस आधार पर भट्ट अकलङ्क की गुरु-परम्परा देशीय गण से सम्बन्धित प्रतीत होती है। नेमिदत्त के आराधना कथाकोष में भट्ट अकलङ्क के पिता पुरुषोत्तम कुटुम्ब सहित रविगुप्त मुनि के पास गए थे।[2] इससे प्रतीत होता है गृहस्थ जीवन में भट्ट अकलङ्क का और उनके परिवार का सम्बन्ध गुरु रविगुप्त से था पर ये रविगुप्त स्वयं किस परम्परा से जुड़े हुए थे, इसका कोई उल्लेख नहीं है।

जन्म एवं परिवार

भट्ट अकलङ्क का जन्म 'राजवलिकथे' नामक ग्रन्थ के अनुसार कांची निवासी ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम जिनदास एवं माता का नाम जिनमती था। प्रभाचन्द्र के कथाकोष एवं नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष के अनुसार भट्ट अकलङ्क के पिता का नाम पुरुषोत्तम एवं माता का नाम पद्मावती था। पुरुषोत्तम मान्यखेट नरेश शुभतुङ्ग के राज्य में मन्त्री थे।[3] भट्ट अकलङ्क के लघुभ्राता का नाम निष्कलङ्क था। तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय की प्रशस्ति के अनुसार भट्ट अकलङ्क [illegible]वतः लघुहव्व नरेश के ज्येष्ठ पुत्र थे।[4] लघुहव्व जैसे [illegible] का प्रयोग अकलङ्क के दक्षिण-निवासी होने का सूचक है।

जीवन-वृत्त

अकलङ्क और निष्कलङ्क युगल भ्राता असाधारण बुद्धि के स्वामी थे। अकलङ्क एकसन्धि और निष्कलङ्क द्विसन्धि (संस्थ) थे।[5] किसी पद्य अथवा सूत्र पाठ को

---

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग-१

२. पितृभ्यां रविगुप्ताख्यं नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम् ॥४॥
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव कथा)

३. अत्रैव भारते मान्यखेटाख्यनगरे वरे।
राजाऽभूच्छुभतुङ्गाख्यस्तन्मन्त्री पुरुषोत्तमः ॥२॥
सञ्जातावकलङ्काख्यनिष्कलङ्कौ गुणोत्वली ॥३॥
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव कथा)

४. जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविधः प्रशस्तजनहृयः ॥
(तत्त्वार्थवार्तिक प्रशस्ति)

५. एकसंस्थोऽकलङ्काख्यदेवोऽभूत्तद्विषक्षणः ॥१८॥
निष्कलङ्को द्विसंस्थश्च चित्ते तच्चिन्तयत्परम् ॥१९॥
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव कथा)

अकलङ्क एक बार सुनकर और निष्कलङ्क दो बार सुनकर याद रखने में समर्थ थे। एक बार दोनों भ्राता माता-पिता के साथ जैन गुरु रविगुप्त के पास अष्टाह्निक पर्व अवसर पर गए। उनके उपदेश से प्रभावित होकर माता-पिता एवं बन्धु-युगल ने ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया।[६] दोनों के वयस्क होने पर उनके माता-पिता ने उनको वैवाहिक सूत्र में बांधना चाहा पर वे दोनों बालवय में ग्रहण की हुई ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा में दृढ़ थे। उन्होंने विवाह का प्रस्ताव नामंजूर कर दिया। माता-पिता ने समझाया "पुत्रो! वह व्रत तुम्हारे लिए आठ दिन का था, अतः उस प्रतिज्ञा से अब तुम मुक्त हो। इस समय विवाह करने से उस समय की गृहीत प्रतिज्ञा में किसी भी प्रकार के दोष का नहीं है।" पिता की बातों को दोनों पुत्रों ने सुना, पर उनके विचारों में परिवर्तन नहीं हुआ। वे विनम्र होकर बोले "पूज्य पितृवर्य! जिस समय व्रत ग्रहण किया था उस समय काल की कोई चर्चा नहीं थी[७] अतः हम जीवन भर के लिए इस व्रत को निभाएंगे।" माता-पिता का प्रयत्न असफल रहा। वे दोनों में से एक पुत्र को भी वैवाहिक सूत्र में न बांध सके।

अकलङ्क और निष्कलङ्क की अध्ययन के प्रति गहरी रुचि थी। दोनों भाइयों ने कांचीपुरी में बौद्ध धर्म के संरक्षक पल्लव राजा के राज्य में बौद्ध विद्यालय में न्याय दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया। नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष के अनुसार दोनों तर्कशास्त्र का अध्ययन करने के लिए महाबोधि विद्यालय में प्रविष्ट हुए[८] और एकनिष्ठा से अध्ययन करने लगे। 'राजवलिकथे' के अनुसार अकलङ्क और निष्कलङ्क युगल बन्धुओं ने भगवद्दास नामक बौद्ध गुरु से अध्ययन प्रारम्भ किया था। भगवद्दास गुरु के मठ में पांच सौ शिष्य पढ़ते थे। उस समय सम्भवतः अपने आस-पास जैनों का विद्यापीठ न होने के कारण एवं जैनों और बौद्धों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण अकलङ्क और निष्कलङ्क को वहां बौद्ध विद्यालय में प्रविष्ट होना पड़ा तथा गुप्त वेश में रहना पड़ा। युगल बन्धुओं की असाधारण बौद्धिक क्षमता को देखकर अथवा 'ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्गः' यह जैन वाक्य इन छात्रों द्वारा किसी पत्र पर लिखा हुआ पढ़कर गुरु भगवद्दास को उन पर जैन होने का सन्देह हुआ। एक बार रात्रि के समय विभीषिका उत्पन्न करने के लिए दोनों बन्धुओं के सीने पर बुद्ध के दांत शिक्षक भगवद्दास ने रख दिए। दोनों बन्धुओं ने अपने सामने सहसा कोई उपसर्ग उत्पन्न हुआ जानकर उच्च ध्वनिपूर्वक जिन बुद्ध का स्मरण किया। जिनेश्वर का नाम सुनते ही उनके जैन होने का रहस्य खुल गया।

आराधना कथाकोष के अनुसार बौद्ध छात्रों को पूर्व पक्ष के रूप में अनेकान्त के अन्तर्गत सप्तभङ्गी सिद्धान्त समझाया जा रहा था। पाठ अशुद्धि के कारण अर्थ-बोध सम्यक् प्रकार से बुद्धिगम्य नहीं हो सका।[९] अतः उस दिन का अध्ययन स्थगित कर दिया गया। रात्रि के समय इन बन्धुओं ने वह पाठ शुद्ध कर दिया।[१०] दूसरे दिन अध्ययनकाल में शुद्ध पाठ को देखते ही धर्म गुरुओं को

---

६. नन्दीश्वरे महाष्टम्यामेकदा परया मुदा।
पितृभ्यां रविगुप्ताख्य नत्वा भक्त्या मुनीश्वरम्॥४॥
गृहीत्वाऽष्टदिनान्युच्चैर्ब्रह्मचर्यं सुशर्मदम्।
क्रीडया पुत्रयोश्चापि दापितं तद्व्रतं महत् ॥५॥
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव देवकथा)

७. इत्याकर्ण्य पितुर्वाक्यं पुत्रौ तावूचतुः पुनः।
आवयोर्न कृता तात! मर्यादाष्टदिनैस्तथा ॥११॥
(आ. कथाकोष)

८. धृत्वा ततो महाबोधिस्थानं गत्वा गुणाकरौ।
बौद्धमार्गपरिज्ञातुर्धर्माचार्यस्य सन्निधौ ॥१५॥
(आ. कथाकोष)

९. व्याख्यानं कुर्वतस्तस्य श्रीमज्जैनेन्द्रभाषिते।
सप्तभङ्गीमहावाक्ये कूटत्वात्संशयोऽजनि ॥२०॥
(आ. कथाकोष)

१०. व्याख्यानमथ संकृत्य व्यायामं स गतस्तदा।
शुद्धं कृत्वाशु तद्वाक्यं धृतवानकलङ्कधाक् ॥२१॥
(आ. कथाकोष)

बौद्ध छात्रों में किसी जैन के होने का सन्देह हुआ।[11] खोज प्रारम्भ हुई। एक दिन बौद्ध शिक्षकों ने सब छात्रों को जैन मूर्ति को लांघने का आदेश दिया। अकलङ्क और निष्कलङ्क के सामने समस्या पैदा हुई। उन्होंने चतुराई से काम लिया। मूर्ति पर स्फूर्ति से रेखा खींचकर या धागा बांधकर युगल बन्धु आगे बढ़ गए। इस परीक्षा में वे किसी की पकड़ में न आए। बौद्ध गुरुओं ने खोज का दूसरा प्रकार ढूंढा। रात्रि में एक बार कांस्य बर्तनों का भरा थैला ऊपर से नीचे गिराया। भीषण आवाज को सुनते ही अचानक छात्र जाग गए। अपने-अपने इष्ट देवों का स्मरण करने लगे। इन दोनों भाइयों ने विघ्नहारक नमस्कार महामन्त्र का उच्चारण किया।[12] इस महामन्त्र को सुनते ही बौद्धों ने उन्हें घेर लिया और मठ की ऊपरी मंजिल पर कारागृह में बन्द कर दिया। किसी प्रकार से दोनों वहां से पलायन करने में सफल हो गए। अश्वारोही व्यक्तियों ने बौद्ध गुरुओं के आदेश से उनका पीछा किया। अपने पीछे दौड़ते हुए घुड़सवारों को देखकर निष्कलङ्क ने अकलङ्क से कहा "बन्धुवर्य! मेरे से आपकी बुद्धि अधिक प्रखर है। अतः मैं भागता हूं किसी प्रकार से आप अपने प्राण बचाएं। अकलङ्क ने तालाब में घुसकर एवं कमल पत्रों से अपने को आच्छादित कर प्राणों की रक्षा की। उस समय तालाब के किनारे धोबी कपड़ों की धुलाई कर रहा था। निष्कलङ्क को भागते देखकर वह धोबी भी उसके साथ घुड़सवारों के डर से भागने लगा। घुड़सवारों ने निष्कलङ्क के साथ धोबी को अकलङ्क समझकर इन दोनों को मार दिया। घुड़सवारों के लौट जाने के बाद तालाब से निकलकर विद्वान् अकलङ्क ने अपने प्राण बचाये तत्पश्चात् निर्भय हो धरा पर परिभ्रमण करने लगे।

आचार्य अकलङ्क और निष्कलङ्क के जीवन का यह प्रसंग आचार्य हरिभद्र के शिष्य हंस, परमहंस के घटना-चक्र से मिलता-जुलता है।

जैन मुनि बनकर विद्वान् भट्ट अकलङ्क ने सुधापुर के देशीय गण का आचार्य पद सुशोभित किया। उन्होंने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण आचार्यों में उच्च स्थान प्राप्त किया।

आचार्य अकलङ्क वादकुशल आचार्य थे। वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। एक ओर नालन्दा विश्वविद्यालय के बौद्धाचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति थे जिन्होंने तर्कशास्त्र के पिता दिङ्नाग के दर्शन को बुद्धि से चमका दिया था। दूसरी ओर उद्योतकर, भट्टजयन्त, वाचस्पति मिश्र, कुमारिल, प्रभाकर, शंकराचार्य, मण्डन मिश्र आदि की चर्चा-परिचर्चाओं से धर्म प्रधान, भारतभूमि का वातावरण आन्दोलित था। आचार्य अकलङ्क भी इनसे पीछे नहीं रहे। उन्होंने अनेक विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया। मुख्यतः अकलङ्क बौद्धों के प्रतिद्वन्द्वी थे।

धर्मकीर्ति के सबल तर्कों का निरसन करने के लिए वैदिक विद्वानों ने भी यथाशक्य प्रयत्न किया था, पर शास्त्रार्थों में बौद्धों के सबल प्रतिद्वन्द्वी भट्ट अकलङ्क थे।

नेमिदत्त के आराधना कथाकोष के अनुसार कलिङ्ग देश के रत्नसंचयपुर में भट्ट अकलङ्क का बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ नरेश हिमशीतल की सभा में हुआ था। इस शास्त्रार्थ का पूर्व घटना-प्रसंग इस प्रकार है

नरेश हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी जैन धर्म में आस्था रखती थी। वह अष्टाह्निक पर्व के अवसर पर एक दिन बड़ी धूमधाम के साथ जैन रथयात्रा निकालना चाहती थी।[13] उस समय वहां बौद्ध गुरुओं का अधिक प्रभाव था।

---

११. बौद्धानां गुरुणागत्य दृष्ट्वा वाक्यं सुशोभितम्।
अस्ति कश्चिज्जिनाधीशशासनाम्भोधिचन्द्रमाः॥२२॥
(आ. कथाकोष)

१२. सारं पञ्चनमस्कारं स्मरन्नावृत्तितौ तदा ॥३०॥
(आ. कथाकोष)

१३. कलिङ्गविषये रत्नसंचयाख्यं पुरं परम् ॥५२॥
तत्र राजा प्रजाऽभीष्टो नाम्ना श्रीहिमशीतलः।
राज्ञी जिनेन्द्रपादाब्जभृङ्गी मदनसुन्दरी ॥५३॥
तया श्रीमज्जिनेन्द्राणां स्वयं कारितमन्दिरे।
फाल्गुने निर्मलाष्टम्यां रथयात्रामहोत्सवे ॥५४॥
प्रारब्धे जिनधर्मस्य स्वर्गमोक्षप्रदायिनः ॥५५॥
(आराधना कथाकोष)

उन्होंने नरेश हिमशीतल को एक शर्त के साथ अपने विचारों से सहमत किया कि किसी जैन गुरु के द्वारा बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने पर ही यह रथयात्रा निकल सकती है। रानी, राजा के इन विचारों से चिन्तित हुई। संयोग से यह बात भट्ट अकलङ्क के पास पहुंची। वे शास्त्रार्थ करने के लिए वहां आए। नरेश हिमशीतल की सभा में उनका बौद्धों के साथ छह महीने तक शास्त्रार्थ चला।[१४] जैन शासन की उपासिका चक्रेश्वरी देवी ने एक दिन भट्ट अकलङ्क से कहा पर्दे के पीछे कोई बौद्ध गुरु नहीं अपितु घट में स्थापित तारादेवी शास्त्रार्थ कर रही है।[१५] अतः उसके द्वारा कहे गए वाक्यों को पुनः पूछने पर तारादेवी की पराजय और तुम्हारी विजय है। दूसरे दिन भट्ट अकलङ्क ने वैसा ही किया। तारादेवी अपने द्वारा कहे गए वाक्यों को अकलङ्क द्वारा पुनः पूछने पर न दोहरा सकी। अकलङ्क ने तत्काल पर्दे को खींचकर घड़े को ठोकर से तोड़ डाला।[१६] घट का स्फोट होते ही सारा रहस्य उद्घाटित हो गया। बौद्धों की भारी पराजय और अकलङ्क की विजय हुई। जैन रथयात्रा धूमधाम से सम्पन्न हुई एवं जैन शासन की महती प्रभावना हुई। पाण्डु पुराण में भी घट स्फोट के इस प्रसंग का उल्लेख है।

राजवलिकथे के अनुसार अनेक संघों के विद्वान्, बौद्धों से शास्त्रार्थ में पराजित होने के कारण खिन्न थे। शैव सम्प्रदाय के व्यक्तियों से यह जानकारी आचार्य अकलङ्क को मिली। अकलङ्क ने अपने को शैव बताकर बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया। इस शास्त्रार्थ में अकलङ्क को विजय प्राप्त हुई। बाद में उन्होंने अपने को जैन घोषित किया। बौद्ध इससे उत्तेजित हुए। उन्होंने जैनियों को सदा-सदा के लिए निष्कासित करने हेतु नरेश हिमशीतल को उकसाया। नरेश के आमन्त्रण पर भट्ट अकलङ्क ने बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया। पराजित दल द्वारा प्राण परित्याग करने जैसी हिंसात्मक योजना (शर्त) के साथ यह शास्त्रार्थ १७ दिन तक होता रहा। आखिर में अकलङ्क की विजय हुई। पूर्व शर्त के अनुसार नरेश द्वारा प्राणाहुति का निर्देश अकलङ्क के कहने पर स्थगित कर दिया।

इस महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ का उल्लेख शक सं. १०५० में उत्कीर्ण श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण प्रशस्ति में हुआ है। वह इस प्रकार है

धूर्णिः-यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्य
निरवद्यविभवोपवर्णनमाकर्ण्यते
राजन्साहसतुङ्ग! सन्ति बहवः श्वेतातपत्राः नृपाः।
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
तद्वत् सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्वचाः॥
राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध-
स्तद्वत्ख्यातोऽहमस्यां भुवि
निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम्।
नो चेदेषोऽहमेते तव सदसि
सदा सन्ति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु
विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात्॥
नाहङ्कारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्धयमया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धोद्यान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः॥

राजन् साहसतुङ्ग! श्वेत आतपत्र के धारक नृप अनेक हैं, पर आपके तुल्य समर विजयी और त्याग परायण (दानी) राजा दुर्लभ हैं। इसी प्रकार पण्डित बहुत

---

१४. तत्समर्थयितु लग्नः समर्थो भयवर्जितः।
एवं तयोर्महावादैः षण्मासाः संययुस्तराम् ॥१००॥
(आराधना कथाकोष)

१५. समर्थो नरमात्रोऽसौ किन्तु वादं त्वया समम्।
करोति तारिका देवी विनाप्येतानि धीधन! ॥१०५॥
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव कथा)

१६. ततोऽकलङ्कदेवेन समुत्थाय प्रकोपतः।
अन्तः पटं विदार्योच्चैः स्फोटयित्वा च तं घटम् ॥११७॥
(आराधना कथाकोष, अकलङ्कदेव कथा)

हैं, परन्तु मेरे समान नाना प्रकार के शास्त्रों में दक्ष, कवि, वाद कुशल एवं वाग्मी इस काल में नहीं हैं।

राजन्! रिपुओं के दर्प दलन में जैसे आपकी पटुता प्रसिद्ध है वैसे ही अखिल धरा पर पण्डितों के मद को चूर्ण करने में मैं प्रख्यात हूं। आपकी सभा में अनेक विद्वान् हैं, उनमें से कोई भी शक्ति-सम्पन्न और शास्त्र का पारगामी विद्वान् मेरे साथ शास्त्रार्थ करे।

राजा हिमशीतल की सभा में तारादेवी के घट का स्फोटन कर विद्वान् बौद्धों पर विजय पायी। यह मैंने अहंकार या द्वेष की भावना से नहीं किया, किन्तु अनात्मवाद के प्रचार से लोगों का अहित देख करुणा बुद्धि से प्रेरित होकर मैंने ऐसा किया है।

इस मल्लिषेण प्रशस्ति में राजा हिमशीतल की राजसभा में अकलङ्क की शास्त्रार्थ विजय और तारादेवी के घट-स्फोटन सम्बन्धी प्रकरण एवं राजा साहसतुङ्ग की सभा में अकलङ्क के द्वारा की गई आत्मश्लाघा का प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य समन्तभद्र ने भी प्रतिपक्ष को ललकारते हुए ऐसा ही कहा था

"राजन्! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी।"

घट में स्थापित तारादेवी के कारण दुर्जेय बने बौद्धों को पराजित करने में अकलङ्क को भी जैन शासन की उपासिका चक्रेश्वरी देवी की सहायता मिली थी।

आचार्य अकलंक की शास्त्रार्थ विजय में चक्रेश्वरी देवी का सहयोग होने पर भी मुख्य निमित्त उनकी वाक् कुशल प्रतिभा थी।

विशेष समालोच्य बिन्दु आचार्य अकलंक का जीवन प्रसंग न उनके ग्रन्थों में प्राप्त है और न अन्य निकटवर्ती ग्रन्थों में है।

प्रभाचन्द्राचार्य के गद्य कथाकोष में, नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष में तथा 'राजवलिकथे' में जो अकलंक कथा मिलती है उसके भी समालोच्य बिन्दु विद्वानों की दृष्टि में इस प्रकार हैं

अकलङ्क का सम्बन्ध काञ्ची से अनुमानित होता है। मान्यखेट नगरी की राजधानी के रूप में प्रतिष्ठा अमोघवर्ष के शासनकाल में हुई थी। इससे पहले के इतिहास में मान्यखेट नगरी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अमोघवर्ष का समय आचार्य अकलंक से उत्तरवर्ती है। आचार्य जिनसेन के समय में नरेश अमोघवर्ष विद्यमान थे।

आचार्य अकलङ्क के माता-पिता से सम्बन्धित उल्लेख भी विवादास्पद है। आधुनिक शोध विद्वानों के अभिमतानुसार भट्ट अकलङ्क न पुरुषोत्तम के पुत्र थे, न जिनदास ब्राह्मण के पुत्र थे। तत्त्वार्थवार्तिक में अकलङ्क के पिता का नाम लघुहव्य बताया है। लघुहव्य जैसे नाम दक्षिण भारत में प्रयुक्त होते रहे हैं। अतः दक्षिण भारत के विद्वान् अकलङ्क के पिता का नाम लघुहव्य यथार्थ के निकट है।

न्याय कुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में निष्कलङ्क को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना है। शिलालेखों में अकलङ्क के साथ निष्कलङ्क का कहीं उल्लेख नहीं है और न भट्ट अकलङ्क ने अपने लिए प्राण त्यागने वाले भ्राता निष्कलङ्क की कहीं चर्चा की है। अतः निष्कलङ्क की ऐतिहासिकता अकलङ्क की भांति स्पष्ट नहीं है।

साहित्य

आचार्य अकलङ्क का अगाध वैदुष्य उनके ग्रन्थों में प्रगट होता है। उनकी ग्रन्थ रचना सूत्रात्मक शैली में निबद्ध है, गहन और अर्थ बहुल है। उनके अपने ग्रन्थों पर लिखे गए भाष्य भी दुरूह हैं। आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थों को समझाने का काम अनन्तवीर्य और विद्यानन्द ने किया है। आचार्य अकलङ्क ने दो प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण किया है भाष्य ग्रन्थ और स्वतन्त्र ग्रन्थ। उनके ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

तत्त्वार्थ वार्तिक सभाष्य तत्त्वार्थ सूत्र पर कई टीकाओं की रचना हुई। उनमें यह टीका अधिक महत्त्वपूर्ण है। तत्त्वार्थ ग्रन्थ पर उद्योतकर की न्याय वार्तिक शैली में लिखा गया यह प्रथम वार्तिक है। पूज्यपाद की 'सर्वार्थ सिद्धि' का बहुभाग इसमें वार्तिक रूप में परिणित हो गया

है। सर्वार्थसिद्धि टीका को समझने के लिए यह टीका विशेष सहायक है। तत्त्वार्थ सूत्र के दो पाठ प्रचलित हैं.. .दिगम्बर सम्मत तत्त्वार्थ पाठ के आधार पर इस ग्रन्थ को रचा गया है। यह ग्रन्थ वार्तिक प्रधान होने के कारण इसका तत्त्वार्थ वार्तिक नाम सार्थक है। राजवार्तिक नाम से भी इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि है।

इस टीका में जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन है। यह एक ऐसा आकर ग्रन्थ है जिसमें सैद्धान्तिक, भौगोलिक, दार्शनिक सभी विषयों की चर्चा है। इस टीका का वार्तिक सूत्रात्मक एवं संक्षिप्त है। भाष्य की भाषा सरल है। यह तत्त्वार्थ सूत्र का भाष्य है जिसे तत्त्वार्थ भाष्य के नाम से जाना जाता है।

इस टीका के वार्तिक भाग में तत्त्वार्थ वृत्ति की विशिष्ट पंक्तियों को मूल वार्तिक के रूप में समाविष्ट किया गया है पर अकलङ्क की प्रतिपादन कुशलता के कारण पूज्यपाद की तत्त्वार्थ वृत्ति का भाग इस तत्त्वार्थ राज वार्तिक का आवश्यक अंग-सा प्रतीत होता है। इस टीका में षट्खण्डागम के सूत्र और महाबन्ध के सूत्र भी उद्धृत किए गए हैं। पाठक को बहुविध सामग्री प्रदान कराने वाली यह उत्तम टीका है। मूल ग्रन्थ के आधार पर इसके दस अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में कहीं अकलङ्क देव का नाम नहीं है, लेकिन इस ग्रन्थ की प्रौढ़ शैली के कारण और सिद्धि विनिश्चय टीका के उल्लेख के आधार पर यह रचना निस्सन्देह अलकङ्क की है। यह टीका अत्यन्त गहन है। आचार्य अकलङ्क का बहुश्रुतत्त्व इस ग्रन्थ को पढ़ने से ज्ञात होता है। श्वेताम्बर सम्मत सूत्र पाठ का इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर निराकरण है।

अष्टशती टीका यह आचार्य समन्तभद्र रचित आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) का व्याख्या ग्रन्थ है। इसके ८०० श्लोक हैं। अतः इसे अष्टशती कहा गया है। यह संक्षिप्त, अर्थ-बहुल और गम्भीर टीका है। इस टीका के अध्ययन से आचार्य अकलङ्क की सूक्ष्म प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। इस पर विद्यानन्द की अष्टसहस्री टीका भी है। अष्टसहस्री के अभाव में अष्टशती को समझना कठिन है। मूल ग्रन्थ में अष्टशती नाम का उल्लेख नहीं है। अष्टसहस्री ग्रन्थ में अष्टशती नाम पाया जाता है। नगर ताल्लुक के ४६वें शिलालेख में इस ग्रन्थ का संकेत है। इस ग्रन्थ में अनेकान्तवाद एवं सप्तभङ्गी की भी चर्चा है। ग्रन्थ की भाषा जटिल होते हुए भी मनोमुग्धकारी है। अनेकान्त के सजीव दर्शन इस टीका में होते हैं।

लघीयस्त्रय स्वोपज्ञ वृत्ति सहित आचार्य अकलङ्क की यह न्याय विषयक कृति है। इस ग्रन्थ के तीन प्रवेश प्रकरण एवं छह परिच्छेद हैं। कारिकाओं की संख्या ७८ है। प्रथम प्रमाण प्रकरण के चार परिच्छेद हैं (१) प्रत्यक्ष, (२) प्रमेय, (३) परोक्ष, (४) आगम।

प्रथम परिच्छेद में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणों की चर्चा, द्वितीय परिच्छेद में प्रमेय का वर्णन, तृतीय परिच्छेद में परोक्ष प्रमाण का वर्णन और चतुर्थ परिच्छेद में आगम प्रमाण का विवेचन है।

प्रमाण प्रवेश के इन चार परिच्छेदों के साथ नय प्रवेश और प्रवचन प्रवेश इन दोनों प्रकरणों को मिलाने पर परिच्छेदों की संख्या छह हो जाती है। नय प्रवेश में नैगम आदि नयों का एवं प्रवचन प्रवेश में प्रमाण और नय की चर्चा है और सकलादेश तथा विकलादेश का सयौक्तिक वर्णन है।

यह ग्रन्थ अकलङ्क की पहली दार्शनिक कृति है। मूल कारिकाओं के साथ इनका स्वोपज्ञ विवरण भी है। विवरण में कारिकाओं का व्याख्यान नहीं है पर ग्रन्थकार के प्रतिपाद्य का कुछ अंश कारिकाओं में है, अवशिष्ट अंश विवरण में प्रस्तुत हुआ है। विवरण गद्यात्मक है। कारिकान्तर्गत विषय का पूरक होने के कारण इस विवरण को विवृत्ति (विशेष व्याख्या) कहा है। आचार्य अकलङ्क ने समुचित प्रमाण व्यवस्था इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की है। यह ग्रन्थकार की स्वतन्त्र रचना है।

न्यायविनिश्चय सवृत्ति यह न्याय विषयक ग्रन्थ है। इसके तीन परिच्छेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन। इन तीनों प्रकरणों में ४८१ कारिकाएं हैं। प्रथम प्रकरण में जैन दर्शन सम्मत प्रत्यक्ष लक्षण का विवेचन है। बौद्ध

दर्शन सम्मत इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के निराकरण के साथ ही सांख्य और नैयायिक दर्शन सम्मत लक्षण का निरसन भी है। प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप को समझने के लिए यह प्रथम परिच्छेद विशेष पठनीय है।

अनुमान परिच्छेद में अपने विषय की सांगोपांग चर्चा है। यह ग्रन्थ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें आचार्य अकलङ्क की सूक्ष्म प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। यह दुर्बोध ग्रन्थ है। इसकी शैली सूत्रात्मक है। इस पर सम्भवतः अकलङ्क देव ने टीका रचना भी की होगी, पर वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ पर आचार्य वादिराज की एक विस्तृत टीका है, जिसमें न्याय विषयक प्रचुर सामग्री है।

सिद्धि विनिश्चय सवृत्ति न्याय विनिश्चय की भांति सिद्धि विनिश्चय ग्रन्थ भी न्याय विषयक उत्तम कृति है। इस ग्रन्थ के १२ प्रस्ताव हैं। आचार्य अकलङ्क की यह गूढ़ और दुर्बोध कृति है। मूलतः यह ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं है। कच्छ देश के कोठायग्राम के श्वेताम्बर भण्डार से सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ की विस्तृत टीका उपलब्ध हुई है। उसके आधार पर इस ग्रन्थ के विषय को समझा गया है।

इस कृति का विनिश्चयात्मक नाम धर्मकीर्ति के प्रमाण विनिश्चय का स्मरण कराता है। वस्तु तत्त्व का निरूपण इसमें अनेकान्त पद्धति के आधार पर हुआ है। स्वमत की स्थापना और दर्शनान्तरीय पक्ष का अकाट्य युक्तियों द्वारा खण्डन विशेष ज्ञानवर्द्धक है। इस ग्रन्थ पर अनन्तवीर्य की विस्तृत व्याख्या भी है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री में इसका मूल भाग अन्तर्गर्भित है। गूढ़ प्रतिपादन शैली के आधार पर टीका अकलङ्क की प्रमाणित होती है। टीकान्तर्गत एक श्लोक है जिसके आधार पर भी यह ग्रन्थ अकलङ्कदेव का माना गया है।

प्रमाण संग्रह इस ग्रन्थ के ९ प्रस्ताव हैं। प्रमाण सम्बन्धी सामग्री का संग्रह होने के कारण प्रमाण संग्रह नाम उपयुक्त भी हैं। ग्रन्थ मूलतः गद्यात्मक है। कहीं-कहीं पद्य रचना भी है। ग्रन्थ की शैली सूत्रात्मक एवं दुरुह है। ग्रन्थ का विषय गहन है। लघीयस्त्रयी और न्याय विनिश्चय से भी यह ग्रन्थ अधिक गम्भीर प्रतीत होता है। अतः इसकी रचना इन दोनों ग्रन्थों से बाद की सम्भव है। कई प्रस्तावों में न्याय विनिश्चय की कारिकाएं उपलब्ध हैं। कई विद्वान् इसको अकलङ्क देव की मानने में संशयास्पद हैं पर विषय की गहनता और सूत्रात्मक शैली निःसन्देह रूप से इस कृति को अकलङ्क की प्रमाणित करती है। प्रमेय बहुल इस कृति की ८७½ कारिकाएं हैं। ग्रन्थ में एकान्तवाद के विरुद्ध उपलब्ध अधिकांश प्रमाणों का संग्रह किया है। इस पर ग्रन्थकार की स्वोपज्ञवृत्ति भी है। पद्य परिमाण में यह कृति अष्टशती के बराबर मानी गई है। इस पर अनन्तवीर्य की विस्तृत व्याख्या है। कृति के अन्तिम प्रस्ताव से प्रकारान्तर से अकलङ्क शब्द का प्रयोग भी है जो ग्रन्थकार अकलङ्क की ओर संकेत करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रौढ़ शैली अन्तिम कृति होने का आभास कराती है। आचार्य अकलङ्क की जैन न्याय को इस कृति के रूप में अपूर्व देन है।

जैन समाज में आचार्य अकलङ्क की साहित्य-निधि को मौलिक स्थान प्राप्त है। आचार्य अकलङ्क की कृतियों में न्याय की रूपरेखा अकलङ्क न्याय के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य अकलङ्क भक्ति-परायण भी थे। अपने नाम पर अलकङ्क स्तोत्र की रचना कर उन्होंने भक्तिरस को चरम सीमा पर पहुंचा दिया था।

आचार्य माणिक्यनंदी उनके ग्रन्थों के प्रमुख पाठक रहे हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अकलङ्क की न्याय पद्धति को ही विस्तार दिया है और कहीं-कहीं शब्दशः अनुकरण किया है। उनका परीक्षामुख ग्रन्थ आचार्य अकलङ्क के विचारों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

जैनाचार्यों की परम्परा में अकलङ्क प्रौढ़ दार्शनिक विद्वान् थे और जैन न्याय के प्रमुख व्यवस्थापक थे। उनके द्वारा निर्धारित प्रमाणशास्त्र की रूपरेखा उत्तरवर्ती जैनाचार्यों के लिए मार्गदर्शक बनी है। अमरकोश का यह प्रसिद्ध श्लोक है

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलङ्क की प्रमाण-व्यवस्था, पूज्यपाद का लक्षण और धनञ्जय का द्विसन्धान काव्य ये अपश्चिम रत्नत्रयी हैं।

जैन तर्कशास्त्र का परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थों में है।

आचार्य विद्यानन्द, वादिराज, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र आदि विद्वानों ने आचार्य अकलङ्क के अष्टशती, न्याय-विनिश्चय, प्रमाण-संग्रह, सिद्धि-विनिश्चय तथा लघीयस्त्रयी पर विस्तृत टीकाएं लिखी हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के विद्वान् आचार्य अकलङ्क के साहित्य पर मुग्ध हैं।

समय-संकेत

आचार्य अकलङ्क ने अपने ग्रन्थों में कहीं समय संकेत नहीं दिया है। आचार्य अकलङ्क की तत्त्वार्थ वार्तिक में देवनन्दी की तत्त्वार्थ वृत्ति के बहुभाग को मूल वार्तिक के रूप में स्थान प्राप्त है। पात्रकेशरी के त्रिलक्षणकदर्शन ग्रन्थ की कारिका 'अन्यथानुपपन्नत्वं' का उपयोग अकलङ्क के न्याय-विनिश्चय ग्रन्थ में हुआ है। इस आधार पर इन दोनों विद्वानों से आचार्य अकलङ्क उत्तरवर्ती हैं।

आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त जयपताका में अकलङ्क न्याय शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य जिनदास महत्तर ने निशीथ चूर्णि में अकलङ्क के सिद्धि-विनिश्चय ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है और उसे प्रभावक ग्रन्थ बताया है। अतः इन दोनों विद्वानों से आचार्य अकलङ्क पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

अकलङ्क चरित्र में अकलङ्क के शक संवत् ७०० (ई. ७७८) में बौद्धों के साथ हुए शास्त्रार्थ का उल्लेख है।

उल्लेख का पद्य इस प्रकार है

विक्रमार्कशकाब्दीय शतसप्तप्रमाजुषि।
काले अकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

डॉ. महेन्द्र कुमार आदि आधुनिक शोध विद्वानों ने अकलङ्क का समय ई. सन् ७२० से ७८० सिद्ध किया है।

आचार्य अकलङ्क वी. नि. की १४वीं (वि. की ८वीं) शताब्दी के विद्वान् थे। अकलंक चरित्र में प्राप्त शास्त्रार्थ संवत् के आधार पर आचार्य अकलंक वी. नि. ११वीं, १२वीं (वि. ७वीं, ८वीं.) शताब्दी के विद्वान् थे।

अजेय वादशक्ति, अतुल प्रतिभा-बल एवं मौलिक चिन्तन-पद्धति से आचार्य अकलङ्क भट्ट कोविद कुल के अलंकार थे एवं युग प्रवर्तक आचार्य थे। उनको जैन न्याय का पिता कहा जाता है।

कलिकाल में माया देवी की शक्ति का रहस्योद्घाटन करने वाले आचार्य अकलंक यथार्थ में ही अकलंक थे।[१७]

---

१७. अकलंकोऽकलंकः स कली कलयुत श्रुतम्।
पादेन ताडितायेन माया देवी घटस्थिता ॥१७॥
(पाण्डव पुराण प्रथम पर्व)

६२. जिनचरणानुगामी जिनदास महत्तर

जैन श्वेताम्बर परम्परा में आगम व्याख्याकार जिनदास महत्तर का विशिष्ट स्थान है। वे संस्कृत एवं प्राकृत के अधिकारी विद्वान् थे। जैन समाज में उनकी प्रसिद्धि चूर्णि-साहित्यकार के रूप में है।

गुरु-परम्परा

जिनदास के गुरु का नाम गोपालगणी महत्तर था। गोपालगणी महत्तर वाणिज्य कुल, कोटिकगण एवं वज्रशाखा के विद्वान् थे। वे स्व-पर समय के ज्ञाता थे।[1] जिनदास महत्तर के विद्यागुरु प्रद्युम्न क्षमाश्रमण थे।[2] महत्तरजी को गणीपद अपने गुरु द्वारा प्राप्त हुआ और महत्तर की उपाधि उन्हें जनता द्वारा प्रदान की गई थी।[3]

जन्म एवं परिवार

चूर्णि-साहित्य के अनुसार जिनदास महत्तर के पिता का नाम नाग[4] और माता का नाम गोपा[5] है। महत्तरजी सात सहोदर थे। देहड़, सीह, धोर ये तीन उनसे ज्येष्ठ एवं देउल, णण्ण, तिउज्जग तीन उनसे कनिष्ठ सहोदर थे।[6] परिवार के अन्य सदस्यों का उल्लेख नहीं है।

जीवन-वृत्त

जिनदास महत्तर के जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। नन्दी चूर्णि के अन्त में जिनदास महत्तर ने अपना परिचय दिया है।[7] वह अस्पष्ट है। उत्तराध्ययन चूर्णि में अपने गुरु के नाम का एवं कुल, गण और शाखा का भी उल्लेख किया है, पर अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। निशीथ-चूर्णि के प्रारम्भ में प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का विद्यागुरु के रूप में उल्लेख है। निशीथ-चूर्णि के अन्त में चूर्णिकार जिनदास ने अपना परिचय रहस्यमय शैली में प्रस्तुत किया है, वह श्लोक इस प्रकार है

ति चउ पण अट्ठमवग्गा तिपण ति तिग अक्खरा व तेसिं।
पढमततिएहिं तिदुसरजुएहिं णामं कयं जस्स ॥

अकारादि स्वर प्रधान वर्णमाला को एक वर्ग मान लेने पर 'अ' वर्ग से 'श' वर्ग तक आठ वर्ग बनते हैं। इस क्रम से तृतीय 'च' वर्ग का तृतीय अक्षर 'ज' चतुर्थ 'ट' वर्ग का पंचम अक्षर 'ण', पंचम 'त' वर्ग का तृतीय अक्षर 'द' अष्टम वर्ग का तृतीय अक्षर 'स' तथा प्रथम 'अ' वर्ग की तृतीय मात्रा इकार, द्वितीय मात्रा आकार को क्रमशः 'ज' और 'द' के साथ जोड़ देने पर जो नाम

---

१. वाणिजकुलसंभूतो कोडियगणितो य वज्जसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ विक्खातो आसि लोगम्मि ॥१॥
ससमय-परसमयविऊ ओयस्सी देहिमं सुगंभीरो।
सीसगणसंपरिवुडो वक्खाणरतिप्पियो आसी ॥२॥
तेसिं सीसेण इमं उत्तरज्झयणाण चुण्णिखंडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थं सीसाणं मंदबुद्धीणं ॥३॥ (उत्तरा. चूर्णि)

२. सविसेसायरजुत्तं काउ पणामं च अत्थदायिस्स।
पज्जुण्णखमासमणस्स चरण-करणाणुपालस्स ॥२॥
(निशीथ विशेष चूर्णि पीठिका)

३. गुरुदिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं।
तेण कयेसा चुण्णी विसेसणामा णिसीहस्स ॥२॥
(निशीथ विशेष चूर्णि)

४. संकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स।
तस्स सुतेणेस कता विसेसचुण्णी णिसीहस्स ॥१३॥
(निशीथ विशेष चूर्णि, उद्देशक १३)

५. रविकरपिधाणक्खरसत्तमवग्गंत-अक्खरजुएणं।
णामं जस्सित्थिए सुतेण तस्से कया चुण्णी॥

६. देहडो सीह धोरा य ततो जेट्ठा सहोयरा।
कणिट्ठा देउलो णण्णो सत्तमो य तिइज्जगो।
एतेसिं मज्झिमो जो उमदेवी तेण विंतिता।
(जि.वि.चू. उद्दे., १५, १६)

७. णि रे ण ग म त्त ण ह स दा जि या पसुपतिसंखगजट्ठिताकुला।
कगट्ठिता धीमतचिंतियक्खरा फुडं कहेयंतऽभिधाण कतुणो ॥१॥
(नंदी चूर्णि)

बनता है उसी नाम को धारण करने वाले व्यक्ति ने इस चूर्णि का निर्माण किया है। यह नाम बनता है जिनदास। अपने नाम के परिचय के लिए इस प्रकार की शैली साहित्य में बहुत कम है।

साहित्य

साहित्य में जिनदास महत्तर की प्रसिद्धि चूर्णिकार के रूप में है। व्याख्या साहित्य में चूर्णि साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। चूर्णियां गद्यमयी हैं। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। चूर्णिकाल में संस्कृत भाषा का अभ्युदय हो रहा था, अतः प्राकृत-प्रधान चूर्णि साहित्य में संस्कृत भाषा का सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

भाष्य एवं निर्युक्ति की अपेक्षा चूर्णि साहित्य अधिक विस्तृत है एवं चतुर्मुखी ज्ञान का स्रोत है। गद्यात्मक होने के कारण भावनाभिव्यक्ति निर्बाध गति से होता है। श्री जिनदास महत्तर का चूर्णि साहित्य को महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

आगम ग्रन्थों पर विशाल परिमाण में चूर्णि साहित्य रचा गया है। वर्तमान में जो चूर्णियां आगम साहित्य पर उपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं

(१) आवश्यक	(२) दशवैकालिक
(३) नन्दी	(४) अनुयोगद्वार
(५) उत्तराध्ययन	(६) आचारांग
(७) सूत्रकृतांग	(८) निशीथ
(९) व्यवहार	(१०) दशाश्रुतस्कन्ध
(११) बृहत्कल्प	(१२) जीवाभिगम
(१३) भगवती	(१४) महानिशीथ
(१५) जीतकल्प	(१६) पंचकल्प

(१७) ओघनिर्युक्ति।

इनमें प्रथम आठ आगमों की चूर्णियां जिनदास महत्तर की बताई गई हैं। इनका रचनाक्रम सम्भवतः यही है।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

नन्दी चूर्णि इस चूर्णि की रचना मूल सूत्रों के आधार पर हुई है। यह संक्षिप्त चूर्णि है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह चूर्णि अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस चूर्णि में माथुरी आगम-वाचना का इतिहास है। वीर निर्वाणोत्तरवर्ती आचार्यों के क्रमबद्ध इतिहास को जानने के लिए भी इस चूर्णि में महत्त्वपूर्ण सामग्री है। चूर्णि के अन्त में चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश भी किया है।

इस चूर्णि में संस्कृत का विशेष मिश्रण नहीं है, अतः प्राकृत भाषा की दृष्टि से जिनदास महत्तर की यह चूर्णि सर्वप्रथम रचना सम्भव है।

अनुयोगद्वार-चूर्णि इस चूर्णि की रचना भी मूल सूत्रों के आधार पर हुई है। इसमें आराम, उद्यान, शिविका आदि शब्दों की व्याख्या है। सप्त स्वर और नौ प्रकार के रसों का वर्णन भी इसमें है। जैन शास्त्र सम्मत आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल, प्रमाणाङ्गुल आदि को समझने के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। इस चूर्णि में नन्दी चूर्णि का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है इसकी रचना नन्दी चूर्णि के बाद हुई है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की अंगुलपद पर रची गई अनुयोगचूर्णि इस चूर्णि में पूर्णतः उद्धृत है। जिनदास महत्तर के नाम का उल्लेख भी इसमें है।[८]

आवश्यक-चूर्णि इस चूर्णि रचना में निर्युक्ति गाथाओं का अनुसरण है। विषय वर्णन में भाष्य गाथाओं एवं संस्कृत के श्लोकों का उपयोग भी किया गया है। कथा सामग्री की दृष्टि से यह चूर्णि अधिक समृद्ध है। इसकी ओजपूर्ण शैली और भाषा में निर्झर की तरह छलकता प्रवाह मनोमुग्धकारी है। विषय वर्णन के आधार पर यह चूर्णि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ होने का अनुभव कराती है।

पुरातन इतिहास से सुपरिचित होने के लिए आवश्यक-चूर्णि उपयोगी है। जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवनवृत्त, भगवान् की सुविस्तृत विहार-चर्या, वज्रस्वामी, आर्यरक्षित, वज्रसेन

८. श्रीश्वेताम्बराचार्य श्री जिनदासगणिमहत्तरपूज्यपादानामनुयोगद्वाराणां चूर्णिः।
(अनुयोगद्वार चूर्णि)

आदि प्रभावशाली आचार्यों के विविध घटना-प्रसंग, चेटक एवं कोणिक का महासंग्राम एवं सात निह्नवों का प्रामाणिक इतिहास इस चूर्णि में उपलब्ध है। इस चूर्णि के अनुसार गोल्ल देश में भगिनी एवं विप्र देश में विमाता से वैवाहिक सम्बन्ध कर लेने की परम्परा भी प्रचलित थी। अनेक लौकिक कथाएं इस चूर्णि में है।

दशवैकालिक-चूर्णि दशवैकालिक-चूर्णि को हरिभद्र ने वृद्ध विवरण संज्ञा प्रदान की है। इस चूर्णि की रचना में मुख्यतः निर्युक्ति पदों का अनुसरण है। भाषा प्राकृत प्रधान है। धर्म, द्रुम आदि पदों की व्याख्या निक्षेप पद्धति के आधार पर की गई है। आचार्य शय्यंभव का जीवनवृत्त इस चूर्णि में है। विषय वर्णन में कहीं-कहीं संस्कृत का प्रभाव है। मुनिचर्या से सम्बन्धित विविध विषयों का विवेचन है। आवश्यक-चूर्णि का उल्लेख भी इसमें हुआ है। इससे स्पष्ट है कि इस चूर्णि की रचना आवश्यक चूर्णि के बाद हुई है। इस चूर्णि की कथाएं प्रभावक हैं एवं जोणिपाहुड ग्रन्थ का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व रखता है।

अगस्त्य ऋषि की एक और दशवैकालिक चूर्णि उपलब्ध है। अगस्त्य ऋषि विक्रम की तृतीय शताब्दी के विद्वान् माने गए हैं, अतः इस चूर्णि की रचना वल्लभी वाचना से बहुत पहले ही सम्भव है। इस चूर्णि की प्राकृत भाषा संस्कृत से सर्वथा अप्रभावित है।

उत्तराध्ययन-चूर्णि इस चूर्णि की रचना निर्युक्ति पदों के आधार पर हुई है। इसमें दशवैकालिक-चूर्णि का उल्लेख हैं। इससे स्पष्ट है दशवैकालिक-चूर्णि के बाद उत्तराध्ययन-चूर्णि की रचना हुई है। इस चूर्णि में अनेक शब्दों की नवीन व्युत्पत्तियां प्राकृत भाषा में है। इसमें प्रयुक्त कथानक हृदयस्पर्शी है। संस्कृत और प्राकृत भाषा का मिश्रण चूर्णि रचना की अर्वाचीनता को प्रकट करता है। चूर्णि के अन्त में चूर्णिकार ने वाणिज्य कुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखी, गोपालगणी महत्तर का गुरु रूप में उल्लेख किया है।

आचारांग-चूर्णि इस चूर्णि की रचना आचारांग निर्युक्ति पद्यों के आधार पर हुई है। प्रस्तुत चूर्णि में आचारांग-निर्युक्ति के विषय ही विशेष रूप से चर्चित हैं। विषय वर्णन निक्षेप पद्धति के आधार पर किया गया है। चूर्णि प्राकृत गद्यात्मक होते हुए भी इसमें स्थान-स्थान पर संस्कृत के महत्त्वपूर्ण श्लोक उद्धृत किए गए हैं, जो विवेचन की दृष्टि से उपयोगी हैं और पाठक के लिए ज्ञानवर्धक हैं। कहीं-कहीं चूर्णि में पूर्वाचार्यों द्वारा रचित प्राकृत गाथाएं प्रयुक्त हैं। प्रत्येक शब्द की व्याख्या चूर्णि में है। नागार्जुनीय आगम वाचना के पाठ भेदों की सप्रमाण व्याख्या की गई है। ग्राम, नगर आदि की परिभाषाएं प्राकृत में सम्यक् प्रकार से प्रस्तुत हुई हैं। अनेक स्थानों पर उपयोगी रोचक कथाओं का उपयोग भी किया गया है, जिससे पाठक को भारतीय प्राचीन संस्कृति का, नाना देशों की परम्पराओं का ज्ञान होता है। इस चूर्णि में गोल्ल देश के रीति-रिवाजों की विशेष चर्चा है। कोंकण देश का भी उल्लेख है, जहां निरन्तर होती थी।

सूत्रकृतांग-चूर्णि यह चूर्णि आचारांग-चूर्णि की भांति भारतीय संस्कृति का ज्ञान कराने के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस चूर्णि में भी गोल्ल देश, ताम्रलिप्ति आदि देशों का प्राकृतिक वर्णन, वहां की परम्पराएं, रीति-रिवाज एवं मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा है। इस चूर्णि की शैली आचारांग-चूर्णि से मिलती-जुलती है। तीर्थसिद्धि आदि विविध विषय चूर्णि में चर्चित हुए हैं। वैनयिकवाद, नास्तिकमत, सांख्यमत, ईश्वरकर्तृत्व, नियतिवाद आदि विभिन्न दार्शनिक विषयों की चर्चा इसमें है। चूर्णि में संस्कृत, प्राकृत दोनों का मिश्रण है। प्राकृत से संस्कृत का प्रभाव इस चूर्णि पर अधिक है।

निशीथ चूर्णि यह चूर्णि आचार्य जिनदास महत्तर की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। चूर्णि में चूर्णिकार की सूक्ष्म प्रज्ञा के दर्शन होते हैं। इस चूर्णि की रचना मूल सूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्य गाथाओं के आधार पर हुई है। चूर्णि के प्रारम्भ में महत्त्वपूर्ण पीठिका है। ग्रन्थगत आवश्यक विषयों की व्याख्या पीठिका में है। नमस्कार प्रसंग में अरिहन्त, सिद्ध, श्रमणों के बाद अर्थप्रदाता के रूप में

चूर्णिकार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को प्रणाम किया है। ग्रन्थ के २० उद्देशक हैं। प्रसंगवश अनेक विषय चर्चित हुए हैं। ग्रन्थ रचना में संस्कृत, प्राकृत उभय भाषा का मिश्रण है। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत की प्रधानता है। इस चूर्णि में पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति का उल्लेख भी है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत चूर्णि की रचना दोनों निर्युक्तियों के बाद की है।

इसमें जैन श्रमण आचार के विधि-निषेधों की विस्तार से परिचर्चा और उत्सर्ग-मार्ग तथा अपवाद-मार्ग का पर्याप्त वर्णन है।

चूर्णियों का कर्तृक पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित नन्दी प्रस्तावना में नन्दी, अनुयोगद्वार एवं निशीथ इन तीनों चूर्णियों का कर्तृक जिनदास महत्तर को स्वीकार किया है। इस शोध से चूर्णि साहित्य की रचना का अधिकांश श्रेय जिनदास महत्तर को प्रदान करने की प्राचीन धारणा भ्रामक सिद्ध हुई है। समग्र आगम चूर्णि साहित्य की रचना में कई विद्वानों का योग है। दशवैकालिक चूर्णि के कर्ता श्री अगस्त्यसिंहगणी एवं जीतकल्प वृहत्चूर्णि के प्रणेता श्री सिद्धसेनगणी हैं।

आचारांग-चूर्णि एवं सूत्रकृत्रांग-चूर्णि अज्ञातकर्तृक हैं। उन्होंने आचारांग-चूर्णि की रचना श्री जिनदासगणी से पूर्व होने की सम्भावना प्रकट की है। आवश्यक-चूर्णि को जिनदास महत्तर की रचना मानने में सन्देह व्यक्त किया गया है। विधि, निषेध एवं अपवाद मार्गों की सूचना प्रस्तुत करने वाले व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध एवं वृहत्कल्प इन तीन महत्त्वपूर्ण छेद सूत्रों की चूर्णियां अज्ञातकर्तृक मानी गई हैं।

निशीथचूर्णि निर्विवाद रूप से श्री जिनदास महत्तर की कृति है।

अनेक विद्वानों का चूर्णि ग्रन्थ के सृजन में योगदान होने पर भी जिनदास महत्तर की चूर्णिकार के रूप में प्रसिद्धि का मुख्य निमित्त उनके चूर्णि ग्रन्थों की मौलिकता एवं चिन्तन की उच्चता है।

समय-संकेत

नन्दी चूर्णि श्री जिनदास महत्तर की मौलिक कृति है। यह शक संवत् ५९८ एवं वि. सं. ७३३ में पूर्ण हुई थी। शक संवत् का उल्लेख स्वयं जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। वह इस प्रकार है

शकराज्ञो पञ्चसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु।
अष्टनवतेषु नन्द्यध्ययन चूर्णि समाप्ता ॥

(नन्दी चूर्णि)

नन्दी-चूर्णि के उपर्युक्त उल्लेखानुसार चूर्णिकार जिनदास महत्तर का सत्ता समय वी. नि. १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (वि. सं ८वीं) सिद्ध होता है।

६३. अमेय मेधा के धनी आचार्य हरिभद्र

जैन परम्परा में हरिभद्र नाम के कई आचार्य हुए हैं। हरिभद्रसूरि सबसे प्राचीन हैं और याकिनीमहत्तरासूनु नाम से प्रसिद्ध हैं। सहस्रों वर्षों के बाद भी हरिभद्रसूरि का जीवन प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमक रहा है। उनका उदारमानस था। उन्होंने प्रतिपक्षी के लिए महर्षि, महामुनि जैसे सम्मान-सूचक शब्दों का प्रयोग किया है। उनका वह उदात्त घोष आज भी सुविश्रुत है

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥३८॥

(लोक तत्वनिर्णय)

वीर वचन में मेरा पक्षपात नहीं। कपिल आदि मुनियों से मेरा द्वेष नहीं। जिनका वचन तर्कयुक्त है, वही ग्राह्य है।

गुरु-परम्परा

प्रभावक चरित और प्रबन्धकोश के अनुसार विद्वान् हरिभद्र के दीक्षा गुरु जिनभट्ट थे।[1] 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' ग्रन्थ में हरिभद्र के गुरु का नाम जिनभद्र[2] एवं कथावली ग्रन्थ में गुरु का नाम जिनदत्त बताया गया है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर जिनदत्त नाम का उल्लेख किया है। आवश्यक वृत्ति में वे लिखते हैं

"समाप्ता चेयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका, कृति सिताम्बराचार्यजिनभट्टनिगदानुसारिणो विद्याधर कुलतिलकाचार्य-जिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।"

प्रस्तुत टीका में आचार्य हरिभद्र ने गुरु जिनदत्त के नामोल्लेख के साथ श्वेताम्बर परम्परा, विद्याधर कुल एवं आचार्य जिनभट्ट का नाम निर्देश किया है तथा अपने को जिनदत्त का शिष्य माना है। शिष्य के द्वारा जो नाम अपने गुरु का बताया जाता है वह अधिक प्रामाणिक एवं यथार्थता के निकट होता है, अतः आचार्य हरिभद्र की कृतियों में प्राप्त उल्लेखानुसार उनके दीक्षा गुरु विद्याधर कुल तिलकायमान जिनदत्त थे। जिनभट्ट अथवा जिनभद्र उनके गच्छनायक सम्भव हैं।

जन्म एवं परिवार

आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्रकूट निवासी ब्राह्मण परिवार में हुआ, वे चित्रकूट नगर (चित्तौड़) नरेश जितारि के राज्य में राजपुरोहित थे।[3] कथावली ग्रन्थ के अनुसार विद्वान् हरिभद्र 'पिवंगुइ' नामक ब्रह्मपुरी के निवासी थे।[4] उनकी माता का नाम गङ्गा और पिता का नाम शंकरभट्ट था।[5]

जीवन-वृत्त

राजपुरोहित हरिभद्र प्रकाण्ड विद्वान् थे। चतुर्दश ब्राह्मण विद्याओं पर उनका आधिपत्य था। राजपुरोहित होने के कारण जन-समुदाय में उनकी प्रतिष्ठा थी।

हरिभद्र को अपनी विद्या पर गर्व था। 'बहुरत्ना

---

१. (क) (प्रभा. च., श्लोक ३, पृ. ६२)
(ख) ततो जिनभटाचार्यदर्शनम् प्रतिपत्तिः। चारित्रम्।
(प्रबन्धकोश, पृ. २४, पं. १४)

२. तत्र श्रीबृहद्गच्छे श्रीजिनभद्रसूरयः...
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. १०३, पं. ३३)

३. बहुतरपुरुषोत्तमेशलीलाभवनमलं गुरुसात्त्विकाश्रयोऽतः।
त्रिदिवमपि तृणाय मन्यते यन्नगरवरं तदिहास्ति चित्रकूटम् ॥६॥
हरिरपरवपुर्विधाय यं स्वं, क्षितितलरक्षणदक्षमक्षताख्यम्।
असुरपरिवृढव्रजं विभिन्ते स नृपतिरत्र बभौ जितारिनामा ॥७॥
चतुरधिकदशप्रकारविद्यास्थितिपठनोन्नतिरग्निहोत्रशाली।
अतितरलमतिः पुरोहितोऽभून्नृपविदितो हरिभद्रनामविप्रः ॥८॥
(प्रभा. च., पृ. ६२)

४. पिवंगुईए बम्भपुरीए।
(कहावली पत्र-३००)

५. संकरो नाम भट्टो, तस्स गंगा नाम भट्टिणी तीसे हरिभट्टो नाम पंडिओ पुत्तो।
(कहावली पत्र-३००)

वसुंधरा' यह वसुन्धरा विविध रत्नों को धारण करने वाली है यह बात उन्हें अवैज्ञानिक लगी। उनकी दृष्टि में कोई भी योग्यता उनकी तुला के फलक को उठाने में समर्थ नहीं थी।

हरिभद्र पण्डितों में अग्रणी एवं शास्त्रार्थ में अपने को अजेय मानते थे। शास्त्र विशारद विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। पाण्डित्य के अभिमान ने उन्हें असाधारण निर्णय तक पहुंचा दिया। ज्ञानभार से कहीं उदर फट न जाए, इस भय से वे पेट पर स्वर्णपट्ट बांधे रखते थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी को धरती का उत्खनन कर निकाल लेने के लिए कुदाल, जल से खींच लेने के लिए जाल और आकाश से धरती पर उतार लेने के लिए सोपान पंक्ति अपने कन्धे पर रखते थे। जम्बूद्वीप में उन जैसा कोई विद्वान् नहीं है, इस बात को सूचित करने हेतु वे हाथ में जम्बूवृक्ष की शाखा को रखते थे।[६] उनका मानस किसी भी व्यक्ति द्वारा उच्चारित वाक्य का अर्थ न समझने पर उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने को प्रतिबद्ध था। हरिभद्र अपने को इस कलियुग में सर्वज्ञ समझते थे।

एक बार राजपुरोहित हरिभद्र सुखपाल (पालकी) में बैठकर कहीं जा रहे थे। उनके साथ काफी लोग थे। राजपुरोहित के सम्मान में जय-जय के जोशीले नारों से वातावरण गूंज रहा था। सरस्वती-कण्ठाभरण, वैयाकरण-प्रवण, न्याय विज्ञ, विलक्षण वादी, मतङ्गज केशरी आदि अतिशय प्रशंसात्मक विरुदावलियां बोली जा रही थीं। अचानक एक कृष्णकाय विशाल हाथी उन्मत्त अवस्था में पागल की भांति सामने से आता दिखाई दिया। प्राण बचाने के लिए लोग इधर-उधर भागे। हरिभद्र भी सुखपाल से कूदे और पास के मन्दिर में घुस गए। 'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत् जैन मन्दिरम्' की बात गौण और प्राण-रक्षा की बात प्रमुख बन गई थी। मन्दिर में उन्होंने जिन प्रतिमा को देखा 'वपुरेव तवाचष्टे स्पष्ट मिष्टान्नभोजनम्' यह वाक्य कहकर उन्होंने जिन प्रतिमा का उपहास किया।

इस घटना के बाद का प्रसंग है एक बार रात्रि को राजसभा से लौटते समय राजपुरोहित हरिभद्र जैन उपाश्रय के पास से गुजरे। उपाश्रय में साध्वी संघ की प्रवर्तिनी 'महत्तरा याकिनी' संग्रहणी गाथा का उच्च ध्वनिपूर्वक जाप कर रही थी

चक्कि दुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसी य चक्कीय ॥२१॥[७]

(प्रभा. च., पृ. ६३)

श्लोक की स्वरलहरियां हरिभद्र के कानों से टकराईं। इन्होंने इसे बार-बार ध्यानपूर्वक सुना। मन-ही-मन चिन्तन चला पर बुद्धि को पूर्णतः झकझोर देने के बाद भी वे अर्थ के नवनीत को नहीं पा सके। हरिभद्र के अहं पर पहली बार यह करारी चोट थी। अर्थबोध पाने की तीव्र जिज्ञासा उनको उपाश्रय के भीतर तक ले गई। उपाश्रय में प्रवेश करने के बाद दूर खड़े होकर अभिमानी हरिभद्र ने महत्तराजी से पूछा "इस स्थान पर चकचकाहट किस बात का हो रहा है? अर्थहीन पद्य का पुनरावर्तन क्यों किया जा रहा है?" हरिभद्र ने वक्र भाषा में यह प्रश्न किया था।

याकिनी महत्तराजी धीर-गम्भीर, आगम-विज्ञ और व्यवहार-निपुण साध्वी थीं। उन्होंने मृदु शब्दों में कहा 'नूतनं लिप्तं चिगचिगायते (नया लिपा हुआ आंगन चकचकाहट करता है।) यह शास्त्रीय पाठ है। इसे गुरु के बिना समझा नहीं जा सकता।'

याकिनी द्वारा दिए गए स्पष्ट और सारगर्भित उत्तर को सुनकर विद्वान् हरिभद्र प्रभावित हुए। वे झुके और

६. परिभवनमतिर्मदावलेपात् क्षितिसलिलाम्बरवासिनां बुधानाम्।
अवदारणजालकाधिरोहण्यपि स दधौ त्रितयं जयाभिलाषी ॥९॥
स्फुटति जठरमत्र शास्त्रपूरादिति स दधावुदरे सुवर्णपट्टम्।
मम सममितरत्ति नैव जम्बूक्षितिवलये वहते लातां च जम्बाः ॥१०॥
(प्रभा. च. पृ. ६२)

७. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ४२९।

बोले "प्रसादं कृत्वा अस्य अर्थं कथयतु साध्वीश्रीजी! कृपा कर मुझे इसका अर्थ समझाएं।"

अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शिष्यत्व स्वीकार करने की बात उन्होंने साध्वी याकिनी के सामने विनम्र शब्दों में प्रस्तुत की।

प्रभावक चरित्र के अनुसार साध्वी याकिनी महत्तराजी ने जिनभट्टसूरि के पास अर्थ समझने का निर्देश दिया। विद्वान् हरिभद्र की जिज्ञासा तीव्रतर होती जा रही थी। प्रातःकाल होते ही हरिभद्र जिनभट्टसूरि के पास पहुंचे। इससे पहले वे उस मन्दिर में गए जहां घुसकर सामने से आते हुए मदोन्मत्त हाथी से प्राण बचाए थे। 'वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टं मिष्ठान्नभोजनम्' कहकर जिन प्रतिमा का उपहास किया था। आज उस कृत्य की स्मृति मात्र से उनका मन तप्त हो रहा था। निर्मल भाव से इस बार प्रस्फुटित होने वाला कविता का रूप सर्वथा भिन्न था। मधुर शब्दों में हरिभद्र गुनगुनाए

वपुरेव तवाचष्टे भगवन्! वीतरागताम्।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः ॥२६॥

(प्रभा. च., पृ. ६३)

भगवन्! यह भव्य आकृति वीतरागता को प्रकट कर रही है। वह तरु कभी हरा नहीं हो सकता जिसके कोटर में अग्नि जल रही हो।

गुरु चरणों के निकट पहुंचते ही विद्वान् हरिभद्र को सात्विक प्रसन्नता हुई। उन्होंने झुककर नमन किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने रखी। आचार्य जिनभट्ट ने कहा "पूर्वापर सन्दर्भ सहित सिद्धान्तों को समझने के लिए मुनि-जीवन आवश्यक है।" विद्वान् हरिभद्र में श्लोकार्थ को जानने की तीव्र जिज्ञासा थी। वे मुनि बनने को तैयार हो गए। जिनभट्ट ने हरिभद्र को मुनि दीक्षा प्रदान की। श्लोक का अर्थ समझाया।

कथावली प्रसंग के अनुसार श्लोक का अर्थ पूछने पर महत्तराजी उनको अपने गुरु जिनदत्तसूरि के पास ले गई और अपने गुरु के सामने पूर्व घटना रखी। जिनदत्तसूरि ने सविस्तार श्लोक का अर्थबोध दिया। विद्वान् हरिभद्र, जिनदत्तसूरि से ज्ञान प्राप्त कर परम तुष्ट हुए। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा की बात गुरु के सामने रखी। जिनदत्तसूरि ने विद्वान् हरिभद्र से कहा 'तुम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार महत्तराजी के धर्म पुत्र बन जाओ।'

राजपुरोहित ने पूछा 'धर्म क्या होता है?'

जिनदत्त सूरि ने धर्म का स्वरूप समझाया।

हरिभद्र जिज्ञासु थे। उन्होंने नम्र होकर पूछा 'धर्म का क्या फल होता है?'

जिनदत्तसूरि ज्ञान के भण्डार थे। उन्होंने कहा "पण्डितवर्य! सकाम वृत्ति वालों के लिए धर्म का फल स्वर्गादि की प्राप्ति है। निष्काम वृत्ति वालों के लिए भव-विरह (संसार सन्तति का विच्छेद) है।

हरिभद्र बोले "मुझे भव-विरह प्रिय है।"[८]

दया के सागर जिनदत्तसूरि बोले "भद्र! भव विरह की स्थिति तक पहुँचने के लिए सर्वपाप निवारक मुनि वृत्ति को ग्रहण करो।" आचार्य जिनदत्तसूरि के दर्शन से विद्वान् हरिभद्र में सांसारिक वासना का संस्कार क्षीण हो गया। भव-विरह की बात उनके मानस को बेध गई। वे मुनि दीक्षा लेने के लिए तैयार हुए। ब्राह्मण समाज को बुलाकर उनके सामने उन्होंने जैन मुनि बनने की भावना प्रकट की। अपने सम्प्रदाय के प्रति दृढ़-आस्थाशील ब्राह्मणों द्वारा राजपुरोहित हरिभद्र के इन विचारों का विरोध होना स्वाभाविक था। किसी ने भी उनका समर्थन नहीं किया।

हरिभद्र बोले

पक्षपातं परित्यज्य, मध्यस्थीभूयमेव च।
विचार्य युक्तियुक्तं यद्, ग्राह्यं त्याज्यमयुक्तिमत् ॥३०४॥

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. १०४)

---

८. हरिभद्दो भणइ भवव पिउ मे भवविरहो॥
(कहावली पत्र-३००)

पक्षपात को छोड़कर मध्यस्थ भाव पर विचार करें। युक्तियुक्त वचन ग्राह्य है और अयुक्तिपूर्ण वचन त्याज्य है।

न वीतरागादपरोऽस्ति देवो, न ब्रह्मचर्यादपरं चरित्रम्।
नाभीतिदानात् परमस्ति दानं,
चारित्रिणो नापरमस्ति पात्रम् ॥३१५॥
(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. १०४)

वीतराग से परे कोई देव नहीं है। ब्रह्मचर्य से श्रेष्ठ कोई आचार नहीं है। अभयदान से श्रेष्ठ कोई दान नहीं है। चारित्रगुण मण्डित पुरुष से उन्नत कोई पात्र नहीं है।

बुद्धि से अपने समाज को अनुकूल बनाकर तथा उनसे सहमति प्राप्त कर विद्वान् हरिभद्र जैन मुनि बने। वे राजपुरोहित से धर्मपुरोहित बन गए और साध्वी याकिनी महत्तरा को उन्होंने धर्मजननी के रूप में अपने हृदय में स्थान दिया। आज भी उनकी प्रसिद्धि याकिनी सूनु के नाम से है।

मुनि आचार संहिता से सम्बन्धित नाना प्रकार की शिक्षाएं उन्हें गुरु से प्राप्त हुईं। अपने गण के परिचय में गुरु ने हरिभद्र मुनि को बताया "आगम प्रवीणा, साध्वी समूह में मुकुटमणि एवं महत्तरा उपाधि से अलंकृत साध्वी याकिनी मेरी गुरुभगिनी है।"[९]

हरिभद्र ने याकिनी महत्तरा के प्रति कृतज्ञ भाव प्रकट करते हुए कहा "मैं शास्त्रविशारद होकर भी मूर्ख था। सुकृत के संयोग से निजकुल देवता की तरह धर्ममाता याकिनी के द्वारा मुझे बोध मिला।"[१०]

आचार्य हरिभद्र वैदिक दर्शन के पारगामी विद्वान् थे। जैन श्रमण दीक्षा लेने के बाद वे जैन दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता बने। गुरु ने उनको सर्वतोमुखी योग्यता के आधार पर आचार्यपद पर नियुक्त किया।

आचार्य हरिभद्र के पास हंस और परमहंस दीक्षित हुए। वे दोनों आचार्य हरिभद्र के भगिनीपुत्र थे। हरिभद्र ने उन्हें प्रमाणशास्त्र का विशेष रूप से प्रशिक्षण दिया। दोनों शिष्यों ने एक बार बौद्ध प्रमाणशास्त्र के अध्ययनार्थ इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा "यह अध्ययन बौद्ध विद्यापीठ में जाकर किया जा सकता है।"

आचार्य हरिभद्र ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् थे। उनके निर्मल ज्ञान में अनिष्ट घटना का आभास हुआ। उन्होंने इस कार्य के लिए उन्हें रोका, परन्तु वे नहीं रुके। गुरु के आदेश की अवहेलना कर दोनों वहां से प्रस्थित हुए। वेश बदलकर बौद्धपीठ में प्रविष्ट हुए। विद्यार्थी दल में युग्म सहोदर प्रतिभा-सम्पन्न छात्र थे। बौद्ध अध्यापकों के पास वे बौद्ध प्रमाणशास्त्र पढ़ते और अपने स्थान पर आकर जैन दर्शन से बौद्ध दर्शन के सूत्रों की तुलना करते और स्वपक्ष-विपक्ष के समर्थन और निरसन में तर्क-वितर्क पत्र पर लिखते थे।

इस रहस्य का उद्घाटन दैवीशक्ति द्वारा हुआ। बौद्ध अधिष्ठात्री 'तारादेवी' ने वायु-वेग से पत्र को उड़ाकर उसे लेखशाला में डाल दिया। पत्र के शीर्ष स्थान पर 'नमो जिनाय' लिखा हुआ था। बौद्ध छात्रों ने उसे देखा और उसे उपाध्याय के पास ले गए। उपाध्याय ने समझ लिया यहां छद्मवेश में अवश्य कोई जैन छात्र पढ़ रहा है। परीक्षा के लिए वाटिका के द्वार पर जिन प्रतिमा की स्थापना कर गुरुजनों ने सबको जिन प्रतिमा पर चरण रखकर आगे बढ़ने का आदेश दिया। बौद्ध जानते थे, कोई भी जैन छात्र प्रतिमा पर पैर नहीं रखेगा। आदेश प्राप्त होते ही विद्यार्थी प्रतिमा पर चरण-निक्षेप करते हुए चले गण। हंस और परमहंस के सामने धर्मसंकट उपस्थित हो गया। उन्होंने समझ लिया कि यह सारा योजनाबद्ध उपक्रम हमारी परीक्षा के लिए ही किया गया है। आचार्य हरिभद्र द्वारा बार-बार निषेध किए जाने पर भी वे आग्रहपूर्वक यहां पढ़ने आए थे। गुरुजनों के

---

९. गुरुरवददयागमप्रवीणा यमि-यतिनीजनमौलिलेखरश्मीः।
मम गुरुभगिनी महत्तरेयं जयति च विदुषयाकिनीति नाम्नी ॥४१॥
(प्रभा. च., पृ. ६४)

१०. अभणदथ पुरोहितोऽनयाहं भवभवशास्त्रविशारदोऽपि मूर्खः।
अतिसुकृतवशेन धर्ममात्रा निजकुलदेवतयेव बोधितोऽस्मि ॥४२॥
(प्रभा. च., पृ. ६४)

आदेश-निर्देश की अवहेलना का परिणाम अहितकर होता है, यह उन्हें सम्यक् प्रकार से अवगत हो गया। दोनों ने एकान्त में विचार-विमर्श किया। ज्येष्ठ बन्धु ने खटिका से प्रतिमा पर ब्रह्मसूत्र की रेखा खींचकर जिन प्रतिमा की प्रतिकृति को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया और उस पर चरण रखकर आगे बढ़ा। परमहंस ने हंस का अनुगमन किया। यह काम हंस ने अत्यन्त त्वरा और कुशलता से किया। ये युगल बन्धु अपने पुस्तक-पत्रों को लेकर वहां से पलायन करने में सफल हो गए। संयोग की बात थी कि हंस का मार्ग में प्राणान्त हो गया। दूसरा हरिभद्र के चरणों में आकर गिरा। पुस्तक-पत्र उनके हाथों में सौंपकर उसने अन्तःतोष की अनुभूति की। गहरी थकान के बाद शिष्य का जीवन पूर्ण विश्राम की कामना कर रहा था। आचार्य हरिभद्र के देखते-देखते परमहंस का प्राण दीप बुझ गया।

शिष्य हंस का प्राणान्त मार्ग में हो गया, या कर दिया गया यह उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में समान रूप से प्राप्त है। परमहंस की मृत्यु के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रबन्ध-कोश के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा चित्रकूट में आकर निद्राधीन परमहंस का शिरच्छेद कर दिया गया था। प्रातःकाल आचार्य हरिभद्र ने शिष्य कबंध को देखा, वे कोपाविष्ट हो गए।[11]

दोनों प्रिय शिष्यों की मृत्यु ने उनको अप्रत्याशित निर्णय पर पहुंचा दिया। महाराज सूरपाल की अध्यक्षता में उन्होंने बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया। इस गोष्ठी की भावी परिणति अत्यन्त भयावह और हिंसात्मक थी। परास्त दल को तप्त तेल के कुण्ड में जलने की प्रतिज्ञा के साथ इस शास्त्रार्थ का प्रारम्भ हुआ था। हरिभद्र इसमें पूर्ण विजयी हुए। यह विजय हिंसा में परिणित होने जा रही थी। जिनभट्ट सूरि को हिंसा परक घटना की सूचना मिली। उन्होंने कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र को प्रतिबोध देने के लिए दो श्रमणों को तीन श्लोक देकर भेजा था। वे श्लोक इस प्रकार हैं

गुणसेण-अग्गिसम्मा सीहाणंदा य तह पिआपुत्ता।
सिहि-जालिणि माइ-सुआ
धण-धणसिरिमो य पइ-भज्जा ॥१८५॥
जय-विजया य सहोअर धरणो लच्छी अ तह पई-भज्जा।
सेण-विसेणा पित्तिय-उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥१८६॥
गुणचंद-वाणमंतर समराइच्च-गिरिसेण पाणो अ।
एगस्स तओ मोक्खोऽणन्तो अन्नस्स संसारो ॥१८७॥

(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ७३)

इन श्लोकों में गुणसेन और अग्निशर्मा के कई भवों की वैराग्यमयी घटना है। वैर का अनुबन्ध भव-भवान्तर तक चलता रहता है। यह तथ्य इस कथा के माध्यम से स्पष्ट उभारा गया। आचार्य जिनभट द्वारा प्रेषित इन श्लोकों को पढ़ते ही हरिभद्र का कोप शान्त हो गया।

प्रबन्धकोश के अनुसार शिष्य के कबन्ध को देखकर कुपित हरिभद्र ने १४४० भिक्षुओं को व्योम मार्ग से आकृष्ट कर उनको वध का उपक्रम बनाया था पर श्रमणों के माध्यम से गुरु द्वारा प्रेषित 'गुणसेन-अग्गिसम्मा'...आदि तीनों श्लोकों को पढ़कर हरिभद्र का क्रोध शांत हुआ। प्रायश्चित्त रूप में विद्वान हरिभद्र ने १४४० ग्रन्थों की रचना की।

श्रुतानुश्रुत परम्परा के अनुसार क्रुद्ध हरिभद्र को प्रतिबोध देने वाली याकिनी महत्तराजी थीं। रात्रि के समय आचार्य हरिभद्र विद्याबल से १४४४ बौद्ध भिक्षुओं को व्योममार्ग से आकृष्ट कर उनकी हिंसा का उपक्रम कर रहे थे। इस घटना की सूचना मिलते ही महत्तराजी ने तत्काल उपाश्रय में जाकर द्वार खटखटाया और कहा "मुझे अभी प्रायश्चित्त लेना है।"

आचार्य हरिभद्र ने भीतर से ही प्रत्युत्तर दिया "महत्तराजी! इस समय साध्वियों का प्रवेश निषिद्ध है। प्रायश्चित्त कल कर लेना।"

महत्तराजो अपने आग्रह पर दृढ़ थीं। वह

११. प्रातः श्रीहरिभद्रसूरिभिः शिष्यकबन्धो दृष्टः। कोपः। तैलकटाहाः कारिताः।

(प्रबन्धकोश, पृ. २५, पंक्ति ३, ४)

बोलीं "इस जीवन का कोई विश्वास नहीं है। कल होने तक यदि सांस रुक गया तो मैं अपने दोष का प्रायश्चित्त किए बिना ही विराधक हो सकती हूं। कृपया द्वार अभी खुलने चाहिए।"

आचार्य हरिभद्र के मानस में महत्तराजी के लिए बहुत ऊंचा स्थान था। वे कथन का प्रतिवाद नहीं कर सके। द्वार खोल दिए गए। आचार्य हरिभद्र महत्तराजी बोलीं "प्रमादवश मेरे पैर से मेंढक मर गया है। मुझे प्रायश्चित्त प्रदान करें।" आचार्य हरिभद्र ने दोष-विशुद्धि हेतु उन्हें तीन उपवास दिए। महत्तराजी ने निवेदन किया "मुझे एक मेंढक की उपघात के प्रायश्चित्त स्वरूप तीन उपवास मिले हैं। आपको इस हिंसा का कितना प्रायश्चित्त करना होगा?" आचार्य हरिभद्र एक वाक्य से ही सम्भल गए। डूबती नैया किनारे लग गई, छूटती पतवार हाथ में थम गई।

तेल कड़ाह की घटना का प्रसंग पुरातन प्रबंध संग्रह एवं प्रबंध कोश में भी है पर महत्तरा जी के नाम का उल्लेख नहीं है।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के अनुसार परमहंस भागता हुआ किसी प्रकार सूरपाल राजा की शरण में पहुंच गया। परमहंस का पीछा करता हुआ प्रतिपक्ष का सुभट दल भी समय के अत्यल्प अन्तराल के बाद सूरपाल के पास आया और परमहंस की मांग की। सूरपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। फिर भी उसने 'शरणागतं नार्पये' शरणागत को देने से इन्कार कर दिया।

सूरपाल की अध्यक्षता में दिल को कंपाने वाली क्रूर शर्तपूर्वक परमहंस का प्रतिपक्ष के साथ शास्त्रार्थ हुआ। परमहंस प्रखर बुद्धि का स्वामी था पर प्रतिपक्ष द्वारा षड्यंत्र पूर्वक शास्त्रार्थ किए जाने के कारण परमहंस की हार हुई। इस शास्त्रार्थ की परिणति पूर्व शर्त के कारण हिंसा के रूप में उभरी। परमहंस को मृत्यु की दहलीज पर चढ़ना पड़ा। तत्पश्चात् देवी ने पक्षी का रूप धारण कर परमहंस का रक्तसना रजोहरण चोंच में पकड़ा। वहां से उड़कर उसने रजोहरण को चित्रकूट में छोड़ दिया। प्रातः जब हरिभद्र ने शिष्य का लहूसना रजोहरण देखा। वे क्रुद्ध हुए। आचार्य जिनभद्र द्वारा निर्देश पाकर एक सुदक्ष श्रावक कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र के पास पहुंचा और उसने प्रार्थना की "आर्य! मैं गुरुदेव जिनभद्र के पास प्रायश्चित्त लेने के लिए गया था। उन्होंने मुझे प्रायश्चित्त ग्रहणार्थ आपके पास भेजा है। मेरे से पंचेन्द्रिय जीव की विराधना हो गई है, इससे मेरा मन बहुत खिन्न है। आप मुझे कृपा कर प्रायश्चित्त प्रदान करें।"

हरिभद्र उन्मुख होकर बोले "सुबहुप्रायश्चित्तमेष्यति" तुम्हें बहुत प्रायश्चित्त करना होगा। श्रावक बोला "मुझे इतना प्रायश्चित्त प्रदान कर रहे हैं, आपको इस हिंसा के लिए कितना प्रायश्चित्त वहन करना होगा?"

सुविज्ञ हरिभद्र ने समझ लिया यह प्रेरणा श्रावक के माध्यम से आचार्य जिनभद्र की है। उन्होंने लज्जा से अपना मुख नीचे कर लिया।

श्रावक पुनः बोला "गुरुदेव ने कहलाया है कि आपने समरादित्य चरित्र को पढ़ा या नहीं? वैर का कटु परिणाम जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है। आप व्यर्थ ही रोषारूण होकर इतने बड़े वैर का बन्ध क्यों कर रहे हैं?"

श्रावक के मुख से आचार्य जिनभद्र की शिक्षा को सुनकर आचार्य हरिभद्र का अन्तर्विवेक जागा। वे हिंसा के कार्य से सर्वथा निवृत्त हुए। प्रायश्चित्त ग्रहण कर विशुद्ध हुए। उसके बाद उन्होंने आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित श्लोकों के आधार पर समरादित्य-कथा की रचना प्राकृत भाषा में की।[१२]

ये हिंसात्मक प्रसंग आचार्य हरिभद्र के चरित्र-निष्ठ व्यक्तित्व के साथ अप्रासंगिक लगते हैं।

---

१२. पुनः सह गीत्वा प्रायश्चित्तं कृतवन्तः।
तदनु 'समरादित्यचरितं' वैराग्यामृतमयं चक्रुः।
(पुरा. प्रबन्ध संग्रह, पृ. १०५, पं. २३, २४)

कथावली के अनुसार आचार्य हरिभद्र के शिष्य जिनभद्र और वीरभद्र थे। चित्रकूट में आचार्य हरिभद्र के असाधारण प्रभाव से कुछ व्यक्तियों में ईर्ष्या का भाव पैदा हुआ और उन्होंने उनके दोनों शिष्यों को गुप्त स्थान पर मार दिया। यह प्रसंग आचार्य हरिभद्र के हृदय में सुतीक्ष्ण शस्त्र की तरह घाव कर गया। उन्होंने अनशन की करने सोची। उनकी निर्मल प्रतिभा से जैन शासन की प्रभावना की सम्भावना थी, अतः सबने मिलकर उन्हें इस कार्य से रोका।

आचार्य हरिभद्र ने संघ की बात को सम्मान प्रदान कर अपने चिन्तन को मोड़ा। शिष्य-सन्तति के स्थान पर वे ज्ञान-सन्तति के विकास में लगे। उनकी वृत्तियों का शोध हुआ, पर शिष्यों की वेदना उनके हृदय में कम न हुई, प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के अनुसार गुरु द्वारा प्रेषित श्लोकों को पढ़कर हरिभद्र ने कोप का परित्याग किया। वे गुरु के पास प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए पर उनके भीतर में शिष्यों के विरह की ज्वाला शान्त नहीं हुई। अम्बादेवी ने प्रगट होकर कहा आर्य! शिष्य सन्तति का लाभ आपको प्राप्त होने वाला नहीं है। ग्रन्थ सन्तति ही आपके नाम को दीर्घकाल तक उजागर करेगी। देवी वचनों से प्रेरणा प्राप्त कर हरिभद्र ग्रन्थरचना में लगे। उन्होंने समरादित्य चरित्र आदि १४०० ग्रन्थों का निर्माण किया। ग्रन्थ के अंत में उन्होंने विरह शब्द का प्रयोग किया है[१३] जो उनकी विरह-वेदना का सूचक था। आज हरिभद्रकृत ग्रन्थों की पहचान अंत में प्रयुक्त विरह शब्द से होती है। आचार्य हरिभद्र के साधनाशील जीवन की भूमिका पर यह प्रसंग स्वाभाविक प्रतीत होता है।

साहित्य

आचार्य हरिभद्र ने उच्चकोटि का विपुल साहित्य लिखा। उनके ग्रन्थ जैन शासन के अनुपम वैभव हैं। आचार्य हरिभद्र की लेखनी विविध विषयों पर चली। आगमिक क्षेत्र में वे सर्वप्रथम टीकाकार थे। योग के क्षेत्र में भी उन्होंने नई दृष्टियां प्रदान कीं। उन्होंने ज्ञानवर्धक प्रकीर्णक ग्रन्थों की रचना की।

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी और अनुयोगद्वार इन आगमों पर टीका रचना का कार्य किया। पिण्डनिर्युक्ति की उनकी अपूर्ण रचना को वीराचार्य ने पूर्ण किया था। विविध विषयों का विवेचन करती हुई उनकी टीकाएं विशेष ज्ञानवर्धक हैं। ये टीकाएं भावी टीकाकारों के लिए आधारभूत बनीं।

जैन साहित्य में उनके ७५ ग्रन्थों के नाम उपलब्ध होते हैं। उनके प्रमुख ग्रन्थों का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है

आवश्यक टीका आवश्यकनिर्युक्ति गाथाओं पर इस टीका की रचना हुई निर्युक्ति गाथाओं की व्याख्या में आवश्यकचूर्णि का पदानुसरण नहीं है। इसमें सामायिक आदि सभी पदों पर बहुत विस्तार से विवेचन है तथा विस्तृत रुचि रखने वाले पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। टीका की परिसमाप्ति में जिनभद्र, जिनदत्त, याकिनी महत्तराजी आदि का उल्लेख करते हुए अपने को अल्पमति कहकर परिचय दिया है। यह टीका बाईस हजार श्लोक परिमाण है।

दशवैकालिक टीका इस टीका की रचना दशवैकालिकनिर्युक्ति गाथाओं के आधार पर हुई है। इसका नाम शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे बृहद्वृत्ति भी कहते हैं। इस वृत्ति रचना का उद्देश्य स्पष्ट करने के बाद हरिभद्र ने दशवैकालिक के निर्यूहण कर्ता आचार्य शय्यंभव का पूर्ण परिचय दिया है।

निर्जरा के बारह भेदों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार की व्याख्या, अठारह सहस्र-शीलांग का प्रतिपादन, श्रमण धर्म की दुर्लभता, भाषा-विवेक, व्रतषट्क, कायषट्क आदि अठारह स्थान, आचार

१३. अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः।
निजकृतिभिरिह संख्यया तु सप्ततां विरहपदेन पुष्णं सतां स मुख्यः ॥२०६॥
(प्रभा. च., पृ. ७४)

प्रणिधि, समाधि के चारों प्रकार, भिक्षु स्वरूप, चूलिका में आए हुए रतिजनक तथा अरतिजनक कारण और साधु-जीवन की विविध चर्या का स्पष्टीकरण इस वृत्ति के विवेच्य-स्थल हैं।

टीका के अन्त में टीकाकार ने अपना परिचय महत्तरा धर्मपुत्र के नाम से दिया है।[14]

जीवाभिगम टीका यह टीका जीवाभिगम सूत्र पर है। इसमें जैन तत्त्व दर्शन का विवेचन है। तत्त्वज्ञान पिपासु पाठकों के लिए यह टीका विशेष उपयोगी है। जीवाभिगम सूत्र पर लघुवृत्ति है।

प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या यह टीका प्रज्ञापना सूत्र के पदों पर है। यह संक्षिप्त और सरल टीका है। इसके प्रारम्भ में जिन प्रवचन की महिमा है। भव्य और अभव्य के प्रसंग में एतद्विषयक वादिमुख्य के श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं और प्रज्ञापना सूत्र के विभिन्न विषयों का विवेचन साधारण जनता के लिए जीव और अजीव से सम्बन्धित है। सैद्धान्तिक विषयों को भी सरलतापूर्वक समझाया गया है। अष्टम पद की व्याख्या में संज्ञा स्वरूप का विवचेन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रज्ञापना के ग्यारहवें पद के आधार पर इसमें काम-शास्त्र-सम्बन्धी सामग्री है और स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक के स्वभावगत लक्षणों का भी सुन्दर विवेचन है।

नन्दी वृत्ति इसकी रचना नन्दी चूर्णि की शैली पर हुई है। नन्दी टीका २३३६ श्लोक परिमाण है और इसमें केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की परिचर्चा, नन्दी चूर्णि में वर्णित सभी विषयों का स्पष्टीकरण तथा अयोग्यदान और फल प्रक्रिया की विवेचना है।

अनुयोगद्वारवृत्ति इसकी रचना अनुयोगचूर्णि की शैली पर है। अनुयोग वृत्ति का नाम 'शिष्यहिता टीका' है। इसकी रचना नन्दी विवरण के बाद हुई है। मंगल आदि शब्दों का विवेचन नन्दीवृत्ति में हो जाने के कारण इसमें नहीं किया गया ऐसा टीकाकार का उल्लेख है। प्रमाण आदि को समझाने के लिए अंगुलों का स्वरूप, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम की व्याख्या, ज्ञाननय और क्रियानय का वर्णन इस वृत्ति के मुख्य प्रतिपाद्य हैं।

आवश्यक सूत्र बृहद्वृत्ति भी आचार्य हरिभद्र की रचना मानी गई है। इसका श्लोक परिमाण चौरासी हजार (८४०००) था। वर्तमान में यह टीका उपलब्ध नहीं है। आगम साहित्य के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी आचार्य हरिभद्र ने कई टीकाएं रचीं।

तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति (अपूर्ण टीका), पिण्डनिर्युक्ति-वृत्ति, क्षेत्रसमास टीका, सर्वज्ञसिद्धि टीका, न्यायावतार वृत्ति आदि टीकाएं आचार्य हरिभद्रसूरि की अनन्य क्षमता का बोध कराती हैं। योगदृष्टिसमुच्चय वृत्ति स्वनिर्मित योगदृष्टिसमुच्चय की व्याख्या है। शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका भारतीय दर्शनों का दर्पण है।

जैनेतर साहित्य पर भी टीका रचना का कार्य आचार्य हरिभद्र ने किया। न्याय-प्रवेश ग्रन्थ बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग की रचना है। उस पर भी हरिभद्र ने टीका लिखी और जैनों के लिए बौद्ध दर्शन में प्रवेश पाने का मार्ग सुगम किया। इस टीका से जैनेतर विषयों में भी हरिभद्रसूरि के अगाध ज्ञान का बोध होता है।

टीका साहित्य की तरह जैन योग साहित्य के आदि-प्रणेता भी हरिभद्र सूरि थे। उन्होंने योग-सम्बन्धी नई परिभाषाएं एवं वैज्ञानिक पद्धतियां प्रस्तुत कीं। योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका, योगशतकम्

ये ग्रन्थ योग-सम्बन्धी अपूर्व सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अष्टांग योग के स्थान पर स्थान ऊर्ण आदि पंचांग योग तथा मित्रा, तारा, बला, दीप्रा आदि आठ यौगिक दृष्टियों का प्रतिपादन उनकी मौलिक सूझ का परिणाम है।

---

१४. महत्तरायाकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता।
आचार्य हरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥ प्रशस्ति श्लोका ॥
(दशवै. हारि. वृत्तिः)

चार अनुयोगों पर उन्होंने रचना की है। द्रव्यानुयोग में धर्म संग्रहणी, गणितानुयोग में क्षेत्रसमासवृत्ति, चरणानुयोग में धर्मबिन्दु, उपदेश पद और धर्म कथानुयोग में धूर्ताख्यान उनकी सरस कृतियां हैं।

धर्म संग्रहणी ग्रन्थ में पांच प्रकार के ज्ञान का वर्णन; सर्वज्ञसिद्धि समर्थन तथा चार्वाकदर्शन का युक्ति पुरस्सर निरसन है। सम्यक् दर्शन (सम्यक्त्व) का विवेचन आचार्य हरिभद्र के 'दंसण सुद्धि' (दर्शन शुद्धि) ग्रन्थ में है।

सावगधम्म (श्रावक धर्म) और सावगधम्मसमास (श्रावक धर्म समास) इन दोनों कृतियों में श्रावक धर्म की शिक्षाएं तथा बारह व्रतों का विवेचन है।

भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट करने वाली अनेकान्तजयपताका व अनेकान्त प्रवेश अत्यन्त गम्भीर रचनाएं हैं। ये दर्शन जगत् में समादृत हैं।

षड्दर्शन समुच्चय में भारत के प्रमुख छह दर्शनों का उल्लेख तथा उनके द्वारा सम्मत सिद्धान्तों का प्रामाणिक निरूपण है। नास्तिक धारा को भी आस्तिक धारा के समकक्ष प्रस्तुत कर उन्होंने उदारता, सदाशयता और तटस्थता का परिचय दिया है।

उनका श्रेष्ठग्रन्थ कथाकोष कथाओं का दुर्लभ भण्डार था जो वर्तमान में नहीं है।

'समराइच्चकहा' उनकी प्रसिद्ध प्राकृत रचना है। शब्दों का लालित्य, शैली का सौष्ठव, सिद्धान्त-सुधापान कराने वाली कान्त पदावली एवं सौन्दर्य-प्रसाद तथा माधुर्य गुणों का दर्शन इस कृति में है।

लोकतत्त्वनिर्णय, श्रावकप्रज्ञप्ति, अष्टकप्रकरण, पंचाशक, पंचवस्तु प्रकरण टीका आदि अनके ग्रन्थों के रूप में साहित्य-जगत् को आचार्य हरिभद्र की अमर देन है।

आचार्य हरिभद्र का युग पक्षाग्रह का युग था। उस समय में भी उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट उद्घोष किया

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।

आचार्य हरिभद्र स्पष्टवादी थे। उन्होंने सम्बोध-प्रकरण में उस युग में व्याप्त शिथिलाचार के प्रति करारा प्रहार किया।

हरिभद्र का साहित्य उत्तरवर्ती साहित्यकारों के लिए आधार बना। उनकी 'समराइच्चकहा' को पढ़कर आचार्य उद्योतन के मन में भी ग्रन्थ रचना की प्रेरणा जागी। उसकी परिणति कुवलयमाला के रूप में हुई। उनकी टीकाओं ने संस्कृत में आगम व्याख्या लिखने का मार्ग प्रशस्त किया। शीलांक, अभयदेव, मलयगिरि आदि टीकाकारों, विद्वानों के लिए प्रेरणा-स्रोत उनका टीका साहित्य है। उनकी योग-सम्बन्धी नई दृष्टि ने योग के सन्दर्भ में सोचने का नया क्रम दिया। योग पल्लवन की दिशा में यशोविजयजी को उत्साहित करने वाली हरिभद्रसूरि की यौगिक कृतियां हैं।

हरिभद्रसूरि ने जन्तु विशेष द्वारा भक्षित जीर्ण-शीर्ण पुस्तक से निशीथ सूत्र का उद्धार किया।[१५]

साहित्य रचना में लल्लिग नाम के एक व्यक्ति ने उनको सहयोग दिया था। लल्लिग रात्रि के समय हरिभद्रसूरि के उपाश्रय में एक मणि रख दिया करता था, जिसके प्रकाश में हरिभद्रसूरि साहित्य रचना किया करते थे।[१६]

यह लल्लिग, हरिभद्रसूरि के शिष्य जिनभद्र, वीरभद्र का काका था। अर्थाभाव के कारण लल्लिग मुनि-दीक्षा लेने को तैयार हुआ पर हरिभद्र ने उसको दीक्षा नहीं दी। लल्लिग को हरिभद्रसूरि के एक वचन से व्यापार में अत्यधिक लाभ हुआ। हरिभद्रसूरि रात्रि में रचना करते समय जो कुछ दीवार या पट्टी पर लिखते, लल्लिग उनकी दिन में प्रतिलिपि किया करता था।

---

१५. चिरलिखितविशीर्णवर्णभग्नप्रविरलपत्रसमूहपुस्तकस्थम्।
कुशलमतिरिहोद्धार जैनेऽपनिषदिकं स महानिशीथशास्त्रम् ॥२१९॥
(प्रभा. च. पृ. ७५)

१६. समप्पियं च सूरिणो लल्लिगेण पुव्वागयरयणाणं मज्झाओ जच्चरयणं तदुज्जोएण य रयणीए वि दिप्पेइ सूरिमिति पइयाइ सुगन्धे।
(कहावली)

आचार्य हरिभद्र जब आहार करते तब लल्लिग शंख बजाया करता था। शंख की ध्वनि के साथ कुछ याचक आते, भोजन करते और जाते समय आचार्य हरिभद्र को नमस्कार करते थे। हरिभद्र आशीर्वाद में उन्हें कहते "भव विरह में प्रयत्नशील बनो।" भव विरह के इस आशीर्वाद से उनका नाम भवविरहसूरि प्रसिद्ध हो गया था।

कार्पासिक नामक एक व्यक्ति हरिभद्रसूरि का परम भक्त था। हरिभद्रसूरि द्वारा धूर्ताख्यान की कथा सुनकर वह सुलभबोधि बना एवं हरिभद्रसूरि को अपना गुरु मानने लगा। लल्लिग की भांति हरिभद्रसूरि के सम्पर्क में आने के बाद उसकी व्यापारिक उन्नति हुई। वह हरिभद्रसूरि को अपना परम उपकारी मानने लगा। लल्लिग ने हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने का कार्य किया। कार्पासिक ने ग्रन्थों की प्रतिलिपि कराकर दूर-दूर तक भेजा एवं साहित्य के प्रचार-प्रसार का उल्लेखनीय कार्य किया।

प्रबन्धकोश प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य हरिभद्र ने १४४० ग्रन्थों की रचना की।[१७] पुरातन प्रबन्ध-संग्रह के अनुसार उन्होंने १४०० ग्रन्थों की रचना की।[१८] आज विद्वानों की दृष्टि में ग्रन्थों की यह संख्या संदिग्ध है।

आचार्य हरिभद्रसूरि का सम्पूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है पर जो कुछ भी प्राप्त है, वह उच्चकोटि का है। उसमें आचार्य हरिभद्र की अमेय मेधा के दर्शन होते हैं। शोध लेखकों के लिए उनके ग्रन्थ पर्याप्त सामग्री प्रदान करते हैं।

अनशन अध्यात्म साधना में लीन हरिभद्राचार्य ने जीवन के सन्ध्याकाल में अनशन को उल्लास से स्वीकार किया। भावों की उच्च श्रेणी में अनशन सम्पन्न कर वे परम समाधि के साथ स्वर्गवासी हुए।

"अनशनमनघं विधाय निर्यामकवरविस्मृतहार्दभूरिबाधः।
त्रिदशदिन इव स्थितः समाधौ
त्रिदिवमसौ समवापदायुरन्ते ॥२२१॥

(प्रभा. च., पृ. ७५)

समय संकेत

हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के ग्रन्थगत अवतरणों का उपयोग किया है। अतः हरिभद्र उनसे उत्तरवर्ती हैं। युगप्रधान पट्टावलियों के अनुसार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का समय वी. नि. सं. १०५५ से ११११५ (वि. सं. ५८५ से ६४५) तक माना गया है।

उद्द्योतनसूरि ने आचार्य हरिभद्रसूरि से तर्कशास्त्र का प्रशिक्षण लिया था। यह उल्लेख कुवलयमाला में है। कुवलयमाला की रचना एक दिवस न्यून शक सं. ७०० में सम्पन्न हुई थी। इस आधार पर हरिभद्र का समय इससे पूर्व का है।

विद्वान् आचार्य जिनविजयजी ने हरिभद्र का समय वी. नि. १२२७ से १२९७ (वि. सं. ७५७ से ८२७) तक निर्णीत किया है। हरिभद्र का प्राचीन समय वि. की छठी शताब्दी और वर्तमान समय वि. की ८वीं शताब्दी है।

---

१७. (क) बोधः शान्ति। १४४० ग्रन्थाः प्रायश्चित्तपदे कृताः।
(प्रबन्धकोश, पृ. २५, पंक्ति ११)
(ख) पुनरिह च शतोनमुग्रधीमान् प्रकरणसार्द्धसहस्रमेष चक्रे।
(प्रभा. च. श्लोक २०५)

१८. तैश्चतुर्दशशतानि कृतानि सिद्धान्तरहस्यभूतानि (प्रकरणानि)।
(पुरातन प्रबन्ध, सं. १०४, पंक्ति २७)

६४. वरिष्ठ विद्वान् आचार्य बप्पभट्टि

बप्पभट्टि अपने युग के बहुचर्चित आचार्य थे। उनका दूसरा नाम भद्रकीर्ति था पर उनकी प्रसिद्धि बप्पभट्टि के नाम से हुई। शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के कारण उन्हें वादि-कुञ्जर केशरी की उपाधि प्राप्त हुई।[1] अपने बुद्धि से कान्यकुब्ज नरेश 'आम' को प्रभावित कर बप्पभट्टि ने जैन शासन की महती प्रभावना की। गौड़देश (बंगप्रदेश) के धर्मराज नरेश भी आचार्य बप्पभट्टि की चामत्कारिक काव्य प्रतिभा पर अत्यन्त मुग्ध थे।

गुरु-परम्परा

बप्पभट्टि के गुरु का नाम सिद्धसेन था। ये सिद्धसेन श्वेताम्बर परम्परा में 'मोढ़' गच्छ के आचार्य थे एवं इतिहास प्रसिद्ध दिवाकर सिद्धसेन से भिन्न थे। इन सिद्धसेन की पूर्व गुरु परम्परा का उल्लेख प्रभावक चरित्र आदि ग्रन्थों में नहीं है। गोविन्दसूरि और नन्दसूरि सिद्धसेन के ज्येष्ठ गुरु बन्धु (एक गुरु से दीक्षित मुनि परस्पर गुरु भाई कहलाते हैं) थे।

जन्म एवं परिवार

बप्पभट्टि क्षत्रिय वंशज थे। बप्पभट्टि का जन्म वी. नि. १२७० (वि. सं. ८००) भाद्रपद तृतीया, रविवार को गुजरात प्रदेशान्तर्गत डुम्बाउधि गांव में हुआ।[2] उनके पिता का नाम बप्प एवं माता का नाम भट्टि था। बप्पभट्टिसूरि के वंशज सम्भवतः पाञ्चाल देश निवासी थे। स्वयं का परिचय देते समय बप्पभट्टि अपने को पाञ्चाल देशय बप्प का पुत्र बताया करते थे।[3] बप्पभट्टि की जन्मस्थली पाञ्चाल नहीं, गुजरात की धरा थी, अतः पाञ्चाल उनका गोत्र भी हो सकता है। आज भी गुजरात के कुछ लोग जाति के आधार पर अपने को पाञ्चाल कहते हैं। बप्पभट्टि के बचपन का नाम सूरपाल था।

जीवन-वृत्त

सूरपाल एक स्वाभिमानी बालक था। एक बार वह रुष्ट होकर निकल गया और सिद्धसेन के चरणों तक पहुंच गया। यहीं से सूरपाल के जीवन-सुधार का द्वार खुल गया।

आचार्य सिद्धसेन एक बार मोढ़ेर नगर में विराजमान थे। उन्होंने स्वप्न में चैत्य पर छलांग भरते केशरी-शावक को देखा।[4] वे प्रातः मन्दिर में गए। उनकी दृष्टि एक छह वर्षीय बालक पर केन्द्रित हुई। वह आकृति से प्रभावक प्रतीत हो रहा था। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से पूछा "तुम कौन हो? कहां से आ रहे हो?" बालक ने कहा "मेरा नाम सूरपाल है। मैं पाञ्चालदेश्य बप्प का पुत्र हूं। मेरी मां का नाम भट्टि है। मेरे मन में राजद्रोही शत्रुजनों से युद्ध करने की भावना जागृत हुई, पर पिता ने मुझे रोक दिया। निरभिमानी पिता के पास रहना मुझको उचित नहीं लगा। मैं घर के वातावरण से पूर्णतः असन्तुष्ट होकर मां-बाप को बिना पूछे ही यहां चला आया हूं।"

आचार्य सिद्धसेन व्यक्ति के पारखी थे। वे आकृति

---

१. बप्पभट्टिर्भद्रकीर्तिर्वादिकुञ्जरकेसरी।
ब्रह्मचारी गजवरो राजपूजित इत्यपि ॥७६६॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ११०)

२. विक्रमतः शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद् बप्पभट्टिगुरोः ॥७३९॥
(प्रभावक चरित्र, पत्राङ्क १०९)

३. पञ्चालदेश्य-बप्पाख्यः पुत्रोऽहं भट्टिदेहभूः॥१७॥
(प्रभा. च., पत्राङ्क ८०)

४. श्रीसिद्धसेननामा सूरीश्वरो.....रात्रावात्मारामरतो योगनिद्रया स्थितः सन् स्वप्नं ददर्श। यथा केसरिकिशोरको देवगृहोपरि क्रीडति।
(प्रबन्धकोश, पृ. २६, पंक्ति १५ से १८)

को देखकर उसके व्यक्तित्व को पहचान लेते थे। आचार्य सिद्धसेन ने बालक को देखकर चिन्तन किया, "अहो दिव्यरत्नं, न मानवमात्रोऽयं" यह सामान्य बालक नहीं, दिव्य रत्न है। "तेजसा हि न वयः समीक्ष्यते" तेजस्विता का वय से कोई अनुबन्ध नहीं है। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से कहा, "वत्स! हमारे पास रहो। सन्तों का आवास घर से भी सुखकर होता है।" विकस्वर सरोरुह पर अलि का मुग्ध होना स्वाभाविक है। सूरपाल गुरु से बोध प्राप्त कर उनके पास रहने लगे। आचार्य सिद्धसेन बालक को लेकर अपने स्थान पर आए। उसकी भव्य आकृति को देखकर श्रमणों को प्रसन्नता हुई। गुरु ने उसे अध्यात्म-प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया।

बालक तीव्र प्रज्ञा का धनी था। उसे श्रवणमात्र से पाठ याद हो जाता था। एक दिन में सूरपाल ने सहस्र श्लोक कण्ठस्थ कर सबको विस्मयाभिभूत कर दिया।[५] बालक की शीघ्रग्राही मेधा से गुरु को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्हें लगा जैसे योग्य पुत्र को उपलब्ध कर पिता धन्य हो जाता है, उसी प्रकार हम योग्य शिष्य को पाकर धन्य हो गए। पुण्य-संचय से ही ऐसे शिष्य-रत्नों की प्राप्ति होती है।

शिष्य परिवार से परिवृत सिद्धसेन डुम्बाउधी ग्राम में गए। बालक सूरपाल भी उनके साथ था। डुम्बाउधी सूरपाल की जन्मभूमि थी। राजा बप्प और भट्टि दोनों मुनिजनों को वन्दन करने आए। आचार्य सिद्धसेन ने उनको उद्बोध देते हुए कहा "संसार अवकर में अनेक पुत्र कृमि की भांति पैदा होते हैं, उनसे क्या! तुम्हारा पुत्र धन्य है; वह व्रत धर्म को स्वीकार करना चाहता है। तुम इस पुत्र का धर्मसंघ के लिए दान कर महान् धर्म की आराधना करो। भवार्णव से तैरने की भावना रखता हुआ तुम्हारा पुत्र श्लाघनीय है।"

पुत्र के दीक्षा ग्रहण की बात सुनकर माता-पिता उदास हो गये। वे बोले, "हमारे घर में यह एक ही कुलदीप है, उसे हम आपको कैसे प्रदान कर सकते हैं?"

मोह का बन्ध माता-पिता में जितना सघन था उतना सूरपाल में नहीं था। धर्मगुरुओं के पास रहने के कारण उसका मोह और भी तरल हो गया था। उसने सबके सामने अपने विचार स्पष्ट कहे "मैं चारित्र पर्याय को अवश्य स्वीकार करूंगा।" पुत्र की निश्चयकारी भाषा से माता-पिता को अपने विचार बदलने पड़े। सुत को गुरु-चरणों में समर्पित करते हुए उन्होंने निवेदन किया, "आर्य! आप इसे ग्रहण करें और इसका नाम बप्पभट्टि रखें, इससे हमारा नाम भी विश्रुत होगा।"

आचार्य सिद्धसेन को बप्पभट्टि नाम रखने में कोई बाधा नहीं थी। उन्होंने अभिभावकों की आज्ञा से वी. नि. १२७७ (वि. सं. ८०७) वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन गुरुवार को मोढ़ेरक ग्राम में उसे दीक्षा प्रदान की।[६] मुनि जीवन में सूरपाल का नाम भद्रकीर्ति रखा गया। बप्पभट्टि नाम उनका विशेष प्रसिद्ध हुआ। यह नाम मां-बाप की प्रार्थना पर गुरु ने पहले ही स्वीकार कर लिया था। संघ की प्रार्थना से आचार्य सिद्धसेन ने वह चतुर्मास वहीं किया।

एक बार की घटना है। बप्पभट्टि बहिर्भूमि गए। अतिवृष्टि के कारण उन्हें देव-मन्दिर में रुकना पड़ा। वहां इतर नगर से समागत एक प्रबुद्ध व्यक्ति से उनका मिलना हुआ। वह व्यक्ति विशेष प्रभावी परिलक्षित हो रहा था। उसे मुनि बप्पभट्टि से प्रसाद गुणसम्पन्न गम्भीर काव्य के श्रवण का आस्वाद प्राप्त हुआ। वह बप्पभट्टि की व्याख्या-शक्ति से प्रसन्न हुआ और वर्षा रुकने पर उन्हीं के साथ धर्म-स्थान पर आ गया। आचार्य सिद्धसेन ने उससे पूछा "तुम कौन हो?" उसने कहा "कान्यकुब्ज देश के अन्तर्गत गोपालगिरि नगर के राजा यशोवर्मा का पुत्र हूं। मेरी माता का नाम सुयशा

---

५. एकाहेन श्लोकसहस्रमध्यगीष्ट।
(प्रबन्धकोश, पृ.२६, पं.२८)

६. शताष्टके च वर्षाणां गते विक्रमकालतः।
सप्ताधिके राधशुक्लतृतीयादिवसे गुरौ ॥२८॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ८०)

है। मैं यौवन से उन्मत्त होकर विपुल धन का व्यय करता था। मेरी इस आदत से प्रकुपित पिता ने मुझे शिक्षा दी 'वत्स! मितव्ययी भव' वत्स! मितव्ययी बन। पिता की यह शिक्षा मुझे नीम की तरह कटु लगी। मैं उनसे रुष्ट होकर घर से निकला और इतस्ततः चक्कर लगाता यहां आ पहुंचा हूं। गुरु के द्वारा नाम पूछने पर उसने खटिका से लिखकर बताया 'आम।' आम का यह व्यवहार देखकर गुरु को लगा यह कोई पुण्य पुरुष है।

आम भी आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हुआ। गुरु के आदेश से उसने मुनि बप्पभट्टि से बहत्तर कलाओं का प्रशिक्षण पाया।[७] लक्षण और तर्क प्रधान ग्रन्थों को पढ़ा। धीरे-धीरे बप्पभट्टि के साथ आम की प्रीति अस्थि-मज्जा की भांति सुदृढ़ हो गई।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण
हस्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना
छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥४॥

(प्रबन्धकोश, पृ. २८)

खल मनुष्यों की प्रीति प्रभातकालीन छाया की भांति क्रमशः घटती जाती है, और सज्जन मनुष्यों की प्रीति मध्याह्नोत्तर छाया की भांति क्रमशः बढ़ती जाती है।

आम और बप्पभट्टि की प्रीति दिन-प्रतिदिन गहरी होती गई। कुछ काल के बाद राजा यशोवर्मा असाध्य बीमारी से आक्रान्त हो गया। उसने पट्टाभिषेक के लिए प्रधान पुरुषों के साथ आम कुमार को लौट आने का निमन्त्रण भेजा। आम की इच्छा न होते हुए भी राजपुरुष उसे ले आए। पिता-पुत्र का मिलन हुआ। पिता ने पुत्र को सवाष्प नयनों से देखा, गाढ़े आलिंगन के साथ गद्गद स्वर से उपालम्भ भी दिया।

औपचारिक व्यवहार के बाद यशोवर्मा ने प्रजा-पालन का प्रशिक्षण पुत्र को दिया और शुभ मुहूर्त्त में आम का राज्याभिषेक हुआ।

राज्य चिन्ता से मुक्त होकर यशोवर्मा धर्म-चिन्तन में लगे। जीवन के अन्तिम समय में अरिहन्त, सिद्ध और साधु त्रिविध शरण को ग्रहण करते हुए उनको स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

आम ने उनका और्ध्वदैहिक संस्कार किया। राज्यारोहण के अवसर पर प्रजा को विपुल दान दिया। आम को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी, प्रजा सुखी थी, किन्तु परममित्र मुनि बप्पभट्टि के बिना नरेश आम को अपनी सम्पन्नता पलाल-पुल तुल्य निस्सार लग रही थी।

राजा आम का निर्देश प्राप्त कर राजपुरुष बप्पभट्टि के पास आए और प्रणतिपूर्वक बोले, "आर्य! आम राजा ने उदग्र उत्कण्ठा के साथ आपको आमन्त्रण भेजा है। आप हमारे साथ चलें और आम की धरती को पावन करें।"

श्रमण बप्पभट्टि ने राजपुरुषों के निवेदन को ध्यान से सुना। गुरुजनों से आदेश लेकर गीतार्थ मुनियों के साथ वे वहां से प्रस्थित हुए और शीघ्र गति से चलते हुए कान्यकुब्ज पहुंचे। बप्पभट्टि के स्वागतार्थ सेना सहित राजा आम सामने आया। नरेश आम के अत्याग्रह से बप्पभट्टि हाथी पर बैठे। राजकीय सम्मान के साथ उनका नगर प्रवेश हुआ। बप्पभट्टि के आगमन से आम को अत्यधिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही थी। गुरु चरणों में नत होकर आम ने निवेदन किया, "आर्य! मेरा आधा राज्य आप ग्रहण करें।"

परिग्रह से मुक्त बप्पभट्टि बोले "राजन्! निर्ग्रंथों को पापमूलक राज्य से क्या करना है?"

अनेकयोनिसम्पातानन्तबाधाविधायिनी।
अभिमानफलैवेयं राज्यश्रीः सा विनश्वरी ॥६॥

(प्रबंधकोश, पृ. २६)

अनेक योनियों में ले जाने वाली अनन्त बाधा-विधायिका, अभिमान फल प्रदायिनी राज्यश्री भी शाश्वत नहीं है।

---

७. तत्रास्तुब वत्स! निश्चिन्तो निजेन सुहृदा समम्।
शीघ्रं गृहाण शास्त्राणि संगृहाणामलाः कलाः ॥६१॥
एवंविधकलानां च द्वासप्ततिमधीतवान्।
अनन्यसदृशः कोविदानां पर्षदि सोऽभवत् ॥७३॥
(प्रभावक चरित, पद्याङ्क ८१, ८२)

श्रमण बप्पभट्टि की अनासक्त भावना को देखकर राजा आम बहुत प्रभावित हुआ।

राजसभा में बप्पभट्टि के लिए सिंहासन की व्यवस्था की गई और राजा ने उस पर बैठने के लिए बप्पभट्टि से निवेदन किया।

श्रमण बप्पभट्टि बोले "राजन्! आचार्य के सिवाय सिंहासन पर बैठना उचित नहीं है। इससे गुरुजनों की आशातना होती है।"

आम राजा बप्पभट्टि के इस कथन के सामने निरुत्तर हो गए। सिंहासन पर बप्पभट्टि के न बैठने से उन्हें असन्तोष था। गुरु के सामने प्रार्थना रखने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। राजा ने बप्पभट्टि और उनके साथ प्रधान सचिवों को आचार्य सिद्धसेन के पास प्रेषित किया एवं उनके साथ प्रार्थना-पत्र भी दिया। प्रार्थना-पत्र में लिखा था

योग्यं सुतं च शिष्यं च नयन्ति गुरवः श्रियम् ॥

(प्रबन्धकोश, पृ. २६, पंक्ति ६)

योग्य पुत्र और योग्य शिष्य गुरुजनों की श्री को प्राप्त करते हैं। अतः आप बप्पभट्टि को सूरि पद से सुशोभित करें।

राजपुरुषों द्वारा प्राप्त प्रार्थना को आचार्य सिद्धसेन ने पढ़ा। राजा की प्रार्थना पर गम्भीरता से चिन्तन कर शिष्य बप्पभट्टि को उन्होंने आचार्य पद पर वी. नि. १२८१ (वि. ८११) चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन नियुक्त किया।[८] उन्हें प्रशिक्षण देते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कहा "शिष्य! मेरा अनुमान है कि तुम्हारा विशेष राज सत्कार होगा। अनेक प्रकार की सुविधाएं भी तुम्हें प्राप्त होंगी। उनमें मुग्ध होकर लक्ष्य को मत भूल जाना। 'इन्द्रिजयो दुष्करः' इन्द्रिय जय की साधना दुष्कर है।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥

(प्रबन्धकोश, पृ. २६, पंक्ति १३३)

विकार हेतु उपस्थित होने पर भी जो कुपथ का अनुसरण नहीं करते वे धीर पुरुष होते हैं।

मेरी इस शिक्षा को स्मृति में रखकर, ब्रह्मचर्य की साधना में विशेष जागरूक रहना।"

शिष्य बप्पभट्टि को उचित प्रकार से मार्गदर्शन देकर आचार्य सिद्धसेन ने उन्हें नरेश आम के पास पुनः प्रेषित किया।

विशेष पद से अलंकृत मुनि बप्पभट्टि का आगमन आम के लिए हर्षवर्धक था। उन्होंने बप्पभट्टि का भारी स्वागत किया एवं उनसे क्लेशविनाशिनी कल्याण-कारिणी, सारभूत धर्म देशना को सुना।

राजा की भक्ति के कारण बप्पभट्टि का लम्बे समय तक वहीं विराजना हुआ। दिन-प्रतिदिन दोनों का प्रीतिभाव वृद्धिंगत होता गया।

आचार्य बप्पभट्टि की काव्य-रचना ने नरेश आम को अत्यधिक प्रभावित किया। कभी-कभी तत्काल पूछे गए प्रश्न के उत्तर में अथवा तत्काल प्रदत्त कवितामयी समस्या के समाधान में बप्पभट्टि द्वारा रचित श्लोकों को सुनकर आम मुग्ध हो जाता, उन्हें बप्पभट्टि में सर्वज्ञ जैसा आभास होता।

एक बार बप्पभट्टि की शृंगाररस प्रधान कविता को सुनकर 'आम' राजा ने अन्यमनस्कता का भाव प्रकट किया। अपने प्रति राजा के द्वारा किया गया यह उपेक्षा का व्यवहार आचार्य बप्पभट्टि को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने वहां से 'आम' राजा को जानकारी दिए बिना ही प्रस्थान कर दिया। नरेश 'आम' ने बप्पभट्टि के बारे में अनेक जगह पता लगाया पर सही जानकारी नहीं मिली। बहुत प्रयत्न करने के बाद नगर द्वार के कपाट पर बप्पभट्टि द्वारा लिखित एक श्लोक पढ़ने को मिला, उससे आचार्य बप्पभट्टि के विहार करने की बात का निश्चय हो गया।

बप्पभट्टि ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) से गौड़ देश (मध्य बंगाल) की ओर प्रस्थान किया था। कई दिन की यात्रा

८. एकादशाधिके तत्र जाते वर्षशताष्टके।
विक्रमात्सोऽभवत्सूरिः कृष्णचैत्राष्टमीदिने ॥७॥
(प्रबन्धकोश, पृ. २६)

के बाद वे गौड़ देश की राजधानी लक्षणावती में पहुंचे। लक्षणावती में बप्पभट्टिसूरि का परिचय विद्वान् वाक्पतिराज से हुआ। वाक्पतिराज धर्मराज की सभा के पण्डित थे एवं परमार वंशीय क्षत्रिय थे। वाक्पतिराज ने बप्पभट्टिसूरि के आगमन की सूचना धर्मराज को दी। धर्मराज बप्पभट्टिसूरि के नाम से परिचित थे। उनके मन में बप्पभट्टिसूरि से मिलने की कई दिनों से भावना थी। धर्मराज के प्रतिद्वन्द्वी 'आम' के साथ मित्रता होने के कारण बप्पभट्टि के प्रति धर्मराज का दृष्टिकोण सन्देहास्पद था। उन्होंने वाक्पतिराज से कहा "बप्पभट्टि को अपनी सभा में आमन्त्रित करते हैं पर 'आम' का निमन्त्रण आने पर वे यहां से चले जाएं इसमें मैं अपना अपमान समझता हूं, अतः आम राजा स्वयं मेरी सभा में उपस्थित होकर अपने नगर में पदार्पण की प्रार्थना बप्पभट्टि से करें तभी उनका यहां से विहार हो सकेगा अन्यथा नहीं। यह शर्त बप्पभट्टि द्वारा स्वीकार किए जाने पर ही उनके लिए यहां रहने की व्यवस्था हो सकती है।"

बप्पभट्टिसूरि ने राजा की शर्त स्वीकार कर ली। वे धर्मराज के राज्य में सानन्द रहने लगे।

उधर कुछ दिनों के बाद आम राजा को धर्मराज के राज्य में बप्पभट्टि के पहुंचने की जानकारी मिली। उन्होंने राजपुरुषों को उन्हें बुलाने के लिए भेजा। राजपुरुषों ने लौटकर बताया "राजन्! आप वहां जाकर स्वयं प्रार्थना करें, तभी बप्पभट्टिसूरि का यहां आना सम्भव है।" सारी स्थिति की जानकारी लेकर आम स्वयं वेश बदलकर अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्मराज की सभा में पहुंचे। वहां कई प्रकार की ज्ञान गोष्ठियां हुई। बप्पभट्टिसूरि ने श्लेषोक्ति में धर्मराज से कहा "भूनाथ! यह तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी नरेश है" पर सरल स्वभावी धर्मराज श्लेषोक्ति को सूक्ष्मता से समझ न सके।

बप्पभट्टिसूरि को अपने राज्य में पदार्पण की प्रार्थना कर नरेश आम वहां से चले गए। यह कार्य इतना गुप्त रूप से हुआ कि बप्पभट्टि के अतिरिक्त इस रहस्य को कोई नहीं जान सका। दूसरे दिन बप्पभट्टिसूरि ने सभा के बीच नरेश आम के आगमन की बात धर्मराज को सप्रमाण बताकर वहां से प्रस्थान किया। मार्गान्तर की दूरी को पार कर सांकेतिक स्थान पर वे आम राजा से मिले। वहां से सभी ऊंट की सवारी से कान्यकुब्ज सकुशल पहुंच गए।[६]

आचार्य सिद्धसेन इस समय वृद्ध हो गए थे। शिष्य बप्पभट्टि को कन्नौज से अपने पास बुलाकर गण का सारा दायित्व सौंपा। वे अनशनपूर्वक स्वर्गवासी हुए।

बप्पभट्टिसूरि कुछ दिन वहां रहे। उन्होंने गण की सार संभाल की। उसके बाद ज्येष्ठ गुरुबन्धु गोविन्दसूरि और नन्नसूरि को गच्छ संभलाकर उन्होंने कन्नौज की तरफ पुनः विहार किया। नरेश आम को बप्पभट्टिसूरि के आगमन से अत्यधिक प्रसन्नता हुई।

ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा के लिए एक बार निशाकाल में 'आम' ने पुरुष परिधान पहनाकर एक गणिका को बप्पभट्टि के पास भेजा। बप्पभट्टि सानन्द सोये हुए थे। पण्याङ्गना निःशब्द गति से चलती हुई बप्पभट्टि के शयन-स्थान तक पहुंची और उनके चरणों की उपासना (मर्दन आदि क्रिया) करने लगी। नारी के कोमल कर का स्पर्श होते ही बप्पभट्टि सजग हो गए और तत्काल उठकर बोले, "पण्याङ्गने! वायु से तृणों को उड़ाया जा सकता है, परन्तु उससे गिरि नहीं हिलते। नखों के प्रहार से शिलाखण्ड को नहीं तोड़ा जा सकता। तुम जिस मार्ग से आई हो, उसी मार्ग से लौटने में ही तुम्हारा भला है। यहां तुम्हारा कोई काम नहीं है।"

नगरवधू के भ्रू-विक्षेप आदि सारे प्रयास निष्फल गए। बप्पभट्टि अपने लक्ष्य से किञ्चित् भी विचलित नहीं हुए।

गणिका नरेश आम के पास जाकर बोली, "भूस्वामिन्! बप्पभट्टि अपने व्रत में पाषाण की भांति

६. इत्युक्त्वाऽतो निरीयागात् संगत्यामनृपेण च।
करभीभिरपुंभिः सुरभिर्यशसा गुरुः ॥२६५॥
(प्रभावक चरित, पत्राङ्क ९१)

दृढ़ हैं। तिल-तुष मात्र भी उनका मन मेरे हाव-भाव पर चलित नहीं हुआ।"

बप्पभट्टि के दृढ़ मनोबल पर आम राजा को प्रसन्नता हुई और उनके दर्शन करने पर राजा को संकोच हुआ। बप्पभट्टि ने उन्हें तोष देते हुए कहा, "राजन्! चिन्तन की कोई बात नहीं है। राजा को सभी प्रकार की परीक्षा लेने का अधिकार होता है।"

एक बार धर्म नरेश के आमन्त्रण पर आम राजा की ओर से बप्पभट्टि का और धर्म नरेश की ओर से बौद्ध विद्वान् वर्द्धन कुञ्जर का छह महीने तक शास्त्रार्थ हुआ। इस शास्त्रार्थ में हार और विजय का प्रश्न दोनों पक्षों से सम्बन्धित राजाओं से जुड़ा हुआ था। अतः यह शास्त्रार्थ जन-समुदाय के बीच राजाओं की उपस्थिति में हो रहा था। इस शास्त्रार्थ में धर्म नरेश का ग्रास-भोजी विद्वान् होने पर भी परमार-वंशी क्षत्रिय विद्वान् कवि वाक्पतिराज का भीतरी समर्थन पूर्व मित्रता के कारण बप्पभट्टिसूरि के साथ था। अन्त में आचार्य बप्पभट्टि की विजय हुई। शास्त्रार्थ विजय के उपलक्ष में उन्हें 'वादि कुंजर-केशरी' की उपाधि प्राप्त हुई। शास्त्रार्थ जन-समुदाय के बीच राजाओं की उपस्थिति में हो रहा था। अतः यह शास्त्रार्थ विजय के बाद आचार्य बप्पभट्टि के समझाने से आम नरेश और धर्म नरेश के बीच चला आ रहा वर्षों पुराना वैर शान्त हो गया। जैन शासन की महिमा इस घटना से शत-गुणित हुई।

बंग-नरेश यशोवर्मा ने एक बार अचानक गौड देश (ग्वालियर) पर आक्रमण किया। ग्वालियर का शासन उस समय धर्मराज के हाथ में था। धर्मराज की युद्ध के लिए पूर्व तैयारी नहीं थी। वह हार गया। इस युद्ध में यशोवर्मा की विजय हुई। धर्मराज की सभा में सम्मानित पण्डित वाक्पतिराज को उन्होंने कैद किया और उसे अपने देश ले गए। वाक्पतिराज ने बन्दीगृह में यशोवर्मा की प्रशंसा में 'गौड़-वध' नामक एक काव्य की रचना की। इस काव्य से वाक्पति के कवित्व पर यशोवर्मा प्रसन्न हुए। उन्होंने विद्वान् वाक्पतिराज को बन्दीगृह से मुक्त कर दिया।

वाक्पतिराज वहां से 'कन्नौज' आए। नरेश आम ने वाक्पतिराज को आदर दिया और अपने राज्य में उसके रहने की अच्छी व्यवस्था की।

आचार्य बप्पभट्टि भी पूर्व मित्रता के कारण उनसे मिलकर अत्यधिक प्रसन्न थे। एक दिन विद्वान् वाक्पतिराज को सांसारिक भोगों से विरक्ति हो गई। आम नरेश को अपनी भावना से अवगत करा कर कन्नौज से मथुरा चले गए। वहाँ के वराहमंदिर में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया।

बप्पभट्टिसूरि का काव्य-कौशल विलक्षण था। काव्य के माध्यम से वे आम नरेश को कभी अत्यन्त तीखी बात कह देते और उन्हें अपनी गलती का भान करवा देते।

किसी समय कान्यकुब्ज (कन्नौज) में नट मण्डली आई। उनके साथ सुमधुर गायिका थी। आम नरेश गायिका की संगीत कला पर आकृष्ट हुए और रात्रि में वहीं रह गए। आचार्य बप्पभट्टि को नरेश का यह आचरण अभद्र और अनुचित लगा। राजा आम को अपनी इस गलती का बोध कराने के लिए उन्होंने एक श्लोक की रचना की। इस श्लोक को उन्होंने ऐसे स्थान पर लिख दिया जहां प्रभात के समय राजा की दृष्टि अवश्य केन्द्रित हो। रात बीती, सूर्योदय हुआ। गायिका के भवन से बाहर आते ही भूपाल की दृष्टि भित्ति पर लिखित श्लोक पर पहुंची। वह श्लोक इस प्रकार था

शैत्यं नाम गुणस्तवैव तदनुस्वाभाविकी स्वच्छता।
किं ब्रूमः शुचितां भवन्त्यशुचयस्त्वत्सङ्गतोऽन्ये यतः।
किंवाऽतः परमस्ति ते स्तुतिपदं त्वं जीवितं देहिनां,
त्वं चेन्नीचपथेन गच्छसि पयः कस्त्वां निरोद्धुं क्षमः॥५२॥

(प्रबन्धकोश, पृ. ३८)

श्लोक को पढ़ते ही राजा के मन में विवेक का दीपक जल गया। उसे अपनी भूल का भान हुआ। नरेश आम आगे के लिए पूर्णतः सावधान हो गया।

मथुरा के वाक्पति नामक सांख्ययोगी के मन्त्र-प्रयोग से आम राजा पहले से ही विस्मयाभिभूत था। एक बार बप्पभट्टि ने आम राजा को जैन धर्म स्वीकार करने की प्रेरणा दी। उत्तर में आम राजा ने

बप्पभट्टि से कहा "आपने अपनी विद्या से मेरे जैसे व्यक्तियों को प्रभावित करने का कार्य किया है। मैं आपके सामर्थ्य को तब पहचान पाऊंगा, जब आप मथुरा के वाकूपतियोगी को बोध देकर उन्हें जैन बना सकें।" राजा आम के इस वचन पर बप्पभट्टि वहां से उठे और मथुरा की ओर प्रस्थित हुए। वहां पहुंचकर ध्यानस्थ वाकूपति के सामने कई श्लोक बोले। श्लोकों की भावमयी शब्दावली सुनकर वाकूपति ने नयन खोले। दोनों ने धर्मचर्चा की। बप्पभट्टिसूरि ने जिनेश्वर प्रभु का स्वरूप समझाया और विभिन्न प्रकार से अध्यात्म बोध देकर उन्हें जैन दीक्षा प्रदान की।

बप्पभट्टिसूरि के गुरु-बन्धु गोविन्दसूरि और नन्नसूरि के व्यक्तित्व से भी आम राजा अत्यधिक प्रभावित था। इसमें मुख्य निमित्त आचार्य बप्पभट्टि ही थे।

आम ने जब बप्पभट्टिसूरि के सामने उनके बौद्धिक बल की प्रशंसा की उस समय बप्पभट्टि ने अपने को सामान्य बताते हुए गुरुबन्धु गोविन्दसूरि एवं नन्नसूरि का नाम राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया एवं उनके पाण्डित्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। इस घटना से बप्पभट्टिसूरि का निरभिमानी रूप प्रकट होता है।

जीवन के सन्ध्या-काल में आम राजा ने बप्पभट्टि से जैन दीक्षा ग्रहण की। जीवन के अन्तिम समय में भी बप्पभट्टिसूरि से प्रेरणा प्राप्त कर उच्च परिणामों के साथ नमस्कार-महामन्त्र का जाप करते-करते आम राजा का वी. नि. १३६० (वि. सं. ८९०) भाद्रव शुक्ला ९ शुक्रवार को देहावसान हुआ।

आम के पुत्र का नाम दुन्दुक था। आम के स्वर्गवास के बाद दुन्दुक ने राजसिंहासन ग्रहण किया। बप्पभट्टि को दुन्दुक द्वारा भी पर्याप्त सम्मान मिला। दुन्दुक के पुत्र का नाम भोज था। पण्डितों ने बताया 'दुन्दुक को मारकर भोज राज-सिंहासन ग्रहण करेगा।' कंटी नाम की एक वेश्या की सलाह से नरेश दुन्दुक ने राजकुमार भोज को मारने की योजना बनाई, नरेश बनने के बाद दुन्दुक को कंटी ने पूरी तरह से अपने मोहजाल में फंसा लिया। कंटी नरेश दुन्दुक के कार्यों में मुख्य सलाहकार बन गई। राजकुमार भोज की माता को इस षड्यन्त्र की सूचना मिल गई। उसने बालक भोज को किसी तरह पाटलिपुत्र ननिहाल भेज दिया। ननिहाल से भोज के न लौटने पर दुन्दुक ने बप्पभट्टिसूरि से कहा "आप पाटलिपुत्र जाओ और भोज को यहां आने के लिए तैयार करो या अपने साथ उसे ले आओ।"

बप्पभट्टिसूरि स्थिति को टालते रहे। इसी क्रम में इनके पांच वर्ष व्यतीत हो गए। एक दिन राजा दुन्दुक द्वारा अत्यन्त बाधित किए जाने पर राजपुरुषों के साथ बप्पभट्टि ने वहां से विहार किया। मार्ग में उन्होंने सोचा यह धर्म-संकट है। भोज द्वारा दुन्दुक की मृत्यु निश्चित है, अतः भोज मेरे साथ आए या न आए, मैं दोनों ओर से सुरक्षित नहीं हूं। भोज के न आने पर राजा दुन्दुक मेरे पर क्रुद्ध होगा। उसके आने पर दुन्दुक का असमय में प्राणान्त होगा। मेरा हित किसी प्रकार से निरापद नहीं है। इधर व्याघ्र है, उधर नदी की धार। मेरा आयुष्य भी दो दिन का अवशिष्ट है। कार्य के परिणाम का गम्भीरता से चिन्तन कर बप्पभट्टि ने अनशन स्वीकार कर लिया। नन्नसूरि, गोविन्दसूरि आदि श्रमणों के लिए उन्होंने हित कामना की। सबको अनित्य भावना का उपदेश दिया।[10] महाव्रतों में जाने-अनजाने लगे दोषों की आलोचना की।[11] वे अदीन भाव से ८९ वर्ष तक संयम पर्याय का पालन कर वी. नि. १३६५ (वि. स. ८९५)

---

१०. वागृहाने राजाऽपि क्रुद्धो मां हन्ति। तस्मादितो व्याघ्र इतो दुस्तटी इति न्यायः प्राप्तः। समाप्तं च ममायुः, दिवसद्वयमवशिष्यते, तस्मादनशनं श्रेयः-इति विमृश्यासन्नस्थयतयो भाषिताः-नन्नसूरि-गोविन्दाचार्यौ प्रति हिता भवेत्। श्रावकेभ्यो मिथ्यादुष्कृतं ब्रूयात्। परस्परममत्सरतामाद्रियेथ्वम्। क्रियां पालयेत्। आबालवृद्धान् लालयेत्। नो वयं युष्मदीयाः, न यूयमस्मदीयाः। सम्बन्धाः कृत्रिमाः सर्वे। इति शिक्षयित्वाऽनशनस्थाः समतां प्रपन्नाः।
(प्रबन्धकोश, पृ. ४४, पं. २६)

११. महाव्रतानि पञ्चैव षष्टकं रात्रिभोजनम्।
विराधितानि यत्तत्र मिथ्यादुष्कृतमस्तु मे ॥७७॥
(प्रबन्धकोश, पृ. ४५)

श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन स्वाति नक्षत्र में ९५ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी बने।

बप्पभट्टि के बाद राजा दुन्दुक का जल्दी देहावसान हो गया। दुन्दुक की मृत्यु भोज के योग से हुई। इस घटना के बचाव के लिए दुन्दुक ने बहुत प्रयत्न किए, पर स्थिति टल नहीं सकी। दुन्दुक के बाद कन्नौज के सिंहासन पर राजकुमार भोज का राज्याभिषेक हुआ।

प्रभावक चरित्र के अनुसार जैन शासन की प्रभावना में राजा भोज ने आम से अधिक महनीय कार्य किए। राजा दुन्दुक द्वारा जैन धर्म की प्रभावना का कोई कार्य सम्पन्न हुआ हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

बप्पभट्टि के समय में मुनि जीवन की आजीवन पाद विहार की मर्यादाएं शिथिल हो रही थीं। मुनि सवारी का प्रयोग करने लगे थे। बप्पभट्टि ने भी आम राजा के आग्रह पर गज और ऊंट के वाहन का उपयोग कन्नौज नगर में आगमन के समय किया था।

आचार्य बप्पभट्टि पार्श्वपत्यानुयायी आचार्य रत्नप्रभ के समकालीन थे। इस समय ओसवाल जाति का अभ्युदय हुआ था। आचार्य रत्नप्रभ के चामत्कारिक प्रयोगों से एवं उपदेशों से प्रभावित होकर 'ओसिया' नगरी के निवासी क्षत्रिय परिवारों ने सामूहिक रूप से जैन दीक्षा ग्रहण की और वे ओसवाल कहलाये। कई इतिहासकारों के अभिमत से ओसवाल जाति का अभ्युदय वी. नि. १३वीं (वि. सं. ९वीं) शताब्दी के बाद हुआ। आचार्य बप्पभट्टि का स्वर्गवास इससे कुछ वर्ष पूर्व हो गया था।

बप्पभट्टि समर्थ व्यक्तित्व के धनी थे। आचार्य रत्नभद्र की भांति सामूहिक जैनीकरण का कार्य उन्होंने नहीं किया परन्तु राजाओं को प्रतिबोधित करने से बप्पभट्टि द्वारा जैन शासन की श्रीवृद्धि हुई। आम राजा के साथ उनके गहरे सम्बन्ध मानवजाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुए। बप्पभट्टि के गुणानुवाद में निम्न श्लोक विश्रुत है

बप्पभट्टिर्भट्टकीर्तिर्वादिकुंजरकेसरी
ब्रह्मचारी गजवरो राजपूजित इत्यपि ॥७६६॥

(प्रभा. चरित्र, पृ. ११०)

इस श्लोक में ब्रह्मचारी और राजपूजित जैसे विशेषण बप्पभट्टि के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य की उत्तम साधना करने वाले एवं राजाओं द्वारा विशेष सम्मान प्राप्त विशिष्ट विद्वान् आचार्य बप्पभट्टि थे।

ग्रन्थ रचना बप्पभट्टि ने ५२ प्रबन्धों की रचना की, उनमें चतुर्विंशति स्तोत्र (जिनस्तुति) एवं सरस्वती स्तोत्र ये दो प्रबन्ध वर्तमान में उपलब्ध हैं।

धनपाल की तिलकमंजरी में भद्रकीर्ति निर्मित 'तारागण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। भद्रकीर्ति बप्पभट्टि का ही गुरु-प्रदत्त नाम था, अतः तारागण ग्रन्थ भी बप्पभट्टि की मुख्य रचना सम्भव है, परन्तु यह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

समय-संकेत

बप्पभट्टिसूरि का जन्म वी. नि. १२७० (वि. सं. ८००), मुनि दीक्षा संस्कार वी. नि. १२७७ (वि. ८०७), आचार्य पद प्राप्ति का काल वी. नि. १२८१ (वि. सं. ८११) है। आचार्य पद ग्रहण के समय वे मात्र ११ वर्ष के थे। उनकी कुल आयु ९५ वर्ष की थी। ८४ वर्ष तक उन्होंने धर्म संघ के दायित्व को सम्भाला। उनका स्वर्गवास वी. नि. १३९५ (वि. सं. ८९५) बताया गया है। इस आधार पर बप्पभट्टिसूरि वी. नि की १३वीं (वि. ९वीं) सदी के विद्वान् आचार्य थे।

राजाओं को प्रतिबोध देकर तथा प्रबन्धों की रचना कर बप्पभट्टि ने विपुल यश का अर्जन किया था।

बप्पभट्टिसूरि के महत्वपूर्ण वर्षों के समय ज्ञापक श्लोक इस प्रकार हैं

विक्रमतः शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद् बप्पभट्टिगुरोः ॥७३९॥
षड्वर्षस्य व्रतं चैकादशे वर्षे च सूरिता।
पञ्चाधिकनवत्या च प्रभोरायुः समर्थितम् ॥७४०॥
शर-नन्द सिद्धिवर्षे (८९५) नभः शुद्धाष्टमीदिने।
स्वातिभेऽजनि पञ्चत्वमामराजगुरोरिह ॥७४१॥

(प्रभा. च., पृ. १०९)

६५. उदात्त चिन्तक आचार्य उद्‌द्योतन (दाक्षिण्यांक)

कुवलयमाला के रचनाकार उद्‌द्योतनसूरि 'दाक्षिण्यांक' नाम से प्रसिद्ध हैं। गम्भीर रचनाकारों में आचार्य उद्‌द्योतनसूरि का स्थान मूर्धन्य है। उद्‌द्योतनसूरि विभिन्न दर्शनों के धुरन्धर विद्वान् थे। वे सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष विद्या, धातु विज्ञान आदि नाना विषयों के विशिष्ट ज्ञाता थे।

गुरु-परम्परा

उद्‌द्योतनसूरि की गुरु परम्परा में हरिगुप्त नाम के आचार्य हुए हैं। हरिगुप्त इतिहास प्रसिद्ध तोरमाण राजा के गुरु थे। हरिगुप्त का सम्बन्ध सम्भवतः गुप्तवंश से था। महाकवि देवगुप्त हरिगुप्त के प्रमुख शिष्य थे। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्र गणी थे। शिवचन्द्र गणी के शिष्य क्षमाश्रमण यक्षदत्त थे। यक्षदत्त के अनेक शिष्य थे। उनके एक शिष्य का नाम तत्त्वाचार्य था, जो अपनी ज्ञान सम्पदा से विशेष प्रसिद्ध थे। तत्त्वाचार्य के शिष्य उद्‌द्योतनसूरि थे। यह गुरु-परम्परा कुवलयमाला की प्रशस्ति में है।

उद्‌द्योतनसूरि ने सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन आचार्य वीरभद्र से एवं न्यायशास्त्र का अध्ययन हरिभद्रसूरि से किया था।[1]

साहित्य

उद्‌द्योतनसूरि विशिष्ट व्याख्याकार एवं संस्कृत व प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। चम्पू शैली में रचित उनकी कुवलयमाला प्राकृत कथा है। गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना है। पैशाची, अपभ्रंश एवं संस्कृत के प्रयोगों ने इस कथा को रोचकता प्रदान की है।

विविध अलङ्कारों से मण्डित, प्रहेलिका एवं सुभाषितों से पूर्ण मार्मिक प्रश्नोत्तरों से सुसज्जित एवं नाना प्रकार की वणिक् बोलियों के माध्यम से मधुर रस का पान कराती हुई यह कथा पाठक के मन को मुग्ध करने वाली है।

बाण की कादम्बरी और प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य हरिभद्र की 'समराइच्च कहा' का अनुगमन करती हुई इस ग्रन्थ की रचना-शैली अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। अनेक देशी शब्दों के प्रयोग इस ग्रन्थ में है।

इस कथाग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन उद्‌द्योतन सूरि के विशाल ज्ञान का द्योतक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि के दुःखद परिणामों को बताने के लिए लेखक ने लघु किन्तु सरस कथाओं से ग्रन्थ को उपयोगी बनाया है।

---

१. तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयण सोहिल्ला।
जत्थ ट्ठिएण भुत्ता पुहइ सिरि तोरराएण ॥६॥
तस्स गुरु हरिउत्ती आयरियो आसि गुत्त वंसाओ।
तीए णयरीए दिण्णो जेण णिवेसो तहिं काले ॥७॥
तस्स वि सिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामोत्ति।
सिवचन्द-गणी अह महयरो त्ति ॥८॥
सो जिणवन्दण हेतुं कह वि भमन्तो कमेण सम्पत्तो।
सिरि-भिन्नमाल-णयरम्मि सठिओ कप्परुक्खोव्व ॥९॥
तस्स खमासमण गुत्तो णामेण य जक्खदत्त-गणि णामो।
सीसो महइ-महप्पा आसि तिलोए वि पयड जसो॥१०॥
तस्स य बहुया सीसा तव वीरिय-वयण लद्धि सम्पण्णा।
रम्मो गुज्जर-देसो जेहि कओ देवहर एहि ॥११॥
णागो विंदो मम्मड दुग्गो आयरिय-अग्गिसम्मो य।
छट्ठो बडेसरो छम्मुहस्स वयणव्व ते आसि ॥१२॥
तस्स विसिस्सो अण्णो तत्तायरिओ त्ति णाम पयड गुणो।
आसी तव तेय णिज्जिय पावतमोहो दिणयरोव्व ॥१४॥
सीसेण तस्स एसा हिरिदेवी-दिण्ण-दंसण मणेण।
रइया कुवलयमाला विलसिया दक्खिण इंधेण ॥१६॥
दिण्ण जहिच्छिय फलओ बहुकित्तो कुसुमरेहिरामोओ।
आयरिय-वीरभद्दो अयावरो कप्परुक्खोव्व ॥१७॥
सो सिद्धंतेण गुरुउत्तीसत्थेहि जस्स हरिभद्दो।
बहु-सत्थ-गंथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड सव्वत्थो ॥१८॥
आसि तिकम्मासिरओ महादुवारम्मि खत्तिओ पयडो।
उज्जोयणो त्ति णामं तच्चिय परिभुंजिरे लइया ॥१९॥
तस्सविपुत्तो संपइ, णामेण बड़ेसरो त्ति पयडगुणो।
तस्सुज्जोयण-णामो तणओ अह विरइया तेण ॥२०॥
(कुवलयमाला, पृ. २८३)

समय-संकेत

उद्द्योतन सूरि रचित कुवलयमाला ग्रन्थ का समय सूचक अन्तिम पद्य है

"सग-काले बोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एग दिणेणूणेहिं रइया अवरण्ह-वेलाए ॥

(कुवलयमाला, पृ. २८३)

इस पद्य के उल्लेखानुसार उद्द्योतनसूरि ने जबालिपुर (जालोर) में ऋषभ प्रभु के मन्दिर में शक सं. ७०० के पूर्ण होने के एक दिन पहले चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को अपराह्नकाल में कुवलयमाला ग्रन्थ सम्पन्न किया था। उस समय जालोर में नरेश वत्सराज का राज्य था।

कुवलयमाला के उक्त उल्लेख के आधार पर उद्द्योतनसूरि वी. नि. १३०५ (वि. ८३५) में विद्यमान थे।

वड़गच्छ के संस्थापक उद्द्योतनसूरि से प्रस्तुत उद्द्योतनसूरि सौ साल से भी अधिक पूर्व के हैं।

दाक्षिण्यांक विशेषण से विशेषित उद्द्योतनसूरि वी. नि. १४वीं (वि. ९वीं) शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे।

६६. विश्रुत व्यक्तित्व आचार्य वीरसेन

दिगम्बर विद्वान् आचार्य वीरसेन टीकाकार थे। धवला, जय धवला उनकी अत्यधिक प्रसिद्ध टीकाएं हैं। सिद्धान्त, ज्योतिष, व्याकरण, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र का उन्हें प्रकृष्ट ज्ञान था।[1] जिनसेन के शब्दों में वे वादि वृन्दारक (वादि मुख्य) थे। लोगविद् थे, कवि थे, वाग्मी थे[2] और श्रुतकेवली के समकक्ष थे।[3] हरिवंश पुराण के कर्त्ता जिनसेन ने 'कवि चक्रवर्ती' का सम्बोधन प्रदान किया है।[4]

गुरु-परम्परा

आचार्य वीरसेन मूल संघान्तर्गत पञ्चस्तूपान्वयी शाखा के थे। वीरसेन की गुरु-परम्परा धवला टीका की प्रशस्ति में प्राप्त है। इस प्रशस्ति के अनुसार चन्द्रसेन के शिष्य आर्य नन्दी और नन्दी के शिष्य वीरसेन थे। इसी प्रशस्ति में वीरसेन ने अपने को एलाचार्य का वत्स कहा है।[5] एलाचार्य की गुरु-परम्परा का उल्लेख वीरसेनाचार्य ने नहीं किया है। एलाचार्य चित्रकूट के निवासी थे। सकल सिद्धान्त शास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता थे। इन्हीं से वीरसेनाचार्य ने सिद्धान्तों का अध्ययन कर साहित्य की रचना की।[6]

वीरसेन के शिष्य परिवार में जिनसेन, दशरथ विनयसेन आदि कई शिष्यों के नाम मिलते हैं। दर्शनसार ग्रन्थ में प्राप्त उल्लेखानुसार विनयसेन के शिष्य कुमारसेन द्वारा काष्ठ संघ की स्थापना हुई थी।[7]

साहित्य

साहित्य में आचार्य वीरसेन का योगदान टीका साहित्य के रूप में है। वर्तमान में उनकी दो टीकाएं उपलब्ध हैं १. धवला २. जयधवला। दोनों टीकाओं का परिचय इस प्रकार है

धवला टीका धवला टीका षट्खण्डागम ग्रन्थ में पांच खण्डों की व्याख्या है। षट्खण्डागम के महाबन्ध नामक छठे खण्ड का भूतबलि के द्वारा सविस्तार वर्णन है। अतः इस खण्ड पर वीरसेन को टीका रचने की आवश्यकता ही अनुभूत नहीं हुई होगी। यह धवला टीका प्राकृत संस्कृत मिश्रित ७२००० श्लोक परिमाण विशाल टीका है। षट्खण्डागम ग्रन्थ पर जितनी टीकाएं रची गई हैं उनमें यह टीका महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य वीरसेन ने सिद्धान्त मर्मज्ञ एलाचार्य के पास चित्रकूट में सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन किया। अध्ययन की सम्पन्नता के बाद गुरु के आदेश से वे वाट ग्राम (बड़ौदा) आए। बप्पदेवाचार्य रचित टीका से प्रेरणा प्राप्त कर वीरसेन ने इस टीका की रचना की। इस टीका

---

१. सिद्धंत-छंद-जोइसु-वायरण-पमाणसत्थणिउणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥५॥
(धवला टीका की प्रशस्ति)

२. श्री वीरसेन इत्याप्त-भट्टारकपृथुप्रथः।
स नः पुनातु पूतात्मा वादिवृन्दारको मुनिः ॥५५॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयं।
वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥५६॥
(आदिपुराण)

३. श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥२२॥
(जयधवला)

४. जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥३६॥
(हरिवंशपुराण)

५. एत्थ एयाइरियवच्छयस्स णिच्छओ।
(जयधवला)

६. काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितमनिबन्धनाद्याधिकारानष्ट च लिलेख ॥
(इन्द्रनन्दी श्रुतावतार, पद्य १७७-१७८)

७. आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खयओ।
सो सवणसंघबज्झो कुमारसेणो दु समयमिच्छत्तो ॥
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठं संघं परूवेदि ॥३५॥ (दर्शनसार)

को पढ़ने से आचार्य वीरसेन के व्यापक ज्ञान की जानकारी मिलती है।

धवला की प्रशस्ति में वीरसेनाचार्य ने एलाचार्य का विद्यागुरु के रूप में उल्लेख किया है।[८]

जयधवला टीका यह टीका गुणधर के कषाय प्राभृत ग्रन्थ पर है। इस टीका का सृजन भी वीरसेन ने वाट ग्राम में किया था। प्रस्तुत टीका ६०००० (साठ सहस्र) श्लोक परिमाण का वृहद् ग्रन्थ है। इसमें २० सहस्र श्लोक वीरसेन के हैं, शेष रचना आचार्य जिनसेन की है। जयधवला टीका रचना को पूर्ण करने से पूर्व वीरसेन का स्वर्गवास हो गया, अतः गुरु के अधूरे रचना कार्य को आचार्य वीरसेन ने एलाचार्य का प्रसाद माना है। आचार्य जिनसेन ने इस टीका को वीरसेनीया टीका लिखा है।[९]

आचार्य वीरसेन की ये दोनों टीकाएं विविध सामग्री से पूर्ण एवं ज्ञानवर्धक हैं। इन दोनों टीकाओं की रचना राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के शासनकाल में हुई थी।

नरेश अमोघवर्ष प्रथम से पूर्व राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय का शासन था। नरेश गोविन्द तृतीय ने जैन शासन की वृद्धि में पर्याप्त योगदान दिया था। अमोघवर्ष का नाम धवल और अतिशय धवल भी था। इन नामों के आधार पर ही सम्भवतः वीरसेन ने अपनी टीकाओं का नाम धवला और जयधवला रखा।

समय-संकेत

अपने युग के विश्रुत विद्वान् आचार्य वीरसेन का समय जयधवला टीका के आधार पर निर्धारित है। आचार्य वीरसेन की अपूर्ण रचना जयधवला टीका को आचार्य जिनसेन ने शक सं. ७५९ वी. नि. १३६४ (वि. सं. ८९४) फाल्गुन शुक्ला दशमी को सम्पन्न किया था। धवला टीका की रचना जयधवला से पूर्व हुई थी। डॉ. हीरालाल जैन ने विविध शोध बिन्दुओं द्वारा धवला टीका का समाप्ति काल शक सं. ७३८ माना है। इस आधार पर आचार्य वीरसेन वी. नि. की १४वीं (वि. ९वीं) शताब्दी के विद्वान् हैं।

आचार्य काल
(वी. नि. १४वीं शताब्दी)
(वि. ९वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध)
(ई. ९वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध)

---

८. जस्साएसेण मए सिद्धन्तमिदं हि अहिलहुदं।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥१॥
(धवला टीका प्रशस्ति)

९. टीका श्रीवीरसेनीया शेषा पद्धति-पंजिका ॥३९॥
(जयधवला प्रशस्ति)

६७. जिनवाणी संगायक आचार्य जिनसेन

दिगम्बर विद्वान् आचार्य जिनसेन द्वितीय का नाम सफल टीकाकारों में है। आचार्य वीरसेन की भांति जिनसेन सिद्धान्तों के प्रकृष्ट ज्ञाता तथा कविमेधा से सम्पन्न थे। सरस्वती की उन पर अपार कृपा थी।[1] विनय आदि के गुणों से उनकी विद्या शोभायमान थी।[2]

गुरु-परम्परा

आचार्य जिनसेन के गुरु धवला एवं जयधवला के रचनाकार पंचस्तूपान्वयी आचार्य वीरसेन थे। वीरसेन के गुरु आर्य नन्दी थे। वीरसेन की गुरु-परम्परा ही जिनसेन की गुरु-परम्परा है। आचार्य वीरसेन के सुयोग्य शिष्य एवं सफल उत्तराधिकारी जिनसेन थे। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र के कथनानुसार हिमालय से गंगा और उदयाचल से भास्कर की भांति वीरसेन से जिनसेन की प्रज्ञा का उदय हुआ है।[3]

जीवन-वृत्त

जिनसेन ने कर्णवेध संस्कार होने के पूर्व ही मुनि-जीवन स्वीकार किया था। ज्ञानशलाका से उनका कर्णवेध संस्कार हुआ। वे शरीर से कृश थे। रूप से सुन्दर नहीं थे, परन्तु उनका जीवन सद्गुण रूप भूषणों से मंडित था। गुरु के प्रति उनकी अनन्य आस्था थी। वे अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत के आराधक थे। धैर्य उनके जीवन का सहचर गुण था। ज्ञानाराधन में उनकी अप्रमत्त अवस्था तथा सतत जागरूकता थी। ज्ञानाराधन की इस विशेषता के कारण इन्हें ज्ञान शरीरी (ज्ञान पिण्ड) कहा गया।[4]

जिनेसन के वर्चस्वी व्यक्तित्व ने लोक मानस को प्रभावित किया। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम की उनके प्रति आस्था थी। अतिशय धवल, श्री वल्लभ आदि उपाधियों से अलंकृत राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष जैन संस्कृति के संरक्षक एवं परिपोषक सम्राटों में प्रमुख थे। शक्ति और समृद्धि की दृष्टि से भी अमोघवर्ष की उस युग के महान् नरेशों में गणना हुई। साठ वर्ष तक सम्राट् अमोघवर्ष ने सफल शासन किया। वे स्वयं कवि और रचनाकार थे। उन्होंने कन्नड़ भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक छन्द अलंकारशास्त्र रचा एवं संस्कृत में 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' नामक नीतिशास्त्र का निर्माण किया। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीर्थंकर महावीर की वन्दना की गई है। इससे नरेश अमोघवर्ष की जैन धर्म के प्रति गहरी भक्ति प्रकट होती है। गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण से जिनसेनाचार्य और नरेश अमोघवर्ष के निकट सम्बन्धों का परिचय मिलता है। उत्तरपुराण में प्राप्त उल्लेखानुसार जिनसेनाचार्य के चरण-कमलों में प्रणाम करके नृपति अमोघवर्ष अपने को धन्य और पवित्र मानते हैं।[5] अमोघवर्ष द्वितीय के हृदय में भी आचार्य जिनसेन के प्रति विशेष सम्मान का भाव था।

---

१. ज्योत्स्नेव तारकाधीशे सहस्रांशाविदप्रभा।
स्फटिके स्वच्छतेवासीत्सहजास्मिन् सरस्वती ॥११॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

२. धीः शमो विनयश्चेति यस्य नैसर्गिकाः गुणाः।
(जयधवला प्रशस्ति)

३. अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो,
ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो,
मुनिरनुजिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥८॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति, पृष्ठ ४७३-७४)

४. जयधवला प्रशस्ति।

५. यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्,
पादाम्भोजरजः पिशङ्गमुकुट-प्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं,
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥९॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

साहित्य

अपने गुरु वीरसेन की भांति जिनसेन ने उच्च-कोटि के साहित्य का सृजन किया। वर्तमान में उनकी तीन रचनाएं हैं पार्श्वाभ्युदय काव्य, जयधवला टीका और आदिपुराण। इन तीनों ग्रन्थों में जयधवला टीका आचार्य वीरसेन की अधूरी रचना थी। उसे जिनसेन ने पूर्ण किया था। जिनसेन के ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

पार्श्वाभ्युदय काव्य यह संस्कृत का खण्ड-काव्य है। इसमें मन्दाक्रान्ता छन्द का उपयोग किया गया है। यथार्थ में यह आचार्य जिनसेन की स्वतन्त्र रचना नहीं है। महाकवि कालिदास रचित काव्य की समस्यापूर्ति है। इस काव्य में मेघदूत के प्रत्येक चरण को किसी-न-किसी प्रकार से कुशलतापूर्वक समाहित किया है। मेघदूत के अन्तिम चरण की समस्या पूर्ति के रूप में कई काव्यों की रचना हुई। सम्पूर्ण मेघदूत को अपने में समाहित करने वाला यह समस्या पूर्ति काव्य साहित्य में एक ही है। जो भावना पत्नी के वियोग में आकुल यक्ष के मुंह से मेघदूत काव्य की पंक्तियों में प्रगट हुई है, उन्हीं पंक्तियों में श्री पार्श्वनाथ जीवन चरित्र की अभिव्यक्ति करना कवि का अनुपम कौशल है। शृंगार रस पूरित पद्यों में वैराग्य रस का संचार करना विलक्षण काव्य-शक्ति है। इस काव्य के ३६४ पद्य हैं। काव्य रचना के प्रेरणास्रोत विनयसेन थे। विनयसेन वीरसेन के शिष्य थे। पुन्नाट संघीय जिनसेन ने हरिवंश पुराण में पार्श्वाभ्युदय काव्य का उल्लेख किया है।[६] हरिवंश पुराण की रचना शक सं. ७०५ में हुई थी। जयधवला कृति की सम्पन्नता शक सं. ७५९ में हुई थी। इससे स्पष्ट है पार्श्वाभ्युदय की रचना जिनसेन की प्रथम रचना है।

जयधवला टीका आचार्य वीरसेन द्वारा प्रारम्भ की गई जयधवला टीका को आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया था। जयधवला आचार्य गुणभद्र रचित कषायप्राभृत ग्रन्थ की विशिष्ट व्याख्या है। दिगम्बर साहित्य में विविध सामग्री से परिपूर्ण साठ हजार श्लोक परिमाण इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य वीरसेन ने इस ग्रन्थ के बीस हजार श्लोक रचे, अवशिष्ट चालीस हजार श्लोकों की रचना आचार्य जिनसेन ने की।

टीकाकार ने जयधवला टीका की प्रशस्ति में समाप्ति काल, स्थान तथा तत्कालीन नरेश के नाम का उल्लेख किया है। पाठकों की जानकारी के लिए वे पद्य उद्धृत हैं

इति श्री वीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥६॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्ने दशम्यां शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥७॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया।
निष्ठिता प्रचय यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥
एकोनषष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥११॥

वाटग्राम में राजा अमोघवर्ष के राज्यकाल में नन्दी महोत्सव के समय फाल्गुन शुक्ला दशमी के पूर्वाह्न में शक सं. ७५९ में यह टीका सम्पन्न हुई थी।

जयधवला प्राकृत बहुल टीका है। धवला टीका की भांति गम्भीर है। इसमें अनेक प्रकार की सैद्धान्तिक चर्चाएं हैं। दार्शनिक दृष्टियां संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी टीका महत्त्वपूर्ण है।

आदिपुराण महापुराण ग्रन्थ के दो भाग हैं : (१) आदिपुराण, (२) उत्तरपुराण। आदिपुराण में आदिनाथ ऋषभदेव का जीवन चरित्र है। उत्तर पुराण में २३ तीर्थंकरों के जीवन चरित्र का वर्णन है। आदिपुराण के ४७ पर्व हैं और १२००० (बारह हजार) पद्य हैं। जिनसेन

---

६. यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः संकीर्तयत्यसौ ॥४०॥
(हरिवंशपुराण)

ने आदिपुराण के ४२ पर्व और ४३वें पर्व के ३ (तीन) श्लोक रचे। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। आदिपुराण के अवशिष्ट भाग की रचना जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने की। आदिपुराण के १२००० श्लोकों में से १०३८० श्लोकों की रचना जिनसेन ने की है। १६२० श्लोक गुणभद्र द्वारा रचित हैं। इस काव्य की रचना बंकापुर में हुई थी।

यह आदिपुराण महाकाव्य है। इसमें महाकाव्य के सभी लक्षण हैं। सुभाषितों का यह भण्डार है। वीररस, शृंगाररस, शान्तरस आदि रसों का आनन्द इस काव्य में है। पदलालित्य, शब्द-सौष्ठव, सालंकारिक भाषा और विभिन्न छन्दों के प्रयोग ने इस काव्य को अतिशय रमणीयता प्रदान की है।

समय संकेत

आचार्य जिनसेन का समय अधिक विवादस्पद नहीं है।

जयधवला टीका की परिसमाप्ति आचार्य जिनसेन ने शक संवत् ७५९ तदनुसार वी. नि. १३६४ एवं वि. ८९४ संवत् में की थी। इस आधार से स्पष्ट है पंचस्तूपान्वयी आचार्य जिनसेन वी. नि. १४वीं (वि. ९वीं) शताब्दी के विद्वान् थे।

६८. गणनायक आचार्य गुणभद्र

आचार्य गुणभद्र दिगम्बर परम्परा के प्रतिभाशाली आचार्यों में हैं। टीकाकार वीरसेन जिनसेन की भांति आचार्य गुणभद्र भी विशिष्ट साहित्यकार थे। संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व था। आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण जैन इतिहास का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य गुणभद्र ने अपने गुरुजनों की कीर्ति को उजागर किया है।

गुरु-परम्परा

आचार्य गुणभद्र के गुरु पञ्चस्तूपान्वयी टीकाकार वीरसेन के शिष्य जिनसेन थे। इनसे पूर्व की गुरु-परम्परा वही है जो वीरसेन की गुरु-परम्परा रही है। आचार्य गुणभद्र ने जिनसेनाचार्य के साथ दशरथ गुरु का भी स्मरण किया है। जिनसेनाचार्य और दशरथ गुरु इन दोनों का स्वयं को शिष्य बताया है।[1] उनका लोकसेन नाम का एक शिष्य था। वह उनके प्रमुख शिष्यों में था।

जीवन-वृत्त

आचार्य गुणभद्र विनम्र स्वभाव के थे। गुरु के प्रति उनके हृदय में अगाध श्रद्धा का स्रोत छलकता था। आचार्य गुणभद्र के निम्नोक्त पद्य उनकी अनन्त गुरु-भक्ति को प्रकट करते हैं

गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥१७॥
निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥१८॥

(आदिपुराण)

यह गुरु का महात्म्य है मेरे वचन सरस एवं सुस्वादु बने हैं। मधुर फलों को प्रदान करना वृक्ष का सहज स्वभाव होता है।

वाणी का प्रवाह हृदय से छलकता है। हृदय में गुरु विराजमान हैं, वे मेरी वाणी को संस्कारित करेंगे। मुझे श्रम करने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार आस्था की अभिव्यक्ति स्वयं गुणभद्राचार्य के गुरुत्व की अभिव्यक्ति है।

आचार्य जिनसेन और दशरथ इन दोनों गुरुओं से गुणभद्राचार्य ने विविध प्रकार की शिक्षाएं पाईं। उन्होंने व्याकरण आदि विषयों का गम्भीर अध्ययन किया। वे सिद्धान्तशास्त्र के पारगामी विद्वान् थे। नय और प्रमाणशास्त्र में उनका ज्ञान विशिष्ट था।

आचार्य गुणभद्र के समय अकालवर्ष का राज्य था। अकालवर्ष नरेश अमोघवर्ष (गोविन्द तृतीय) के पुत्र थे। नरेश अकालवर्ष 'कृष्ण द्वितीय' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

साहित्य

आचार्य गुणभद्र की मेधा प्रखर थी। उन्होंने अधिक काव्यों की रचना नहीं की परन्तु जितने काव्यों की रचना की है वे काव्याङ्गों से परिपूर्ण एवं उच्चकोटि के हैं। वर्तमान में गुणभद्राचार्य की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

उत्तरपुराण आचार्य गुणभद्र द्वारा रचित इस रचना की भाषा हृदयग्राही और सरल है। यह ग्रन्थ लगभग ८००० श्लोकों में सम्पन्न हुआ है। इसकी रचना बंकापुरा में हुई है। बंकापुर में उस समय शासक अकालवर्ष (कृष्ण द्वितीय) के सामन्त लोकादित्य का राज्य था। लोकादित्य को जैन वीरबंकेय का पुत्र बताया

---

१. दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा।
शशिन इव दिनेशो विश्वलोकैकचक्षुः ॥१२॥

नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः।
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः ॥१४॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

गया है।[2] उस समय सम्पूर्ण वनवास प्रदेश लोकादित्य के अधीन था।

बंकेय जैन धर्म का उन्नायक था एवं चन्द्रमा के समान यशधारी था। वह राज्य कार्यों में राष्ट्रकूट नरेश अकालवर्ष का परामर्शक था।

लोकादित्य ने अपने पिता बंकेय के नाम पर बंकापुर बसाया था। बंकेय और लोकादित्य के जैन होने के कारण बंकापुर जैनों का मुख्य नगर था।

साहित्य सृजन की दृष्टि से यह स्थान अवश्य ही गुणभद्राचार्य के अनुकूल होगा। उत्तरपुराण जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना गुणभद्राचार्य ने इस ग्राम में थी।

शास्त्रों के ज्ञाता लोकसेन मुनि ने इस पुराण ग्रन्थ की प्रतिष्ठा करवाई थी।[3] वर्तमान में यह ग्रन्थ आज जैन साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों में से है।

दिगम्बर समाज में उत्तरपुराण की रामकथा अधिक प्रचलित है। दिगम्बर विद्वानों द्वारा रचित उत्तरवर्ती रामकथाओं में उत्तरपुराण की रामकथा का अनुसरण है। पउमचरिय की रामकथा से उत्तरपुराण की रामकथा कुछ अंशों में भिन्न है। हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र में जो रामकथा है वह पउमचरिय का अनुकरण है।

उत्तरपुराण की रामकथा की अद्भुत रामायण के साथ कई अंशों में समानता है।

आदिपुराण एवं उत्तरपुराण दोनों भागों से पूर्ण महापुराण एक उत्तम काव्य है। इसमें कल्पना का उत्कर्ष है तथा धारावाहिक पद्य रचना में अन्तःतृप्तिदायक माधुर्य है।

विविध सामग्री से सम्पन्न यह उत्कृष्ट कोटि का जैन पुराण ग्रन्थ है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का अपना विशेष महत्त्व है।

आत्मानुशासन आत्मानुशासन आचार्य गुणभद्र की अध्यात्मपरक रचना है। इस कृति में आत्मानुशासन सम्बन्धी बिन्दुओं पर नाना प्रकार की शिक्षाएं दी गई हैं। ग्रन्थ की भाषा सरस और हृदयग्राही है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से आत्मानन्द का अनुभव होता है। ग्रन्थ की पद्य संख्या २७२ है। हिन्दी अनुवाद सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

जिनदत्त चरित्र इस ग्रन्थ के सौ सर्ग हैं। अनुष्टुप् छन्द में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यह प्रबन्ध काव्य है। इस ग्रन्थ में कवि का उच्च कवित्व प्रकट होता है।

वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र इन तीनों के द्वारा अविच्छिन्न रूप से साहित्य की धारा प्रवाहित हुई। इनके द्वारा रचित आगमपरक उत्तम ग्रन्थों की उपलब्धि जैन साहित्य को विशिष्ट अनुदान है।

समय-संकेत

आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण वृद्धावस्था में प्रारम्भ किया था। वे उसके ४२ पर्व पूरे एवं ४३वें पर्व के ३ श्लोक रच पाए थे। उसके बाद जिनसेन का स्वर्गवास हो जाने से उनके शिष्य गुणभद्र ने उसे पूर्ण किया एवं उत्तरपुराण की रचना गुणभद्र ने की। उत्तरपुराण की परिसमाप्ति का समय शक संवत् ८२० (सन् ८९७ ई.) माना गया है। इस आधार पर गुणभद्र का कालमान वी. नि. १४२५ (वि. ९५५ ईस्वी सन् ८९८) संभव है।

---

२. अकालवर्षभूपाले पालयत्यखिलामिलाम्।
तस्मिन्विध्वस्तनिश्शेषद्विषि दीर्घयशोजुषि ॥३१॥
पद्मालयमुकुलकुलप्रविकासकसत्प्रतापतत महसि।
श्रीमती लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसंतमसे ॥३२॥
वेल्लपताके वेल्लध्वजानुजे वेल्लकेतननूजे।
जैनेन्द्रधर्मवृद्धेर्विधायिनि विधुवीग्रपृथुयशसि ॥३३॥
वनवासदेशमखिलं भुञ्जति निष्कण्टकं सुखं सुचिरम्।
तत्पितृनिजनामकृते ख्याते बङ्कापुरे पुरेध्यधिके ॥३४॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

३. विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः।
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः॥
सततमिह पुराणे प्रार्थ्यसाहाय्यमुच्चै।
गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः ॥२८॥
(उत्तरपुराण प्रशस्ति)

६६. वाङ्मय-वारिधि आचार्य विद्यानन्द

दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य विद्यानन्द विद्या के समुद्र थे। उनका विविध विषयों में ज्ञान अगाध था। वे उच्चकोटि के साहित्यकार, प्रामाणिक व्याख्याता, अप्रहितवादी, गम्भीर दार्शनिक, प्रकृष्ट सैद्धान्तिक, उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि एवं जिन शासन के अनन्य भक्त थे। अपने युग के वे अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी गणना सारस्वत आचार्यों में की गई है।

विद्यानन्द नाम के कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक एवं आप्तपरीक्षा आदि परीक्षान्त ग्रन्थों के निर्माता आचार्य विद्यानन्द से हैं। 'राजवलिकथे' में उल्लिखित विद्यानन्द परम्परा पोषक माने गए हैं। प्रस्तुत सारस्वत विद्यानन्द उनसे भिन्न हैं।

गुरु-परम्परा

आचार्य विद्यानन्द की गुरु-परम्परा के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं है। शक सम्वत् १३२० के उत्कीर्ण एक शिलालेख में नन्दी संघ के साथ आचार्य विद्यानन्द का नाम है। इस आधार से आचार्य विद्यानन्द का नन्दी संघ में दीक्षित होना सम्भव है।

जीवन-वृत्त

सारस्वताचार्य विद्यानन्द की जीवन सामग्री नहीं के बराबर उपलब्ध है। उनके माता-पिता, परिवार, कुल, जन्मभूमि आदि का उल्लेख ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है, दीक्षा-स्थान और दीक्षा-काल के संकेत भी नहीं मिलते हैं।

जैन दर्शन की भांति वैदिक दर्शन पर अगाध पांडित्य के आधार पर उनके ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने की सम्भावना शोध-विद्वानों ने की है। उभय दर्शनों की पारगामिता से मैसूर प्रान्त में उनके उत्पन्न होने का अनुमान है। मैसूर प्रान्त जैन और ब्राह्मण दोनों संस्कृतियों का केन्द्र रहा है। आचार्य विद्यानन्द के विशाल साहित्य को देखकर विद्वानों ने उनके अविवाहित होने का अनुमान किया है। उनके अभिमत से अखण्ड ब्रह्मतेज के बिना इस प्रकार का साहित्य रचना सम्भव नहीं है। धवला, जयधवला टीका के निर्माता वीरसेन एवं जिनसेन आचार्य भी अखण्ड ब्रह्मचारी थे।

आचार्य विद्यानन्द ने मीमांसक विद्वान् जैमिनी, शबर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, सांख्य दर्शन के विद्वान् व्योमशिवाचार्य, नैयायिक विद्वान् उद्योतकर आदि के ग्रन्थों का, समालोचन जिस कुशलता से अपने ग्रन्थों में किया है उसी कुशलता से बौद्ध विद्वान् नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रभाकर, धर्मोत्तर, आदि का भी अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थों में सम्यक् निरसन किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे वैदिक दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन के भी गम्भीर अध्येता थे। जैन दर्शन सम्मत मान्यताओं का आगम सम्मत उदाहरणों के साथ विशद एवं युक्तिसंगत प्रतिपादन उनके जैनशास्त्र ज्ञान की अगाधता को सूचित करता है। जैन, वैदिक, बौद्ध इन तीनों दर्शनों के दार्शनिक, सैद्धान्तिक एवं न्याय विषयक बिन्दुओं का मर्मोद्घाटन करने में उनकी मेधा अतुलनीय थी।

आचार्य विद्यानन्द की उत्कृष्ट ज्ञानाराधना उनके तपोमय जीवन, संयमित दिनचर्या, मनोनिग्रहात्मिका वृत्ति एवं सन्तुलित चिन्तनधारा की सूचक है। सुविधावादी जीवन जीने की मनोवृत्ति से इस प्रकार की श्रुताराधना कठिन है।

साहित्य

जैन श्रुतधारा को प्रभावित करने में आचार्य विद्यानन्द की प्रखर प्रतिभा एवं सूक्ष्म प्रज्ञा का अनुपम योग था। उन्होंने नौ ग्रन्थों की रचना की है। उनमें तीन टीका ग्रन्थ और छह स्वतन्त्र रचनाएं हैं।

आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य समन्तभद्र की आप्त मीमांसा, आचार्य भट्ट अकलङ्क की

अष्टशती टीका इन ग्रन्थों से आचार्य विद्यानन्द विशेष प्रभावित थे, अतः इन ग्रन्थों पर उन्होंने तीन टीका ग्रन्थों की रचना की। तीनों टीका ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर यह पद्यात्मक विशाल टीका है। इसमें पद्यवार्तिकों का गद्यात्मक विवेचन है। टीका ग्रन्थ का परिमाण १८,००० श्लोक हैं तथा दस अध्याय हैं। अध्यायों का विभाजन मूल सूत्र के अनुसार ही है। मूल सूत्रान्तर्गत प्रमेयों का विशद विवेचन होने के कारण यह प्रमेय बहुल टीका है। इससे लेखक का प्रगाढ़ पाण्डित्य प्रकट होता है एवं गम्भीर सैद्धान्तिक ज्ञान की सूचना मिलती है। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति आदि के आक्षेपों का सम्यक् निरसन इस टीका में हुआ है। आत्मतत्त्व की सिद्धि में चार्वाक दर्शन के तर्कों का सबल उत्तर दिया गया है। इस ग्रन्थ की शैली मीमांसक मेधावी कुमारिल भट्ट की शैली जैसी है। इस ग्रन्थ के नामकरण में भी कुमारिल भट्ट के मीमांस. श्लोकवार्तिक ग्रन्थ की प्रतिच्छाया है। आचार्य विद्यानन्द की यह टीका गम्भीर दार्शनिक कृति है।

अष्टसहस्री (देवागमालंकार) इसकी रचना आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र) पर हुई है। आप्तमीमांसा पर भट्ट अकलङ्क द्वारा रचित अष्टशती के प्रत्येक पद्य की व्याख्या इस अष्टसहस्री में होने के कारण यह अष्टसहस्री अष्टशती टीका की टीका है। इस कृति को पढ़ने से तीनों ग्रन्थों की (आप्तमीमांसा, अष्टशती, अष्टसहस्री) का एक साथ स्वाध्याय हो जाता है। आचार्य विद्यानन्द ने इस ग्रन्थ की रचना कर आचार्य अकलङ्क भट्ट के गूढ़ ग्रन्थ को समझने का मार्ग सुगम किया है। अतः कतिपय विद्वानों को आचार्य विद्यानन्द को आचार्य अकलङ्क का शिष्य मानने में भ्रान्ति भी हो गई थी।

अष्टसहस्री ग्रन्थ में दस परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में लगभग आधा ग्रन्थ समाहित है। ग्रन्थ का अष्टसहस्री नाम इसमें आठ सहस्र पद्य होने का प्रतीक है। ग्रन्थ की रचना शैली जटिल और दुरुह है। स्वयं आचार्य विद्यानन्द ने भी इस दुरुहता और जटिलता का अनुभव किया है। वे लिखते हैं

'कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसाहस्रीयमत्र मे पुष्यात्'।

यह कष्टकारी अष्टसहस्री अगाध ज्ञान भण्डार है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद अन्य ग्रन्थों को पढ़ने की आवश्यकता ही आचार्य विद्यानन्द की दृष्टि में नहीं रहती। वे लिखते हैं

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव हि स्वसमय-परसमयसद्भावः॥

(अष्ट सहस्री, पृ. १५६)

सहस्र शास्त्रों एवं ग्रन्थों को सुनने से क्या प्रयोजन है? इस अष्टसहस्री का श्रवण स्वपर सिद्धान्त का ज्ञान करवाने में पर्याप्त है।

यह टीका न्यायशास्त्र का उत्तम ग्रन्थ है। इसमें आप्त पुरुष के आप्तत्व का युक्ति पुरस्सर विवेचन है। इस पर लघु समन्तभद्र की अष्टसहस्री विषमपद तात्पर्य टीका और यशोविजयजी की अष्टसहस्री तात्पर्य विवरण टीका है।

युक्त्यनुशासनालंकृति यह आचार्य विद्यानन्द की मध्यम परिमाण टीका है। इसकी रचना आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन स्तोत्र पर हुई है। युक्त्यनुशासन स्तोत्र की ६४ कारिकाएं हैं। प्रत्येक कारिका जटिल एवं गूढ़ है। इन जटिल कारिकाओं के कारण युक्त्यनुशासन जैसे दुरूह ग्रन्थ में प्रवेश के लिए युक्त्यनुशासनालङ्कार ग्रन्थ सरल राजपथ है। टीका की शैली प्रौढ़ है। आचार्य विद्यानन्द की यह रचना विशेष रूप से पठनीय है। आप्त परीक्षा और प्रमाण परीक्षा में इस ग्रन्थ का उल्लेख है, अतः यह रचना उक्त दोनों परीक्षान्त ग्रन्थों के बाद की है। इस टीका पर जुगलकिशोर मुख्तयार का हिन्दी अनुवाद भी है।

स्वतन्त्र रचनाएं आचार्य विद्यानन्द की छह स्वतन्त्र रचनाएं हैं। टीका ग्रन्थों की भाँति उनकी स्वतन्त्र रचनाएं भी गम्भीर और विशेष पठनीय तथा मननीय हैं। उनका परिचय इस प्रकार है

विद्यानन्द महोदय इस ग्रन्थ का नाम इसकी गुरुता

को प्रकट करता है। आचार्य विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि प्रायः ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इस ग्रन्थ का उल्लेख होने के कारण संभवतः यह प्रथम रचना है। ग्रन्थान्तर्गत प्रतिपाद्य को विस्तार से जानने के लिए भी आचार्य विद्यानन्द ने 'विद्यानन्द महोदय' ग्रन्थ की सूचना दी है। इससे स्पष्ट है यह 'विद्यानन्द महोदय' विशाल ग्रन्थ था और वह नाना प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण था। ग्रन्थ में वस्तु वर्णन की विशद प्रस्तुति पाठकों के लिए विविध दिशा बोध में सहायक थी। आचार्य वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में नामोल्लेखपूर्वक विद्यानन्द महोदय ग्रन्थ का एक वाक्य उद्धृत किया है

"महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं
हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः।
प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः)
संस्कारधारणयोरेकार्थ्यमचकथत् ॥"

दिग्गज विद्वान् वादिदेवसूरि द्वारा किया गया यह उल्लेख भी विद्यानन्द महोदय, ग्रन्थ की विशिष्टता का द्योतक है। आचार्य वादिदेवसूरि विक्रम की १३वीं शताब्दी के विद्वान् थे, अतः इस समय तक प्रस्तुत ग्रन्थ के होने का बोध होता है। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

आप्त-परीक्षा परीक्षान्त कृतियों में आप्तपरीक्षा कृति प्रथम है। प्रमाण परीक्षा कृति में इस कृति का उल्लेख भी है। इस कृति की १२४ कारिकाएं और १० प्रकरण हैं। इन प्रकरणों में ईश्वर-परीक्षा, कपिल-परीक्षा, सुगत-परीक्षा, परम पुरुष-परीक्षा (ब्रह्माद्वैत परीक्षा) ये प्रकरण आप्त पुरुष के स्वरूप को समझने के लिए उपयोगी हैं। इन प्रकरणों के द्वारा ईश्वर, कपिल, सुगत और ब्रह्म परीक्षा तथा इनके स्वरूप का युक्तिपूर्वक विश्लेषण एवं विवेचन करने के बाद आप्त पुरुषों के आप्तत्व को सिद्ध किया गया है। प्रसिद्ध दार्शनिक स्व. पं. अम्बादास जी शास्त्री के अभिमत से ईश्वर कर्तृत्व की जैसी विशद, सबल एवं तर्कपूर्ण समालोचना आचार्य विद्यानन्द ने की है वैसी अन्य किसी ने की हो अब तक देखने में नहीं आई। उनकी आप्त-परीक्षा बेजोड़ रचना है।

आचार्य विद्यानन्द की यह कृति संस्कृति वाङ्मय का रत्न है। इस दार्शनिक कृति में आप्त-पुरुषों के आप्तत्व को भी तर्क-कषोपल पर परखा गया है।

प्रमाण-परीक्षा यह प्रमाण विषयक संस्कृत रचना है। इस रचना में सम्यग्-ज्ञान को प्रमाण बताकर सन्निकर्ष आदि प्रमाण का निरसन एवं जैन दर्शन सम्मत प्रमाण-स्वरूप, प्रामाण्य की उत्पत्ति, प्रमाण की भेद संख्या, विषय और फल की विस्तृत चर्चा है। अनुमान प्रमाण के सन्दर्भ में पात्रकेशरी द्वारा निर्दिष्ट हेतु लक्षण का समर्थन बौद्ध दर्शन सम्मत त्रैरूप्यात्मक एवं पंचरूप्यात्मक लक्षण की समीक्षा आचार्य विद्यानन्द ने की है। आचार्य पात्रकेशरी ने हेतु लक्षण की चर्चा करते हुए लिखा है

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं॥

आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम् ॥

इस कृति में आप्तपरीक्षा कृति का भी उल्लेख है। इससे यह कृति आप्त परीक्षा के बाद की रचना प्रमाणित होती है।

अनुमान प्रमाण का जैन दर्शन सम्मत विस्तृत वर्णन स्वार्थानुमान, परार्थानुमान दोनों भेदों की सयौक्तिक सिद्धि, उपमान एवं अर्थापत्ति प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव, परमार्थ प्रत्यक्ष और सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) की चर्चा तथा एतद्विषयक अन्य सामग्री न्याय विषयक बिन्दुओं को समझाने में बहुत उपयोगी है।

पत्र-परीक्षा आचार्य विद्यानन्द की यह गद्य पद्यात्मक रचना है। शास्त्रों के प्रसंग में गूढ़ क्रिया पदों से गर्भित पत्रों के विवेचन में इस प्रकरण की रचना हुई। इस प्रकरण में जैन दर्शन सम्मत पत्र, लक्षणों की चर्चा एवं पत्र लक्षण के सन्दर्भ में दर्शनान्तरीय पत्र लक्षणों की मान्यताओं का निरसन है। प्रतिज्ञा और हेतु को अनुमान प्रमाण का लक्षण बताया है। इस ग्रन्थ की वादचर्चा ज्ञानवर्धक है। नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, कपिल एवं सुगत इन सभी के मतों की समीक्षा तर्कपूर्ण

शैली में है। जैन परम्परा में यह पत्र परीक्षा कृति सम्भवतया आचार्य विद्यानंद की प्रथम और अंतिम रचना है। प्रभाचन्द्र ने प्रमेय कमल मार्तण्ड के अंत में पत्र वाक्य की चर्चा की है। पत्र वाक्य की चर्चा में प्रभाचन्द्राचार्य पर आचार्य विद्यानन्द का प्रभाव परिलक्षित होता है।

सत्यशासनपरीक्षा यह एक समीक्षात्मक रचना है। वर्तमान में यह अपूर्ण रचना ही उपलब्ध है, अतः विद्वानों का अभिमत है कि यह आचार्य विद्यानन्द की अन्तिम रचना है।

१. पुरुषाद्वैत-शासन-परीक्षा
२. शब्दाद्वैत-शासन-परीक्षा
३. विज्ञानाद्वैत-शासन-परीक्षा
४. चार्वाक-शासन-परीक्षा
५. बौद्ध--शासन-परीक्षा
६. सांख्य-शासन-परीक्षा
७. नैयायिक-शासन-परीक्षा
८. वैशेषिक-शासन-परीक्षा
९. भाट्ट-शासन-परीक्षा
१०. प्रभाकर-शासन-परीक्षा
११. तत्त्वोपप्लव-शासन-परीक्षा
१२. अनेकान्त-शासन-परीक्षा

इस १२ शासनों (मतों) की परीक्षा के लिए आचार्य विद्यानन्द प्रतिज्ञाबद्ध जान पड़ते हैं, पर पुरुषाद्वैत शासन-समीक्षा से भाट्ट-शासन तक की पूर्ण समीक्षा एवं प्रभाकर-शासन की अपूर्ण समीक्षा सत्य-शासन परीक्षा ग्रन्थ में उपलब्ध है। अन्तिम दो अनुपलब्ध हैं। विभिन्न मतों की समीक्षा के द्वारा आचार्य विद्यानन्द ने जैन दर्शन का उत्कर्ष सिद्ध किया है। परीक्षान्त ग्रन्थों में आचार्य विद्यानन्द के इस 'सत्य शासन परीक्षा' ग्रन्थ का विशिष्ट स्थान है।

श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र आचार्य विद्यानन्द की यह पद्यात्मक लघु रचना है। इस कृति में ३० पद्यों द्वारा पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है। मन्दाक्रांता, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग है। कपिलादि मुनियों का अनाप्तत्व और तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का आप्तत्व तार्किक शैली में प्रस्तुत किया गया है। समन्तभद्र की देवागमस्तोत्र शैली का प्रभाव इस स्तोत्र की शैली पर परिलक्षित होता है। आचार्य विद्यानन्द ने ईस्वी सन् ७८३-८४१ में इस स्तोत्र की रचना की थी।

समय-संकेत

आचार्य विद्यानन्द की अष्टसहस्री में भट्ट अकलङ्क की अष्टशती पूर्णतः समाहित है। भट्ट अकलङ्क का समय विक्रम की सातवीं-आठवीं शताब्दी है। इस आधार पर आचार्य विद्यानन्द विक्रम की आठवीं शताब्दी में होने वाले भट्ट अकलङ्क से उत्तरवर्ती हैं।

आचार्य विद्यानन्द के टीकाग्रन्थों और परीक्षा ग्रन्थों में कुमारनन्दी भट्टारक के वाद-न्याय ग्रन्थ की कुछ कारिकाएं उपलब्ध होती हैं। कुमारनन्दी भट्टारक, भट्ट अकलङ्क के पश्चाद्वर्ती हैं पर विद्यानन्द से पूर्ववर्ती हैं।

आचार्य वादिराज के 'न्याय विनिश्चय विवरण' की प्रशस्ति में विद्यानन्द का उल्लेख है, अतः विद्यानन्द, वादिराज से पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। वादिराज के पार्श्वनाथ चरित्र-काव्य रचना का समय ईस्वी सन् १०२५ है।

आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रशस्ति पद्य में शिवमार द्वितीय का उल्लेख किया है।[1] युक्त्यनुशासनालङ्कार के प्रशस्ति पद्य[2] में, आप्तपरीक्षा ग्रन्थ[3] में तथा प्रमाण-परीक्षा मंगल पद्य[4] में सत्य वाक्य

---

१. जीयात्सज्जनताश्रयः शिवसुधाधारावधानप्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्रप्रतापान्वितः।
प्रोज्जृम्भोतिरिवावगाहन कृतानन्तस्थितिर्मानतः।
सन्मार्गत्रितयात्मकोऽखिल-मत-ग्रन्थातनप्रक्षमः॥
(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-प्रशस्ति)

२. सन्मार्गत्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये।
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्री सत्यवाक्याधिपः॥१॥
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः।
विद्यानन्द बुधैरलंकृतमिदं श्री सत्यवाक्याधिपैः॥२॥
(युक्त्यनुशासनालंकार प्रशस्ति)

अथवा सत्य वाक्याधिप के वाक्य प्रयोग से शिवमार द्वितीय के उत्तराधिकारी राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम का निर्देश आचार्य विद्यानन्द ने किया है ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

शिवमार द्वितीय ने ई. सन् ८१० के लगभग राज्याधिकार प्राप्त किया था। राजमल्ल सत्य वाक्य प्रथम के लिए ई. सन् ८१६ समय का उल्लेख है।

आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थों में इन दोनों शासकों का उल्लेख होने से स्पष्ट है इन दोनों के शासन-काल का समय ईस्वी सन् ९वीं शताब्दी का पूर्वार्ध होने के कारण आचार्य विद्यानन्द का सत्ता समय वी. नि. की लगभग १४वीं शताब्दी एवं विक्रम् की ९वीं शताब्दी का उत्तरार्ध भाग प्रमाणित होता है।

आप्त-परीक्षा प्रस्तावना में आचार्य विद्यानन्द के लिए ईस्वी सन् आठवीं-नौवीं शताब्दी (ईस्वी सन् ७८३-८४१) का समय मान्य किया है।[४] आचार्य विद्यानन्द ने ईस्वी सन् (७८३-८४१) में श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना की थी।

---

३. विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥१२३॥ (आप्तपरीक्षा प्रशस्ति)

४. जयन्ति निर्जिताशेष सर्वथैकान्तनीतयः।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः॥
(प्रमाणपरीक्षा मंगल पद्य)

५. आप्त परीक्षा, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९४७ ई., प्रस्तावना।

७०. अध्यात्मोन्मुखी आचार्य अमृतचन्द्र

अध्यात्म के विशिष्ट व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र दिगम्बर विद्वान् थे। उनको जैनागमों का गहरा ज्ञान था। आचार्य कुन्दकुन्द की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टियों का पल्लवन तथा सम्यक् व्याख्यान आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है।

जीवन-वृत्त

आचार्य अमृतचन्द्र की गुरु-शिष्य परम्परा तथा गृहस्थ जीवन की सामग्री उपलब्ध नहीं है। पण्डित आशाधरजी ने आचार्य अमृतचन्द्र के लिए 'ठक्कुर' शब्द का प्रयोग किया है।[1] इस शब्द का प्रयोग ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिए होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ब्राह्मण या क्षत्रिय कुछ भी रहे हों पर 'ठक्कुर' शब्द उनके उच्च कुल का संकेत है।

साहित्य

आचार्य अमृतचन्द्र को संस्कृत प्राकृत दोनों भाषाओं का ज्ञान था। उन्होंने ग्रन्थ रचना संस्कृत भाषा में की।

उनके ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय यह श्रावकाचार का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसका एक नाम जिनवचन रहस्य कोश भी है। इस ग्रन्थ की रचना आर्यावृत्त छन्द में हुई है। ग्रन्थ पांच भागों में विभाजित है। ग्रन्थ की पद्य संख्या २२६ है। ग्रन्थगत अधिकारों के नाम हैं (१) सम्यक्त्व विवेचन, (२) सम्यक्ज्ञान व्याख्यान, (३) सम्यक् चरित्र व्याख्यान, (४) संलेखना धर्म व्याख्यान, (५) सकल चरित्र व्याख्यान। इन पांचों अधिकारों के नाम से ग्रन्थ का प्रतिपाद्य स्पष्ट है। आचार्य अमृतचन्द्र की यह मौलिक कृति है। इसकी रचना सरल और सुबोध शैली में है।

तत्त्वार्थसार यह एक तात्त्विक रचना है, आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र का सुसम्बद्ध पद्यानुवाद है। इसके नौ अधिकार हैं। इन नौ अधिकारों में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्त्वों का वर्णन किया गया है। तत्त्वार्थसार यथार्थ में तत्त्वार्थ सूत्र का ही सार रूप है। आचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, अकलङ्काचार्य की तत्त्वार्थराजवार्तिक टीका के विषय भी कृति में गृहीत हैं। सैद्धान्तिक तत्त्वों का विवेचन सरल और स्पष्ट भाषा में है। इस कृति के कुल पद्य ७१८ हैं। आचार्य अमृतचन्द्र की यह हृदयग्राही रचना है। इस ग्रन्थ को ग्रन्थकार ने मोक्षमार्ग में दीपक के समान प्रकाशक माना है।[2]

समयसार टीका इस टीका का दूसरा नाम आत्मख्याति टीका है। कुन्दकुन्द के समयसार नामक अति गम्भीर ग्रन्थ का इस टीका में पर्याप्त विस्तार है। मूल ग्रन्थ की भांति यह टीका भी गम्भीर और गहन है। टीका की शैली परिष्कृत और प्रौढ़ है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अनेक गम्भीर बिन्दु भी इस टीका से स्पष्ट हुए हैं। जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि सैद्धान्तिक तत्त्वों का विवेचन करती हुई यह गद्यात्मक मार्मिक टीका ज्ञानवर्धक एवं सरल है। प्रस्तुत टीका नाटक के समान अंकों में विभाजित है। इसे टीका की रचना पद्धति का नया प्रयोग कहा जा सकता है। समयपाहुड ग्रन्थ का समयसार नामकरण भी आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है।

समयसार कलश समयसार टीका के श्लोक संग्रह से समयसार कलश नामक कृति का निर्माण हुआ है। यह ग्रन्थ गम्भीर होते हुए भी रोचक है और अध्यात्म रस से परिपूर्ण है। इसके कुल २७८ पद्य हैं और १२ अधिकार हैं। इस का कविवर बनारसीदासजी ने हिन्दी पद्यानुवाद किया है।

प्रवचनसार टीका यह टीका भी गहन और विस्तृत है तथा तत्त्वदीपिका के नाम से प्रसिद्ध है। इस टीका में

---

१. 'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमापादीत्'
(अनगार धर्मामृत टीका, पृ. १९०)

२. अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः ॥२॥
(तत्त्वार्थसार)

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार का प्रतिपाद्य अत्यन्त स्पष्टता के साथ प्रस्तुत है। समयसार टीका के समान ही इस टीका की शैली प्राञ्जल और परिष्कृत है।

पञ्चास्तिकाय टीका इस टीका की रचना आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय ग्रन्थ की १७३ गाथाओं पर हुई है। इस टीका का नाम तत्त्वदीपिका है। यह टीका चार भागों में विभक्त है (१) पीठिका, (२) प्रथम श्रुतस्कन्ध, (३) द्वितीय श्रुतस्कन्ध और (४) चूलिका। इस टीका में काल के अतिरिक्त धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि पांचों अस्तिकायों का विस्तृत विवेचन है।

समयसार टीका, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका ये तीनों टीकाएं सारपूर्ण, सरस, गम्भीर और मर्मस्पर्शिनी हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय इन तीनों ग्रन्थों के गूढ़ अर्थों का प्रकाशन और सम्यक् प्रतिपादन, अन्तःरहस्यों का उद्घाटन, अस्पष्ट बिन्दुओं का स्पष्टीकरण इन टीकाओं में किया गया है। टीकाओं की रचना प्रौढ़ और हृदय को छूने वाली है। निश्चय और व्यवहार का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध विवेचन इन टीकाओं में है। इन टीकाओं के अध्ययन से पाठक को अध्यात्म रस का अनूठा आस्वाद प्राप्त होता है। समयसार टीका पर रचे गए कलश अध्यात्मरस से ओतप्रोत हैं।

अपनी साहित्यिक रचनाओं का परिचय उन्होंने विलक्षण ढंग से दिया है। वे लिखते हैं

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः[३] ॥२२६॥
(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

तरह-तरह के वर्णों से पद बन गए, पदों से वाक्य बन गए और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया है। मैंने इसमें कुछ नहीं किया।

विद्वान् आचार्य अमृतचन्द्र का यह निगर्वी व्यवहार उनकी महत्ता का बोध कराता है।

आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों में अध्यात्म का मधुर नाद है। उनके समयसार सहित टीका ग्रन्थ ग्रन्थकार की गहरी अध्यात्म-निष्ठा और अध्यात्म रसिकता की अनुभूति कराते हैं।

समय-संकेत

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी कृति में कहीं समय का संकेत नहीं किया है। शुभचन्द्राचार्य के ज्ञानार्णव में अमृतचन्द्र के पद्य पाए जाते हैं। पण्डित आशाधरजी ने अनगार धर्मामृत टीका में 'ठक्कुर' पद जैसे सम्मानसूचक विशेषण के साथ आचार्य अमृतचन्द्र का उल्लेख किया है[४], अतः शुभचन्द्राचार्य से एवं विक्रम की १३वीं सदी में होने वाले विद्वान् पण्डित आशाधरजी से आचार्य अमृतचन्द्र पूर्ववर्ती हैं। जयसेन के धर्म रत्नाकर में भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ५९ पद्य हैं। जयसेन भावसेन के शिष्य थे। राजा मुञ्ज के समकालीन महासेन जयसेन के प्रशिष्य थे। जयसेन ने धर्मरत्नाकर ग्रन्थ वी. नि. १५२५ (वि. सं. १०५५) में सम्पन्न किया था।[५] अतः आचार्य अमृतचन्द्र के समय की उत्तरसीमा इससे आगे नहीं बढ़ सकती। इन उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर परमानन्द शास्त्री आदि दिगम्बर विद्वानों ने आचार्य अमृतचन्द्र का समय वि. की १०वीं शताब्दी का तृतीय चरण सिद्ध किया है।[६] यह समय वीर निर्वाण की सार्ध सहस्र शताब्दी का उत्तरार्ध काल है। आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों में प्राञ्जल संस्कृत भाषा के प्रयोगों को देखने से उनका यह समय ठीक प्रतीत होता है।

---

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

४. एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां द्रष्टव्यम्।
(अनगार धर्मामृत टीका, पृ. ५९९)

५. वाणेन्द्रियव्योम सोम-मिते संवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सबली करहाटके ॥
(धर्मरत्नाकर प्रशस्ति)

६. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. २०७।

७१. सिद्ध-व्याख्याता आचार्य सिद्धर्षि

श्रीसिद्धर्षिप्रभोः पान्तु वाचः परिपचेलिमाः।
अनाद्यविद्यासंस्कारा यदुपास्तेभिदेलिमाः ॥२॥

(प्रभा. च., पृ. १२१)

श्री सिद्धर्षि की अनुभवों से परिपक्व वाणी भव्य जनों का संरक्षण करे।

जिस वाणी की उपासना से अनादिकालीन अविद्या के संस्कार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

प्रभाचन्द्राचार्य के उक्त श्लोक में श्री सिद्धर्षि की वचन-सम्पदा का महत्त्व है।

प्रभावक जैनाचार्यों की परम्परा में सिद्धर्षि जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे। संस्कृत भाषा पर उनका आधिपत्य था। उनकी व्याख्यान शैली सरस थी। वे कुशल रचनाकार थे। उनके द्वारा रचित 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' जैन वाङ्मय का उत्तम ग्रन्थ है।

गुरु-परम्परा

प्रभावक चरित्र ग्रन्थकार के अनुसार जैनाचार्य सिद्धर्षि वज्रस्वामी की परम्परा के थे। वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन थे। वज्रसेन के नागेन्द्र, निवृत्ति, चन्द्र और विद्याधर ये चार प्रसिद्ध शिष्य थे। द्वितीय शिष्य निवृत्ति से निवृत्ति गच्छ की स्थापना हुई। इसी निवृत्ति गच्छ में सूराचार्य हुए। सूराचार्य के शिष्य का नाम गर्गर्षि था। गर्गर्षि सुप्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धर्षि के दीक्षा गुरु थे।[1]

प्रबन्धकोश के अनुसार सिद्धर्षि के दीक्षा गुरु जैनाचार्य हरिभद्रसूरि थे,[2] जिन्होंने 'ललित विस्तरा' नामक वृत्ति ग्रन्थ की रचना की।

'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' की प्रशस्ति में सिद्धर्षि ने हरिभद्राचार्य को धर्मबोधदायक गुरु के रूप में स्मरण किया है।[3] उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा में 'लाट' देश में आभूषण तुल्य सूराचार्य का सर्वप्रथम उल्लेख किया है और उनको निवृत्ति कुल का बताया है। सूराचार्य के बाद ब्राह्मण कुल भूषण 'उल्ल' नाम के आचार्य हुए। जिनकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई थी। आचार्य उल्ल के बाद देल्लमहत्तराचार्य का उल्लेख है जो ज्योतिष शास्त्र और निमित्त शास्त्र के विद्वान् थे। उनके बाद दुर्गस्वामी हुए। दुर्गस्वामी का जन्म ऋद्धि सम्पन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था। सिद्धर्षि ने दुर्गस्वामी के उल्लेख के बाद अपने को और अपने गुरु बन्धु दुर्गस्वामी को दीक्षा देने वाले गर्गर्षि को नमस्कार किया है। आगे के पद्य में दुर्गस्वामी की भावपूर्ण स्तुति की है।

सिद्धर्षि ने 'उपमिति भव प्रपंच' कथाग्रन्थ बनाया उससे पहले भिन्नमाल में दुर्गस्वामी का स्वर्गवास हो गया। गच्छ नायक के रूप में सम्भवतः उस समय सद्गर्षि थे। अपने गुरुओं की प्रशस्ति के साथ ज्येष्ठ गुरुबन्धु सद्गर्षि की भी सिद्धर्षि ने प्रशस्ति की है एवं सद्गर्षि को उपशम भाव सम्पन्न परहितकारी आगम समुद्र एवं महाभाग्यशाली जैसे सम्बोधन देकर उनके प्रति गुरु जैसा सम्मान प्रकट किया है। अन्त में सिद्ध नामक व्यक्ति ने सरस्वती देवी की बनाई हुई कथा कही है ऐसा कहकर सिद्धर्षि ने अपना नाम लिखा है

---

१. दिग्वन्द्यं श्रावयामास पूर्वतो गच्छसन्ततिम्।
सत्प्रभुः शृणु वत्स! त्वं श्रीमान् वज्रप्रभुः पुरा ॥८३॥
तस्मिंश्च वज्रसेनस्याभूद् विनेयचतुष्टयी।
नागेन्द्रो निर्वृतिश्चन्द्रः ख्यातो विद्याधरस्तथा ॥८४॥
आसीन्निर्वृतिगच्छे च सूराचार्यो धियां निधिः।
तद्विनेयश्च गर्गर्षिरहं दीक्षागुरुस्तव ॥८५॥
(प्रभावक चरित्र-सिद्धर्षि प्रबन्ध, पृ. १२३)

२. तत्रोद्घाटे हृद्दे उपविष्टान् सूरिभंत्रस्मरणपरान् श्री हरिभद्रान् दृष्टवान् सान्द्रचंद्रिके नभसि देज्ञना। बोधः व्रतम्।
(प्रबन्धकोश, हरिभद्रसूरि प्रबन्ध, पृ. २५, पं. २७)

३. आचार्य हरिभद्रो मे धर्मबोधकरो गुरुः।
प्रस्तावे भावतो हन्त स एवायं निवेदितः ॥१५॥
(उपमितिभव प्रपञ्च कथा प्रशस्ति)

और अपने को सद्दर्षि की चरण रेणु के तुल्य माना है।[४]

इस प्रशस्ति के उल्लेखानुसार सिद्धर्षि निवृत्ति कुलोद्भूत सूराचार्य की परम्परा में हुए। सिद्धर्षि के गुरु दुर्गस्वामी और दीक्षा-गुरु गर्गर्षि थे।

प्रस्तुत सूराचार्य 'प्रभावक चरित्र' ग्रन्थ में वर्णित द्रोणाचार्य के शिष्य सूराचार्य से भिन्न थे।

जन्म एवं परिवार

सिद्धर्षि का जन्म गुजरात के श्रीमालपुर में हुआ। पुरातन प्रबन्ध संग्रह के अनुसार उनका गोत्र श्रीमाल था। गुजरात नरेश श्री वर्मलात के मन्त्री का नाम सुप्रभदेव था। मन्त्री सुप्रभदेव के दो पुत्र थे दत्त और शुभंकर। दत्त के पुत्र का नाम माघ और शुभंकर के पुत्र का नाम सिद्ध था। शिशुपाल आदि काव्यों की रचनाओं से माघ की प्रसिद्धि महाकवि के रूप में हुई। शुभंकर पुत्र सिद्ध (सिद्धर्षि) की माता का नाम लक्ष्मी और पत्नी का नाम धन्या था।

प्रभावक चरित्र, पुरातन-प्रबन्ध संग्रह आदि ग्रन्थों के अनुसार कवि माघ और सिद्धर्षि दोनों मन्त्री सुप्रभदेव के पौत्र थे। कवि माघ सिद्धर्षि के बड़े पिता के पुत्र थे।[५] शिशुपाल वध जैसे उत्तम काव्य की रचना कवि माघ ने की थी।[६]

शिशुपाल वध की प्रशस्ति में महाकवि माघ ने अपने परिवार का परिचय देते हुए बताया है श्री वर्मल राजा के मन्त्री सुप्रभदेव थे। उनके पुत्र का नाम दत्तक था। दत्तक का दूसरा नाम सर्वाश्रय था। दत्तक पुत्र माघ ने इस ग्रन्थ की रचना की है।[७]

नरेश वर्मल (वर्मलात) मन्त्री सुप्रभदेव, मन्त्री पुत्र दत्तक तथा दत्तक के पुत्र कवि माघ के सम्बन्ध में प्रभावक चरित, पुरातन-प्रबन्ध संग्रह और शिशुपाल काव्य प्रशस्ति में समान है।

कालक्रम के आधार पर नरेश वर्मल मन्त्री सुप्रभदेव आदि के साथ उपमितिभवप्रपञ्च कथा के रचनाकार सिद्धर्षि की समसामयिकता ठीक प्रतीत नहीं होती। सिरोही के पार्श्ववर्ती वसन्तगढ़ किले में प्राप्त ताम्रपत्र

---

४. द्योतिताखिलभावार्थः सद्भव्याब्जप्रबोधकः।
सूराचार्योऽभवद्दीप्तः साक्षादिव दिवाकरः ॥१॥
स निवृत्तिकुलोद्भूतो लाटदेशविभूषणः।
आचारपञ्चकायुक्तः प्रसिद्धो जगती तले ॥२॥
अभूद् भूतहितो धीरस्ततो देल्लमहत्तरः।
ज्योतिर्निमित्तशास्त्रज्ञः प्रसिद्धो देशविस्तरे ॥३॥
ततोऽभूदुल्लसत्कीर्तिर्ब्रह्म गोत्रविभूषणः।
दुर्गस्वामी महाभागः प्रख्यातः पृथिवीतले ॥४॥
सद्दीक्षादायकं तस्य स्वस्य चार्हं गुरुत्तमम्।
नमस्यामि महाभागं गर्गर्षिमुनिपुङ्गवम् ॥७॥
क्लिष्टेऽपि दुःषमाकाले यः पूर्वमुनिचर्यया।
विजहारैव निःसङ्गो दुर्गस्वामी धरातले ॥८॥
सदेशनांशुभिर्लोकं द्योतित्वा भास्करोपमः।
श्री भिल्लमाले यो धीरः गतोऽस्तं सद्विधानतः ॥९॥
तस्मादतुलोपशमः सिद्ध (सद्) र्षिरभूदनाविलमनस्कः।
परहितनिरतैकमतिः सिद्धांतनिधि (रति) र्महाभागः ॥१०॥
उपमितिभवप्रपञ्चा कथेति तच्चरणरेणुकल्पेन।
गीर्देवतया विहिताभिहिता सिद्धाभिधानेन ॥१४॥
(उपमितिभवप्रपञ्च कथा प्रशस्ति)

५. तस्य श्रीभोजभूपालबालमित्रं कृतीश्वरः।
श्रीमाघोनन्दनो ब्राह्म्यास्पन्दनः शीलचंदनः ॥१५॥
(प्रभा. च., पृ. १२१)

६. ऐदंयुगीनलोकस्य सारसारस्वतायितम्।
शिशुपालवधः काव्यं प्रशस्तिर्यस्य शाश्वती ॥१६॥
(प्रभा. च., पृ. १२१)

७. सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्री वर्म्मनामस्य बभूव राज्ञः।
असत्कदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोपरः सुप्रभदेवनामा ॥१॥
कालेमितं तथ्य मुदर्कपथ्यं तथागतस्येव जनः सुचेताः।
विनानुरोधात्सहितेच्छयैव महीपतिर्यस्य वचश्चकार ॥२॥
तस्याभवच्चतक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः।
यं वीक्ष्य वैयासमजात शत्रोर्वंचो गुणग्राहि जनैः प्रतीये ॥३॥
सर्वेण सर्वाश्रय इत्यनिन्द्यमानन्द भाजा जनितं जनेन।
यश्च द्वितीयं स्वयमद्वितीय मुख्यः सतां गीणमवाप नाम ॥४॥
('शिशुपालवध महाकाव्य' प्रशस्ति)

पर वर्मल राजा का समय वि. सं. ६८२ बताया गया है। महाकवि माघ द्वारा रचित शिशुपाल वध का रचनाकाल वि. सं. ७५० सिद्ध हुआ है। उपमितिभवप्रपञ्च कथा का रचनाकाल रचनाकार के उल्लेखानुसार वि. सं. ९६२ है।

उपर्युक्त कालगणना के अनुसार मन्त्री सुप्रभदेव और सिद्धर्षि के मध्य लगभग तीन शताब्दी का अन्तराल है। अतः दोनों के बीच पितामह और पौत्र का सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

जीवन-वृत्त

शुभंकर पुत्र सिद्ध ने विवाह होने के बाद श्रमण भूमिका में प्रवेश किया। श्रमण भूमिका तक पहुंचाने में मुख्य निमित्त सिद्ध की मां थी।

सिद्ध में अनेक गुण थे परन्तु उसे द्यूत खेलने का नशा था। माता-पिता, बन्धु एवं मित्रों द्वारा उचित मार्गदर्शन मिलने पर भी उससे द्यूत का परित्याग नहीं हो सका।[८] दिन-प्रतिदिन उसके जीवन में द्यूत का नशा अधिक गहरा होता गया। वह प्रायः अर्धरात्रि का अतिक्रमण कर घर लौटता। सिद्ध की पत्नी को पति की प्रतीक्षा में रात्रि-जागरण करना पड़ता। पति की इस आदत से पत्नी खिन्न रहती थी। एक दिन सास ने वधू को उदासी का कारण पूछा। लज्जावनत वधू ने पति के द्यूत-व्यसन की तथा निशा में विलम्ब से आगमन की बात कही। सास बोली "विनयिनी! तुमने मुझे इतने दिन तक क्यों नहीं बताया? मैं पुत्र को मीठे-कड़ुए वचनों से प्रशिक्षण देकर सही मार्ग पर ले आती। तुम निशा में निश्चिन्त होकर नींद लेना, रात्रि का जागरण मैं करूंगी।" सास के कथन से वधू सो गई और पुत्रागमन की प्रतीक्षा में लक्ष्मी बैठी रही। यामिनी के पश्चिम याम में पुत्र ने द्वार खटखटाया। माता लक्ष्मी क्रुद्ध होकर बोली "काल-विकाल में भटकने वाले पुत्र को मैं कुछ नहीं समझती। अनुचित विहारी एवं मर्यादातिक्रान्त के लिए मेरे घर में कोई स्थान नहीं है। तुम्हें जहां अनावृत द्वार मिले वहीं चले जाओ।" सिद्ध तत्काल उल्टे पांव लौटा। धर्मस्थान के द्वार खुले थे। वह वहीं पहुंच गया। वहां गोदोहिकासन, उत्कटुकासन, वीरासन, पद्मासन आदि मुद्रा में स्थित स्वाध्याय-ध्यानरत मुनियों को देखा। उनकी सौम्य मुद्रा के दर्शन से व्यसनासक्त सिद्ध का मन परिवर्तित हो गया। सोचा 'मेरे जन्म को धिक्कार है। मैं दुर्गतिदायक जीवन जी रहा हूं। आज सौभाग्य से सुकृत बेला आई, उत्तम श्रमणों के दर्शन हुए। मेरी मां प्रकुपित होकर भी मेरी उपकारिणी है। उनके योग से मुझे यह महान् लाभ मिला। उष्णक्षीर का पान पित्तप्रणाशक होता है।[९]

शुभ्र अध्यवसायों में लीन सिद्ध ने मुनियों को नमस्कार किया। गुरुजनों द्वारा परिचय पूछे जाने पर उसने द्यूत व्यसन से लेकर जीवन का समग्र वृत्तान्त सुनाया और निवेदन किया "जो कुछ मेरे जीवन में घटित होना था वह हो गया। अब मैं धर्म की शरण ग्रहण कर आपके परिपार्श्व में रहना चाहता हूं। नौका के प्राप्त हो जाने पर कौन व्यक्ति समुद्र को पार करने की कामना नहीं करेगा।"[१०] गुरु ने सिद्ध को ध्यान से देखा। ज्ञानोपयोग से जाना यह जैन शासन का प्रभावक होगा। उन्होंने मुनिचर्या का बोध देते हुए कहा "सिद्ध! संयम स्वीकृत किए बिना तुम हमारे साथ कैसे रह सकते हो! तुम्हारे जैसे स्वेच्छाचारी व्यक्ति के लिए यह जीवन कठिन है। मुनिव्रत असिधारा है।

---

८. पितृमातृगुरुस्निग्धबंधुमित्रैर्निवारितः।
अपि नैव न्यवर्तिष्ट दुर्वारं व्यसनं यतः ॥२३॥
(प्रभा. च., पृ. १२१)

९. अमीषां दर्शनात् कोपिन्यापि सुपकृतं मयि।
जनन्या क्षीरमुष्णमपि पित्तं प्रणाशयेत् ॥४७॥
(प्रभा. च., पृ. १२२)

१०. अतः प्रभृति पूज्यानां चरणौ शरणं मम।
प्राप्ते प्रवहणे को हि निस्तितीर्षति नाम्बुधिम् ॥५१॥
(प्रभा. च., पृ. १२२)

ब्रह्मव्रत का पालन, सामुदानिकी माधुकरी वृत्ति से आहार ग्रहण, षट्भक्त, अष्टभक्त तप की आराधना के रूप में कठोर मुनिव्रत का पालन लौहमय चनों का मोम के दांतों से चर्वण करना है।"

सिद्ध ने कहा "मेरे इस व्यसनपूर्ण जीवन से साधु जीवन सुखकर है।" दीक्षा की स्वीकृति में पिता की आज्ञा आवश्यक थी। संयोगवश सिद्ध के पिता शुभंकर पुत्र को ढूंढते हुए वहां पहुंचे गए। पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए। पुत्र सिद्ध को घर चलने के लिए कहा। पिता के द्वारा बहुत समझाने पर भी सिद्ध ने दीक्षा लेने का निर्णय नहीं बदला। पुत्र के दृढ़-संकल्प के सामने पिता को झुकना पड़ा। सिद्ध पिता से आज्ञा लेकर गर्गर्षि के पास मुनि जीवन में प्रविष्ट हुआ।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के अनुसार श्रीमालपुर के दत्त एवं शुभंकर दो भाई थे। उनका गोत्र श्रीमाल था। उनके बड़े भाई दत्त के पुत्र का नाम माघ एवं शुभंकर के पुत्र का नाम सीधाक था।[११] सीधाक बाल्यकाल से द्यूतव्यसनी हो गया। कभी-कभी वह द्यूत में हारने पर अपने ही घर में चोरी करने लगा। पिता की सम्पत्ति से वह प्रच्छन्न द्रव्य खींचने लगा। इससे पारिवारिक सदस्य सीधाक से अप्रसन्न रहने लगे। जुए में हारने पर पांच सौ द्रमक अथवा उनके बदले अपना मस्तक देने के लिए वचनबद्ध होकर एक दिन सीधाक ने जुआ खेला।[१२]

उस दिन भाग्य ने सीधाक का साथ नहीं दिया। वह द्यूत में हार गया। उसके लिए पांच सौ द्रमक देने की बात कठिन हो गई। निशा में वह जुआरियों के मध्य सोया था। कपाट बन्द थे। द्वार से निकलने का कोई रास्ता नहीं था। सीधाक अर्ध-रात्रि के आसपास उठा एवं प्रासाद-भित्ति से छलांग लगाकर कूद गया। गहन अंधकार के बाद उषा का प्रकाश होता है। द्यूत में हारने के कारण सीधाक गहरे दुःख में था, मौत सिर पर नाच रही थी। संयोग से सीधाक के भित्ति से कूदते ही भाग्य पलट गया। भवन के पार्श्ववर्ती उपाश्रय में पहुंच गया। तीव्र धमाके से श्रमणों की नींद टूटी। उन्होंने सामने खड़े व्यक्ति को देखकर पूछा, "तुम कौन हो?"

सीधाक ने अपना नाम बताया और बोला, "आपके पास कुछ दातव्य है।" गुरु ने 'तथ्यम्' कहकर सीधाक को स्वीकृति प्रदान की। सीधाक भय की मुद्रा में बोला, "मुझे अल्प समय के लिए दीक्षा प्रदान करें।"

गुरु नक्षत्र एवं निमित्तज्ञान के ज्ञाता थे। उस समय शुभ नक्षत्र का योग था। इस समय में दीक्षित होने वाला व्यक्ति अत्यन्त प्रभावक होगा, यह सोचकर गुरु ने 'सीधाक' को दीक्षित किया। प्रातःकाल होते ही उपासकजन 'सीधाक' को मुनि रूप में देखकर बोले "आर्य! क्या आप बिना योग्यता के जैसे-तैसे व्यक्ति को दीक्षित कर लेते हैं? क्या आपके शासन परिवार में योग्य व्यक्तियों की कमी हो गई है? क्या मुनि परिवार छोटा हो गया है?" 'सीधाक' के दीक्षागुरु गम्भीर आचार्य थे। उन्होंने उत्तर नहीं दिया। मुनि 'सीधाक' के पास उपदेशमाला ग्रन्थ रखा हुआ था। मुनि सीधाक ने उसे पढ़ना प्रारम्भ किया। शीघ्रग्राही प्रतिभा के कारण ग्रन्थ के मुख्य स्थल उसे याद हो गए। उसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा को देखकर गुरु प्रसन्न थे।

सीधाक की खोज करते हुए द्यूतकार धर्मस्थान पर पहुंचे। वे उससे ५०० द्रमक लेने के लिए आए थे। उन्होंने श्रमणों से कहा "वे 'सीधाक' को छोड़ दें।"

श्रावक 'सीधाक' के बदले ५०० द्रमक देने को प्रस्तुत हुए।

द्यूतकार बोले "आप लोगों ने इस पर विश्वास कैसे कर लिया? इसने हमें धोखा दिया है, इसी प्रकार आपको भी धोखा दे सकता है।"

श्रावक वर्ग ने धैर्य से उत्तर दिया, "यह ५०० द्रमक के बदले यदि व्यसनमुक्त बनता है, तो यह अच्छा कार्य है।" द्यूतकारों को भी श्रावकों की बात समझ में आ

११. उच्यते-श्रीमालपुरे दत्त-शुभंकरौ भ्रातरौ महर्द्धिकौ श्रीमालज्ञातीयौ। इतश्च शुभंकरस्य सुतः सीधाकः। दत्तस्य सूनुर्माघः। (पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. १०५, पंक्ति २८, २९)

१२. अन्यदा रममाणेनोक्तम्-द्रम्म ५०० यावत् क्रीडयध्वम्। द्रम्मान् ददामि, शिरो वा ददामि। (पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. १०५, पंक्ति ३०)

रख लिए फिर वहां से छोड़कर वहां से चले गए।

अध्ययन किया। जब उनके सम्मुख बौद्ध भिक्षुओं द्वारा

प्रबन्धकोश के अनुसार श्रीमालपुर के धनी श्रेष्ठी जैन उपासक ने द्यूत व्यसनी युवा सिद्धार्थ के ऋण को चुकाकर उसे द्यूतकारों की मंडली से मुक्त किया। घर ले जाकर भोजन करवाया, पढ़ा-लिखाकर उसे सब तरह से योग्य बनाया और उसका विवाह भी किया।

बालक सिद्ध के पिता नहीं थे। माता के संरक्षण का दायित्व भी उस पर था। श्रेष्ठी के सहयोग से विपुल सम्पत्ति उसके पास हो गई।

राजपुत्र सिद्ध श्रेष्ठी के घर रात्रि देर तक लेखन आदि का काम कर लौटता था। इससे उसकी पत्नी एवं माता दोनों अप्रसन्न थीं।

एक दिन की घटना है। रात्रि में अत्यधिक देर से लौटने के कारण माता और पत्नी ने द्वार नहीं खोले। तब वह किसी एक आपण (दुकान) में स्थित आचार्य हरिभद्र के पास गया। उनसे बोध प्राप्त किया और वहीं दीक्षित भी हो गया। प्रस्तुत प्रसंग के अनुसार आचार्य सिद्धर्षि के दीक्षागुरु आचार्य हरिभद्र थे। जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन कर आचार्य से सिद्धर्षि ने बौद्धों के पास बौद्ध दर्शन को पढ़ने का आदेश मांगा। आचार्य हरिभद्र जानते थे। वहां जाने के बाद वह जैन धर्म से विचलित हो सकता है। उन्होंने सिद्धर्षि से कहा "शिष्य! 'तत्र मा गा' तुम वहां मत जाओ, वहां जाने से लाभ नहीं है। तुम्हारा मन निर्ग्रन्थ धर्म से बदल जाएगा।"

मुनि सिद्धर्षि नम्र होकर बोले, "युगान्तेऽपि नैवं स्यात्" युगान्त में भी यह सम्भव नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने शिष्य सिद्धर्षि को मार्गदर्शन देते हुए कहा "मुने! संयोगवश तुम्हारा मन परिवर्तित हो जाए, जैन दर्शन के प्रति रुचि नहीं रहे और बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने का अवसर उपस्थित हो जाए, उससे पहले मेरे से एक बार जरूर आकर मिलना।"

सिद्धर्षि गुरुवचनों में बद्ध होकर वहां से चले। आचार्यपद नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ उस समय वचनबद्ध होने के कारण मुनि सिद्धर्षि ने जैन मुनियों से मिलने का विचार सबके सामने प्रस्तुत किया और वे वहां से चले, आचार्य हरिभद्र के पास आ पहुंचे।

सिद्धर्षि का आचार्य हरिभद्र के साथ शास्त्रार्थ हुआ। पराभव को प्राप्त कर वे जैन हो गए। पुनः बौद्धों के पास गए बौद्ध हो गए। इस प्रकार इक्कीस बार मुनि सिद्धर्षि ने जैन और बौद्धों के बीच आवृत्ति की।[13] बाईसवीं बार आचार्य हरिभद्र ने सोचा पुनः-पुनः मिथ्यात्व प्राप्ति से एवं मिथ्याभिनिवेश में ही आयुष्य क्षीण हो जाने से सिद्धर्षि का भवभ्रमण वृद्धिंगत होगा अतः इस बार शास्त्रार्थ न करके संस्कारों को सुदृढ़ करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने उन्हें 'ललित विस्तरा' नामक वृत्तिग्रन्थ पढ़ने को दिया और वे स्वयं अन्यत्र चले गए। इस ग्रन्थ को पढ़कर सिद्धर्षि बोध को प्राप्त हुए। इसके बाद कभी वे जैन दर्शन से दिग्भ्रान्त नहीं हुए। इस बात का उल्लेख करते हुए स्वयं सिद्धर्षि ने लिखा है

नमोस्तु हरिभद्र तस्मै प्रवरसूरये।
मदर्थनिर्मिता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा॥

(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. १-७)

प्रभावक चरित्र के अनुसार सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि थे। उन्हें बौद्ध संघ में प्रविष्ट सिद्धर्षि को समझाने में पुनः-पुनः प्रयास नहीं करना पड़ा। वे एक ही बार में सफल हो गए। बौद्ध भिक्षुवेश में सिद्धर्षि को अपने सामने उपस्थित देखकर उन्होंने कहा "कोई बात नहीं, तुम बौद्ध भिक्षु बन गए हो। थोड़ी देर के लिए रुको, इस ग्रन्थ को पढ़ो। मैं अभी बाहर जाकर आता हूं।" ग्रन्थ को पढ़ते ही सिद्धर्षि के विचार परिवर्तित हो गए। गर्गर्षि के आने पर वे उनके चरणों में झुके और अपनी भूल पर अनुताप करते हुए बोले "मैं हरिभद्र को

---

१३. एवं वेषद्वयप्रदानेन एकविंशतिवारा: २१ कृता:
(प्रबन्धकोश, पृ. २६, पं. ४)

नमस्कार करता हूं जिनकी कृति ने मेरे मानस की कालिमा को धो डाला है। ललित विस्तरा वृत्ति नामक यह ग्रन्थ मेरे लिए सूर्य की भांति प्रकाशक है।" सिद्धर्षि के परिवर्तित विचारों से गर्गर्षि प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल जैन-दीक्षा प्रदान कर उन्हें आचार्यपद पर नियुक्त कर दिया।

सिद्धर्षि को हरिभद्र के ग्रन्थ से बोध हुआ, अतः उन्होंने हरिभद्र को अपना महान् उपकारी माना है। उसकी भावना का प्रतिबिम्ब निम्नोक्त श्लोक से स्पष्ट है

महोपकारी स श्रीमान् हरिभद्रप्रभुर्यतः।
मदर्थमेव येनासौ ग्रन्थोऽपि निरमाप्यत ॥१२६॥

(प्रभावक चरित्र, पृ. १२५)

आचार्य सिद्धर्षि ने अपने ग्रन्थों में आचार्य हरिभद्र का पुनः-पुनः गौरव के साथ स्मरण किया है। उनका नमस्कार विषयक प्रभावक चरित्र का श्लोक है।

विषं विनिर्धूय कुवासनामयं
व्यचीचरद् यः कृपया मदाशये।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां
नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥१३२॥

आचार्य हरिभद्र सूरि को नमस्कार है। उन्होंने विशेष अनुकम्पा कर मेरे हृदय के कुवासना-विष का प्रणाश किया और सुवासना सुधा को निष्पन्न किया है। यह उनकी अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव है।

आचार्य पदग्रहण के बाद सिद्धर्षि ने गुजरात के विभिन्न क्षेत्रों में विहरण कर धर्म की गंगा प्रवाहित की।

ग्रन्थ-रचना सिद्धर्षि धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म के विशिष्ट व्याख्याकार, सिद्धहस्त लेखक एवं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने धर्मदासगणी की उपदेशमाला पर उत्तम टीका की रचना की। साहित्य जगत् की श्रेष्ठ कृति उनकी 'उपमितिभवप्रपञ्च कथा' है। प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के अनुसार कुवलयमाला के रचनाकार दाक्षिण्यचन्द्रसूरि सिद्धर्षि के गुरुभ्राता थे।[१४] उन्होंने एक दिन सिद्धर्षि से कहा "मुने! समरस भाव से परिपूर्ण आकण्ठ तृप्तिदायक समरादित्य कथा की कीर्ति सर्वत्र प्रसारित हो रही है।[१५] विद्वान् होकर भी तुमने अभी तक किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया।"

दाक्षिण्यचन्द्रसूरि के वचनों से सिद्धर्षि खिन्न हुए और प्रत्युत्तर में बोले "सूर्य के सामने खद्योत की क्या गणना है? महान् विद्वान् हरिभद्र के कवित्व की तुलना मेरे जैसा मंदमति कैसे कर सकता है?"[१६]

दाक्षिण्यचन्द्रसूरि एवं सिद्धर्षि के बीच वार्तालाप का प्रसंग समाप्त हो गया पर गुरुभ्राता के द्वारा कही गई यह बात आचार्य सिद्धर्षि के लिए मार्ग-दर्शक बनी। उन्होंने 'उपमितिभव प्रपंच कथा' की रचना की।

सिद्धर्षि को ग्रन्थ रचना के लिए प्रेरणा देने वाले कुवलयमाला कथा के रचनाकार दाक्षिण्यचन्द्रसूरि दाक्षिण्यांक उद्द्योतनसूरि से भिन्न प्रतीत होते हैं। दाक्षिण्यांक उद्द्योतनसूरि ने भी कुवलयमाला कथा की रचना की है। उनकी कुवलयमाला कथा रचना का समय वी. नि. १३०५ (वि. ८३५) है। सिद्धर्षि की 'उपमितिभवप्रपञ्च कथा" का समय वि. सं. ९६२ है। अतः दाक्षिण्य चिह्नाङ्कित उद्द्योतनसूरि की सिद्धर्षि के साथ समसामयिकता सिद्ध नहीं होती। दोनों के रचनाकाल के मध्य १२७ वर्ष का अन्तराल है। सिद्धर्षि के गुरुभ्राता दाक्षिण्यचन्द्रसूरि थे। दाक्षिण्याङ्क की प्रेरणा से 'उपमितिभवप्रपञ्च कथा' की रचना हुई। ग्रन्थ परिचय इस प्रकार है

---

१४. सूरिर्दाक्षिण्यचन्द्राख्यो गुरुभ्रातास्ति तस्य सः।
कथां कुवलयमालां चक्रे शृंगारनिर्भराम् ॥८९॥
(प्रभा. च., पृ. १२३)

१५. शान्तं श्रीसमरादित्यचरितं कीर्त्यते भुवि।
पद्रसोर्मिप्लुता जीवाः क्षुत्तृडार्तं न जानते ॥९१॥
(प्रभा. च., पृ. १२३)

१६. का स्पर्द्धा समरादित्यकवित्वे पूर्वसूरिणा।
खद्योतस्येव सूर्येण मादृग्मन्दमतेरिह ॥९४॥
(प्रभा. च. पृ. १२३)

उपमितिभवप्रपञ्च कथा यह मुख्य रूप से धर्मकथानुयोग है। व्याख्या स्वरूप के आधार से इस ग्रन्थ पर अनुयोग घटित हो सकते हैं। इस कथा में न्याय, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र निमित्तशास्त्र, धातुविद्या, व्यापारनीति, युद्धनीति, रणनीति आदि विविध विषयों का वर्णन है। इस कथा का विषय व्यापक है। जो बातें इसमें कही गई हैं वे समग्र जीवन जगत् से सम्बन्धित हैं।

इस कथा ग्रन्थ के आठ प्रस्ताव हैं। प्रथम प्रस्ताव विषय की भूमिका रूप है। दूसरे प्रस्ताव में कर्म, जीव, संसार की अवस्थाओं का रूपककथा के रूप में वर्णन है।

तीसरे प्रस्ताव में क्रोध, विषयासक्ति की परिणति को कथा के माध्यम से समझाया गया है। चौथे प्रस्ताव में अपने प्रतिपाद्य का विस्तार से वर्णन है और अनेक अवान्तर कथाएं हैं।

आठ प्रस्तावों में चार प्रस्ताव महत्त्वपूर्ण हैं। चार प्रस्तावों में यह चौथा प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यह सम्पूर्ण कथाग्रन्थ भारतीय रूपक ग्रन्थों में शिरोमणि ग्रन्थ माना गया है। इस ग्रन्थ में भाषा का लालित्य, शैली-सौष्ठव और उन्मुक्त निर्झर की तरह भावों का अस्खलित प्रवाह है। डॉ. हर्मन जेकोबी ने इस पर अंग्रेजी में प्रस्तावना लिखी है। ग्रन्थ-गौरव के विषय में उनके शब्द हैं "I did find something still more important. The great literary value of the U. katha and the tact that it in the tipt allegorical work in Indian literature."

मुझे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु उपलब्ध हुई है, वह है 'उपमितिभव प्रपंच कथा' जो मूल्यवान् साहित्यिक कृति है एवं भारतीय साहित्य का यह प्रथम रूपक ग्रन्थ है।

'उपमितिभवप्रपंच कथा' पूर्ण होने के बाद इसका वाचन मारवाड़ के भिन्नमाल नगर में किया। इस ग्रन्थ की प्रथम प्रतिलिपि 'गणा' नामक साध्वी ने तैयार की थी। यह गणा नामक साध्वी दुर्ग स्वामी की शिष्या थी। यह ग्रन्थ वी. नि. १४३२ (वि. सं. ९६२, ई. ९०५) को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी गुरुवार को पुनर्वसु नक्षत्र में पूर्ण हुआ। अनुष्टुप छन्द के अनुसार इस ग्रन्थ को १६००० (सोलह हजार) श्लोक परिमाण माना गया है।[१७]

सुधिजनों के मस्तक को विधुनित करने वाली एवं उपशमभाव से परिपूर्ण इस कथा को सिद्धर्षि द्वारा सुनकर लोग प्रसन्न हुए और धर्मसंघ ने उनको 'व्याख्याता' की उपाधि दी।[१८]

समय-संकेत

'उपमितिभव प्रपंच कथा' में उनका रचनाकाल वी. नि. १४३२, (वि. ९६२, ई. ९०५) बताया गया है। कथा के रचनाकार सिद्धर्षि के काल को जानने के लिए यह पुष्ट प्रमाण है। इस आधार पर सिद्ध व्याख्याता सिद्धर्षि वी. नि. १५वीं (वि. १०वीं) सदी के विद्वान् थे।

आचार्य सिद्धर्षि के पास वचन सिद्धि थी।[१९] व्याख्यान की विशिष्टता के कारण उनकी सिद्ध व्याख्याता के नाम से प्रसिद्धि हुई।

---

१७. तत्रेयं तेन कथा कविना, निःशेषगुणगणाधारे।
श्री भिल्लमालनगरे, गदिताद्रिममण्डपस्थेन ॥२०॥
प्रथमादर्शे लिखिता साध्व्या श्रुतदेवतानुकारिण्या।
दुर्गस्वामि गुरुणां शिष्यिकयेयं गणाभिधया ॥२१॥
संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसंहितेऽतिलङ्घिते चास्याः।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥२२॥
ग्रन्थाग्रमस्या विज्ञाय कीर्तयन्ति मनीषिणः।
अनुष्टुभां सहस्राणि प्रायशः सन्ति षोडश ॥२३॥
(उपमितिभवप्रपञ्च कथा प्रशस्ति)

१८. रम्यामुपमितिभवप्रपञ्चाख्यां महाकथाम्।
सुबोधकवितां विद्वदुत्तमाङ्गविधूननीम् ॥९६॥
ग्रन्थं व्याख्यानयोग्यं यदेनं चक्रे शमाश्रयम्।
अतः प्रभृति सङ्घोऽस्य व्याख्यातृविरुदं ददौ ॥९७॥
(प्रभा. च., पृ. १२४)

१९. कारयन्नूर्धर्मिकैः सिद्धो वचःसिद्धिं परां दधौ ॥१५४॥
(प्रभा. च., पृ. १२५)

७२. सिद्धिसोपान आचार्य शीलाङ्क

टीकाकार आचार्यों में आचार्य शीलाङ्क का नाम सुविश्रुत है। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर आचार्य शीलाङ्क का आधिपत्य था। वर्तमान में उनकी आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की विशाल टीकाएं उनके प्रकाण्ड वैदुष्य को प्रकट करती है।

गुरु-परम्परा

आचार्य शीलाङ्क की गुरु-परम्परा का सम्बन्ध निवृत्ति कुल से था। टीका ग्रन्थों में आचार्य शीलाङ्क ने अपने को निवृत्ति कुल का बताया है। आचाराङ्ग टीका के प्रथम श्रुतस्कन्ध का उल्लेख है **"निवृत्तिकुलीन श्री शीलाचार्येण तत्त्वादित्यापर नाम्नां वाहरि साधु सहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति"** इस उल्लेख से स्पष्ट है, निवृत्ति कुलीन शीलाचार्य ने वाहरिगणी की सहायता से यह टीका सम्पन्न की। उनका अपर नाम तत्त्वादित्य था। टीका रचना में सहायक वाहरिगणी किस परम्परा के थे, इसका कोई संकेत नहीं है और शीलाङ्क ने अपने गुरु के नाम का उल्लेख किया है।

जीवन-वृत्त

टीकाकार आचार्य शीलाङ्क की गृहस्थ जीवन सामग्री उपलब्ध नहीं है। साधु जीवन के प्रसंग भी प्रायः अज्ञात हैं। जैन परम्परा में शीलाङ्क नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमें टीकाकार आचार्य शीलाङ्क और 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' ग्रन्थ के रचनाकार शीलाङ्क दोनों समकालीन थे। टीका की रचना का परिसमाप्ति काल शक संवत् ७७२ (वि. ९०७) एवं चउप्पन्नमहापुरिसचरिय का रचना काल वि. ९२५ बताया गया है। दोनों ग्रन्थों में शीलाचार्य नाम का उल्लेख है।[1] वर्तमान में दोनों की प्रसिद्धि शीलाङ्क नाम से है। नाम साम्य और समकालीनता के कारण प्रस्तुत दोनों आचार्यों को वर्षों तक एक समझा जाता रहा है। हरिभद्र की पहचान के लिए भवविरहसूरि शब्द का उल्लेख और कुवलयमालाकार उद्द्योतन सूरि के लिए दाक्षिण्यांक संज्ञा का प्रयोग अन्य हरिभद्र सूरि और उद्योतन सूरि से उनकी भिन्नता का बोध कराते हैं। इसी प्रकार टीकाकार शीलाङ्क ने टीका ग्रन्थ में तत्त्वादित्य संज्ञा का प्रयोग किया है[2] और 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' ग्रन्थ के रचनाकार ने अपने लिए विमलमति संज्ञा का प्रयोग किया है।[3] इन नामान्तरों के उल्लेख से टीकाकार और काव्य ग्रन्थकार शीलाङ्क पृथक्-पृथक् सिद्ध होते हैं। 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' ग्रन्थ के रचनाकार शीलाङ्क ने अपने को मानदेव सूरि का शिष्य बताया है।[4] टीकाकार शीलाङ्क ने टीका में गुरु के नाम का उल्लेख कहीं नहीं किया है इससे भी दोनों की भिन्नता का बोध होता है।

प्रभाचन्द्राचार्य ने टीकाकार शीलाङ्क का दूसरा नाम कोट्याचार्य बताया है[5] पर किसी अन्य ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख नहीं है, अतः भाष्य वृत्तिकार कोट्याचार्य को शीलाङ्क मानने की बात सही प्रतीत नहीं होती। शोध

---

१. (क) कृतावेयं शिलाचार्येण वाहरिगणिसहायेन।"
(सूत्रकृताङ्ग टीका)
(ख) चउप्पण्णमहापुरिसाण एत्थ चरियं समप्पए एयं।
सुयदेवयाए पयकमलकत्तिसोहाणुहावेणं ॥१॥
सीसेण तस्स रइयं सीलारिएण पायडफुडत्थं।
सयलजणबोहणत्थं पायपभासाए सुपसिद्धं ॥३॥
(चउप्पन्नमहापुरिसचरिय प्रशस्ति)

२. तत्त्वादित्यापरनाम्ना.....कृता टीका।
(आचाराङ्ग टीका श्रुतस्कन्ध-१)

३. यथा अथ त्वया कवेः शीलाङ्कस्य विमलमत्यभिधानस्य कृतिः।
(चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, पृ. १७)

४. आसि असुज्ज (ल) जोण्हावतियनेचुयकुलंबराभोओ।
तुहिणकिरणो व्व सूरी इहइं सिरिमाणदेवोत्ति ॥२॥
(चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, प्रशस्ति)

५. श्रीशीलाङ्ग पुरा कोट्याचार्यनाम्ना प्रसिद्धिभूः .... ॥१०४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६४)

विद्वानों के अभिमत से भी कोट्याचार्य का नाम शीलाङ्क नहीं था। सभी बिन्दुओं से प्रभावक चरित्र ग्रन्थान्तर्गत शीलाङ्क के सन्दर्भ में कोट्याचार्य नाम का उल्लेख विशेष चिन्तनीय है। प्रस्तुत आचार्य शीलाङ्क की सही पहचान तत्त्वादित्य के नाम से है।

साहित्य

शीलाङ्क टीकाकार थे। उन्होंने आगम साहित्य पर टीका रचना का कार्य किया। प्रभावक चरित्र के अनुसार शीलाङ्क ने एकादशाङ्ग आगमों पर टीकाएँ रचीं,[६] पर अभयदेव सूरि टीका रचना करते समय लिखते हैं

'विविधार्थरत्नसारस्य देवताधिष्ठितस्य, विद्याक्रिया-बलवतापि पूर्वपुरुषेण कुतोऽपि कारणादनुन्मुद्रितस्य स्थानाङ्गस्योन्मुद्रणमिवानुयोगः प्रारभ्यते।

(स्थानाङ्ग टीका)

जो स्थानाङ्ग सूत्र विविध अर्थ के रत्नों के सार से गर्भित है। देवताओं द्वारा अधिष्ठित है। विद्या और क्रिया बल से सम्पन्न होने पर भी पूर्व पुरुषों द्वारा जिस सूत्र पर टीका रचना नहीं की गई ऐसे स्थानाङ्ग सूत्र पर व्याख्यामूलक अनुयोग प्रारम्भ कर रहा हूं।

टीकाकार अभयदेव सूरि के इस उल्लेख से स्थानाङ्ग पर शीलाङ्क द्वारा टीका रची जाने की बात सिद्ध नहीं होती। वर्तमान में आचार्य शीलाङ्क की आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग टीका उपलब्ध है।

उपलब्ध दोनों टीकाओं का परिचय इस प्रकार है

आचाराङ्ग टीका यह विस्तृत टीका है। दोनों श्रुतस्कन्धों पर रची गई प्रस्तुत टीका का ग्रन्थमान १२००० श्लोक परिमाण है। मूल सूत्र और निर्युक्ति के आधार पर इसकी रचना हुई है। टीका में शब्दार्थ है। विषय का विस्तृत वर्णन है। संस्कृत, प्राकृत उद्धरण भी है। टीका की रचना सरल और सुबोध भाषा में हुई है।

गन्धहस्ती का शस्त्रपरिज्ञा विवरण टीका रचना के समय टीकाकार के सामने था। शीलाङ्क सूरि टीका के प्रारम्भ में लिखते हैं

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्।
तस्मात्सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यमंजसा सारम्॥

(गन्धहस्तिकृत शस्त्र परिज्ञा विवरण अति गहन है। अतः पूर्व टीका का सार ग्रहण कर पाठकों के सुख बोधार्थ इस टीका की रचना कर रहा हूं।)

इस आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध का महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन टीका रचना के समय अनुपलब्ध था। यह बात शीलाङ्क के निम्नोक्त कथन से ज्ञात होती है।

"अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसर, तच्चव्यवछिन्नमिति कृत्वाऽतिलङ्घ्याष्टमस्य सम्बन्धो वाच्यः।"

महापरिज्ञा नामक सातवां अध्ययन व्युच्छिन्न हो जाने से अधुना विमोक्ष नामक आठवें अध्ययन का सम्बन्ध बताया जा रहा है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध की टीका के अन्त में टीकाकार का ग्रन्थ संशोधन के लिए नम्र निवेदन है[७] एवं टीका समाप्ति की सूचना भी है। टीका रचना का समाप्ति काल भाद्रव शुक्ला पंचमी गुप्त संवत् ७७२ बताया गया है। गम्भूता में इस टीका की रचना हुई थी।

"द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्।
संवत्सरेषु मासि च, भाद्रपदे शुक्लपञ्चम्याम्॥
शीलाचार्येणकृता गम्भूतायां स्थितेन टीकैषा।
सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः॥"

(आचाराङ्गवृत्ति, पत्र २८९)

सूत्रकृताङ्ग टीका यह दार्शनिक विषय की महत्त्वपूर्ण कृति है। टीका रचना का आधार मूल आगम और उसकी निर्युक्ति है। यह वृत्ति १२८५० पद्य परिमाण

---

६. वृत्तिमेकादशाङ्गयाः स विदधे द्यौतकन्मुखः ॥१०४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६४)

७. वर्णपदमय वाक्यं पद्यादि च यन्मया परित्यक्तम्।
तच्छोधनीयमत्र च व्यामोहः कस्य नो भवति ॥४॥
(आचा. प्रथम श्रुतस्कन्ध टीका-पद्य)

विशाल है। इसमें दार्शनिक दृष्टियों का विस्तृत विवेचन है। स्वपक्ष की भांति परपक्ष की मान्यताओं का भी युक्ति पुरस्सर प्रामाणिक निरूपण रचनाकार के चतुर्मुखी ज्ञान की सूचना देता है। विषय की स्पष्टता के लिए ग्रन्थान्तरों के विपुल उद्धरण हैं तथा स्थान-स्थान पर इस टीका में अन्य रचित अनेक संस्कृत, प्राकृत पद्यों का प्रयोग 'अन्यैरप्युक्तं, उक्तं च', कहकर किया गया है। टीका की रचना का पुण्य भव्यजनों के कल्याण के निमित्त बने ऐसा टीकाकार का टीका में संकेत है।[८]

सूत्रकृताङ्ग टीका की परिसमाप्ति पर आचार्य शीलाङ्क लिखते हैं **"समाप्तमिदं नालन्दाख्यं सप्तमाध्ययनम्। इति समाप्तेयं सूत्रकृत द्वितीयांगस्य टीका। कृताचेयं शीलाचार्येण वाहरिगणि सहायेन।"**

टीका निर्माण में आचार्य शीलाङ्क को वाहरिगणी का पर्याप्त सहयोग मिला। यह बात प्रस्तुत पाठ से प्रमाणित होती है।

उभय टीकाओं की विशेषता आचार्य शीलाङ्क की ये दोनों टीकाएं विस्तृत हैं, विविध सामग्री से पूर्ण हैं, सारगर्भित हैं। भाषा तथा शैली की दृष्टि से भी ये टीकाएं सुग्राह्य, सुपाच्य एवं सरस हैं। टीकाकार ने दोनों की रचना करते समय मूल सूत्र का शब्दार्थ करके ही सन्तोष नहीं किया अपितु अधिकांश विषयों की विस्तार से चर्चा की और निर्युक्ति गाथाओं के अर्थ को अच्छी तरह से समझाने का प्रयत्न किया है। इन टीकाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है आचार्य शीलाङ्क सद्ज्ञान चन्द्रिका को विस्तार देने में साहित्य जगत् के निर्मल सुधांशु थे। उन्होंने जैनागम पीपासु पाठकों के सुबोधार्थ विविध सामग्री से सम्पन्न टीकाओं का सृजन कर सरस्वती के चरणों में अनुपम उपहार भेंट किया है।

समय-संकेत

टीकाकार आचार्य शीलाङ्क की वर्तमान में आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग इन दो आगमों पर टीकाएं उपलब्ध हैं।

आचाराङ्ग की टीका रचना का समाप्तिकाल गुप्त संवत् ७७२ बताया गया है।

कहीं-कहीं शक संवत् ७९८ का उल्लेख भी मिलता है।

वह इस प्रकार है

शकनृपकालातीत संवत्सर
शतेषुसप्तसु चाष्टालवत्यधिकेषु।

वैशाख शुद्ध पंचम्यां (२) आचार टीका कृतेति॥

आधुनिक शोध विद्वानों ने आचार्य शीलाङ्क को वी. नि. १४वीं (वि. ९वीं-१०वीं) शताब्दी का विद्वान् माना है।

---

८. (क) मतोऽपि यो मन्दमतिस्तदर्थी तस्योपकाराय ममैष यत्नः ॥३॥
(ख) ..... भव्यः कल्याणभाग् भवतु ॥
(सूत्रकृताङ्ग टीका पद्य)

७३. शास्त्रार्थ-निपुण सूराचार्य

सूराचार्य श्वेताम्बर चैत्यवासी विद्वान् थे। उनका नाम सूर था। सूर सूर्य को कहते हैं। सूराचार्य यथार्थतः ज्ञान के सूर्य थे। व्याकरण, न्याय, साहित्य, आगम आदि विषयों के वे विशेषज्ञ थे शास्त्रार्थ कुशल भी थे। राजा भोज की सभा में वादजयी बनकर उन्होंने सम्मान प्राप्त किया। गुर्जर नरेश भीम भी उनकी कवित्व शक्ति से विशेष प्रभावित थे।

गुरु-परम्परा

सूराचार्य के शिक्षा एवं दीक्षा गुरु द्रोणाचार्य थे। द्रोणाचार्य गुजरात नरेश भीम के मामा थे एवं सूराचार्य के काका थे। प्रभावक चरित्र सूराचार्य प्रबन्ध में दीक्षा के बाद सूराचार्य का गोविन्दाचार्य के साथ उल्लेख आया है। धारापद्र उपाश्रय में किसी नृत्य के प्रसंग पर गोविन्दाचार्य के साथ सूराचार्य उपस्थित थे। गोविन्दाचार्य के आदेश से सूराचार्य ने नृत्य पर काव्यमयी भाषा में श्लोक रचना की।[1] इस श्लोक रचना से प्रभावित होकर राजकर्मचारियों ने राजा भीम के पास जाकर निवेदन किया "राजन्! गोविन्दाचार्य पार्श्वेऽस्ति कविः प्रत्युत्तरक्षमः।" गोविन्दाचार्य के पास उत्तर-प्रत्युत्तर देने में सक्षम कवि सूराचार्य हैं।

राजा भीम की विशेष प्रार्थना पर गोविन्दाचार्य राजसभा में गए। उस समय भी सूराचार्य उनके साथ थे। इन प्रसंगों के आधार पर गोविन्दाचार्य सम्भवतः द्रोणाचार्य के गुरु थे एवं सूराचार्य के दादा गुरु थे।

जन्म एवं परिवार

सूराचार्य क्षत्रिय वंशज थे। गुजरात की राजधानी अणहिल्लपुर (पाटण) में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम संग्रामसिंह था। द्रोणाचार्य संग्रामसिंह के लघु भ्राता थे। गृहस्थ जीवन में सूराचार्य का नाम महीपाल था। उस समय अणहिल्लपुर में भीम राज्य था[2]।

जीवन-वृत्त

बालक महीपाल की बुद्धि बृहस्पति के समान प्रखर थी। महीपाल की बाल्यावस्था में ही पिता संग्रामसिंह का देहान्त हो गया। माता ने विचार किया

"तन्माता भातृपुत्रं स्वं प्रशाधीति प्रभुं जगौ।" ॥८॥

(प्रभा. च. पृ. १५२)

अपना भातृपुत्र समझकर बालक महीपाल को गुरु द्रोणाचार्य समुचित प्रशिक्षण देंगे यह सोच उसने गुरु के चरणों में अपने पुत्र को समर्पित कर दिया। द्रोणाचार्य ने निमित्त ज्ञान के बल पर बालक को शासन प्रभावक समझकर अपने पास रख लिया। महीपाल की बुद्धि प्रखर थी। गुरु की साक्षी से उसने शब्दशास्त्र, प्रमाण शास्त्र आदि विविध विषयों का गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया। एक दिन द्रोणाचार्य ने विद्वान् महीपाल को योग्य समझकर माता की आज्ञा से श्रमण दीक्षा प्रदान की और कुछ समय के बाद उनकी नियुक्ति गुरु के द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप में हुई। सूर्य के समान अज्ञान तिमिर का नाश करने वाले महीपाल मुनि ही सूराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक बार राजा भोज की सभा का सधिव श्लोक लेकर राजा भीम की सभा में उपस्थित हुआ। सूराचार्य ने उस श्लोक के प्रतिवाद में नया श्लोक बनाकर राजा भीम को भेंट किया। राजा भीम ने वही श्लोक राजा भोज के पास प्रेषित किया। राजा भोज विद्वानों का सम्मान करता था। वह भीम द्वारा भेजे गए श्लोक को पढ़कर प्रसन्न हुआ और श्लोक के रचनाकार को अपनी सभा में आने के लिए आमन्त्रण भेजा।

---

१. सूराचार्यं च तत्रस्थं तदुत्कीर्तनहेतवे।
तं तदा दिदिशुः पूज्यास्तत्क्षणाच्चाथ सोऽब्रवीत् ॥२५॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. १५२)

२. प्रतापाक्रान्तराजन्यचक्रश्चक्रेश्वरोपमः।
श्रीभीमभूपतिस्तत्राभवद् दुःशासनार्दनः ॥५॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. १५२)

सूराचार्य महान् विद्वान थे। वे अनेक श्रमण विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे और कर्कश स्वर में तर्जना दिया करते थे। कभी-कभी काष्ठदण्डिका से उन पर प्रहार भी करते थे। पुनःपुनः प्रहार के कारण काष्ठदंडिका के भग्न होने के भय से एक दिन उन्होंने लोहे की दण्डिका रखने की सोची। शिष्य लोह-दण्डिका के नाम से घबराए। यह बात शिष्यों द्वारा द्रोणाचार्य के पास पहुंची। उन्होंने सूराचार्य को इस कठोर अनुशासनात्मक पद्धति के लिए उपालम्भ दिया और कहा **"लोहदण्डोयमस्यैवायुधं नहि चरित्रीणाम्।"** लोह-दण्ड यमराज का आयुद्ध है अतः चरित्रधारी मुनियों के लिए उपयुक्त नहीं है।

नम्र होकर सूराचार्य बोले "मैं इनको वादकुशल बनाने की दृष्टि से ताड़ना देता हूं। काष्ट-दण्डिका की तरह लोह-दण्डिका का प्रयोग नहीं किया जाता। यह केवल उन्हें जागृत करने के लिए है।

शिक्षार्थी श्रमणों का समर्थन करते हुए द्रोणाचार्य पुनः बोले "इनको वादकुशल बनाने से पहले क्या तुम स्वयं राजा भोज की सभा में विजयी बनकर आये हो?"[2]

गुरु की यह बात सूराचार्य के हृदय में चुभ गई। उन्होंने भोज की सभा में वादजयी बनने से पहले सरस आहार (विगय) न लेने की प्रतिज्ञा ली[3]।

मुनियों द्वारा अत्यन्त आग्रह किए जाने पर भी वे अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए। राजा भोज की सभा में शास्त्रार्थ करने के लिए उन्होंने गुरु के आदेश से तैयारी की। नरेश भीम की सभा में इस बात की सूचना देने वे गए, इसी समय नरेश भोज का सूराचार्य के लिए निमन्त्रण आ चुका था।

गुरु का आदेश और महाराजा भीम की शुभकामना लेकर वे विदा हुए। गजारूढ़ होकर राजकीय सम्मान के साथ सूराचार्य ने धारानगरी में प्रवेश किया। राजा भोज ने स्वयं सामने आकर उनका गौरव बढ़ाया।

सूराचार्य की काव्य रचना से राजा भोज पहले ही से प्रभावित थे। अब उनकी शास्त्रार्थ कुशलता ने धारानगरी के अन्य विद्वानों पर भी अपूर्व छाप अंकित की।

एक बार राजा भोज ने भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदायों के धर्मगुरुओं को कारागृह में बन्द कर उन्हें एकमत होने के लिए विवश किया। इस प्रसंग पर धार्मिकों के सामने भारी धर्म-संकट उपस्थित हो गया।

सूराचार्य ने एक युक्ति सोची। राजसभा में पहुंचकर वे बोले "मैंने आपकी धारानगरी का निरीक्षण किया है। यह नगरी दर्शनीय है पर इस विषय में मेरा आपसे कहना है कि वहां की सब दुकानें एक जैसी होने पर ग्राहकों को अधिक सुविधा होगी। उन्हें वस्तुओं का क्रय करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर पहुंचने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा।"[4]

राजा भोज मुस्कराकर बोले "सन्तश्रेष्ठ! सब दुकानों के एक होने की बात कैसे सम्भव है? एक स्थान पर अधिक भीड़ होने से लोगों के लिए क्रय-विक्रय में अधिक बाधा होगी।"[5]

सूराचार्य ने कहा "राजन् भिन्न-भिन्न अभिमत रखने वाले धर्म सम्प्रदायों का एक हो जाना सर्वथा असम्भव है। दयार्थी जैन-दर्शन, रसार्थी कोल-दर्शन, व्यवहार प्रधान वैदिक दर्शन एवं मुक्ति का कामी निरंजन सम्प्रदाय का मतैक्य कैसे हो सकता है?"[6]

---

३. गुरवः प्राहुरुत्तानमते बालेषु का कथा।
किमागच्छसि लग्नस्त्वं कृतभोजसभाजयः ॥६१॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ५५४)

४. श्रुत्वेत्याह स चादेशः प्रमाणं प्रभुसंमितः।
आदास्ये विकृतीः सर्वाः कृत्वादेशमयुं प्रभोः ॥६२॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ५५४)

५. सूरिः प्राहैकमेवाहुः कुरु किं बहुभिः कृतैः।
एकत्र सर्वं लभ्येत लोको भ्रमति नो यथा ॥१३५॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ५५६)

६. राजाऽवदत् पृथग्वस्त्वर्थिनामेकत्र मीलने।
महाबाधा ततश्चक्रे पृथग् हट्टावली मया ॥१३६॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ५५६)

७. दयार्थी जैनमास्थेयाद् रसार्थी कौलदर्शनम्।
वेदांश्च व्यवहारार्थी मुक्त्यर्थी च निरञ्जनम् ॥१३६॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. ५५६)

युक्तिपुरस्सर कही हुई सूराचार्य की बात राजा भोज की समझ में आ गई उन्होंने कारागृह में बन्द धर्म गुरुओं को मुक्त कर दिया।

विद्वान् राजा भोज के धर्मनिष्ठ, चिन्तनशील व्यक्तित्व के साथ यह प्रसंग अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

एक बार राजा भोज द्वारा रचित व्याकरण में सूराचार्य ने अशुद्धि निकाल राजा भोज की विद्वत्सभा का उपहास किया। इससे राजा भोज कुपित हुए। इस कोप का भयंकर परिणाम सूराचार्य को भोगना पड़ता परन्तु कवि धनपाल ने उन्हें बचा लिया और प्रच्छन्न रूप में सकुशल वहां से विदा कर दिया।

सूराचार्य का युग शिथिलाचार का युग था। आचार्य गजवाहन का उपयोग करने लगे। सूराचार्य ने भी धारानगरी और पाटण में प्रवेश करते समय गजवाहन का उपयोग किया।[८]

सूराचार्य प्रशिक्षण प्रदान करने की विद्या में सुदक्ष थे। उन्होंने अपने अधीत शिष्यों को वादकुशल बनाया। आचार्य द्रोण के स्वर्गवास के बाद सूराचार्य ने गण का दायित्व सम्भाला। जैन प्रवचन की उन्नति की।

साहित्य

साहित्यिक क्षेत्र में सूराचार्य का अनुदान अत्यल्प होने पर भी महत्त्वपूर्ण है। प्रभावक चरित्र के अनुसार उन्होंने आदिनाथ और नेमिनाथ से सम्बन्धित ज्ञानवर्धक ऐतिहासिक द्विसन्धान नामक काव्य की रचना की।

महोपाध्याय समयसुन्दर गणी, जिनमाणिक्य सूरि आदि जैनाचार्यों द्वारा अष्ट लक्षार्थी, शतार्थी, पंच शतार्थी, सप्तार्थी, षडर्थी, चतुर्थी, द्वयर्थी आदि अनेकार्थक चामत्कारिक कई काव्यों की रचना हुई।

सूराचार्य का वि. सं. १०९० में रचा गया वह ऋषभ नेमि द्विसन्धान काव्य उसी शृंखला का उत्तम ग्रन्थ है।

बड़गच्छ के आचार्य हेमचन्द्र सूरि रचित नाभेय नेमि द्विसन्धान काव्य का रचनाकाल वि. सं. ११९० के लगभग है। दोनों काव्यों के रचना काल में १०० वर्ष का अन्तर है।

समय-संकेत

सूराचार्य ने जीवन के संध्याकाल में अपने पद पर योग्य शिष्य की नियुक्ति कर अनशन स्वीकार किया। परम समाधि की अवस्था में ३५ दिन का अनशन सम्पन्न कर वे स्वर्गवासी हुए।[९] प्रभावक चरित्र में सूराचार्य प्रबन्ध २५९ पद्यों में विस्तार से है परन्तु उनके समय का संकेत कहीं नहीं है। सूराचार्य, गुजरात नरेश भीम, मालव नरेश भोज एवं सुप्रसिद्ध कवि धनपाल के समकालीन थे। पाटण में भीमदेव का राज्य वि. सं. १०७८ से ११२० तक का माना गया है। गुर्जर नरेश भोज का शासन काल वि. सं. १०६७ से ११११ तक था। कवि धनपाल ने अपनी बहिन के लिए वि. सं. १०२९ में 'पाइय लच्छी नाममाला' की रचना की। इन सबके समकालीन होने से सूराचार्य का समय वी. नि. की १६वीं (वि. की ११वीं-१२वीं) सदी प्रमाणित होती है।

---

८. राजामात्योपरोधेन व्रताचारव्यतिक्रमे।
प्रायश्चित्तचिकीर्षित्ते सूरिरारूढवान् गजम् ॥९२॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. १५५)

९. योग्यं सूरिपदे न्यस्य भारमत्र निवेश्य च।
प्रायोपवेशनं पञ्चत्रिंशद्दिनमितं दधौ ॥२५८॥
(प्रभावक चरित्र, पृ. १६०)

७४. ऊर्जाकेन्द्र आचार्य उद्द्योतन

उद्द्योतनसूरि बड़गच्छ के अलंकार थे। धर्म के मूर्त रूप थे। शैल की तरह स्थिर, गम्भीर, शशि सम शीतल, सौम्य स्वभावी, क्षमाधर आचार्य थे। प्रद्युम्न, मानदेव, सर्वदेव आदि श्रमणों से सुशोभित थे। उद्द्योतनसूरि के जीवन परिचायक ये बिन्दु 'उत्तराध्ययन सूत्र वृत्ति' एवं 'महावीर चरिय' में प्राप्त हैं।

गुरु-परम्परा

उद्द्योतनसूरि नेमिचन्द्र सूरि के पट्ट शिष्य थे। नेमिचन्द्रसूरि वनवासी गच्छ चन्द्रकुल विहारुक शाखा के आचार्य देवसूरि के पट्ट शिष्य थे। उद्द्योतनसूरि का गच्छ बड़गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस गच्छ से अथवा उद्द्योतनसूरि की श्रमण परम्परा से पूनमिया गच्छ, तपागच्छ, नागोरीतपागच्छ, पायचन्द्रगच्छ आदि गच्छों का उद्भव हुआ।

जीवन-वृत्त

उद्द्योतनसूरि दीर्घजीवी आचार्य थे। उन्होंने अपने जीवन में कई तीर्थयात्राएं कीं। उन्होंने आबू तीर्थ की यात्रा वि. सं. ९९४ में की। वे आबू की तलहटी में बसे 'तेली' ग्राम में रहे। उन्हें ज्योतिष विद्या का विशेष ज्ञान था। एक दिन बलवान् ग्रहनक्षत्रों के साथ सन्तान वृद्धि का सहज योग देखकर उन्होंने वटवृक्ष के नीचे सर्वदेव, मानदेव, महेश्वर, प्रद्योतन आदि ८ शिष्यों की आचार्य पद पर एक साथ नियुक्ति की और उन्हें वटवृक्ष की तरह विस्तार पाने का आशीर्वाद दिया। तभी से उनका शिष्य परिवार वट शाखा की तरह विस्तार पाता गया और उनका गच्छ बड़गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बड़गच्छ को वृहद् गच्छ भी कहते हैं। कई विद्वानों का अभिमत है कि चौरासी गच्छों की शाखाएं यहीं से प्रस्फुटित हुई।

शुभ नक्षत्र को देखकर वटवृक्ष के नीचे आठ व्यक्तियों को उद्द्योतनसूरि ने दीक्षा दी। आचार्यपद के लिए नियुक्ति नहीं की, ऐसा भी उल्लेख मिलता है।

समय-संकेत

मालवा से शत्रुंजय जाते हुए धर्मोद्योतक आचार्य उद्द्योतनसूरि का रास्ते में ही स्वर्गवास हो गया। बड़गच्छ की स्थापना का समय वी. नि. १४६४ (वि. सं. ९९४) माना गया है। बड़गच्छ स्थापना समय के आधार पर उद्द्योतनसूरि वी. नि. १५वीं. (वि. की १०वीं) शताब्दी के आचार्य प्रमाणित होते हैं।

७५. स्वस्थ परम्परा-संपोषक आचार्य सोमदेव

यशस्तिलक काव्य के रचनाकार आचार्य सोमदेव दिगम्बर विद्वान् थे। वे बचपन से ही तर्कशास्त्र के अभ्यासी विद्यार्थी थे। समय पाकर उनकी प्रतिभा का चतुर्मुखी विकास हुआ। गाय घास खाकर जैसे दूध देती है उसी प्रकार सोमदेव की तर्क प्रधान बुद्धि से काव्य धारा प्रवाहित हुई। यशस्तिलक की उत्थानिका में सोमदेव ने स्वयं लिखा है

आजन्म समभ्यस्ताद्युष्कात्तर्कातृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः ॥

गुरु-परम्परा

दिगम्बर परम्परा के चार संघों में आचार्य सोमदेव देव संघ के थे। उनके गुरु का नाम नेमिदेव था। नेमिदेव, यशोदेव के शिष्य थे। आचार्य सोमदेव ने यशोदेव को देवसंघ-तिलक का सम्बोधन देकर उनका सम्मान किया है। गुरु नेमिदेव प्रकाण्ड विद्वान्, उत्कृष्ट तप के आराधक एवं वाद विजेता आचार्य थे।[1] दिग्जयी विद्वान् महेन्द्रदेव आचार्य सोमदेव के लघु भ्राता थे। परभणी के ताम्र पत्र में आचार्य यशोदेव को गौड़ संघ का बतलाया है और उनके शताधिक शिष्यों का उल्लेख है।[2]

जीवन-वृत्त

आचार्य सोमदेव में कई असाधारण क्षमताएं थीं। शास्त्रार्थ करने की कला उनमें विशेष थी। वाद-कुशल आचार्यों में उन्होंने ख्याति अर्जित की। स्याद्वाद-अचलसिंह, तार्किक-चक्रवर्ती, वादीभ-पञ्चानन, वाक्कल्लोल-पयोनिधि आदि विशिष्ट उपाधियों से वे विभूषित हुए।

आचार्य सोमदेव शब्दज्ञान के पाथोधि थे। उन्होंने यशस्तिलक में ऐसी नूतन शब्दावली का प्रयोग किया जो अन्यत्र दुर्लभ है।[3] अपनी इस शक्ति का परिचय देते हुए पांचवें आश्वास के अन्त में उन्होंने लिखा

अरालकालव्यालेन ये लीढा साम्प्रतं तु ते।
शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥

विकराल काल व्याल के द्वारा निगल लिए गए शब्दों का सोमदेव ने प्रस्थापन किया है, इससे अद्भुत और क्या होगा?

आचार्य सोमदेव विचारों से उदार एवं स्वाभिमानी थे। अपने काव्य की प्रशंसा में वे स्वयं कहते हैं

कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृतं यदि।
श्रूयतां सोमदेवस्य नव्या काव्योक्तियुक्तयः ॥२४६॥

(यशस्तिलक आश्वास द्वितीय)

आपका चित्त कर्णाञ्जलि पुट से सूक्तामृत पीना चाहता है तो सोमदेव की काव्योक्त युक्तियों का श्रवण करें।

एक बार शास्त्रार्थ करते समय वे प्रतिवादी से कहते हैं

"सकलसमयतर्कैः नाकलङ्कोऽसि वादिनः
न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धांतदेवः।
न वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं,
वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम् ॥

(नीति वाक्यामृत प्रशस्ति)

---

१. श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशः पूर्वकः।
शिष्यस्तस्य बभूवसद्गुणनिधिः श्री नेमिदेवाह्वयः॥
तस्याश्चर्यतपः स्थितेस्त्रिनयते जैतुर्महावादिनां।
शिष्यो भूदिह सोमदेव इतियस्तस्येष काव्यक्रमः ॥
(यशस्तिलक चम्पू)

२. श्री गौड़संघे मुनिमान्यकीर्तिर्नाम्ना यशोदेव इतिप्रजज्ञे।
बभूव यस्योग्रतपः प्रभावात्समागमः शासनदेवताभिः ॥१५॥
शिष्योभवत्तस्यमहर्द्धिभाजः स्याद्वादरत्नाकरपारदृश्वा।
श्री नेमिदेवः परवादिदर्प्पद्रुमावलीच्छेदकुठारनेमिः ॥१६॥
तस्मात्तपःश्रियो भर्तुर्लोकानां हृदयंगमाः।
बभूवुर्बहवः शिष्या रत्नानीव तदाकरात् ॥१७॥
तेषां शतस्यवरज शतस्य तपाभवत्पूर्वज एवं धीमान्।
श्री सोमदेवस्तपसः श्रुतस्य स्थान यशोधाम गुणोर्जितश्रीः ॥१८॥
(परभणी ताम्रपत्र)

३. यशस्तिलक काव्य आश्वास २

न तुम महान् तार्किक विद्वान् अकलङ्क हो, न तुम आगम उक्तियों के प्रयोग में हंससिद्धान्तदेव हो, न तुम वचन विन्यास में पूज्यपाद हो, कहो सोमदेव के साथ शास्त्रार्थ कैसे कर सकोगे?

आचार्य सोमदेव के कथन में अतिरंजन नहीं था। उनके व्यक्तित्व की असाधारण क्षमता थी। व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, दर्शन, काव्य आदि विधाओं में उनकी गति निर्बाध थी और उनका अध्ययन गहन था। उनका धर्म, दर्शन के साथ राजनीति का ज्ञान भी उत्कृष्ट था। कौटिल्य अर्थशास्त्र की तुलना करने वाला उनका नीतिवाक्यामृत राजनीति का अनूठा ग्रन्थ है। यशस्तिलक के तृतीय आश्वास में राजनीति की विस्तृत चर्चा है। ये दोनों ग्रन्थ आचार्य सोमदेव के राजनीति सम्बन्धी विशद ज्ञान के उदाहरण हैं।

सोमदेव के समय में चौलुक्यवंशी नरेश अरिकेशरी के ज्येष्ठ पुत्र वाद्यराज (वद्दिग) की राजधानी गङ्गधारा थी। ये राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। राष्ट्रकूट राजवंश के नरेश कृष्ण तृतीय उस समय के प्रतापी शासक थे। नरेशों के साथ मित्रता के सम्बन्ध स्थापित कर उन्होंने अपने राज्य को उस ओर से निष्कंटक बना लिया था। उनका प्रभुत्व दूर-दूर तक स्थापित हो गया। इनके राज्यकाल में धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कला, साहित्य, संस्कृति आदि के नए आयाम उद्घाटित हुए। अपने पूर्वजों की भांति नरेश कृष्णराज (तृतीय) ने जैन धर्म को भी संरक्षण दिया। शान्तिपुराण और जिनाक्षरमाले के रचनाकार कन्नड़ जैन कवि पौन्न को उभय भाषा चक्रवर्ती की उपाधि से उन्होंने अलंकृत किया। अपभ्रंश भाषा में जैन महाकवि पुष्पदन्त को इस राजवंश से पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त था। आचार्य सोमदेव को भी राष्ट्रकूटों के सुखद शासन में बहुमुखी प्रगति करने का सुन्दर अवसर मिला। उन्होंने यशस्तिलक (चम्पू काव्य) जैसे उत्तम काव्य की रचना राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के शासनकाल में वाद्यराज (वद्दिग) की राजधानी में की।

साहित्य

आचार्य सोमदेव विविध विषयों के विशेषज्ञ थे। वे संस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् एवं गद्य-पद्य दोनों प्रकार की विधा के अपूर्व रचनाकार थे। वर्तमान में सोमदेव के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं यशस्तिलक, नीतिवाक्यामृत, अध्यात्म-तरङ्गिणी।

यशस्तिलक चम्पू यह आचार्य सोमदेव की गम्भीर कृति है। छह सहस्र श्लोक परिमाण यह ग्रन्थ धार्मिक आख्यान है। इसमें यशोधर का सम्पूर्ण कथाचित्र अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत हुआ है। आचार्य सोमदेव के प्रखर पांडित्य एवं सूक्ष्म अन्वेषणात्मक दृष्टि का दर्शन इस कृति में है। यह कृति जैन जैनेतर ग्रन्थों का सारभूत ग्रन्थ है। इसका शब्द सौष्ठव कवि माघ के काव्यों की स्मृति कराता है।

यशस्तिलक कृति में इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशाल और पाणिनीय व्याकरण की चर्चा एवं महाकवि कालिदास, भवभूति, गुणाढ्य, बाण, मयूर, व्यास आदि अपने पूर्वज विद्वानों का उल्लेख आचार्य सोमदेव के चतुर्मुखी ज्ञान का प्रतिबिम्ब है।

विषयवस्तु एवं रचना शैली की दृष्टि से यशस्तिलक काव्य उच्चकोटि का है। इसका पारायण करते समय कवि कालिदास, भवभूति, भारवि तीनों महाकवियों को एक साथ पढ़ा जा सकता है।

यशस्तिलक के आठ आश्वास हैं। अन्तिम तीन आश्वास उपासकाध्ययन नाम से विश्रुत हैं। अंग साहित्य में सुप्रसिद्ध आगम 'उपासक दशा' से प्रभावित होकर अपनी कृति का नाम उपासकाध्ययन देना आचार्य सोमदेव की मौलिक सूझबूझ है। यशस्तिलक का एक भाग होते हुए भी उपासकाध्ययन स्वतन्त्र ग्रन्थ-सा प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ ४६ कल्पों में विभाजित है एवं प्रत्येक कल्प सारभूत है। इसमें वैशेषिक, जैमनीय, कणाद, ब्रह्माद्वैत आदि अनेक दर्शनों की समीक्षा के साथ जैन दर्शन का विस्तार से प्रतिपादन है।

आचार्य सोमदेव आध्यात्मिक तथा व्यवहारिक थे।

उन्होंने अपने साहित्य में धर्म के व्यवहारिक पक्ष को बहुत स्पष्ट किया है। उपासकाध्ययन के चौथे कल्प का नाम मूढ़तोन्मथन है। इसमें लोक-प्रचलित मूढ़ताओं एवं धर्म के नाम पर प्रवृत्त रूढ़ परम्पराओं (धर्म भावना से नदी में स्नान, यक्षादि का पूजन आदि) को मिथ्यात्व का परिपोषक बताकर उन पर आचार्य सोमदेव ने करारा प्रहार किया है। इस कृति के ३२वें कल्प से लेकर आगे के कल्पों में श्रावकचर्या का विशद वर्णन है।

आचार्य सोमदेव के इस उपासकाध्ययन पर आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का, आचार्य जिनसेन के महापुराण का, आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन का व आचार्य देवसेन के भाव-संग्रह का प्रभाव परिलक्षित होता है।

उत्तरवर्ती आचार्य विद्वान् अमितगति, पद्मनन्दी, वीरनन्दी, आशाधर, यशःकीर्ति आदि ने ग्रन्थ रचना में उपासकाध्ययन से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है।

आचार्य जयसेन के धर्मरत्नाकर ग्रन्थ में उपासकाध्ययन ग्रन्थ के अनेक श्लोकों का उद्धरण है। धर्मरत्नाकर की रचना वि. सं. १०५५ में हुई थी।

विद्वान् इन्द्रनन्दी के नीतिसार में अन्य प्रभावी जैनाचार्यों के साथ आचार्य सोमदेव का भी उल्लेख है एवं उपासकाध्ययन ग्रन्थ को प्रमाणभूत माना है।

आचार्य सोमदेव से पूर्व ग्रन्थों में श्रावकाचार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होते हुए भी इस ग्रन्थ को विद्वानों ने अधिक आदर के साथ ग्रहण किया है, इसका कारण आचार्य सोमदेव द्वारा प्रस्तुत मौलिक सामग्री है। उपासकाध्ययन सहित आठ आश्वासों में परिसमाप्त यह ग्रन्थ काव्य साहित्य का श्रेष्ठ रत्न है।

नीतिवाक्यामृत यह राजनीति विषय का उत्तम ग्रन्थ है। इसमें राजनीति का सूत्रात्मक शैली में सांगोपांग विवेचन है। इस ग्रन्थ में कई ऐतिहासिक प्रसंग हैं। इसमें ऐसे शब्दों के प्रयोग हैं जिनके अर्थ शब्दकोष में नहीं हैं। मनु, भारद्वाज, शुक्र, बृहस्पति जैसे राजनीतिविज्ञ प्राचीन आचार्यों के अभिमत भी इस कृति में उद्धृत हैं। नीति वाक्यों का अमृत इसमें है। यह कृति के नाम से स्पष्ट है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' धर्मनीति की यह व्याख्या भी इस ग्रन्थ में है। संस्कृत भाषा में लिखा हुआ यह अनुपम ग्रन्थ नीतिशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए पठनीय और मननीय है। सम्पूर्ण कृति ३२ अध्यायों में विभक्त है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि यशस्तिलक चम्पू काव्य के बाद कवि ने इस कृति की रचना की है।[४] समय और स्थान का संकेत इस कृति में नहीं है। यशस्तिलक ग्रन्थ रचना के प्रेरणास्रोत कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रदेव थे।[५]

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने आचार्य सोमदेव का सम्बन्ध कन्नौज के प्रतिहार नरेश महेन्द्रपाल द्वितीय के साथ होने का समर्थन किया है। यह अभिमत कालक्रम की दृष्टि से ठीक प्रतीत होता है। महेन्द्रपाल द्वितीय का समय ईस्वी सन् ९४५-४६ माना गया है। यशस्तिलक काव्य रचना का समय ईस्वी सन् ९५९ है।

यशस्तिलक काव्य के मङ्गलाचरण में 'महोदय' और प्रथम आश्वास के अन्तिम श्लोक में 'महेन्द्रामरमान्यधी' जैसे शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग आचार्य सोमदेव और महेन्द्रदेव के पारस्परिक गहरे सम्बन्धों का संकेत करते हैं।

पं. सुन्दरलाल शास्त्री ने सन् १९५० में हिन्दी अनुवाद सहित नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ का प्रकाशन कराया था।

अध्यात्म तरङ्गिणी कृति के नाम से प्रतीत होता है कि यह आध्यात्मिक रचना है। यह मात्र ४० पद्यों का स्तोत्र है। इसमें ध्यान विधियों का वर्णन है। इस पर मुनि गुणधर कीर्ति की संस्कृत टीका है जिसकी रचना चौलुक्य वंशीय जयसिंह सिद्धराज के राज्यकाल में वि. सं. ११८९ में हुई थी।

आचार्य सोमदेव के उक्त तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त षण्णवति

४. नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति

५. यशस्तिलक प्रशस्ति

प्रकरण, युक्तिचिन्तामणिस्तव, त्रिवर्ग-महेन्द्रमातलि-संजल्प इन तीन ग्रन्थों की सूचना नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति[५] में तथा स्याद्वादोपनिषद् एवं सुभाषित की सूचना नरेश वद्दिग द्वारा प्रदत्त परभणी के ताम्रपत्रों में प्राप्त है।[६] वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

आचार्य सोमदेव ने अपने काव्य ग्रन्थों में रूढ़ मान्यताओं को नहीं, स्वस्थ विचारों की परम्पराओं को समर्थन दिया है।

समय-संकेत

आचार्य सोमदेव ने राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय के चरणकमलोपजीवी सामन्त चौलुक्य वंशी अरिकेसरी के प्रथम पुत्र वाग्यराज (वद्दिग द्वितीय) की राजधानी गङ्गधारा में (शक संवत् ८८१) वी. नि. १४८६ (वि. सं. १०१६) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन यशस्तिलक चम्पू काव्य को सम्पन्न किया था। इस समय राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण (तृतीय) पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चर आदि राजाओं को जीतकर मेलपाटी के सैन्य शिविर में ठहरे हुए थे।[८]

यशस्तिलक की प्रशस्ति में काव्य रचना की सम्पन्नता का यह संवत् समय आचार्य सोमदेव के काल निर्णय में पुष्ट प्रमाण है। स्वस्थ परम्परा पोषक आचार्य सोमदेव वी. नि. १५वीं (वि. ११वीं, ई. १०वीं) शताब्दी के विशिष्ट विद्वान् थे।

---

५. इतिसकलतार्किकचक्रचूड़ामणिचुम्बितचरणस्य, पंचपंचाशन्महावादिविजयोपार्जितकीर्तिमन्दाकिनीपवित्रितत्रिभुवनस्य, परमतपश्चरणरत्नोदन्वतः, श्रीमन्नेमिदेव भगवतः शिष्येण वादीन्द्रकाला नल श्रीमन्महेन्द्रदेव भट्टारकानुजेन, स्याद्वादाचलसिंहतार्किकः, चक्रवादीभपंचाननवाक्यकल्लोलपाथोनिधिकविकुल राजकुञ्जरप्रभृति प्रशस्ति प्रस्तावालंकारेण षण्णवति प्रकरण युक्तिचिन्तामणि त्रिवर्गमहेन्द्रमातलिसंजल्प-यशोधरमहाराजचरितमहाशास्त्रवेधसा श्रीमत्सोमदेवसूरिणा विरचितं नीतिवाक्यामृतं नाम राजनीतिशास्त्रं समाप्तम्।

(नीतिवाक्यामृत प्रशस्ति)

६. अपि च यो भगवानादर्शसमस्त-विद्यानां विरचयिता यशोधरचरितस्य कर्ता स्याद्वादोपनिषदः कवि (वयि) ता चान्येषामपि सुभाषितामखिलमहासामन्त.....

(परभणी ताम्रपत्र)

८. शकनृपकालातीत संवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः (८८१) सिद्धार्थ संवत्सरान्तर्गत चैत मास मदन त्रयोदश्यां पाण्ड्यसिंहल-चोल चेरप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटी प्रवर्धमान राज्यप्रभावे श्रीकृष्ण राजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगत पंचमहाशब्दमहा सामन्ताधिपतेश्चालुक्य कुल जन्मनः सामन्त चूड़ामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथम पुत्रस्य श्रीमद्वद्दिग राजस्य लक्ष्मी प्रवर्धमानवसुधरायां गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।

(यशस्तिलक प्रशस्ति)

७६. अमित प्रभावक आचार्य अमितगति (द्वितीय)

अमितगति (द्वितीय) दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत आचार्य थे। वे माथुर संघ के थे। इस संघ का दूसरा नाम निःपिच्छिक था। मयूर पिच्छि नहीं रखने के कारण यह नाम प्रसिद्ध हुआ। मयूर पिच्छि न रखने का उपदेश काष्ठ संघ के मुनि रामसेन ने दिया था। रामसेन मुनि माथुरों के गुरु थे, अतः इस संघ का नाम माथुर संघ हुआ। रामसेन मुनि का सम्बन्ध काष्ठ संघ से होने के कारण माथुर संघ को काष्ठ संघ की शाखा माना जाता है। दर्शनसार के अनुसार वीरसेन के शिष्य कुमार सेन द्वारा काष्ठ संघ की स्थापना वी. नि. १२२३ (वि. सं. ७५३) में हुई थी।

गुरु-परम्परा

आचार्य अमितगति के गुरु माधवसेन थे। इनकी गुरु परम्परा धर्म परीक्षा, सुभाषित रत्नसंदोह पञ्च संग्रह के प्रशस्ति श्लोकों में है।

माथुर संघ के सिद्धान्त शास्त्र पारगामी विद्वान् आचार्य वीरसेन के शिष्य देवसेन, उनके शिष्य अमितगति प्रथम (योगसार के रचनाकार) थे। अमितगति के शिष्य नेमिषेण थे। माथुर संघ के तिलकभूत नेमिषेण ही माधवसेन के गुरु थे। प्रस्तुत आचार्य अमितगति द्वितीय माधवसेन के शिष्य और नेमिषेण के प्रशिष्य थे।[1]

आचार्य अमितगति की शिष्य परम्परा में मुनि शान्तिसेण, उनके शिष्य अमरसेन, अमरसेन के शिष्य श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति एवं क्रमशः अमरकीर्ति हुए।

आचार्य अमितगति की यह शिष्य परम्परा अमरकीर्ति-रचित छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश) कृति में है। छक्कम्मोवएस कृति अपभ्रंश भाषा की वि. सं. १२४७ की रचना है।

जीवन-वृत्त

आचार्य अमितगति के गृहस्थ जीवन विषय तथा माता-पिता के विषय की सामग्री नहीं है। उनका जन्म वी. नि. १४९० (वि. १०२०) के आसपास अनुमानित किया है। उन्होंने मुनि दीक्षा कब और किन परिस्थितियों में ग्रहण की इन तथ्यों का पता नहीं है, पर आचार्य अमितगति का विशाल तथा उच्चकोटि का साहित्य उनके वैदुष्य का सूचक है। वे वाक्पतिराज मुञ्ज की सभा के सम्मानित विद्वान् थे। वाक्पतिराज मुञ्ज मालव के परमार नरेश थे एवं लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के अनन्य आश्रयदाता थे।[2] उज्जयिनी उनकी राजधानी थी। आचार्य अमितगति ने सुभाषित रत्न सन्दोह जैसे गम्भीर ग्रन्थों की रचना की उस समय नरेश मुञ्ज विद्यमान थे।[3]

पञ्चसंग्रह कृति में आचार्य अमितगति ने सिन्धुपति (सिन्धुल) का उल्लेख भी किया है।[4] सिन्धुल नरेश मुञ्ज के लघु भ्राता थे। वे इतिहास प्रसिद्ध राजा भोज के पिता थे।

---

१. सिद्धांतपाथोनिधिपारगामी श्री वीरसेनोऽजनि सूरिवर्यः।
श्री माथुराणां यमिनां वरिष्ठः कषायविध्वंसविधौ पटिष्ठः ॥१॥
ध्वस्ताशेषध्यान्तवृत्तिर्भनस्वी तस्मात्सुरिर्देवसेनोऽजनिष्ट।
लोकोद्योती पूर्व शैलादिवार्कः शिष्टाभीष्टः स्थेयसोऽभास्तदीषः ॥२॥
वासरो दिनमणेरिव तस्याज्जायते स्म कमलाकरबोधी ॥३॥
नेमिषेण गणनायकस्ततः पावनं वृषभविष्टतो विभुः।
पार्वतीपतिरिवास्त मन्मथो योग गोपनपरो गणार्चितः ॥४॥
कोपनिवारी शमदमधारी माधवसेनः प्रणतरसेनः।
सोऽभवदस्मादुगलितमदोस्मा यो यतिसारः प्रशमितसारः ॥५॥
धर्म-परीक्षामकृत वरेण्यां धर्म-परीक्षामखिलसरण्याम्।
शिष्यवरिष्ठोऽमितगतिनामा तस्य पटिष्ठोऽनघगतिधामा ॥६॥
(धर्म परीक्षा प्रशस्ति पद्य)

२. लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुंजे यशःपुंजे निरालम्बा सरस्वती ॥४१॥
(प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. २५)

३. समाप्ते पंचम्यामवति धरणीं मुंजनृपतौ.....
(सुभाषित रत्नसन्दोह प्रशस्ति, पद्य ९२२)

४. श्रीमति सिन्धुपतावकलंकः ॥२॥
(पंचसंग्रह प्रशस्ति)

साहित्य

आचार्य अमितगति ने जनभोग्य और विद्वद्भोग्य दोनों प्रकार के ग्रन्थ रचे। उनका उपलब्ध साहित्य संस्कृत भाषा में है। प्राकृत और अपभ्रंश की एक भी रचना उपलब्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है आचार्य अमितगति का संस्कृत भाषा पर आधिपत्य था। ग्रन्थों की गम्भीरता और विविध विषयों की विवेचना से प्रतीत होता है आचार्य अमितगति न्याय, काव्य, व्याकरण आदि विषयों के विशेषज्ञ विद्वान् थे। ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

सुभाषित रत्न सन्दोह यह रचनाकार का स्वोपज्ञ सुभाषित ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सुभाषित रत्नों का संग्रह है। यह ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है। ग्रन्थ की भाषा अलंकारमय है। सांसारिक विषय निराकरण, माया-अंहकार निराकरण, इन्द्रिय निग्रहोपदेश, सप्त व्यसन निषेध, ज्ञान निरूपण, चरित निरूपण आदि ३३ प्रकरण ग्रन्थ में हैं। श्रावक धर्म का निरूपण २१७ पद्यों में विस्तार से प्रतिपादित है। पूरे ग्रन्थ में कुल ९२२ पद्य हैं। ग्रन्थ की परिसमाप्ति वी. नि. १५२० (वि. सं. १०५०) पौष शुक्ला पंचमी के दिन मुञ्ज के राज्यकाल में हुई।[५] ग्रन्थ की प्रशस्ति में ग्रन्थकार की गुरु-परम्परा प्राप्त है।

धर्म-परीक्षा यह संस्कृत काव्य ग्रन्थ है। इसमें पौराणिक मनगढ़न्त अविश्वसनीय तथ्यों का निरसन किया गया है। इससे स्पष्ट है आचार्य अमितगति रूढ़ धार्मिक मान्यताओं के पक्षधर नहीं थे। ग्रन्थ में १९४५ पद्य हैं। दो मास में इस ग्रन्थ की रचना हुई।[६] कवि ने इसे वी. नि. १५४० (वि. १०७०) में सम्पन्न किया था। रचनाकार ने ग्रन्थ में व्यङ्ग्योक्तियां और अपने अभिमत के प्रकटीकरण में कथाओं का उपयोग विलक्षण ढंग से किया है। पूरे ग्रन्थ पर आचार्य हरिभद्र के धूर्ताख्यान का प्रभाव परिलक्षित होता है। ग्रन्थ के प्रशस्ति पद्यों में गुरु परम्परा दी गई है।

पंच-संग्रह यह संस्कृत गद्य-पद्य रचना है। अज्ञात कर्तृक प्राकृत पंच-संग्रह का संस्कृत अनुवाद है। इस ग्रन्थ में कर्मवाद का विवेचन है। गोम्मटसार के सैद्धान्तिक विषय को इस कृति द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है। इस कृति का समापन वी. नि. १५४३ (वि. १०७३) में मसूतिकापुर में हुआ।[७] इसी समय राजा भोज, नरेश मुंज के सिंहासन पर आसीन हुआ था। ग्रन्थ के प्रशस्ति पद्यों के अनुसार आचार्य अमितगति के गुरु माधवसेन के समय में सिन्धुपति (सिन्धुल) का राज्य था।[८] इस कृति की प्रशस्ति में ग्रन्थकार की गुरु परम्परा नहीं है। गुरु माधवसेन का नामोल्लेख अवश्य है।

उपासकाचार आचार्य अमितगति के नाम पर इस ग्रन्थ को अमितगति श्रावकाचार भी कहते हैं। ग्रन्थ की श्लोक संख्या १३५२ है। १५ परिच्छेद हैं। पांचवां, छठा, सातवां, चौदहवां, पन्द्रहवां परिच्छेद श्रावक आचार संहिता तथा ध्यान की विधि को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। पंचम परिच्छेद में मद्य, मांस, मधु की भांति रात्रिभोजन परित्याग का भी उपदेश दिया गया है। छठे परिच्छेद में सौ श्लोकों में श्रावक के बारह व्रतों का विस्तृत विवेचन है। सातवें परिच्छेद में व्रत के अतिचारों तथा श्रावक प्रतिमाओं का वर्णन है। चौदहवें परिच्छेद में १२ भावनाओं एवं पन्द्रहवें परिच्छेद के श्लोकों में भेद-प्रभेद सहित ध्यान का सम्यक् प्रतिपादन है।

प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में रचनाकार ने अपना नाम

---

५. समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे।
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पंचाशदधिके॥
समाप्ते पंचम्यामवति धरणीं मुंजनृपतौ।
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम्॥९२२॥
(सुभाषित रत्नसन्दोह प्रशस्ति)

६. अमितगतिरिवेदं स्वस्य मासद्वयेन।
प्रथितविशदकीर्तिः काव्यमुद्भूतदोषम्॥ (धर्म परीक्षा)

७. त्रिसप्तत्यधिकेऽब्दानां सहस्र शकविद्विषः।
मसूतिकापुरे जातमिदं शास्त्रं मनोरमम्॥६॥
(पंचसंग्रह प्रशस्ति)

८. माधवसेनगणी गणनीयः शुद्धतपोऽजनि तत्र जनीयः।
भूपति सत्यवतीव शशांकः श्रीमति सिन्धुपतावकलंकः॥२॥
(पंचसंग्रह प्रशस्ति)

दिया है। रचना सरल और स्पष्ट है। उपासकाध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार आदि कृतियों में श्रावकाचार सम्बन्धी विपुल सामग्री उपलब्ध है। उनमें यह उपासकाचार कृति भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस रचना के अन्त में रचनाकार की गुरु-परम्परा भी प्राप्त है।

भावना-द्वात्रिंशिका इस कृति के ३२ पद्य हैं। यह कृति के नाम से स्पष्ट है। इस कृति की पद्यावलियां कोमल एवं हृदयग्राही हैं। सामायिक में बहुत से लोग इसका विशेष स्वाध्याय करते हैं। आचार्य अमितगति की यह अत्यधिक लोकप्रिय रचना है।

आराधना यह संस्कृत पद्यमयी रचना है। शिवाचार्य कृत प्राकृत आराधना का अनुवाद है। प्रशस्ति पद्यों में देवसेन से अमितगति (द्वितीय) तक की गुरु परम्परा है। समय और स्थान का संकेत नहीं है। कृति का प्रतिपाद्य ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप है। ग्रन्थकार ने इस रचना को चार मास में सम्पन्न किया था।[६] प्रशस्ति पद्यों में रचनाकार ने आराधना की विशेषता बताने के साथ अपना नामोल्लेख भी किया है।

तत्त्वभावना इस कृति के १२० पद्य हैं। यह कृति सामायिक पाठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। कृति के अन्त में निर्देश है "इति द्वितीय-भावना समाप्ता" रचनाकार के इस संकेत से स्पष्ट है यह कृति किसी बड़े ग्रन्थ की दूसरी भावना या दूसरा अध्याय है।

योगसार इस ग्रन्थ के रचनाकार भी आचार्य अमितगति थे। विद्वानों का अनुमान है आचार्य अमितगति द्वितीय के ग्रन्थों की विशेषता इस ग्रन्थ में नहीं है, अतः यह रचना आचार्य अमितगति प्रथम की रचना है।

समय-संकेत

आचार्य अमितगति की तीन कृतियों में संवत् समय प्राप्त है।

सुभाषित रत्न संदोह समय वी. नि. १५२० (वि. सं. १०५०)

धर्म परीक्षा समय वी. नि. १५४० (वि. सं. १०७०)

पंचसंग्रह वी. नि. १५४३ (वि. सं. १०७३)

इन कृतियों में प्राप्त संवत् समय के अनुसार आचार्य अमितगति द्वितीय वी. नि. १६वीं (वि. ११वीं) शताब्दी के विद्वान् थे।

---

६. आराधनैषा यदकारि पूर्णा मासैश्चतुर्भिर्मम तदस्ति चित्रं ॥१६॥
(आराधना प्रशस्ति)

७७-७८. मनस्वी आचार्य माणिक्यनन्दी और आचार्य नयनन्दी

परीक्षामुख ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य माणिक्यनन्दी दिगम्बर विद्वान् थे। वे जैन न्याय के आद्य सूत्रकार थे। उनकी दार्शनिक प्रतिभा बेजोड़ थी। न्याय विषय पर उनका आधिपत्य था। नयनन्दी दिगम्बर परम्परा के मनस्वी आचार्य थे।

गुरु-परम्परा

आचार्य माणिक्यनन्दी नन्दी संघ के थे। विन्ध्यगिरि के शिलालेखों में एक शिलालेख शक संवत् १३२० (ईस्वी सन् १३९८) का है। उसमें नन्दी संघ के आठ आचार्यों में एक नाम माणिक्यनन्दी का है[१]। आचार्य माणिक्यनन्दी के प्रथम विद्या शिष्य नयनन्दी ने अपने 'सुदंसण चरिउ' नामक अपभ्रंश कृति की प्रशस्ति में गुरु-परम्परा दी है वह इस प्रकार है सुनक्षत्र, पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी, नन्दनन्दी, विश्वनन्दी, विशाखनन्दी, गणीरामनन्दी, माणिक्यनन्दी, नयनन्दी आदि। उक्त गुरु-परम्परा के अनुसार आचार्य माणिक्यनन्दी के गुरु जिनागम के विशिष्ट अभ्यासी तपस्वी गणीरामनन्दी थे। नयनन्दी आचार्य माणिक्यनन्दी के शिष्य थे।[२]

जीवन-वृत्त

आचार्य माणिक्यनन्दी धारानगरी के निवासी थे। परमार नरेश भोज की सभा में वे विशेष सम्मान प्राप्त विद्वान् थे। न्याय शास्त्र के विद्यार्थी उनके चरणों में बैठकर न्याय-विद्या का प्रशिक्षण पाते थे। न्यायविद्या के अधिकृत विद्वान् प्रभाचन्द्र जैसे उनकी कक्षा के विद्यार्थी थे। सुदंसण चरिउ जैसी उत्तम कृति के रचनाकार आचार्य नयनन्दी भी उनके प्रथम विद्या शिष्य थे।

माणिक्यनन्दी महान् स्वाध्यायी आचार्य थे। आचार्य अकलङ्क के न्याय ग्रन्थों के गम्भीर पाठी थे। प्रमेयरत्नमाला के रचनाकार लघु अनन्तवीर्य ने अपने ग्रन्थ में लिखा

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्ध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥२॥

(प्रमेय रत्नमाला)

आचार्य माणिक्यनन्दी को मेरा नमस्कार है जिन्होंने अकलङ्क के साहित्य समुद्र का मन्थन करके विद्या रूपी-अमृत निकाला है।

आचार्य माणिक्यनन्दी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर विद्वान् अभिनव धर्मभूषण ने अपनी न्यायदीपिका नामक कृति में उन्हें भगवान् शब्द से संबोधित किया।[३] आचार्य नयनन्दी ने भी माणिक्यनन्दी को अपने ग्रन्थ में महापण्डित और त्रैविद्य का सम्बोधन देकर उनके प्रति आदरभाव प्रकट किया था।[४]

---

१. जातश्चुधी हरिणो हरिणाङ्कधाम्नि म्लेच्छिद्रदेवहृतिधार्जुनदेवकल्पः ॥५९॥
(विन्ध्यगिरि शिलालेख)

२. (क) जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे महाकुन्दकुन्दाण्णए संते। सुणक्खाहिहाणो तहा पोमणंदी, पणो विण्हुणंदी तओ णंदणंदी। जिणुद्दिट्ठ धम्मंसुरासी विसुद्धो, कयाणेय गंथोजयंते पसिद्धो। भव्वंबोहियोओ महाविस्सणंदी खमाजुत्त सिद्धांतिओ विसाहणंदी। जिणिंदागमब्भासणे एयचित्तो तयायारणिट्ठाए लद्धाइ जुत्तो। णरिंदामरिंदाहिसोणंदणंदी, हुओतस्स सीसो गणी रामणंदी। असेसाण गंथंमि पारम्मि पत्तो तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो। गुणवादसभूओ सुतिल्लोकणंदी महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी।

(सुदंसण चरिउ प्रशस्ति)

(ख) पढ़मसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणिणयणंदि अणिंदियउ।
चरिउं सुदंसणजाहहो तेण अबाहहो विरइउंबुह अहिणंदिउ।
(सुदंसण चरिउ संधि १२, कडवक)

३. तथा चाह भगवान्माणिक्यनन्दी भट्टारकः
(न्याय दीपिका)

४. (क) महापंडिओ तस्स माणिक्कणंदी।
(सुदंसण चरिउ प्रशस्ति)

(ख) एत्थ सुदंसणचरिउ पंचणमोक्कारफलपयासरे माणिक्कणंदि तइविज्जसीसयणंदिणा विरइए.....
(सुदंसणचरिउ संधि स्थल का अन्तिम गद्य भाग)

आचार्य माणिक्यनन्दी का वैदुष्य अतिशयप्रभावक था। आचार्य नयनन्दी भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के अधिकारी विद्वान् थे।

साहित्य

आचार्य माणिक्यनन्दी की साहित्यिक मेधा विलक्षण थी। वर्तमान में उनका परीक्षामुख नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। यह ग्रन्थ न्याय साहित्य का अनुपम रत्न है। ग्रन्थ का परिचय इस प्रकार है

परीक्षामुख यह जैन न्याय का आद्यसूत्र ग्रन्थ है। न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, मीमांसकसूत्र, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र, गृहसूत्र आदि इन सूत्रात्मक ग्रन्थों में यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस ग्रन्थ के छह समुद्देश हैं। ग्रन्थगत सूत्र संख्या २०८ है। प्रथम समुद्देश के १३ सूत्र, द्वितीय समुद्देश के १२ सूत्र, तृतीय समुद्देश के ९७ सूत्र, चतुर्थ समुद्देश के ९ सूत्र, पंचम समुद्देश के ३ सूत्र तथा छठे समुद्देश के ७४ सूत्र हैं। प्रथम पांच समुद्देशों में प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण की विस्तृत चर्चा है। छठे समुद्देश में प्रमाणाभास का विशद विवेचन है।

आचार्य अकलङ्क के साहित्य महार्णव का मन्थन कर आचार्य माणिक्यनन्दी ने 'परीक्षामुख' ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ की सूत्रात्मक शैली माणिक्यनन्दी के गम्भीर ज्ञान की परिचायिका है। इस ग्रन्थ पर दिङ्नाग के न्याय प्रवेश ग्रन्थ का और धर्मकीर्ति के न्याय बिन्दु का प्रभाव है। गौतम के न्याय सूत्र की भांति जैन न्याय को सूत्रबद्ध करने वाला यह अलौकिक ग्रन्थ है। इसकी संक्षेपक शैली निराली और नवीन है। वादिदेवसूरि की कृति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और हेमचन्द्र की प्रमाण-मीमांसा परीक्षामुख ग्रन्थ से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्र की, लघु अनन्तवीर्य की, भट्टारक चारु कीर्ति की क्रमशः प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला और प्रमेय रत्नमालालङ्कार टीकाएं हैं। इन तीनों में प्रमेयकमलमार्तण्ड १२००० श्लोक परिमाण की विशाल टीका है।

नयनन्दी माणिक्यनन्दी की भांति नयनन्दी भी मेधा के धनी थे। उनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं १. सुदंसण चरिउ, २. सयलविहिविहाणकव्व।

दोनों ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

सुदंसण चरिउ आचार्य नयनन्दी द्वारा रचित सुदंसण चरिउ अपभ्रंश भाषा की कृति है। यह १२ सन्धियों में विभक्त है। इस काव्य का मुख्य नायक धीर, गम्भीर एवं महान् कष्टसहिष्णु सेठ सुदर्शन है। सेठ सुदर्शन की मित्र पत्नी कपिला को कामविह्वल बताकर उसके कुत्सित जीवन को चित्रित किया गया है। सम्पूर्ण काव्य में सेठ सुदर्शन के निर्मल चरित्र की गरिमा एवं ब्रह्मचर्य व्रत में उनकी अनन्त निष्ठा प्रकट है।

काव्यकला की दृष्टि से यह उत्तम ग्रन्थ है। इसकी शैली सरस और सालङ्कारिक है। इस काव्य में आचार्य माणिक्यनन्दी की गुरु परम्परा दी गई है जो ऐतिहासिक सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। काव्य लक्षणों से भूषित यह निर्दोष कृति आचार्य नयनन्दी के गम्भीर ज्ञान की सूचक है।

सयलविहिविहाण (सकलविधिविधान) यह ५८ सन्धियों में परिसमाप्त काव्य ग्रन्थ है। भुजंगप्रिया, मंजरी, चन्द्रलेखा, मौक्तिकमाला आदि नाना प्रकार के छन्दों में रचित यह कृति अत्यन्त सरस है। श्रावकाचार संहिता की विपुल सामग्री इसमें है। इसकी प्रशस्ति में कालिदास, बाण, मयूर, नरेश हर्ष, जैनाचार्य अकलङ्क, समन्तभद्र आदि का उल्लेख है। इस काव्य की ४८ सन्धियों में १६ सन्धियां वर्तमान में अनुपलब्ध हैं।

समय-संकेत

आचार्य माणिक्यनन्दी अकलङ्क के ग्रन्थों के अनन्य पाठी थे। अकलङ्काचार्य का समय विविध अनुसंधानों के आधार पर ई. सं. ७२० से ७८० तक माना है, अतः आचार्य माणिक्यनन्दी अकलङ्काचार्य से उत्तरवर्ती होने के कारण ईस्वी सन् ८वीं शताब्दी के बाद का विद्वान् उन्हें मानना निर्विवाद स्थिति है।

आचार्य माणिक्यनन्दी और आचार्य प्रभाचन्द्र का

परस्पर साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध था, अतः वे प्रभाचन्द्राचार्य से पूर्ववर्ती थे। आचार्य नयनन्दी, आचार्य माणिक्यनन्दी के प्रथम विद्या शिष्य थे। नयनन्दी ने अपना काव्य परमार नरेश भोज के राज्य में धारा नगरी के महाविहार में वी. नि. १५७० (वि. ११००, ई. १०४३) में सम्पन्न किया था।[५] आचार्य माणिक्यनन्दी गुरुस्थान पर होने के कारण नयनन्दी से भी पूर्ववर्ती हैं, अतः माणिक्यनन्दी का समय डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने विविध प्रमाणों के आधार पर वि. सं. १०६० तक अनुमानित किया है।[६] आचार्य नयनन्दी का समय उनकी सुदंसण चरिउ कृति में प्राप्त संवत् समय के अनुसार वी. नि. १६वीं (वि. ११वीं और १२वीं) शताब्दी स्पष्ट सिद्ध है।

आचार्य माणिक्यनन्दी और नयनन्दी के गम्भीर ग्रन्थ इन दोनों आचार्यों के मनस्वी रूप को प्रकट करते हैं।

---

५. आरामणामवरपुरणिवेसे सुप्पसिद्ध आवंतीणामदेसे।
सुखइपुरिव्व विबुहयणइट्ठ तहिं अत्थि धाराणयरी गरिट्ठ।
रणदुद्धरअत्थिरसेल्लवज्जु रिद्धिए देवासुरजणियचोज्जु।
तिहुवणणारायणसिहिणिकेउ तहिं णवइपुंगमु भोयदेउ।
मणिगणपहट्ठसियरविगभत्थि तहिं जिणहरू बहुविरासु अत्थि।
णिव विक्कम कालहो ववगएसु एयारह संवच्छरसएसु।
तहिं केवलिचरिउ अमच्छरेण णयणंदी विरयउ वित्थरेण।
जो पढइ सुणइ भावइ लिहेइ सो सासयसुहु अइरे लहेइ।
(सुदंसण चरिउ, सन्धि १२, कडवक १०)

६. तीर्थंकर महावीर और आचार्य परम्परा भा. ३, पृ. ४३।

७६. अनेकान्त विवेचक आचार्य अभयदेव

आचार्य कालक की भांति कई आचार्य अभयदेव नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत अभयदेवसूरि नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि और मलधारी अभयदेवसूरि से भिन्न हैं। इनकी प्रसिद्ध कृति वादमहार्णव टीका है।

दिगम्बर परम्परा में अकलङ्कदेव, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र का जो स्थान है वही स्थान श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र, मल्लवादी और अभयदेवसूरि का है। छहों विद्वान् दार्शनिक क्षेत्र के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं।

गुरु-परम्परा

अभयदेव राजगच्छ के आचार्य थे। इनकी गुरु-परम्परा में आचार्य नन्नसूरि, आचार्य अजितसूरि, यशोदेवसूरि, सहदेवसूरि और प्रद्युम्नसूरि हुए। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य आचार्य अभदेवसूरि थे। आचार्य प्रद्युम्न 'चन्द्रगच्छ' के थे।

जीवन-वृत्त

अभयदेव राजकुमार थे। प्रद्युम्नसूरि के पास उन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण की। प्रद्युम्नसूरि शास्त्रार्थ निपुण आचार्य थे। वे जैन दर्शन के साथ वैदिक दर्शन के भी निष्णात विद्वान् थे। उन्हें अनेक विषयों का सम्यक् ज्ञान था। सपादलक्ष (ग्वालियर) एवं त्रिभुवनगिरि के राजाओं को बोध देकर उन्हें जैन बनाया। वैदिक दर्शन का विद्वान् राजा अल्ल उनका भक्त था। अभयदेवसूरि ने प्रद्युम्नसूरि से विविध विषयों का गहन अध्ययन किया। जैन शासन के प्रभावक आचार्य बने और राजर्षि नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई।

आचार्य अभयदेव वास्तव में अभय थे, उनकी वाद-कुशल प्रतिभा के सामने प्रतिद्वन्द्वी का टिकना कठिन था।

न्याय क्षेत्र में विशेषज्ञता प्राप्त होने के कारण एवं वादकुशलता के कारण उन्हें 'न्याययनसिंह' और 'तर्कपंचानन' की उपाधियां प्राप्त थीं।

धारा नरेश मुंज के उद्बोधक धनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि के शिष्य थे। मुंज अपने समय के प्रभावक नरेश थे। उनके कारण चन्द्रगच्छ, राजगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मुंज के समकालीन अन्य राजा भी धनेश्वरसूरि को बहुमान देते थे। धनेश्वरसूरि ने अपने अठारह शिष्यों को आचार्य पद पर नियुक्त किया और उनसे अष्टापदगच्छ, चैत्रवालगच्छ, धर्मघोषगच्छ आदि कई गच्छों एवं शाखाओं का उद्भव हुआ। धनेश्वरसूरि के बहुमुखी विकास में अभयदेवसूरि का विशेष योगदान था।

साहित्य

आचार्य अभयदेव न्याय एवं दर्शन विषय के गम्भीर विद्वान् थे। उन्होंने आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सन्मति तर्क' ग्रन्थ पर 'तत्त्व-बोधिनी' नामक सुविशाल टीका रची। इसका दूसरा नाम वादमहार्णव टीका भी है। वादमहार्णव टीका की शैली प्रौढ़ एवं गम्भीर है। यह टीका जैन न्याय और दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आत्मा-परमात्मा, मोक्ष आदि विविध विषयों को युक्तियुक्त प्रस्तुत किया गया है। अपने से पूर्ववर्ती अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का सन्दोहन कर आचार्य अभयदेव ने इस ग्रन्थ का सृजन किया। इसे पढ़ने से दर्शनान्तरीय विविध ज्ञान-बिन्दुओं का सहज पठन हो जाता है। आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थों का इस टीका पर प्रभाव है।

दर्शन और न्याय के क्षेत्र में प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा 'न्यायकुमुदचन्द्र' और 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' टीका का जो महत्त्व है, वही महत्त्व अभयचन्द्रसूरि द्वारा रचित इस 'वादमहार्णव' टीका का है। ये तीनों न्याय विषयक विशाल टीकाएं हैं।

'न्यायकुमुदचन्द्र' टीका और 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' टीका की रचना क्रमशः आचार्य अकलङ्क के

'लघीयस्त्रय' ग्रन्थ पर और माणिक्यनन्दी के 'परीक्षामुख' ग्रन्थ पर हुई है।

अभयदेवसूरि की यह टीका आचार्य सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' ग्रन्थ की विशद व्याख्या है।

न्यायकुमुदचन्द्र टीका १६००० पद्य परिमाण, प्रमेयकमलमार्तण्ड टीका १२००० पद्य परिमाण है। अभयदेवसूरि की वादमहार्णव नामक यह टीका २५००० पद्य परिमाण है।

अभयदेवसूरि की टीका में कवलाहार और स्त्री मुक्ति की मान्यता का प्रबल समर्थन किया गया है।

प्रमाण-प्रमेय विषयक अन्य दर्शनान्तरीय जिन मान्यताओं के खण्डन में प्रभाचन्द्राचार्य की लेखिनी चली उन मान्यताओं का खण्डन अभयदेवसूरि ने अपनी टीका में किया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र दिगम्बर विद्वान् थे और आचार्य अभयदेवसूरि श्वेताम्बर विद्वान् थे। यह इन टीकाओं को पढ़ने से स्पष्ट होता है।

अनेकान्त दर्शन की प्रस्थापना में विभिन्न पक्षों का स्पर्श करती हुई यह वादमहार्णव टीका परवर्ती टीकाकारों के लिए सबल आधार बनी है।

समय-संकेत

दार्शनिक क्षेत्र के उज्ज्वल नक्षत्र अभयदेवसूरि वी. नि. की १५-१६वीं (वि. ११-१२वीं) के विद्वान् माने गए हैं।

वादिवेताल आचार्य शान्तिसूरि आचार्य अभयदेवसूरि की शिष्य मण्डली में दर्शनशास्त्र के विद्वान् थे। शान्तिसूरि का स्वर्गवास वी. नि. १५६६ (वि. १०६६) में हुआ।

८०. वादिगज-पंचानन आचार्य वादिराज (द्वितीय)

दिगम्बर परम्परा में वादिराज की गणना विद्वान् आचार्यों में है। वे तार्किक आचार्य एवं उच्च कोटि के कवि थे। प्रखर वैदुष्य एवं वादकुशलता के कारण षट्तर्क षण्मुख, स्याद्वाद विद्यापति और जगदेक-मल्लवादी जैसी उनको उपाधियां प्राप्त थीं[1]।

गुरु-परम्परा

वादिराजसूरि की गुरु-परम्परा द्रमिल या द्राविड़ संघ से सम्बन्धित थी। द्राविड़ संघ के अन्तर्गत नन्दी संघ की अरुङ्गल शाखा के वादिराज आचार्य थे।[2] अरुङ्गल नाम किसी स्थान विशेष या ग्राम से सम्बन्धित होने के कारण नन्दी संघ की शाखा या मुनि परम्परा अरुङ्गलान्वय नाम से प्रसिद्ध हुई थी।

वादिराजसूरि के गुरु का नाम मतिसागर और दादा गुरु का नाम श्रीपालदेव था। उनके गुरु भ्राता का नाम दयालपाल था। दयालपाल मुनि ने रूप सिद्धि नामक टीका की रचना की।[3]

अपने दादा गुरु श्रीपालदेव को वादिराजसूरि ने 'सिंहपुरैकमुख्य'[4] और अपने आपको 'सिंहपुरेश्वर'[5] कहा है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य वादिराज का सिंहपुर नामक स्थान से विशेष सम्बन्ध था अथवा इस स्थान पर इनका प्रभुत्व था। सिंहपुरैकमुख्य एवं सिंहपुरेश्वर जैसे विशेषण वादिराज को मठाधीशों की परम्परा से सम्बन्धित थे। शोध विद्वानों का अनुमान है वादिराजसूरि की गुरु परम्परा मठाधीशों की थी।

देवसेन रचित दर्शनसार में द्रविड़ संघ के मुनियों द्वारा सेवित अनेक दोषात्मक प्रवृत्तियों का उल्लेख है[6], अतः इसे जैनाभास कहा है।

कर्णाटक और तमिलनाडु में द्रविड़ संघ का अधिक प्रचार था।

जीवन-वृत्त

वादिराजसूरि के माता-पिता के विषय में सामग्री उपलब्ध नहीं है। वंश तथा उनका मूल नाम भी अज्ञात है। इतिहास में उनकी प्रसिद्धि वादिराज के नाम से है। वादिराज की संज्ञा सम्भवतः उन्हें वाद-कुशलता के कारण प्राप्त हुई। उनकी योग्यता का परिचय नगरतालुका के शिलोलख संख्या ४६ में है। वह इस प्रकार है

सदसि यदकलङ्क कीर्तने धर्मकीर्ति-
र्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः

प्रस्तुत शिलालेख के आधार पर वे सभा में अकलङ्क विषय विवेचन में धर्म-कीर्ति, प्रवचन में वृहस्पति और न्याय में नैयायिक गौतम के समकक्ष थे।

---

१. षट्तर्कषण्मुख स्याद्वादविद्यापतिगलु जगदेवमल्लवादिगलु एनिसिद श्रीवादिराजदेवरम्.....
(नगर ताल्लुका अभिलेख नं. ३६)

२. श्रीमद्द्रमिलसंघेस्मिन्नन्दीसंघेस्यरुंगलअन्वयो भाति योशेष-शास्त्रवारीशपारगः ॥
.....श्रीमद्द्रमिणगणनन्दीसंघदरुंग-लान्वयदाचार्यावलियेन्त.....
(जैन शिलालेख संग्रह, पृ. ३९७)

३. यस्य श्री मतिसागरो गुरुरसौ चञ्चद्यशश्चन्द्र सः
श्रीमान्यस्य स वादिराजगणभृत्स ब्रह्मचारी विभोः।
एकोतीव कृति स एव हि दयापालव्रती यज्ञम्मन-
स्यास्तामन्य-परिग्रह-ग्रह कथा स्वे विग्रहे विग्रहः ॥
हितैषिणां यस्त नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सतामभ्यूर्द्धनियः प्रभावैः ॥३८॥
(मल्लिषेण प्रशस्ति)

४. पार्श्वनाथ चरित प्रशस्ति।

५. शिष्यः श्रीमतिसागरस्य विदुषां पत्युस्तपः श्रीभृतां,
भर्तुः सिंहपुरेश्वरो विजयते स्याद्वादविद्यापतिः ॥५॥
(न्यायविनिश्चय प्रशस्ति)

६. कच्छं खेत्तं वसदि वाणिज्जं कारिऊणजीवंतो।
ण्हंतो सीयलणीरे पावं पउरं स संजेदि ॥२६॥
(दर्शनसार)

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किक सिद्धः।

उस युग के वैयाकरण और तार्किक जन वादिराज के अनुग थे। मल्लिषेण की प्रशस्ति में वादी विजेता एवं कवि के रूप में वादिराजसूरि की प्रशंसा की गई है।

वादिराजसूरि चामत्कारिक प्रयोग भी जानते थे। जनश्रुति के अनुसार एक बार अपने भक्त का वचन रखने के लिए उन्होंने मन्त्रबल से अपने कुष्ठ-रोग को छिपाकर देह को स्वस्थ कञ्चन वर्ण बना लिया था।

जनसमुदाय में इस घटना-प्रसंग की प्रसिद्धि वादिराजसूरि के एकीभाव स्तोत्र के अन्तर्गत एक श्लोक के आधार पर हुई प्रतीत होती है। वह श्लोक इस प्रकार है

ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वांतगेहं प्रविष्टः।
तत्किं चित्रं निजवपुरिदं यत्सुवर्णी करोषि ॥४॥

(एकीभाव स्तोत्र)

राजवंश दक्षिण के सोलंकी वंश के प्रसिद्ध नरेश जयसिंह (प्रथम) थे। वे जैन धर्म से प्रभावित थे। वादिराजसूरि का विशेष सम्मान करते थे। उनकी राजसभा में वादिराजसूरि ने कई शास्त्रार्थ किए।

नरेश जयसिंह (प्रथम) को जगदेकमल्ल की उपाधि प्राप्त थी। वादिराजसूरि जगदेकमल्ल जयसिंह भूपेश (प्रथम) द्वारा पूजित थे। उनकी सभा के वे प्रख्यात वादी थे। अतः उनको जगदेकमल्लवादी का अलंकरण प्राप्त था।

'पार्श्वनाथ चरित्र' जैसे उत्तम कोटि के काव्य की रचना वादिराजसूरि ने चौलुक्य चक्रवर्ती नरेश जयसिंह देव (प्रथम) की राजधानी नगर कट्टगेरी में रहते हुए की थी।[७] इस राजधानी क्षेत्र पर लक्ष्मी की अपार कृपा थी। सरस्वती की यह जन्मभूमि थी।

यशोधर चरित्र काव्य के तृतीय सर्ग के अन्तिम पद्य में एवं चतुर्थ सर्ग के उपान्त्य पद्य में वादिराजसूरि ने जयसिंह देव नरेश का उल्लेख किया है।[८]

मल्लिषेण प्रशस्ति पद्य में जयसिंह देव और वादिराजसूरि दोनों के नाम का उल्लेख प्राप्त है।

साहित्य

आचार्य वादिराज ने विविध विषयों से परिपूर्ण कई ग्रन्थों की रचना की। वर्तमान में उनके ५ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

न्याय-विनिश्चय विवरण यह ग्रन्थ भट्ट अकङ्क के न्याय विनिश्चय ग्रन्थ का २० सहस्र श्लोक परिमाण भाष्य है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इसके तीन परिच्छेद हैं। जैन सिद्धान्तों के निरसन में प्रदत्त बौद्ध दर्शन की युक्तियों का सबल प्रतिवाद इसमें है। यह जैन न्याय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

प्रमाण निर्णय इस ग्रन्थ के चार अध्याय हैं एवं इसमें प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाणों की समुचित व्याख्या है।

यशोधर चरित्र यह एक सर्ग का लघुकाय खण्ड काव्य है। इसमें मात्र २९६ पद्य हैं।

एकीभाव स्तोत्र यह २५ पद्यों का स्तोत्र है। इसमें आचार्य वादिराज के आस्थाशील जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता है।

पार्श्वनाथ चरित्र यह उच्चकोटि का काव्य है। इसके १२ सर्ग हैं। आचार्य वादिराज के प्रकाण्ड पाण्डित्य के दर्शन इस ग्रन्थ में होते हैं।

अध्यात्माष्टक इस ग्रन्थ की संज्ञा से स्पष्ट है, इस कृति में ८ पद्य हैं। यह रचना निर्विवाद रूप से आचार्य वादिराज की प्रमाणित नहीं है।

त्रैलोक्यदीपिका यह करणानुयोग ग्रन्थ है। विद्वानों

---

७. 'सिंहे याति जयादिके वसुमतीं जैनीकथेयं मया'
(पार्श्वनाथ चरित्र प्रशस्ति, पद्य ५)

८. (क) 'व्यातन्वज्जयसिंहतां रणमुखे दोर्यं दधीधारिणीम् ॥८३॥
(यशोधर चरित, सर्ग-३)
(ख) 'रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मी बभार' ॥७३॥
(यशोधर चरित, सर्ग-४)

का अनुमान है यह रचना आचार्य वादिराज की होनी चाहिए।

समय-संकेत

वादिराजसूरि आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थों के व्याख्याता थे, अतः उनसे उत्तरवर्ती हैं।

दक्षिण के सोलंकी वंश के प्रसिद्ध नरेश जयसिंह (प्रथम) की सभा में वादिराजसूरि सम्मान प्राप्त विद्वान् थे।

जयसिंह नरेश के राज्यकाल के कई अभिलेख प्राप्त हैं। इनमें पहला अभिलेख शक सं ९३८ (ई. सन् १०१६) का है। अन्तिम अभिलेख शक संवत् ९६४ (ई. १०४२) का है। इन अभिलेखों के अनुसार दक्षिण के सोलंकी नरेश जयसिंह देव (प्रथम) ईसा की ११वीं शताब्दी के प्रभावक नरेश थे।

वादिराजसूरि ने पार्श्वनाथ चरित्र काव्य जयसिंह देव की राजधानी कट्टगेरी में शक सं. ९४७ (ई. १०२५, वि. १०८२) में पूर्ण किया था।

इन प्रमाणों के आधार पर वादिराजसूरि वी. नि. १६वीं (वि. ११वीं) शताब्दी के विद्वान् थे। प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के वे समकालीन थे।

---

९. सेव्यः सिंहसमर्च्य-पीठ-विभवः सर्वप्रवादि प्रजा
दत्तोच्चैर्जयकार-सार-महिमा श्रीवादिराजो विदाम्"।
(मल्लिषेण प्रशस्ति)

८१. शिवालय आचार्य शान्ति

शान्त्याचार्य प्रशस्त टीकाकार थे। वादियों में वेताल के समान दुर्जेय होने के कारण उनकी प्रसिद्धि वादि-वेताल के नाम से हुई। उन्हें वादि चक्रवर्ती और कवीन्द्र जैसी उपाधियां भी प्राप्त थीं। वे न्यायविद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

गुरु-परम्परा

वादिवेताल शान्त्याचार्य के दीक्षा गुरु विजयसिंह सूरि थे। विजयसिंह सूरि नाम के कई प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत विजयसिंह सूरि चान्द्रकुल एवं थारापद्रगच्छ के आचार्य थे।[1] थारापद्रगच्छ का जन्म वटेश्वर सूरि से हुआ। वटेश्वरसूरि का सम्बन्ध युगप्रधान आचार्य हारिलसूरि के गच्छ से था। विजयसिंहसूरि चैत्यवासी थे। वे पाटण में थारापद्रगच्छ के उपाश्रय में रहते थे।

थारापद्रगच्छ की उत्पत्ति थारापद्र स्थान में होने के कारण थारापद्रगच्छ नाम प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान में यह स्थान थराद नाम से पहचाना जाता है। गुजरात प्रदेशान्तर्गत डीसा शहर से थराद थोड़ी ही दूर है।

जन्म एवं परिवार

शान्तिसूरि का जन्म वैश्य वंश श्रीमाल गोत्र में हुआ। गुजरात प्रदेशान्तर्गत 'उन्नतायु' नामक ग्राम उनकी जन्मस्थली थी।[2] यह ग्राम उस समय पाटण के पश्चिम में था। वर्तमान में यह स्थान राधनपुर के पार्श्ववर्ती उण ग्राम है। उण नाम उन्नतायु का रूपान्तर प्रतीत होता है। शान्त्याचार्य के पिता का नाम धनदेव और माता का नाम धनश्री था। धनश्री साक्षात् लक्ष्मी रूपा थी। शान्त्याचार्य का नाम गृहस्थावस्था में भीम था।[3] उस समय गुजरात प्रदेश के नरेश का नाम भी भीम था। अणहिल्लपुर (पाटण) गुजरात की राजधानी थी।[4]

जीवन-वृत्त

भीम के पिता श्रेष्ठी धनदेव श्रीमाल सहज धार्मिक वृत्ति के थे।[5] धनश्री भी जैनधर्म के प्रति आस्थावान थी। श्रेष्ठी धनदेव का पुत्र भीम प्रज्ञाबल के साथ शरीर सम्पदा से भी सम्पन्न था। कम्बू ग्रीवा, विशाल ललाट एवं जानुपर्यन्त प्रलम्ब भुजाएं उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व की संकेतक थीं। हाथ और पैर छत्र, ध्वज और पद्म चिह्नों से सहज अलंकृत थे। शुभ लक्षणों से भूषित बालक भीम पुण्यों का मूर्तरूप था।[6] एक बार विजयसिंहसूरि का उन्नतायुग्राम में पदार्पण हुआ। वे बालक भीम को देखकर प्रभावित हुए। उन्होंने श्रेष्ठी धनदेव से बालक की मांग की। धनदेव ने महान् कार्य के लिए अपने पुत्र को गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर दिया। विजयसिंहसूरि ने बालक भीम को संयम दीक्षा प्रदान की। प्रतिभाबल सम्पन्न भीम मिथ्यादृष्टि

---

१. श्रीचन्द्रगच्छविस्तारिशुक्तिमुक्ताफलस्थितिः।
थारापद्र इति ख्याती गच्छः स्वच्छधियां निधिः ॥६॥
सच्चारित्रश्रियां पात्रं सूरयो गुणभूरयः।
श्रीमद्विजयसिंहाख्या विख्याताः सन्ति विष्टपे ॥७॥
(प्रभा. च. पृ. १३३)

२. श्रीपत्तनप्रतीचीनो नपुरप्यत्तपुस्थितिः।
उन्नतायुरितिग्राम उन्नतायुर्जनस्थितिः ॥६॥
(प्रभा. च., पृ. १३३)

३. तत्रास्ति धनदेवाख्यः श्रेष्ठी श्रीमालवंशभूः.....॥१०॥
धनश्रीरिव मूर्तिस्था धनश्रीस्तस्य गेहिनी।
तत्पुत्रो भीमनामाऽभूत् सीमा प्रज्ञाप्रभावताम् ॥११॥
(प्रभा. च., पृ. १३३)

४. अणहिल्लपुरं तत्र नगरं नगरप्रभम् ॥४॥
श्री भीमस्तत्र राजासीद् धृतराष्ट्रभवद्विषन्.....॥५॥
(प्रभा. च., पृ. १३३)

५. अर्हद्गुरुपदद्वंद्वसेवामधुकरः कृती ॥१०॥ (प्रभा. च., पृ. १३३)

६. कम्बुकण्ठच्छत्रमौलिराजानुभुजविस्तरः।
छत्रपद्मध्वजास्तीर्णपाणिपादसरोरुहः ॥१२॥
सर्वलक्षणसंपूर्णः पुण्यनैपुण्यशेवधिः.....॥१३॥
(प्रभा. च., पृ. १३३)

व्यक्तियों के लिए यथार्थ में भीम था।[7] विजयसिंहसूरि ने उनका नाम शान्ति रखा।

आचार्य सर्वदेव और अभयदेव से उन्होंने विविध प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त किया। शान्त्याचार्य ने आचार्य विजयसिंहसूरि द्वारा आचार्य पद पर अलंकृत होकर उनका सारा उत्तराधिकार सफलतापूर्वक संभाला।

शान्तिसूरि दिग्गज मनीषी एवं वादकुशल आचार्य थे।

एक बार शान्त्याचार्य का पाटण में पदार्पण हुआ। वे भीमराज की सभा में पहुंचे। उनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर नरेश भीम ने उनको कवीन्द्र तथा वादि-चक्रवर्ती की उपाधि से अलंकृत किया।[8]

उज्जयिनी के महाकवि धनपाल ने तिलकमञ्जरी कथा रची और उन्होंने अपने गुरु से पूछा "इसकी समालोचना किससे करवानी चाहिए?" तब गुरु ने उनको शान्त्याचार्य का नाम बताया।[9] धनपाल शान्त्याचार्य से मिलने के लिए उज्जयिनी से पाटण आए। शान्त्याचार्य के दर्शन कर उन्हें अन्तःतोष की अनुभूति हुई।

कवि धनपाल की प्रार्थना पर शान्त्याचार्य ने मालव-प्रदेश की ओर विहार किया। वह धारा नगरी में पहुंचे। राजा भोज की सभा में ८४ विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर उन्होंने विजय की वरमाला पहनी।[10] राजा भोज शान्तिसूरि के शास्त्रार्थ कौशल से प्रभावित हुए। राजा भोज की सभा में पण्डितों के समक्ष शान्तिसूरि वेताल की तरह अजेय थे। अतः राजा भोज ने उनको वादि-वेताल अलंकरण से मण्डित किया।[11]

धारा नगरी में शान्तिसूरि कई दिनों तक रहे। वहीं उन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमञ्जरी कथा का संशोधन किया था। वहां से विहार कर शान्तिसूरि पुनः पाटण में आए। उस समय कवि धनपाल भी उनके साथ था।

एक बार कवि धनपाल ने कोल कवि (शक्ति उपासक) धर्म से कहा "अस्ति श्वेताम्बराचार्य शान्तिसूरि परो न हि"। श्वेताम्बराचार्य शान्तिसूरि के समान दूसरा कवि नहीं है।

कवि धनपाल द्वारा इस प्रकार प्रशंसा सुनकर कोल कवि धर्म शान्त्याचार्य के पास आया और उनसे शास्त्रार्थ में पराजित हुआ। द्रविड़देश के एक अन्य वादरसिक विद्वान् को भी शान्त्याचार्य से शास्त्रार्थ में करारी हार मिली। द्रविड़ विद्वान् के नाम का उल्लेख प्रभावक चरित्र में नहीं है।

शास्त्रार्थों में इस प्रकार विजय प्राप्त कर शान्त्याचार्य ने वादिवेताल उपाधि की सार्थकता प्रमाणित की।

शान्तिसूरि मन्त्रों के ज्ञाता थे। पाटण के श्रेष्ठी जिनदेव के पुत्र पद्मदेव को सर्प ने काट लिया। कुछ समय बाद उसकी मृत्यु घोषित कर दी गई। शान्तिसूरि ने मन्त्र प्रयोग से जहर उतारकर उसे स्वस्थ बना दिया, ऐसा उल्लेख भी प्रभावक चरित्र शान्तिसूरि प्रबन्ध में है।[12]

शान्त्याचार्य के ३२ विद्वान् शिष्य न्याय के पाठी थे।[13] शान्त्याचार्य उन्हें स्वयं न्याय का प्रशिक्षण देते थे।

---

७. एवं तैस्तदनुज्ञातैरदीक्ष्यत शुभे दिने।
भीमो मिथ्यादृशां भीम उदग्रप्रतिभाबलः ॥१७॥
(प्रभा. च., पृ. १३३)

८. अणहिल्लपुरे श्रीमद्भीमभूपालसंसदि।
शान्तिसूरिः कवीन्द्रोऽभूद् वादिचक्रीति विश्रुतः ॥२१॥
(प्रभा. च., पृ. १३३)

९. गृहीतदृढ़सम्यक्त्वः कथां तिलकमञ्जरीम्।
कृत्वा व्यजिज्ञपत् पूज्यान् क एनां शोधयिष्यति ॥२४॥
विचार्य तैः समादिष्टं सन्ति श्री शांतिसूरयः।
कथां ते शोधयिष्यन्ति सोऽथ पत्तनमागमत् ॥२५॥
(प्रभा. च., पृ. १३३)

१०. विश्वदर्शनवादीन्द्रान स राज्ञः पर्षदि स्थितः।
जिग्ये चतुरशीतिं च स्वस्वाभ्युपगमस्थितान् ॥४७॥
(प्रभा. च., पृ. १३४)

११. वादिवेताल विरुदं तदैषां प्रददे नृपः ॥५९॥
(प्रभा. च., पृ. १३४)

१२. भुवमुत्खाय तस्मिंश्च दर्शिते गुरवोऽमृतम्।
तत्त्वं स्मृत्वाऽस्पृशन् देहं दष्टश्चासौ समुत्थितः ॥६६॥
(प्रभा. च., पृ. १३५)

१३. अथ प्रमाणशास्त्राणि शिष्यान् द्वात्रिंशतं तदा।
अध्यापयन्ति श्रीशांतिसूरयश्चैत्यसंस्थिताः ॥७०॥
(प्रभा. च., पृ. १३५)

एक बार शान्तिसूरि अपने शिष्यों को दुर्घटप्रमेय व्यवस्था समझा रहे थे। नड्डल नगर (नाड़ोल) से आए हुए सुविहित मार्गी मुनिचन्द्र ने दूर खड़े होकर शान्तिसूरि का न्याय विषयक प्रवचन सुना। शान्त्याचार्य की अध्यापन पद्धति ने मुनिचन्द्र को प्रभावित किया। वे १५ दिन तक निरन्तर वहां आकर दूर खड़े रहकर शान्त्याचार्य द्वारा शिष्यों को प्रदीयमान पाठ वाचना को ग्रहण करते रहे।[14] १६वें दिन शान्त्याचार्य ने अपने शिष्यों की परीक्षा ली। उनकी शिष्य मण्डली में से एक भी शिष्य प्रश्नों का सन्तोषजनक समाधान नहीं दे सका। मुनिचन्द्रसूरि ने शान्त्याचार्य से विनम्रतापूर्वक आदेश प्राप्त कर १५ दिनों का अध्ययन सम्यक् प्रकार से दुहरा दिया एवं शान्त्याचार्य द्वारा प्रदत्त प्रश्नों को सम्यक् रूप से समाहित किया।

मुनिचन्द्र जैसे प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी को पाकर शान्त्याचार्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। तब से शान्त्याचार्य की शिष्य मण्डली में प्रविष्ट होकर मुनिचन्द्र को प्रमाण-शास्त्र के अध्ययन का अवसर मिला।

सुविहितमार्गी मुनियों के लिए उस समय पाटण में स्थान की कठिनता थी। चैत्यवासियों का वर्चस्व होने के कारण पाटण के आस-पास भी सुविहितमार्गी मुनियों के लिए स्थान सुलभ नहीं था।

मुनिचन्द्रसूरि सुविहितमार्गी होते हुए भी उनके सामने स्थान की कठिनाई नहीं हुई। शान्त्याचार्य के निर्देश से श्रावकों ने स्थानीय टंकशाला के पीछे के बाग में मुनिचन्द्रसूरि के रहने की समुचित व्यवस्था कर दी।

यह प्रसंग शान्त्याचार्य के उदार हृदय का परिचायक है। इस समय मुनिचन्द्रसूरि ने शान्त्याचार्य से न्याय-विद्या का गम्भीर प्रशिक्षण प्राप्त किया।

ग्रन्थ-रचना

साहित्य के क्षेत्र में शान्त्याचार्य की प्रसिद्धि टीका ग्रन्थकार के रूप में है। उन्होंने 'पाइयटीका' की रचना की। यह उच्चकोटि का टीका ग्रन्थ है। इस टीका से शान्त्याचार्य के बहुमुखी ज्ञान की सूचना मिलती है। पाइयटीका का परिचय इस प्रकार है

पाइयटीका (शिष्यहिताटीका) इसका नाम शिष्यहिता टीका है। यह टीका साहित्य में अत्यधिक प्रसिद्ध एवं मौलिकता से परिपूर्ण है। प्राकृत कथानकों की बहुलता के आधार से इसे 'पाइयटीका' भी कहते हैं। इसमें पाठान्तरों और अर्थान्तरों की प्रचुरता है। कथानक संक्षिप्त शैली में है। मूलपाठ और निर्युक्ति दोनों की व्याख्या करती हुई यह टीका १८००० (अठारह हजार) श्लोक परिमाण है। इसमें ५५७ गाथाएं निर्युक्ति की हैं। स्थान-स्थान पर विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओं का तथा दशवैकालिक सूत्र की गाथाओं का प्रयोग भी हुआ है। कहीं-कहीं भर्तृहरि के श्लोक भी उद्धृत हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह अत्युत्तम टीका है। उत्तराध्ययन सूत्र पर अब तक जितनी टीकाओं के नाम उपलब्ध हैं उनमें यह टीका शीर्षस्थानीय है। इसे वादी रूपी नागेन्द्रों के लिए नागदमनी के समान माना है।[15]

समय-संकेत

शान्त्याचार्य का पदार्पण अन्तिम समय में उपासक यश के पुत्र 'सोढ़' के साथ गिरनार पर हुआ। वहीं पच्चीस दिवसीय अनशन के साथ वी. नि. १५६६ (वि. सं. १०९६, ई. १०३९) ज्येष्ठ शुक्ला नवमी मंगलवार को उनका स्वर्गवास हो गया।[16]

---

१४. अपुस्तकः स ऊर्ध्वस्थो दिनान् पञ्चदशाऽशृणोत्।
तत्रागत्य तदध्यायध्यानधीरमनास्तदा ॥७४॥
(प्रभा. च., पृ. १३५)

१५. उत्तराध्ययनग्रन्थटीका श्रीशांतिसूरिभिः।
विदधे वादिनागेन्द्रसन्नागदमनीसमा ॥८९॥
(प्रभा. च., पृ. १३५)

१६. श्रीविक्रमवत्सरतो वर्षसहस्रे गते सषण्णवती (१०९६)।
शुचिसितनवमीकुजकृत्तिकासु शांतिप्रभोरभूदस्तम् ॥१३०॥
(प्रभा. च., पृ. १३७)

८२. प्रभापुञ्ज आचार्य प्रभाचन्द्र

दिगम्बर परम्परा के आचार्य प्रभाचन्द्र परमार नरेश भोज की सभा के सम्मानित विद्वान् थे। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के शासनकाल में उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की। वे मूलतः दक्षिण के थे। मालव की राजधानी धारा नगरी उनकी विद्याभूमि थी।

गुरु-परम्परा

प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्याय-कुमुदचन्द्र ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम 'पद्मनन्दी सैद्धान्तिक'[1] था। श्रवणबेलगोल के संख्यक ४० के अभिलेख के अनुसार गोल्लाचार्य के शिष्य 'पद्मनन्दी सैद्धान्तिक' कुलभूषण मुनि के सधर्मा तथा प्रथित तर्क ग्रन्थकार, शब्दाम्भोरुह भास्कर प्रभाचन्द्र के गुरु थे।[2] इस अभिलेख में प्राप्त उल्लेखानुसार 'पद्मनन्दी सैद्धान्तिक' ने बाल वय में मुनिदीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रवणबेलगोल' अभिलेख संख्यक ५५ के अनुसार प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम चतुर्मुखदेव था।[3] इन तीनों उल्लेखों के आधार पर प्रभाचन्द्र के मूलतः गुरु पद्मनन्दी सैद्धान्तिक थे। चतुर्मुखदेव के साथ उनका गुरु रूप में सम्बन्ध बाद में जुड़ा।

जीवन-वृत्त

आचार्य प्रभाचन्द्र ज्ञान पिपासु थे। विद्या ग्रहण करने के लिए वे दक्षिण से धारा नगरी में आए। वहां आचार्य माणिक्यनन्दी ने उन्हें प्रभावित किया, उन्हीं के चरणों में बैठकर आचार्य प्रभाचन्द्र ज्ञान की उपासना तन्मयता से करने लगे। आचार्य माणिक्यनन्दी न्याय-विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उनसे न्यायशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। आचार्य प्रभाचन्द्र के न्याय विषयक ग्रन्थों को पढ़ने से प्रतीत होता है वर्षों तक माणिक्यनन्दी से प्रभाचन्द्र ने विद्याभ्यास किया होगा। विद्यागुरु माणिक्यनन्दी के प्रति आचार्य प्रभाचन्द्र की गहरी निष्ठा थी। प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे उत्तम न्याय ग्रन्थ की रचना करते समय कृति के मंगलाचरण पद्य में आचार्य प्रभाचन्द्र भक्तिभावपूर्वक गुरु माणिक्यनन्दी का स्मरण करते हैं

शास्त्रंकरोमि वरमल्पतरावबोधो, माणिक्य-
नन्दीपदाब्जसदप्रसादात्।
अर्थं न किं स्फुटयति प्रकृतं लघीयाल्लोकस्य
भानुकरविस्फुरितादृगवाक्षः ॥२॥

---

१. गुरुः श्री नन्दीमाणिक्यो नन्दीताशेषसज्जनः।
नन्दतादुद्दुरितैकांतरजाजैनमतार्णवः ॥
श्रीपद्मनंदिसैद्धांतशिष्योनेकगुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्वलनन्दिपदे रतः ॥
(प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रशस्ति पत्र, पद्य संख्या ३-४)

२. इत्यायुद्धमुनीन्द्रसन्ततिनिधौ श्री मूलसंघे ततो
जातेनन्दिगण-प्रभेदविलसद्देशीगणे विश्रुते।
गोल्लाचार्यइति प्रसिद्ध-मुनिपोभूद्गोल्लदेशाधिपः।
पूर्वकेन च हेतुना भवभियादीक्षां गृहस्तसुधीः ॥११॥
अविद्धकर्णादिक पद्मनन्दी सैद्धान्तिकाख्योजनि यस्य लोके।
कौमारदेव-व्रतिताप्रसिद्धिर्जीयात्तु सो ज्ञान-निधिस्सुधीरः ॥१५॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्य यतिपश्चारित्रवारान्निधि-
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मा महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभाचन्द्राख्यो
मुनिराज-पण्डितवरः श्री कुण्डकुन्दान्वयः ॥१६॥
(श्रवणबेलगोल शिलालेख न. ४०)

३. श्रीधाराधिपभोजराज-मुकुट-प्रोताश्म-रश्मि-च्छटा
च्छाया-कुङ्कुम-पङ्क-लिप्त-चरणाम्भोजात-लक्ष्मीधवः।
न्यायाब्जाकरमण्डने दिनमणिश्शब्दाब्ज-रोदोमणि-
स्थेयात्पण्डित-पुण्डरिक-तरणि श्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः ॥
श्री चतुर्मुख-देवानां शिष्योधृष्यः प्रवादिभिः।
पण्डित श्री प्रभाचन्द्रो रूदवादि-गजाङ्कुशः।
(जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, पृ. ११८)

माणिक्यनन्दी और आचार्य प्रभाचन्द्र का साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध उक्त पद्यों से सिद्ध होता है।

साहित्य

आचार्य प्रभाचन्द्र का जैसा नाम था वैसी ही उनकी निर्मल साहित्यिक प्रभा थी। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने टीका ग्रन्थों की रचना अधिक की। उनके ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

प्रमेयकमलमार्तण्ड टीका आचार्य माणिक्यनन्दी के 'परीक्षामुख' पर बारह हजार (१२,०००) श्लोक परिमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक यह वृहत् टीका ग्रन्थ है। प्रमेयरूपी कमलों को विकसित करने के लिए यह ग्रन्थ सूर्य के समान है। इस ग्रन्थ की रचना परमार नरेश भोज के राज्यकाल में हुई।[४] इस ग्रन्थ के अध्ययन से रचनाकार के प्रकाण्ड पाण्डित्य की सूचना मिलती है।

न्यायकुमुदचन्द्र टीका भट्ट अकलङ्क की लघीयस्त्रयी पर न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ की रचना हुई। यह सोलह हजार (१६०००) श्लोक परिमाण विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ है। इसमें दार्शनिक विषयों की गम्भीर सामग्री उपलब्ध है। इस ग्रन्थ की रचना परमार नरेश के उत्तराधिकारी जयसिंह देव के राज्यकाल में हुई।[५]

महापुराण टिप्पण पुष्पदन्तकृत महापुराण ग्रन्थ पर आचार्य प्रभाचन्द्र ने महापुराण टिप्पणक लिखा।[६] पुष्पदन्त महापुराण के दो भाग हैं आदि पुराण, उत्तर पुराण। आचार्य प्रभाचन्द्र के आदि पुराण टिप्पण की १६५० श्लोक संख्या और उत्तर पुराण टिप्पण की १३५० श्लोक संख्या है। महापुराण टिप्पण की कुल श्लोक संख्या ३३०० है। इस महापुराण टिप्पण ग्रन्थ की रचना आचार्य प्रभाचन्द्र ने परमार नरेश भोज के उत्तराधिकारी श्री जयसिंहदेव के राज्य में की।[७]

आराधना कथाकोष आचार्य प्रभाचन्द्र का आराधना कथाकोष गद्य रचना है। इसकी रचना भी उन्होंने श्री जयसिंहदेव के राज्य में की।[८]

शब्दाम्भोज भास्कर आचार्य प्रभाचन्द्र के इस शब्दाम्भोज भास्कर ग्रन्थ की जानकारी श्रवणबेलगोल के संख्यक ४० के अभिलेख में है। यह ग्रन्थ जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है।[९] वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका, क्रियाकलाप टीका, समाधि तन्त्र टीका, आत्मानुशासन तिलक, द्रव्यसंग्रह पंजिका, प्रवचन सरोज भास्कर, सर्वार्थसिद्धि टिप्पण आदि ग्रन्थ भी प्रभाचन्द्र के माने गए हैं।

अष्ट पाहुड़-पंजिका, स्वयंभू-स्तोत्र-पंजिका, देवागम-पंजिका आदि ग्रन्थ प्रभाचन्द्राचार्य के होने चाहिए ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

---

४. "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठि-पदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलद्वेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योत-परीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।"
(प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रशस्ति)

५. श्रीजयसिंहदेवराज्ये।
(न्यायकुमुदचन्द्र पुष्पिका)

६. प्रणम्य वीरं विबुधेन्द्रसंस्तुतं निरस्तदोषं वृषभं महोदयम्।
पदार्थसंदिग्धजनप्रबोधकं महापुराणस्य करोमि टिप्पणम्॥
(महापुराण टिप्पण प्रारम्भिक पद्य)

७. श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामल पुण्य निराकृतनिखिलमकलङ्केन श्री मत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन महापुराण टिप्पणकं शत त्र्यधिकं, सहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।
(महापुराण टिप्पण प्रशस्ति)

८. श्री जयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापर-मेष्ठि-प्रणामोपार्जितामल पुण्य निराकृतनिखिलमकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन आराधना-सत्कथाप्रबन्धः कृतः।
(आराधना कथाकोष)

९. इति प्रभाचन्द्रविरचिते शब्दाम्भोजभास्करे जैनेन्द्रव्याकरणमहान्यासे तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।
(शब्दाम्भोजभास्कर-पुष्पिका)

समय-संकेत

आचार्य वादिदेव ने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' ग्रन्थ (ई. सन् १११८) में प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड का नामोल्लेख-पूर्वक प्रतिवाद किया है, अतः वादिदेव से प्रभाचन्द्र पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

आचार्य वादिराज ने अपने पार्श्वनाथ चरित्र (ई. सन् १०२५) में विद्यानन्द आदि कई प्रभावक आचार्यों का उल्लेख किया है परन्तु उसमें प्रभाचन्द्र का उल्लेख नहीं है, अतः प्रभाचन्द्राचार्य का समय विद्वान् वादिराज से उत्तरांश में सम्भव है।

आचार्य माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र का साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध था। माणिक्यनन्दी वि. की ११वीं सदी के विद्वान् थे।

आधुनिक शोध विद्वानों ने कई प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर प्रभाचन्द्राचार्य का समय ई. सन् ९८० से १०६५ तक मान्य किया है।[१०] अतः प्रभाचन्द्राचार्य वी. नि. १६वीं (वि. ११वीं एवं १२वीं) शताब्दी के विद्वान् अनुमानित होते हैं।

---

१०. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना, पृ. १९।

८३. निष्कारण उपकारी आचार्य नेमिचन्द्र (सिद्धान्त-चक्रवर्ती)

दिगम्बर परम्परा के ख्यातिप्राप्त आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त विषय के पारगामी विद्वान् थे। सैद्धान्तिक ज्ञान के आधार पर उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती का अलंकरण प्राप्त था। गोम्मटसार नामक सैद्धान्तिक कृति उनकी अत्यधिक प्रसिद्ध रचना है। वे संस्कृत टीकाकार नेमिचन्द्र तथा द्रव्यसंग्रह के रचयिता नेमिचन्द्र से भिन्न थे।

गुरु-परम्परा

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र मूलसंघ देशीय गण के विद्वान् थे। उन्होंने अभयनन्दी, वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी का अपनी कृतियों में गुरु रूप में स्मरण किया है।[1] लब्धिसार कृति में उन्होंने अपने को वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी का वत्स और अभयनन्दी का शिष्य बताया है।[2] डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अभिमत से अभयनन्दी के वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी और नेमिचन्द्र ये तीनों शिष्य थे।[3] वय और ज्ञान में लघु होने के कारण नेमिचन्द्र ने वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी से अध्ययन किया होगा। इस अभिमत के आधार पर नेमिचन्द्र के अभयनन्दी गुरु थे। वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी उनके विद्या गुरु सम्भव हैं।

'सत्त्वस्थान' के रचनाकार आचार्य कनकनन्दी का भी गुरु के रूप में आचार्य नेमिचन्द्र ने स्मरण किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कनकनन्दी द्वारा रचित 'सत्त्वस्थान' पूर्ण रूप से संकलित है।[4]

जीवन-वृत्त

आचार्य नेमिचन्द्र दक्षिण के विद्वान् थे। उनके जन्मस्थान, वंश एवं गृहस्थ जीवन सम्बन्धी सामग्री अनुपलब्ध है। मुनि जीवन में उन्होंने सैद्धान्तिक ज्ञान गुरुजनों से ग्रहण किया। उनके गुरु आचार्य अभयनन्दी, वीरनन्दी, इन्द्रनन्दी, कनकनन्दी सैद्धान्तिक विषय के निष्णात विद्वान् थे। नेमिचन्द्र ने सिद्धान्त रूपी अमृतसमुद्र से चन्द्रमा की भाँति वीरनन्दी का उद्भव माना है और इन्द्रनन्दी को श्रुतसमुद्र पारगामी जैसे उच्च विशेषण से विशेषित किया है। कनकनन्दी ने भी इन्द्रनन्दी से सकल सिद्धान्त को ग्रहण किया। इन्द्रनन्दी ने श्रुतावतार ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ जैनाचार्यों के कालक्रम को जानने में सहायक है।

आचार्य नेमिचन्द्र की बौद्धिक क्षमता असामान्य थी। वे स्वयं अपनी बुद्धि का परिचय देते हुए लिखते हैं

जह चक्केण य चक्की, अखण्डं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया, छक्खण्डं साहियं सम्मं ॥३९७॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

चक्रवर्ती जैसे अपने चक्ररत्न से निर्विघ्नतया भारत के छह खण्डों को अपने अधीन कर लेता है उसी प्रकार मैंने बुद्धि चक्र से 'षट्खण्डागम' सिद्धान्त को सम्यक्तया अधीन कर लिया है अर्थात् ग्रहण कर लिया है।

आचार्य नेमिचन्द्र, षट्खण्डागम, धवला, जयधवला जैसे गम्भीर ग्रन्थों के अधिकारी विद्वान् थे। इन ग्रन्थ सूत्रों की जो व्याख्याएं उन्होंने प्रस्तुत कीं वे उत्तरवर्ती विद्वानों के लिए आधारभूत बनीं।

गङ्ग नरेश जगदेक वीर, धर्मावतार, राजमल्ल-सत्य

---

१. णमिऊण अभयणंदिं सुदसायरपारगिंदणंदि गुरु।
वरवीरणंदिणाहं पयडीण पच्चयं वोच्छं ॥७८५॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

२. वीरिंदणंदिवच्छेण पयसुदेणभयणंदि सिस्सेण।
दंसणचरित्तलद्धीसु सुयिया णेमिचंदेण ॥६४८॥
(लब्धिसार)

३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. ४१६

४. वरइंदणंदि गुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्धंतं।
सिरिकणयणंदि गुरुणा सत्तट्ठाणं समुद्दिट्ठं ॥३९६॥
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

वाक्य चतुर्थ का प्रधानमन्त्री और महासेनापति चामुण्डराय आचार्य नेमिचन्द्र का परम भक्त था। राजमल्ल-सत्य वाक्य चतुर्थ गङ्ग नरेश मारसिंह का उत्तराधिकारी था।

गङ्ग नरेशों ने लगभग एक सहस्र वर्ष तक उस समय में सुप्रसिद्ध गङ्गवाड़ी स्थान (वर्तमान में कर्णाटक का अधिकांश भू-भाग) पर शासन किया। गङ्गवंश राज्य में आदि से अन्त तक जैन धर्म की कड़ी जुड़ी रही। गङ्गवंश राज्य के संस्थापक नरेश दद्दिग और माधव को राज्यपदारोहण के समय जैनाचार्य सिंहनन्दी का आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन प्राप्त था। इस राज्य के पतन की घड़ियों में एक बार पुनः प्राण फूंकने वाला तथा राज्य श्री शोभा को उन्नति के शिखर पर आरूढ़ करने वाला महामात्य चामुण्डराय था। चामुण्डराय कुशल राजनीतिज्ञ, सुदक्ष सैन्य संचालक, परम स्वामी भक्त, कला मर्मज्ञ और कलाकारों का प्रश्रयदाता था। वह कन्नड़, संस्कृत, प्राकृत भाषा का विद्वान् था। वह जैन धर्म का महान् उपासक था। वह योद्धा था। उसे समरधुरन्धर, सुभटचूड़ामणि, भुजविक्रम, वीरमार्तण्ड, समरकेशरी, रणरङ्गसिंह जैसी उपाधियां प्राप्त थी। वह धर्मवीर भी था। गोम्मटसार में उसे 'सम्मत्तरयणनिलय' (सम्यक्त्वरत्ननिलय) 'गुणरयणभूषण' (गुणरत्नभूषण) जैसे विशेषणों से आचार्य नेमिचन्द्र ने विशेषित किया। महामात्य की सत्यनिष्ठा जनता के लिए आदर्श रूप थी।

चामुण्डराय अजितसेनाचार्य का शिष्य था। आचार्य अजितसेन के गुरु आर्यसेन थे। अजितसेनाचार्य ने कन्नड़ में त्रिषष्टिशलाकापुरुष पुराण की रचना ईस्वी सन् ९९८ में की। आचार्य नेमिचन्द्र ने उनको गोम्मटसार में गुण समूह के धारक 'भुवन गुरु' कहकर सम्बोधित किया है। अजितसेनाचार्य को अपना धर्म गुरु मानता हुआ भी चामुण्डराय आचार्य नेमिचन्द्र के सम्पर्क में आकर उनका निष्ठावान् उपासक बन गया।

महामात्य चामुण्डराय का एक नाम गोम्मट था। नरेश राजमल्ल द्वारा उसे रायसंज्ञक उपाधि मिली। अतः महामात्य चामुण्डराय का ही दूसरा नाम गोम्मटराय था। महामात्य के इस नाम के आधार पर उनके द्वारा बनवाई गई बाहुबलीजी की विशालकाय मूर्ति गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य नेमिचन्द्र ने अपनी एक सैद्धान्तिक कृति का नाम गोम्मटसार रखा।

चामुण्डराय स्वयं विद्वान्, सिद्धान्तों का ज्ञाता, कवि और ग्रन्थ रचनाकार भी था। उसने कन्नड़ भाषा में चामुण्डराय पुराण रचा। वह गद्य ग्रन्थों में सबसे प्राचीन माना गया है। यह ग्रन्थ शक संवत् ९००, वी. नि. १५०५ (वि. १०३५) में सम्पन्न हुआ।

चामुण्डराय जैसे महामात्य और सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य के योग से जैन शासन की महती प्रभावना हुई।

साहित्य

आचार्य नेमिचन्द्र ने षटखण्डागम, धवला व जयधवला का आधार लेकर सैद्धान्तिक ग्रन्थों का निर्माण किया। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

गोम्मटसार यह षट्खण्डागम का सार संग्रह ग्रन्थ है।[५] इसके दो भाग हैं (१) जीवकाण्ड, (२) कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में ७३४ और कर्मकाण्ड में ९६२ पद्य हैं। जीवकाण्ड नामक प्रथम अधिकार में जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बंध स्वामीत्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड इन पांच विषयों के अन्तर्गत गुणस्थान, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा आदि जीव की अनेक अवस्थाओं का वर्णन है। कर्मकाण्ड के ९ अधिकारों में जैन दर्शन सम्मत कर्म सम्बन्धी मान्यताओं को विस्तार से समझाया गया है।

दिगम्बर साहित्य में गोम्मटसार सैद्धान्तिक विषय की प्रामाणिक कृति है।

त्रिलोकसार यह करणानुयोग ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के ६ अधिकार हैं (१) लोकसामान्याधिकार, (२)

५. गोम्मट संगहसुत्तं गोम्मटसार कर्मकाण्ड ॥७३९॥

भावनाधिकार, (३) व्यन्तर लोकाधिकार, (४) ज्योतिष-लोकाधिकार, (५) वैमानिक लोकाधिकार, (६) मनुष्यतिर्यक् लोकाधिकार।

ग्रन्थ के इन अधिकारों में ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्लोक, अधःलोक का वर्णन तथा भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक इन चारों प्रकार के देवों की गति, आयु तथा आवास आदि की पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत है। मनुष्य, तिर्यक् लोकाधिकार में जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड आदि मनुष्य क्षेत्र का विस्तार से प्रतिपादन है। यतिवृषभ कृत 'तिलोयपण्णति' (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) एवं तत्त्वार्थ वार्तिक के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है। ग्रन्थ की पद्य संख्या १०१८ है। गोम्मटसार की भांति यह ग्रन्थ भी चामुण्डराय के लिए निर्मित हुआ बताया जाता है। पण्डित टोडरमलजी की इस ग्रन्थ पर हिन्दी टीका है। पण्डितजी ने ग्रन्थ गत गणित विषय को सम्यक् प्रकार से समझाया है। संस्कृत टीका सहित यह ग्रन्थ माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

त्रिलोकसार आचार्य नेमिचन्द्र की सिद्धान्त विषयक प्रशस्त रचना है।[६]

लब्धिसार इस ग्रन्थ की रचना कषायपाहुड (कषाय प्राभृत) और जयधवला टीका के आधार पर हुई है। इस ग्रन्थ के दर्शनलब्धि प्रकरण में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पांच लब्धियों का वर्णन है। प्रथम चार लब्धियां भव्य और अभव्य दोनों में मानी गई हैं। पांचवीं करणलब्धि भव्य जीवों के ही होती है। सम्यक्त्व रत्न की उपलब्धि करणलब्धि के अभाव में नहीं होती। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों का विस्तारपूर्वक विवेचन इस अधिकार में है। चरित्रलब्धि नामक द्वितीय अधिकार में क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक चरित्र का सम्यक् प्रतिपादन है।

क्षपणासार इसमें कर्मक्षय करने की प्रक्रिया निरूपित है। इसमें कुल ६५३ गाथाएं हैं। यह ग्रन्थ गोम्मटसार का परिशिष्ट जैसा प्रतीत होता है।

समय-संकेत

सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने अपनी कृतियों में कहीं सन्, संवत्, समय का संकेत नहीं किया है। सुप्रसिद्ध महामात्य चामुण्डराय के ग्रन्थ के आधार पर आचार्य नेमिचन्द्र के समय को जाना जा सकता है। प्रधानमन्त्री चामुण्डराय ने अपना चामुण्डपुराण शक संवत् ६०० वी. नि. १५०५ (वि. १०३५) में सम्पन्न किया था। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार कृति की रचना महामात्य की प्रार्थना पर की। अतः चामुण्डरायपुराण में प्राप्त संवत् समय के आधार पर गोम्मटसार कृति के रचनाकार सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र वी. नि. की १५वीं-१६वीं (वि. की ११वीं) सदी के विद्वान् हैं।

गोम्मटसार कृति पर जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के रचनाकार आचार्य नेमिचन्द्र ईस्वी सन् १६वीं शताब्दी के विद्वान् माने गए हैं। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र एवं संस्कृत टीकाकार आचार्य नेमिचन्द्र में लगभग ५०० वर्षों का अन्तर है।

---

६. इदि णेमिचन्द मुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसार खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥१०१८॥
(त्रिलोकसार)

८४-८५. जग-वत्सल आचार्य जिनेश्वर और आचार्य बुद्धिसागर

जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि युगल बन्धु सुविहितमार्गी श्वेताम्बर विद्वान् थे। जिनेश्वरसूरि समर्थ व्याख्याता एवं प्रमाणशास्त्र प्रबन्धकों के रचनाकार थे। बुद्धिसागरसूरि आगम साहित्य के विशिष्ट ज्ञाता, शास्त्रविहित क्रिया में निष्ठाशील एवं व्याकरण शास्त्र के प्रणेता थे। पाटण नरेश दुर्लभराज, पुरोहित सोमेश्वर, तत्रस्थ याज्ञिकों एवं शैवाचार्य ज्ञानदेव को अपने वर्चस्व से विशेष प्रभावित कर पाटण में सुविहितमार्गी मुनियों के लिए आवागमन की सुलभता प्राप्त करने का श्रेय इन युगल बन्धु मुनियों को है।

गुरु-परम्परा

जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के गुरु चान्द्रकुल बड़गच्छ के आचार्य वर्धमानसूरि थे। वर्धमानसूरि सपाद देश कूर्चपुर में चैत्यवासी आचार्य थे। इनका ८४ जिन मन्दिरों पर प्रभुत्व था पर विशुद्ध चरित्र क्रिया का पालन करने के लिए उन्होंने चैत्यवासी परम्परा का त्याग कर वनवासी परम्परा के आचार्य उद्द्योतनसूरि की सुविहित परम्परा को स्वीकार किया। इसी सुविहित परम्परा में वर्धमानसूरि से जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि ने मुनि दीक्षा ग्रहण की, अतः इन दोनों के दीक्षागुरु वर्धमानसूरि एवं वर्धमानसूरि के गुरु उद्द्योतनसूरि थे। इस समय सपाद लक्ष देश में अल्लराजा के पौत्र भुवनपाल का शासन था।

जीवन-वृत्त

ब्राह्मण पुत्र श्रीधर और श्रीपति युगल बन्धु वेदविद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वे १४ विद्याओं के ज्ञाता थे। स्मृति, इतिहास, पुराण का उन्हें गम्भीर अध्ययन था। एक बार देश-देशान्तर की यात्रा करने के लिए दोनों ने अपनी जन्मभूमि से प्रस्थान किया। घूमते-घूमते युगल विद्वान् धारानगरी में पहुंच गए। धारा मालव की राजधानी थी। वह अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय नगरी थी। उसका अपार वैभव शैल-शिखरों को छू रहा था। नरेश भोज का वहां शासन था। श्री सम्पन्न श्रेष्ठी लक्ष्मीधर उसी नगरी का ख्याति-प्राप्त नागरिक था। एक दिन श्रेष्ठी के घर में आग लग गई। घर की दीवारों पर २० लाख के सिक्कों का लेनदेन लिखा हुआ था। आग की ज्वालाओं से वह सारा जल गया। लक्ष्मीधर इस घटना से अत्यधिक चिन्तित हुआ। संयोग से श्रीधर और श्रीपति युगलबन्धु भिक्षार्थ इधर-उधर घूमते हुए लक्ष्मीधर के घर पर पहुंच गए। ये दोनों बन्धु पहले भी कई बार इस स्थान पर आए थे। लक्ष्मीधर श्रेष्ठी ने इन विद्या सम्पन्न, रूप सम्पन्न ब्राह्मण पुत्रों को यथेप्सित भिक्षा देकर सन्तुष्ट किया था। इस बार इन दोनों ने श्रेष्ठी लक्ष्मीधर को चिन्तित देखकर उसकी उदासी का कारण जानकर उससे कहा, "महानुभाव! आप खिन्न न बनो, हम पहले जब भिक्षा के लिए यहां आए थे तब हमने दीवारों पर लिखे अभिलेखों को पढ़ा था। वह हमें पूर्णतः याद है।" दोनों ने तिथि, वार, संवत् सहित सारा लेखा-जोखा लिखकर श्रेष्ठी के सामने प्रस्तुत किया। लक्ष्मीधर उनकी स्मरण शक्ति पर प्रसन्न हुआ। भोजन, वस्त्र आदि विपुल दान देकर उनका सम्मान किया। श्रेष्ठी ने सोचा शान्त प्रकृति, जितेन्द्रिय, बुद्धि बल के धनी इन ब्राह्मण पुत्रों के योग से जैन-दर्शन की महान् प्रभावना सम्भव है। संयोग से वर्धमानसूरि का पदार्पण धारा नगरी में हुआ। श्रेष्ठी लक्ष्मीधर इन दोनों ब्राह्मण पण्डितों को अपने साथ लेकर वर्धमानसूरि के पास गया; वन्दना की एवं हाथ जोड़कर उनके उपपात में सब बैठ गए। वर्धमानसूरि श्रेष्ठ लक्षण युक्त इन ब्राह्मण पुत्रों को देखकर प्रसन्न हुए। धर्ममूर्ति वर्धमानसूरि के दर्शन कर इन ब्राह्मण पुत्रों के हृदय में वैराग्य भाव का उदय हुआ। श्रेष्ठी लक्ष्मीधर से इनका पूरा परिचय प्राप्त कर वर्धमानसूरि ने दोनों को मुनि दीक्षा प्रदान की। इन दोनों की

दीक्षा में लक्ष्मीधर श्रेष्ठी की प्रबल प्रेरणा थी। दीक्षा देने के बाद योग वहनपूर्वक इनको वर्धमानसूरि ने सिद्धान्तशास्त्र का प्रशिक्षण दिया एवं कुछ समय के बाद इनको योग्य समझकर इनकी नियुक्ति सूरिपद पर की।

एक बार युगलबन्धु वर्धमानसूरि का आशीर्वाद एवं समुचित मार्गदर्शन प्राप्त कर गुजरात प्रदेशान्तर्गत पाटण पधारे। पाटण में सुविहितमार्गियों के लिए प्रवेश सुगम नहीं है यह उन्हें वर्धमानसूरि से पहले ही ज्ञात थी। गुजरात राज्य की वि. सं. ८०२ में नींव डालने वाला वनराज चावड़ा चैत्यवासी श्रमणों का परम भक्त था। राज्याभिषेक के अवसर पर उन्हें चैत्यवासी शीलगुणसूरि एवं देवचन्द्रसूरि से वासक्षेपपूर्वक आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, तब से वनराज चावड़ा ने ताम्रपत्र में लिखित आदेश दिया चैत्यवासी श्रमणों की सहमति से ही अन्य श्रमण पाटण में रह सकते हैं। उस समय से चैत्यवासी मुनियों का पाटण में वर्चस्व बढ़ गया और सुविहितमार्गी मुनियों का आवागमन तब से बन्द हो गया। जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि को भी पाटण में कहीं ठहरने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं मिला। दोनों बन्धु आखिर सोमेश्वर देव पुरोहित के घर पहुंचे। पुरोहित सोमेश्वर इन दोनों के शिष्ट व्यवहार एवं मधुर वचनों को सुनकर प्रसन्न हुआ एवं बैठने के लिए आसन दिया। स्वयं कम्बल बिछाकर उनके सामने बैठ गया। युगलबन्धु पुरोहित को आशीर्वाद प्रदान करते हुए बोले

अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं नहि तस्यास्ति वेत्ता
शिवो ह्यरुपी स जिनोऽवताद् वः ॥५७॥

जो बिना हाथ पैर और मन के भी ग्रहण करता है, नयन बिना भी देखता है, बिना कर्ण के भी सुनता है, सकल विश्व को जानता है पर उसे कोई नहीं जानता, वह अमूर्त्त शिव जिनेश्वर देव संरक्षण प्रदान करें।

वेद, उपनिषद् और जैन की मान्यता की अभिव्यक्ति देने वाले प्रस्तुत श्लोक श्रवण से पुरोहित सोमेश्वर नत-मस्तक हो गया। उसने पूछा, "आप कहां ठहरे हैं?" युगलबन्धुओं ने कहा "सुविहितमार्गी मुनियों के लिए यहां स्थान सुलभ नहीं है।"

समग्र स्थिति को अच्छी तरह से जानकर सोमेश्वर ने उन दोनों की व्यवस्था अपने मकान में की। पाटण के याज्ञिक स्मार्त और अग्निहोत्री ब्राह्मण भी इन मुनियों की ख्याति सुनकर आए और इनका उपदेश सुनकर सन्तुष्ट हुए। पाटण नरेश दुर्लभराज भी इन मुनियों के त्याग, तपोबल एवं प्रज्ञाबल से प्रभावित हुआ। चैत्यवासी श्रमणों ने इनका विरोध किया और कहा

चैत्यगच्छयतिव्रातसम्मतो वसतान्मुनिः।
नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्यं तदसम्मतैः॥७६॥
राज्ञां व्यवस्था पूर्वेषां पाल्या पाश्चात्यभूमिपैः।
यदादिशसि तत्कार्यं राजन्नेवंस्थिते सति ॥७७॥

हे राजन्! हमें वनराज चावड़ा के समय से ही यह लिखित आदेश प्राप्त है। यहां चैत्यवासी मुनियों की सहमति के बिना अन्य गच्छ के श्रमण ठहर नहीं सकते। पूर्व राजाओं का आदेश पश्चात्वर्ती राजाओं के लिए पालनीय होता है।

पाटण नरेश बोला "पूर्व राजाओं की आज्ञा हमारे लिए अलंघनीय है, पर पाटण में समागत गुणीजनों का सम्मान करना हमारा कर्त्तव्य है, अतः आपको अपनी सहमति इस कार्य के लिए प्रदान करनी चाहिए।

इस प्रकार चैत्यवासी श्रमणों को समझाकर और उनसे सहमति प्राप्त कर दुर्लभराज ने सुविहितमार्गी मुनियों को आवागमन की सुविधा प्रदान की और पुरोहित सोमेश्वरदेव तथा शैवाचार्य ज्ञानदेव के सहयोग से उन्हें स्थान प्राप्त हुआ। पट्टावलियों के उल्लेखानुसार चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करने के कारण जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि को नरेश दुर्लभराज के द्वारा खरतरगच्छ की उपाधि प्राप्त हुई थी।[1]

---

१. दससय चउवीसे वच्छरे ते आयरिया मच्छरिणो हारिया। जिणेसरसूरिणां जियं। रन्ना तुट्ठेण खरतर इइ विरुदं दिन्न। तओ परं खरतरगच्छो जाओ।
(खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पत्रांक ६०)

कई पट्टावलीकार इस घटना का समय विक्रम संवत् १०२४ और कई पट्टावलीकार वि. सं. १०८० मानते हैं। इतिहासकारों के अभिमत से पाटण में वि. सं. १०७८ से ११२० तक नरेश भीम का शासन था, अतः दुर्लभराज के द्वारा पाटण में वि. सं. १०८० में 'खरतरगच्छ' की उपाधि प्रदान करने का समय ठीक प्रतीत नहीं होता।

खरतरगच्छ के संस्थापक जिनेश्वरसूरि हैं या जिनदत्तसूरि इस विषय की समीक्षा 'जैन परम्परा नो इतिहास' पुस्तक पृष्ठ ४४२ पर है। उसका सार-संक्षेप इस प्रकार है

प्रभावक चरित्र अनुसार जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के त्याग-तपोबल एवं प्रज्ञाबल से प्रभावित होकर एवं चैत्यवासियों से सहमति प्राप्त कर पाटण नरेश ने सुविहितमार्गी मुनियों को आवागमन की एवं स्थान की सुविधा प्रदान की, परन्तु शास्त्रार्थ विजय के कारण खरतरगच्छ की उपाधि का उल्लेख इस प्रसंग पर नहीं है।

जिनेश्वरसूरि की शिष्य परम्परा के प्रभावी आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में अपने को चन्द्रकुलीन सुविहितमार्गी वर्धमानसूरि का प्रशिष्य एवं जिनेश्वरसूरि का शिष्य बताया है, परन्तु उन्होंने खरतरगच्छ का उल्लेख नहीं किया।

पण्डित सुमतिगणि ने गणधरसार्धशतक की वृहद्वृत्ति में जिनेश्वरसूरि का चरित्र वर्णन किया पर उसमें भी खरतरगच्छ का उल्लेख नहीं है।

महोपाध्याय जिनपति कृत युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में एवं खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में भी जिनेश्वरसूरि के साथ खरतरगच्छ का उल्लेख नहीं है।

जिनेश्वरसूरि की परम्परा के उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्य देवभद्रसूरि, वर्धमानसूरि, पद्मप्रभसूरि आदि ने ग्रन्थों में अपने को बड़गच्छ का लिखा है और जिनदत्तसूरि की परम्परा के आचार्य अपने को खरतरगच्छ का कहकर परिचय देते हैं।

खरतरगच्छ की परम्परा में वर्तमान में भी जिनेश्वरसूरि को नहीं जिनदत्तसूरि को दादा गुरु (गच्छ के आदिपुरुष) के रूप में सम्बोधित करते हैं। अनेक स्थानों पर दादा बाड़ी का निर्माण जिनदत्तसूरि के नाम पर हुआ है।

जिनदत्तसूरि से पहले किसी भी ग्रन्थ और शिलालेख में जिनेश्वरसूरि के साथ खरतरगच्छ का उल्लेख नहीं मिलता।

इसी प्रकार जिनदत्तसूरि (वि. सं. १२०४-१२११) ने भी अपनी कृति गणधरसार्धशतक में जिनेश्वरसूरि द्वारा चैत्यवासियों को पराजित किए जाने का उल्लेख किया है, पर खरतर विरुद दिए जाने का उल्लेख नहीं किया है।

खरतरगच्छ के प्रथम आचार्य जिनदत्तसूरि थे। उन्होंने विक्रम संवत् १०२४ में खरतरगच्छ की स्थापना की। खरतरगच्छ आज भी उनके उपकार को मानता है और दादा गुरु कहकर उनका सम्मान करता है।

एक मान्यता यह भी है पाटण नरेश दुर्लभराज द्वारा जिनेश्वरसूरि को शास्त्रार्थ विजय में खरा शब्द का सम्बोधन दिया था। इस खरा शब्द के आधार पर ही वर्धमानसूरि और जिनेश्वरसूरि का यह संघ खरतर नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उक्त प्रसंग जानकारी की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। खरतरगच्छ का सम्बन्ध दोनों में से किसी आचार्य के साथ रहा हो पर जिनेश्वरसूरि का स्थान प्रभावक आचार्यों में महत्त्वपूर्ण है। प्रभावक चरित्र में जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का वर्णन है, उसमें जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि का विस्तृत परिचय है। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि भी उन्हीं की शिष्य परम्परा के प्रभावी शिष्य थे।

महापराक्रमी राजा वनराज के समय से ही पाटण में चैत्यवासियों का दबदबा होने के कारण सुविहितमार्गी मुनियों के लिए वहां प्रवेश पाना कठिन था। पाटण नरेश दुर्लभराज की सभा में जिनेश्वसरसूरि की इस शास्त्रार्थ विजय के बाद यह समस्या मिट गई। सबके लिए वहां आना-जाना सुगम हो गया।

साहित्य

जिनेश्वरसूरि एवं बुद्धिसागरसूरि दोनों रचनाकार थे। जिनेश्वरसूरि ने कथात्मक, विवरणात्मक एवं प्रमाण

विषयक ग्रन्थों की रचना की। बुद्धिसागरसूरि ने व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण किया। इन युगल बन्धुओं के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

कथानक कोष, पंचलिंगी प्रकरण, षट्स्थान प्रकरण (छट्ठाण पयरण), प्रमालक्ष्मवृत्ति, अष्टप्रकरणवृत्ति, लीलावती कथा, चैत्यवन्दन टीका आदि ग्रन्थों की रचना जिनेश्वरसूरि की है।

(१) कथानक कोष की रचना डीडुआणक (डीडवाना) ग्राम में हुई है। यह प्राकृत रचना है। इसमें उपदेशात्मक ४० कथाएं हैं। इन कथाओं में उनकी प्रखर बुद्धि के दर्शन होते हैं।

(२) पंचलिंगी प्रकरण इसमें सम्यक्त्व के लक्षणों का वर्णन है। यह एक सैद्धान्तिक कृति है। इसकी १०१ गाथा है।

(३) षट्स्थान प्रकरण इसके १०४ पद्य हैं। यह ग्रन्थ छह स्थानकों में विभाजित है। इन स्थानकों में श्रावक के गुणों का वर्णन है। यह एक सैद्धांतिक कृति है। इस ग्रन्थ पर अभयदेवसूरि ने १६३८ श्लोक परिमाण भाष्य का निर्माण किया एवं धारापद्र गच्छीय शान्तिसूरि ने टीका रचना की।

(४) प्रमालक्ष्मवृत्ति इस ग्रन्थ का चार हजार पद्य परिमाण है। इस कृति के मूल पद्य ४०५ हैं। यह प्रमाण विषयक प्रशस्त रचना है। इसमें जिनेश्वरसूरि की दार्शनिक प्रतिभा का परिचय मिलता है।

(५, ६) अष्टप्रकरणवृत्ति एवं चैत्यवन्दन टीका इन दोनों की रचना जवालिपुर (जालौर) में हुई। अष्टप्रकरण वृत्ति हरिभद्रसूरि कृत अष्टप्रकरण की व्याख्या है। इसे हरिभद्रीय अष्टप्रकरण वृत्ति भी कहते हैं। इस कृति का रचनाकाल वि. १०८० है।

(७) लीलावती कथा इस कथा का निर्माण आशापल्ली में विक्रम सम्वत् १०८२ से ८५ तक में हुआ है। यह प्राकृत पद्यमयी रचना है। इस कथा का पद लालित्य आकर्षक है। श्लेषादि विविधालंकारों से मण्डित प्रस्तुत लीलावती (लीलावईकहा) की रचना चैत्यवन्दन टीका से पहले की है। मूलरूप में यह कथा अनुपलब्ध है। जिनेश्वरसूरि द्वारा इस कथा का सार रूप संस्कृत भाषा में निबद्ध है।

समय-संकेत

जिनेश्वरसूरि रचित अष्टप्रकरणवृत्ति की रचना का समय वी. नि. १५५० (वि. १०८०) और लीलावती कथा की रचना वी. नि. १५५२ से १५५५ (वि. १०८२ से १०८५) तक बताया गया है। पंचलिङ्गी प्रकरण का निर्माण वी. नि. १५५८ (वि. सं. १०८८) एवं कथाकोष का निर्माण वी. नि. १५७८ (वि. सं. ११०८) में हुआ है। बुद्धिसागरसूरि ने भी व्याकरण की रचना वी. नि. १५५० (वि. १०८०) में की थी। इन ग्रन्थों में प्राप्त संवत् समय के आधार पर स्पष्ट है जगवत्सल जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि वी. नि. १६वीं (वि. की ११वीं) शताब्दी के विद्वान् थे।

८६. आस्था-आलम्बन आचार्य अभयदेव (नवांगी टीकाकार)

अभयदेव नाम के कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत आचार्य अभयदेव की प्रसिद्धि नवाङ्गी टीकाकार के रूप में है। अभयदेव श्रमनिष्ठ आचार्य थे। संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व था। उनकी स्वाद-विजय की साधना दूसरों के लिए आदर्श थी।

गुरु-परम्परा

आचार्य अभयदेव चन्द्रकुलीन संविग्न परम्परा के (सुविहितमार्गी) श्री वर्धमानसूरि के प्रशिष्य एवं जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि के शिष्य थे।[1] वर्धमानसूरि प्रारम्भ में कूर्चपुर के चैत्यवासी थे। उनका चौरासी जिनमन्दिरों पर प्रभुत्व था। उद्द्योतनसूरि की परम्परा से प्रभावित होकर उन्होंने चैत्यवास का परित्याग किया और सुविहितमार्गी परम्परा को स्वीकार किया।[2]

जन्म एवं परिवार

आचार्य अभयदेव का जन्म वैश्य परिवार में वी. नि. १५४२ (वि. १०७२) में हुआ। इतिहास प्रसिद्ध मालव की धारानगरी उनकी जन्मभूमि थी। वे महीधर श्रेष्ठी के पुत्र थे। उनकी माता का नाम धनदेवी था। उनका नाम अभयकुमार था। धारा में उस समय नरेश भोज का शासन था।[3]

जीवन-वृत्त

आचार्य अभयदेव का विवेक बचपन से ही प्रबुद्ध था। धार्मिक संस्कारों की निधि उन्हें अपने परिवार से सहज उपलब्ध थी। धारा नगरी में एक बार जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि का पदार्पण हुआ। पिता महीधर के साथ बालक अभयकुमार ने उनका प्रवचन सुना। वैराग्य का रंग बालक के मन पर चढ़ गया। माता-पिता की आज्ञा लेकर अभयकुमार ने जिनेश्वरसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। आगमों का बाल मुनि ने गम्भीरता से अध्ययन किया। ग्रहण और आसेवन रूप विविध विद्याओं को गुरुजनों से उपलब्ध कर क्रियानिष्ठ श्रमण अभयदेव शासनकमल को विकसित करने के लिए भास्करवत् तेजस्वी प्रतीत होने लगे।[4] आचार्य वर्धमानसूरि के आदेश से जिनेश्वरसूरि ने उन्हें वी. नि. १५५८ (वि. १०८८) में आचार्य पद से अलंकृत किया। उस समय अभयदेवसूरि की उम्र सोलह

---

१. तथा च यदादावभिहितं स्थानाङ्गस्य महानिधानस्येवोन्मुद्राणमिवानुयोगः प्रारभ्यत इति तच्चन्द्र-कुलीन प्रवचन प्रणीताप्रतिबद्धविहारहारिचरित श्रीवर्धमानाभिधानमुनिपतिपादोपसेविनः प्रमाणादिव्युत्पादनप्रवणप्रकरणप्रबन्ध-प्रणयिनः प्रबुद्धप्रतिबन्धप्रबन्धू-प्रवीणाप्रतिहतप्रबन्धनार्थप्रधा-नबाकुप्रसरस्य सुविहितमुनिजनमुख्यस्य श्री जिनेश्वराचार्यस्य तदनुजस्य च व्याकरणादिशास्त्रकर्तुः श्रीबुद्धिसागराचार्यस्य चरणकमलचञ्चरीककल्पेन श्रीमदभयदेव-सूरिनाम्ना मया.....
(स्थानाङ्ग-वृत्ति)

२. तत्रासीत् प्रशमश्रीभिर्वर्द्धमानगुणोदधिः।
श्रीवर्द्धमान इत्याख्यः सूरिः संसारपारभूः ॥३३॥
चतुर्भिरधिकाशीतिश्चैत्यानां येन तत्यजे।
सिद्धान्ताभ्यासतः सत्यतत्त्वं विज्ञाय संसृतेः ॥३४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६२)

३. अस्ति श्रीमालवो देशः सद्वृत्तरसशालितः।
जम्बूद्वीपाख्यमाकन्दफलं सद्वर्णवृत्तसुः ॥४॥
तत्रास्ति नगरी धारा मण्डलाग्रोदितस्थितिः।
मूलं नृपश्रियो दुष्टविग्रहद्रोहशालिनी ॥५॥
श्रीभोजराजस्तत्रासीद् भूपालः पालितावनिः।
शेषस्येवापरे मूर्ती विश्वोद्धाराय यद्भुजौ ॥६॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६१)

४. स चावगाढसिद्धान्ततत्त्वप्रेक्षानुमानतः।
बभौ महाक्रियानिष्ठः श्रीसङ्घाम्भोजभास्करः ॥९७॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६४)

वर्ष की थी।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में प्राप्त उल्लेखानुसार जिनेश्वरसूरि ने श्री जिनचन्द्र और अभयदेव दोनों को गुण सम्पन्न समझकर सूरि पद पर नियुक्त किया था। वह उल्लेख इस प्रकार है

'जिनेश्वर सूरिभिः जिनचन्द्राभयदेवौ सूरिपदे निवेषितौ क्रमेणयुगप्रधानौ जातौ'

(खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली)

जिनचन्द्रसूरि और अभयदेवसूरि दोनों क्रमशः युगप्रधान बने।

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार अभयदेवसूरि महान् क्रियोद्धारक एवं संविग्न परम्परा के सूत्रधार वर्धमानसूरि के प्रशिष्य और जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे।

आचार्य अभयदेव सिद्धान्तों के गम्भीर ज्ञाता थे। आगमेतर विषयों का भी उन्हें विशद ज्ञान था। वर्धमानसूरि के स्वर्गवास के बाद की घटना है

पत्यपद्रपुर में रात्रि के समय आचार्य अभयदेव ध्यान में बैठे थे। टीका रचना की अन्तःप्रेरणा उनके मन में उत्पन्न हुई। प्रभावक चरित्र आदि ग्रन्थों के अनुसार यह प्रेरणा शासन-देवी की थी। निशीथकाल में ध्यानस्थ अभयदेव के सामने देवी प्रकट होकर बोली "मुने! आचार्य शीलांक एवं कोट्याचार्य विरचित टीका साहित्य में आचारांग और सूत्रकृतांग आगम की टीकाएं सुरक्षित हैं। अवशिष्ट टीकाएं काल के दुष्प्रभाव से लुप्त हो गई। अतः इस क्षतिपूर्ति के लिए संघ-हितार्थ आप प्रयत्नशील बनें एवं टीका रचना का कार्य प्रारम्भ करें।"[५]

अन्तर्मुखी आचार्य अभयदेव बोले "देवी! मेरे जैसे जड़मति व्यक्ति द्वारा सुधर्मा स्वामी कृत आगमों को पूर्णतः समझना भी कठिन है। अज्ञानवश कहीं उत्सूत्र की प्ररूपणा हो जाने पर यह कार्य सघन कर्मबन्ध का और अनन्त संसार की वृद्धि का निमित्त बन सकता है। शासन देवी के वचनों का उल्लंघन करना भी उचित नहीं है। अतः तुम्हारे द्वारा प्राप्त संकेत पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई है।"

आचार्य अभयदेव के असन्तुलित मन को समाधान प्रदान करते हुए देवी ने निवेदन किया "मनीषी-मान्य! सिद्धान्तों के समुचित अर्थ को ग्रहण करने में सर्वथा योग्य समझकर ही मैंने आपसे इस महत्त्वपूर्ण कार्य की प्रार्थना की है आगम पाठों की व्याख्या में जहां भी आपको सन्देह हो उस समय मेरा स्मरण कर लेना। मैं सीमंधर स्वामी से पूछकर आपके प्रश्नों को समाहित करने का प्रयत्न करूंगी।"

आचार्य अभयदेव को शासनदेवी के वचनों से सन्तोष मिला। आगम जैसे महान् कार्य में तपोबल की शक्ति आवश्यक है। यह सोच नैरन्तरिक आचाम्ल तप (आयंबिल) के साथ उन्होंने टीका रचना का कार्य प्रारम्भ किया।[६] वे एकनिष्ठा से अपने कार्य में लगे रहे। अपनी श्रमपरायण वृत्ति के कारण वे नौ अङ्गागमों पर टीका ग्रन्थों की रचना करने में सफल हुए। टीका रचना करने के बाद आचार्य अभयदेव का धवलकपुर में पदार्पण हुआ।

आत्मबल अनन्त होता है, पर शरीर की शक्ति सीमित होती है। नैरन्तरिक आचाम्ल तप और रात्रि जागरण से उन्हें कुष्ठ रोग हो गया। विरोधीजनों में अपवाद प्रसारित हुआ कुष्ठ रोग उत्सूत्र की प्ररूपणा का प्रतिफल है। शासनदेवी रुष्ट होकर उन्हें दण्ड दे रही है।

लोकापवाद सुनकर आचार्य अभयदेव का विश्वास डोल गया। अन्तर्चिंतन चला। रात्रि के समय उन्होंने धरणेन्द्र का स्मरण किया। शासन हितैषी धरणेन्द्र ने निद्रालीन उनके शरीर को चाटकर स्वस्थ बना दिया।

स्वप्नावस्था में आचार्य अभयदेव को प्रतीत हुआ 'विकराल काल ने मेरे शरीर को आक्रान्त किया है। इस स्वप्न के आधार पर आचार्य अभयदेव ने

---

५. अङ्गद्वयं विनाऽन्येषां कालादुच्छेदमाययुः।
वृत्तयस्तत्र संघानुग्रहाय कुरुयमम् ॥१०५॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६४)

६. श्रुत्वेत्यङ्गीचकाराथ कार्यं दुष्करमप्यदः।
आचाम्लानि चारब्ध ग्रन्थसम्पूर्णतावधिः ॥११२॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६४)

सोचा 'मेरा आयुष्य क्षीणप्रायः है, अतः अनशन कर लेना उचित है।'

स्वप्नावस्था में आचार्य अभयदेव के सामने धरणेन्द्र पुनः प्रकट होकर बोला "मैंने ही आपके शरीर को चाटकर आपका कुष्ठ रोग शान्त किया है।"

शासन-प्रभावना में जागरूक आचार्य अभयदेव ने कहा 'देवराज! मुझे मृत्यु का भय नहीं है, परन्तु मेरे रोग को निमित्त बनाकर पिशुनजनों द्वारा प्रचारित धर्मसंघ का अपवाद दुःसह्य हो गया था।'

धरणेन्द्र के निवेदन पर श्रावक-संघ के साथ आचार्य अभयदेव स्तम्भन ग्राम में गए। सेढ़िका नदी के तट पर धरणेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर उन्होंने 'जयतिहुण' नामक बत्तीस श्लोकों का स्तोत्र रचा। इस स्तोत्र-रचना से वहां पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। वह प्रतिमा आज भी खम्भात में है।

पूर्वकाल में किसी समय श्रीकान्तानगरी में धनेश श्रावक को तीन प्रतिमाएं तदधिष्ठायक देवी की कृपा से समुद्र में उपलब्ध हुई। श्रावक ने एक प्रतिमा चारूप ग्राम में, दूसरी पाटण में और तीसरी सेढ़िका नदी के तट पर वृक्षों के जाल समूह में स्थापित की।

नागार्जुन ने इस अन्तिम प्रतिमा के सामने बैठकर रस-सिद्धि विद्या की साधना की।

अभयदेवसूरि द्वारा सेढ़िका नदी पर प्रतिमा प्रकटन की गौरववृद्धिकारक घटना से जनापवाद मिट गया। लोग अभयदेव की प्रशंसा करने लगे। धरणेन्द्र ने स्तोत्र की दो प्रभावक गाथाओं को लुप्त कर दिया।

खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि ग्रन्थ के अनुसार गुजरात के खम्भात नगर में टीका रचना से पूर्व ही आचार्य अभयदेव कुष्ठ रोग से आक्रान्त हो गए थे। शासनदेवी के द्वारा टीका रचना की प्रार्थना किए जाने पर आचार्य अभयदेव ने कहा 'देवी! मैं इस गलितांग शरीर से सूत्र टीका करने में समर्थ नहीं हूं।'

शासनदेवी ने कहा 'आप चिन्ता न करें। आप नवांगी सूत्रों के रचनाकार एवं जैन दर्शन के महान् प्रभावक बनेंगे।'

विविध तीर्थकल्प के अनुसार आचार्य अभयदेव को शम्भाणा ग्राम में अतिसार रोग हो गया था। रोग को बढ़ते देख उन्होंने अनशन की बात सोची। निकटवर्ती ग्रामों से पाक्षिक प्रतिक्रमणार्थ आने वाले श्रावक-समाज को दो दिन पहले ही आने के लिए और 'मिच्छामि दुक्कडं' (प्रायश्चित्त विशेष) ग्रहण करने के लिए सूचित किया गया। प्राप्त सूचना के अनुसार त्रयोदशी के दिन श्रावक एकत्रित हुए। उसी रात्रि को शासनदेवी ने प्रकट होकर आचार्य अभयदेव को टीका रचने की प्रेरणा दी।[७] देवी से प्रेरित होकर ससंघ अभयदेव ने खम्भात के समीप सेढ़िका नदी के तट पर पार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना की। पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। जैन समाज की महती प्रभावना हुई। अभयदेव का रोग खत्म हो गया। शरीर स्वर्ण की तरह चमक उठा।[८]

उक्त दोनों ग्रन्थों के अनुसार स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करने के पश्चात् ही आचार्य अभयदेव ने टीका रचना का कार्य किया।

स्तोत्र की दो चामत्कारिक गाथाओं को लुप्त करने का उल्लेख विविध तीर्थकल्प में भी है। इन पद्यों का विधिवत् उच्चारणपूर्वक आह्वान करने पर देवों को आह्वानकर्त्ता के सामने उपस्थित होना पड़ता था। लोग इसका दुरुपयोग करने लगे। इसलिए देवों ने इन दो पद्यों को स्तोत्र पाठ से विलग कर दिया।

जैन शासन की अतिशय प्रभावकारक यह घटना प्रसन्नता का निमित्त होने के कारण इसे मनोवैज्ञानिक भूमिका पर आचार्य अभयदेव के रोगोपशान्ति का प्रमुख हेतु माना जा सकता है।

---

७. तेरसी अड्ढरते य भणिआ पहुणो सासणदेवयाय भयवं।
जग्गह सुअह ता? तओ मन्दसरेणं वुत्तं पहुणा-कओ मे निद्दा॥
देवीए भणिअं एआओ नवसुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु।
(विविध तीर्थकल्प, पत्रांक १०४)

८. तप्पभावाओ अभयदेवस्स कुट्ठं गयं। सुवण्णवन्नो सरीरो जाओ।
(खर. गच्छ बृहद् गुर्वावली, पृ. ६०)

प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के अनुसार टीका रचना का कार्य 'पत्यपुर' नगर में हुआ। अभयदेवसूरि के टीका ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखानुसार यह कार्य अणहिल्लपुर पाटण में हुआ। टीका रचना में अभयदेवसूरि ने खटिका का उपयोग किया था, ऐसा उल्लेख मिलता है।

प्रभावक चरित्र के अनुसार टीका साहित्य की प्रतिलिपियों को तैयार करने का कार्य ताम्रलिप्ति आशापल्ली धवलक नगरी के चौरासी तत्त्वज्ञ सुदक्ष श्रावकों ने किया।[९] इस समय चौरासी प्रतियां लिखी गई थीं।

प्रतिलेखन कार्य में तीन लाख द्रमक (मुद्रा विशेष) व्यय हुए थे जिसकी व्यवस्था भीम भूपति ने की थी। शासन देवी द्वारा प्रक्षिप्त आभूषण को लेकर श्रावक नरेश भीम के पास गए थे। उसके बदले में भीम ने तीन लाख द्रमक प्रदान किए थे। इसी द्रव्य राशि से अभयदेव के टीका ग्रन्थ लिखे गए थे। ऐसा उल्लेख 'प्रभावक चरित्र' और 'पुरातन प्रबन्ध' इन दोनों ग्रन्थों में है।

ग्रन्थान्तर्गत भीमदेव का यह उल्लेख विवादास्पद है। टीका रचना का कार्य वि. सं. ११२० से ११२८ में हुआ था। राजा भीम का राज्य पाटण में वि. सं. १०८४ तक माना गया है। अतः टीका रचना से बहुत पहले ही भीम का देहावसान हो गया था।

खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली के अनुसार इस कार्य में पाल्हउदा ग्राम के श्रावकों का महत्त्वपूर्ण अनुदान रहा। टीका साहित्य रचना का कार्य सम्पन्न करने के बाद आचार्य अभयदेव पाल्हउदा ग्राम में विहरण कर रहे थे। वहां स्थानीय श्रावक-समाज के सामने संकट की घड़ी उपस्थित हो गई। माल से भरे उनके जहाज समुद्र में डूबने के समाचार पाकर श्रावक खिन्न थे। यथोचित समय पर वे धर्मस्थान में नहीं पहुंच पाए। आचार्य अभयदेव स्वयं उनकी बस्ती में दर्शन देने गए। वहां उन्होंने पूछा 'श्रावको! वन्दन-वेला का अतिक्रमण कैसे हुआ?' श्रावकों ने नम्र होकर माल-भरे जहाजों के समुद्र में नष्ट होने का चिन्ताजनक वृत्तान्त सुनाया।

आचार्य अभयदेव बोले 'श्रावको! चिन्ता मत करो। धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा।'

आचार्य अभयदेव के इन शब्दों से सबको सन्तोष मिला। दूसरे दिन सुरक्षित माल मिलने की सूचना पाकर सबको अत्यधिक प्रसन्नता हुई। आचार्य अभयदेव के पास जाकर समवेत स्वर में श्रावकों ने निवेदन किया 'इस माल की बिक्री से हमें जो लाभ होगा, उसका अर्धांश टीका साहित्य के लेखन-कार्य में व्यय करेंगे।'[१०]

इन श्रावकों द्वारा प्रदत्त धनराशि से टीका साहित्य की अनेक प्रतिलिपियां निर्मित हुई। तत्कालीन प्रमुख आचार्यों के पास कई स्थानों पर उनका टीका साहित्य पहुंचाया गया।

आचार्य अभयदेव की सर्वत्र प्रसिद्धि हुई। लोग कहने लगे 'सिद्धान्त पारगामी, आगम साहित्य के निष्णात विद्वान् आचार्य अभयदेव हैं।'

कार्यकाल की कठिनाइयां

आगमों पर टीका लिखते समय आचार्य अभयदेवसूरि के सामने अनेक कठिनाइयां थीं। स्थानांग वृत्ति की प्रशस्ति में उन्होंने कार्यकाल की कठिनाइयों का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है

सत्सम्प्रदाय हीनत्वात् सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥१॥
वाचनानामनेकत्वात् पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

(स्थानांग वृत्ति प्रशस्ति)

९. पत्तने ताम्रलिप्त्यां चाशापल्यां धवलक्कके।
चतुराश्चतुरशीतिः श्रीमन्तः श्रावकास्तथा ॥१२६॥
पुस्तकान्यङ्गवृत्तीनां वासनाविशदाशयाः।
प्रत्येकं लेखयित्वा ते सूरीणां प्रददुर्मुदा ॥१२७॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६५)

१०. वार्तामाकर्ण्य श्राद्धैः सर्वसम्मतेन गुरवो भणिताः यावल्लाभः।
क्रयाणकेन भविष्यति, तदर्धेन सिद्धान्त-लेखनं कारयिष्यामः।
(खर. गच्छ बृहद् गुर्वावली, पत्रांक ७-८)

इस पद्य के वर्णनानुसार इस समय अभयदेवसूरि के सामने सत्सम्प्रदाय का अभाव था अर्थात् अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु परम्परा उन्हें प्राप्त नहीं थी। अर्थ की यथार्थ आलोचनात्मक स्थितियां और तर्कपूर्ण व्याख्या नहीं थी। आगमों की अध्यापन पद्धतियां भिन्न-भिन्न थी। आगमों की प्रतिलिपियों में अनेक गलतियां थी। शुद्ध प्रति खोजने पर भी उपलब्ध नहीं होती थी। आगम सूत्रात्मक होने के कारण गम्भीर थे। अर्थ विषयक नाना धारणाएं थीं। आगे अभयदेव लिखते हैं

क्वचिन्नानि सम्भवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः योऽस्माद् ग्राह्यो न चेतरः ॥३॥
(स्थानांग वृत्ति, प्रशस्ति)

इससे अभयदेवसूरि की शुद्धनीति का परिचय मिलता है।

सिद्धान्तों के समुचित अर्थ हेतु इन कठिनाइयों के होते हुए भी अभयदेवसूरि के गतिमान चरण आगे से आगे बढ़ते रहे। मार्ग बनता गया।

द्रोणाचार्य का सहयोग आचार्य अभयदेव को टीका रचना में द्रोणाचार्य का सहयोग प्राप्त हुआ था। द्रोणाचार्य चैत्यवासी आचार्य थे। वे बहुश्रुत थे, आगमधर थे एवं स्व-पर दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता थे। द्रोणाचार्य की ओघ निर्युक्ति टीका के अतिरिक्त उनकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है।

अभयदेवसूरि सुविहितमार्गी थे। द्रोणाचार्य का सम्बन्ध चैत्यवासी परम्परा से होते हुए भी अभयदेवसूरि के प्रति उनका विशेष सद्भाव था। अभयदेवसूरि भी द्रोणाचार्य के आगम ज्ञान से प्रभावित थे। द्रोणाचार्य जब अपने शिष्यों को आगम वाचना प्रदान करते उस समय स्वयं अभयदेवसूरि उनसे आगम वाचना लेते। गण-भिन्नता ज्ञान-ग्रहण में बाधक नहीं थी।

अभयदेवसूरि को द्रोणाचार्य खड़े होकर सम्मान देते और उनको अपने पास आसन प्रदान करते। द्रोणाचार्य का अभयदेवसूरि के प्रति आदरभाव द्रोणाचार्य के शिष्यों में ईर्ष्या का विषय बन गया। शिष्य कुपित होकर कभी-कभी परस्पर चर्चा करते

'अहो केन गुणेन एव अस्मभ्यमधिकः येन अस्मन्मुख्योऽपि अयं द्रोणाचार्यः अस्य एवंविधमादरं दर्शयति। *(गणधर सार्ध शतक, पत्र १४)*

इस अभयदेव में हमारे से अधिक कौन-सी विशेषता है जिसके कारण हमारे प्रमुख द्रोणाचार्य खड़े होकर इस प्रकार का समादर अभयदेव को प्रदान करते हैं।

शिष्यों के मन में उठने वाले प्रश्नों को द्रोणाचार्य मनोवैज्ञानिक ढंग से समाहित करते और उनके सामने आचार्य अभयदेव के गुणों एवं विशेषताओं का वर्णन करते।

अभयदेवसूरि की टीकाओं का जिस विद्वन्मण्डली ने संशोधन किया था उनमें द्रोणाचार्य प्रमुख थे। अभयदेवसूरि ने अपनी टीका की प्रशस्ति में द्रोणाचार्य का आदर भाव से उल्लेख किया है।

साहित्य

अभयदेवसूरि की प्रसिद्धि नवाङ्गी टीकाकार के रूप में है परन्तु उन्होंने अङ्गागमों के अतिरिक्त ग्रन्थों पर भी टीकाएं रचीं। उनकी एक टीका उपाङ्ग-आगम पर है। उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचनाएं कीं। साहित्य-क्षेत्र में उनका विशिष्ट अनुदान टीका साहित्य है।

आचार्य सुधर्मा के आगमों के गूढ़ार्थों को समझने के लिए आचार्य अभयदेव की टीकाएं कुंजी के समान हैं।[११] ये टीकाएं संक्षिप्त और शब्दार्थ प्रधान हैं। यथावश्यक इनमें कहीं-कहीं विषय का पर्याप्त विवेचन, सैद्धान्तिक तत्त्वों की अभिव्यक्तियां, दार्शनिक चर्चाएं, कथानकों के मत-मतान्तरों तथा पाठान्तरों का उल्लेख और सामाजिक, राजनयिक अनेक शब्दों की परिभाषाएं प्रस्तुत की गई हैं। टीका ग्रन्थों का परिचय

११. प्रावर्तन्त नवाङ्गानामेवं तत्कृतवृत्तयः।
श्रीसुधर्मोपदिष्टेष्टतत्त्वतातककुञ्चिकाः ॥१२८॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६५)

इस प्रकार है

स्थानाङ्ग-वृत्ति मूल सूत्रों पर स्थानाङ्ग वृत्ति की रचना हुई है। सूत्र सम्बद्ध विषयों का इसमें विस्तार से विवेचन है। दार्शनिक दृष्टियों की विशद व्याख्या है। वृत्ति में कहीं-कहीं संक्षिप्त कथानक हैं।

इस वृत्ति की रचना में अभयदेवसूरि को संविग्न पाक्षिक अजितसिंहसूरि के शिष्य यशोदेवगणी का सहयोग प्राप्त हुआ।[१२] द्रोणाचार्य ने कष्टसाध्य श्रम से इस टीका का संशोधन किया।[१३]

प्रस्तुत टीका का रचनाकाल वि. सं. ११२० है[१४] और इसका ग्रन्थमान १४२५० पद्य परिमाण बताया गया है। वृत्ति के रचना-स्थल का उल्लेख इसमें नहीं है।

समवायाङ्ग-वृत्ति इस वृत्ति की रचना भी मूल सूत्रों पर है। इसमें प्रज्ञापना सूत्र एवं गन्धहस्ति भाष्य का उल्लेख है। इस टीका की रचना भी वि. सं. ११२० में अणहिल्लपुर पाटण में हुई। इसका ग्रन्थमान ३५७५ श्लोक परिमाण है।[१५]

व्याख्याप्रज्ञप्ति-वृत्ति यह संक्षिप्त शब्दार्थ प्रधान टीका है। इसमें एक व्याख्या-प्रज्ञप्ति के दस अर्थ बताए गए हैं जो भिन्न अर्थ बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं तथा टीकाकार की सक्षम व्याख्या शक्ति को प्रकट करते हैं। इस टीका में आचार्य सुधर्मा आदि को नमस्कार करने के बाद टीकाकार ने इस सूत्र की प्राचीन टीका, चूर्णि और जीवाभिगम आदि की वृत्तियों की सहायता से टीका रचना करने का संकल्प किया है।[१६] इससे स्पष्ट है कि टीकाकार अभयदेवसूरि के सामने भगवती सूत्र की प्राचीन टीका थी। इससे प्रभावक चरित्र में ९ अंगों की टीकाओं के लुप्त होने का उल्लेख भ्रामक प्रतीत होता है।[१७] टीकागत प्राचीन टीका का उल्लेख आचार्य शीलाङ्क की टीका का संकेत सम्भव है। शीलाङ्क ही प्रथम ९ अंगों के टीकाकार माने गए हैं। टीका के अन्त में ग्रन्थकार ने जिनेश्वरसूरि से सम्बन्धित अपनी गुरु-परम्परा का भी उल्लेख किया है। इस टीका की रचना भी अभयदेवसूरि ने अणहिल्लपुर पाटण नगर में वी. नि. १५९८ (वि. सं. ११२८) में की थी। टीका का ग्रन्थमान १८६१६ श्लोक परिमाण बताया गया है।[१८]

ज्ञाताधर्मकथा-वृत्ति मूल सूत्रस्पर्शी शब्दार्थ प्रधान यह टीका ३८०० पद्य परिमाण है। इस ग्रन्थ की रचना की सम्पन्नता अणहिल्लपुर पाटण नगर में वि. सं. ११२० विजयदशमी के दिन हुई।[१९] ज्ञाताधर्मकथा के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १९ कथानक हैं। वे कथानक अत्यन्त प्रसिद्ध एवं ज्ञात होने के कारण इस श्रुतस्कन्ध का

---

१२. संविग्नभुनिवर्गश्रीमदजितसिंहाचार्यान्तेवासियशोदेवगणिना-मध्येयसाधोरुत्तरसाधकस्येव विधाक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्।
(स्थानाङ्गवृत्ति प्रशस्ति)

१३. तथा सम्भाव्य सिद्धान्तात्, बोध्यं मध्यस्थया धिया।
द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञैरनेकैरादृतं यतः ॥६॥
(स्थानाङ्गवृत्ति प्रशस्ति पद्य)

१४. श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकालाच्छतेन विंशत्यधिकेन युक्ते।
समाप्तसंख्येऽतिगते विदृब्धा, स्थानाङ्गटीकाऽल्पधियेऽपि गम्या ॥८॥
(स्थानाङ्गवृत्ति प्रशस्ति पद्य)

१५. एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिल्लपाटणनगरे रचिता समवायटीकेयम् ॥८॥
प्रत्यक्षरं निरूप्याम्या:, ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि, पादन्यूना च षट्शती ॥९॥
(समवायाङ्गवृत्ति प्रशस्ति पद्य)

१६. एतट्टीका-चूर्णी-जीवाभिगमादिवृत्तिलेशश्च।
संयोज्य पत्रमाङ्गं विवृणोमि विशेषतः किञ्चित् ॥३॥
(व्याख्या प्रज्ञप्ति गद्य)

१७. अङ्गद्वयं विनाऽन्येषां कालादुच्छेदमाययुः ॥१०५॥
(प्रभावक च. पृ. १६४)

१८. अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके।
अणहिल्लपाटणनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवासती। ॥१५॥
अष्टादशसहस्राणि षट् शतान्यथ षोडश।
इत्येवं मानमेतस्या श्लोकमानेन निश्चितम् ॥१६॥
(व्याख्या प्रज्ञप्तिवृत्ति)

१९. प्रत्यक्षरं गणनया, ग्रन्थमानं विनिश्चितम्।
अनुष्टुपां सहस्राणि, त्रीण्येवाष्टशतानि च ॥११॥
एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिल्लपाटणनगरे विजयदशम्यां च सिद्धेयम् ॥१२॥
(ज्ञाताधर्मकथा विवरण)

नाम ज्ञाता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाओं की बहुलता होने के कारण इसका नाम धर्मकथा है।

निवृत्ति कुल के विद्वान् द्रोणाचार्य ने इस वृत्ति का संशोधन किया था।

उपासकदशाङ्ग-वृत्ति इसकी रचना मूल सूत्रों के आधार पर हुई है। यह संक्षिप्त टीका है। इसकी रचना ज्ञाता सूत्र के बाद हुई है। इसमें टीकाकार ने विशेष शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण किया है एवं अनेक स्थानों पर सूत्रगत गम्भीर अर्थ को समझने के लिए ज्ञातधर्मकथा की वृत्ति का उल्लेख किया है। इस वृत्ति का ग्रन्थमान लगभग १८१२ पद्य परिमाण माना है। इसमें वृत्ति के रचना स्थल एवं संवत् का उल्लेख नहीं है।

अन्तकृद्दशा-वृत्ति यह वृत्ति मूल सूत्रस्पर्शी और शब्दार्थ प्रधान है। जिन पदों की व्याख्या ज्ञाताधर्मकथा में है उनका पुनरावर्तन टीकाकार ने इसमें नहीं किया।[20] इस वृत्ति का ग्रन्थमान ८९९ पद्य परिमाण है। इसमें रचना-स्थल एवं रचना-काल का उल्लेख नहीं है।

अनुत्तरौपपातिक-वृत्ति यह शब्दार्थ प्रधान एवं संक्षिप्त टीका है। इसका ग्रन्थमान मात्र १९२ श्लोक पद्य परिमाण है। इसमें शब्दों की सन्तुलित एवं सारगर्भित व्याख्या पाठक के मन को प्रभावित करने वाली है। आचार्य अभयदेव के टीका साहित्य में यह सर्वाधिक लघु टीका है। टीकाकार का अन्त में टीका संशोधन के लिए विद्वज्जनों को आमन्त्रण है।[21] इसमें रचना-स्थल एवं रचना-काल का उल्लेख नहीं है।

प्रश्नव्याकरण-वृत्ति यह शब्दार्थ प्रधान वृत्ति लगभग ४६३० पद्य परिमाण है। इसमें ५ आश्रव और ५ संवर का युक्ति पुरस्सर वर्णन है। द्रोणाचार्य ने इस वृत्ति का संशोधन किया। शुभाशुभ कर्मों की नाना रूपों में फल-परिणति को समझने के लिए यह वृत्ति विशेष सहायक है।

विपाक-वृत्ति यह वृत्ति भी अन्य वृत्तियों की भांति सूत्रस्पर्शी वृत्ति है। पारिभाषिक पदों के संक्षिप्त एवं सन्तुलित अर्थ इसमें हैं एवं आगम सूत्र को प्रवचन-पुरुष कहा है। शुभाशुभ कर्मों की नाना रूपों में फल परिणति को समझने के लिए यह टीका विशेष सहायक है। ग्रन्थगत त्रुटियों का संशोधन करने के लिए वृत्तिकार ने धीमान् पुरुषों को सम्बोधित करते हुए कहा है

इहानुयोगे यदयुक्तमुक्तं, तद् धीधना द्राक् परिशोधयन्तु।

जिनभक्ति परायण पुरुषों के द्वारा आगम पाठ या अर्थ सम्बन्धी अशुद्धि कभी उपेक्षणीय नहीं होती, अतः धीमान् पुरुष इस वृत्ति के अयुक्त कथन का अवश्य संशोधन करें।

टीकाकार के इस कथन से उनके विचारों की पवित्रता प्रकट होती है।

टीका के अन्त में टीकाकार ने अपना एवं अपने गुरु के नाम का उल्लेख किया है। अणहिल्लपुर पाटण नगर में श्री द्रोणाचार्य ने इसका संशोधन किया।[22] वृत्ति का ग्रन्थमान ६०० पद्य परिमाण है। इसमें रचना-स्थान का एवं रचना-काल का उल्लेख नहीं है।

औपपातिक-वृत्ति यह वृत्ति उपाङ्ग आगम पर है। टीकाकार अभयदेव की उपाङ्ग आगम पर यह एक ही टीका है। इस वृत्ति का ग्रन्थमान ३१२५ पद्य परिमाण है। वृत्ति के आरम्भ में औपपातिक शब्द की प्रशस्त व्याख्या की गई है। शब्दार्थ प्रधान टीका सैद्धान्तिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविध विषयों से परिपूर्ण है। वृत्ति के अन्त में टीकाकार ने गुरु जिनेश्वरसूरि का नाम और

---

२०. यदिह न व्याख्यातं तज्ज्ञाताधर्मकथाविवरणादवसेयम्।
(अन्तकृतदशावृत्ति)

२१. संशोध्यं विहितादरैर्जिनमतोपेक्षा यतो न क्षमा।
(अनुत्तरौपपातिकदशावृत्ति पद्य)

२२. चन्द्रकुलविपुल भूतलयुगप्रवरवर्धमानकल्पतरोः।
कुसुमोपमस्य सूरेः गुणसौरभभरितभवनस्य ॥१॥
निस्सम्बन्धविहारस्य सर्वदा श्रीजिनेश्वरादस्य।
शिष्येणाभयदेवाख्यसूरिणेयं कृता वृत्तिः ॥२॥
अणहिल्लपाटणनगरे श्रीमद्द्रोणाख्यसूरिमुख्येन।
पण्डितगुणेन गुणवत्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥३॥
(विपाकवृत्ति पद्य)

चन्द्रकुल का उल्लेख किया है। वृत्ति की प्रशस्ति के अनुसार इस वृत्ति का अणहिल्लपुर पाटण नगर में द्रोणाचार्यसूरि ने संशोधन किया।

रचनात्मक क्षमता इन टीकाओं में तीन टीकाएं स्थानाङ्गवृत्ति, समवायाङ्गवृत्ति, ज्ञाताधर्मकथावृत्ति वि. सं. ११२० में सम्पन्न हुई हैं। इन तीनों का परिमाण २४६२५ श्लोक है। एक वर्ष में इतनी विशाल साहित्य-निधि का निर्माण करना उनकी शीघ्र रचनात्मक शक्ति का परिचायक है। व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति की रचना वि. सं. ११२८ में हुई। अवशिष्ट वृत्तियों के रचना काल का उल्लेख वृत्तिकार ने नहीं किया।

उपाङ्ग सहित इन वृत्तियों का ग्रन्थमान ५०७६९ श्लोक पद्य परिमाण है। टीकाकार ने इनमें संशोधन करने का श्रेय आगम परम्परा के विशेषज्ञ संघ-प्रमुख, निवृत्ति-कुलीन द्रोणाचार्य को दिया है।

आगमातिरिक्त ग्रन्थों पर टीकाएं आचार्य हरिभद्र विरचित षोडशक एवं पञ्चाशक ग्रन्थ पर टीकाकार आचार्य अभयदेव ने टीका की रचना की। इन दोनों टीकाओं में पञ्चाशक टीका विशाल है। इस टीका का ग्रन्थमान ७४८० पद्य परिमाण है। इस टीका का रचना समय वी. नि. १५९४ (वि. सं. ११२४) है। आगम टीका रचना के कार्यकाल के अन्तराल में इस टीका की रचना हुई।

टीकातिरिक्त ग्रन्थ रचना आचार्य अभयदेव ने टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रज्ञापना तृतीय पदसंग्रहणी, पञ्चाशकवृत्ति, जयतिहुयण स्तोत्र, पंचनिर्ग्रन्थी और षट्कर्मग्रन्थ-सप्ततिका भाष्य की रचना की। ये ग्रन्थ टीकाकार के विशद सैद्धान्तिक ज्ञान की अवगति देते हैं। प्रज्ञापना तृतीयपद संग्रहणी का ग्रन्थमान १३२ श्लोक परिमाण एवं जयतिहुयण स्तोत्र के ३० पद्य हैं। इस स्तोत्र की रचना स्तम्भन गांव में हुई।

समय-संकेत

टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि १६ वर्ष की उम्र में आचार्य बने। उन्होंने ५१ वर्ष तक धर्म संघ का कुशल संचालन किया और जैन शासन की महनीय सेवाएं कीं।

प्रभावक चरित्र के अनुसार अभयदेव का स्वर्गवास पाटण में हुआ। पाटण में उस समय नरेश कर्णराज का राज्य था।[23] स्वर्गवास संवत् का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है।

खरतरगच्छीय कई पट्टावलियों के उल्लेखानुसार अभयदेवसूरि का स्वर्गवास वी. नि. १६०५ (वि. सं. ११३५) में तथा अन्य मतानुसार उनका स्वर्गवास कपड़गंज में वी. नि. १६०९ (वि. सं. ११३९) में हुआ।

यशस्वी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरी की कुल आयु ६७ वर्ष की थी।

आचार्य अभयदेव ने टीका रचना का कार्य वी. नि. १५९०-१५९८ (वि. सं. ११२०-११२८) में किया। पट्टावलियों के अनुसार टीका कार्य सम्पन्नता के ६ वर्ष बाद अथवा अन्यमत से टीका रचना के ११ वर्ष बाद उनका स्वर्गवास हो गया। इस आधार पर अभयदेव वी. नि. १५वीं-१६वीं (वि. सं. ११वीं-१२वीं) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

आचार्य अभयदेवसूरि का जैन समाज को टीका साहित्य के रूप में महान् अनुदान है।

---

२३. श्रीमानभयदेवोऽपि शासनस्य प्रभावना (भृ)।
पत्तने श्रीकर्णराज्ये धरणीपास्ति शोभितः ॥१७३॥
(प्रभावक चरित, पृ. १६६)

(प्रभावक चरित, पृ. १६६)

८७. जिनशासनसेवी आचार्य जिनवल्लभ

जिनवल्लभसूरि जनवल्लभ थे। ये पहले चैत्यवासी परम्परा में दीक्षित हुए, बाद में संविग्न पक्ष की मुनि दीक्षा स्वीकार की। उनका जन्म आशिका (आशीदुर्गपुर) में हुआ। बचपन में ही पिता का साया मस्तक से उठ गया। माता के संरक्षण में बालक का पालन-पोषण हुआ।

गुरु-परम्परा

जिनवल्लभसूरि का परिवार चैत्यवासी परम्परा को मानता था। उस समय चैत्यवासी परम्परा प्रभाव में थी। अनेक शहरों और नगरों में उनके मठ थे। मठाधीश मुनि विद्वान् थे तथा प्रभावक थे। चित्तौड़ के चैत्यवासी मठ की एक शाखा कूर्चपुर (मारवाड़) में थी। आशीदुर्ग निवासी जिनेश्वरसूरि उस शाखा के अध्यक्ष थे। जिनवल्लभसूरि बचपन में अपनी मां के साथ जिनेश्वरसूरि के पास धार्मिक शिक्षा लेने आते थे। अध्ययन करते-करते बालक के मन में वैराग्य हो गया और उन्हीं के पास जिनवल्लभ ने दीक्षा ग्रहण की, अतः जिनवल्लभ के प्रथम दीक्षा-गुरु चैत्यवासी परम्परा के जिनेश्वरसूरि थे। सुविहितमार्गी परम्परा में उनके गुरु वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि और टीकाकार अभयदेवसूरि थे।

जीवन-वृत्त

मुनि जिनवल्लभ की बुद्धि प्रखर थी। चैत्यवासी जिनेश्वरसूरि ने उन्हें व्याकरण, काव्य, न्याय, दर्शन आदि विविध विषयों का प्रशिक्षण दिया। कई चामत्कारिक विद्याएं प्रदान कीं और उनकी नियुक्ति वाचनाचार्य पद पर की।

बाल मुनि जिनवल्लभ की प्रतिभा से जिनेश्वरसूरि प्रभावित थे। अपना उत्तराधिकारी बनाने हेतु विशेष प्रशिक्षण के लिए उन्होंने बाल मुनि जिनवल्लभ को श्रमण जिनशेखर के साथ नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के पास भेजा। वे दोनों मुनि गुरु का आशीर्वाद लेकर अणहिल्लपुर पाटण पहुंचे। अभयदेवसूरि भी स्फूर्त मनीषा के धनी जिनवल्लभ जैसे योग्य शिष्य को पाकर प्रसन्न हुए। उन्होंने थोड़े समय में जिनवल्लभ को सिद्धान्त का पारगामी विद्वान् बना दिया। एक पण्डित के सहयोग से ज्योतिषशास्त्र का भी जिनवल्लभ मुनि ने विशेष अध्ययन किया था।

वे अध्ययन समाप्ति के बाद दीक्षा-गुरु से मिलने गए। अपनी जन्म-भूमि आशीदुर्ग से तीन कोस दूर मरुकोट (मायड) में मुनि जिनवल्लभ गुरु से मिले। दोनों का एकान्त में वार्तालाप हुआ। मुनि जिनवल्लभ ने गुरु के सामने चैत्यवास को अस्वीकार किया और बड़गच्छ की संविग्न शाखा के आचार्य वर्धमानसूरि के पट्ट शिष्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य बने। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि उनके विद्या गुरु थे। खरतरगच्छ पट्टावली के रचनाकार जिनवल्लभगणी को नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव का शिष्य मानते हैं।

जिनवल्लभ मुनि को योग्य समझते हुए भी परिस्थितिवश अभयदेवसूरि ने उन्हें आचार्यपद पर नियुक्त नहीं कर वाचनाचार्य के रूप में अथवा गणी के रूप में स्वतन्त्र विहरण करने का आदेश दे दिया।

एक बार जिनवल्लभसूरि चित्तौड़ गए। प्रारम्भ में उनका विरोध हुआ फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। वे निष्ठा से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। लोग प्रवचनों से प्रभावित हुए। कई उनके अनुयायी भी बने थे। धारा नगरी के राजा नरवर्मदेव पर भी उनका विशेष प्रभाव था। वी. नि. १६३७ (वि. सं. ११६७) आषाढ़ शुक्ला छठ को देवभद्राचार्य ने चित्तौड़ में जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि के स्थान पर आचार्य रूप में नियुक्त किया।

जिनवल्लभसूरि की शिष्य परम्परा से मधुकर गच्छ, रुद्रपल्ली गच्छ आदि गच्छों का जन्म हुआ।

साहित्य-साधना

जिनवल्लभसूरि अपने युग के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वे न्याय, दर्शन, व्याकरण आदि विविध ग्रन्थों के गम्भीर

अध्येता और सफल साहित्यकार थे। उनके वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं

१. आगमिकवस्तु विचारसार	२. शृंगार शतक
३. प्रश्नषष्टि शतक	४. पिंड विशुद्धि प्रकरण
५. गणधर सार्ध शतक	६. पौषधविधि प्रकरण
७. संघ पट्टक प्रतिक्रमण समाचारी	८. धर्म शिक्षा
	९. प्रश्नोत्तर शतक
१०. स्वप्नाष्टक विचार	११. चित्र काव्य
१२. अजित शान्ति स्तवन	१३. भवारिवारण स्तोत्र
१४. जिन कल्याण स्तोत्र	१५. जिन-स्तोत्र
१६. वीर-स्तव	१७. द्वादश कुलक रूप प्रकरण

समय-संकेत

आचार्य जिनवल्लभ वी. नि. १६३७ (वि. सं. ११६७) कार्तिक कृष्णा द्वादशी को रात्रि के चतुर्थ प्रहर में परमेष्ठी ध्यान में तल्लीन थे। उसी अवस्था में त्रिदिवसीय अनशन के साथ उनका स्वर्गवास हो गया। गणीरूप में जिनवल्लभसूरि ने दीर्घकाल तक जैन शासन की प्रभावना की। आचार्यपद को वे लगभग चार मास ही विभूषित कर पाए।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली में जिनवल्लभसूरि का जीवन चरित विस्तार से उपलब्ध है।

९८. अन्तर्द्रष्टा आचार्य अभयदेव (मलधारी)

मलधारी आचार्यों की परम्परा में मलधारी अभयदेवसूरि का विशिष्ट स्थान है। वे सबल मनोबल के धनी, कठिन परिश्रमी और सहज शान्त स्वभावी आचार्य थे। उनका सब धर्मों के प्रति सहिष्णुभाव आदर्श रूप था।

गुरु-परम्परा

अभयदेवसूरि की गुरु परम्परा हर्षपुरी गच्छ से सम्बन्धित है। श्री प्रश्नवाहन कुल में हर्षपुरी गच्छ के शाकम्भरी मण्डल में श्री अजयसिंहसूरि प्रभावशाली आचार्य हुए। उनके शिष्य मलधारी अभयदेवसूरि थे।

जीवन-वृत्त

अभयदेवसूरि के जन्म, जन्म-स्थल, माता-पिता, परिवार आदि का परिचय उपलब्ध नहीं है। मुनि श्रीचन्द्रसूरि रचित 'मुनिसुव्रतचरित्र' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आचार्य अभयदेवसूरि का बाह्य व्यक्तित्व प्रभावशाली था। उनका लम्बा कद, बलिष्ठ शरीर, पुष्ट भुजाएं और आकर्षक रूप-सम्पदा प्रकृति का वरदान था। वे काम विजेता और कषाय विजेता थे। उनका रसनेन्द्रिय पर संयम था। घृत के अतिरिक्त उन्हें पांचों विगय का आजीवन त्याग था। गर्मी के मौसम में कर्मनिर्जरा की भावना से वे मध्याह्न में गोचरी करते। अपने अनुयायी भक्तों के घरों को छोड़कर अन्य घरों में गोचरी के लिए अधिक जाते थे। जन-समुदाय उनके दर्शन हेतु उत्कण्ठित रहता था।

अभयदेवसूरि ने कई प्रभावशाली राजाओं को प्रतिबुद्ध किया और उन्हें धर्म का अनुरागी बनाया।

गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह को प्रभावित करने वाले जैनाचार्यों में अभयदेवसूरि की प्रथम भूमिका थी।

सिद्धराज जयसिंह की अभयदेवसूरि के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी। अभयदेवसूरि के त्याग तपोबल से प्रभावित होकर सिद्धराज जयसिंह ने उनको 'मलधारी' की उपाधि से अलंकृत किया। पद्मदेवसूरि आदि विद्वानों के अभिमत से यह उपाधि गुजरात अधिपति कर्ण ने प्रदान की। मलधारी की उपाधि का कारण देह और वस्त्रों के प्रति सूरिजी का अनासक्त भाव था।

अभयदेवसूरि के उपदेशों से प्रेरणा प्राप्त कर सिद्धराज जयसिंह ने पर्यूषण पर्व आदि पावन प्रसंगों पर अपने सम्पूर्ण राज्य में 'अमारि' घोषणा-पत्र प्रसारित किए।

शाकम्भरी का राजा पृथ्वीराज और गोपगिरि (ग्वालियर) नरेश भुवनपाल दोनों अभयदेवसूरि का विशेष आदर करते थे। अधिपति भुवनपाल ने अभयदेवसूरि के वचन पर गोपगिरि मन्दिर के बन्द द्वार खुलवा दिए एवं मन्दिर के पुजारियों से कर वसूल करना छोड़ दिया।

ज्ञान से जीवन का अन्तिम समय निकट आया जानकर अजमेर में अभयदेवसूरि ने संलेखना तप प्रारम्भ किया। बाद में उन्होंने सर्वथा भोजन का त्याग कर आजीवन अनशन स्वीकार किया।

अनशन का समाचार सुनकर गुजरात रियासत के अनेक ग्रामों के सहस्रों की संख्या में लोग उनके दर्शन करने आए। सिद्धराज जयसिंह भी परिवार सहित अनशनस्थ अभदेवसूरि से मंगल आशीर्वाद पाने के लिए अजमेर पहुंचे।

परम समाधि में मलधारी अभयदेवसूरि का संलेखनापूर्वक ४७ दिन का अनशन सानन्द सम्पन्न हुआ। इस प्रसंग पर अजमेर के आबालवृद्ध नर-नारी जनों के नयनों से अश्रु छलक पड़े। भारी भीड़ के साथ शव यात्रा प्रातःकाल से प्रारम्भ हुई और दिन के अन्तिम प्रहर में श्मशान घाट पहुंची। देह संस्कार के बाद भस्म को रोगविनाशक समझकर लोग अपने घरों में ले गए। जिनके हाथ राख न लगी उन्होंने वहां की मिट्टी को प्रसाद के रूप में ग्रहण किया।

समय-संकेत

अपने व्यक्तित्व का अद्वितीय प्रभाव जनमानस पर छोड़कर मलधारी अभयदेवसूरि वी. नि. १६३८ (वि. सं. ११६८) में स्वर्गवासी हुए। इस आधार पर प्रस्तुत अभयदेवसूरि का समय वी. नि. की १७वीं सदी का पूर्वार्द्ध (वि. की १२वीं सदी का उत्तरार्द्ध) सिद्ध होता है।

गुजरात अधिपति कर्ण और सिद्धराज जयसिंह जैसे प्रख्यात राजाओं को प्रभावित करना आचार्य अभयेदवसूरि के व्यक्तित्व की सबल अध्यात्म ऊर्जा को प्रकट करता है।

८९. वर्चस्वी आचार्य वीर

वीराचार्य श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी थे। वे विद्या और बुद्धि से सम्पन्न थे। वे योग के विशेषज्ञ थे। वे शास्त्रार्थ करने में दक्ष थे। गुजरात नरेश जयसिंह सिद्धराज उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे।

गुरु-परम्परा

चन्द्रगच्छ की षाण्डिल्ल शाखा में भावदेवसूरि हुए। उनके पट्टधर विजयसिंहसूरि श्री वीराचार्य के गुरु थे।[1] युगप्रधानाचार्य षाण्डिल्य से जिस षाण्डिल्य गच्छ का उद्भव हुआ, वह बहुत प्राचीन है। प्रस्तुत वीराचार्य चन्द्रगच्छ से सम्बन्धित षाण्डिल्ल शाखा में हुए। इस षाण्डिल्ल शाखा का सम्बन्ध चन्द्रगच्छ से होने के कारण प्राचीन षाण्डिल्य गच्छ से भिन्न है।

जीवन-वृत्त

वीराचार्य का पाटण नरेश सिद्धराज जयसिंह की सभा में विशेष सम्मान था। नरेश की भक्ति के कारण वीराचार्य लम्बे समय तक पाटण में विहरण करते रहे। एक दिन नरेश सिद्धराज जयसिंह ने विनोद में वीराचार्य से कहा "राज्याश्रय के कारण दुनिया में आपका महत्त्व है।"[2]

वीराचार्य के हृदय में नरेश के द्वारा कही हुई यह बात चुभ गई। उन्होंने तत्काल नरेश के सामने अन्यत्र विहरण करने का निश्चय प्रकट किया। प्रत्युत्तर में नरेश बोले "आचार्यवर! मैंने यह बात विनोद में कही थी। आपको मैं यहां से किसी प्रकार जाने नहीं दूंगा।" आचार्य बोले 'राजन्! मुनि पवन की तरह अप्रतिबद्ध विहारी होते हैं। उन्हें कौन रोक सकता है?"[3]

राजा ने अपनी बात को रखने के लिए नगर के द्वारपालों को आज्ञा दी वे वीराचार्य को नगर से बाहर नहीं जाने दें। द्वारपालों ने नरेश के आदेश का जागरूकता से पालन किया। वे अपने द्वार पर सावधानी के साथ पहरेदारी करने लगे।[4] नगर के प्रत्येक द्वार पर राजा ने कड़ा पहरा लगा दिया। वीराचार्य भी अपने विचारों से दृढ़ थे। सन्ध्या प्रतिक्रमण के बाद उन्होंने आसन लगाकर योग के द्वारा प्राणवायु का निरोध किया और विद्या द्वारा आकाश मार्ग से पल्ली नगरी में पहुंच गए।[5]

प्रभात में राजा सिद्धराज जयसिंह को इसकी जानकारी मिली। उन्हें गहरा दुःख हुआ। कई दिनों के बाद पल्ली ग्राम से आए हुए ब्राह्मणों द्वारा वीराचार्य के वहां पहुंचने की सूचना तिथि-वार सहित मिली। घटना को सुनकर नरेश को आश्चर्य हुआ। नरेश ने सोचा "सूरिजी अवश्य ही आकाश मार्ग से विद्या द्वारा गए हैं अन्यथा ऐसा सम्भव नहीं था।" नगरी में पुनः पदार्पण के लिए नरेश ने वीराचार्य को प्रार्थना की।

वीराचार्य ने अन्य कई गावों और नगरों में विहरण करने के बाद वहां आने का संकेत दिया। महाबोधपुर में

---

१. श्रीमच्चन्द्रमहागच्छसागरे रत्नशैलवत्।
अवान्तराख्यया गच्छः षंडिल्ल इति विश्रुतः ॥४॥
श्रीभावदेव इत्यासीत् सूरिस्त्र च रत्नवत् ॥५॥
श्रीमद्विजयसिंहाख्याः सूरयस्तत्पदेऽभवन् ॥६॥
तत्पट्टमानससरोहंसाः श्रीवीरसूरयः ॥७॥
(प्रभा. च., पृ. १६७)

२. अथ मित्रं समासीनो नृपतिर्नर्मणाऽवदत्।
श्रीवीराचार्यमुनीन्द्रं तेजो वः क्षितिपाश्रयात् ॥९॥
(प्रभा. च., पृ. १६७)

३. भूपः प्राह न दास्यामि गन्तुं निजपुरात् तु वः।
सूरिराह निषिध्यामो यान्तः केन वयं ननु ॥१३॥
(प्रभा. च., पृ. १६७)

४. इत्युक्त्वा स्वाश्रयं प्रायात् सुरिर्भूरिकलानिधिः।
रुरोध नगरद्वारान् सर्वान् नृपतिनरैः ॥१४॥
(प्रभा. च., पृ. १६७)

५. अध्यात्मयोगतः प्राणनिरोधाद् गगनाध्वना।
विद्याबलाच्च ते प्रापुः पुरीं पल्लीतिसञ्ज्ञया ॥१६॥
(प्रभा. च., पृ. १६७)

उन्होंने बौद्ध विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की। उसके बाद वीराचार्य गोपगिरि (ग्वालियर) में आए।[६] उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर स्थानीय नरेश ने उनका विशेष सम्मान किया। उनके वहां कई शास्त्रार्थ हुए। शास्त्रार्थों में विजयी होने के कारण गोपालगिरि नरेश ने उनको छत्र-चामर आदि कई वस्तुएं उपहार में प्रदान कीं।[७] वहां से विहार कर कई दिन वीराचार्य नागपुर में विराजे, तदनन्तर वे अणहिल्लपुर पाटण के निकटवर्ती चारूप गांव में आए। पाटण नरेश ने वहां आकर वीराचार्य का सम्मान किया और अपने शहर में उनका उत्सवपूर्वक प्रवेश करवाया। पाटण के वादीसिंह नामक सांख्य विद्वान् के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। इसमें भी वीराचार्य को विजय प्राप्त हुई।[८] सिद्धराज जयसिंह ने इस प्रसंग पर वीराचार्य को 'जयपत्र' प्रदान किया।[९] इस विजय की घोषणा वीराचार्य के कलागुरु गोविन्दसिंह ने पहले ही कर दी थी। पाटण की राजसभा में कमलकीर्ति नामक दिगम्बर विद्वान् के साथ भी वीराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ।[१०]

समय-संकेत

वीराचार्य के जन्म, दीक्षा आदि से सम्बन्धित तिथि-मिति का उल्लेख प्राप्त नहीं है। पाटण नरेश सिद्धराज जयसिंह की राजसभा में वे सम्मानित विद्वान् थे। सिद्धराज जयसिंह का शासनकाल वी. नि. १६२० से १६६९ (वि. सं. ११५० से ११९९) तक माना गया है। इस आधार पर वीराचार्य वी. नि. की १६वीं १७वीं (वि. सं. की १२वीं) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

---

६. महाबोधपुरे बौद्धान् वादे जित्वा बहूनथ।
गोपालगिरिमागच्छन् राज्ञा तत्रापि पूजिताः ॥३१॥
(प्रभा. च., पृ. १६८)

७. परप्रवादिनस्तेश्च जितास्तेषां च भूपतिः।
छत्र-चामरयुग्मादिराजचिह्नान्यदान्मुदा ॥३२॥
(प्रभा. च., पृ. १६८)

८. न शक्तोऽहमिति प्राह वादिसिंहस्ततो नृपः।
स्वयं बाहौ विधूत्यामुं पातयामास भूतले ॥६१॥
(प्रभा. च., पृ. १६९)

९. जयपत्रार्पणादस्याददे तेजः परं तदा।
द्रव्यं तु निःस्पृहत्वेन स्पृशत्यपि पुनर्न सः ॥६९॥
(प्रभा. च., पृ. १६९)

१०. वादी कमलकीर्त्याख्य आशाम्बरपतीश्वरः।
वादमुद्राभृदभ्यागादवज्ञातान्यकोविदः ॥७८॥
आस्थानं सिद्धराजस्य जिह्मकण्ठ्ययार्दितः।
वीराचार्यं स आह्वास्त ब्रह्मास्त्रं विदुषां रणे ॥७९॥
भूपालः प्राह को जेता मत्सभां तपति प्रभौ ॥
श्रीवीरे वादिवीरोऽत्र सिद्धेऽनेकासु सिद्धिषु ॥९०॥
(प्रभा. च., पृ. १६९, १७०)

६०. जनप्रिय आचार्य जिनदत्त

जिनदत्तसूरि श्वेताम्बर सुविहित मार्गी थे। खरतरगच्छ में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उनकी प्रसिद्धि बड़े दादा नाम से है। 'दादा' शब्द पूज्यभाव का प्रतीक है एवं भक्त की अनन्य निष्ठा को प्रकट करता है।

गुरु-परम्परा

जिनदत्तसूरि जिनवल्लभसूरि के पट्टधर शिष्य थे तथा जिनवल्लभसूरि भी नवांगी टीकाकार अभयदेव के पट्ट शिष्य थे। जिनदत्त के दीक्षा-गुरु धर्मदेव उपाध्याय थे और जिनवल्लभसूरि के दीक्षा-गुरु चैत्यवासी जिनेश्वरसूरि थे। बुद्धिसागरसूरि के ज्येष्ठ बन्धु सुविहितमार्गी जिनेश्वरसूरि इनसे भिन्न थे। वे टीकाकार अभयदेवसूरि के गुरु थे। जिनवल्लभसूरि अभयदेवसूरि से प्रशिक्षण पाकर चैत्यवासी परम्परा को छोड़ सुविहितमार्गी हो गए। जिनदत्तसूरि इन्हीं जिनवल्लभसूरि के पट्ट शिष्य थे।

जन्म और परिवार

जिनदत्तसूरि का जन्म गुजरात प्रदेशान्तर्गत धवलकनगर (धोलका) वैश्यवंश में वी. नि. १६०२ (वि. सं. ११३२) में हुआ। उनका गोत्र हुम्बड़ था। उनके पिता का नाम वाच्छिग था। श्रेष्ठी वाच्छिग तत्कालीन गुजरात राज्य के अमात्य पद पर अधिष्ठित थे। माता वाहड़देवी धार्मिक विचारों की महिला थी।

जीवन-वृत्त

बाल्यकाल में जिनदत्तसूरि को धार्मिक वातावरण प्राप्त था। एक बार धोलका में जिनेश्वरसूरि के शिष्य उपाध्याय धर्मदेव की आज्ञानुवर्तिनी साध्वियों का चतुर्मास हुआ। उनके पास अपने पुत्र को साथ लेकर वाहड़देवी धर्मकथाएं सुनने के लिए जाती थी। धर्मकथाओं को सुनकर बालक के मन में वैराग्य के भाव जागृत हुए। मुनि जीवन स्वीकार करने की इच्छा हुई। बालक के शरीर पर शुभचिह्न थे; जो उसके सुन्दर भविष्य के संकेत थे। साध्वियों ने होनहार बालक को धर्मसंघ में अर्पित करने के लिए वाहड़देवी को प्रेरणा दी। धर्मानुरागिणी वाहड़देवी भी इस कार्य के लिए तैयार हो गई। उपाध्याय धर्मदेव ने बालक को वी. नि. १६११ (वि. सं. ११४१) में दीक्षा प्रदान की। नवदीक्षित मुनि का नाम सोमचन्द्र रखा गया। इस समय मुनि सोमचन्द्र की अवस्था ९ वर्ष की थी। सर्वदेवगणी ने नवदीक्षित मुनि सोमचन्द्र को मुनिचर्या का बोध दिया।

अणहिल्लपुर पाटण में भावड़ागच्छ के आचार्य के पास बाल मुनि सोमचन्द्र ने लक्षणपंजिका आदि अनेक विषयों का अध्ययन किया। व्याकरण, न्याय, छेदशास्त्र, आदि विद्याओं में दक्षता प्राप्त की। हरिसिंहाचार्य से सैद्धान्तिक वाचना तथा मन्त्रविद्या का प्रशिक्षण लिया।

मुनि सोमचन्द्र की मेधा पर हरिसिंहाचार्य मुग्ध थे। उन्होंने आगमिक ज्ञान के साथ निजी अध्ययन का भी बाल मुनि को प्रशिक्षण दिया। सात वर्ष तक अणहिल्लपुर पाटण में रहकर मुनि सोमचन्द्र ने जैन दर्शन का गहन अध्ययन किया।

चित्तौड़ में वी. नि. १६३९ (वि. सं. ११६९) वैशाख कृष्णा छठ शनिवार को देवभद्राचार्य ने उन्हें सूरि पद पर प्रतिष्ठित किया और उनका नाम जिनदत्त रखा। पाटण में उन्हें युगप्रधान पद मिला।

जिनदत्तसूरि के युग में चैत्यवास की धारा राज्याश्रय प्राप्त कर बड़े वेग से बह रही थी। सुविहित विधि मार्ग पर चलने वाले जैनाचार्य के लिए यह कड़ी कसौटी का युग था। जिसके हृदय में साहस का दीप जलता है उसके लिए कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। जिनदत्तसूरि धैर्य से अपने लक्ष्य की ओर बढ़े। उन्होंने चैत्यवासी मुनियों के साथ कई शास्त्रार्थ किए एवं

सुविहितमार्गी धारा को पुष्ट किया। अपने सिद्धांत के विस्तार का महत्त्वपूर्ण कार्य जिनदत्तसूरि के शासनकाल में हुआ।

जनश्रुति के अनुसार जिनदत्तसूरि ने अपने जीवनकाल में कई सहस्र व्यक्तियों को जैन दीक्षा दी। संख्या की यह वृद्धि सुविहित मार्ग की नींव को मजबूत करने में परम सहायक सिद्ध हुई। आचार्य जिनदत्तसूरि की इस प्रवृत्ति का अनुकरण यदि समस्त जैन समाज करता तो आज जैनों की संख्या सम्भवतः कई करोड़ तक पहुंच जाती।

संघ व्यवस्था में जिनदत्तसूरि ने नए आयाम उद्घाटित किए। उन्होंने जिनवल्लभसूरि द्वारा प्रतिपादित षट्कल्याणक विधि को प्रमुखता प्रदान की। नये नियम बनाए और स्वतन्त्र खरतरगच्छ का प्रवर्तन किया। यह उल्लेख 'जैन परम्परा नो इतिहास' नामक गुजराती ग्रन्थ पृष्ठ ४५१ पर है। इस उल्लेख के आधार पर खरतरगच्छ के संस्थापक जिनदत्तसूरि सिद्ध होते हैं।

जिनचन्द्रसूरि को जिनदत्तसूरि ने विक्रमपुर में वी. नि. १६७५ (वि. सं. १२०५) में अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और उसी समय खरतरगच्छीय आचार्यों के नाम में 'जिन' शब्द को जोड़ने की परम्परा प्रारम्भ हुई।

साहित्य जिनदत्तसूरि संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश भाषा के अधिकारी विद्वान थे। उन्होंने इन भाषाओं में कई ग्रन्थों की रचना की। कई ग्रन्थ स्तुत्यात्मक हैं। कई उपदेशात्मक भी हैं। उनके कतिपय ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं

१. सन्देह-दोहावली (प्राकृत)
२. चैत्य-वन्दन-कुलक (प्रा.)
३. उपदेश-कुलक (प्रा.)
४. गणधर-सप्ततिका (प्रा.)
५. विघ्नविनाशी-स्तोत्र (प्रा.)
६. अजित-शान्ति-स्तोत्र (प्रा.)
७. महाप्रभावक-स्तोत्र (प्रा.)
८. पार्श्वनाथ-स्तोत्र (प्रा.)
९. चच्चरी-प्रकरण (अपभ्रंश)
१०. उपदेश धर्मरसायन (अप.)
११. काल स्वरूप-कुलक (अप.)
१२. चक्रेश्वरी-स्तोत्र (संस्कृत)
१३. सर्व जिन-स्तुति (सं.)
१४. वीर-स्तुति (सं.)
१५. गणधर सार्धशतक यह सामग्री बहुल उत्तम ग्रन्थ है। इसके १५० पद्य हैं। इसमें गणधरों का इतिहास है।

समय-संकेत

जिनदत्तसूरि का अनशनपूर्वक स्वर्गवास वी. नि. १६८१ (वि. सं. १२११) अजमेर में आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन हुआ। जिनदत्तसूरि के नाम से बनी दादाबाड़ी आज भी वहां विद्यमान है।

अपने युग में जिनदत्तसूरि द्वारा व्यापक रूप से जैन-शासन की प्रभावना और बड़ी संख्या में जैनीकरण का कार्य उनकी प्रभावकता का सूचक है।

आज भी कई प्रान्तों एवं नगरों में जिनदत्तसूरि के नाम से दादाबाड़ियां हैं। खरतरगच्छ में जिनदत्तसूरि की मान्यता अधिक है।

आचार्य काल
(वी. नि. १६३९-१६८१)
(वि. सं. ११६९-१२११)
(ई. सन् १११२-११५४)

६१. नित्य नवीन आचार्य नेमिचन्द्र

प्रस्तुत नेमिचन्द्र जैन विद्या के मनीषी टीकाकारों में थे। वे संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं के अधिकारी विद्वान् थे। जैन दर्शन के विविध विषयों का उन्होंने गहन अध्ययन किया। सुखबोधा टीका आचार्य नेमिचन्द्र की प्रसिद्ध रचना है।

गुरु-परम्परा

नेमिचन्द्रसूरि की गुरु-परम्परा सुखबोधा टीका प्रशस्ति, आख्यान मणिकोष प्रस्तावना 'रयण चूड़चरियं' ग्रन्थ में है।

नेमिचन्द्रसूरि चन्द्रकुल के बृहद्गच्छीय उद्द्योतनसूरि के प्रशिष्य और उपाध्याय आम्रदेवसूरि के शिष्य थे। मुनि चन्द्रसूरि उनके गुरु बन्धु थे। आचार्यपद प्राप्ति के पूर्व नेमिचन्द्रसूरि का नाम देवेन्द्रगणी था।

इस गच्छ की गुरु-परम्परा में कठिन शीलचर्या के पालक, गुण-गण सम्पन्न, उग्रविहारी आचार्य देवसूरि हुए। देवसूरि के चार शिष्य थे उद्द्योतनसूरि, यशोदेवसूरि, प्रद्युम्नसूरि मानदेवसूरि।

निर्मल चेतना के धनी उद्द्योतनसूरि के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव और आम्रदेव के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि थे।

जीवन-वृत्त

नेमिचन्द्रसूरि कहां और किस वंश में जन्मे, उनकी दीक्षा किस प्रदेश में हुई, इस सम्बन्ध में सामग्री अनुपलब्ध है।

नेमिचन्द्रसूरि के दो नाम मिलते हैं। देवेन्द्रगणी और नेमिचन्द्रसूरि। गणी पद प्राप्ति से पूर्व उनका नाम देवेन्द्र था। प्रद्युम्नसूरि के शिष्यों के साथ उनके अच्छे सम्बन्ध थे। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य जसदेवगणी ने आख्यानमणिकोश की प्रतिलिपि तैयार की।

उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका और महावीर चरियं ग्रन्थ की रचना अणहिल्लपुर पाटण नगर में हुई रयणचूड़ चरियं ग्रन्थ की रचना डिंडिलपद निवेश में प्रारम्भ हुई तथा चड्डावलीपुरी में समाप्त हुई।

इन दोनों ग्रन्थों में समागत सन्दर्भों के आधार पर अनुमान होता है कि नेमिचन्द्रसूरि का साहित्य साधना क्षेत्र मुख्यतः गुजरात तथा राजस्थान रहा है।

अणहिल्लपुर पाटण चौलुक्यवंशी राजाओं के शासनकाल में गुजरात का राजधानी नगर था। चड्डावलीपुरी चन्द्रावती नगर सम्भव है जिसे मन्त्री विमल ने आबू मन्दिर के निर्माण के समय बसाया था।

ग्रन्थ-रचना

नेमिचन्द्रसूरि टीकाकार एवं चरित्र ग्रन्थों के रचनाकार थे। उनकी सुखबोधा टीका इतनी महत्त्वपूर्ण रचना है जिसके कारण टीकाकार विद्वानों में नेमिचन्द्रसूरि की गणना हुई। मुख्य ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

आख्यान मणिकोश नेमिचन्द्रसूरि की यह प्रथम रचना है। इसके ४१ अधिकार एवं १४६ आख्यान हैं। आख्यानों में कहीं-कहीं पुनरावृत्ति है। इस ग्रन्थ की रचना वी. नि. १५९९ (वि. ११२९) में हुई।

आत्मबोध-कुलक यह २२ गाथाओं की लघु रचना है। इसमें आत्मा से सम्बन्धित विविध रूपों में धर्मोपदेश दिया गया है। इस कृति का दूसरा नाम धर्मोपदेश-कुलक भी है।

सुखबोधा वृत्ति इस ग्रन्थ में १२५ प्राकृत कथाएं हैं। इस वृत्ति की रचना अणहिल्लपुर पाटण नगर में दोहड़ श्रेष्ठी की बस्ति में हुई। टीका की रचना के प्रेरक गुरुभ्राता मुनि चन्द्र थे। टीका रचना का मूल आधार शान्तिसूरि की 'शिष्यहिता' टीका है। इस रचना का नाम सुखबोधा वृत्ति है। मन्दगति और संक्षेप रुचि पाठकों के लिए अर्थान्तरों एवं पाठान्तरों से मुक्त सरल और सरस शैली में रचा यह ग्रन्थ सुखबोधा संज्ञा को सार्थक करता है।

टीका की विशेषताओं से पाश्चात्य विद्वान् शारपेन्टियर बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र के पाठ-निर्धारण में इसी टीका को प्रमुखता दी और टिप्पण भी लिखे।

इस टीका में प्राकृत कथानकों का विस्तार से वर्णन है। शान्त्याचार्य ने अपनी शिष्यहिता टीका में जिन कथानकों का एक या दो पंक्ति में संकेत मात्र दिया है, नेमिचन्द्रसूरि ने उन कथानकों के साथ अन्य ग्रन्थों से प्राप्त सामग्री को जोड़कर उन्हें रोचक और मन्द बुद्धि वालों के लिए सुपाच्य बनाया है। इन कथानकों की सरसता ने पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है।

आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने उत्तराध्ययन के प्रथमांशों की जितनी विस्तृत टीका की है, उत्तरांशों की टीका में उतना विस्तार नहीं है। अन्तिम १२-१३ अध्ययनों की टीका अधिक संक्षिप्त होती गई है। उनमें न कोई विशेष कथाएं हैं और न कोई अन्य उद्धरण ही हैं।

अठारह भाषाओं के विद्वान् डॉ. हर्मन जेकोबी ने इन कथाओं का स्वतन्त्र रूप से संग्रह किया। मुनि जिनविजय द्वारा प्राकृतकथासंग्रह के नाम से उनका प्रकाशन हुआ।

ले. जे. मेयर ने अंग्रेजी भाषा में इनका अनुवाद सन् १९०९ में किया।

पाश्चात्य विद्वान् ल्यूमेन इन कथाओं पर मुग्ध रहे हैं। इन्होंने नेमिचन्द्रसूरि द्वारा कथा के साथ प्रयुक्त पूर्व प्रबन्ध में पूर्व शब्द को निस्संकोच भाव से दृष्टिवाद के अंश का सूचक माना है।

यह टीका संक्षिप्त मूल पाठ का स्पर्श करती हुई अर्थ-गौरव से परिपूर्ण है। प्राकृत कथाओं की प्रचुरता के कारण यह टीका हरिभद्र की शैली का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। वैराग्यरस से परिप्लावित ब्रह्मदत्त और अगड़दत्त जैसी कथाओं के साहचर्य से इस सुविशाल टीका में प्राणवत्ता आ गई है और विभिन्न ग्रन्थों की गाथाओं का उद्धरण तथा सोदाहरण नाना विषयों की विवेचना के कारण इसकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध हुई है। इस सुखबोधा टीका का ग्रन्थमान बारह सहस्र (१२०००) पद्य परिमाण है।

रयणचूड चरियं यह कृति प्राकृत गद्य पद्यात्मक है। इस पर संस्कृत का प्रभाव है। कृति काव्य गुणों से मण्डित एवं शिक्षात्मक सूक्तियों से परिपूर्ण है। शैली पर कृत्रिमता का आवरण नहीं है। इस कृति का कथानक गणधर गौतम के मुख से सम्राट् श्रेणिक को सुनाया गया था। रत्नचूड़ इस कृति का मुख्य पात्र है। इस कृति की रचना गणीपद प्राप्ति के बाद हुई। यह कृति ३०८१ श्लोक परिमाण है।

महावीर चरियं यह नेमिचन्द्रसूरि की प्राकृत पद्य रचना है। इस ग्रन्थ का कुल ग्रन्थमान ३००० पद्य परिमाण है। इसमें महावीर के पूर्व भवों का विस्तार से वर्णन है। यह नेमिचन्द्रसूरि की अन्तिम रचना मानी गई है। इसकी रचना अणहिल्लपुर पाटण में दोहड़ श्रेष्ठी की बस्ति में हुई। इसका रचनाकाल वी. नि. १६१९ (वि. ११४९) है।

समय-संकेत

टीकाकार आचार्य नेमिचन्द्र का समय उनके ग्रन्थ-रचना के समय संवत् के आधार पर निश्चय किया जा सकता है। 'आख्यान मणिकोश' का रचना समय वी. नि. १५९९ (वि. सं. ११२९) और 'महावीर चरियं' ग्रन्थ का रचना समय वी. नि. १६१९ (वि. सं. ११४९) बताया गया है। इस आधार पर प्रस्तुत नेमिचन्द्र वी. नि. की १६वीं-१७वीं (वि. १२वीं) शताब्दी के विद्वान् थे।

६२. हृदयहारी आचार्य मलधारी हेमचन्द्र

प्रस्तुत आचार्य हेमचन्द्र 'मलधारी हेमचन्द्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे अपने युग के विशिष्ट व्याख्याता थे। वे आगम पाठी आचार्य थे। उनकी स्वाध्याय, योग और ध्यान में उनकी रुचि थी। संस्कृत अधिकृत भाषा थी।

गुरु-परम्परा

मलधारी हेमचन्द्रसूरि प्रश्नवाहन कुल एवं हर्षपुरी गच्छ के आचार्य थे। वे मलधारी अभयदेवसूरि के शिष्य एवं जयसिंहसूरि के प्रशिष्य थे। बन्धशतक वृत्ति की प्रशस्ति में मलधारी हेमचन्द्र की गुरु-परम्परा का विस्तार से वर्णन है।[1] इस वृत्ति के रचनाकार स्वयं मलधारी हेमचन्द्र हैं।

जन्म और परिवार

मलधारी हेमचन्द्र की गृहस्थ जीवन सम्बन्धी सामग्री अधिक उपलब्ध नहीं है। मलधारी राजशेखर की प्राकृत द्वयाश्रय वृत्ति की प्रशस्ति के अनुसार मलधारी हेमचन्द्र राजमन्त्री थे। उनका नाम प्रद्युम्न था। चार पत्नियां छोड़कर उन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। इससे स्पष्ट है उनका परिवार बड़ा था।

जीवन-वृत्त

मुनि जीवन में राज्यमन्त्री प्रद्युम्न 'हेमचन्द्र' के नाम से विख्यात हुए। प्रौढ़ अवस्था में दीक्षित होकर उन्होंने श्रुत धर्म की विशेष आराधना की। व्याकरण, न्याय, प्रमाण आदि विविध विषयों का गहन अध्ययन किया, शताधिक ग्रन्थों का स्वाध्याय किया। विशालकाय ग्रन्थ भगवती सूत्र उन्हें पूरा कण्ठस्थ था। उनकी पैनी प्रतिभा शब्दमयी पर्तों को चीरकर अर्थ की गहराई तक पहुंच जाती थी।

आचार्य हेमचन्द्र व्याख्यान लब्धि से सम्पन्न थे। उनकी ध्वनि मेघ गर्जना की तरह गम्भीर थी। आधुनिक युग के ध्वनिवर्धक साधन उस समय नहीं थे, उनकी आवाज दूर तक स्पष्ट सुनाई देती थी। उनकी वाणी में ओज था। स्वर मधुर था। उनके व्याख्यानों में वैराग्य रस का निर्झर बहता था। प्रवचन शैली प्रभावक थी। उन्होंने आचार्य सिद्धर्षि द्वारा रचित अति कठिन 'उपमितिभव-प्रपंच' कथा पर तीन वर्ष तक प्रवचन किया। श्रोता उनको सुनने के लिए लालायित रहते थे। कई बार भीड़ होने के कारण लोग उपाश्रय के बाहर भी उन्हें सुनने का प्रयत्न करते थे।

चौलुक्य चूड़ामणि सिद्धराज जयसिंह मलधारी हेमचन्द्र के व्यक्तित्व से प्रभावित थे। मलधारी राजशेखर के कथनानुसार मलधारी हेमचन्द्र ने एक वर्ष में ८० दिन तक अमारि की घोषणा सिद्धराज जयसिंह से करवाई थी।

साहित्य

मलधारी हेमचन्द्र प्रवचनकार और साहित्यकार थे। विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति के अन्त में उन्होंने

---

१. श्री प्रश्नवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूतश्रेणीतलप्रथितकीर्तिरुदीर्णशाखः।
विश्वप्रसाधितविकल्पित-.....
वस्तुरुच्यैश्छायाश्रितप्रचुरनिर्वृतभव्यजन्तुः ॥१॥
ज्ञानादिकुसुमन्वितः फलितः श्रीमन्मुनीन्द्र फलवृन्दैः
कल्पद्रुम इव सच्छः श्रीहर्षपुरीय नामास्ति ॥२॥
एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधि
स्तुङ्गत्वप्रकृतिक्षमाधरपतिः सौम्यत्वतारापतिः।
सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमतपः स्वाचारचर्यानिधिः,
शान्तश्रीजयसिंहसूरिभवन्निःसंगचूडामणिः ॥३॥
विस्फूर्जन्कलिकालदुस्तरमः सन्तानतुप्तस्थितिः,
सूर्येणेव विवेकभूधरशिरस्यासाद्य येनोदयम्।
सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिश्रेणीः समुद्द्योतितो,
मार्गा सोऽभयदेवसूरिरभवत्तेभ्यः प्रसिद्धो भुवि ॥९॥
तच्छिष्यलवप्रायैरगीतार्थैरपि शिष्टजनतुष्टये।
श्रीहेमचन्द्र सूरिभिरियमनुरचिता शतकवृत्तिः ॥१०॥
(बन्धशतकवृत्ति प्रशस्ति)

स्वरचित दस ग्रन्थों की सूचना दी है एवं रचना का क्रम भी दिया है। क्रम इस प्रकार है

१. आवश्यक टिप्पण	२. शतक विवरण
३. अनुयोगद्वार वृत्ति	४. उपदेशमाला सूत्र
५. उपदेशमाला वृत्ति	६. जीवसमास विवरण
७. भवभावना सूत्र	८. भवभावना वृत्ति
९. नन्दी टिप्पण	१०. विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति।

'मुनि सुव्रत चरित्र' ग्रन्थ की प्रशस्ति में आचार्य मलधारी हेमचन्द्र के ९ ग्रन्थों की सूचना है। नन्दी टिप्पण का उल्लेख इसमें नहीं है। उनके ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

१. आवश्यक टिप्पण इस ग्रन्थ का नाम आवश्यक टिप्पण है।[२] आचार्य हरिभद्र की आवश्यक वृत्ति के कठिन स्थलों की सरल व्याख्या इसमें है। शब्दार्थ लिखकर भावार्थ लिखने की शैली टिप्पण ग्रन्थों की रही है। इस टिप्पण की रचना इसी शैली के आधार पर है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में और विशेषावश्यक भाष्य विवरण के अन्त में प्रस्तुत ग्रन्थ को आवश्यक टिप्पण नाम से सूचित किया गया है। ग्रन्थ का पूरा नाम 'आवश्यक वृत्ति-प्रदेश व्याख्या' है।[३] टीकाकार हरिभद्र के आवश्यक लघु वृत्ति ग्रन्थ के अंश का व्याख्यान इस ग्रन्थ में होने के कारण यह नाम अधिक सार्थक है। इस नाम की सूचना इस ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्ति में प्राप्त है। प्रस्तुत ग्रन्थ का एक और नाम हारिभद्रीयावश्यक वृत्ति टिप्पण भी है। ग्रन्थ का ग्रन्थमान ४६०० पद्य परिमाण है।

२. शतक विवरण बन्धशतक ग्रन्थ एक तात्त्विक रचना है। मूल ग्रन्थ के रचनाकार शिवशर्मा सूरि हैं। ग्रन्थ में उपयोग और योग के साथ गुणस्थानों एवं जीवस्थानों का वर्णन है। इसी प्रसंग में कर्मवाद की भी विस्तार से चर्चा है। मूल ग्रन्थकार शिवशर्मा सूरि ने इस ग्रन्थ का नाम बन्धशतक दिया है। मलधारी हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ पर 'विनयहिता' नामक प्रस्तुत वृत्ति की रचना की है। इससे मूल ग्रन्थ को समझने का मार्ग सुगम हुआ है। मूल ग्रन्थ में १०६ पद्य हैं। इस पर मलधारी जी की यह ३७४० पद्य परिमाण विस्तृत टीका है। इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में मलधारी की गुरु परम्परा है। ऐतिहासिक बिन्दुओं को प्राप्त करने के लिए टीका की प्रशस्ति महत्त्वपूर्ण है। विशेषावश्यक भाष्य की टीका में इस टीका का 'शतक विवरण' नाम से उल्लेख है।

३. अनुयोगद्वार वृत्ति इस वृत्ति में अनुयोगद्वार के सूत्रों की विस्तृत और सरल व्याख्या है। इस वृत्ति का ग्रन्थमान ५६०० पद्य परिमाण है। टीका में अनेक उदाहरण हैं। यह कृति ग्रन्थकार की प्रौढ़ रचना है। कृति के अध्ययन से ग्रन्थकार की गहन अध्ययनशीलता का अनुभव होता है। आगम के मर्मस्पर्शी विवेचन से स्पष्ट होता है आचार्य मलधारी हेमचन्द्र आगमों के मर्मज्ञ थे। उनकी यह वृत्ति अनुयोगद्वार की गहनता को समझाने के लिए उपयोगी है। आचार्य हरिभद्र ने भी इस ग्रन्थ पर टीका की रचना की, वह अत्यन्त संक्षिप्त थी तथा अधिकांशतया प्राकृत चूर्णि का अनुवाद मात्र थी। आचार्य मलधारी ने इस टीका की विस्तृत रचना कर पाठकों के लिए अनुयोगद्वार के प्रतिपाद्य को सुग्राह्य बना दिया। वर्तमान में यह टीका आधुनिक सम्पादन के साथ प्रकाशित हो गई है।

४. उपदेशमाला सूत्र यह आचार शास्त्र का विवेचक ग्रन्थ है। इसमें दान, शील, तप, भावना इन चार विषयों का विस्तार से विवेचन है। इस ग्रन्थ की मूल ५०५ गाथाएं हैं। प्राकृत भाषा में इसकी रचना हुई है। धार्मिक एवं लौकिक कथाओं का इस ग्रन्थ में उपयोग किया गया है। कई कथानक सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपञ्चकथा से लिए गए हैं। सर्वसाधारण के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है।

---

२. संक्षेपादावश्यकविषयं टिप्पणमहं वच्मि।
(आवश्यक टिप्पण)

३. श्रीमदभयदेवसूरिचरणाम्बुजचञ्चरीक श्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितमावश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्यानकं समाप्तम्।
(आवश्यकवृत्तिप्रदेशव्याख्या प्रशस्ति)

५. **उपदेशमाला वृत्ति** यह संस्कृत टीका है। इसमें प्राकृत गद्य-पद्य कथाओं का उपयोग हुआ है। यह वृहद् जैन कथाकोष है। इसमें कई कथाएं उद्धृत हैं। कई कथाओं की रचना कथाकार की मौलिक है। मूल ग्रन्थ में दृष्टान्तों एवं कथाओं के संकेत हैं। टीका में कथाओं का विस्तार से वर्णन है। यह ग्रन्थ १३८६८ पद्य परिमाण है एवं कथा साहित्य की अमूल्य निधि है। आधुनिक सम्पादन के साथ यह ग्रन्थ प्रकाशित है।

६. **जीवसमास विवरण** जीवसमास किसी अन्य आचार्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था। इस पर आचार्य मलधारी ने टीका रचना की है। इस टीका में चतुर्दश गुणस्थानों का समग्रता के साथ विवेचन हुआ है। अजीव तत्त्व का इसमें संक्षिप्त प्रतिपादन है। मूलतः गुणस्थानों के साथ तत्त्व की सर्वग्राही चर्चा होने के कारण इस कृति का नाम जीवसमास है। कृति की रचना वी. नि. १६३४ (वि. ११६४) की है। मलधारी हेमचन्द्र से पूर्व इस ग्रन्थ पर टीकाएं विद्यमान थीं पर हेमचन्द्राचार्य ने इस टीका की रचना कर सैद्धान्तिक विषय में प्रवेश पाने के लिए तथा जीव तत्त्व को समझने की दृष्टि से पाठकों का मार्ग अधिक सुगम किया है।

७. **भव-भावना सूत्र** यह ग्रन्थकार की प्राकृत रचना है। इसमें बारह भावनाओं का विवेचन है तथा मुख्य रूप से संसार भावना का विवेचन है। अतः इस कृति का भव भावना नाम सार्थक है। इस कृति के ५३१ पद्य हैं। भव भावना का वर्णन ३२२ पद्यों में है। यह कृति वैराग्य भावना की परिवर्धक है।

८. **भव भावना वृत्ति** यह संस्कृत टीका है। इसमें कई प्राकृत कथाएं उद्धृत हैं, उपदेशमाला विवरण की कथाओं के माध्यम से इन्हें व्याख्यापित किया है। इसमें रोचक ढंग से आध्यात्मिक रूपक भी दिए गए हैं। इस कृति की सम्पन्नता वी. नि. १६४७ (वि. सं. ११७७ ई. ११२०) श्रावण मास की पंचमी रविवार के दिन हुई।[४] विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति में प्राप्त उल्लेखानुसार वी. नि. १६४५ (वि. सं. ११७५ ई. १११८) में भाष्यवृत्ति की रचना पूर्ण हुई। इस आधार पर यह टीका ग्रन्थकार की अन्तिम रचना है।

९. **नन्दी टिप्पण** नाम के आधार पर इस टिप्पण ग्रन्थ में ज्ञान पंचक की चर्चा अनुमानित होती है। यह हरिभद्र की नन्दी टीका का टिप्पण हो सकता है। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

१०. **विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति** मलधारी हेमचन्द्र की यह वृत्ति जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य पर है। इसमें सामायिक अध्ययन तक की व्याख्या है। अन्य आचार्यों ने कई टीकाएं इस ग्रन्थ पर रची हैं। यह टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा अधिक विस्तृत होने के कारण इसे वृहद्-वृत्ति कहा जाता है, पर ग्रन्थकार ने इसे केवल वृत्ति की संज्ञा दी है। इसका दूसरा नाम शिष्यहिता वृत्ति भी है। यह दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें मुख्यतः दार्शनिक विषयों की चर्चा है। ग्रन्थ की शैली सरल और सुबोध है। प्रश्नोत्तर प्रधान इसकी शैली होने के कारण यह रचना अधिक प्रभावक हुई है। इसे पढ़ते हुए पाठक का मन तन्मय हो जाता है। अनेक स्थानों पर संस्कृत कथाओं के प्रस्तुतिकरण ने इसे अधिक रुचिप्रद बना दिया है। यह एक रचना ही मलधारीजी के व्यक्तित्व की परिचायिका है। इससे संस्कृत टीका साहित्य की श्रीवृद्धि सुविस्तृत हुई है। यह वृत्ति राजा सिद्धराज जयसिंह के राज्य में वी. नि. १६४५ (वि. सं. ११७५) में कार्तिक शुक्ला पंचमी के दिन सम्पन्न हुई थी। वृत्ति ग्रन्थों में मलधारी हेमचन्द्र की यह सर्वाधिक विशाल वृत्ति है। इसका ग्रन्थमान २८००० पद्य परिमाण है।

ग्रन्थों का पद्य परिमाण

मुनि सुव्रत चरित ग्रन्थ की प्रशस्ति में आचार्य मलधारी के ९ ग्रन्थों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के अनुसार मलधारी

४. सप्ततयधिकैकादशवर्षशतैतिक्रमादतिक्रांतैः।
निष्पन्ना वृत्तिरियं श्रावणरविपञ्चमीदिवसे॥
(भवभावना विवरण प्रशस्ति)

हेमचन्द्र की सर्वप्रथम रचना उपदेशमालामूल और भवभावनामूल नामक ग्रन्थ है। मलधारीजी ने इन दोनों ग्रन्थों पर क्रमशः १४ हजार और १३ हजार पद्य परिमाण वृत्ति की रचना भी की थी। इन चार ग्रन्थों की रचना के बाद उन्होंने अनुयोगद्वार पर ६ हजार पद्य परिमाण, जीवसमास पर ७ हजार पद्य परिमाण और शतक ग्रन्थ (बन्ध शतक) की ४ हजार पद्य परिमाण वृत्ति की रचना की। हरिभद्र कृत आवश्यक वृत्ति का ५ हजार पद्य परिमाण टिप्पण रचा। मलधारीजी के ग्रन्थों में सर्वाधिक विशाल वृत्ति विशेषावश्यक भाष्य की है। यह वृत्ति २८ हजार पद्य परिमाण बताई गई है।

अनशन की स्थिति जीवन के अन्तिम समय में मलधारी हेमचन्द्र को सात दिन का अनशन आया। जैन धर्म की प्रभावना हुई। राजा सिद्धराज जयसिंह मलधारी हेमचन्द्राचार्य की प्रज्ञा से प्रभावित थे। वे उनकी शव यात्रा में सम्मिलित हुए थे।

शिष्य-वर्ग विजयसिंह, श्रीचन्द्र, विबुधचन्द्र नामक उनके तीन विद्वान् शिष्य थे। श्रीचन्द्रसूरि प्रसिद्ध साहित्यकार थे। साहित्य साधना से इन्होंने अपने गुरु हेमचन्द्र का नाम उजागर किया। मलधारीजी के शिष्य विजयसिंह सूरि वी. नि. १६१२ (वि. सं. ११४२, ई. १०८५, शक १००७) में विद्यमान थे।

समय-संकेत

आचार्य मलधारी हेमचन्द्र के आचार्य-पद ग्रहण और स्वर्गवास के समय का उल्लेख नहीं मिलता। मलधारी हेमचन्द्र के गुरु मलधारी अभयदेव का स्वर्गवास वी. नि. १६३८ (वि. सं. ११६८, ई. ११११) में हुआ। इस आधार पर मलधारी हेमचन्द्राचार्य का पद-ग्रहण समय वी. नि. १६३८ (वि. सं. ११६८, ई. ११११) हो सकता है।

मलधारी हेमचन्द्र द्वारा हस्तलिखित जीवसमास की वृत्ति की प्रति के अन्त में प्रदत्त प्रशस्ति के उल्लेखानुसार यह प्रति वी. नि. १६३४ (वि. सं. ११६४, ई. ११०७, श. १०२९) में लिखी गई है।[५] विशेषावश्यक भाष्य की वृहद्वृत्ति की सम्पन्नता वी. नि. १६४५ (वि. सं. ११७५, ई. १११८, श. १०४०) में हुई। मलधारी हेमचन्द्र के ग्रन्थों में वि. सं. ११७७ के बाद का उल्लेख नहीं है। आधुनिक अनुसन्धाता सुधीजनों की दृष्टि से मलधारी हेमचन्द्र का समय वी. नि. १६५० (वि. सं. ११८०, ई. ११२३) से आगे सम्भव नहीं है। अतः अपने युग के प्रकाण्ड विद्वान् मलधारी हेमचन्द्र वी. नि. १७वीं (वि. सं. १२वीं) शताब्दी के प्रभावशाली आचार्य थे एवं कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र से पूर्ववर्ती थे।

---

५. "ग्रन्थाग्र ६६२७। संवत् ११६४ चैत्र सुदि ४ सोमेऽद्येह श्रीमदणहिल्ल पाटके समस्त राजवलिविराजितमहाराजाधिराज-परमेश्वर-श्री मज्जयसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये एवं काले प्रवर्तमाने यमनियम-स्वाध्यायानुष्ठानरतपरमनैष्ठिकपण्डित-श्वेताम्बराचार्य-भट्टारक-श्रीहेमचन्द्राचार्येण पुस्तिका लि. श्री"

(जीवसमास वृत्ति प्रशस्ति)

६३. वादकुशल आचार्य वादिदेव

आचार्य वादिदेव दार्शनिक विद्वान् थे। वे प्रमाणनयतत्त्वलोकालङ्कार जैसी न्याय विषयक उत्तम कृति के रचनाकार थे। वादिदेवसूरि का मूल नाम देवसूरि था, पर वादकुशलता के कारण उनकी प्रसिद्धि वादिदेव के नाम से हुई। अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर उन्होंने जैन धर्म की विशेष प्रभावना की।

गुरु-परम्परा

वादिदेवसूरि के गुरु सुविहित परम्परा के मुनिचन्द्रसूरि थे।[1] मुनिचन्द्रसूरि उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि के गुरु बन्धु थे। उपाध्याय आम्रदेव बड़गच्छ के आचार्य उद्द्योतनसूरि के शिष्य थे। बड़गच्छ के सर्वदेवसूरि द्वारा नेमिचन्द्रसूरि की आचार्य पद पर नियुक्ति हुई। नेमिचन्द्रसूरि ने मुनिचन्द्रसूरि को अपना पट्टधर घोषित किया। न्याय-विद्या का अध्ययन मुनिचन्द्रसूरि ने पाटण में वादिवेताल शान्त्याचार्य के पास किया था। वादिदेवसूरि नेमिचन्द्रसूरि के पट्टधर मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य वादिदेव वैश्य वंशज थे। प्राग्वाट (पोरवार) उनका गोत्र था। उनके पिता का नाम वीरनाग और माता का नाम जिनदेवी था।[2] गुजरात प्रदेशान्तर्गत अष्टादशशती नामक प्रान्त का मदाहत नामक नगर उनका जन्मस्थल था। मदाहत नगर पर्वतमालाओं के बीच बसा हुआ दुर्गम स्थान था, जहां सूर्य की किरणों का प्रवेश भी कठिनता से होता था। 'प्रबन्ध पर्यालोचन' में प्राप्त उल्लेखानुसार पहाड़ के आस-पास का प्रदेश उस समय अष्टादशशती नाम से प्रसिद्ध था और वह गुजरात प्रान्त का एक प्रदेश था। मदाहत की शब्द रचना 'मण्डार' नगर का संकेत करती है पर वर्तमान का विख्यात नगर मण्डार पर्वतमालाओं से घिरा हुआ नहीं है। उसके पश्चिम भाग में छोटी-सी पहाड़ी है, अतः मदाहत नगर रचना सम्बन्धी वर्णन के अनुसार यह स्थान आबू की दक्षिणी उपत्यका में बसा महुआ गांव सम्भव है जो वैष्णवों का तीर्थस्थल है।[3]

जीवन-वृत्त

वादिदेवसूरि के पिता वीरनाग श्रेष्ठी प्राग्वाट वंश के गुणवान् व्यक्ति थे। मुक्ता की भांति उनका उज्ज्वल चरित्र था। वादिदेवसूरि की माता जिनदेवी सरलाशया, विनम्र, विवेक-सम्पन्न एवं साक्षात् देवी रूप थी। एक दिन जिनदेवी ने स्वप्न में चन्द्रमा को अपने में प्रवेश करते हुए देखा। उसने अपने स्वप्न की बात अपने गुरु मुनिचन्द्र के सामने कही। मुनिचन्द्रसूरि स्वप्न का फलादेश बताते हुए बोले

देवेश्चंद्रनिभः कोऽप्यवततार तवोदरे।
आनन्दयिष्यते विश्वं येन ते चेत्यमादिशत् ॥१२॥

(प्रभा. च., पृ. १७१)

बहिन! चन्द्रमा के समान कान्तिमान् प्राणी का तुम्हारी कुक्षि में अवतार हुआ है। यह प्राणी विश्व के लिए आनन्दकारी होगा।

गुरु के मुख से यह सुनकर जिनदेवी को अत्यन्त

---

१. अन्वये गुरवस्तस्य श्रीमुनिचन्द्रसूरयः।
सन्ति शान्तिकमन्त्राप्ते येषां नामक्षराण्यपि ॥१०॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७१)

२. सङ्घलोऽजीवनच्छाया राजमानः स्वतेजसा।
प्राग्वाटवंशमुक्तासीद् वीरनागाभिधो गृही ॥७॥
तत्प्रिया सत्क्रियाधारा प्रियङ्गुरगुणावनिः।
जिनदेवीति देवीव मैना हिमवती बभौ ॥८॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७१)

३. प्रबन्ध पर्यालोचन, पृ. ९१।

प्रसन्नता हुई। गर्भकाल की सम्पन्नता पर उसने वी. नि. १६२३ (वि. सं. ११४३, ई. १०८६) में तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चन्द्र-स्वप्न के आधार पर पिता वीरनाग ने पुत्र का नाम पूर्णचन्द्र रखा।[४]

वीरनाग श्रेष्ठी नगर में अपने परिवार सहित आनन्द से रह रहे थे। माता-पिता के संरक्षण में चन्द्रकला की भांति बालक पूर्णचन्द्र भी दिन-प्रतिदिन विकास कर रहा था। एक दिन नगर में उपद्रव हो गया। उपद्रव से बचने के लिए वीरनाग श्रेष्ठी को गांव छोड़ना पड़ा। परिवार को लेकर वीरनाग ने दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। इधर-उधर घूमता हुआ श्रेष्ठी परिवार लाट देश के प्रसिद्ध नगर भृगुकच्छ (भरूच) में पहुंच गया। पुण्योदय से व्यक्ति को दूर अनजाने प्रदेश में भी अनुकूल सहयोग मिल जाता है। वीरनाग श्रेष्ठी के शुभ-संयोग से गुरु मुनिचन्द्रसूरि का आगमन उस समय भृगुकच्छ में हुआ। वीरनाग श्रेष्ठी को गुरु-दर्शन से अत्यन्त प्रसन्नता हुई। धर्मोपासक बन्धुओं ने वीरनाग श्रेष्ठी के रहने की व्यवस्था धार्मिक वात्सल्य के कारण मुनिचन्द्रसूरि के पास धर्म स्थान पर ही की। इस व्यवस्था में प्रमुख निमित्त श्रेष्ठी वीरनाग पर मुनिचन्द्रसूरि का विशेष वात्सल्य भाव ही था। श्रेष्ठी वीरनाग का पुत्र बालक पूर्णचन्द्र उस समय लगभग ८ वर्ष का था। वह अपनी योग्यतानुसार वाणिज्य करने लगा। वस्तुओं को बेचने के लिए वह घर-घर जाता था। बालक की मीठी सरल वाणी सुनकर लोग प्रसन्न होते, वे उसे खुशी में खाने के लिए मधुर दाख आदि प्रदान करते थे।

दुर्भाग्य से किसी श्रेष्ठी के घर में स्वर्ण मोहरें और सिक्के कोयले या पत्थर के टुकड़े बन गए। श्रेष्ठी उन्हें व्यर्थ समझकर अवकर पर गिरा रहा था। बालक पूर्णचन्द्र ने यह देखा और विस्मित होकर बोला

"आप जीवनौषध के समान इन बहुमूल्य स्वर्ण जैसी द्रव्य राशि को क्यों फेंक रहे हैं?"

श्रेष्ठी समझदार, चतुर और विवेक सम्पन्न था। उसने सोचा यह पुण्यवान् बालक है जो स्वर्ण सिक्के मेरी दृष्टि में कंकर, पत्थर और कोयला मात्र हैं, वे इसे अवश्य अपने असली रूप में दिखाई दे रहे हैं। बुद्धिमान श्रेष्ठी ने बांस से बना पात्र बालक को दिया और कहा "प्रिय पुत्र! मेरे द्वारा फेंका जाने वाला द्रव्य इस 'पात्र' में भरकर तुम मुझे दे दो।" बालक ने वैसा ही किया। पत्थर के टुकड़ों की तरह दीखने वाले सिक्के और मोहरें बालक के स्पर्श मात्र से स्वर्ण सिक्कों में दिखाई देने लगे। श्रेष्ठी बहुत प्रसन्न हुआ और एक स्वर्ण सिक्का उसे प्रदान किया। बालक घर लौटा। उसने सिक्का अपने पिता के हाथ में दिया। पिता वीरनाग ने पुत्र से सारा वृत्तान्त सुनकर मुनिचन्द्रसूरि को निवेदन किया। मुनि चन्द्रसूरि ने सोचा यह बालक कोई उत्तम पुरुष है

दर्शयन्ती स्वरूपाणि लक्ष्मीर्यस्याभिलाषुका ॥२७॥

(प्रभा. च. पृ. १७१)

लक्ष्मी स्वयं अपना रूप इसके सामने प्रकट कर रही है। चन्द्रमा के समान ज्योति इसके चेहरे पर चमक रही है। यह मुनि बनकर जैन शासन की उन्नति करेगा। मुनिचन्द्रसूरि ने श्रेष्ठी वीरनाग से कहा "तुम अपने इस पुत्र को हमारे धर्मसंघ के लिए समर्पित कर दो।" श्रेष्ठी वीरनाग बोला "गुरुदेव! मेरे एक ही पुत्र है। मैं वृद्ध हो गया हूं। किसी प्रकार का व्यवसाय करने में मैं असमर्थ हूं। इसकी माता भी वृद्ध हो गई है। हमारी वृद्धावस्था में सहारा देने वाला यही एक कुलदीप है, अतः मैं इसका धर्मसंघ के लिए समर्पण कैसे कर सकता हूं?" मुनिचन्द्र बोले "मेरे पांच सौ शिष्य सब तुम्हारे पुत्र हैं।" गुरु के आग्रह पर पिता वीरनाग, माता जिनदेवी ने अपने पुत्र को गुरुदेव के चरणों में भेंट कर

---

४. हृदयानन्दने तत्र वर्धमाने च नन्दने।
चन्द्रस्वप्नात् पूर्णचन्द्र इत्याख्यां तत्पिता व्यधात् ॥१४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७१)

दिया। मुनिचन्द्रसूरि योग्य बालक को पाकर प्रसन्न हुए। उन्होंने पूर्णचन्द्र को वी. नि. १६२२ (वि. सं. ११५२) में मुनि-दीक्षा प्रदान की।[५] दीक्षा ग्रहण करते समय बालक पूर्णचन्द्र की उम्र ९ वर्ष की थी। नवदीक्षित मुनि का नाम रामचन्द्र रखा गया।

रामचन्द्र मुनि प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होंने आचार्य मुनिचन्द्र से न्याय विषयक ज्ञान ग्रहण किया। जैन, जैनेतर सिद्धान्तों का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। वे शास्त्रार्थ करने में निपुण थे।

शिवाद्वैतं वदन् धन्धः पुरे धवलके द्विजः।
काश्मीरः सागरो जिग्ये वादात् सत्यपुरे पुरे ॥३९॥
तथा नागपुरे क्षुण्णो गुणचन्द्रो दिगम्बरः।
चित्रकूटे भागवतः शिवभूत्याख्यया पुनः ॥४०॥
गङ्गाधरो गोपगिरौ धारायां धरणीधरः।
पद्माकरो द्विजः पुष्करिण्यां बादमदोद्धुरः ॥४१॥
जितश्च श्रीभृगुक्षेत्रे कृष्णाख्यो ब्राह्मणाग्रणीः।
एवं वादजयोन्मुद्रो रामचन्द्रः क्षितावभूत् ॥४२॥

(प्रभा. च., पृ. १७२)

धवलक नगर में शैव मत समर्थक धन्ध नामक ब्राह्मण विद्वान् के साथ, सत्यपुर नगर में काश्मीर निवासी विद्वान् सागर के साथ, नागपुर में दिगम्बर मनीषी गुणचन्द्र के साथ, चित्रकूट (चित्तौड़) में भागवत मतानुयायी शिवभूति के साथ, गोपगिरि (ग्वालियर) में गङ्गाधर के साथ, धारा में धरणीधर के साथ, पुष्यकरिणी में पद्माकर ब्राह्मण पण्डित के साथ, भृगुकच्छ में ब्राह्मणाग्रणी कृष्ण के साथ शास्त्रार्थ कर रामचन्द्र मुनि विजयी बने।

विद्वान् विमलचन्द्रोऽथ हरिचन्द्रः प्रभानिधिः।
सोमचन्द्रः पार्श्वचन्द्रो विबुधः कुलभूषणः ॥४३॥
प्राज्ञः शान्तिस्तथाऽशोकचन्द्रश्चन्द्रोल्लसयशाः।
अजायन्त सखायोऽस्य मेरोरिव कुलाचलाः ॥४४॥

(प्रभा. च., पृ. १७२)

विमलचन्द्र, हरिचन्द्र, सोमचन्द्र, पार्श्वचन्द्र, शान्तिचन्द्र और अशोकचन्द्र ये छह विद्वान् मुनि रामचन्द्र के वाग्मित्व से प्रभावित होकर उनके परम सखा बन गए।)

मुनिचन्द्रसूरि ने शास्त्रार्थ निपुण, चर्चावादी, न्यायशास्त्र विशेषज्ञ अपने परम योग्य शिष्य रामचन्द्र को वी. नि. १६४४ (वि. ११७४) में आचार्य पद पर नियुक्त किया।[६] मुनि रामचन्द्र का नाम आचार्य पदारोहण के समय देव रखा गया। इसी अवसर पर चन्दनवाला नामक साध्वी को महत्तरा पद से अलंकृत किया गया। साध्वी चन्दनबाला श्रेष्ठी वीरनाग की पत्नी थी और मुनि रामचन्द्र (वादिदेवसूरि) की माता थी। महत्तरा पद से प्रतिष्ठित करने के बाद साध्वी जिनदेवी का नाम चन्दनबाला रखा गया।[७]

आचार्य मुनिचन्द्र के आदेश से वे स्वतन्त्र विहरण करने लगे। एक बार वे धवलक नगर में पहुंचे।[८] वहां जैन धर्म की महती प्रभावना हुई। धवलक नगर के श्रमणोपासकों में उदय नामक श्रावक प्रमुख था। धर्म वह प्रचारक कार्य में सहयोगी था।[९]

एक बार देवसूरि ने सपादलक्ष (साम्भर) में विहरण करने के उद्देश्य से यात्रा प्रारम्भ की। मध्यवर्ती ग्रामों का स्पर्श करते हुए वे आबू पहुंचे। आबू की चढ़ाई

५. तदम्बां च यथादेशकारिणीममनुमान्य च।
पूर्णचन्द्रं दृढ़भक्तिं प्रभवः समदीक्षयन् ॥३५॥
रामचन्द्राभिधां तस्य दद्युरानन्दनाकृतेः।
दर्शनोल्लासिनः सङ्ख्यसिन्धुवृद्धिविधायिनः ॥३६॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७२)

६. ततो योग्यं परिज्ञाय रामचन्द्रं मनीषिणम्।
न्यष्ठिपन् पदे दत्तदेवसूरिवराभिधम् ॥४५॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७२)

७. महत्तराप्रतिष्ठां च व्यधुर्विधुरिताहसः।
श्रीमच्चन्दनबालेति नामास्याः प्रददुर्मुदा ॥४७॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७२)

८. अन्यदा गुर्वनुज्ञाताः श्रीमन्तो देवसूरयः।
विहारमादधुः पूज्याः पुरे धवलकाभिधे ॥४८॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७२)

९. उदयो नाम तत्रास्ति विदितो धार्मिकाग्रणीः।
श्रीमत्तीर्थंधरस्वामिबिम्बं तेन व्यधापयत् ॥४९॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७२)

करते समय पाटण नरेश का मन्त्री अम्बाप्रसाद भी उनके साथ था। मन्त्री अम्बाप्रसाद को सांप ने काट लिया। अन्य किसी भी प्रकार की चिकित्सा का सहारा नहीं लेकर देवसूरि के पाद प्रक्षालित जल से सर्पदंशित स्थान को धोया। चरणोदक के स्पर्श से जहर उतर गया।[10] लोग इस चामत्कारिक प्रयोग को देखकर विस्मित हुए। जन-जन की जबान पर देवसूरि का नाम गूंजने लगा। आबू की यात्रा सानन्द सम्पन्न हुई।

यहां से देवसूरि का विहार सपादलक्ष (साम्भर) की ओर होने वाला था। अम्बादेवी ने साक्षात् प्रकट होकर उनको कहा "मैं बहुमानपूर्वक आपसे निवेदन करती हूं कि आपका इस समय पुनः पाटण की ओर विहार उपयुक्त है। गुरुदेव का आयुष्य आठ मास का बाकी है।" यह कहकर देवी अन्तर्ध्यान हो गई।

देवसूरि ने देवी के वचनों के आधार पर सपादकक्ष (साम्भर) की यात्रा स्थगित कर, आबू से गुजरात की ओर प्रस्थान किया। वे पाटण पहुंचे। गुरु-दर्शन करके प्रसन्न हुए। उन्होंने अम्बादेवी के वचनों को गुरु के समक्ष निवेदन किया।

देवी वचनों से अपनी मृत्यु काल का बोध प्राप्त कर अभय वृत्ति के साधक मुनिचन्द्रसूरि को आनन्द की अनुभूति हुई।

एक दिन पाटण नगर में भागवत दर्शन को मानने वाला उद्भट विद्वान् देवबोध आया। कई शास्त्रार्थों में विजयी होने के कारण उसे अपनी ज्ञानशक्ति और वादशक्ति पर गर्व था। राजसभा के द्वार पर उसने एक लघुपट्टिका लटका दी जिस पर एक श्लोक लिखा हुआ था

एक द्वित्रिचतुः पंचषण्मेनकमनेन काः।
देवबोधे मयि क्रुद्धे षण्मेनकमनेनकाः ॥६३॥

(प्रभावक चरित्र, पृ. १७३)

इस श्लोक का अर्थ करने के लिए नगर के सभी विद्वान् आमन्त्रित थे। छः महीने बीत गए। कोई भी विद्वान् श्लोक का अर्थ नहीं बता सका। उस समय मन्त्री अम्बाप्रसाद ने सिद्धराज जयसिंह से निवेदन किया, "राजन्! सुज्ञशिरोमणि आचार्य वादिदेवसूरि प्रस्तुत श्लोक का अर्थ करने में समर्थ हैं।" मन्त्री की सलाह पर नरेश ने देवसूरि को राजसभा में आमन्त्रित किया। राज निमन्त्रण पर देवसूरि आए। गिरिनदी का प्रवाह जैसे पर्वतशिला को भेद देता है उसी प्रकार पंक्ति का भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ करके देवसूरि ने राजसभा में नरेश के समक्ष श्लोक की स्पष्ट व्याख्या की। सभी सभासद इस प्रकार की व्याख्या सुनकर प्रसन्न हुए। राजा भी सन्तुष्ट था, जैन धर्म की विशेष प्रभावना हुई।

मुनिचन्द्रसूरि ने मृत्युकाल नजदीक जानकर अनशन किया। परम समाधि की अवस्था में उनका वीर निर्वाण १६४८ (वि. ११७८, ई. ११२१) में स्वर्गवास हुआ।[11] शासनदेवी की बात सत्य प्रमाणित हुई।

मुनिचन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद वादिदेवसूरि मारवाड़ की तरफ आए। विद्वान् देवबोध द्वारा वादिदेवसूरि की प्रशंसा सुनकर सपादकलक्ष (साम्भर) के राजा ने उनका स्वागत किया।

इस समय पाटण नरेश सिद्धराज ने सपादलक्ष पर आक्रमण किया और चारों ओर से नरेश को घेर लिया परन्तु नरेश को जब यह ज्ञात हुआ कि देवसूरि यहीं विराजमान हैं, उसने सोचा 'मध्यस्थितेऽत्र तन्मित्रे दुर्गं लातुं न शक्यते।' मित्र देवसूरि के यहां रहते विजय पाना कठिन है यह सोचकर सिद्धराज जयसिंह ने चुपचाप अपना घेरा उठा लिया तथा अपने देश की ओर प्रस्थान किया। सन्तजनों का प्रभाव अद्वितीय होता है। पाटण पहुचंकर नरेश सिद्धराज जयसिंह ने देवसूरि को

---

१०. मन्त्रिणोऽम्बप्रसादस्य गिरिमारोहतः सह।
गुरुभिः कर्मवैचित्र्याद् दन्दशूकोऽदशत् पदे ॥५४॥
ज्ञात्वा ते प्रेषयंस्तस्य हेतुं पादोदकं तदा।
धौतमात्रे तदा तेन दंशाऽसौ निर्विषोऽभवत् ॥५५॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७२)

११. शतैकादशके साष्टसप्ततौ विक्रमार्कतः।
वत्सराणां व्यतिक्रान्ते श्रीमुनिचन्द्रसूरयः ॥७१॥
आराधनाविधिश्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम्।
शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः ॥७२॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७३)

अपने देश में बुलाया। उसके बाद पुनः आक्रमण कर पाटण नृपति ने सपादलक्ष (साम्भर) के किले को हस्तगत किया। सपादलक्ष (साम्भर) यात्रा के बाद देवसूरि का प्रथम चातुर्मास पाटण में और द्वितीय चतुर्मास कर्णावती में हुआ। दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र का पावस-प्रवास भी वहीं था। इस प्रवास के बाद दोनों पाटण आए। पाटण के अधिपति सिद्धराज जयसिंह की अध्यक्षता में वी. नि. १६५१ (वि. सं. ११८१, ई. ११२४) में वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन देवसूरि का दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ हुआ।[१२] केशव आदि तीन विद्वान् एवं कई नागरिकजन विद्वान् कुमुदचन्द्र के पक्ष का तथा भाभू (भानु) और महाकवि श्रीपाल आचार्य देवसूरि के पक्ष का समर्थन कर रहे थे।[१३]

'तस्मिन् महर्षिरुत्साहः सागरश्च कलानिधिः।
प्रज्ञाभिरामो रामश्च नृपस्यैते सभासदः ॥२१०॥'

(प्रभावक चरित्र, पृ. १७६)

महर्षि 'उत्साह' कलानिधि 'सागर' और प्रज्ञाभिराम 'राम' ये तीन विद्वान् राजा के प्रमुख सभासद थे।

कोषाध्यक्ष गाङ्गिल कुमुदचन्द्र के पक्ष में था।[१४] पाटण के श्रीसम्पन्न श्रेष्ठी वाहड़ और नागदेव ये दोनों देवसूरि के पक्ष में थे।[१५] इन दोनों ने देवसूरि से निवेदन किया "आर्यदेव! शास्त्रार्थ में विजय हेतु हमारे द्वारा अर्जित धन का यथेष्ठ उपयोग किया जा सकता है।"

इन दोनों की भावपूरित भावना सुनकर देवसूरि बोले "धर्मानुरागी आर्यजनो! शास्त्रार्थ में धनबल से अधिक प्रज्ञाबल आवश्यक है। देव, गुरु की कृपा से सब ठीक होगा।"

देवसूरि के शब्दों में आत्मबल था। इस शास्त्रार्थ में दोनों पक्षों द्वारा एक प्रतिज्ञा-पत्र स्वीकृत किया गया जिसका भावार्थ था कि दिगम्बरों की शास्त्रार्थ में पराजय होने पर वे पाटण छोड़कर दक्षिण चले जाएंगे, श्वेताम्बर पक्ष की पराजय होने पर अपनी मान्यता परित्याग कर दिगम्बरत्व स्वीकार कर लेंगे।[१६]

नागरिकजन इस शास्त्रार्थ को सुनने के लिए उत्सुक थे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ओर से अपनी मान्यताओं का युक्ति पुरस्सर प्रतिपादन एवं विपक्ष का निरसन किया गया।

देवसूरि ने स्त्री-मुक्ति विषय के समर्थन में मुक्तिगामिनी मरुदेवी माता आदि के उदाहरणों की प्रस्तुति के साथ राजमाता की ओर संकेत करते हुए कहा राजमाता मयणल्ला महान् सत्यशालिनी है, अतः महिलाओं को तुच्छसत्वा कौन कह सकता है? महिला भी अपने सत्व और पुरुषार्थ द्वारा मुक्तिसाम्राज्य को प्राप्त करने में समर्थ है।

देवसूरि ने शान्त्याचार्य रचित उत्तराध्ययन की टीका के आधार पर अनेक तर्क प्रस्तुत किए, इन तर्कों को श्रोताओं द्वारा ग्रहण करना कठिन हो गया।

देवसूरि की इस शास्त्रार्थ में विजय हुई।[१७] मुख्य

---

१२. चन्द्राष्टशिववर्षेऽत्र (११८१) वैशाखे पूर्णिमादिने।
आहूतौ वादशालायां तौ वादिप्रतिवादिनौ ॥१९३॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७८)

१३. देवाचार्यश्च भाभूश्च श्रीपालश्च महाकविः।
पक्षे दैगम्बरे तत्र केशवत्रितयं मतम् ॥२१२॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७६)

१४. अथाह वाहडो नाथाशाम्बरेण धनव्ययात्।
तत्रस्थेन धनाध्यक्षाद्गृहिता गाङ्गिलादयः ॥१५७॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७७)

१५. एकाग्रमानसौ तत्र शासने पक्षपातिनौ।
वाहडो नागदेवश्च सह वा जग्मतुर्मुदा ॥२०१॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७८)

१६. दिगम्बरो विजीयेत चेत् तन्नयकारपूर्वकम्।
निर्वास्योऽतः पुराद् धृत्वा परिस्पन्दं स चौरवत् ॥१८२॥
अथ श्वेताम्बरो हारयेत् तत्तस्य शासनम्।
उच्छिद्याशाम्बरत्वेनावस्थाप्यं तैः स्थितैः किमु ॥१८३॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७८)

१७. महर्षिः प्राह संपूर्णा वादमुद्राऽत्र दृश्यते।
दिगम्बरो जितः श्वेताम्बरो विजयमाप च ॥२३०॥
(प्रभावक चरित, पृ. १७६)

सभासदों द्वारा विजय का समर्थन हुआ। नरेश सिद्धराज जयसिंह ने देवसूरि को वादि की उपाधि प्रदान की एवं लिखित राजपत्र एवं दान देकर उनका विशेष सम्मान किया। अपरिग्रही देवसूरि द्वारा यह दान अस्वीकार करने पर अन्य धार्मिक प्रवृत्तियों में इस अर्थ-राशि का उपयोग हुआ। इस विजय के बाद देवसूरि वादिदेवसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इस शास्त्रार्थ में विद्वान् राजवैतालिक, सिद्धान्त प्रवीण श्रीचन्द एवं युवा सन्त हेमचन्द्राचार्य भी उपस्थित थे। तीनों विद्वानों ने इस शास्त्रार्थ की प्रशंसा की। हेमचन्द्राचार्य ने कहा

यदि नाम कुमुदचन्द्रं नाजेष्यद् देवसूरिरहिमरुचिः।
कटिपरिधानमधास्यत कतमः श्वेताम्बरो जगति ॥२५१॥

(प्रभावक चरित्, पृ. १८०)

इस शास्त्रार्थ में देवसूरि के हेमचन्द्राचार्य महान् सहयोगी थे। शास्त्रार्थ से पूर्व दिगम्बर मतानुयायी राजमाता को श्वेताम्बर मत का बोध देकर अपने पक्ष के अनुकूल बनाने का कार्य हेमचन्द्राचार्य ने किया था।

यह सारा प्रकरण प्रभावक चरित्र ग्रन्थ के वादिदेवसूरि प्रबन्ध में है जो उस समय की शास्त्रार्थ पद्धति एवं वादरसिक मनोवृत्ति की जानकारी देता है।

आचार्य वादिदेव ने मारवाड़, गुजरात आदि क्षेत्रों में धर्मप्रचार किया। अपने पद पर उन्होंने मुनि भद्रेश्वर को नियुक्त किया।[१८]

साहित्य

आचार्य वादिदेव कुशल साहित्यकार थे। विभिन्न दर्शनों का अवगाहन कर उन्होंने 'प्रमाणनयतत्वलोकालंकार' की रचना की। यह ग्रन्थ ३७४ सूत्र और ८ परिच्छेदों में निबद्ध न्यायविषयक मौलिक रचना है।

इस ग्रन्थ पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक स्वोपज्ञ टीका भी है।[१९]

आचार्य वादिदेव आचार्य सिद्धसेन की कृतियों के पाठक थे। आचार्य सिद्धसेन दिवाकरजी का 'सन्मतितर्क' उनका प्रिय ग्रन्थ था। 'स्याद्वाद-रत्नाकर' की रचना में उन्होंने 'सन्मतितर्क' का उल्लेख किया है।

आचार्य वादिदेव की शिष्य मण्डली में भद्रेश्वर और रत्नप्रभ नामक विद्वान् श्रमण थे। 'स्याद्वाद-रत्नाकर' की रचना में इन दोनों शिष्यों का उन्हें पूर्ण सहयोग था।

समय-संकेत

वादिदेवसूरि ९ वर्ष की अवस्था में मुनि बने, ३१ वर्ष की अवस्था में सूरिपद पर सुशोभित हुए, कुल संयम-पर्याय का ७४ वर्ष तक पालन कर एवं सूरिपद को लगभग ५२ वर्ष तक अलंकृत कर आचार्य वादिदेव वी. नि. १६९६ (वि. सं. १२२६) श्रावण कृष्णा सप्तमी के दिन ८३ वर्ष की अवस्था में स्वर्गगामी हुए।[२०]

आचार्य वादिदेव के जीवन से सम्बद्ध विशेष घटनाओं के परिचायक संवत् निम्नोक्त श्लोकों में है

रसयुग्मरवौ वर्षे (१२२६) श्रावणो मासि सङ्गते।
कृष्णपक्षस्य सप्तम्यामपराह्णे गुरोर्दिने ॥२८४॥
मर्त्यलोकस्थितं लोकं प्रतिबोध्य पुरन्दरम्।
बोधिका इव ते जग्मुर्दिवं श्रीदेवसूरयः ॥२८५॥
शिखिवेदशिवे (११४३) जन्मदीक्षा युग्मशरेश्वरे (११५२)।
वेदाश्वशंकरे वर्षे (११७४) सूरित्वमभवत् प्रभोः ॥२८६॥
नवमे वत्सरे दीक्षा एकविंशत्तमे तथा।
सूरित्वं सकलायुश्च त्र्यशीतिवत्सरा अभूत् ॥२८७॥

(प्रभावक चरित, पृ. १८१, १८२)

---

१८. श्रीभद्रेश्वरसूरीणां गच्छभारं समर्प्य ते।
जैनप्रभावनास्थेमनिस्तुषश्रेयसि स्थिताः ॥२८३॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८१)

१९. स्याद्वादपूर्वक रत्नाकरं स्वादुचोऽमृतम्।
प्रमेयशतरत्नाढ्यमभुक्त स किल प्रिया ॥२८०॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८१)

२०. इति श्रीदेवसूरीणामसंख्यातिशयस्पृशाम्।
वर्षाणां त्र्यधिकाशीतिरत्यकामदतन्द्रिणाम् ॥२८२॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८१)

६४. कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र

श्रीहेमचन्द्रसूरिणामपूर्वं वचनामृतम्।
जीवातुर्विश्वजीवानां राजवित्तावनिस्थितम्॥

'आचार्य हेमचन्द्र के वचन समस्त प्राणियों के लिए अमृत तुल्य हैं।' प्रभाचन्द्राचार्य के इन शब्दों में अतिरञ्जन नहीं है। हेमचन्द्र युग संस्थापक आचार्य थे। वे प्रज्ञा सम्पन्न थे। सार्धत्रय कोटि पद्यों की रचना कर उन्होंने सरस्वती के भण्डार को साहित्य से भरा। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह को अध्यात्म से प्रभावित कर एवं उनके उत्तराधिकारी नरेश कुमारपाल को व्रत दीक्षा प्रदान कर जैन शासन के गौरव को सहस्र गुणित किया। उनके ज्ञान सूर्य की किरणों के प्रसार से गुजरात पुलक उठा। धरा का कण-कण अध्यात्म-आलोक से जगमगा गया। सामाजिक, राजनैतिक जीवन में नवचेतना का जागरण हुआ। साहित्य को नया रूप मिला। कला सजीव हो गई। गुजरात राज्य में यह समय जैन धर्म के उत्कर्ष का काल था।

गुरु-परम्परा

प्रभावक चरित ग्रन्थ के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र के गुरु चन्द्रगच्छ के देवचन्द्रसूरि थे। देवचन्द्रसूरि के गुरु प्रद्युम्नसूरि थे।[1]

प्रबन्धकोश के अनुसार हेमचन्द्रसूरि की गुरु-परम्परा पूर्णतल्लगच्छ से सम्बन्धित थी। पूर्णतल्लगच्छ में श्रीदत्तसूरि हुए। श्रीदत्तसूरि के शिष्य यशोभद्र, यशोभद्र के पट्टशिष्य प्रद्युम्नसूरि, उनके पट्टशिष्य गुणसेनसूरि थे। श्री गुणसेनसूरि के पट्टशिष्य देवचन्द्रसूरि तथा उनके शिष्य हेमचन्द्राचार्य थे।[2]

'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक काव्य में श्री हेमचन्दाचार्य ने अपना सम्बन्ध पूर्णतल्लगच्छ से बताया है।[3]

चन्द्रगच्छ यथार्थ में गच्छ नहीं चन्द्रकुल था। यह चन्द्रकुल कोटिक गण से सम्बन्धित था। कोटिक गण से अनेक शाखाओं, प्रशाखाओं एवं अवान्तर गच्छों का विकास हुआ। उसमें एक पूर्णतल्लगच्छ था जिसका चन्द्रगच्छ से उद्भव हुआ।[4] पूर्णतल्लगच्छ और चन्द्रगच्छ दोनों का निकट का सम्बन्ध था।

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित प्रशस्ति महाकाव्य में हेमचन्द्रसूरि की गुरु परम्परा का सम्बन्ध कोटिक गण वज्रशाखा के अन्तर्गत माना गया है।[5] पूर्व गुरुजनों के नामों का क्रम प्रायः सभी ग्रन्थों में समान है।

श्रीदत्तसूरि कई राजाओं के प्रतिबोधक थे। यशोभद्रसूरि राजपुत्र एवं महान् तपस्वी सन्त थे। प्रद्युम्नसूरि समर्थ व्याख्याता थे। गुणसेनसूरि सिद्धान्तों के विशेषज्ञ थे एवं शिष्याहिता टीका रचना में वादिवेताल शान्तिसूरि के प्रेरणास्रोत थे। गुणसेन के उत्तराधिकारी देवचन्द्रसूरि प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे एवं हेमचन्द्रसूरि के गुरु थे। दिगम्बर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ करने वाले वादिदेवसूरि, हेमचन्द्रसूरि के गुरु देवचन्द्रसूरि से भिन्न थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य हेमचन्द्र वणिक् पुत्र थे। उनका जन्म गुजरात प्रदेशान्तर्गत धन्धुका नगर में वी. नि. १६१५

---

१. चांद्रगच्छसरः पद्मं तत्रास्ते मण्डितो गुणैः।
प्रद्युम्नसूरिशिष्यः श्रीदेवचन्द्रमुनीश्वरः ॥१४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८३)

२. पूर्णतल्लगच्छे श्रीदत्तसूरि.....श्री यशोभद्रसूरिः इति नाम। तदीयपट्टे प्रद्युम्नसूरिर्ग्रन्थकारः। तत्पदे श्री गुणसेनसूरि..... गुणसेनसूरिपट्टे श्रीदेवचन्द्रसूरयः.....।
(प्रबन्धकोश, पृ. ४६-४७)

३. असिभमरहिओ पुन्नतल्ल गुरु-गच्छ-दुम-कुसुम-गुच्छे।
समय मयरंद-सारी तिरिदत्त गुरु सुरहि सालो ॥७६॥
(कुमारपाल प्रतिबोध, प्रस्तावना, पृ. १५)

४. प्रभावक चरित प्रबन्ध पर्यालोचन, पृ. १०४

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष प्रशस्ति, ५, ८ से १५।

(वि. सं. ११४५, ई. १०८८) में कार्तिक पूर्णिमा रात्रि के समय मोढ़ वंश में हुआ।[६] उनके पिता का नाम चच्च अथवा चाचिग एवं माता नाम पाहिनी था। उनका अपना नाम चांगदेव था। प्रबन्धकोश के अनुसार उनके मामा का नाम नेमिनाग था।[७]

जीवन-वृत्त

आचार्य हेमचन्द्र के समय में गुजरात प्रदेशान्तर्गत अणहिल्लपुर (पाटण) नगर में सिद्धराज जयसिंह का राज्य था। नरेश के कुशल नेतृत्व में राज्य भौतिक सम्पदा की दृष्टि से उत्कर्ष पर था। प्रजा सुखी थी। अणहिल्लपुर के अन्तर्गत धन्धुका एक समृद्ध नगर था। नगर में अनेक वणिक् परिवार रहते थे। उनमें मोढ़ परिवार विख्यात था। हेमचन्द्रसूरि के पिता चाचिग श्रेष्ठी मोढ़ वंश के अग्रणी थे। वे धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। विद्वज्जनों का सम्मान करते थे। उनके पूर्वज मोढेरा ग्रामवासी होने के कारण वे मोढ़ वंशी कहलाते थे। हेमचन्द्र की माता पाहिनी साक्षात् लक्ष्मी रूपा एवं शील गुण सम्पन्ना थी। उसकी जैन धर्म में दृढ़ आस्था थी। हेमचन्द्र जब गर्भ में आए उस समय पाहिनी ने स्वप्न में अपने को चिन्तामणिरत्न गुरु के चरणों में भक्ति-भाव से समर्पित करते देखा। प्रबन्ध कोश के अनुसार उसने स्वप्न में आम्रफल देखा था। उस समय धन्धुकापुर में चान्द्रगच्छ से सम्बन्धित प्रद्युम्नसूरि के शिष्य देवचन्द्रसूरि विराजमान थे। पाहिनी ने स्वप्न की बात उनके सामने रखी। स्वप्न का फलादेश बताते हुए गुरु ने कहा "पाहिनी! तुम्हारी कुक्षि से पुत्र-रत्न का जन्म होगा। वह जैन शासन में कौस्तुभमणि के तुल्य प्रभावी होगा।"[८]

गुरु के वचनों को सुनकर पाहिनी प्रसन्न हुई। विशेष धर्माराधना के साथ वह समय बिताने लगी। कालावधि समाप्त होने पर उसने ई. सन् १०८८ में कार्तिक पूर्णिमा की मध्य रात्रि में तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। आकाश पूर्णिमा के चांद से जगमगा रहा था। धरा भी मानवचन्द्र को पाकर मुस्कराई। पाहिनी नन्दन-आगमन से हर्षित हुई। श्रेष्ठी चाचिग का हृदय प्रसन्नता से भर गया। परिवार का हर सदस्य खुशी से नाच उठा। जन्म के बारहवें दिन उल्लासपूर्ण वातावरण में पुत्र का नाम चांगदेव रखा गया। अभिभावकों के समुचित संरक्षण में बालक दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा।

चांगदेव की अवस्था पांच वर्ष की थी। उस समय एक दिन पाहिनी पुत्र को साथ लेकर धर्मस्थान पर गई। पाहिनी धर्माराधन में व्यस्त हो गई। बालसुलभ चपलता के कारण चांगदेव गुरु के आसन पर बैठ गया। अपने आसन पर स्थित बालक को देखकर गुरु बोले "पाहिनी तुम्हें अपना स्वप्न स्मृत है? इस बालक के मुख-मण्डल को देखकर आभास होता है तुम्हारे स्वप्न के अनुरूप यह तेरा कुलदीप जैन धर्म का प्रभावक होगा अतः धर्मशासन रूपी नन्दनवन में कल्पवृक्ष के समान शोभायमान इस नन्दन को गुरु के चरणों में अर्पित कर दो।"

पाहिनी नम्र स्वर में बोली "गुरुदेव! पुत्र के पिता यहां नहीं हैं। इसकी मांग इसके पिता से करना उचित होगा।" देवचन्द्रसूरि पाहिनी के इस उत्तर से मौन थे। वे बालक के पिता चाचिग की प्रकृति को अच्छी तरह जानते थे। देवचन्द्रसूरि को मौन और गम्भीर आकृति में देखकर पाहिनी ने पुनः सोचा कि गुरु के वचन अलंघनीय होते हैं। धर्म संघ के लिए इस अवसर पर

---

६. शर-वेदेश्वरे (११४५) वर्षे कार्तिके पूर्णिमानिशि ॥८५०॥
(प्रभावक चरित, पृ. २१२)

७. एकदा नेमिनागनामा श्रावकः समुत्थाय श्रीदेवचन्द्रसूरीन् जगौ भगवन् ! अयं मोढ़ज्ञातीयो मद्भगिनी पाहिणिकुक्षिभूः ठक्करचाचिगनन्दनश्चाङ्गदेवनामा।
(प्रबन्धकोश, पृ. ४७, पं. ५, ६)

८. जैनशासनपाथोधिकौस्तुभः सम्भवी सुतः।
तव स्तवकृतो यस्य देवा अपि सुवृत्ततः ॥१६॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८३)

पुत्र को अर्पित करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। इस प्रकार का चिन्तन और अपने पूर्व स्वप्न का स्मरण करती हुई, अपने पति द्वारा उत्पन्न होने वाली कठिन स्थिति का अनुभव करती हुई पाहिनी ने हिम्मत करके अपने अंगज को देवचन्द्रसूरि के चरणों से चढ़ा दिया।

देवचन्द्रसूरि सुयोग्य बालक चांगदेव को लेकर स्तम्भन तीर्थ पर गए। खम्भात में बालक को श्रावक उदयन का संरक्षण प्राप्त हुआ। गुजरात का अमात्य उदयन प्रभावशाली श्रावक था। जैन धर्म के प्रति उसकी अगाध आस्था थी।

बालक चांगदेव के पिता चाचिग को जब इस स्थिति की जानकारी हुई तब वह कुपित हुआ। खम्भात गया। देवचन्द्रसूरि के पास पहुंचा तथा कर्कश स्वरों में बोलने लगा। उदयन ने मधुर और शान्त स्वरों में समझाकर उसका कोप शान्त किया। उसके बाद चाचिग की आज्ञा से देवचंद्रसूरि ने बालक चांगदेव को मुनि दीक्षा प्रदान की। मंत्री उदयन ने दीक्षा महोत्सव मनाया। बालमुनि का नाम सोमचन्द्र रखा गया।[९]

प्रबन्धकोश के अनुसार बालक चांगदेव मामा नेमिनाग के साथ देवचन्द्रसूरि की धर्मसभा में गया। प्रवचन सुना। प्रवचन के बाद श्रावक नेमिनाग ने खड़े होकर कहा "मुनिवर्य! आपका प्रवचन सुनकर मेरा यह भानेज चांगदेव संसार से विरक्त हो गया है। यह मुनिदीक्षा स्वीकार करना चाहता है।" नेमिनाग ने बताया "प्रभो! मेरा यह भानेज जब गर्भ में था तब मेरी बहिन पाहिनी ने एक ऐसा आम्र-वृक्ष देखा था जिसको स्थानान्तरित करने पर फलवान् बन गया।"[१०]

देवचन्दसूरि ने श्रावक नेमिनाग की बात ध्यानपूर्वक सुनी और बोले "श्रेष्ठिवर्य! दीक्षा प्रदान करने के लिए पिता की सहमति आवश्यक है।"

बालक चांगदेव को लेकर श्रावक नेमिनाग भगिनी पाहिनी और बहनोई चाचिग के पास गया। भागिनेय की व्रत ग्रहण की भावना उनके सामने रखी। पिता इस बात के लिए सहमत नहीं हुआ। पिता का विरोध होने पर भी मामा की आज्ञा से चांगदेव देवचन्द्रसूरि के साथ खम्भात चला गया। वहीं उसको मुनिदीक्षा प्रदान की गई।

प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार जब बालक आठ वर्ष का था, तब अपने समवयस्क बालकों के साथ क्रीड़ा करता हुआ देव मन्दिर में पहुंच गया। संयोग से वहां देवचन्द्रसूरि पधारे हुए थे। अपनी मस्ती में क्रीड़ा करता हुआ बालक देवचन्द्रसूरि के पट्ट पर बैठ गया। बालक के शरीर पर शुभ लक्षणों को देखकर देवचन्द्रसूरि ने सोचा 'अयं यदि क्षत्रियकुले जातस्तदा सार्वभौमचक्रवर्ती, यदि वणिग्-विप्रकुले जातस्तदा महामात्यः चेद्दर्शनं प्रतिपद्यते तदा युगप्रधान इव कलिकालेऽपि कृतयुगावतारमपि।' यह बालक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ है तो अवश्य ही चक्रवर्ती पद ग्रहण करेगा और वणिक् पुत्र अथवा विप्र पुत्र है तो महामात्य पद को सुशोभित करेगा। धर्मसंघ में प्रविष्ट होकर यह बालक युगप्रवर्तक होगा। कलिकाल में यह कृतयुग का अवतार होगा।

बालक को प्राप्त करने के लिए उन्होंने तत्रस्थ नागरिकों एवं व्यापारिक बन्धुओं से सम्पर्क किया। उनको साथ लेकर वे चाचिग के घर गए। चाचिग संयोग से वहां नहीं था। वह दूसरे गांव गया हुआ था। पाहिनी गुणवती एवं व्यवहार-कुशल महिला थी। अपने प्रांगण में समागत

---

९. तमादाय स्तम्भतीर्थे जग्मुः श्रीपार्श्वमन्दिरे।
माघे सितचतुर्दश्यां ब्राह्मे चिष्णे शनेर्दिने ॥३२॥
चिष्णे तथाष्टमे धर्म्मस्थिते चन्द्रे वृषोपगे।
लग्ने वृहस्पतौ शत्रुस्थितयोः सूर्यभौमयोः ॥३३॥
श्रीमानुदयनस्तस्य दीक्षोत्सवमकारयत्।
सोमचन्द्र इति ख्यातं नामास्य गुरवो दधुः ॥३४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८४)

१०. असिंमश्च गर्भस्थे मम भगिन्या सहकारतरुः स्वप्ने दृष्टः।
स च स्थानान्तरे उप्तस्तत्र महतीं फलस्पातिमायाति स्म।
(प्रबन्धकोश चरित, पृ. ४६, पंक्ति ७, ८)

अभ्यागतों का उसने समुचित स्वागत किया। देवचन्द्रसूरि का धार्मिक विधिपूर्वक अभिनन्दन किया। समागत बन्धुओं ने देवचन्द्रसूरि के आगमन का उद्देश्य पाहिनी को बतलाया और धर्मसंघ के लिए पुत्र अर्पण करने की बात कही। पुत्र के लिए गुरु का ससंघ पदार्पण आपके घर हुआ है। योग्य पुत्र की वह माता है, उसे इसका हर्ष था, परन्तु वह पति के विरोध की आशंका से चिन्तित थी। समागत बन्धुजनों के सम्मुख हर्षमिश्रित आंसुओं का विमोचन करती हुई पाहिनी बोली "गुरुवर्य! एतस्य पिता नितान्तमिथ्यादृष्टिः" (इस बालक के पिता नितान्त मिथ्यादृष्टि हैं।) वे घर पर नहीं हैं। मैं धर्मसंकट में हूं। उनकी सहमति के बिना यह कार्य कैसे सम्भव हो सकता है?"

पाहिनी को समझाते हुए श्रेष्ठिजन बोले "बहिन! तुम अपनी ओर से इसे गुरु को प्रदान कर दो। माता का सन्तान पर पूरा अधिकार होता है।"

गणमान्य श्रेष्ठिजनों के कथन पर पाहिनी ने अपना पुत्र देवचन्द्रसूरि को अर्पित कर दिया। देवचन्द्रसूरि ने बालक की इच्छा जाननी चाही और उससे पूछा वत्स! तू मेरा शिष्य बनेगा? बालक ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाकर 'आम' कहकर अपनी भावना प्रकट की और वह शिष्य बनने के लिए सहर्ष तैयार हो गया।

देवचन्द्रसूरि योग्य बालक को पाकर प्रसन्न हुए। वे उसे लेकर कर्णावती पहुंचे। वहां सुरक्षा की दृष्टि से बालक को उदयन मन्त्री को सौंप दिया। मन्त्री उदयन जैन धर्म के प्रति आस्थाशील था। श्रेष्ठी चाचिग जब घर आया तब बालक को घर पर न पाकर अत्यन्त दुःखी हुआ। नाना प्रकार के विकल्प उसके मस्तिष्क में उभरे। पुत्र मिलन पर्यन्त भोजन ग्रहण का परित्याग कर वह वहां से चला। कर्णावती पहुंचकर वह देवचन्द्रसूरि के पास गया। गुरु के व्यवहार से रुष्ट चाचिग अच्छी तरह से वन्दन किए बिना ही अकड़कर बैठ गया। देवचन्द्रसूरि मधुर उपदेश से उसे समझाने लगे। मन्त्री उदयन चाचिग के आगमन की सूचना पाकर वहां पहुंच गया। मन्त्री उदयन वाक्-निपुण था। वह श्रेष्ठी चाचिग को आत्मीयभाव के साथ अपने घर ले गया। उसके भोजन की समुचित व्यवस्था की। भोजन के पश्चात् मन्त्री ने चांगदेव को उसकी गोद में बैठा दिया तथा तीन दुकूल और तीन लाख मुद्राएं भेंट कीं। चाचिग का हृदय देवचन्द्रसूरि की मंगलवाणी को सुनकर पहले ही कुछ परिवर्तित हो गया था। उदयन मन्त्री के शिष्ट और शालीन व्यवहार से वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने कहा "मन्त्रीवर! यह तीन लाख की द्रव्य राशि आपकी उदारता को नहीं, कृपणता को प्रकट कर रही है। मेरे पुत्र का मूल्य इतना ही नहीं है, वह अमूल्य है परन्तु आपकी भक्ति भी मूल्यवान् है। आपके द्वारा प्रदत्त मुद्राओं की यह द्रव्य राशि मेरे लिए अस्पृश्य है।[११] आपकी भक्ति के सामने नतमस्तक होकर मैं अपने पुत्र की भेंट आपको चढ़ाता हूं।"

उदयन मन्त्री ने प्रमुदित होकर श्रेष्ठी चाचिग को गले से लगा लिया और साधुवाद देते हुए कहा "मुझे अर्पण करने से तुम्हारे पुत्र का वह विकास नहीं होगा जो विकास गुरु चरणों में सम्भाव्य है। गुरु की सन्निधि में तुम्हारा यह पुत्र गुरुपद को प्राप्त कर बालेन्दु की तरह त्रिभुवन में पूज्य होगा।

मन्त्री उदयन के इस परामर्श को स्वीकार करता हुआ श्रेष्ठी चाचिग देवचन्द्रसूरि के पास गया और उसने अपना पुत्र गुरु को समर्पित कर दिया। देवचन्द्रसूरि ने उसे मुनि प्रव्रज्या प्रदान की । मन्त्री उदयन के सहयोग से श्रेष्ठी चाचिग ने दीक्षा महोत्सव किया।

उनके मुनि दीक्षा ग्रहण का समय प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रबन्धकोश आदि में उल्लिखित नहीं है, परन्तु इन ग्रन्थों में प्राप्त प्रसंगानुसार पाहिनी ने चांगदेव

११. त्वं तु लक्षत्रयं समर्पयन्नौदार्यच्छटना कार्पण्यं प्रादुः कुरुषे। मदीयः सुतस्तावदनर्घ्यो भवदीया च भक्तिरनर्घ्यतमा, तदस्य मूल्ये सा भक्तिरेवास्तु, शिवनिर्माल्यमिवास्पृश्यो मे द्रव्यसञ्चयः।
(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ८३, पंक्ति २६ से २८)

को गुरु चरणों में समर्पित किया उस समय बालक की अवस्था आठ वर्ष की थी।[12] इस आधार पर मुनि दीक्षा ग्रहण का समय वी. नि. १६२४ (वि. ११५४, ई. १०९७) था। ज्योतिष कालगणना के आधार पर वि. सं. ११५४ माघ शुक्ला चतुर्दशी को शनिवार का योग पड़ता है, अतः यह संवत् ही सही होना चाहिए। प्रभावक चरित्र में उल्लिखित मुनि दीक्षा ग्रहण का समय वि. सं. ११५०[13] माघ शुक्ला चतुर्दशी शनिवार ज्योतिषशास्त्र दृष्टि से विवादास्पद है।

आचार्य मेरुतुंग ने आचार्य हेमचन्द्र का दीक्षा स्थान कर्णावती माना है। इतिहास विशेषज्ञ प्रभाचन्द्राचार्य आदि अधिकांश जैन विद्वानों के अभिमतानुसार हेमचन्द्र का दीक्षा संस्कार खम्भात में हुआ।

गुरु द्वारा नवदीक्षित बालक चांगदेव का दीक्षा नाम सोमचन्द्र रखा गया। मुनि सोमचन्द्र अपने शीतल स्वभाव के कारण यथार्थ में सोमचन्द्र थे। उनकी प्रतिभा प्रखर थी। तर्कशास्त्र, लक्षणशास्त्र एवं साहित्य की अनेक विद्याओं का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। एक पद से शत-सहस्र पदों का बोध करने वाली शीघ्रग्राही बुद्धि को प्राप्त करने के लिए मुनि हेमचन्द्र ने सोचा 'काश्मीर निवासिनी विद्याधिष्ठात्री सरस्वती देवी की आराधना करनी चाहिए।' उन्होंने अपने विचार देवचन्द्रसूरि के सामने रखे। गुरु का आदेश प्राप्त कर कई गीतार्थ मुनियों के साथ उन्होंने काश्मीर की ओर प्रस्थान किया। रेवतावतार नामक तीर्थ स्थान पर नेमिचैत्य में वे रुके। रात्रि में सोमचन्द्र मुनि ने ध्यान किया। उस समय सरस्वती देवी ने प्रत्यक्ष होकर कहा "निर्मलमति वत्स! तुम्हें देशान्तर में जाने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी भक्ति पर मैं सन्तुष्ट हूं। तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।" यह कहकर देवी अदृश्य हो गई। सोमचन्द्र मुनि को इस प्रकार सरस्वती की कृपा प्राप्त हुई। यथेप्सित वरदान की उपलब्धि हो जाने के बाद मुनि सोमचन्द्र ने आगे की जाने वाली काश्मीर यात्रा स्थगित कर दी। वे पुनः गुरु चरणों में लौट आए। कुछ ही वर्षों में सोमचन्द्र मुनि दिग्गज विद्वानों की गणना में आने लगे। गुरु ने धर्मधुरा धौरेय श्रमण सोमचन्द्र को योग्य समझकर वी. नि. १६३६ (वि. ११६६) वैशाख तृतीया के दिन मध्याह्न में आचार्य पद पर नियुक्त किया।[14]

आचार्य पद प्राप्ति के समय सब प्रकार के ग्रह बलवान् थे एवं लग्न वृद्धिकारक थे। इस समय उनकी अवस्था २१ वर्ष की थी। आचार्य पद प्राप्ति के बाद उनका नाम हेमचन्द्र हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी माता पाहिनी को भी इस अवसर पर आर्हती दीक्षा प्रदान की। उसे प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित किया।[15] नवोदीयमान आचार्य हेमचन्द्र की कीर्ति दिन-प्रतिदिन विस्तार पाने लगी।

राजवंश

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन में सिद्धराज जयसिंह और भूपाल कुमारपाल का योग वरदान सिद्ध हुआ। गुजरात रत्न सिद्धराज जयसिंह से आचार्य हेमचन्द्र का प्रथम

---

१२. पुत्रश्चाङ्गदेवोऽभूत्। स चाष्टवर्षदेश्यः.....
(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ८३, पंक्ति ६)

१३. जन्माभवत् प्रभोर्व्योम-बाण-शम्भौ (११५०) व्रतं तथा ॥८५०॥
(प्रभावक चरित, पृ. २१२)

१४. (क) रस-षट्केश्वरे (११६६) सूरिप्रतिष्ठा समजायत ॥८५१॥
(प्रभा. च., पृ. २१२)

(ख) अथ वैशाखमास्य तृतीयामध्यमेऽहनि ॥५४॥
श्रीदेवचन्द्रगुरवः सूरिमन्त्रमधीकथन ॥५६॥
(प्रभा. च., पृ. १८४)

१५. तदा च पाहिनी स्नेहवाहिनी सुत उत्तमे।
तत्र चारित्रमादत्ताविहस्ता गुरुहस्ततः ॥६१॥
प्रवर्तिनीप्रतिष्ठां च दापयामास नम्रगीः।
तदैवाभिनवाचार्यो गुरुभ्यः सभ्यसाक्षिकम् ॥६२॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८४-८५)

मिलन अणहिल्लपुर पाटण में हुआ। गुरु देवचन्द्रसूरि के स्वर्गवास के बाद हेमचन्द्राचार्य खम्भात से पाटण आए। उस समय पाटण पर चौलुक्य वंशीय नरेश सिद्धराज जयसिंह का शासन था।

एक बार अणहिल्लपुर पाटण के राजमार्ग पर भीड़ के साथ गजारूढ़ नरेश को सामने से आते हुए देखकर आचार्य हेमचन्द्र एक तरफ किसी दुकान पर खड़े हो गए। संयोग से नरेश का हाथी भी उनके पास आकर रुक गया। उस समय हेमचन्द्र ने एक श्लोक बोला

कारय प्रसरं सिद्ध! हस्तिराजमशङ्कितम्।
प्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यतः॥

राजन्! गजराज को निःसंकोच आगे बढ़ाओ। रुको मत। हाथियों के त्रास की आप चिन्ता नहीं करें। इस धरती का उद्धार आपसे हुआ है।

पाटणनाथ हेमचन्द्र की बुद्धि से प्रभावित हुआ। उस दिन के बाद नरेश के निवेदन पर आचार्य हेमचन्द्र का पदार्पण पुनः-पुनः राजदरबार में होने लगा।

हेमचन्द्राचार्य ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ रचा। इसके साथ इतिहास का मनोरम अध्याय निबद्ध है।

गुजरात रत्न सिद्धराज जयसिंह मालव से विजय-माला पहनकर लौटे। लक्ष्मी उनके चरणों में लोट रही थी। सब ओर से बधाइयां प्राप्त हो रही थीं। स्वागत गीत गाए जा रहे थे, परन्तु सरस्वती के स्वागत के बिना उनका मन खिन्न था। मालव राज्य का मूल्यवान् साहित्य उनके कर-कमलों की शोभा बढ़ा रहा था, पर उनके पास व्याकरण और जीवन को मधुर रस से ओत-प्रोत करने वाली काव्यों की अपनी अनुपम सम्पदा नहीं थी। मालव ग्रन्थालय के एक विशाल ग्रन्थ को देखकर सिद्धराज जयसिंह ने पूछा "यह क्या है?" ग्रन्थालय में नियुक्त पुरुषों ने कहा "राजन्! यह भोज नरेश का स्वरचित सरस्वती कण्ठाभरण नामक विशाल व्याकरण है। विद्वद् शिरोमणि नरेश भोज शब्दशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, निमित्तशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, वास्तुविज्ञान, अङ्गशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, आदि अनेक ग्रन्थों के रचनाकार था। प्रश्न चूड़ामणि, मेघमाला, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थ भी उनके था।[१६]

सिद्धराज जयसिंह विद्या प्रेमी था। उसने इस कमी की पूर्ति के लिए प्रतिभाओं का आह्वान किया। तत्रस्थ विद्वानों की दृष्टि मेधावी आचार्य हेमचन्द्र पर केन्द्रित हुई। नरेश ने हेमचन्द्र को कहा "मुनि नायक! लोकोपकार के लिए नए व्याकरण का निर्माण करो। इसमें तुम्हारी ख्याति है और मेरा यश है।"[१७]

सिद्धराज जयसिंह का परामर्श पाते ही आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं को इस कार्य के लिए नियोजित किया। हेमचन्द्राचार्य के कथन पर सिद्धराज जयसिंह ने काश्मीर प्रदेशान्तर्गत प्रवर प्रदेश के भारती कोष से आठ विशाल व्याकरणों की प्रतियां मंगवाई। प्रवर प्रदेश से व्याकरण ग्रन्थों के साथ उत्साह नाम के पण्डित को भेजा गया था।[१८] व्याकरण ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर हेमचन्द्राचार्य ने पञ्चाङ्गपूर्ण उत्तम व्याकरण ग्रन्थ की रचना की।[१९] इस व्याकरण ग्रन्थ का नाम 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' रखा गया

---

१६. असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणिः।
शब्दालङ्कारदैवज्ञतर्कशास्त्राणि निर्ममे ॥७६॥
चिकित्सा-राजसिद्धान्त-रस-वास्तूदयानि च।
अङ्ग-शाकुनकाव्यात्म-स्वप्न-सामुद्रिकान्यपि ॥७७॥
ग्रन्थान् निमित्तव्याख्यान-प्रश्नचूड़ामणीनिह।
विवृतिं चायसद्भावेऽर्थकाण्डं मेघमालया ॥७८॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८५)

१७. यशो मम तव ख्यातिः पुण्यं च मुनिनायक!
विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरणं नवम् ॥८४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८५)

१८. ततः सत्कृत्य तान् सम्यग् भारतीसचिवा नरान्।
पुस्तकान्यर्पयामासुः प्रैषुश्चोत्साहपण्डितम् ॥९२॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८६)

१९. श्रीहेमसूरयोऽप्यत्रालोक्य व्याकरणव्रजम्।
शास्त्रं चकुर्नवं श्रीमन् सिद्धहेमाख्यमद्भुतम् ॥९६॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८६)

जो नरेश सिद्धराज और आचार्य हेमचन्द्र के सम्मिलित प्रयत्न का सूचक बना।

सर्वाङ्ग परिपूर्ण सिद्धहेमव्याकरण को पाकर गुजरात का साहित्य चमक उठा। हाथी के हौदे पर रखकर उस व्याकरण ग्रन्थ का राज्य में प्रवेश कराया गया। वैयाकरणों ने इस व्याकरण का सम्यक् प्रकार से अवलोकन कर इसे प्रमाणित किया। विद्वानों और राजपुरोहितों ने तीन वर्ष तक इसका वाचन किया। तीन सौ लिपिकों ने बैठकर उसकी प्रतिलिपियां तैयार कीं।[२०] काश्मीर के पुस्तकालयों में इस व्याकरण ग्रन्थ को सम्मान प्राप्त हुआ। पाटण नरेश द्वारा बीस प्रतियां काश्मीर में प्रेषित की गई थीं।[२१]

अंग, बंग, कलिंग, लाट, कर्णाटक, कुंकुण, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, वत्स, कच्छ, मालव, सिन्धु, सौवीर, नेपाल, पारस, मुरुण्ड, हरिद्वार, काशी, चेदि, गया, कुरुक्षेत्र, गौड़, कान्यकुब्ज, श्रीकामरूप, सपादलक्ष, जालन्धर, सिंहल, चौल, कौशिक आदि अनेक नगरों में इस व्याकरण का प्रचार हुआ।[२२] ये प्राचीनकाल के सुप्रसिद्ध नगर थे।

गुजरात के पाठ्यक्रम में भी इस व्याकरण की स्थापना हुई और उसके अध्यापन के लिए विशेष अध्यापकों की नियुक्तियां की गईं। उनमें प्रमुख अध्यापक कायस्थ कुल का कवि चक्रवर्ती शब्दानुशासन-शासनाम्बुधिपारद्रष्टा काकल नामक विद्वान् था। वह आठ सुप्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थों का विशिष्ट ज्ञाता था।[२३] छात्रों को काकल सम्यक् प्रकार से व्याकरण ग्रन्थ पढ़ाता और प्रतिमास ज्ञानपञ्चमी के दिन उनकी परीक्षा भी लेता था। परीक्षोत्तीर्ण छात्रों को राज्य की ओर से कनक-भूषण, कङ्कण, रेशमी वस्त्र, सुखासन, आतपत्र आदि का पुरस्कार दिया जाता था।[२४]

हेमचन्द्र की प्रवचन शैली प्रभावक थी। वे चतुर्मुख जिनालय में नेमिनाथ चरित पर व्याख्यान करते। उस समय उनके व्याख्यान को सुनने के लिए जैन, जैनेतर सभी प्रकार के लोगों की उपस्थिति रहती थी। पाण्डव प्रकरण पर ब्राह्मण वर्ग में चर्चा चली। हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह के सम्मुख ब्राह्मणों के प्रश्नों का तर्कयुक्त समाधान कर दिया।

आचार्य हेमचन्द्र व्यवहारकुशल थे। भागवत मत समर्थक विद्वान् देवबोध और राज सम्मानित कवि श्रीपाल में परस्पर तनावपूर्ण वातावरण था। एक बार विद्वान् देवबोध अर्थ-संकट में उलझ गया और कर्जदार हो गया। सहायता के लिए हेमचन्द्राचार्य के पास आया। हेमचन्द्रसूरि ने उसे आत्मीय भाव से सन्तुष्ट किया। कवि श्रीपाल के साथ उसके मैत्री सम्बन्ध स्थापित करवाए तथा उचित सहयोग देकर उसको संकट से मुक्त किया।

सिद्धराज जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था, अतः

---

२०. राजादेशान्नियुक्तैश्च सर्वस्थानेभय उद्यतैः।
तदा चाहृय सच्चक्रे लेखकानां शतत्रयम् ॥१०४॥
पुस्तकाः समलेख्यन्त सर्वदर्शनिनां ततः।
प्रत्येकमेवादीयन्ताध्येतृणामुद्यमस्पृशाम् ॥१०५॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८६)

२१. प्राहीयत नृपेन्द्रेण काश्मीरेषु महादरात् ॥११०॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८६)

२२. अङ्ग-बङ्ग-कलिङ्गेषु लाट-कर्णाट-कुङ्कणे।
महाराष्ट्र-सुराष्ट्रासु, वत्से कच्छे च मालवे ॥१०६॥
सिन्धु-सौवीर-नेपाले पारसीक-मुरण्डयोः।
गङ्गापारेहरिद्वारे काशि-चेदि-गयासु च ॥१०७॥
कुरुक्षेत्रे कान्यकुब्जे गौड-श्रीकामरूपयोः।
सपादलक्षवज्जालन्धरे च खसमध्यतः ॥१०८॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८६)

२३. काकलो नाम कायस्थकुलकल्याणशेखरः।
अष्टव्याकर्णाध्येता प्रज्ञाविजितभोगिराट् ॥११२॥
प्रभुस्तं दृष्टमात्रेण ज्ञाततत्त्वार्थमस्य च।
शास्त्रस्य ज्ञापकं चाशु विदधेऽध्यापकं तदा ॥११३॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८६)

२४. प्रतिमासं स च ज्ञानपञ्चम्यां पृच्छनां दधौ।
राजा च तत्र निर्ध्वंद्वान् कङ्कणैः समभूषयत् ॥११४॥
सुखासनातपत्रैश्च ते भूपालेन योजिताः ॥११५॥
(प्रभावक चरित, पृ. १८६)

पुत्र-प्राप्ति की भावना से उन्होंने तीर्थयात्राएं कीं। तीर्थयात्रा में हेमचन्द्र भी साथ थे। शत्रुञ्जय आदि क्षेत्रों की तीर्थयात्रा सम्पन्न कर गिरनार शिखर से उतरकर सोमेश्वर गए। सोमेश्वर के शिवालय में आचार्य हेमचन्द्र ने एक श्लोक बोला

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि
सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद् भवानेक
एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥१८१॥

(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृष्ठ ८५)

राग, द्वेष रहित वीतराग प्रभु को मेरा नमस्कार है। फिर वे किसी भी समय, किसी भी देश के हैं और किसी भी नाम से मण्डित हैं।

वहां से वे कोटिनगर गए। नरेश ने अम्बादेवी के दर्शन किए। हेमचन्द्रसूरि ने वहां तीन दिन का उपवास किया। अम्बादेवी प्रकट हुई। सिद्धराज जयसिंह नरेश के उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में पूछने पर देवी ने उत्तर दिया "पूर्व अन्तराय कर्म के कारण नरेश को पुत्र की प्राप्ति नहीं होगी। राजा के निकट सम्बन्धी देवप्रसाद का पौत्र त्रिभुवनपाल का पुत्र कुमारपाल सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी होगा।" देवी अदृश्य हो गई।

अपने उत्तराधिकारी का नाम जानकर राजा के मन में प्रसन्नता नहीं हुई। प्रत्युत कुमारपाल के प्रति द्वेषाङ्कुर प्रस्फटित हुआ। नरेश द्वारा कुमारपाल के लिए षड्यन्त्र रचा जाने लगा। स्थिति को जानकर अपने प्राणों को बचाने के लिए कुमारपाल घर से पलायन कर गया। वेश बदलकर वह गुप्त रूप में रहने लगा। कई बार वह षड्यन्त्र के जाल से बाल-बाल बच निकला।

एक बार प्राणों की सुरक्षा के लिए कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र की शरण में पहुंच गया। पाटण नरेश द्वारा नियुक्त राजपुरुषों को आते देखकर आचार्य हेमचन्द्र ने ताड़पत्रों में छिपाकर कुमारपाल के प्राणों की रक्षा की। यह घटना पाटण नगर की है।

एक बार खम्भात में हेमचन्द्राचार्य ने क्षुधा से पीड़ित कुमारपाल को किसी श्रावक से बत्तीस द्रमक दिलवाए। उस समय हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल की आकृति और शुभ लक्षणों को देखकर कहा "वत्स! आज से सातवें वर्ष में तू पाटण राज्य का अधिकारी बनेगा।"[२५]

पाटण नरेश सिद्धराज जयसिंह का देहावसान वी. नि. १६६९ (वि. सं. ११९९) में हुआ।[२६] उनके स्थान पर सुयोग्य कुमारपाल का राज्याभिषेक हुआ।

राजा किसी के मित्र नहीं होते, पर हेमचन्द्राचार्य के विशाल एवं उदार व्यक्तित्व के कारण सिद्धराज जयसिंह नरेश के साथ उनकी मैत्री अन्तिम समय तक बढ़ती रही।

नरेश कुमारपाल में सिद्धराज जयसिंह जैसा विद्याप्रेम, कलाप्रेम और साहित्यानुराग नहीं था। वह धार्मिक वृत्ति का था। शिव का भक्त था। जैन धर्म के प्रति आस्था थी। वह हेमचन्द्राचार्य के व्यक्तित्व से प्रभावित था। राज्यारोहण के समय कुमारपाल की अवस्था ५० वर्ष की थी[२७] और हेमचन्द्राचार्य की उम्र ५४ की थी। समवयस्क होते हुए भी उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य जैसा था। महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन में कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य की सम्मति को मानता था।

राज्यारोहण के बाद कुमारपाल ने राज्य की स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए सपादलक्ष देश के नरेश अर्णोराज के साथ ग्यारह बार युद्ध किया। हर बार उसे असफलता मिली। मन्त्री बाहड़ की सलाह से उसने जैन धर्म स्वीकार कर १२वीं बार अर्णोराज पर आक्रमण किया। वह इस युद्ध में विजयी हुआ। यह समय वी. नि. १६७७ (वि.

---

२५. अमुतः सप्तमे वर्षे पृथ्वीपालो भविष्यसि ॥३८५॥
(प्रभावक चरित, पृ. १९६)

२६. द्वादशस्वथ वर्षाणां शतेषु विरतेषु च।
एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिवं गते ॥३९४॥
(प्रभावक चरित, पृ. १९७)

२७. कुमारपालोऽपि पञ्चाशद्वर्षदेशीयो राज्ये निषण्णः।
(प्रबन्धकोश, पृ. ४७, पंक्ति १३)

१२०७) के आसपास है। इस घटना से नरेश की धार्मिक आस्था जैन धर्म के प्रति दृढ़ हो गई। अर्णोराज पर विजय प्राप्त करने के बाद नरेश कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य की सन्निधि में पहुंचा। हेमचन्द्राचार्य ने नरेश को अनेक अहिंसा प्रधान जीवनोपयोगी शिक्षाएं दीं। उनकी शिक्षाओं से प्रभावित होकर नरेश ने मांसाहार परिहार आदि कई नियम लिए।[२८]

हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल के राज्यारोहण के सात वर्ष पूर्व उसके राजा बनने की घोषणा कर दी थी और उसे मौत के मुख से बचाया था। इस उपकार से कुमारपाल हेमचन्द्राचार्य के प्रति श्रद्धावनत था। उसने एक बार आचार्य के चरणों में राज्य समर्पित कर दिया।[२९] हेमचन्द्राचार्य ने राज्य समर्पण के बदले अमारि की घोषणा करवाई तथा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार की प्रेरणा दी।

अमारि की घोषणा से कुछ लोगों को ईर्ष्या हुई। उन्होंने कुमारपाल से निवेदन किया "राजन्! कण्टकेश्वरी राजकुल की देवी है। देवी बलि मांग रही है, मांग पूर्ण नहीं होने पर उसका कोप विनाश का हेतु होगा।"

कुमारपाल ने हेमचन्द्राचार्य से परामर्श किया तथा रात्रि में देवी के सामने पशु छोड़ दिए और कहा, "देवी की इच्छा होने पर वह स्वयं उनका भक्षण कर लेगी।" रात्रि पूर्ण हुई, पशु कुशलतापूर्वक वहीं खड़े थे। प्रतिवादी निरुतर हो गए। कुमारपाल के हृदय में अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा हुई।

नरेश कुमारपाल करुणार्द्र था। हेमचन्द्राचार्य के सम्पर्क ने उसे अध्यात्मोन्मुख बना दिया। उस समय पूर्वजों से चली आ रही राजपरम्परा के अनुसार पति-वियुक्ता महिला का समग्र धन राजपुरुषों द्वारा ग्रहण कर उसे राजकोष में पहुंचा दिया जाता था। नरेश कुमारपाल ने इस विधान को अमान्य किया। पुत्रहीना-दीना दुःखिता विधवा महिला के धन को अग्रहणीय घोषित कर कुमारपाल ने स्वस्थ नीति और परम्परा की स्थापना की[३०] वह जैन धर्म में प्रतिपादित अभय, अहिंसा और अपरिग्रह की दिशा में श्रेष्ठ कदम था।

आचार्य हेमचन्द्र का बढ़ता प्रभाव कई व्यक्तियों के लिए असह्य हो गया। एक दिन कुमारपाल से कुछ व्यक्तियों ने कहा "हेमचन्द्र अपने इष्टदेव की आराधना करता है और अपने मत को श्रेष्ठ समझता है। वह इतरदेव को महत्त्व नहीं देता।" कुमारपाल को यह बात अखरी। एक दिन नरेश ने हेमचन्द्र को सोमेश्वर की यात्रा में साथ चलने के लिए कहा। प्रत्युत्तर में हेमचन्द्र तत्काल अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए बोले "राजन्! मुनियों के लिए तीर्थाटन प्रमुख है। इस कार्य के लिए मैं सहर्ष तैयार हूं।" राजा ने सुखपाल आदि वाहन का प्रयोग करने के लिए कहा, पर आचार्य हेमचन्द्र ने इस सुविधा को स्वीकार नहीं किया। वे बोले "राजन्! हम पदयात्रा के द्वारा ही तीर्थों का पुण्य लाभ प्राप्त करेंगे।" सोमेश्वर के मन्दिर में पहुंचकर हेमचन्द्राचार्य ने श्लोकों द्वारा शिव की स्तुति की।

---

२८. नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥५९१॥
इत्यादिसर्वहेयानां परित्यागमुपादिशत्।
तथेति प्रतिजग्राह तेषां च नियमान् नृपः ॥५९२॥
(प्रभावक चरित, पृ. २०३)

२९. तुम्हाण किंकरो हं तुम्हे नाहा भवोयहिगयस्स।
सयलधणाइसमेओ मइ तुम्ह समप्पिओ अप्पा ॥७६८॥
व्याख्यातायामथैतस्यामर्थं सत्यापयन्नृपः।
राज्यं समर्पयामास जगद्गुरवस्ततः ॥७६९॥
(प्रभावक चरित, पृ. २०९)

३०. (क) न यन्मुक्तं पूर्वं रघुनहुषनाभागभरत
प्रभृत्पूर्वीनाथैः कृतयुगकृतोत्पत्तिभिरपि।
विमुञ्चन्कारुण्यात्तदपि रुदतीवित्तमपुना
कुमारक्ष्मापाल ! त्वमसि महतां मस्तकमणिः ॥१८६॥
(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ८६)

(ख) अपुत्राणां धनं गृह्नन् पुत्रो भवति पार्थिवः।
त्वं तु सन्तोषतो मुञ्चन् सत्यं राजपितामहः ॥१९०॥
(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ८६)

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

भव बीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेष पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, भले ही वे ब्रह्मा, विष्णु, हरि और जिन किसी भी नाम से सम्बोधित होते हों, उन्हें मेरा नमस्कार है।

महारागो महाद्वेषो, महामोहस्तथैव च।
कषायश्च हतो येन, महादेवः स उच्यते॥

जिसने महाराग, महाद्वेष, महामोह और कषाय को नष्ट किया है, वही महादेव है।

प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार हेमचन्द्र ने राजा को शिव के साक्षात् दर्शन करवाए।[३१] इससे कुमारपाल अत्यधिक प्रसन्न हुआ।

इस घटना के पूर्व एक बार कुमारपाल ने सोमनाथ के मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य प्रारम्भ किया। इस कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए कुमारपाल ने हेमचन्द्राचार्य से मार्गदर्शन चाहा। हेमचन्द्राचार्य ने कहा "राजन्! कार्य की निर्विघ्न सम्पन्नता के लिए ध्वजारोहण पर्यन्त पूर्ण ब्रह्मचारी रहो तथा सुरापान और मांसाहार का पूर्णतः परिहार करो।" हेमचन्द्राचार्य का मार्गदर्शन पाकर कुमारपाल प्रसन्न हुआ। उसने सुरापान आदि का परित्याग कर व्रत प्रधान जीवन प्रारम्भ किया।[३२]

हेमचन्द्राचार्य के योग से कुमारपाल अध्यात्म की ओर अग्रसर होता गया। वह अपने जीवन में सातों व्यसनों से मुक्त हो गया। नवरात्रि आदि के उत्सव-प्रसंगों पर उसने पशुवध पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाया एवं नागरिकों को व्यसन परिहार हेतु निर्देश दिए। प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार कुमारपाल ने अपने अधीनस्थ अठारह देशों में १४ वर्ष तक के लिए अमारि की घोषणा करवाई।[३३] वह स्वयं विक्रम संवत् १२१६ में मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया के दिन सम्यक् रत्न को स्वीकार कर बारह व्रतधारी श्रावक बना।

के. एम. मुंशी ने कुमारपाल की मृत्यु के चार वर्ष पूर्व तक उसे शैव माना है। मुंशीजी ने लिखा है "Kumarpala was a Shaiva still in 1169, four years prior to his death."

शिलालेखों में कुमारपाल को 'महेश्वर नृपाग्रणी' कहकर सम्बोधित किया गया है। जैन ग्रन्थों में कुमारपाल के साथ परमार्हत विशेषण आता है।[३४] यह विशेषण उसके जैन होने का सूचक है।

हेमचन्द्राचार्य ने जीवन के संध्याकाल में शत्रुञ्जय की यात्रा की। उस समय नरेश कुमारपाल उनके साथ था। संभवतः हेमचन्द्राचार्य की यह अन्तिम तीर्थयात्रा थी।

प्रभावक चरित ग्रन्थ के हेमचन्द्र प्रबन्ध में सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल के साथ शाकम्भरी के अर्णोराज, आबू के विक्रमसिंह, चन्द्रावली के मल्लिकार्जुन, नवघण, खेंगार आदि राजाओं का मन्त्री उदयन, मन्त्री बागभट्ट और आम्रभट्ट (आंबड), कवि श्रीपाल, कवि देवबोध आदि विशिष्ट व्यक्तियों का उल्लेख इतिहास गवेषक विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

उदयन सिद्धराज जयसिंह के राज्य में अमात्य पद पर प्रतिष्ठित था। वह स्वामीभक्त था। सामान्य अवस्था में एक बार कुमारपाल मन्त्री उदयन से सहयोग प्राप्त करने

---

३१. अलं पुराणदर्शनोक्तिभिः श्रीसोमेश्वरमेव तव प्रत्यक्षीकरोमि'
(प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. ८५, पं. १७)

३२. तद्वचनमाकर्ण्य मद्यमांसनियममभिलषन् श्रीनीलकण्ठोपरि उदकं विमुच्य तमभिग्रहं जग्राह।
(प्रब. चिन्ता., पृ. ८४, पंक्ति १३, १४)

३३. प्रभोरादेशाच्चाज्ञाकारिष्वष्टादशदेशेषु चतुर्दशवत्सरप्रमितां सर्वभूतेषु मारिं निवारितवान्।
(प्रब. चिन्ता., पृ. ८६, पंक्ति ५, ६)

३४. (क) ततः प्रमोदः सञ्जज्ञे। संवत् १२१६ वर्षे मार्गसुदि द्वितीयायां बलवति लग्ने संवेगमतङ्गजारूढो रत्नत्रयालंकृतशरीरः शुभमनः परिणामवसनवान्.... श्रीमदर्हतःसाक्षिकं स नृपवरेन्द्रो अहिंसायाः पाणिंजग्राह।
(प्रब. चिन्ता., परिशिष्ट, पृ. १२८, पं. ४, ५, १०)

(ख) यथा श्रीहेमसूरयो गुरुत्वेनप्रतिपन्नाः.....राजा सम्यक्त्वं ग्राहितः श्रावकः कृतः।
(प्रबन्धकोश, पृ. ४७, पं. १३, १४, १५)

के लिए गया। कुमारपाल उस समय जयसिंह सिद्धराज का कोपभाजन होने के कारण मन्त्री उदयन ने कुमारपाल की अपेक्षा की। यह वफादार मन्त्री होने का लक्षण था। नरेश बनने के बाद कुमारपाल ने मन्त्री उदयन के इस गुण की प्रशंसा की। बाग्भट्ट और आम्बड उदयन के पुत्र थे। बाग्भट्ट कुमारपाल के राज्य में मन्त्रीपद पर नियुक्त हुआ।

उदयन, बाग्भट्ट और आम्बड तीनों जैन धर्म के प्रति आस्थाशील थे। सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल की भांति इन तीनों की जैन धर्म की प्रभावना में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

साहित्य

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा हेम-सी निर्मल थी। वे ज्ञान के विशाल कोष थे। उन्होंने प्रभूत परिमाण में मूल्यवान् ग्रन्थों की रचना की। यही कारण है कि उनकी प्रसिद्धि कलिकालसर्वज्ञ के नाम से हुई। उनके ग्रन्थों को पढ़कर पाश्चात्य विद्वानों ने उनको ज्ञान का समंदर (Ocean of knowledge) कहकर सम्बोधित किया। हेमचन्द्र विलक्षण विद्वान् थे। जैन संस्कृति को जन-जन में व्याप्त करने की दृष्टि से उन्होंने विविध विधाओं में साहित्य की रचना की। व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, अलंकार, न्याय, नीति, ज्योतिष, इतिहास आदि सभी विषयों पर हेमचन्द्र की लेखनी चली। उनका सृजनकार्य साहित्यिक इतिहास का अनुपम पृष्ठ है। आज भी हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित उपलब्ध ग्रन्थ पाठकों को महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं।

व्याकरण के क्षेत्र में सिद्धहेमव्याकरण, सिद्धहेम-लिंगानुशासन तथा धातुपारायण ग्रन्थों की रचना की। शब्दकोश की समृद्धि में अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ-संग्रह, देशीनाममाला, निघण्टुकोष ग्रन्थ है। अलंकार ग्रन्थों में काव्यानुशासन, छन्द ग्रन्थों में छन्दोनुशासन, काव्य ग्रन्थों में संस्कृत-प्राकृत द्वयाश्रय काव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित, इतिहास ग्रन्थों में परिशिष्ट पर्व, दर्शन एवं न्याय विषयक ग्रन्थों में प्रमाण मीमांसा, योग व्याख्या ग्रन्थों में योगशास्त्र जैसे अनेक उत्तम ग्रन्थों की रचना आचार्य हेमचन्द्र ने की। जैन इतिहास का ज्ञान करने के लिए तथा संस्कृत पाठी पाठकों के लिए हेमचन्द्राचार्य के ये ग्रन्थ विशेष उपयोगी हैं।

हेमचन्द्र के ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

सिद्धहेमशब्दानुशासन यह व्याकरण ग्रन्थ है। इसकी रचना गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना पर हुई। इस ग्रन्थ के नामकरण में भी सिद्धराज का नाम प्रयुक्त है। इस व्याकरण के आठ अध्याय हैं। प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत भाषा का व्याकरण एवं आठवें अध्याय में प्राकृत भाषा का व्याकरण है। कुल सूत्र संख्या ४६८५ है। उणादिगण के १०६ सूत्र संयुक्त करने पर इस व्याकरण की सूत्र संख्या ४७९१ हो जाती है। प्राकृत भाषा से सम्बन्धित ११९६ सूत्र हैं। अवशिष्ट सूत्र संस्कृत भाषा के हैं। व्याकरण के सूत्रों की रचना जटिल नहीं है उनमें दुरान्वय भी नहीं है।

वैदिक प्रयोगों से मुक्त होने के कारण इस व्याकरण की मौलिकता है। सूत्र रचना में शकटायन व्याकरण का प्रमुख आधार रहा है। उणादि पाठ, गण पाठ, धातु पाठ, लिङ्गानुशासन, वृत्ति इन पंचाङ्गों से परिपूर्ण यह व्याकरण सुबोध्य, है। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपयोगी है।

कोषग्रन्थ

आचार्य हेमचन्द्र ने ४ कोष ग्रन्थों की रचना की है १. अभिधान चिन्तामणि, २. अनेकार्थ संग्रह, ३. निघण्टु, ४. देशीनाममाला। इन चारों में अभिधान-चिन्तामणि सर्वाधिक विशाल है। इसके ६ कांड हैं एवं १५४१ श्लोक हैं। इस शब्दकोष की रचना 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के बाद हुई। ग्रन्थ के प्रारम्भ में हेमचन्द्र लिखते हैं

प्रणिपत्यार्हतः सिद्धसाङ्गशब्दानुशासनः।
रूढयौगिकमिश्राणां नाम्नां मालां तनोम्यहम् ॥१॥

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि कोष की रचना से पूर्व व्याकरण की रचना हो गई थी।

इस प्रथम अभिधानचिन्तामणिकोष में एक-एक वस्तु के अनेक पर्यायवाची संस्कृत नामों का उल्लेख है। द्वितीय कोष अनेकार्थ संग्रह में एक शब्द के अनेक अर्थ बताये गए हैं। तृतीय निघण्टुकोष में वनस्पति शास्त्र संबंधी विविध नामों की सामग्री है। यह वनस्पति शास्त्र कोष है। चतुर्थ देशीनाममाला कोष में संस्कृत प्राकृत व्याकरण से असिद्ध देशी शब्दों का संग्रह है। प्राकृत अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं एवं आधुनिक भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह कोष अत्यन्त उपयोगी है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन चारों कोषों में ज्ञान का वैभव भर दिया है।

काव्यानुशासन यह आचार्य हेमचन्द्र का उत्तम कोटि का ग्रन्थ है। इसमें काव्य के गुण दोषों की नयी एवं सारगर्भित व्याख्याएं हैं। 'काव्यमानन्दाय' कहकर हेमचन्द्र ने काव्य के लक्ष्य का निर्धारण किया है और मम्मट द्वारा प्रस्तुत काव्य परियोजन की परिभाषा में नया क्रम जोड़ा है। इसके पाठ से काव्य गुणों के विवेचन में मम्मट की अपेक्षा हेमचन्द्र के चिन्तन में अधिक व्यापकता है। इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकार की अलङ्कारचूड़ामणि नामक एक लघु टीका है। विषयों का विस्तार से विवेचन ग्रन्थकार की विवेक नामक टीका में है।

छन्दोनुशासन यह ग्रन्थ छन्दों का ज्ञान कराने में उपयोगी है। इस ग्रन्थ में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तीनों भाषाओं के ग्रन्थों के छन्दों का निरूपण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र की यह छन्दशास्त्र सम्बन्धी मौलिक कृति है। इसमें छन्दों विविध प्रकार की सामग्री है। छन्दों के उदाहरण भी हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में दिए हैं। इस ग्रन्थ पर आचार्य हेमचन्द्र की वृत्ति भी है। काव्यानुशासन के बाद छन्दोनुशासन की रचना हुई है।

द्वात्रिंशिकाएं अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोग-व्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकाओं में भारतीय दर्शनों की अवधारणा और जैन दर्शन के साथ उनकी तुलना है। भारतीय दर्शनों को समझने के लिए ये दोनों द्वात्रिंशिकाएं पठनीय हैं। दोनों कृतियों में शब्द संयोजना आकर्षक है। वह पाठक के मन को चुम्बक की तरह आकर्षित करती है।

द्वयाश्रय महाकाव्य आचार्य हेमचन्द्र का यह महाकाव्य है। इसकी रचना संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषाओं में हुई है, अतः भाषा के आधार पर यह महाकाव्य दो विभागों में विभक्त है

१. संस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य

२. प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य।

इस महाकाव्य में चौलुक्यवंश का पूर्ण इतिहास और काव्य के सभी गुणों का स्पष्ट दर्शन है। इस काव्य का नाम कुमारपाल चरित्र भी है। काव्य रचना का मुख्य उद्देश्य कुमारपाल चरित्र का वर्णन करना है। इस ग्रन्थ में संस्कृत, प्राकृत व्याकरण के नियमों की सोदाहरण प्रस्तुति हुई है। यह श्रमसाध्य कार्य है जिसकी अनुभूति कुशल वैयाकरण ही कर सकता है। ऐसा कार्य हेमचन्द्र जैसी सूक्ष्म प्रज्ञा से सम्भव है।

इस महाकाव्य के २८ सर्ग हैं। इसके संस्कृत सर्गों की संख्या २० है। अवशिष्ट आठ सर्ग प्राकृत में हैं। इसमें चौलुक्यवंश की परम्परा का विस्तार से वर्णन है। अध्यात्म चर्चाओं की दृष्टि से सातवां सर्ग महत्त्वपूर्ण है। इसमें कुमारपाल के चरित्र वर्णन के साथ अनेक अन्य शिक्षात्मक कविताएं भी हैं। कुमारपाल चरित्र की प्रधानता होने के कारण इस काव्य की प्रसिद्धि 'कुमारपाल चरित्र' के नाम से हुई है।

योगशास्त्र यह योग विषयक कृति है। इसके १२ प्रकाश हैं। श्लोक संख्या १०१२ है। इस ग्रन्थ पर १२७५० श्लोक परिमित व्याख्या भी है। इस ग्रन्थ में यम, नियम आदि योग से सम्बन्धित विविध बिन्दुओं का विस्तृत वर्णन है तथा श्रावक के नियमों को प्रथम चार प्रकाशों में प्रतिपादित किया है। श्लोकों की रचना अनुष्टुप् छन्द में है। योग के माहात्म्य तथा योग की निष्पत्ति को बताने वाला यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रस्तुत

ग्रन्थ की रचना चौलुक्यवंश भूषण परमार्हत्[३४] श्री कुमारपाल नरेश की प्रार्थना पर हुई। कुमारपाल इसका प्रतिदिन स्वाध्याय किया करता था।

प्रमाणमीमांसा इसमें प्रमाण और प्रमेय का विस्तृत व्याख्यान है। यह न्याय विषयक कृति है। इस ग्रन्थ में पांच अध्याय हैं। यह ग्रन्थ पूरा उपलब्ध नहीं है।

परिशिष्ट पर्व त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र की भांति यह आचार्य हेमचन्द्र का ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का जीवन चरित्र निबद्ध है। इस ग्रन्थ पर डॉ. हर्मन जेकोबी की प्रस्तावना (Parisista Parva Introduction) पठनीय है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र यह ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें जैन धर्म के २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, ९ बलदेव इन ६३ शलाकापुरुषों का जीवन चरित्र है। यह ग्रन्थ दस विभागों में विभाजित है। विभाग का पर्व संज्ञा से अभिहित किया गया है। यह काव्य जैन पुराण ग्रन्थ है।

तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना, सभ्यता का उत्कर्ष, धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, अध्यात्म आदि विविध विषयों को अपने में गर्भित किए हुए यह ग्रन्थ इतिहास प्रेमी पाठकों के लिए उपयोगी है। महाभारत के विषय में कही गई यह लोकोक्ति "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" प्रस्तुत ग्रन्थ पर अधिकांशतः चरितार्थ होती है। हेमचन्द्राचार्य की इतिहास विषयक यह उत्तम कृति है।

ग्रन्थों की मौलिकता एवं विद्वानों के विचार

आचार्य हेमचन्द्र का सबसे पहला व्याकरण सिद्धहेमव्याकरण है जिसकी रचना सिद्धराज जयसिंह की प्रार्थना पर की गई। इतनी उच्चकोटि की इस प्रथम रचना का व्याकरण के क्षेत्र में शीर्षस्थ स्थान है। हेमचन्द्र की पारगामी प्रज्ञा पर दिग्गज विद्वानों के मस्तिष्क झुक गए। उन्होंने कहा

किं स्तुमः शब्दपाथोधेः, हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनापीह येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम्॥

शब्द समुद्र हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा की क्या स्तवना करें, जिन्होंने इतने विशाल शब्दानुशासन की रचना की है।

प्रबन्ध-चिन्तामणि ग्रन्थ में उल्लेख है

भ्रातः संवृणु पाणिनिप्रलपितं कातंत्रकन्था वृथा।
मा कार्षीः कटु शाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्॥
किं कण्ठाभरणादिभिर्बटरयत्यात्मानमन्यैरपि।
श्रूयन्ते यदि तावदर्यमधुरा श्रीहेमचन्द्रोक्तय ॥१३९॥

इन पंक्तियों में हेमचन्द्राचार्य के इस विशाल व्याकरण की महत्ता है।

अभिधान चिन्तामणि आदि चारों कोष, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन तथा प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थों की रचना आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह के शासनकाल में की। नरेश कुमारपाल के शासनकाल में योगशास्त्र, वीतरागस्तुति आदि ग्रन्थों की रचना कुमारपाल को उद्बोधन देने के लिए हुई।

आचार्य हेमचन्द्र की अन्तिम रचना त्रिषष्टिशलाका-पुरुष चरित है। इसकी रचना भी कुमारपाल की प्रार्थना पर हुई।

अर्हन्नीति आदि ग्रन्थों की रचना उनकी हेम-सी निर्मल प्रतिभा का परिणाम है।

प्रभावक चरित ग्रन्थ में हेमचन्द्राचार्य की प्रमुख कृतियों का उल्लेख है।[३५]

---

३४. सत्येनतस्य परमार्हतस्य पृथिवीपतेः।
करिष्यति च सान्निध्यं तदा शासनदेवता ॥८२॥
(कुमारपाल चरित संग्रह, पृ. १३८)

३५. व्याकरणं पञ्चाङ्गं प्रमाणशास्त्रं प्रमाणमीमांसा।
छन्दोऽलङ्कृतिचूडामणी च शास्त्रे विभुर्व्यधित ॥८३४॥
एकार्थनिकार्था देश्या निर्घण्ट इति च चत्वारः।
विहिताश्च नामकोशाः शुचि कवितानघुपाध्यायाः ॥८३५॥
त्र्युत्तरषष्टिशलाकानरेतिवृत्तं गृहिव्रतविचारे।
अध्यात्मयोगशास्त्रं विदधे जगदुपकृतिविधित्सुः ॥८३६॥
लक्षण-साहित्यगुणं विदधे च द्वयाश्रयं महाकाव्यम्।
चक्रे विंशतिमुच्चैः सवीतरागस्तवानां च ॥८३७॥
इति तद्धितग्रन्थसंख्यैव नहि विद्यते।
नामापि न विदन्त्येषां मादृशा मन्दमेधसः ॥८३८॥
(प्रभावक चरित, पृ. २१९)

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा से उत्तरवर्ती विद्वान प्रभावित थे। आचार्य सोमप्रभ ने उनके साहित्य के सम्बन्ध में लिखा है

क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्वयाश्रया-
लङ्कारौ प्रथितौ नयौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम्।
तर्कः सज्जनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः॥

आचार्य हेमचन्द्र का साहित्य इतना मौलिक है कि जिसने भी उनके साहित्य को पढ़ा वह मुग्ध हो गया। जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जेकोबी तथा डॉ. बुल्हर ने उनके साहित्य का मन्थन किया और दोनों ने उनके ग्रन्थों पर समालोचनात्मक निबन्ध लिखे।

आचार्य हेमचन्द्र ने किसी का अनुकरण नहीं किया। उनके ग्रन्थों में नया चिन्तन, नई सामग्री, नई शैली, नई दृष्टि, नई सृष्टि और नया अनुसंधान है।

आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार बहुत हुआ। नरेश कुमारपाल ने तथा अन्य राजाओं ने उनके साहित्य को दूर-दूर तक पहुंचाने की व्यवस्था की। कुमारपाल ने ७०० लिपिकारों से ग्रन्थों को लिपिबद्ध करवाया।

हेमचन्द्राचार्य के पास रामचन्द्रसूरि, गुणचन्द्रसूरि, महेन्द्रसूरि, वर्द्धमानगणी जैसे साहित्यकार शिष्य थे। लोकश्रुति है कि चौरासी कलमें एक साथ आचार्य हेमचन्द्र के प्रशिक्षण केन्द्र में चलती थीं।

समृद्ध साहित्य के रचनाकार कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने सरस्वती के खजाने को ज्ञान की अक्षय निधि से भरा, गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह को सुलभबोधि बनाकर तथा महान् शासक कुमारपाल को व्रत-दीक्षा प्रदान कर जैन शासन के गौरव को हिमालय के शिखर पर चढ़ा दिया।

शिलालेखों में कुमारपाल के साथ परमार्हत विशेषण उनके जैन होने का पुष्ट प्रमाण है।

आचार्य हेमचन्द्र निस्सन्देह अलौकिक प्रज्ञा के धनी थे। उनके सुप्रयत्नों से उस युग में नये प्रभात का उदय हुआ एवं भारतीय संस्कृति प्राणवान् बनी, उसके कण-कण में अध्यात्म चेतना मुखर हो गई।

समय-संकेत

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र की आयु ८४ वर्ष की थी। संयम साधना के ७६ वर्ष के काल में ६३ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व कुशलतापूर्वक वहन किया। आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास वी. नि. १६९९ (वि. १२२९) गुजरात प्रान्त में हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र का युग जैन शासन के उत्कर्ष का युग था।

६५. महामनीषी आचार्य मलयगिरि

समर्थ टीकाकार मलयगिरि श्वेताम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। वे नाम से मलयगिरि और ज्ञान से भी मलयगिरि थे। वे जैनागमों के गम्भीर पाठक थे। उनकी प्रतिभा स्वच्छ दर्पण की तरह निर्मल थी। उनका संस्कृत भाषा पर प्रभुत्व था।

गुरु-परम्परा

मलयगिरि ने अपने ग्रन्थों में गुरु-परम्परा का कहीं उल्लेख नहीं किया है। उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी इस सम्बन्ध का कहीं संकेत नहीं है। आवश्यक टीका में मलयगिरि ने 'तथा चाहुः स्तुतिषु गुरवः' लिखकर हेमचन्द्राचार्य की अन्ययोगव्यवच्छेदिका का पूरा पद्य उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है आचार्य मलयगिरि हेमचन्द्राचार्य को गुरु जैसा बहुमान प्रदान करते थे। हेमचन्द्राचार्य के वैदुष्य का उनके जीवन पर प्रभाव था, पर हेमचन्द्राचार्य से आचार्य मलयगिरि की गुरु-परम्परा का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

जीवन-वृत्त

मलयगिरि की गृहस्थ सम्बन्धी और मुनि जीवन सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नहीं है। मलयगिरि को आचार्य पद अथवा सूरि पद की प्राप्ति कब और किसके द्वारा हुई, यह भी अज्ञात है। शब्दानुशासन का प्रारम्भ करते समय मलयगिरि लिखते हैं "आचार्यो मलयगिरिः शब्दानुशासनमारभते"। शब्दानुशासन का यह वाक्य मलयगिरि के आचार्य पद को सिद्ध करने के लिए पुष्ट प्रमाण है। मलयगिरि द्वारा स्वयं के लिए आचार्य शब्द का व्यवहार किया गया है जो भ्रान्त नहीं हो सकता।

जिनमण्डनगणी कृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' के अनुसार हेमचन्द्र ने गच्छान्तरीय देवेन्द्रगणी और मलयगिरि के साथ विशेष विद्या साधना की दृष्टि से गुरु का आदेश प्राप्त कर गौड़ देश की ओर प्रस्थान किया था। मार्ग में मध्यवर्ती रेवतक तीर्थ पर तीनों ने गुरु द्वारा प्राप्त सिद्धिचक्र मन्त्र की अम्बादेवी के सहयोग से आराधना की। इससे मन्त्राधिष्टायक देव 'विमलेश्वर' प्रकट हुआ। उसने तीनों से यथेप्सित वर मांगने को कहा। उस समय मलयगिरि ने जैन आगमों पर टीका रचने का वरदान चाहा। तीनों की यथेप्सित मांगों को पूर्ण करता हुआ देव तथास्तु कहकर अदृश्य हो गया।

यह घटना हेमचन्द्राचार्य और मलयगिरि के आत्मीय सम्बन्धों को प्रकट करती है।

मलयगिरि उदार विचारों के धनी थे। यश और श्लाघा की कामना से दूर थे। उनके कण-कण में लोक कल्याण की भावना थी। टीका ग्रन्थों की प्रशस्तियों में प्राप्त उल्लेखानुसार मलयगिरि टीका रचना से प्राप्त अध्यात्म लाभ को जनहितार्थ अर्पित कर देते थे।

साहित्य

मलयगिरि सूक्ष्म मनीषा के धनी थे। उनकी मेधा असाधारण थी। उन्होंने आगम ग्रन्थों पर सहस्रों पद्य परिमाण टीका ग्रन्थों की रचना की एवं टीकातिरिक्त ग्रन्थों की रचना भी की। उनकी प्रसिद्धि स्वतन्त्र ग्रन्थकार के रूप में नहीं टीकाकार के रूप में है। टीकाकार आचार्यों के क्रम में आचार्य मलयगिरि का गौरवपूर्ण स्थान है।

मलयगिरि की टीकाएं सूत्रस्पर्शी और व्याख्यात्मक दोनों हैं। जहां आवश्यक हुआ उन्होंने अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट करने के लिए प्राचीन प्रमाणों के उल्लेख तथा सप्रसंग विषयांतरित विषयों की चर्चा उनके बहुमुखी ज्ञान की सूचक हैं। 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' में मलयगिरि के २५ टीका ग्रन्थों एवं शब्दानुशासन नामक स्वन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख है। उन टीकाओं में से १९ टीका ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध हैं। उपलब्ध टीका ग्रन्थों का कुल ग्रन्थाग्र १९६९१२ पद्य परिमाण है।

आचार्य मलयगिरि के उपलब्ध ग्रन्थों में टीका ग्रन्थों

के नाम तथा कतिपय ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार हैं

	नाम	परिमाण
(१)	भगवतीसूत्र-द्वितीय शतक वृत्ति	३७५०
(२)	जीवाभिगमोपाङ्गटीका	१६००
(३)	राजप्रश्नीयोपाङ्गटीका	३७००
(४)	प्रज्ञापनोपाङ्गटीका	१६०००
(५)	चन्द्रप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००
(६)	सूर्यप्रज्ञप्त्युपाङ्गटीका	९५००
(७)	नन्दीसूत्र टीका	७७३२
(८)	व्यवहारसूत्र वृत्ति	३४६२५
(९)	वृहत्कल्पपीठिका वृत्ति(अपूर्ण)	४६००
(१०)	आवश्यक वृत्ति (अपूर्ण)	१८०००
(११)	पिण्डनिर्युक्ति टीका	६७००
(१२)	ज्योतिष्करण्डक टीका	५०००
(१३)	धर्मसंग्रहणी वृत्ति	१००००
(१४)	कर्मप्रकृति वृत्ति	८०००
(१५)	पंचसंग्रहणी वृत्ति	१८८५०
(१६)	षडशीति वृत्ति	२०००
(१७)	सप्ततिका वृत्ति	३७८०
(१८)	वृहत्संग्रहणी वृत्ति	५०००
(१९)	वृहत्क्षेत्र समास वृत्ति	९५००
(२०)	मलयगिरि शब्दानुशासन *(स्व. ग्रंथ)*	५०००

कतिपय टीका ग्रन्थों का परिचय :

नन्दी वृत्ति आचार्य मलयगिरि की नन्दीवृत्ति ७७३२ श्लोक परिमाण है। इसमें चूर्णिकार को नमस्कार करने के बाद टीकाकार हरिभद्र का स्मरण किया गया है। यह विविध जैन दार्शनिक मान्यताओं को जानने के लिए उपयोगी है। अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत और संस्कृत के उद्धरण एवं कथानक भी इसमें हैं। जैन दर्शन सम्मत ज्ञान पञ्चक का विस्तृत विवेचन करने वाली यह टीका ज्ञानवर्धक और आनन्दवर्धक है। टीका प्रशस्ति के चतुर्थ श्लोक में मलयगिरि ने स्वल्प शब्दों में अधिक अर्थ प्रदान करने वाली इस टीका से फलित सिद्धि को लोक-कल्याण के लिए अर्पित किया है। टीका के प्रारम्भ में वर्धमान जिनेश और जिन प्रवचन की जय बोली गई है।

प्रज्ञापना वृत्ति इस वृत्ति का ग्रन्थमान १६००० पद्य परिमाण है। आचार्य हरिभद्र ने इस सूत्र का विषमपद लिखा है। यह विवरण प्रज्ञापना के क्लिष्ट सूत्रों की व्याख्या के रूप में था। इस टीका में आचार्य हरिभद्र का विषम-पद विवरण आधारभूत है। आचार्य मलयगिरि ने इस टीका के प्रारम्भ में तीर्थंकर महावीर की और अन्तिम प्रशस्ति में आचार्य हरिभद्र की जय बोली है। यह संक्षिप्त टीका है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुरूप विस्तार है।

सूर्यप्रज्ञप्ति वृत्ति यह सूर्यप्रज्ञप्ति उपाङ्ग की टीका है। इसका ग्रन्थमान ९५०० पद्य परिमाण है। आचार्य मलयगिरि के शब्दों में यह सूत्रस्पर्शी टीका है। क्रूर काल के प्रभाव से आचार्य हरिभद्र की सूर्यप्रज्ञप्ति निर्युक्ति नष्ट हो गई थी, अतः मलयगिरि ने मूल सूत्रों पर टीका की रचना की। ऐसा मलयगिरि ने टीका के प्रारम्भ में उल्लेख किया है। जैन दर्शन सम्मत ज्योतिषज्ञान के लिए यह टीका उपयोगी है। इस टीका की प्रशस्ति के अनुसार मलयगिरि सूर्यप्रज्ञप्ति रचना से प्राप्त लाभ को जन-कल्याणार्थ अर्पित करते थे।

जीवाभिगम वृत्ति यह तृतीय उपांग की टीका है। इसमें विविध सामग्री है। इस टीका में कई प्राचीन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नामों का उल्लेख है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे।

ज्योतिष्करण्डक वृत्ति यह टीका प्रकीर्णक ग्रन्थ पर है। इस टीका में काल ज्ञान की विशेष सामग्री है। इसमें वल्लभी और माथुरी वाचना का विस्तृत वर्णन है। टीका के अन्त में मलयगिरि ने टीकागत अशुद्धांशों को सुधारने के लिए विद्वानों से नम्र निवेदन किया है एवं टीका रचना से प्राप्त फल को लोक-कल्याण के लिए अर्पित किया है।

व्यवहार वृत्ति यह विशाल वृत्ति ३४६२५ श्लोक परिमाण है। मलयगिरि के उपलब्ध टीका साहित्य में यह सबसे बड़ी वृत्ति है। इस वृत्ति की रचना निर्युक्ति, भाष्य सहित मूल सूत्रों पर हुई है। वृत्ति के प्रारम्भ में प्रस्तावना

रूप विस्तृत पीठिका है। आगम, श्रुत आदि पांचं व्यवहारों का वर्णन, गीतार्थ, अगीतार्थ की स्वरूप व्याख्या, प्रायश्चित्त के भेदों का विवेचन आदि विषय इस टीका में सम्यक् प्रकार चर्चित हुए हैं। टीका के अन्त में इस विवरण को श्रमणों के लिए अमृत-तुल्य बताया गया है।

राजप्रश्नीय वृत्ति राजप्रश्नीय आगम सूत्रकृताङ्ग का उपाङ्ग है। उपाङ्गागमों में इसका दूसरा क्रम है। प्रस्तुत टीका इस द्वितीय उपाङ्ग पर है। इस टीका में अङ्ग और उपाङ्ग की चर्चा करने के बाद नरेश प्रदेशी और केशीकुमार का आख्यान विस्तार से है। इस टीका का ग्रन्थमान ३७०० श्लोक परिमाण है।

पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति इसकी रचना आचार्य भद्रबाहुकृत पिण्डनिर्युक्ति के आधार पर है। दशवैकालिक सूत्रान्तर्गत पंचम अध्ययन की निर्युक्ति का नाम पिण्डनिर्युक्ति है।

आवश्यक वृत्ति यह टीका आवश्यकनिर्युक्ति पर रची गई है। टीका का उद्देश्य बताते हुए टीकाकार कहते हैं कि इस सूत्र पर कई रचनाएं हैं। मन्दबुद्धि पाठकों के लिए उन्हें समझना दुरुह होता है, अतः उनके लिए इस विवरण में अपने प्रतिपाद्य का समर्थन करने के लिए टीकाकार ने भाष्य गाथाओं का उपयोग किया है। इसमें सप्रसंग कथानक है। यह टीका वर्तमान में अपूर्ण रूप में उपलब्ध है। इसका ग्रन्थमान १८००० श्लोक परिमाण है। टीका में प्रयुक्त कथानक प्राकृत में है।

बृहत्कल्पपीठिका वृत्ति इस वृत्ति की रचना निर्युक्ति और भाष्य गाथाओं पर हुई है। निर्युक्ति गाथाएं भद्रबाहु की और भाष्य गाथाएं संघदासगणी की हैं। इस वृत्ति में प्राकृत कथानकों का उपयोग है। मलयगिरि इस टीका के ४६०० श्लोक ही रच पाए थे। अवशेष भाग को क्षेमकीर्ति ने पूरा किया। मलयगिरि ने चूर्णिकार को अन्धकार में दीपक की तरह प्रकाशक माना है। मन्दबुद्धि पाठकों के लिए इस टीका की रचना की गई है।

मलयगिरि शब्दानुशासन यह ३००० पद्य परिमाण है। कुमारपाल के शासनकाल में इस ग्रन्थ की रचना हुई। आचार्य हेमचन्द्र के सिद्धहेमशब्दानुशासन के साथ इसके सूत्रों की समानता है। पञ्चसंग्रह वृत्ति, कर्मप्रकृति वृत्ति, धर्मसंग्रहणी वृत्ति, सप्ततिका वृत्ति, वृहद्संग्रहिणी वृत्ति, वृहद्क्षेत्रसमास वृत्ति जैसे ग्रन्थ सैद्धान्तिक चर्चाओं से परिपूर्ण हैं। आगम टीकाओं की भाँति आचार्य मलयगिरि की ये कृतियां भी प्रौढ़ रचनाएं हैं।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ओघनिर्युक्ति, विशेषावश्यक, तत्त्वार्थाधिगम, धर्मसारप्रकरण, देवेन्द्र नरकेन्द्र प्रकरण इन छह ग्रन्थों पर भी मलयगिरि की टीकाओं के संकेत उनके ग्रन्थों से प्राप्त हैं। देशीनाममाला का संकेत जीवाभिगम सूत्र में है पर वर्तमान में ये उपलब्ध नहीं हैं।

मलयगिरि की टीकाएं प्रसाद और माधुर्य गुण से सम्पन्न हैं और सामग्री बहुल हैं। ये प्रयोगों की नवीनता से पाठक को तुष्टि प्रदान करने वाली हैं। टीका साहित्य में मलयगिरि का अनुपम अवदान है। जैन मनीषी टीकाकारों में पचीस टीकाओं की रचना करने वाले और अपना अधिकांश समय टीका साहित्य की रचना में ही समर्पित कर देने वाले आचार्य मलयगिरि इतिहास के पृष्ठों पर अकेले हैं। आगमों पर उपलब्ध टीकाएं बहुमुखी सामग्री से सम्पन्न हैं।

आचार्य मलयगिरि टीकाकार जैनाचार्यों में अग्रणी हैं। उनकी टीकाओं का टीका साहित्य में आदरास्पद स्थान है।

क्षेमकीर्ति ने मलयगिरि के शब्दों को चन्दन के समान तापहर माना है। वे कहते हैं

'आगमदुर्गमपदसंशयादितापो विलीयते विदुषाम् ॥
यद्वचनचन्दनरसैः मलयगिरिः स जयति यथार्थः ॥

(कल्पभाष्य टीका ग्रन्थ)

समय संकेत

टीकाकार मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास ८४ वर्ष की उम्र में वी. नि. १६६६ (वि. सं. १२२६) में हुआ था। इस आधार पर टीकाकार मलयगिरि का समय भी वी. नि. १७वीं-१८वीं (वि. १२वीं-१३वीं) शताब्दी सिद्ध होता है।

६६. समाधि-सदन आचार्य शुभचन्द्र

जैन परम्परा में शुभचन्द्र नाम के कई विद्वान् आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत शुभचन्द्र ध्यान-योग के विशिष्ट ज्ञाता थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'ज्ञानार्णव' में योग एवं ध्यान के विस्तृत स्वरूप का प्रतिपादन है। योग के विशेष व्याख्याता आचार्यों में शुभचन्द्राचार्य का नाम विश्रुत है।

जीवन-वृत्त

आचार्य शुभचन्द्र की गुरु-परम्परा, जन्म-भूमि अथवा माता-पिता के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं हैं।

विश्वभूषण भट्टारक के भक्तामर चरित उत्थानिका में शुभचन्द्र से सम्बन्धित जीवन परिचायिका जो सामग्री उपलब्ध है उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है

उज्जयिनी नरेश सिन्धुल के दो पुत्र थे शुभचन्द्र और भर्तृहरि। सिन्धुल के बड़े भ्राता का नाम मुंज था परन्तु मुंज सिन्धुल का सहोदर नहीं था। सिन्धुल के पिता को मूंज के खेत में एक लड़का पड़ा हुआ मिला। नरेश ने उसका नाम 'मुंज' रखा एवं पुत्र तुल्य मुंज का पालन-पोषण किया। सिन्धुल का जन्म उसके बाद हुआ, अतः उम्र में मुंज बड़े थे और सिन्धुल छोटे थे। राजकुमार शुभचन्द्र और भर्तृहरि दोनों सिन्धुल के सुयोग्य पराक्रमी लड़के थे। इन दोनों बालकों के प्रति ईर्ष्यावश मुंज के मन में हिंस्र भाव पनपने लगे। शुभचन्द्र और भर्तृहरि मुंज के दुर्व्यवहार को देखकर संसार से विरक्त हो गए। शुभचन्द्र ने जैन दीक्षा ग्रहण की और भर्तृहरि ने तान्त्रिक मत की दीक्षा ग्रहण की। अपने-अपने क्षेत्र में कुछ समय तक साधना करने के बाद एक बार दोनों भ्राता मिले। शुभचन्द्र के तेजस्वी व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से भर्तृहरि प्रभावित हुए, उन्होंने भी जैन दीक्षा ग्रहण की। अपने भ्राता भर्तृहरि को संयम मार्ग में दृढ़ करने के लिए शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना की।

भक्तामर चरित उत्थानिका का यह प्रसंग शोध विद्वानों की दृष्टि में प्रामाणिक नहीं है। मुंज और सिन्धुल विक्रम की ११वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। भर्तृहरि ७वीं, ८वीं शताब्दी के हैं, अतः इन सबका एक साथ योग किसी प्रकार से उपयुक्त नहीं है।

शिलालेखों और ग्रन्थों की प्रशस्तियों में प्रस्तुत आचार्य शुभचन्द्र का उल्लेख नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र ने भी स्वरचित ग्रन्थ ज्ञानार्णव में इसका संकेत नहीं किया है। पाठकों से 'स्व' को अप्रकाशित रखने का यह भाव उनके निगर्वी मानस का प्रतीक है पर इतिहास-गवेषकों को ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती।

साहित्य

साहित्य के क्षेत्र में आचार्य शुभचन्द्र का महत्त्वपूर्ण अनुदान ज्ञानार्णव ग्रन्थ है। इसका परिचय इस प्रकार है

ज्ञानार्णव ग्रन्थ ध्यान विषय की विशिष्ट कृति है। मालिनी, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, शार्दुलविक्रीड़ित आदि छंदों में रचित तथा ४२ प्रकरणों मे विभक्त यह सुविशाल ग्रन्थ पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान का सूक्ष्मता से विश्लेषण, आग्नेयी, मारुति, पार्थिवी धारणाओं की विस्तार से परिचर्चा, धर्मध्यान, शुक्लध्यान का स्वरूप-निर्णय, आज्ञा-विचय, अपाय -विचय, विपाक-विचय, संस्थान-विचय का विवेचन, मन के विभिन्न स्तरों का बोध, कर्म क्षय की प्रक्रिया, उनके व्यवस्थित क्रम का दिशा-निर्देश, बारह भावना, पांच महाव्रत आदि बहुविध विषयों का ध्यानयोग के साथ स्पष्ट प्रतिपादन इसमें है। सरस एवं प्रांजल शैली में प्रस्तुत सरल-रमणीय यह कृति आचार्य शुभचन्द्र के प्रगल्भ पाण्डित्य, मर्मभेदिनी प्रज्ञा तथा विभिन्न दर्शनों के विश्लेषण से प्राप्त बहुश्रुतता का प्रतिबिम्ब है। ज्ञानार्णव की पीठिका में आचार्य शुभचन्द्र ने समन्तभद्र, देवनन्दी पूज्यपाद, भट्ट अकलङ्क आदि आचार्यों का

भावपूर्ण उल्लेख किया है।[1] अतः इन आचार्यों को जानने के लिए स्वल्प सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध हो जाती है।

समय-संकेत

आचार्य शुभचन्द्र का समय अधिक विवादास्पद है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ आचार्य शुभचन्द्र की एकमात्र कृति है। उसमें उन्होंने अपने समय का कहीं संकेत नहीं किया और उत्तरवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में भी उनका समय अज्ञात है। ज्ञानार्णव में प्राप्त कुछ सन्दर्भ आचार्य शुभचन्द्र के समय को ज्ञात करने का काम करते हैं। दिगम्बराचार्य जिनसेन का आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में आदर के साथ उल्लेख किया है। वह उल्लेख यह है

जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिता।
योगिभिर्याः समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥१६॥
(ज्ञानार्णव पीठिका)

अपने गुरु वीरसेन के अधूरे जयधवला की टीका रचना के कार्य को आचार्य जिनसेन ने ई. सन् ८३७ (वि. सं. ८९४) में सम्पन्न किया। अतः ज्ञानार्णव के रचनाकार आ. शुभचन्द्र टीकाकार आचार्य जिनसेन से उत्तरवर्ती होने के कारण उनका नवमीं शताब्दी से पूर्व होना प्रमाणित नहीं होता।

ज्ञानार्णव कृति में ३ श्लोक 'उक्तं च' कहकर यशस्तिलकचम्पू काव्य के छठे आश्वास से ज्यों-के-त्यों उद्धृत किए गए हैं। तीनों श्लोकों में प्रथम दो श्लोक यशस्तिलक काव्य के रचनाकार सोमदेव के हैं। तृतीय श्लोक को वहां 'उक्तं च' कहकर उद्धृत किया है। ज्ञानार्णव के तीनों श्लोक उसी क्रम से उद्धृत हैं। यशस्तिलकचम्पू काव्य की रचना विक्रम सं. १०१६ में सम्पन्न हुई।

इस आधार पर आचार्य शुभचन्द्र आचार्य सोमदेव से भी उत्तरवर्ती हैं। उनका समय वि. की ११वीं शताब्दी के बाद का है।

आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र और शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव दोनों योग विषयक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के कई श्लोक बहुत कम अन्तर के साथ समान हैं। उनकी शब्दावली और मात्रा आदि में विशेष परिवर्तन नहीं है।

अतः इन दोनों आचार्यों में से एक-दूसरे ने किसी का अनुकरण अवश्य किया है।

योगशास्त्र के पांचवें प्रकाश का छट्ठा और सातवां पद्य भी ज्ञानार्णव में 'उक्तं च' कहकर लिखा गया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्यं रोधनं स तु कुम्भकः॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासा ब्रह्मपुरातनैः।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥

इन दोनों श्लोकों में नाभिमध्य के स्थान पर नाभि पद्मे और पुरातनैः शब्द के स्थान पर पुराननैः हैं। विद्वान् नाथूराम 'प्रेमी' ने 'जैन साहित्य और इतिहास' पुस्तक में पृष्ठ ४९९ पर उक्त आधारों का आलम्बन लेकर ज्ञानार्णव को योगशास्त्र के बाद की रचना अनुमानित की है। नाथूराम 'प्रेमी' की यह समीक्षा ठीक प्रतीत होती है। इस आधार पर आचार्य शुभचन्द्र आचार्य हेमचन्द्र से उत्तरवर्ती हैं। आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास (वि. सं. १२२९) में हुआ था, अतः आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र से उत्तरवर्ती होने के कारण वी. नि. १७वीं (वि. की १३वीं) शताब्दी के बाद के विद्वान् प्रमाणित होते हैं।

पाण्डव पुराण के रचनाकार शुभचन्द्र कुन्दकुन्दान्वयी नन्दीसङ्घ एवं बलात्कारगण के भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य और विजयकीर्ति के शिष्य थे। पाण्डव पुराण का रचना समय वि. सं. १६०८ बताया गया है। इस आधार पर पाण्डव पुराण के रचयिता शुभचन्द्र, ज्ञानार्णव ग्रन्थ के रचयिता शुभचन्द्र से उत्तरवर्ती प्रतीत होते हैं।

---

१. समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
प्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥१४॥
अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्येत ॥१५॥
जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः।
योगिभिर्याः समासाद्य स्खलितं नात्मनिश्चये ॥१६॥
श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥१७॥ (ज्ञानार्णव)

६७. जगत्-पूज्य आचार्य जिनचन्द्र (मणिधारी)

खरतरगच्छ के मणिधारी जिनचन्द्रसूरि भी बड़े दादा के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैन श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी समाज के चार दादा आचार्यों में उनका द्वितीय क्रम है।[1] जिनचन्द्रसूरि के मस्तक में मणि होने के कारण उनकी प्रसिद्धि मणिधारी जिनचन्द्र के रूप में हुई, ऐसी जनश्रुति है।[2]

गुरु-परम्परा

मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के गुरु बड़े दादा जिनदत्तसूरि थे। जिनचन्द्रसूरि की जिनदत्तसूरि से पूर्व की गुरु-परम्परा वही है जो जिनदत्तसूरि की है। यह 'जनप्रिय आचार्य जिनदत्तसूरि' नामक प्रकरण में दी गई है।

जन्म एवं परिवार

जिनचन्द्रसूरि का जन्म वैश्य वंश में विक्रमपुर (राजस्थान) में वी. नि. १६६७ (वि. सं. ११९७) भाद्र शुक्ला अष्टमी ज्येष्ठा नक्षत्र में हुआ। वे श्रेष्ठी रासल के पुत्र थे। माता का नाम देल्हण देवी था।[3]

जीवन-वृत्त

मणिधारी जिनचन्द्रसूरि ने लघुवय में मुनि-जीवन में प्रवेश किया। उनकी दीक्षा जिनदत्तसूरि द्वारा वी. नि. १६७३ (वि. सं. १२०३) में हुई।

मणिधारी जिनचन्द्रसूरि का जीवन कई विशेषताओं से मण्डित था। उनके गर्भ में आने से पहले ही जिनदत्तसूरि को विशिष्ट आत्मा के आगमन का आभास हो गया था। विशिष्ट आत्मा का सम्बन्ध उन्होंने जिनदत्तसूरि के साथ जोड़ा।

मुनि-जीवन में प्रवेश करने के बाद जिनचन्द्रसूरि ने शास्त्रीय ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया और गुरु के मार्ग-दर्शन में उन्होंने विविध अनुभव प्राप्त किये। जिनदत्तसूरि ने वी. नि. १६७५ (वि. सं. १२०५) बैशाख शुक्ला छठ विक्रमपुर के महावीर जिनालय में अपने उत्तराधिकारी पद पर जिनचन्द्र की नियुक्ति की। सूरिपद महोत्सव श्रेष्ठी रासलजी ने उल्लास के साथ मनाया।[4]

जिनदत्तसूरि का स्वर्गवास होने के बाद वी. नि. १६८१ (वि. सं. १२११) में सम्पूर्ण गच्छ का दायित्व उनके कन्धों पर आ गया जिसे उन्होंने कुशलता से निभाया।

मथुरा में वी. नि. १६८७ (वि. सं. १२१७) में जिनचन्द्रसूरि ने जिनपतिसूरि को दीक्षित किया।

क्षेमन्धर श्रेष्ठी, जिनचन्द्रसूरि का परम भक्त श्रावक था।[5]

---

१. जैनसमाजविख्याता दादेति नामधारकाः।
श्री जिनदत्तसूरीशाः श्री जिनचन्द्रसूरयः ॥२॥
जिनकुशलसूरीशाः श्री जिनचन्द्रसूरयः।
श्री खरतरगच्छस्य चतुर्ध्वेतेषु सूरिषु ॥३॥
श्रीजिनदत्तसूरीणां समागच्छत्यनन्तरम्।
श्रीजिनचन्द्रसूरीणामभिधा मणिधारिणाम् ॥४॥
(श्रीजिनचन्द्रसूरिचरितम्)

२. श्रीजिनचन्द्रसूरीशाः लाटमणिधारकाः।
शासनोद्योतका आसन् महाप्रभावशालिनः ॥१८६॥
(श्रीजिनचन्द्रसूरिचरितम्)

३. जेसलमेरुदुर्गस्य सौष्ठवराज्यवर्तिनि।
श्रीविक्रमपुरद्वारे चैत्य-श्राद्धजनाकुले ॥११॥
उवास राससश्रेष्ठी श्राद्धधर्मपरायणः।
धर्मिष्ठा स्त्री गुणश्रेष्ठा तस्य देल्हणदे प्रिया ॥१२॥
तस्याः कुक्षेरभूदस्य शैलाङ्गुरुद्वयत्तरे।
भाद्रशुक्लाष्टमी घस्रे ज्येष्ठायां जन्म सत्क्षणे ॥१३॥
(श्रीजिनचन्द्रसूरिचरितम्)

४. बैशाखे शुक्लषष्ट्यां च महावीरजिनालये।
स जिनचन्द्रसूरीशैः स्वपदे स्थापितो मुनिः ॥३१॥
श्रीजिनचन्द्रसूरीति नाम्ना ख्याति गतः स च।
अस्य पित्रा महायुक्त्या ऽकारि सूरिपदोत्सवः ॥३२॥
(श्रीजिनचन्द्रसूरिचरितम्)

५. श्राद्ध-क्षेमन्धरश्रेष्ठी पुनस्तैः प्रतिबोधितः।
ततो विहृत्य सूरीशा मरुकोटं ययुः क्रमात् ॥५०॥
(श्रीजिनचन्द्रसूरिचरितम्)

मणिधारी जिनचन्द्रसूरि योग्य उत्तराधिकारी हुए। जैन धर्म की प्रभावना हुई। वर्चस्वी व्यक्तित्व के कारण जिनचन्द्रसूरि अपने गुरु जिनदत्त की भांति दादा नाम से प्रसिद्ध हुए।

जिनचन्द्रसूरि आगम ज्ञान के भण्डार थे। दिल्ली के महाराज मदनपाल जिनचन्द्रसूरि की असाधारण विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उनका अनन्य भक्त बन गया।[६]

चैत्यवासी पद्मचन्द्राचार्य जैसे उद्भट विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित करने से उनकी यश चन्द्रिका अधिक विस्तृत हुई।

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्र ने अपनी मणि की सूचना मृत्यु से पूर्व अपने भक्तों को देकर सावधान किया कि मेरे दाह संस्कार से पहले मेरी मस्तक-मणि को पात्र में ले लेना अन्यथा किसी योगी के हाथ में यह अमूल्य मणि पहुंच सकती है। वह मणि बहुत प्रभावक थी।

दादा जिनचन्द्रसूरि के उत्तराधिकारी जिनपतिसूरि थे।

समय-संकेत

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्रसूरि का वी. नि. १६९३ (वि. सं. १२२३) द्वितीय भाद्र मास में दिल्ली नगर में अनशनपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

वर्तमान में दिल्ली के महरौली नामक स्थान पर उनका चामत्कारिक स्तूप है।

---

६. राजाज्ञां प्राप्त चारुश्च तुरङ्गमान् सहस्रशः।
नियोगिनोऽभवन्पृष्टे, मदनपालभूपतेः ॥११६॥
श्राद्धेभ्यः पूर्वमेवागात्सैन्यो भूपतिर्गुरोः।
पार्श्वसन्मानितः सार्थलोकेन वस्तुढौकनात् ॥११७॥
(श्रीजिनचन्द्रसूरिचरितम्)

६८. रमणीय रचनाकार आचार्य रामचन्द्र

रामचन्द्रसूरि प्रभावशाली आचार्य थे। वे प्रतिभा के धनी और साहित्यकार थे। उस युग के इने-गिने विद्वानों में उनकी गिनती होती थी। उन्हें कविकटारमल्ल की उपाधि प्राप्त थी।

गुरु-परम्परा

आचार्य रामचन्द्र के गुरु 'कलिकालसर्वज्ञ' आचार्य हेमचन्द्र थे।[1] हेमचन्द्र के गुरु देवचन्द्रसूरि थे। आचार्य हेमचन्द्र की गुरु-परम्परा ही आचार्य रामचन्द्र की गुरु-परम्परा थी। हेमचन्द्र की गुरु-परम्परा हेमचन्द्र प्रबन्ध में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत है।

जीवन-वृत्त

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यों में रामचन्द्र का विशिष्ट स्थान था। एक बार सिद्धराज जयसिंह ने हेमचन्द्राचार्य से उनके उत्तराधिकारी का नाम पूछा।[2] उस समय हेमचन्द्राचार्य ने मुनि रामचन्द्र को उनके सामने प्रस्तुत किया।[3]

रामचन्द्र मुनि दिग्गज विद्वान् एवं बेजोड़ शब्द-शिल्पी थे। उनकी दक्षता समस्यापूर्ति में विस्मयकारक थी। उनकी स्फुरणशील मनीषा मन्दाकिनी में कल्पना-कल्लोलें अत्यन्त वेग से हिलोरें लेती थीं। एक बार ग्रीष्म ऋतु में सिद्धराज जयसिंह क्रीड़ा करने के लिए उद्यान में जा रहे थे। संयोग से मुनि रामचन्द्र का मार्ग में मिलन हुआ। औपचारिक स्वागत के बाद सिद्धराज जयसिंह ने मुनि से प्रश्न किया

कथं ग्रीष्मे दिवसा गुरुतराः ?

ग्रीष्म ऋतु में दिन लम्बे क्यों होते हैं?

मुनि ने प्रश्न के उत्तर में तत्काल एक संस्कृत श्लोक की रचना की

देव ! श्रीगिरिदुर्गमल्ल ! भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
धावद्वीरतुरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षपामण्डलात्।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सञ्जातपङ्कस्थली,
दूर्वाघुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनैव वृद्धं दिनम् ॥

(गिरि-मालाओं और दुर्लंघ्य दुर्गों पर विजय-पताका फहराने वाले देव! आपकी दिग्जयी यात्रा के महोत्सव पर वेगवान् अश्वों की दौड़ के कारण उनके खुरों से उठे पृथ्वी के धूलिकण पवन लहरियों पर आरूढ़ होकर आकाशगंगा से जा मिले। नीर और रजों के सम्मिश्रण से वहां दूब उग गई। उसी दूब के चरते-चरते चलने के कारण सूर्य के घोड़ों की गति मन्द हो गई। इसी हेतु से दिवस लम्बे हैं।

समस्या पूर्त्यात्मक श्लोक को सुनकर सिद्धराज जयसिंह को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उसी समय इन्हें 'कविकटारमल्ल' की उपाधि से विभूषित किया।

हेमचन्द्राचार्य के स्वर्गवास के बाद धर्मसंघ के संचालन का दायित्व मुनि रामचन्द्र पर आया। मुनि रामचन्द्र इस गुरुतर कार्य के लिए योग्य थे।

आचार्य हेमचन्द्र के प्रति महाराज सिद्धराज जयसिंह जैसा ही धार्मिक अनुराग महाराज कुमारपाल में भी था। आचार्य हेमचन्द्र के स्वर्गवास की सूचना पाकर कुमारपाल का हृदय शोक-वेदना से विक्षुब्ध हो गया।

---

१. "श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्यशिष्येण रामचन्द्रेण विरचितं नलविलासाभिधानमार्थं"....
(नलविलास, नाटक, पृ. १)

२. राज्ञाश्रीसिद्धराजेनान्यदानुयुयुजे प्रभुः।
भवतां कोऽस्ति पट्टस्य योग्यः शिष्यो गुणाधिकः ॥१२६॥
तमस्माकं दर्शयतु चित्तोत्कर्षाय मामिव।
अपुत्रमनुकम्पार्हं पूर्वं त्वां मा स्म शोचयन् ॥१३०॥
(प्रभा. च. हेम. सूरि प्रबन्ध, पृ. १८७)

३. अस्त्याभुष्यायणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः ॥
प्राप्तरेखः प्राप्तरूपः संघे विश्वकलानिधिः ॥१३३॥
(प्रभा. च. हेम. सूरि प्रबन्ध, पृ. १८७)

उस संकट की घड़ी को धैर्यपूर्वक पार करने में मुनि रामचन्द्र का योग सहायक हुआ।

एक अन्य घटना आचार्य हेमचन्द्र के शासनकाल की है। वाराणसी के विश्वेश्वर कवि किसी समय पाटण में आए। हेमचन्द्र की सभा में पहुंचे। नरेश कुमारपाल वहीं थे। विश्वेश्वर कवि ने नरेश कुमारपाल को आशीर्वाद देते हुए व्यंग्यपूर्ण भाषा में कहा[४]

'पातु वो हेमगोपालः दण्ड-कम्बलमुदवहन्'

दण्ड, कम्बलधारी हेमगोपाल आपकी रक्षा करे।

हेम गोपाल का सम्बोधन देकर कही गई यह बात नरेश कुमारपाल को उचित नहीं लगी, उनकी भौंहें वक्र हो गईं।[५] तभी रामचन्द्र श्लोकार्द्ध की पूर्ति करते हुए बोले

"षड्दर्शनपशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे"

नरेश कुमारपाल मुनि रामचन्द्र की आशु रचना पर प्रसन्न हुए। विश्वेश्वर कवि को मुनि की प्रत्युत्पन्नमति से सबके सामने लज्जित होना पड़ा।

सिद्धराज जयसिंह वि. सं. ११९१ में मालव विजय प्राप्त करके लौटे। उस समय जैनों के प्रतिनिधि रूप में हेमचन्द्राचार्य ने विजयी सिद्धराज जयसिंह को आशीर्वचन दिया।[६] इस घटना के बाद रामचन्द्राचार्य का सिद्धराज जयसिंह से परिचय मुनि अवस्था में हुआ। विक्रम की १२वीं शताब्दी के सम्पन्न होने से पूर्व ही नरेश सिद्धराज जयसिंह का देहावसान हो गया था।[७]

साहित्य

आचार्य रामचन्द्र का साहित्य उल्लेखनीय है। उन्होंने मौलिक एवं लोकोपयोगी ग्रन्थों का सृजन किया। उस समय गुजरात में लगभग बहुचर्चित दो दर्जन संस्कृत नाटकों की रचनाएं हुईं उनमें ग्यारह नाटकों के रचनाकार रामचन्द्र थे। उस समय संस्कृत नाटक रचना की कई विधाएं प्रचलित थीं। चार विधाओं में संस्कृत नाटक कृतियों की रचना आचार्य रामचन्द्र ने की। 'नाट्यदर्पण' आचार्य रामचन्द्र के ग्रन्थों में अधिक प्रसिद्ध है। कुमार विहार शतक, द्रव्यालङ्कारग्रन्थ, ये भी रामचन्द्राचार्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं। कतिपय मुख्य ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

नाट्यदर्पण आचार्य रामचन्द्र ने कई नाटक लिखे। उनमें उनको नाट्यदर्पण ग्रन्थ की रचना से विशेष ख्याति प्राप्त हुई।

उन्होंने नाट्यदर्पण में कई नवीन दृष्टियां प्रदान की। नाटक के प्रकारों एवं रसों के वर्णन में उनका अपना मौलिक चिन्तन था। उनका चिन्तन अन्य नाटक से उधार लिया हुआ नहीं था। भरत नाट्यशास्त्र से उनका वर्णन पृथक् है।

बहुविध सामग्री से परिपूर्ण लोकोपयोगी यह ग्रन्थ सरस है। इसमें चालीस से अधिक नाटकों के उद्धरण हैं। संस्कृत के उपलब्ध, अनुपलब्ध कई नाटकों के उल्लेख हैं। इसमें उनकी गहन अध्ययनशीलता का परिचय मिलता है। अभिनव कलाओं की व्यंजना और मौर्यकाल के इतिहास की झांकी इस ग्रन्थ में है। विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त नामक नाटक के कई उद्धरणों से गुप्तकाल का इतिहास भी इससे ज्ञात होता है। विशाखदत्त का यह नाटक वर्तमान में अनुपलब्ध है।

सामान्य कथावस्तु को नाटकीय रूप में परिवर्तित करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी।

रामचन्द्र ने इस नाटक में जिन ग्यारह नाटकों का उल्लेख किया है उनमें 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' ऐतिहासिक है। यह कृति सरस शिक्षात्मक सुभाषितों

---

४. कस्मिन्नप्यवसरे विश्वेश्वरनामा कविर्वाराणस्याः श्रीपत्तनमुपागतः प्रभुश्रीहेमसूरीणां संसदि प्राप्तः। तत्र कुमारपालनृपतौ विद्यमाने सः।
(प्रबन्धचिन्तामणिः कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ. ८६, पंक्ति ४, ५)

५. नृपेण सक्रोधं निरैक्षत।
(प्रबन्धचिन्तामणिः कुमारपालादि प्रबन्ध, पृ. ८६, पंक्ति ७)

६. गणधरवाद प्रस्तावना, पृ. ४८।

७. द्वादशस्वथ वर्षाणां शतेषु विरतेषु च।
एकोनेषु महीनाथे सिद्धाधीशे दिवं गते ॥३६४॥
(प्रभा. च. हेम. सूरि प्रबन्ध, पृ. १९७)

एवं मुहावरों से मण्डित है। इटालियन भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ है।

'नवविलास' नाटक में सात अंक हैं। इस कथावस्तु का मूल आधार महाभारत है। इस कृति में अनेक शिक्षात्मक सुभाषित हैं।

'मल्लिका-मकरन्द' सामाजिक भूमिका पर आधारित सुखान्त नाटक है। इसकी कथा काल्पनिक है।

'कौमुदी मित्रानन्द' नाटक भी सामाजिक है। इसके दस अंग हैं। इसे कौमुदी नाटक कहते हैं। डॉ. कीथ के अभिमत से यह कृति पूर्ण रूप से अनाटकीय है। रचनाकार ने इसको प्रकरण माना है।

'रघुविलास' नाटक का मूल आधार जैन रामायण है। इसके आठ अंक हैं।

'निर्भयभीमव्यायोग' नाटक के रूपक का आधार महाभारत है। यह रचना प्रसादगुण से सम्पन्न है।

रोहिणीमृगाङ्क, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय, वनमाला ये चारें रचनाएं अनुपलब्ध हैं। 'सुधा-कलश' सुभाषितों का कोश है।

लौकिक विषयों पर आचार्य रामचन्द्र जैसा सांगोपांग विवेचन विरले ही आचार्यों में होता है।

द्रव्यालङ्कार-कृति न्याय एवं सिद्धान्त विषय पर आधारित तथा प्रमेय का पर्याप्त विश्लेषण करने वाली इस कृति का स्याद्वाद्-मञ्जरी में 'तथा च द्रव्यालङ्कारे' कहकर उल्लेख किया है। कृति के प्रकाशान्त में मुनि रामचन्द्र और गुणचन्द्र का उल्लेख है।[८] इससे स्पष्ट है इन दोनों में गहरी मित्रता थी, पर इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का अन्य उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत कृति के तृतीय प्रकाश के अन्त में श्लोक है

नोत्प्रेक्षा बहुमानतो न च परस्पर्द्धा समुल्लासतो,
नापीन्दुद्युतिनिर्मलाय यशसे नोवाकृते सम्पदा।
आवाभ्यामयमाहतः किमु बुधा द्रव्यप्रपञ्चश्रमः।
सन्दर्भान्तरनिर्मिता वननमं प्रज्ञा प्रकर्षश्रिये॥

इति श्री रामचन्द्रगुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञद्रव्यालङ्कारटीकायां तृतीयोऽकंपः प्रकाशः इति संवत् १२०२ सहयोगि निगेन (ना) लिखे।

प्रस्तुत श्लोक में ग्रन्थकार द्वारा रचना का उद्देश्य निर्दिष्ट है। इस ग्रन्थ के शीर्षक से यह उत्तम रचना आभासित होती है।

आचार्य रामचन्द्र के साथ प्रबन्धशतकर्तृक विशेषण भी है। यह विशेषण उनके द्वारा रचित सौ ग्रन्थों का सूचक है या इसी नाम के किसी ग्रन्थ का परिचायक है।

रामचन्द्राचार्य की कृतियों से तथा समस्यापूर्ति के प्रसंगों से स्पष्ट है न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, काव्यशास्त्र और शब्दशास्त्र ये उनके अधिकृत विषय थे। उनका नाटकशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान विशिष्ट था।

समय-संकेत

ख्याति प्राप्त होने पर भी रामचन्द्राचार्य के गृहस्थ जीवन का परिचय पर्याप्त रूप से उपलब्ध नहीं है। रामचन्द्राचार्य द्वारा रचित 'नल विलास' नाटक के सम्पादक पण्डित लालचन्द्र गांधी के अभिमत से उनका जन्म वी. नि. १६१५ (वि. सं. ११४५) सूरि पद वी. नि. १६३६ (वि. सं. ११६६) आचार्य पदारोहण वी. नि. १६६६ (वि. सं.१२२६) में हुआ। उनका स्वर्गवास इतिहास की दुःखान्त घटना है।

हेमचन्द्राचार्य का उत्तराधिकार शिष्य रामचन्द्र को मिला। इससे उनके गुरुभ्राता बालचन्द्र मुनि में ईर्ष्या का विषाक्त अंकुर फूट पड़ा। महाराज कुमारपाल की मृत्यु आचार्य हेमचन्द्र के बत्तीस दिन बाद हो गई। कुमारपाल का भतीजा अजपाल सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। बालचन्द्र मुनि की अजपाल के साथ मित्रता थी। मुनिजी ने रामचन्द्र के विरुद्ध अजपाल के कान भर दिए। आचार्य हेमचन्द्र के साथ अजपाल का पूर्व वैर था। उस वैर का बदला रामचन्द्र के साथ लिया गया। उन्हें

८. "इति श्री रामचन्द्रगुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञद्रव्यालङ्कारटीकायां द्वितीयः पुद्गलप्रकाशः समाप्तः।"
(द्रव्यालङ्कार टीका प्रकाश-२)

मरवाने के लिए लोमहर्षक योजना बनी। अभय आदि श्रेष्ठीजनों ने इस योजना को विफल करने हेतु बहुत प्रयत्न किए। उनका कोई भी प्रयत्न रामचन्द्रसूरि को इस षड्यन्त्र से मुक्त नहीं कर सका। हेमचन्द्राचार्य के स्वर्गवास से एक वर्ष बाद वी. नि. १७०० (वि. सं. १२३०) में मर्मान्तक वेदना को सहते हुए उनका स्वर्गवास हो गया।

ग्रन्थों में उल्लेख है राजाज्ञा से रामचन्द्रसूरि को तप्त ताम्रपट्टिका पर बैठाकर उनका अन्त कर दिया।[९]

कुमारपाल का शासनकाल वि. सं. ११९९ से १२३० तक ३१ वर्ष का बताया गया है। कुमारपाल के बाद अजपाल वि. सं. १२३० में राजसिंहासन पर आसीन हुआ।[१०] उसके राज्यकाल के प्रथम वर्ष में रामचन्द्रसूरि के देहावसान की यह क्रूर घटना हुई।

धर्मसंघ को रामचन्द्रसूरि के आचार्यकाल के कुशल शासन एवं प्रवचनों का लाभ अल्प समय के लिए ही प्राप्त हो सका। परन्तु यशस्वी व्यक्तित्व, स्फुरणशील मनीषा एवं रचनाओं का रमणीय रूप आज भी उनके साहित्य दर्पण में प्रतिबिम्बित है।

---

९. अथप्रबन्धशतकर्त्ता "रामचन्द्रस्तु तेन भूपासदेन तप्ततामपट्टिकायां निवेश्यमानः।"
(प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ९७, पंक्ति १)

१०. सं. ११९९ वर्षपूर्वं ३१ श्रीकुमारपालदेवेन राज्यं कृतम्।
सं. १२३० वर्षेऽजयदेवो राज्येऽभिषिक्तः॥
(प्रबन्धचिन्तामणि, पृ. ९४, पंक्ति ३१, पृ. ९६, पंक्ति १)

६६. अप्रमत्तविहारी आर्यरक्षितसूरि (अंचल गच्छ संस्थापक)

प्रस्तुत आचार्य आर्यरक्षितसूरि अंचल गच्छ के संस्थापक थे। क्रियोद्धारक आचार्यों में उनकी गणना है। आचार्य बनने से पूर्व आर्यरक्षित का नाम विजयचन्द्र था। विधिपक्ष-गच्छ (आगमानुसारी समाचारी) की स्थापना के बाद मुनि विजयचन्द्र आर्यरक्षित नाम से विश्रुत हुए। अनुयोग व्यवस्थापक पूर्वधर आर्यरक्षितसूरि इनसे पूर्ववर्ती थे।

गुरु-परम्परा

अंचल गच्छ के आचार्य भावसागरसूरि द्वारा रचित वीरवंश-पट्टावली (विधिपक्ष गच्छ पट्टावली) में गुरु-परम्परा के अनुसार बड़गच्छ के संस्थापक उद्द्योतनसूरि हुए। उद्द्योतनसूरि के पट्टधर क्रमशः सर्वदेवसूरि, पद्मदेवसूरि, उदयप्रभसूरि, प्रभानन्दसूरि, धर्मचन्द्रसूरि...नौवें पट्टधर वीरचन्द्रसूरि एवं दसवें पट्टधर जयसिंहसूरि हुए। जयसिंहसूरि ही आर्यरक्षितसूरि (विजयचन्द्र मुनि) के दीक्षा गुरु थे।

जन्म एवं परिवार

आर्यरक्षितसूरि का जन्म आबू के निकटवर्ती दंताणी गांव में वी. नि. १६०६ (वि. ११३६) में हुआ। उनका गोत्र प्राग्वाट् (पोरवाल) था। उनके पिता मन्त्री द्रोण थे। माता का नाम देढ़ी था। आर्यरक्षितसूरि का गृहस्थ जीवन का नाम गोदुह कुमार था।

जीवन-वृत्त

गोदुह कुमार बुद्धिमान बालक था। परिवार जैन-धर्म के प्रति आस्थाशील था। गोदुह कुमार को धर्म के संस्कार अपने परिवार से प्राप्त हुए। एक दिन संसार से विरक्ति हुई। जयसिंहसूरि से गोदुह कुमार ने मुनि दीक्षा ली। मुनि जीवन में गोदुह कुमार का नाम विजयचन्द्र रखा गया।

मुनि जीवन में आगमों का अध्ययन किया। अध्ययन करते समय विजयचन्द्र मुनि को साधुचर्या में शिथिलाचार की अनुभूति हुई। उन्होंने क्रियोद्धार करने की बात सोची। जयसिंहसूरि ने विजयचन्द्र मुनि को उपाध्याय पद पर नियुक्ति की। पद का व्यामोह विजयचन्द्र मुनि के बढ़ते कदमों को रोक नहीं सका। वे एक दिन तीन सहयोगी सन्तों के साथ गच्छ से पृथक् हो गए। निर्दोष भोजन की उपलब्धि नहीं होने पर उन्होंने पावागिरि शिखर पर बने मन्दिर में एक महीने का तप किया। साधुचर्या के अनुरूप आहार पानी नहीं मिलने पर संलेखना तप करने का उनका विचार था परन्तु घटनाचक्र ने अचानक मोड़ लिया।

भालिज्य ग्राम निवासी श्रेष्ठी यशोधन संघ के साथ मन्दिर पूजा के उद्देश्य से पावागिरि शिखर पर आया। उसने जैन मुनियों के दर्शन किए, उनसे उपदेश सुनकर प्रसन्न हुआ। विजयचन्द्र आदि चारों मुनियों के मासिक तप का पारणा श्रेष्ठी यशोधन के ४२ प्रकार के दोष से रहित विशुद्ध आहार दान से हुआ। मध्याह्न में श्रेष्ठी यशोधन मुनियों की उपासना में पुनः उपस्थित हुआ। विजयचन्द्र मुनि ने उसे धर्म का बोध दिया तथा उत्तरासंग (वस्त्र के अंचल) से षडावश्यक धर्मोपासना एवं गुरु को वन्दन करने की विधि समझाई। श्रेष्ठी यशोधन मुनि विजयसिंह की वाणी से प्रभावित हुआ। उसने श्रावक व्रत ग्रहण किए।

वहां से यशोधन श्रेष्ठी मुनियों के साथ अपने गांव में आया। चक्रेश्वरी देवी की प्रेरणा से श्रावक संघ ने विजयचन्द्र मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। श्रेष्ठी यशोधन ने उल्लास के साथ आचार्य पद महोत्सव मनाया। आचार्य पद पर अधिष्ठित होने के बाद विजयचन्द्रसूरि ने आगम मान्यता के अनुसार श्रमणाचार की पुनः प्रतिष्ठा के उद्देश्य से विधि मार्ग की स्थापना की एवं अपने गच्छ की समाचारी-स्थापना में कई नए

नियम बनाए। दीपपूजा, फलपूजा, बीजपूजा आदि के स्थान पर तन्दुल पूजा अथवा पत्र पूजा को मान्यता प्रदान की। श्रावक-श्राविकाओं के लिए वस्त्र के अंचल से षडावश्यक आदि धार्मिक क्रियाओं को करने का विधान दिया। पर्व पर पौषध करने का नियम बनाया एवं माल्यार्पण आदि कई सावद्य क्रियाओं का निषेध किया।

विजयचन्द्रसूरि द्वारा इस प्रकार विधि पक्ष-गच्छ-समाचारी की विधिवत् प्रतिष्ठा हुई।

मेरुतुंग लघु शतपदी के अनुसार नाणकगच्छ के सर्वदेवसूरि द्वारा बड़गच्छ की स्थापना हुई। बड़गच्छ में अनेक आचार्य हुए। उनमें जयसिंहसूरि ने आर्यरक्षित को आर्हती दीक्षा प्रदान की। मुनि जीवन में नवदीक्षित शिष्य का नाम विजयचन्द्र रखा गया। विजयचन्द्र मुनि कई वर्षों तक दीक्षागुरु के पास रहे। आगमों का अध्ययन किया। एक दिन जयसिंहसूरि ने अपने प्रतिभा-सम्पन्न शिष्य विजयचन्द्र की नियुक्ति उपाध्याय पद पर की। विजयचन्द्र मुनि ने इससे पहले ही क्रियोद्धार करने का निश्चय किया। अपने पूर्वकृत निश्चय के अनुसार विजयचन्द्र मुनि एक दिन तीन सहयोगी सन्तों के साथ गच्छ से अलग होकर स्वतन्त्र विहरण करने लगे। विहारक्रम में वे अपने मामा शीलगुणसूरि के पास गए। शीलगुणसूरि पौर्णमिक गच्छ के विद्वान् आचार्य थे। उनके पास उन्होंने आगमों का गहन अध्ययन किया। शीलगुणसूरि ने इनको आचार्य पद पर नियुक्त करना चाहा पर विजयचन्द्र मुनि पापभीरु थे। उन्होंने सोचा आचार्य बनने पर इस गण के विधि-विधानों का पालन करना होगा एवं माल्यार्पण आदि सावद्य प्रवृत्तियों का संचालन करना होगा।

विजयचन्द्र मुनि आचार्य पद के आकर्षण में नहीं फंसे। अपने सहयोगी सन्तों के साथ वे स्वतन्त्र विहरण करने लगे।

विजयचन्द्रसूरि ने वि. ११६९ में विधिपक्ष की स्थापना की। नए नियम बनाए। अपने गच्छ में नवीन समाचारी की उद्घोषणा की। इसी समय विजयचन्द्र मुनि का नाम रक्षितसूरि रखा गया। आगमानुसारी समाचारी की सुरक्षा में सशक्त प्रयत्न होने के कारण आर्य रक्षितसूरि नाम भक्तों को सार्थकता की अनुभूति करा रहा था।

आर्यरक्षित द्वारा स्थापित यह विधिपक्ष-गच्छ कालान्तर में अंचलगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भावसागरसूरि द्वारा रचित वीर वंश-पट्टावली में विजयचन्द्रसूरि के आचार्यपद पर नियुक्ति एवं विधिपक्ष-गच्छ की स्थापना का समय वी. नि. १६३९ (वि. सं. ११६९) है।

इस गच्छ की समाचारी का वर्णन धर्मघोषसूरि ने वि. सं. १२६३ में 'शतपदिका' प्राकृत ग्रन्थ में किया। परन्तु वह वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसी ग्रन्थ के आधार पर महेन्द्रसूरि ने वि. सं. १२९४ में संस्कृत में शतपदी ग्रन्थ रचा। यह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध है, अंचलगच्छ की समाचारी का ज्ञान इस ग्रन्थ से किया जा सकता है।

अंचलगच्छ की समाचारी को पूर्णिमागच्छ, सार्ध-पूर्णिमागच्छ और आगमगच्छ से भी स्वीकृति प्राप्त हुई। नाडोलगच्छ, वल्लभीगच्छ आदि ने इनकी समाचारी का अनुसरण किया।

आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद आर्यरक्षितसूरि धर्म-प्रचार के लिए कई गांवों एवं नगरों में विहरण करते हुए 'विउणय' गांव में पधारे। इस गांव में कपर्दि नाम का श्रेष्ठी रहता था। कपर्दि श्रेष्ठी विपुल वैभव का स्वामी था। आर्यरक्षितसूरि ने उसे धर्म का स्वरूप समझाया, श्रावक दीक्षा दी। कपर्दि श्रेष्ठी की पुत्री का नाम समयश्री था। समयश्री भी आर्यरक्षित के प्रवचन से प्रभावित हुई। उसने २५ महिलाओं के साथ आर्यरक्षितसूरि से महाव्रत दीक्षा स्वीकार की। संयम के पथ पर अग्रसर हुई। विउणय नगर में आर्यरक्षितसूरि का धर्म-प्रचार कार्य विशेष रूप से हुआ। कई व्यक्तियों ने यहां आर्यरक्षित से श्रावक व्रत ग्रहण किए। कई सुलभ बोधि बने।

एक दिन कपर्दि श्रेष्ठी हेमचन्द्र आचार्य को उत्तरासंग (वस्त्र के अंचल) से विधिपूर्वक वन्दन कर

रहा था। उस समय गुजरात नरेश कुमारपाल वहीं थे। हेमचन्द्राचार्य से कुमारपाल ने इस विधि के रहस्य का ज्ञान कर आर्यरक्षितसूरि के गच्छ को अंचलगच्छ के नाम से उद्घोषित किया।

एक बार अंचलगच्छ संस्थापक आर्यरक्षितसूरि के पट्टधर श्री जयसिंहसूरि अणहिल्लपुर पाटण में विराजमान थे। जयसिंहसूरि की नियमों के प्रति सजगता एवं वचन दृढ़ता के आधार पर पाटण के नरेश कुमारपाल ने उनके गच्छ को अचलगच्छ के नाम से सम्बोधित किया था परन्तु उस गच्छ की प्रसिद्धि अंचलगच्छ के नाम से हुई। आज भी आर्यरक्षितसूरि द्वारा स्थापित विधिपक्षगच्छ की पहचान अंचलगच्छ नाम से है। अंचलगच्छ नामकरण का समय पट्टावलीकारों ने वी. नि. १६८३ (वि. सं. १२१३) माना है।

अंचलगच्छ में साध्वी समयश्री महत्तरा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। साध्वी समयश्री ने श्रीसम्पन्न परिवार को छोड़कर पूर्ण वैराग्य से संयम-दीक्षा ग्रहण की थी।

आर्यरक्षित के प्रमुख भक्त यशोधन भंसाली ने इस गच्छ के प्रचार-प्रसार में तन-मन-धन से योगदान दिया। अंचलगच्छ की पट्टावलियों में प्राचीन ग्रन्थ और शिलालेखों में यशोधन भंसाली का गौरवपूर्ण उल्लेख है।

आर्यरक्षितसूरि का धर्म-प्रचार कार्य में आक्षेपात्मक नीति से बचने का प्रयत्न रहता था। उनकी कोई आलोचना करता उसको भी वे समता से सहन करते थे।

तटस्थ भाव से आर्यरक्षितसूरि ने धर्म का प्रचार किया एवं जैन शासन की प्रभावना की।

वर्धमानसूरि द्वारा सुविहितमार्गी परम्परा का उद्भव चैत्यवासियों के विरोध में एक क्रान्तिकारी चरण था। अंचलगच्छ की स्थापना सुविहितमार्गी परम्परा में व्याप्त शिथिलाचार के विरोध में पुनः एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ था।

समय-संकेत

वीरवंश पट्टावली (भावसागरसूरि रचित) के अनुसार आर्यरक्षितसूरि का जन्म वि. ११३६ में, दीक्षा वि. ११४२ में, आचार्य पद एवं विधि-पक्ष-गच्छ की स्थापना (अंचलगच्छ) वि. सं. ११६९ में हुई। उनका स्वर्गवास वि. १२३६ में तिमिर नगर में हुआ। उनकी कुल आयु १०० वर्ष की थी।[1]

मेरुतुंग शतपदी के अनुसार अंचलगच्छ संस्थापक आर्यरक्षितसूरि का स्वर्गवास वी. नि. १६९६ (वि. सं. १२२६) में ९१ वर्ष की अवस्था में हुआ था।

मुनि लाखा रचित गुरु पट्टावली के अनुसार आर्यरक्षित का स्वर्गवास १०० वर्ष की उम्र में रेणा नदी के तट पर हुआ।

अंचलगच्छ संस्थापक आर्यरक्षितसूरि वी. नि. १७वीं-१८वीं (वि. १२वीं-१३वीं) शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे।

---

१. एगारस छत्तीसे (वि. सं. ११३६) जम्मण बायाल (११४२) चरण सिरिवरिया अउणुत्तरिए (११६९) वरिसे विहिपक्खगणो य संठवियो ॥११४॥
बारस छत्तीसंमि (१२३६) य, सयवरिसं पालिऊणं परिपुण्णं।
तिरि अज्जरक्खिय गुरु, गओ दिवं तिमिर नयरम्मि ॥११५॥
तप्पट्टपउम हंसो, गणाहिवो सूरिराय जयसिंहो ॥११६॥
(श्री वीरवंश पट्टावली)

१००. जिनधर्मानुरागी आचार्य जयसिंह सूरि

अंचलगच्छ के प्रभावक आचार्यों में जयसिंहसूरि का एक नाम है। जयसिंहसूरि विद्वान एवं वादकुशल आचार्य थे। वे विधिपक्ष-गच्छ के द्वितीय पट्टधर थे। उनकी स्मरणशक्ति प्रखर थी। वे एक दिन में सैकड़ों पद्य कण्ठस्थ कर लेते थे। उन्हें व्याकरण, न्याय, साहित्य, छन्द आदि विविध विषयों का अधिकृत ज्ञान था।

गुरु-परम्परा

जयसिंहसूरि के दीक्षा गुरु आर्यरक्षितसूरि थे। आर्यरक्षितसूरि अंचलगच्छ के संस्थापक थे, अतः जयसिंहसूरि की गुरु परम्परा आर्यरक्षितसूरि से प्रारम्भ होती है। आर्यरक्षितसूरि के उत्तराधिकारी जयसिंहसूरि विधिपक्ष-गच्छ (अंचलगच्छ) के द्वितीय पट्टधर थे। इस गच्छ के तृतीय पट्टधर धर्मघोषसूरि, चतुर्थ पट्टधर महेन्द्रसिंहसूरि थे। महेन्द्रसिंहसूरि शतपदी विवरण के रचनाकार थे।

जन्म एवं परिवार

जयसिंहसूरि का जन्म वैश्य वंश में वी. नि. १६४६ (वि. ११७६) में हुआ। उनके पिता का नाम दाहड़ एवं माता का नाम नेढ़ी था। श्रेष्ठी दाहड़ कोंकण प्रदेशान्तर्गत सोपारक नगर में रहता था। सोपारक नगर की जैन इतिहास से भी कड़ी जुड़ी हुई है। द्वादशवर्षीय दुष्काल के समय आर्य वज्रसेन कोंकण देश के सोपारक नगर में पधारे। सोपारक नगर निवासी जिनदत्त श्रेष्ठी के ४ युवापुत्रों को उन्होंने आर्हती दीक्षा प्रदान की। जयसिंहसूरि की जन्म-भूमि होने का सौभाग्य इसी सोपारक नगर को है।

जीवन-वृत्त

श्रेष्ठी दाहड़ सोपारक नगर का समृद्ध व्यक्ति था। वह धर्मानुरागी था। दाहड़ की पत्नी नेढ़ी भी धर्मपरायण महिला थी। सुखी परिवार था। नेढ़ी ने पूर्णिमा की रात्रि में पूर्ण चन्द्रमा का स्वप्न देखा। स्वप्न की बात उसने अपने पति से कही। दोनों ने महसूस किया यह स्वप्न हमारे प्रांगण में किसी पुण्यवान जीव के आगमन की सूचना है। गर्भ की अवधि सम्पन्न होने पर नेढ़ी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र का नाम जासिग रखा गया।

जासिग बुद्धिमान बालक था। वह पढ़ता था एवं अपनी मां के साथ सन्तों के व्याख्यान सुनने भी जाया करता था। एक बार बालक जासिग ने कक्कसूरि से 'जम्बूचरित्र' का आख्यान सुना। बालक का मन संसार से विरक्त हो गया। वह संयम ग्रहण करने को उत्सुक बना। वैराग्य भावपूर्वक जासिग ने स्थिरपद्र (थराद) नगर में वी. नि. १६६७ (वि. ११९७) में आर्यरक्षितसूरि से आर्हती दीक्षा स्वीकार की। इस समय जयसिंहसूरि की उम्र लगभग १८ वर्ष की थी। मुनि जीवन में उनका नाम यशेशचन्द्र रखा गया। गुरु की सन्निधि में रहकर नवदीक्षित मुनि ने विद्याभ्यास किया। आगमों का अध्ययन किया। शीघ्रग्राही बुद्धि के कारण यशेशचन्द्र मुनि कुछ ही वर्षों में अनेक विषयों के ज्ञाता बन गए।

आर्यरक्षितसूरि ने उनको विउणप्प नगर में वी. नि. १६७२ (वि. १२०२) में सूरि पद पर प्रतिष्ठित किया। उनका नाम जयसिंह रखा गया। इस समय उन्हें मुनि बने पांच वर्ष हो गए थे। विधिपक्ष-गच्छ के (अंचलगच्छ) संस्थापक आर्यरक्षितसूरि के स्वर्गवास के बाद जयसिंह ने वी. नि. १७०६ से १७२८ (वि. १२३६ से १२५८) तक गच्छ संचालन का भार सम्भाला। उनके शासनकाल में अंचलगच्छ की विशेष प्रगति हुई।

जयसिंहसूरि ने मेवाड़, मारवाड़, कच्छ, सौराष्ट्र आदि क्षेत्रों में विचरण कर अनेक व्यक्तियों को जैन धर्म का बोध दिया। कईयों को जैन दीक्षा भी प्रदान की।

आर्यरक्षितसूरि ने विधिपक्ष-गच्छ (अंचलगच्छ) की स्थापना की। उनका व्यापक प्रचार-प्रसार करने वाले जयसिंहसूरि थे। अपने गच्छ को संगठित करने का उन्होंने प्रयत्न किया।

समय-संकेत

जयसिंहसूरि १२वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में दीक्षित हुए तथा १३वीं शताब्दी में आचार्य बने। उन्होंने २२ वर्ष तक धर्मसंघ का दायित्व सम्भाला। उनका स्वर्गवास वी. नि. १७२८ (वि. सं. १२५८) में हुआ। अंचलगच्छ के प्रभावी आचार्य जयसिंहसूरि वी. नि. की १८वीं (वि. १३वीं) शताब्दी के विद्वान् आचार्य थे।

१०१. उदारमना आचार्य उदयप्रभ

उदयप्रभ नागेन्द्र गच्छ के प्रभावी आचार्य थे। उनके वर्चस्वी व्यक्तित्व का जनता पर प्रभाव था। गुजरात के महामात्य वस्तुपाल और तेजपाल उनके आस्थावान भक्त थे।

गुरु-परम्परा

उदयप्रभसूरि की गुरु-परम्परा में शान्तिसूरि के शिष्य अमरचन्दसूरि उनके शिष्य हरिभद्र, हरिभद्र के शिष्य विजयसेन और विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ थे।

जीवन-वृत्त

उदयप्रभसूरि ने लघुवय में मुनि-दीक्षा ग्रहण की। प्रसिद्ध आख्यानकार माणभट्ट का व्याख्यान सुनकर उन्होंने व्याख्यान देने की कला सीखी। उदयप्रभसूरि की इच्छानुसार महामात्य वस्तुपाल ने छह मास तक उपाश्रय के निकट माणभट्ट के व्याख्यान आदि की व्यवस्था की।

उदयप्रभसूरि का नाम मन्त्र की तरह प्रभावक माना जाता था। आचार्य मल्लिषेण का उदयप्रभसूरि के विषय में उल्लेख है

मातर्भारति ! संनिधेहि हृदि मे येनेयमाप्रस्तुतेः
निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्धयति जवारारम्भसंभावना।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरति मत् सारस्वतः शाश्वतो
मन्त्रः श्री उदयप्रभेति रचनारम्भो ममाहर्निशम् ॥४॥

गुजरात के राजा वीरधवल पर उदयप्रभसूरि का प्रभाव था। वीरधवल के महामात्य वस्तुपाल एवं तेजपाल दोनों भाई जैन थे। वीरधवल के यश को दिगन्तव्यापी बनाने में दोनों का योगदान था।

युगल बन्धु महामात्य, सेनापति एवं अर्थ व्यवस्थापक थे तथा वे प्रचण्ड योद्धा, दानी एवं धार्मिक भी थे।

एक बार शक्तिशाली म्लेच्छ सेना के आगमन की सूचना पाकर गुर्जर नरेश श्री वीरधवल चिन्तित हुआ। उसने अमात्य वस्तुपाल को बुलाकर कहा "गर्दभी विद्यासिद्ध गर्दभिल्ल राजा भी म्लेच्छों के द्वारा पराभूत हो गया था। शक्तिशाली राजा शिलादित्य का राज्य भी इनसे ध्वस्त हो गया। म्लेच्छ दुर्जेय है। हमें अपनी सुरक्षा के लिए क्या करना चाहिए?" वस्तुपाल ने कहा "राजन्! आप चिन्ता न करें। म्लेच्छों के सामने रणभूमि में खड़ा होने के लिए मुझे आदेश दें।" राजा ने वैसा ही किया। वस्तुपाल और तेजपाल युगल बन्धुओं की शक्ति के सामने म्लेच्छ पराजित हो गए।

वणिक् पुत्र केवल व्यापार-कुशल ही नहीं होते, अपितु क्षत्रिय जैसा तेज भी उनमें होता है। यह बात दोनों अमात्यों ने सिद्ध कर दी।

शोभाग वस्तुपाल का व्यक्तित्व कई विशेषताओं से सम्पन्न था। उनके जीवन में लक्ष्मी, सरस्वती एवं शक्ति का आश्चर्यजनक समन्वय था। हिन्दुस्तान में पूरब से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण पर्यन्त दूर-दूर तक धार्मिक कार्यों के लिए महामात्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त थी। वाग्देवी सुनू तथा सरस्वती-पुत्र की उपाधियों से वह विभूषित था। राजा भोज की तरह वह विद्वानों का आश्रयदाता था। वस्तुपाल ने विद्यामण्डल की स्थापना की, जिससे संस्कृत की वृद्धि हुई।

असाधारण व्यक्तित्व के धनी, महादानी, सबल, योद्धा, कवि, लेखक, साहित्य रसिक, विद्वानों का सम्मानदाता, उदारहृदय एवं सर्व-धर्म समदर्शी जैन महामात्य वस्तुपाल को पाकर गुजरात की धरा धन्य हो गई। मध्यकाल के धर्म प्रभावक जैन श्रावकों में अमात्य वस्तुपाल का स्थान विशिष्ट था। सरस्वती कण्ठाभरणादि चौबीस उपाधियों से अलंकृत एवं संग्राम-भूमि में तिरेसठ बार विजय प्राप्त करने वाला वस्तुपाल अमात्य धर्म-प्रचार कार्य में सतत प्रयत्नशील रहता था। धार्मिक प्रवृत्तियों के संचालन में उसने विपुल धनराशि का व्यय किया।

श्री वस्तुपाल का यश दक्षिण दिशा में श्रीपर्वत तक, पश्चिम में प्रभास तक, उत्तर में केदार पर्वत तक और पूर्व में वाराणसी तक विस्तृत था।

इतिहास-प्रसिद्ध इस महामात्य को प्रभावित करने वाले धर्माचार्यों में जयसिंहसूरि, नरचन्द्रसूरि, शान्तिसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, विजयसेनसूरि, बालचन्द्रसूरि आदि कई आचार्यों के नाम हैं। उनमें एक नाम आचार्य उदयप्रभसूरि का भी है।

साहित्य

उदयप्रभाचार्य धर्म प्रचारक एवं यशस्वी साहित्यकार थे। उन्होंने संघपति चरित्र, आरम्भसिद्धि, सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी, नेमिनाथ चरित्र, षड्शीति टिप्पण, कर्मस्तव टिप्पण, उपदेशमाला, उपदेश-कर्णिका वृत्ति इन ग्रन्थों की रचना की।

संघपति चरित्र ग्रन्थ का दूसरा नाम धर्माभ्युदय है। यह महाकाव्य है। इस ग्रन्थ की रचना वी. नि. १७५७ (वि. सं. १२८७) में हुई।

नेमिनाथ चरित्र संस्कृत भाषा की प्रशस्त रचना है।

सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी नामक ग्रन्थ भी उत्तम कोटि का है। यह वस्तुपाल, तेजपाल के धार्मिक कार्यों का प्रशस्ति काव्य है। इसके १७९ श्लोक हैं। इसमें चावड़ा वंश नरेशों के शौर्य का वर्णन, वस्तुपाल की वंशावली, उनकी संघ यात्राएं, चालुक्य नृपों का वर्णन तथा वीरधवल और उनके पूर्वजों की प्रशंसा है। नागेन्द्रगच्छ के आचार्यों की पट्टावली भी है। शत्रुंजय पर्वत पर आदिनाथ मन्दिर के किसी शिलापट्ट पर उत्कीर्ण कराने के उद्देश्य से इस प्रशस्ति काव्य की रचना की गई। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

समय-संकेत

सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी काव्य की रचना वी. नि. १७५८ (वि. सं. १२८८) में हुई।

धर्माभ्युदय काव्य की रचना वी. नि. १७५७ (वि. १२८७) में हुई। महामात्य वस्तुपाल ने स्वयं धर्माभ्युदय महाकाव्य की प्रतिलिपि वी. नि. १७६० (वि. सं. १२९०) में तैयार करवाई। इस आधार पर आचार्य उदयप्रभसूरि का समय वी. नि. की १७वीं (वि. १३वीं) का उत्तरार्द्ध है।

१०२. सरस व्याख्याकार आचार्य रत्नप्रभ

रत्नप्रभ सुविहितमार्गी श्वेताम्बर आचार्य थे। वे न्याय और दर्शन-शास्त्र के विशेषज्ञ थे। कुशल रचनाकार थे। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं पर उनका आधिपत्य था।

गुरु-परम्परा

रत्नप्रभसूरि के गुरु बड़गच्छ के प्रभावी आचार्य वादिदेवसूरि थे। वादिदेवसूरि के गुरु सुविहितमार्गी मुनिचन्द्र थे। वादिदेवसूरि के शिष्यों में भद्रेश्वरसूरि, रत्नप्रभसूरि, विजयचन्द्रसूरि, परमानन्दसूरि और माणिक्यनन्दसूरि प्रमुख थे।

जीवन-वृत्त

रत्नप्रभसूरि वादिदेवसूरि के सुयोग्य पट्टधर थे। रत्नप्रभसूरि के साथी मुनि उनको रत्नाकर नाम से सम्बोधित करते थे। यह नाम सम्भवतः उनका विनय आदि गुणों के कारण प्रसिद्ध हुआ। इतिहास के पृष्ठों पर वे रत्नप्रभ-सूरि नाम से प्रसिद्ध हैं। वादिदेवसूरि ने अपने कई शिष्यों की नियुक्ति आचार्य पद पर की। उनके मुख्य पट्टधर भद्रेश्वरसूरि थे। भद्रेश्वर मुनि रत्नप्रभसूरि के सम्भवतः सहपाठी थे। स्याद्वादग्रन्थरत्नाकर के निर्माण में वादिदेवसूरि को भद्रेश्वरसूरि एवं रत्नप्रभसूरि का सहयोग मिला। वादिदेवसूरि ने अपने इन दोनों शिष्यों का उल्लेख निम्नोक्त श्लोक में किया है

किं दुष्करं भवतु तत्र मम प्रबन्धे,
यत्राभिनिर्मलमतिः सततामिमुख्यः।
भद्रेश्वरः प्रवरसूक्तसुधा प्रवाहो,
रत्नप्रभः स भजते सहकारिभावम् ॥

साहित्य

साहित्य क्षेत्र में रत्नप्रभसूरि का प्रयत्न प्रशंसनीय है। उनके ग्रन्थ संख्या कम हैं पर उनकी सामग्री महत्त्वपूर्ण है।

नेमिनाह-चरिय (नेमिनाथ-चरित) इसकी रचना उन्होंने वी. नि. १७०२ (वि. सं. १२३२) में की। यह उनकी प्राकृत रचना है। प्राकृत भाषा में आचार्य रत्नप्रभ को अच्छा ज्ञान था।

दोघट्टीवृत्ति धर्मदासकृत 'उपदेशमाला' पर आचार्य रत्नप्रभ की ११५० श्लोक परिमाण दोघट्टीवृत्ति (उपदेशमाला विशेष वृत्ति) वी. नि. १७०८ (वि. सं. १२३८) की रचना है। इस कृति का निर्माण विजयसेनसूरि की प्रेरणा से भरूंच में बोधतीर्थ महावीर मन्दिर में हुआ। विजयसेनसूरि ख्यातिप्राप्त आचार्य और वादिदेवसूरि के भाई थे। इस कृति में विपुल इतिहास सामग्री प्रस्तुत है। आचार्य भद्रेश्वरसूरि ने इस कृति का संशोधन किया।

रत्नाकरावतारिका यह रत्नप्रभसूरि की अनुपम कृति है। यह स्याद्वादरत्नाकार का प्रवेश मार्ग है। तार्किक शिरोमणि आचार्य वादिदेव द्वारा निर्मित 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' ग्रन्थ की व्याख्या स्वरूप चौरासी हजार श्लोक परिमाण स्याद्वाद-रत्नाकर गूढ़ टीका है। समासों की दीर्घता एवं कठिन शब्द संयोजना के दुर्ग को भेदकर इस ग्रन्थ के शब्दार्थ एवं पदार्थ तक पहुंचना श्रम-साध्य है।

आचार्य रत्नप्रभ रत्नाकरावतारिका की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए प्रारम्भ में लिखते हैं

"क्वापितीर्थकग्रन्थग्रन्थि-सार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमान-प्लवमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदय, सैद्धान्तिक-तार्किकवैयाकरणकविचक्रवर्तिसुविहित-गृहितनामधेयास्मद्गुरु श्रीदेवसूरिभिविरचिते-स्याद्वाद-रत्नाकरे न खलु कतिपयतर्कभाषातीर्थमजानन्तोऽपाटीना अपीवराश्च प्रवेष्टुं प्रभविष्णवः इत्यतस्तेषामवतारदर्शन कर्तुमनुरूपम्।"

दर्शनान्तरीय मन्तव्यों का निरसन एवं अपने मंतव्य का प्रतिपादन करती हुई यह स्याद्वाद-रत्नाकर टीका क्लिष्ट है। तर्क को नहीं जानने वाले अकुशल पाठकों का प्रवेश पाना कठिन है। उनकी सुगमता के लिए मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है।

आचार्य रत्नप्रभ ने उक्त पाठ में सहृदय, सैद्धान्तिक, तार्किक, वैयाकरण कवि, चक्रवर्ती जैसे गौरवमय विशेषण प्रदान कर अपने गुरु वादिदेव के प्रति सम्मान प्रकट किया है।

स्याद्वाद-रत्नाकर का अवगाहन करने के लिए आचार्य रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका यथार्थ में रत्नाकरावतारिका है। उपमा में स्याद्वाद-रत्नाकर शैल है। उसके उच्चतम शिखर पर पहुंचने के लिए रत्नाकरावतारिका सोपान है।

जगत् कर्तृत्व निरसन प्रकरण को 'त, थ' आदि तेरह वर्णों में तथा ती, ते, सी, टा, तस् इन पांच प्रत्ययों में प्रस्तुत कर रत्नप्रभसूरि ने विलक्षण क्षमता का परिचय दिया है।

मधुर स्वरों में संगीत, भावमयी कविता एवं आकण्ठ तृप्तिप्रदायक सुधा-बिन्दु जैसा यह आनन्दकारी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में कान्तपदावली एवं मनोमुग्धकारी शब्द-सौष्ठव है।

मतपरीक्षा, पञ्चाशत, अन्तरंगसन्धि, अपभ्रंशकुलक आदि रत्नप्रभसूरि की रचनाएं विविध सामग्री प्रदान करती हैं।

समय-संकेत

आचार्य रत्नप्रभ की नेमिनाहचरिय कृति का रचना-समय वी. नि. १७०२ (वि. सं. १२३२) एवं दोघट्टीवृत्ति का रचना समय वी. नि. १७०८ (वि. सं. १२३८) है। इन दोनों कृतियों के आधार पर रत्नप्रभसूरि वी. नि. १८वीं (वि. १३वीं) शताब्दी के आचार्य थे।

१०३. जगदुन्नायक आचार्य जगच्चन्द्र

जगच्चन्द्रसूरि त्याग, वैराग्य और तप के मूर्त्तरूप थे। अपनी साधना के द्वारा वे विश्व में चन्द्र की तरह चमके। 'यथा नाम तथा गुण' इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर उन्होंने अपना नाम सार्थक किया।

गुरु-परम्परा

जगच्चन्द्रसूरि के गुरु बड़गच्छ के मणिरत्नसूरि थे। मणिरत्नसूरि के गुरु विजयसिंहसूरि थे। विजयसिंहसूरि के गुरु अजितदेवसूरि थे। विजयदेवसूरि के तीन पट्टधरों में मणिरत्नसूरि सबसे छोटे थे। उनका स्वर्गवास सम्भवतः वी. नि. १७४४ (वि. सं. १२७४) में हुआ। शतार्थी नाम से प्रसिद्ध सोमप्रभसूरि मणिरत्नसूरि के गुरु बन्धु थे।

जन्म एवं परिवार

जगच्चन्द्रसूरि का जन्म प्राग्वाट् (पोरवाल) वंश में हुआ। उनके पिता का नाम पूर्णदेव था। श्रेष्ठी पूर्णदेव के तीन पुत्र थे सलखण, वरदेव और जिनदेव। तीनों पुत्रों में जिनदेव सबसे छोटे थे। वैराग्यवृत्ति से उन्होंने जैन मुनिदीक्षा ग्रहण की और जगच्चन्द्रसूरि नाम से प्रसिद्ध हुए।[1]

जीवन-वृत्त

जगच्चन्द्रसूरि के बचपन का नाम जिनदेव था। जिनदेव नाम जैन संस्कृति का प्रतीक है। जगच्चन्द्रसूरि का परिवार जैन धर्म के प्रति निष्ठावान था। पूर्णदेव के कनिष्ठ पुत्र जिनदेव ने मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के बाद शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर चतुर्मुखी योग्यता का विकास किया। अपने गुरु मणिरत्नसूरि के बाद वे आचार्य बने तथा उन्होंने प्रभावक आचार्यों की श्रेणी में स्थान पाया। पूर्ण श्रेष्ठी के पुत्र वरदेव के चार सन्तान थीं। उनमें बड़े पुत्र का नाम साढ़ाल था। श्रेष्ठी साढ़ल के धीणाक आदि पांच पुत्रों में क्षेमसिंह और देवसिंह ने जगच्चन्द्रसूरि के पास मुनिदीक्षा ग्रहण की।[2] साढ़ल के बड़े पुत्र धीणाक की पत्नी का नाम कडू और पुत्र का नाम मोढ़ था। धीणाक जैन धर्म का उपासक बना।[3] उसने जैन साहित्य की सुरक्षा में तन-मन-धन से योगदान दिया।

जगच्चन्द्रसूरि विद्वान् और तपस्वी थे। एक बार चैत्रवालगच्छ के देवभद्रगणी उनके सम्पर्क में आए। सूरिजी की चरित्रनिष्ठा और शुद्ध समाचारी का प्रभाव देवभद्रगणी पर हुआ। संघ में छाये शिथिलाचार को कड़ी चुनौती देकर आचार्य कक्कसूरि की भांति जगच्चन्द्रसूरि क्रियोद्धार करने के लिए पहले से उत्सुक थे। देवभद्रगणी का योग इस कार्य को सम्पादित करने हेतु सहायक हुआ। सूरिजी के शिष्य देवेन्द्र भी उनके इस कार्य में निष्ठापूर्वक साथ रहे। इस श्रेष्ठ कार्य में प्रवृत्त सूरिजी ने कार्य की सफलता के लिए यावज्जीवन आयम्बिल तप किया। उस समय उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य की प्रशंसा हुई और सूरिजी को आचार्यपद से सम्मानित किया गया। उनकी उत्कृष्ट तपःसाधना ने साधारण जन से लेकर शासक वर्ग तक को प्रभावित

---

१. प्राग्वाटवंशतिलकोऽजनि पूर्णदेवस्तस्याप्यजास्त्रय इह प्रथिता बभूवुः।
दुर्वारमारकरिकुम्भविभेदसिंहस्तत्राद्यिमः सलखणोऽभिधया बभूव ॥१॥
द्वितीयकोऽभूद् वरदेवनामा, तृतीयकोऽभूज्जिनदेवसंज्ञः।
सोऽन्येद्युरादत्तजिनेन्द्रदीक्षां निर्वाणसोख्याय मनीषिमुख्यः ॥१॥
निर्वेदाम्भोधिमग्नो भाविककुवत्तयोद्बोधनाधानचन्द्रः।
कालेनाऽऽचार्यवर्यः स समजिन जगच्चन्द्र इत्याख्यया हि ॥३॥
(आख्यानमणिकोष सवृत्ति, प्रस्तावना, पृ. १)

२. क्षेमसिंहाभिधो देवसिंहश्च भवभीरुकः।
श्री जगच्चन्द्रसूरीणां पार्श्वे व्रतमाश्रिश्रियत् ॥८॥
(आख्यानमणिकोष सवृत्ति, प्रस्तावना, पृ. १)

३. धीणाकस्य कडुर्नाम पत्नी मोढाभिधः सुतः।
अन्येद्युः सुगुरोर्वाक्यं धीणाकः श्रुतवानिति ॥९॥
(आख्यानमणिकोष सवृत्ति, प्रस्तावना, पृ. १)

किया। मेवाड़ नरेश जैतसिंह ने तप के आधार पर उन्हें वी. नि. १७५५ (वि. सं. १२८५) में तपा नामक उपाधि प्रदान की।

एक व्यक्ति की साधना समग्र संघ को अलंकृत कर देती है। जगच्चन्द्रसूरि की तपःसाधना से ऐसा ही हुआ। उनके नाम के साथ जुड़ी उपाधि गच्छ के साथ प्रयुक्त होने लगी। बड़गच्छ का नाम 'तपागच्छ' हो गया। बड़गच्छ का 'तपागच्छ' के रूप में नामकरण जगच्चन्द्रसूरि के गच्छ के साथ हुआ। उनके गुरुभाई शिष्यों ने इस नाम को स्वीकार नहीं किया। उनके गण की प्रसिद्धि अपने मूल नाम 'बड़गच्छ' के रूप में रही।

इन दोनों गच्छों में नामभेद अवश्य रहा, पर सिद्धान्त मान्यता तथा एक आचार-संहिता थी। सिसोदिया राजवंश ने इस 'तपागच्छ' को मान्य किया। वस्तुपाल और तेजपाल दोनों अमात्य इस युग की हस्तियां थीं। एक बार वस्तुपाल ने सूरिजी को गुजरात में पधारने के लिए आमन्त्रण दिया। महामात्य के गुरु बनकर वे वहां गए। गुजरात की जनता ने उनका स्वागत किया।

जगच्चन्द्रसूरि तप तथा विद्या से सम्पन्न थे। एक बार मेवाड़ में तीस जैन विद्वानों के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। उनमें आचार्यजी के तर्क हीरे की तरह अभेद्य (अकाट्य) रहे। आचार्यजी के बुद्धिकौशल से प्रभावित होकर चित्तौड़ नरेश ने उन्हें 'हीरक' (हीरला) की उपाधि दी।

समय-संकेत

जगच्चन्द्रसूरि का मुख्य विहरण क्षेत्र मेवाड़ था। वहीं उनका स्वर्गवास वी. नि. १७५७ (वि. सं. १२८७) वीरशालि ग्राम में हुआ।

जगच्चन्द्रसूरि के शिष्यों से वी. नि. १८५६ (वि. सं. १३८६) खम्भात में तपोवृद्ध पोषाल तथा लघुपोषाल का उद्भव हुआ।

१०४. ज्ञानगुण-भूषण आचार्य रत्नाकर

आचार्य रत्नाकरसूरि देवप्रभसूरि के शिष्य थे। वे सरलात्मा सौम्यवृत्तिक थे। उनके हृदय में वैराग्यतरंगिणी की अविरल धारा बहती थी। वी. नि. १७७८ (वि. सं. १३०८) में उन्होंने रत्नाकर पच्चीसी की रचना की। पच्चीस श्लोकों का यह ग्रन्थ मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रत्येक श्लोक की पंक्ति में वैराग्य का निर्झर छलक रहा है। पाठक इसे पढ़ते समय आत्मालोचन के सागर में डुबकियां लेने लगता है। मानसिक दौर्बल्य की सूक्ष्म धड़कन का सजीव चित्रण इसमें है। प्रभु की पूजा, प्रार्थना और जाप क्रिया में मन के आवेग-उद्वेग घोर शत्रु हैं। इन्हें अभिव्यक्ति देते हुए सूरिजी ने लिखा है

दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन दष्टो,
दुष्टेन लोभाख्यमहोरगेण।
ग्रस्तोऽभिमानाऽजगरेण मायाजालेन
बद्धोऽस्मि कथं भजेतु त्वाम् ॥५॥

क्रोधाग्नि से संतप्त, लोभरूपी सांप से दंशित, मान-रूपी अजगर से पीड़ित और मायाजाल से बंधा हुआ मैं आपका भजन कैसे करूं?

मानसिक धूर्तता का आवरण दूर करते हुए वे लिखते

वैराग्यरंगः परवंचनाय,
धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय।
वादाय विद्याध्ययनं च मेऽभूत,
कियद् ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश! ॥६॥

हे ईश! मेरे पर वैराग्य का रंग दूसरों को धोखा देने के लिए है। मेरा उपदेश जनरंजनमात्र है। मेरा विद्याध्ययन विवाद के लिए सिद्ध हुआ है। इन वृत्तियों से मेरा जीवन कितना हास्यापद है? मैं आपको अपने विषय में क्या बताऊं?

इस कृति में उक्त श्लोकों की भांति अन्य श्लोक भी प्रेरक हैं। बहुत से साधक रत्नाकर पच्चीसी को कण्ठाग्र करते हैं और प्रतिदिन इसका तन्मयता के साथ स्मरण कर आत्मालोचन की भावभूमि पर अभिनव स्वस्थता प्राप्त करते हैं।

समय-संकेत

रत्नाकरसूरि के जन्म दीक्षा, आचार्य पद-प्राप्ति के सम्बन्ध में सामग्री अनुपलब्ध है। उनकी इस कृति-संवत् के आधार पर वे वी. नि. की अठारहवीं शताब्दी (वि. सं. १४वीं) में विद्यमान थे।

१०५. महामहिम आचार्य मेरुतुंग

अंचलगच्छ के आचार्य मेरुतुंगसूरि उच्चकोटि के विद्वान् थे। वे कवि, साहित्यकार एवं मन्त्रविद्या के प्रयोक्ता थे। वर्तमान में उनकी अधिक प्रसिद्धि जैन महाकाव्य मेघदूत के रचनाकार के रूप में है।

गुरु-परम्परा

मेरुतुंगसूरि की गुरु-परम्परा में जयसिंहसूरि, महेन्द्रसिंहसूरि, सिंहप्रभसूरि, अजितसिंहसूरि, देवेन्द्रसिंहसूरि, धर्मप्रभसूरि, सिंहतिलकसूरि, महेन्द्रसूरि आदि आचार्य हुए। मेरुतुंगसूरि के गुरु महेन्द्रप्रभसूरि के तीन शिष्य थे मुनिशेखर, जयशेखर और मेरुतुंग। इन तीनों शिष्यों में मेरुतुंग कनिष्ठ थे।

जन्म एवं परिवार

मेरुतुंगसूरि (प्राग्वाट्) पोरवाल थे। उनके पिता का नाम वीरसिंह और माता का नाम नाल्हणदेवी था। मारवाड़ (राजस्थान) के अन्तर्गत 'नाणी' ग्राम में उनका जन्म वी. नि. १८७३ (वि. सं. १४०३) में हुआ। बालक का नाम वस्तिग रखा गया। श्री धर्ममूर्ति पट्टावली के अनुसार मेरुतुंगसूरि का जन्म वी. नि. १८७५ (वि. सं. १४०५) में बोहरा परिवार में हुआ।

जीवन-वृत्त

बालक वस्तिग धार्मिक प्रवृत्ति का था। उसने लघु वय में आचार्य महेन्द्रसूरि के पास वी. नि. १८८० (वि. सं. १४१०) में दीक्षा ग्रहण की। वस्तिग की उम्र दीक्षा ग्रहण के समय मात्र सात वर्ष की थी। श्री धर्ममूर्ति पट्टावली के अनुसार मेरुतुंगसूरि की दीक्षा वी. नि. १८८८ (वि. १४१८) में हुई। दीक्षा लेने के बाद संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का एवं सिद्धान्त, दर्शन, इतिहास, व्याकरण आदि विविध विषयों का उन्होंने गहन अध्ययन किया। श्री मेरुतुंग वी. नि. १८९६ (वि. १४२६) में सूरिपद पर एवं वी. नि. १९१५ (वि. १४४५) में गच्छ के नायक बने।

मेरुतुंगसूरि के जीवन में कई विशेषताएं थीं। वे योग के अभ्यासी थे। वे प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाएं करते और नियमित ध्यान करते थे। ग्रीष्मऋतु में धूप में और शीतकाल में ठण्डे स्थान पर कायोत्सर्ग करते थे।

वे मन्त्रवादी भी थे। उन्होंने कई राजाओं को मन्त्रशक्ति से प्रभावित कर प्रतिबोध दिया। वे धर्मप्रचार की दिशा में भी प्रयत्नशील थे। उनका शिष्य परिवार भी विशाल था। गुजरात, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदि अनेक स्थानों में विहरण कर उन्होंने जैन धर्म का सन्देश जनता तक पहुंचाया।

साहित्य

मेरुतुंगसूरि का साहित्य में विशिष्ट योगदान है। उन्होंने विविध विषयात्मक उपयोगी ग्रन्थों की रचना की। उनके कतिपय ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है

षड्दर्शन समुच्चय यह दर्शन विषयक कृति है। इसका दूसरा नाम षड्दर्शन निर्णय भी है। इस ग्रन्थ में बौद्ध, मीमांसक, सांख्य, न्याय, वैशेषिक और जैन इन छह दर्शनों की संक्षिप्त तुलना है।

रसाध्याय टीका यह वैदिक ग्रन्थ पर टीका ग्रन्थ है। इसकी रचना मेरुतुंगसूरि ने वि. सं. १४४३ में पाटण में की।

मेघदूत यह ग्रन्थ तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन पर संस्कृत रचना है। इसके चार सर्ग हैं और यह 'मन्दाक्रान्ता' छन्द में रचा गया है।

सप्ततिका भाष्य-वृत्ति यह कर्म विषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना मुनि शेखरसूरि की प्रेरणा से हुई थी।

शतपदी सारोद्धार इस कृति का दूसरा नाम शतपदी समुद्धार भी है। इसकी रचना मेरुतुंगसूरि ने ५३ वर्ष की

अवस्था में की।

कामदेव चरित यह ग्रन्थ ७४८२ श्लोक परिमाण गद्यात्मक है। ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना वि. सं. १४६६ में हुई।

विविध सामग्री विचार श्रेणी, धातुपारायण, बालावबोध आदि ग्रन्थों की रचना भी मेरुतुंगसूरि की है। इन ग्रन्थों में विविध विषयात्मक सामग्री है।

समय-संकेत

आचार्य मेरुतुंग का जन्म वी. नि. १८७३ (वि. सं. १४०३) तथा स्वर्गवास वी. नि. १९४१ (वि. सं. १४७१) में हुआ। उनकी कुल आयु ६८ वर्ष की थी। यह गणना मुनि लाखागुरु पट्टावली के अनुसार है। कई पट्टावलीकार उनका स्वर्गवास वि. सं. १४७३ में मानते हैं।

अंचलगच्छ के आचार्य मेरुतुंगसूरि वी. नि. १९वीं (वि. १५वीं) शती के विद्वान् थे।

> इग्यारमा गच्छनायक पदे श्री मेरुतुंगसूरि। नाणीग्रामे। श्रेष्ठी वइरसीह पिता नाल्हणदेवी माता। सं १४०३ वर्षे जन्म, संवत् १४१०, दीक्षा, संवत् १४२६, सूरिपदे संवत् १४४५, गच्छ नायकं पदं...संवत् १४७१ वर्षे स्वर्गगमनं स्तम्भतीर्थे सर्वायु वर्ष ६८॥
>
> (मुनि लाखागुरु पट्टावली)

१०६. दयार्द्रहृदय आचार्य देवेन्द्र

देवेन्द्रसूरि का तत्त्व-निष्णात आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे संस्कृत भाषा के अधिकृत विद्वान् थे। उन्हें सैद्धान्तिक एवं आगमिक ग्रन्थों का गम्भीर ज्ञान था। वे जैन दर्शन सम्मत कर्मवाद सिद्धान्त के ज्ञाता थे।

गुरु-परम्परा

देवेन्द्रसूरि के गुरु जगच्चन्द्रसूरि थे। जगच्चन्द्रसूरि मणिरत्नसूरि के शिष्य थे। देवेन्द्रसूरि के कई शिष्य थे। उनमें विद्यानन्दसूरि और धर्मघोषसूरि विद्वान् शिष्य थे।

जीवन-वृत्त

देवेन्द्रसूरि ने शैशवावस्था में दीक्षा ग्रहण की और निष्ठा से विद्या की आराधना कर विशिष्ट शक्तियां प्राप्त की। उनकी व्याख्यान शैली रोचक एवं प्रभावक थीं। उनकी वाणी को सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे। उनके उपदेशों से बोध प्राप्त कर कई व्यक्ति संयम पथ के पथिक बने।

उनके विद्वान् शिष्य विद्यानन्दसूरि और धर्मघोषसूरि द्वारा लघु-पौषधशाला की स्थापना हुई। बड़ी पौषधशाला का प्रारम्भ विजयचन्द्रसूरि के शिष्यों ने किया।

देवेन्द्रसूरि ने मालव में धर्म-प्रचार का कार्य किया।

ग्रन्थ-रचना

देवेन्द्रसूरि तात्त्विक ग्रन्थों के रचनाकार थे। उन्होंने अधिकांशतः सिद्धान्तपरक साहित्य की रचना की। कर्मग्रन्थों जैसी उपयोगी कृतियां देवेन्द्रसूरि के गम्भीर आगमिक ज्ञान की सूचक हैं। कर्मग्रन्थों की संख्या पांच है। प्रथम कर्मग्रन्थ की ६० गाथाएं, द्वितीय की ३४ गाथाएं, तृतीय की २४ गाथाएं, चतुर्थ की ८६ गाथाएं एवं पांचवें की १०० गाथाएं हैं। प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इन ग्रन्थों में कर्मों का स्वरूप और उनके परिणाम को अच्छी तरह से समझाया गया है। इनमें गुण-स्थानों का भी विवेचन है। कर्मग्रन्थों पर देवेन्द्रसूरि का स्वोपज्ञ विवरण है।

सिद्धपंचाशिका सूत्रवृत्ति, धर्मरत्न वृत्ति, श्रावक दिनकृत्य सूत्र, सुदर्शन चरित्र आदि उनकी कई सरस रचनाएं हैं। इनमें विविध सामग्री है।

वे कवि भी थे। उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दानादि कुलक आदि मधुर स्तवनों की रचना की। उनकी 'वन्दारु वृत्ति ग्रन्थ' श्रावकानुविधि के नाम से प्रसिद्ध है।

समय-संकेत

देवेन्द्रसूरि का वी. नि. १७९७ (वि. सं. १३२७) में स्वर्गवास हुआ। इस आधार पर देवेन्द्रसूरि वी. नि. १८वीं और वि. सं. की १४वीं शताब्दी के विद्वान् थे।

१०७-१०८. शब्द-शिल्पी आचार्य सोमप्रभ (द्वय)

जैन श्वेताम्बर मन्दिर मार्गी परम्परा में सोमप्रभसूरि नाम के कई आचार्य हुए हैं। लोकप्रियकृति सूक्तिमुक्तावली (सिन्दूरप्रकर) के रचनाकार सोमप्रभसूरि बड़गच्छ के आचार्य थे। तपागच्छ में भी सोमप्रभसूरि नाम के विद्वान् आचार्य हुए हैं। दोनों में एक शताब्दी से अधिक का अन्तर है। बड़गच्छ के आचार्य सोमप्रभसूरि की प्रसिद्धि शतार्थी के रूप में हुई। वे तपागच्छ के आचार्य सोमप्रभसूरि से पूर्वकालीन थे।

गुरु-परम्परा

बड़गच्छ सोमप्रभसूरि के गुरु विजयसिंहसूरि थे। विजयसिंहसूरि से पूर्व अजितदेवसूरि हुए।[1] विजयसिंहसूरि समर्थ आचार्य थे। वे वी. नि. १७०५ (वि. सं. १२३५) तक विद्यमान थे। विजयसिंहसूरि के पट्टधर तीन आचार्य थे। उनमें एक नाम सोमप्रभसूरि का था। तपागच्छीय सोमप्रभसूरि धर्मघोषसूरि के शिष्य एवं पद्मानन्दसूरि आदि मुनियों के गुरु थे।

जन्म एवं परिवार

बड़गच्छ के सोमप्रभसूरि का जन्म वैश्य वंश पोरवाल (प्राग्वाट्) जैन परिवार में हुआ। महामन्त्री जिनदेव उनके दादा थे। पिता का नाम सर्वदेव था। तपागच्छीय सोमप्रभसूरि का जन्म वी. नि. १७८० (वि. १३१०) में हुआ।

जीवन-वृत्त

बड़गच्छ के सोमप्रभसूरि का परिवार धर्म के प्रति आस्थाशील था। अतः सोमप्रभ को धर्म के संस्कार सहज प्राप्त हुए। आचार्य विजयसिंहसूरि से उन्होंने मुनि-दीक्षा ग्रहण की। गुरु चरणों में बैठकर आगम शास्त्रों का गहन अध्ययन किया तथा व्याकरण, न्याय आदि विविध विषयों के वे निष्णात विद्वान् बने।

विजयसिंहसूरि सोमप्रभ मुनि की योग्यता से प्रभावित हुए और उनकी नियुक्ति गच्छनायक के रूप में की।

तपागच्छीय सोमप्रभसूरि ने ग्यारह वर्ष की अल्पावस्था में मुनि दीक्षा ग्रहण की और बाईस वर्ष की लघुवय में सूरि पद पर आरूढ़ हुए। उनकी बहुश्रुतता और शास्त्रार्थ-निपुणता प्रसिद्ध थी। उन्होंने चित्तौड़ में ब्राह्मण पण्डितों के सामने विजय प्राप्त कर अपने बुद्धिकौशल का परिचय दिया। जैनागमों का गम्भीर ज्ञान उन्हें था। एक बार उन्होंने ज्योतिष विद्या के बल पर भीमपल्ली में घटित होने वाली अनिष्ट घटना को जानकर उसका पूर्व संकेत देकर संघ को खतरे से बचाया।

साहित्य

बड़गच्छ के सोमप्रभसूरि कुशल कवि, मधुर वक्ता एवं समर्थ साहित्यकार थे। उनकी रचनाएं संख्या में कम हैं पर लोकोपयोगी हैं। कृतियों का परिचय इस प्रकार है

सुमतिनाह चरिय (सुमतिनाथ चरित) यह रचना ६५०० श्लोक परिमाण है। इसका निर्माण सोमप्रभसूरि ने पाटण में महामात्य सिद्धपाल की पोषाल में किया।

कुमारपाल पडिबोहो (कुमारपाल प्रतिबोध) इस ग्रन्थ की रचना ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार वी. नि. १७११ (वि. सं. १२४१) पाटण में हुई। यह आचार्य सोमप्रभ की प्राकृत रचना है। इसमें छप्पन कथाएं हैं। कृति का

---

१. अभजदजितदेवाचार्य पट्टोदयाद्रि-
द्युमणिविजयसिंहाचार्यपादारविन्दे।
मधुकरसमतां यस्तेन सोमप्रभेण
व्यरचि मुनिपनेत्रा सूक्तिमुक्तावलीयम् ॥१०१॥
(सिन्दूरप्रकर, प्रशस्ति पद्य)

भाषा-सौन्दर्य अनुपम है। इस कृति का कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि, वर्धमानगणी आदि ने आद्योपांत श्रवण किया। मोढ़ परिवार के श्रावक अभयकुमार और उसकी पत्नी पद्मा एवं पुत्र हरिश्चन्द्र भी इस ग्रन्थ को सुनकर प्रसन्न हुए। कुमारपाल के निधन के बारह वर्ष बाद इस ग्रन्थ की रचना हुई। हेमचन्द्राचार्य द्वारा कुमारपाल को दी गई नाना प्रकार की शिक्षाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में है।

शृंगार वैराग्य तरङ्गिनी यह वैराग्यरस प्रधान कृति है। इसमें ४६ श्लोक हैं।

सिन्दूरप्रकर यह सोमप्रभसूरि की लघु रचना संस्कृत में है। इस कृति में बीस प्रकरण हैं। सौ श्लोक हैं। श्लोक रचना में मन्दाक्रान्ता, उपजाति, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीड़ित आदि कई छन्दों का उपयोग किया गया है। इस कृति का एक नाम सोमशतक भी है। जीवनोपयोगी सूक्तियां इस कृति में उपलब्ध हैं, अतः इसे सूक्त मुक्तावली भी कहते हैं। कृति में शब्द सौष्ठव एवं सानुप्रासिक धातु प्रत्ययों के प्रयोग कवि के महान् शब्दशिल्पी होने की अभिव्यक्ति देते हैं। अध्यात्म शिक्षाएं और वैराग्यरस से परिपूर्ण यह कृति सम्पूर्ण जैन समाज में लोकप्रिय रही है। इस कृति का रचनाकाल वि. सं. १२५० माना गया है। इस पर खरतरगच्छीय चरित्रवर्धनसूरि ने वी. नि. १९७५ (वि. सं. १५०५) में ४८०० श्लोक परिमाण टीका रची थी और हर्षकीर्तिसूरि ने वी. नि. २१३० (वि. सं. १६६०) में टीका रची। पण्डित बनारसीदासजी ने वी. नि. २१६१ (वि. सं. १६९१) में इसका हिन्दी पद्यानुवाद किया।

शतार्थ काव्य (कल्याणसार) सोमप्रभसूरि की यह कृति बुद्धिकौशल की परिचायक है। इसमें उन्होंने एक श्लोक की रचना करके १०० अर्थ किए। यह श्लोक इस प्रकार है

"कल्याणसारसवितानहरेक्षमोहकांतारवारणसमानजयावदेव।
पर्मार्थकामद महोदयवीरधीर सोमप्रभावपरमागमसिद्धसूरेः॥

इस श्लोक में वसन्ततिलकाछन्द आदि कई छन्द प्रयुक्त हैं। इस श्लोक पर सोमप्रभ की स्वोपज्ञवृति भी है जिसमें कृति का शतार्थ नाम देकर १०० अर्थ घटित किए हैं। बप्पभट्टि ने अष्टशतार्थी काव्य रचा। उपाध्याय लाभविजयगणीजी ने योगशास्त्र के एक श्लोक पर पंचशतार्थी विवरण रचा। महोपाध्याय समयसुन्दरगणी ने 'राजानो ददते सौख्यम्' इस एक चरण पर लाहौर में वी. नि. २१२२ (वि. सं. १६५२) में अष्टलक्षार्थी विवरण रचा। महोपाध्याय मेघविजयजी ने सप्तसन्धान महाकाव्य रचा। इन काव्यों की शृंखला में सोमप्रभसूरि का यह शतार्थी-कल्याण-सार काव्य है।

तपागच्छीय सोमप्रभसूरि ने २८ चित्रबन्ध-स्तवनों की रचना की। इन स्तवनों को पढ़ने से लेखक की शब्द संयोजन की विशेष क्षमता का परिचय मिलता है।

समय-संकेत

'कुमारपाल पडिबोहो' कृति की रचना का समय वी. नि. १७११ (वि. सं. १२४१) है। इस कृति के आधार पर बड़गच्छ के सोमप्रभसूरि वी. नि. की १८वीं (वि. सं. १३वीं) शताब्दी के आचार्य थे।

तपागच्छ के आचार्य सोमप्रभसूरि का स्वर्गवास वी. नि. १८४३ (वि. सं. १३७३) में हुआ।

बड़गच्छ के कवि सोमप्रभसूरि का स्वर्गवास वी. नि. १७५४ (वि. सं. १२८४) में माना है।

१०६. मननशील आचार्य मल्लिषेण

स्याद्वाद-मञ्जरी टीका के रचनाकार आचार्य मल्लिषेण श्वेताम्बर विद्वान् थे। व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विभिन्न विषयों के वे गम्भीर अध्येता थे। नैयायिक-वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक, बौद्ध प्रभृति अनेक दर्शनों के अध्ययन-मनन से उनकी चिन्तन शक्ति प्रौढ़ थी। यह तथ्य उनकी रचनाओं को पढ़ने से स्पष्ट है। वर्तमान में स्याद्वाद-मञ्जरी के अतिरिक्त उनकी अन्य रचना उपलब्ध नहीं है।

गुरु-परम्परा

मल्लिषेण के गुरु नागेन्द्रगच्छीय उदयप्रभसूरि थे। उदयप्रभसूरि के गुरु विजयसेनसूरि थे। उदयप्रभसूरि की गुरु-परम्परा ही सम्भवतः मल्लिषेण की गुरु-परम्परा थी, जो उदयप्रभसूरि प्रकरण में प्रस्तुत है। स्याद्वाद-मञ्जरी टीका की रचना करते समय आचार्य मल्लिषेण ने अपने गुरु उदयप्रभसूरि का श्रद्धासिक्त शब्दों में वर्णन किया है, पर उनसे पूर्व की गुरु-परम्परा के संकेत नहीं है। वह श्लोक इस प्रकार है

मातर्भारति! सन्निधेहि हृदि मे येनेयमाप्तस्तुते-
र्निर्मातुं विवृतिं प्रसिद्धयति जवादारम्भसंभावना।
यद्वा विस्मृतमोष्ठयोः स्फुरित यत् सारस्वतः शाश्वतो
मंत्र श्रीउदयप्रभेति रचनारम्भो ममाहर्निशम्॥

जीवन-वृत्त

आचार्य मल्लिषेण की गृहस्थ जीवन की सामग्री उपलब्ध नहीं है। मुनि जीवन में उनके विद्या गुरु कौन थे यह उल्लेख भी कहीं नहीं है। सम्भवतः उदयप्रभसूरि उनके प्रशिक्षक रहे हैं।

आचार्य मल्लिषेण के जीवन की यत्किञ्चित् प्रामाणिक सामग्री स्याद्वाद-मञ्जरी के प्रशस्ति श्लोकों में है। वे श्लोक इस प्रकार हैं

नागेन्द्रगच्छ गोविंदवक्षोऽलङ्कारकौस्तुभाः।
ते विश्ववंद्या नंयासुरुदयप्रभसूरयः॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभिः।
वृत्तिरियं मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणां साहाय्योद्भिन्नसौरभाः।
श्रुतावुत्तंसतु सतां वृत्ति स्याद्वादमञ्जरी॥

इन श्लोकों में नागेन्द्रगच्छ, गुरु उदयप्रभसूरि, स्याद्वाद-मञ्जरी वृत्ति रचना का समय और रचना में सहयोगी जिनप्रभसूरि का उल्लेख है।

साहित्य

आचार्य मल्लिषेण द्वारा निर्मित स्याद्वाद-मञ्जरी आचार्य हेमचन्द्र की अन्य-योग-व्यवच्छेदिका की टीका है। प्रसाद और माधुर्य गुण से मण्डित यह टीका रत्नप्रभसूरि की स्याद्वाद रत्नावतारिका से अधिक सरल और सरस है। इसकी कमनीय पदावलियां एवं कान्त, कोमल शब्द संयोजना पाठक के मानस को मुग्ध करती है। विविध दर्शनों का मर्मस्पर्शी विवेचन और युक्तिपुरस्पर स्याद्वाद का प्रतिष्ठापन मल्लिषेण की सन्तुलित मेधा का परिचायक है। दर्शनान्तरीय मत के प्रकाशन में जैनेतर विद्वानों के प्रति प्रामाणिक, प्रकाण्ड, परमर्षि जैसे शालीन शब्दों का प्रयोग किया गया है जो मल्लिषेणसूरि के हृदय की विशालता को प्रकट करता है।

विपुल साहित्य नहीं होने पर भी मल्लिषेण की प्रसिद्धि स्याद्वाद-मञ्जरी के आधार पर है।

इस कृति ने जैन-जैनेतर सभी विद्वानों को प्रभावित किया। माधवाचार्य ने सर्व-दर्शन संग्रह में इसका संकेत किया और यशोविजयजी ने इस पर स्याद्वाद मञ्जूषा की रचना की।

स्याद्वाद-मञ्जरी की रचना में आचार्य मल्लिषेण को सहयोग करने वाले जिनप्रभसूरि लघु खरतरगच्छ के थे और स्तोत्रसाहित्य के रचनाकार थे।

समय-संकेत

स्याद्वाद-मञ्जरी के प्रशस्ति श्लोकों में प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य मल्लिषेण ने यह कृति शक सं. १२१४, वी. नि. १८१६ (वि. सं. १३४६) दीपमालिका शनिवार के दिन सम्पन्न की। आचार्य मल्लिषेण के कालक्रम को जानने के लिए यह पुष्ट प्रमाण है।

११०. जनहितैषी आचार्य जिनप्रभ

जिनप्रभ नाम के भी कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत जिनप्रभसूरि सुविहित मार्गी परम्परा के विद्वान् आचार्य थे। स्तोत्र-साहित्य के रचनाकार के रूप में उनकी प्रसिद्धि है। विविध तीर्थकल्प उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। जैन इतिहास की विपुल सामग्री इस ग्रन्थ में है। विधिमार्गप्रपा उनकी श्रेष्ठ एवं उपयोगी रचना है।

जिनप्रभसूरि ने ३८ वर्ष तक ग्रन्थ रचना का कार्य किया एवं जैनभारती की उन्होंने विशिष्ट उपासना की।

गुरु-परम्परा

जिनप्रभसूरि की परम्परा में खरतरगच्छ में जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) हुए। जिनेश्वरसूरि के दो प्रमुख शिष्य थे १. जिनप्रबोधसूरि, २. जिनसिंहसूरि। जिनप्रबोधसूरि ओसवाल वंशज थे। जिनसिंहसूरी श्रीमाली जाति के थे। दोनों प्रकाण्ड विद्वान् थे। जिनेश्वरसूरि ने दोनों शिष्यों की नियुक्ति अपने पट्टधर के रूप में की जिससे खरतरगच्छ नाम से प्रसिद्ध वर्धमानसूरि का यह गच्छ दो भागों में विभक्त हुआ। जिनसिंहसूरि से लघु खरतरगच्छ का जन्म हुआ। जिनप्रबोधसूरि का गच्छ वृहत् खरतरगच्छ कहलाया। यह समय वी. नि. १६५० (वि. १२८०) है। जिनप्रबोधसूरि ने ओसवाल समुदाय में एवं जिनसिंहसूरि ने श्रीमाल परिवार में धर्म प्रचार का काम किया। अतः इनके गच्छ का दूसरा नाम श्रीमालगच्छ भी है।

जिनसिंहसूरि स्वयं श्रीमाल परिवार के थे। इनके शिष्य परिवार में कई श्रीमाल थे। जिनप्रभसूरि इन्हीं जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) के शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

जिनप्रभसूरि वैश्य वंशज थे। ताम्बी उनका गोत्र था। वे हीलवाड़ी के निवासी श्रेष्ठी महीधर के पौत्र और रत्नपाल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम खेतल था। खेतल देवी के पांच पुत्र थे, उनमें जिनप्रभसूरि बीच के थे, नाम उनका सुहड़पाल (सुभटपाल) था।

जीवन-वृत्त

जिनप्रभसूरि बचपन से ही समझदार थे। अपने भाइयों में वे सबसे अधिक योग्य थे। एक बार श्रेष्ठी रत्नपाल के परिवार से जिनसिंहसूरि का परिचय हुआ। उन्होंने पांच पुत्रों में बीच के पुत्र को धर्मसंघ हितार्थ समर्पित करने के लिए रत्नपाल को कहा। गुरु के निर्देशानुसार श्रेष्ठी रत्नपाल ने अपने पुत्र की भेंट उनके चरणों में चढ़ा दी। जिनसिंहसूरि इससे प्रसन्न हुए। वी. नि. १७६६ (वि. सं. १३२६) में बालक को मुनि दीक्षा प्रदान की। किढ़वाणानगर में वि. सं. १३४१ में उनको आचार्यपद पर नियुक्त किया तथा अपने गण का दायित्व सौंपा। उनका नाम जिनप्रभ रखा गया।

जिनप्रभसूरि ने अपने गुरु के उत्तराधिकार को कुशलतापूर्वक सम्भाला। धर्मप्रचार में वे विशेष प्रयत्नशील बने। उनके पास चामत्कारिक विद्याएं थीं। दिल्ली के बादशाह के समक्ष उन्होंने कई चमत्कार दिखाए। बादशाह की सभा में किसी सांई फकीर द्वारा टोपी को आकाश में चढ़ाना और जैन सन्त द्वारा प्रेषित रजोहरण से टोपी को पीटते हुए नीचे लाने की घटना जिनप्रभसूरि से सम्बन्धित है। जन-श्रुति के अनुसार यह प्रसंग तपागच्छ के आचार्य हीरविजय जी के साथ अधिक प्रसिद्ध है।

बादशाह मुहम्मद तुगलक को धर्म बोध देने और उन्हें जैनधर्म का अनुरागी बना लेने का श्रेय भी जिनप्रभसूरि को है। जिनप्रभसूरि का बादशाह मुहम्मद तुगलक की सभा में सम्मानपूर्वक स्थान था। उन्होंने बादशाह मुहम्मद तुगलक से कई बार अमारि की घोषणा करवाई। इस कार्य से जैन-धर्म की प्रभावना

हुई। बादशाहों को प्रतिबोध देने की शृंखला में जिनप्रभसूरि का नाम सम्भवतः सर्वप्रथम है।

साहित्य

जिनप्रभसूरि ने धर्म प्रचार के साथ साहित्य साधना भी की। स्तोत्र साहित्य निर्माण में उनकी विशेष रुचि थी। प्रतिदिन भोजन से पूर्व पांच नये श्लोकों की रचना करने हेतु वे प्रतिज्ञाबद्ध थे।[1] उन्होंने सैकड़ों स्तोत्र रचे और तपागच्छ के नवोदीयमान सोमतिलकसूरि के चरणों में इस स्तोत्र साहित्य को भेंट कर उनके प्रति बहुमान प्रदर्शित किया।

उन्होंने स्तोत्र साहित्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थों की रचना भी की। उनकी प्रथम रचना वि. सं. १३५२ की है और अन्तिम रचना वि. सं. १३९० की है। जिनप्रभसूरि द्वारा रचित ग्रन्थों में कुछ कृतियों के नाम इस प्रकार हैं

१. कातंत्र-विभ्रम-टीका वि. सं. १३५२
२. द्वयाश्रय काव्य वि. सं. १३५६ (श्रेणिक चरित्र संस्कृत रचना)
३. विधिमार्गप्रपा वि. सं. १३६३ (अयोध्या)
४. सिद्धांत आगम रहस्य
५. संदेह विषौषधि वि. सं. १३६४ (अयोध्या)
६. भयहरस्तोत्र टीका वि. सं. १३६५ (अयोध्या)
७. उवसग्गहरवृत्ति वि. सं. १३६५ (अयोध्या)
८. अजित शांति वृत्ति वि. सं. १३६५ (अयोध्या)
९. वीर स्तुति वि. सं. १३८०
१०. द्वयक्षर नेमि-स्तव
११. पंच परमेष्ठि-स्तव
१२. महावीर गणधर कल्प (वि. सं. १३८९)
१३. विविध तीर्थकल्प (संस्कृत प्राकृत रचना)।

विधिमार्गप्रपा की रचना आचार्य जिनप्रभ ने अयोध्या में की। यह ग्रन्थ क्रियाकाण्ड प्रधान है। इसके ४१ द्वार हैं। इसमें पौषधप्रतिक्रमण आदि अनेक धार्मिक क्रियाओं की विधि को समझाया गया है। योग विधि में आचाराङ्ग, समवायाङ्ग आदि आगम विषयों का वर्णन है।

पिण्डविशुद्धिप्रकरण, श्रावकव्रत कुलक, पौषधविधि-प्रकरण, द्वादश कुलक, संघ पट्टक आदि ४२ कृतियों के नाम 'शासन प्रभावक जिनचन्द्रसूरि और उनका साहित्य' नामक कृति में हैं।

जिनप्रभसूरि की कृतियों में विविध तीर्थकल्प एक ऐतिहासिक कृति है। इस कृति के अध्ययन से उनकी प्रलम्बमान यात्राओं का परिचय मिलता है। उन्होंने गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, बिहार, उत्तरप्रदेश, पंजाब आदि विभिन्न क्षेत्रों में विहरण किया। इन यात्राओं में उन्हें विभिन्न देशों, प्रान्तों, क्षेत्रों का जो इतिहास उपलब्ध हुआ और जो विशेषताएं उन्होंने देखीं अथवा जो घटनाएं जनश्रुति के आधार पर सुनीं, उनको संस्कृत-प्राकृत भाषा में निबद्ध कर तीर्थकल्पग्रन्थ की रचना की। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ६२ कल्प हैं एवं तीर्थस्थानों का वर्णन है। भगवान् महावीर के अस्थिग्राम, चम्पा, पृष्ठचम्पा, वैशाली आदि ४२ चातुर्मासिक स्थलों का नाम पुरस्सर उल्लेख और पालक, नन्द, मौर्यवंश, पुष्यमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, नरवाहन, गर्दभिल्ल, शक, विक्रमादित्य आदि राजाओं की काल सम्बन्धी जानकारी इस ग्रन्थ में प्राप्त की जा सकती है।

इस ग्रन्थ के दीपावली कल्प में पादलिप्त, मल्लवादी, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि के उल्लेख भी हुए हैं।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना वी. नि. १८६० (वि. १३९०) में की।

---

१. येन (जिनप्रभसूरिणा) प्रतिदिनं नव्यस्तोत्रादिकरणानन्तरमेवाहारग्रहणाभिग्रहेण नैकानि स्तोत्राणि विरचितानि। पद्मावतीदेवीवचनात् तपागच्छमभ्युदयवंतं समीक्ष्य श्रीसोमतिलकसूरये (सं. १३७३-१४२४) ९०० स्तोत्राणिसमर्पितानि।

जिनप्रभसूरि का सम्बन्ध कई गच्छों से था। मल्लधारगच्छ के आचार्य राजशेखरसूरि उनसे न्यायकन्दली ग्रन्थ का प्रशिक्षण लेते थे। स्याद्वादमञ्जरी की रचना में नागेन्द्रगच्छीय आचार्य मल्लिषेण का उन्होंने सहयोग किया। तपागच्छ से उनका निकट का सम्बन्ध था। यह स्तोत्र साहित्य के समर्पण से है।

समय-संकेत

विविधतीर्थकल्प, विधिमार्गप्रपा, वीरस्तुति, महावीर-गणधरकल्प आदि ग्रन्थों के आधार पर जन-जन हितैषी आचार्य जिनप्रभसूरि वी. नि. १९वीं (वि. सं. १४वीं) शताब्दी के प्रभावक विद्वान् थे।

१११. आचार्यकल्प उपाध्याय यशोविजय जी

जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान्, गम्भीर चिंतक, प्रखर वक्ता उपाध्याय यशोविजय जी, तपागच्छीय नयविजय जी के शिष्य थे। वे सौ कृतियों के रचनाकार थे। यशोविजय जी का जन्म वि. सं. १६६५ में हुआ। वे बचपन से ही स्फुरित मनीषा के धनी थे। "होनहार बीरवान के होत चीकने पात" की उक्ति उनके जीवन में चरितार्थ हुई। वे बाल्यावस्था में माता के साथ प्रतिदिन जैन उपाश्रय में जाते और प्रतिक्रमण सुनते। सुनने मात्र से उन्हें समग्र प्रतिक्रमण कंठस्थ हो गया।

अति वर्षा के कारण एक दिन उनकी माता उपाश्रय में न जा सकी। यशोविजयजी ने अस्खलित उच्चारण पूर्वक अथ से इति तक प्रतिक्रमण माता को सुना दिया। पुत्र की इस तीव्र स्मरणशक्ति पर माता को बहुत प्रसन्नता हुई। यह बात उनके धर्म प्रतिबोधक गुरु तक पहुँची। उन्होंने बालक की हस्तरेखाएँ देखीं और कहा यह बालक हमारे उपयोग का है।"

माता में पुत्र ममता से भी अधिक धर्म के प्रति श्रद्धा भावना का प्राबल्य था। उसने अपने सुकुमार लाल को गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया।

यशोविजय जी ने दीक्षा लेने के बाद व्याकरण, सिद्धान्त, ज्योतिष, छन्द आदि विविध विषयों में बहुत शीघ्र ही अपनी प्रतिभा शक्ति से प्रभुत्व स्थापित किया।

यशोविजय जी के उर्जस्वल व्यक्तित्व से जैन धर्म के महान् उदय की सम्भावना सबको प्रतीत हो रही थी। जैन संघ की विशेष सहायता से वी. नि. २१६६ (वि. १६६६) में वे न्याय सम्बन्धी विशेष अध्ययन के लिए विनय विजय जी के साथ काशी गए थे। वहाँ उन्होंने समग्र भारतीय दर्शनों पर विशेष दक्षता प्राप्त की।

यशोविजय जी की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी। एक दिन में शार्दूल-विक्रीडित छंद में सात सौ श्लोकों को कंठस्थ कर वाराणसी के दिग्गज विद्वानों को चमत्कृत कर दिया। अवधान विद्या पर भी उनका विलक्षण प्रभुत्व था। एक हजार प्रश्नों को बहुत त्वरा से समाहित कर उन्होंने गणित विशेषज्ञों को भी चमत्कृत कर दिया।

उनकी विद्वत्ता की सुवास सर्वत्र प्रसारित हुई। तत्रस्थ विद्वानों ने उन्हें न्याय विशारद की उपाधि से अलंकृत किया।

यशोविजय जी की सबसे महत्त्वपूर्ण देन जैन दर्शन में नव्य न्याय शैली को विकास देना है।

नव्य न्याय का प्रारम्भ वी. नि. १७वीं (वि. १३वीं) सदी में मिथिला के नैयायिक गंगेश से हुआ बताया गया है।

सभी दर्शनों की साहित्य धारा इस ओर मुड़ रही थी, पर जैनाचार्य मौन थे। चार सौ-पांच सौ वर्ष तक कोई भी जैन ग्रन्थ इस नवीन शैली में निर्मित होकर विद्वानों के सामने नहीं आया।

उपाध्याय यशोविजयजी की दृष्टि इस ओर उन्मुख बनी। उनकी प्रांजल प्रज्ञा एवं त्वरित गामिनी लेखिनी ने नव्य न्यायशैली में विपुल साहित्य रचना की।

नवीन परिभाषा और नूतन शैली पर आधारित उनकी तत्त्व चिन्तामणि ने सम्पूर्ण न्याय जगत् में हलचल पैदा कर दी।

प्रमाण नय निक्षेप का सांगोपांग विवेचन करने वाली जैन तर्क भाषा, ज्ञान बिन्दु, ज्ञान प्रकरण ये न्याय जगत् की महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं। न्यायावलोक, भाषा रहस्य, प्रमाण रहस्य, वाद रहस्य, अष्ट सहस्री और शास्त्र वार्ता समुच्चय की नवीन व्याख्या में अष्ट सहस्री विवरण और स्याद्वाद कल्पलता का निर्माण हुआ।

यशोविजयजी ने तत्सम और भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे एवं जैन साहित्य के भंडार को भरा।

अनेकान्त प्रवेश तथा अनेकान्त व्यवस्था से अनेकान्तवाद में नए प्राणों का संचार हुआ और सप्तभंगी,

नय-प्रदीप, नय रहस्य और नयोपदेश पर नयामृत तरंगिणी नामक स्वोपज्ञ टीका ग्रन्थ से नयवाद को नया परिधान मिला था।

हरिभद्र सूरि ने नवीन योग पद्धति के सुमन अपने साहित्य में खिलाए थे। उन्हें चुनकर योग शास्त्रालंकार के रूप में माला बनाने का काम यशोविजय जी ने बहुत दक्षता से किया था।

गुजराती भाषा के भी वे अधिकृत विद्वान थे। आनन्द घन जी के बावीस जिन स्तवनों पर 'बालावबोध टीका तथा "द्रव्य गुण पर्यायनु रास" आदि ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने गुजराती साहित्य को समृद्ध बनाया।

संस्कृत भाषा में वैराग्य कल्पलता, न्याय प्रवेशिका, अध्यात्मसार, अध्यात्म परीक्षा आदि गंभीर ग्रन्थों की रचना कर यशोविजय जी ने जैनशासन की अपूर्व सेवा की।

न्यायविशारद की उपाधि के बाद इस महान् साहित्यकार को न्यायाचार्य का पद मिला और वे लघु हरिभद्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।

पूर्व न्याय विशारदत्व विरुदं काश्यां प्रदत्तं बुधैः।
न्यायाचार्य पदं ततः कृतशत ग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ॥

यशोविजय जी की रचना में तटस्थ नीति का भाव अधिक मुखरित है। आचार्य हरिभद्रसूरि का उद्घोष व

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यपरिग्रहः ॥

मध्यस्थ भाव से प्रेरित होकर यशोविजय जी ने घोषणा की

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात्परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामोवा, किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥

अनुराग मात्र से स्वागम को स्वीकार नहीं करता और अनुराग न होने मात्र से परागम को नहीं छोड़ता हूँ, पर मैं इस दिशा में मध्यस्थ भाव का अनुसरण करता हूँ।

संस्कृत भाषा पर उपाध्याय जी का अच्छा अधिकार था। वी. नि. २१६६ (वि. १७२६) में खंभात में पंडितों की प्रार्थना पर उन्होंने संस्कृत में अत्यन्त प्रभावशाली वक्तव्य दिया। वक्तव्य की विशेषता यह थी कि कहीं किसी शब्द में संयुक्ताक्षर और अनुस्वार नहीं था। पंडित उनकी महामेधा के सामने हतप्रभ रह गए।

यशोविजयजी की विवेचना शक्ति बहुत गजब की थी। वी. नि. २२०० (वि. १७३०) में उनका चतुर्मास जामनगर में था।

"संजोगा विप्पुक्कस्स" उत्तराध्ययन के इस एक सूत्र पर वे चार महीने तक व्याख्यान करते रहे।

जनता के कंठों पर यशोविजय जी का यशोगान गूंजने लगा। ज्ञान के साथ अहं का प्रवेश भी कभी-कभी हो जाता है। जनश्रुति है यशोविजय जी के मन में अपनी अगाध ज्ञान शक्ति के प्रति अहं उभर आया। वे व्याख्यान देते समय अपनी पीठिका पर चार ध्वजाएं रखने लगे। ये ध्वजाएं उनके चारों दिशाओं में फैलने वाले यश की सूचक थी।

एक दिन एक वृद्ध महिला निकट आकर नम्रतापूर्वक बोली "उपाध्याय जी! आपके पास अखूट ज्ञान का खजाना है। गणधर गौतम और सुधर्मा के पास कितने ज्ञान थे।"

यशोविजय जी ने सहज सरल भाषा में उत्तर दिया "वे ज्ञान के सागर थे। उनके सामने मेरा ज्ञान बिन्दु मात्र है।"

वृद्धा चतुर थी। वाणी में विवेक था। अपने भावों को संयत भाषा में समेटते हुए वह बोली "ज्ञान के सागर गणधर गौतम अपनी पीठिका पर कितनी ध्वजाएं रखते थे।"

वृद्धा के इस गहन प्रश्न ने मर्म को वेध डाला।

विद्वान् यशोविजयजी को अपनी भूल समझ में आ गई। आग्रह जैसा भाव उनमें नहीं था। वृद्धा के प्रश्न का उत्तर उन्होंने बोलकर नहीं आचरण से दिया। उसी दिन से यशोविजयजी ने अपनी पीठिका पर ध्वजाएं रखना बन्द कर दिया।

महान् व्यक्तियों की यही विशेषता होती है अपनी भूल समझ में आने के बाद उससे चिपके रहने का व्यर्थ आग्रह और दुराग्रह उनमें नहीं होता।

न्याय दर्शन के विशिष्ट विद्वान् यशोविजयजी का स्वर्गवास वी. नि. २२१५ (वि. सं. १७४५) में हुआ।

उपाध्याय यशोविजय जी ने प्रभावक आचार्यों की भांति जैन शासन की विशेष प्रभावना की। जैन दर्शन को नव्य न्याय शैली में प्रस्तुत कर जैन शासन की श्रीवृद्धि में चार चांद लगा दिए थे, अतः प्रभावक आचार्यों के प्रस्तुति क्रम में यशोभाक् यशोविजय जी के जीवन प्रसंगों को संयोजित करना प्रासंगिक अनुभूति होने से उनके महत्त्वपूर्ण जीवन-वृत्त की संक्षिप्त झलक प्रस्तुत की गई है।

परम यशस्वी विद्वान् आचार्य कल्प उपाध्याय श्री यशोविजयजी का नाम आज भी जैन समाज में अत्यन्त प्रसिद्ध व विश्रुत है।

११२. कुशलशासक आचार्य जिनकुशलसूरि

जिनकुशलसूरि जैन श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी खरतरगच्छ परम्परा में दादा नाम से प्रसिद्ध हैं। चार दादा गुरुओं में इनका क्रम तृतीय है। जिनदत्तसूरि और मणिधारी जिनचन्द्रसूरि बड़े दादा नाम से पहचाने जाते हैं। इनकी पहचान छोटे दादागुरु नाम से है।

गुरु-परम्परा

जिनकुशलसूरि की गुरु-परम्परा में जिनप्रबोधसूरि, लघुसिंह खरतरगच्छ के संस्थापक जिनसिंहसूरि, 'कलिकाल-केवली' विरुद प्राप्त जिनचन्द्रसूरि आदि प्रभावक आचार्य हुए। जिनचन्द्रसूरि ने चार राजाओं को प्रतिबोध दिया था। अतः इनके समय में खरतरगच्छ 'राजगच्छ' नाम से भी पहचाना जाने लगा।

दादा गुरुओं में जिनकुशलसूरि का नाम मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के बाद आया परन्तु जिनकुशलसूरि के दीक्षा गुरु मणिधारी जिनचन्द्रसूरि नहीं थे। मणिधारी जिनचन्द्रसूरि और जिनकुशलसूरि, इन दोनों दादागुरुओं के बीच में शताब्दी से भी अधिक समय का अन्तर है। प्रस्तुत जिनकुशलसूरि 'कलिकाल-केवली' के विरुद को प्राप्त जिनचन्द्रसूरि के पट्ट-शिष्य थे। जिनचन्द्रसूरि जिनप्रबोधसूरि के पट्ट-शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

जिनकुशलसूरि वैश्य वंशज थे। छाजेड़ परिवार में वी. नि. १८०७ (वि. १३३७) में उनका जन्म हुआ। वे सामियाणा (सिवाणा) के यशस्वी मन्त्री जेसल के पुत्र थे। माता का नाम जयन्तश्री था। जिनकुशलसूरि का जन्म नाम करमण था।

जीवन-वृत्त

जिनकुशलसूरि ने पूर्ण वैराग्य के साथ 'कलिकाल-केवली' विरुद प्राप्त जिनचन्द्रसूरि से वी. नि. १८१७ (वि. १३४७) में मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में उनका नाम कुशलकीर्ति रखा गया। शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन कर कुशलकीर्ति मुनि ने बहुश्रुतता प्राप्त की तथा शास्त्रेतर साहित्य का अनुशीलन कर वे प्रगल्भ विद्वान् बने।

श्री राजेन्द्राचार्य ने पाटण में कुशलकीर्ति मुनि को वी. नि. १८४७ (वि. सं. १३७७) ज्येष्ठ कृष्णा एकादशी के दिन 'कलिकाल-केवली' आचार्य जिनचन्द्रसूरि के स्थान पर नियुक्त किया। उनका नाम कुशलकीर्ति से जिनकुशलसूरि हुआ। सिन्ध और राजस्थान (मारवाड़) उनके धर्म प्रचार के प्रमुख क्षेत्र थे।

वे चामत्कारिक आचार्य थे एवं भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष के समान थे। जनता आदर के साथ उनके प्रवचनों को सुनकर एवं उनका आशीर्वाद पाकर पुलक उठाती थी। आज भी अनेक स्थानों पर उनकी पादुकाएं भक्तिभाव से पूजी जाती हैं। संकट की घड़ी में लोग बड़ी निष्ठा से उनका स्मरण करते हैं। उनके नाम पर अनेक स्तवन और स्मारक बने हैं।

जिनपद्म, विनयप्रभ, विवेकसमुद्र आदि शिष्यों में तरुणप्रभ उनके पट्ट-शिष्य थे।

बावेल, डागा, संघवी, जड़ियां आदि कई गोत्रों की स्थापना का श्रेय जिनकुशलसूरि को है।

साहित्य

साहित्य रचना में आचार्य जिनकुशलसूरि की प्रमुख रचना 'चैत्यवन्दन कुलक' वृत्ति है। इसकी रचना वी. नि. १८५३ (वि. सं. १३८३) में हुई थी। 'चैत्यवन्दन कुलक' कृति २७ पद्यों की लघु रचना है। इस लघु कृति की व्याख्या में रचित चैत्यवन्दन कुलक वृत्ति का ग्रन्थमान ४००० श्लोक परिमाण है। साहित्य के क्षेत्र में इस रचना का विशेष समादर हुआ है। कविता विनोद, विद्या विनोद, भाषा विनोद आदि कई ग्रन्थ जिनकुशलसूरि द्वारा रचित हैं।

समय-संकेत

जिनकुशलसूरि का स्वर्गवास पाकिस्तानान्तर्गत देवराजपुर में (देवाउर) वी. नि. १८५९ (वि. सं. १३८९) फाल्गुनी अमावस्या के दिन अनशनपूर्वक हुआ।

आचार्य जिनकुशलसूरि का नाम गुणनिष्पन्न था। उनके शासनकाल में संघ में सब तरह से कुशलता रही। उनके द्वारा जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

११३. मेधावी आचार्य मेरुतुंग (प्रबन्ध चिन्तामणि रचनाकार)

प्रबन्ध चिन्तामणि के रचनाकार मेरुतुंग सूरि नागेन्द्रगच्छ के आचार्य थे। वे प्रभावी आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य थे। मेघदूत काव्य के रचनाकार मेरुतुंग इनसे भिन्न हैं। दोनों की गुरु-परम्परा भी भिन्न है। काव्यकार मेरुतुंग अंचलगच्छ के हैं। प्रस्तुत मेरुतुंग नागेन्द्र गच्छ के हैं। दोनों में लगभग एक शतक का अन्तराल है। काव्यकार मेरुतुंगसूरि से प्रबन्ध चिन्तामणि के रचनाकार मेरुतुंगसूरि पूर्ववर्ती हैं। टीकाकार मेरुतुंगसूरि का सत्ता-काल वि. सं. १५वीं शताब्दी एवं प्रबन्ध चिन्तामणि के रचनाकार मेरुतुंगसूरि का सत्ता-काल वि. सं. १४वीं शताब्दी माना गया है।

साहित्य

आचार्य मेरुतुंग का वैदुष्य इतिहास-लेखन में प्रकट हुआ। इन्होंने महापुरुष चरित्र नामक ग्रन्थ की रचना की। प्रबन्ध चिन्तामणि की तरह यह कृति भी इतिहास से सम्बन्धित है। इस कृति में जैन शासन के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ, सोलहवें तीर्थंकर शान्ति, बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, तेइसवें पार्श्वनाथ एवं अंतिम तीर्थंकर महावीर का जीवन-परिचय है। इतिहास पाठकों के लिए यह उपयोगी है।

आचार्य मेरुतुंग का प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ जैन इतिहास की विपुल सामग्री से परिपूर्ण है। जैन इतिहास को विस्तृत रूप से प्रदान वाले मुख्य चार ग्रन्थ माने गए हैं (१) प्रभावक चरित्र, (२) प्रबन्ध चिन्तामणि, (३) प्रबन्ध कोश, (४) विविध तीर्थकल्प।

'प्रभावक चरित्र' के रचनाकार प्रभाचन्द्र, 'प्रबन्ध कोश' के रचनाकार राजशेखर, 'विविध तीर्थ कल्प' के रनचाकार जिनप्रभ एवं प्रबन्ध चिन्तामणि के रचनाकार प्रस्तुत मेरुतुङ्गसूरि हैं।

ये ग्रन्थ परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। कालक्रम की दृष्टि से इनमें प्रभावक चरित्र सर्वप्रथम एवं प्रबन्ध चिन्तामणि का स्थान द्वितीय है।

प्रबन्ध चिन्तामणि का विवेचन संक्षिप्त एवं समास शैली में है। इस ग्रन्थ की रचना में विद्वान् धर्मदेव का सहयोग आचार्य मेरुतुंग को मिला। विद्वान् धर्मदेव गुरुभ्राता या अन्य स्थविर पुरुष थे।

आचार्य मेरुतुंग के गुणचन्द्र नाम का शिष्य था। वह लेखनकला में प्रवीण था। उसने इस ग्रन्थ की पहली प्रतिलिपि तैयार की। राजशेखर के प्रबन्ध कोश में प्रबन्ध चिन्तामणि का उपयोग हुआ है।

समय-संकेत

मेरुतुंगसूरि का स्वर्गवास का समय ज्ञात नहीं है। प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ की रचना इन्होंने वी. नि. १८३१(वि. सं. १३६१) में सम्पन्न की। इस आधार पर मेधावी आचार्य मेरुतुंग वी. नि. १९वीं (वि. १४वीं) शताब्दी के थे।

११४. गुणनिधि आचार्य गुणरत्न

तपागच्छ में गुणरत्न नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमें एक नाम आचार्य गुणरत्न का है। वे संस्कृत के विद्वान थे। वे दर्शनशास्त्र एवं तर्कशास्त्र के विशिष्ट ज्ञाता थे। 'क्रियारत्नसमुच्चय' उनकी प्रसिद्ध रचना है। कर्मग्रन्थों पर उनका अवचूरि साहित्य कर्म सिद्धान्तों की मर्मज्ञता को प्रकट करता है।

गुरु-परम्परा

'क्रियारत्नसमुच्चय' की प्रशस्ति में आचार्य गुणरत्न की गुर्वावली प्राप्त है। षड्दर्शनसमुच्चय की तर्क रहस्य दीपिका टीका में कई स्थानों पर गुणरत्न ने देवसुन्दरमुनि को अपना गुरु बताया है तथा उन्हें तपागच्छ के सूर्य विशेषण से विशेषित किया है। इससे स्पष्ट है कि गुणरत्नसूरि तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य थे।[1] देवसुन्दरसूरि के कई शिष्य सूरि पद से अलंकृत थे। इनमें गुणरत्नसूरि का भी नाम था।

जीवन-वृत्त

गुणरत्नसूरि के जीवन में कई विशेषताएं थीं। वे वाद-विद्या में निपुण थे। किसी भी स्थिति में रोष न करने की उनकी प्रतिज्ञा थी। जैन, जैनेतर ग्रन्थों का उन्हें गहरा ज्ञान था। व्याकरण, आगम, ज्योतिष आदि विविध विषयों के वे ज्ञाता थे। षड्दर्शनसमुच्चय टीका उनके गम्भीर दार्शनिक ज्ञान को प्रकट करती है।

गुणरत्नसूरि का आचार्य-पद-महात्सेव वी. नि. १६१२ (वि. सं. १४४२) में मनाया गया। धर्म प्रचार की दृष्टि से गुणरत्नसूरि ने गुजरात और राजस्थान में विहरण किया तथा जन-जन को अध्यात्मबोध देकर जैन शासन की प्रभावना की।

ग्रन्थ-रचना

गुणरत्नसूरि ने जैन दर्शन के विविध विषयात्मक ग्रन्थों की रचना की। उनका अवचूरि साहित्य सिद्धान्त विषयक व्याख्यात्मक साहित्य की दिशा में एक प्रशस्त प्रयत्न है। ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

कल्पान्तर्वाच्य गुणरत्नसूरि की सम्भवतः यह सर्वप्रथम रचना है। इस ग्रन्थ में पर्यूषण पर्वाराधना एवं कल्पसूत्र श्रवण की उपयोगिता बताई गई है। ग्रन्थगत कथाएं रोचक एवं मर्मस्पर्शी हैं। गुणरत्नसूरि ने इसकी रचना वी. नि. १६२७ (वि. सं. १४५७) में की।

अवचूरि ग्रन्थ चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, संस्तारक, भक्तपरिज्ञा इन चार प्रकीर्णक ग्रन्थों पर गुणरत्नसूरि ने जो व्याख्याएं लिखीं वे अवचूरि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें विषमपद विवरण संज्ञा से भी पहचाना गया है।

देवचन्द्रसूरि के कर्म विपाक, कर्मस्तव आदि पांच ग्रन्थों एवं चन्द्रर्षि महत्तर के सप्ततिका ग्रन्थ पर गुणरत्नसूरि ने वी. नि. १६२६ (वि. सं. १४५६) में अवचूरि की रचना की।

आचार्य सोमतिलक के क्षेत्रसमास ग्रन्थ पर गुणरत्नसूरि ने जिस अवचूरि की रचना की[2], वह संक्षिप्त अवचूरि है। सोमतिलकसूरि के क्षेत्रसमास ग्रन्थ से अधिक प्रभावित थे। उन्होंने इस क्षेत्र समास को नव्य क्षेत्र समास की अभिधा से भी सम्बोधित किया है।

अचलमत निराकरण इस ग्रन्थ में अचलमत की

---

१. इति श्रीतपागगनभोङ्गणदिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरिक्रमकमलोपजीविशिष्यश्रीगुणरत्नसूरिविरचितायां तर्करहस्य दीपिकाभिधानायांषड्दर्शनसमुच्चयटीकायां बौद्धमतप्रकटनो नाम प्रथमोऽधिकारः।

(षड्दर्शन-समुच्चय-टीका)

२. इति पूज्याराध्यभट्टारकराज श्रीसोमतिलकसूरिभिरचितस्य नव्यबृहत्क्षेत्रसमासस्यातिगम्भीरार्थस्य श्रीगुणरत्नसूरिकृतावचूर्णिः सम्पूर्णा।

(गुणरत्नसूरिकृत अवचूर्णि)

मान्यताओं का निरसन है। यह इस कृति के नाम से स्पष्ट है। यह तर्कप्रधान कृति है। इससे गुणरत्नसूरि की तार्किक क्षमता का परिचय मिलता है।

तर्करहस्य दीपिका हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ पर इस टीका ग्रन्थ की रचना हुई है। यह गुणरत्नसूरि का दार्शनिक ग्रन्थ है। विविध दर्शनों का वर्णन इसमें है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है।

क्रियारत्न समुच्चय यह ग्रन्थ व्याकरण ग्रन्थों में अपना विशेष स्थान रखता है। इस ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र के शब्दानुशासन के आधार पर महत्त्वपूर्ण धातुओं का संकलन है। प्रयोगों और उदाहरणों के साथ धातुओं के रूपों की प्रस्तुति से यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी बना है। संस्कृतपाठी विद्यार्थी के लिए इस ग्रन्थ से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। यह ग्रन्थ वी. नि. १९३६ (वि. सं. १४६६) में सम्पन्न हुआ। यह उल्लेख इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में काव्यमयी भाषा में देवसुन्दरसूरि का परिचय एवं गुर्वावली है।

समय-संकेत

आचार्य गुणरत्नसूरि को वी. नि. १९१२ (वि. सं. १४४२) में आचार्य पद मिला। आचार्यपद प्राप्ति के बाद वी. नि. १९२७ (वि. सं. १४५७) में कल्पान्तर्वाच्य, वी. नि. १९२९ (वि. सं. १४५९) में कर्म ग्रन्थों पर अवचूरि साहित्य की रचना और वी. नि. १९३६ (वि. सं. १४६६) में क्रियारत्न समुच्चय की रचना की। इस आधार पर उनका काल वी. नि. की १९वीं-२०वीं (वि. १५वीं) सदी है।

११५. मधुरभाषी आचार्य मुनिसुन्दर

मुनिसुन्दरसूरि मन्दिरमार्गी परम्परा के तपागच्छ के आचार्य थे। वे सहस्रावधानी थे। उनकी प्रवचनशैली सुन्दर थी। जनता पर उनकी विद्वत्ता का प्रभाव था। शास्त्रार्थ करने में वे कुशल थे।

गुरु-परम्परा मुनिसुन्दरसूरि के गुरु सोमसुन्दर थे। सोमसुन्दरसूरि, देवसूरि के उत्तराधिकारी थे। सोमसुन्दरसूरि के पास जयसुन्दरसूरि, भुवनसुन्दरसूरि आदि कई विद्वान् शिष्य थे। उनमें एक मुनि सुन्दरसूरि थे।

जीवन-वृत्त

मुनिसुन्दरसूरि का जन्म वी. नि. १९०६ (वि. सं. १४३६) में हुआ। उन्होंने आठ वर्ष की अवस्था में मुनि दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के बाद वे श्रुत की आराधना में लगे। जीवन में बहुमुखी विकास किया। वे जन-कल्याण के कार्यों में विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। सिरोही के महाराजा सहस्रमल्ल से उन्होंने अमारि की घोषणा करवाई। शास्त्रार्थ निपुणता के कारण गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरखां से उन्हें 'वादि गोकुलसंड' की उपाधि प्राप्त हुई। कई इतिहासकार इस उपाधि प्रदान करने का श्रेय खम्भात के सुल्तान को देते हैं।

दक्षिण के पण्डितों ने 'काली सरस्वती' का पद प्रदान कर मुनिसुन्दरसूरि को सम्मानित किया।

साहित्य

मुनिसुन्दरसूरि धर्म प्रचार के साथ साहित्यकार भी थे। अध्यात्मकल्पद्रुमस्वोपज्ञवृत्ति, उपदेश रत्नाकर, जिन स्तोत्र रत्नकोष, मित्रचतुष्ककथा, सीमन्धर स्तुति, अंगुलसत्तरी, शान्तिकर स्तोत्र आदि रचनाएं मुनि सुन्दरसूरि की हैं। इन कृतियों में उनकी साहित्यिक मेधा के दर्शन होते हैं। त्रैविध नामक लघु ग्रन्थ में न्याय व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान की अवगति होती है। मुनिसुन्दर सूरि की सिद्धसारस्वतसूरि के रूप में भी प्रसिद्धि है।

समय-संकेत

मुनिसुन्दरसूरि की वाचक पद पर वी. नि. १९३६ (वि. सं. १४६६) में और सूरि पद पर वी. नि. १९४८ (वि. सं. १४७८) में नियुक्ति हुई। उनका स्वर्गवास वी. नि. १९७३ (वि. सं. १५०३) में हुआ था। कई इतिहासकार वी. नि. १९६९ (वि. सं. १४९९) में उनका स्वर्गवास मानते हैं।

अध्याय ३

नवीन युग के प्रभावक आचार्य

(संख्या ११६-१६१)

११६. हितचिन्तक आचार्य हीरविजय

जैन परम्परा में हीरविजयजी का नाम प्रसिद्ध है। बादशाहों को बोध देने वाले आचार्यों में उनकी गणना है। योग्यता के आधार पर उनको पण्डित, वाचक आदि कई उपाधियां मिली। अपने युग में उन्हें राज-सम्मान भी बहुत मिला।

गुरु-शिष्य-परम्परा

हीरविजयजी तपागच्छ के आचार्य थे। उनके गुरु का नाम विजयदानसूरि था। हीरविजय के कई शिष्य थे। उनमें विजयसेन प्रमुख थे।

जन्म एवं परिवार

हीरविजयजी पालनपुर के थे। ओसवाल परिवार में उनका जन्म वी. नि. २०५३ (वि. १५८३) में हुआ। उनके पिता का नाम 'कंवर जी' और माता का नाम 'नाथाबाई' था।

जीवन-वृत्त

हीरविजयजी का जीवन-वृत्त कई घटनाओं से सम्बन्धित है। उन्होंने वी. नि. २०६६ (वि. १५९६) में तपागच्छ के आचार्य विजयदानसूरि के पास श्रमण दीक्षा ली। धर्मसागरमुनि के साथ न्यायशास्त्र-विशेषज्ञ ब्राह्मण पण्डित से न्याय शास्त्र का अध्ययन किया। उन्हें वी. नि. २०७७ (वि. १६०७) में 'पण्डित' की उपाधि तथा वी. नि. २०७८ (वि. १६०८) में 'वाचक' की उपाधि प्राप्त हुई। मुनि जीवन में उनका नाम हरिहर्ष था। वे वी. नि. २०८० (वि. १६१०) में सूरिपद पर नियुक्त किये गये। उस समय उनका नाम हीरविजय रखा गया।

आचार्य विजयदानसूरि के स्वर्गवास के बाद उन्होंने वी. नि. २०९२ (वि. सं. १६२२) में तपागच्छ का दायित्व सम्भाला। पुष्प-परिमल की तरह आचार्य हीरविजयजी के सद्गुण मण्डित व्यक्तित्व की प्रभा सर्वत्र प्रसारित होने लगी।[1]

एक बार बादशाह अकबर का आमन्त्रण मिलने पर हीरविजयजी गान्धार से फतेहपुर सीकरी आए, उस समय उन्हें भारी राज-सम्मान प्राप्त हुआ।

अकबर की सभा का उद्भट्ट विद्वान् अब्दुल फजल भी हीरविजयजी से प्रभावित हुआ। उसके निवेदन पर एक बार अकबर ने हीरविजयजी को सभा में आमन्त्रित किया और उनके आने पर सभासदों सहित अकबर ने खड़े होकर उनका सम्मान किया।

हीरविजयजी ने तीन-चार वर्ष तक फतेहपुर सीकरी और आगरा के आस-पास विहरण किया तथा पुनः-पुनः अकबर से सम्पर्क स्थापित कर उन्हें प्रतिबोध देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनके इस विशेष सम्पर्क का ही प्रभाव था कि अकबर ने पर्युषण पर्व पर शिकार नहीं करने की प्रतिज्ञा ली। राज्य में अमारि की घोषणा करवाई तथा जैन धर्म के पवित्र स्थानों पर किसी के द्वारा हानि न पहुंचाई जाए, इस प्रकार के आदेश भी बादशाह अकबर ने जारी किए। हीरविजयजी को वी. नि. २११० (वि. सं. १६४०) में 'जगद्गुरु' की उपाधि मिली।

अकबर बादशाह को बोध प्रदान करने हेतु अपने शिष्य उपाध्याय शान्तिचन्द्रसूरि आदि की वहां व्यवस्था कर वृद्धावस्था में हीरविजयजी गुजरात गए।

भानुचन्द्र, सिद्धिचन्द्र आदि हीरविजयजी के शिष्य थे। उन्होंने गुरु के गुजरात चले जाने के बाद अकबर

---

१. अथ श्रीमान् मुनीशोऽभूत् श्रीहीरविजयप्रभुः।
आसीद् यस्मिन् यशःकीर्तिरुभयं तन्मनस्विनि ॥४६॥
(देवानन्द महाकाव्य, सर्ग-२)

बादशाह को जैन धर्म के अनुकूल बनाए रखने के लिए उनसे पुनः-पुनः सम्पर्क किया।

लोकश्रुति के अनुसार हीरविजयी के जीवन-प्रसंग के साथ बादशाह अकबर को प्रभावित करने वाली कई चामत्कारिक घटनाएं सम्बद्ध हैं पर उनका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है।

हीरविजयजी का स्वर्गवास गुजरात प्रदेशान्तर्गत 'ऊना' ग्राम में हुआ। उस समय उनके उत्तराधिकारी विजयसेनसूरि दूर देश में थे, उनसे मिलन नहीं हो सका।

हीरविजयजी ने अकबर बादशाह को अपने चरणों में झुकाया और अमारि घोषणा जैसे अहिंसा प्रधान आदेशों को राज्य में लागू करवाया। इन कार्यों से हीरविजयसूरि की हितचिन्तक वृत्ति परिलक्षित होती है।

समय-संकेत

हीरविजयजी ने १३ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ग्रहण की। वे २७ वर्ष की अवस्था में आचार्य बने। उनकी कुल आयु ६९ वर्ष की थी। उनका स्वर्गवास वी. नि. २१२२ (वि. सं. १६५२) में हुआ। इस आधार पर हीरविजयजी का काल वी. नि. २१वीं, २२वीं (वि. १७वीं) शताब्दी है।[२] पट्टावली समुच्चय की गुरु पट्टावली में श्री हीरविजयजी के जन्म, दीक्षा, आचार्यपद, स्वर्गवास संवत् आदि प्राप्त हैं।

---

२. तत्पट्टे ५८ श्री हीरविजय सूरिः। तस्य विक्रमात् १५८३ वर्षे मार्ग सुदि ९ जन्म, पितुर्नाम कंवरजी, मातुर्नाम नाथाबाई.... सं १५९६ दीक्षा, सं. १६०७ पण्डित पद, १६०८ वरकाणापार्श्वे वाचक पद, सं. १६१० सीरोहीनगरे सूरिपद .....तस्य च विक्रमात् १६५२ वर्षे भाद्रपद शुक्लैकादश्यां सौराष्ट्र उन्नतपुरे सर्वातिचारालोचनपूर्वमनशनेन स्वर्गः।

(पट्टावली समुच्चय)

११७. जिनधर्म उपासक आचार्य जिनचन्द्र

जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ परम्परा में एक और जिनचन्द्रसूरि हुए जो मणिधारी जिनचन्द्रसूरि से भिन्न थे। उनकी प्रसिद्धि भी वर्तमान में दादा नाम से है। चार दादा गुरुओं में उनका क्रम जिनकुशलसूरि के बाद है।

गुरु-परम्परा

प्रस्तुत जिनचन्द्रसूरि के गुरु जिनमाणिक्यसूरि थे। जिनमाणिक्यसूरि से पूर्व गुरुपरम्परा में जिनसमुद्रसूरि, जिनहंससूरि, जिनदेवसूरि आदि आचार्य हुए।

जन्म एवं परिवार

जिनचन्द्रसूरि वैश्य वंशज थे। रीहड़ उनका गोत्र था। वे शाह श्रीवन्त् के पुत्र थे। उनकी माता का नाम श्रीदेवी था। उनका जन्म बड़ली में वी. नि. २०६५ (वि. सं. १५९५) में हुआ।

जीवन-वृत्त

जिनचन्द्रसूरि धार्मिक वृत्ति के बालक थे। उन्होंने नव वर्ष की लघुवय में वी. नि. २०७४ (वि. १६०४) में मुनि दीक्षा स्वीकार की। आठ वर्ष तक वे सामान्य मुनिजीवन में रहे। विविध अनुभव को उन्होंने बटोरा। जैसलमेर में वी. नि. २०८२ (वि. सं. १६१२) भाद्रव शुक्ला नवमीं के दिन उनकी नियुक्ति आचार्य पद पर हुई। उस समय उनकी अवस्था लगभग १७ वर्ष की थी। जिनचन्द्रसूरि की प्रवचन शैली गम्भीर और प्रभावक थी।

एक बार जैन प्रभावक आचार्यों के विषय में अकबर द्वारा प्रश्न करने पर किसी सभासद ने जिनचन्द्रसूरि का नाम प्रस्तुत किया।

कर्मचन्द बच्छावत आचार्य जिनचन्द्र का परमभक्त था। अकबर के संकेत और उपासक कर्मचन्द की प्रार्थना पर आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने लाहौर चतुर्मास किया। इस चतुर्मास में आचार्य जिनचन्द्र के प्रवचनों से प्रभावित होकर अकबर बादशाह ने उन्हें युगप्रधान पद से अलंकृत किया।

आचार्य जिनचन्द्र के प्रति बादशाह की निष्ठा थी। उन्होंने कश्मीर जाते समय आचार्य जिनचन्द्र से आशीर्वाद लिया और सात दिन तक सारे राज्य में अमारि की घोषणा की।

बादशाह के द्वारा कृत सम्मान का प्रभाव अन्यत्र भी हुआ। अनेक राज्यों में कहीं दस दिन, कहीं पन्द्रह दिन, कहीं बीस दिन तक पशुबलि बन्द रही।

बादशाह अकबर के बाद जहांगीर सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। किसी विशेष परिस्थिति के कारण जिनचन्द्रसूरि के परमभक्त श्रावक कर्मचन्द पर बादशाह जहांगीर रुष्ट था। बादशाह की इस रुष्टता का परिणाम खरतरगच्छ के मुनि को भोगना पड़ा। जिनचन्द्रसूरि उस समय वृद्धावस्था में थे। उन्होंने जहांगीर को अनुकूल बनाने के कई प्रयत्न किए और उनके प्रयत्न किसी सीमा तक सफल भी हुए।

समय-संकेत

जैन गगनांगण में जिनधर्म प्रभावक आचार्य जिनचन्द्रसूरि चन्द्र की तरह चमके। उनका स्वर्गवास विलाड़ा में वी. नि. २१४० (वि. सं. १६७०) आश्विन कृष्णा द्वितीया को हुआ।

११८. वाक्पटु आचार्य विजयसेन

तपागच्छ की प्रभावक आचार्य परम्परा में एक नाम विजयसेनसूरि का है। गुरु का नाम उजागर करने वाले सुयोग्य होते हैं। हीरविजयजी के कई शिष्य थे। उनमें बादशाह अकबर को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित कर जैन धर्म के प्रति उनकी आस्था को सुदृढ़ करने का तथा हीरविजयजी की ख्याति को अधिक विस्तृत करने का श्रेय विजयसेनसूरि को है।

गुरु-परम्परा

विजयसेनसूरि के गुरु तपागच्छीय आचार्य हीरविजयजी थे। हीरविजयजी के गुरु विजयदानसूरि थे। विजयसेनसूरि के शिष्यों में विद्याविजय, नन्दीविजय आदि प्रमुख थे। शिष्य विद्याविजय की नियुक्ति विजयसेन ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में की और उनका नाम विजयदेव रखा।

जीवन-वृत्त

विजयसेनसूरि का जन्म नारदपुरी में वी. नि. २०७९ (वि. १६०९) में एवं दीक्षा वी. नि. २०८७ (वि. १६१७) में हुई थी। हीरविजयजी ने सूरि पद पर विजयसेन की नियुक्ति अहमदाबाद में वी. नि. २०९८ (वि. १६२८) में की थी।

हीरविजयसूरि के गुजरात पदार्पण के बाद बादशाह अकबर का एक सन्देश उनके पट्टशिष्य विजयसेनसूरि के पास पहुंचा, जिसमें विजयसेनसूरि को अकबर के दरबार में पहुंचने का निमन्त्रण था। इससे स्पष्ट है हीरविजयजी की भांति विजयसेनसूरि के प्रति भी बादशाह अकबर का झुकाव था। विजयसेनसूरि से प्रभावित होकर उनको बादशाह अकबर ने 'सवाई सूरि' की उपाधि प्रदान की। विजयसेनसूरि वाद-विद्या में निपुण थे। अकबर की सभा में ब्राह्मण विद्वानों के साथ उन्होंने कई शास्त्रार्थ किए और वे सफल रहे। शास्त्रार्थ-जय के प्रसंग पर अकबर बादशाह द्वारा 'काली सरस्वती' की उपाधि दी गई थी। बादशाह के निवेदन पर विजयसेनसूरि ने दो चतुर्मास लाहौर में किए। हीरविजयजी की अस्वस्थता के समाचार विजयसेनसूरि की पास लाहौर में पहुंचे। गुरु दर्शन के लिए उन्होंने अतिशीघ्र लाहौर से गुजरात की ओर प्रस्थान किया परन्तु लम्बे मार्ग के कारण गुजरात पहुंचने से पहले उन्हें एक चतुर्मास सादड़ी में करना पड़ा।

विजयसेनसूरि के हृदय में गुरु-दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा थी। परन्तु सभी इच्छाएं फलीभूत नहीं होती हैं। विजयसेनसूरि सादड़ी में चतुर्मास कर रहे थे तभी हीरविजयसूरि का गुजरात प्रदेशान्तर्गत ऊना ग्राम में स्वर्गवास हो गया। विजयसेनसूरि अपने गुरु के अन्तिम दर्शन नहीं कर सके।

हीरविजयसूरि के स्वर्गवास के बाद गच्छ के नायक विजयसेनसूरि बने।[1] उन्होंने गच्छ का संचालन सफलतापूर्वक किया। गुजरात प्रदेश में विहरण कर धर्मसंघ की प्रभावना की एवं बादशाह अकबर पर भी प्रभाव वैसे ही बनाए रखा जैसे हीरविजयजी के युग में था।

विजयसेनसूरि के जीवन में कई विशेषताएं थीं। वे प्रचारक, व्याख्याता, उग्र विहारी तथा आस्थाशील थे। गुरु के प्रति उनके हृदय में अगाध भक्तिभाव था।

समय-संकेत

विजयसेनसूरि का स्वर्गवास वी. नि. २१४२ (वि. १६७२) में हुआ। इससे उनका काल वी. नि. २२वीं (वि. १७वीं) शताब्दी प्रमाणित है।

विजयसेनसूरि का जन्म, दीक्षा, स्वर्गवास समय संवत् पट्टावली समुच्चय में है।[2]

---

१. श्रीमान् विजयसेनाख्यस्तत्पट्टे सूरि राड् बभौ।
क्षणाद् येनान्तरा क्षिप्ता दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिता ॥५८॥
(देवानन्द महाकाव्य-सर्ग-२)

२. तत्पट्टे विजयसेनसूरिः येन भगवता महाराजाधिराज बादशाह अकबर सभायां पंचशत भटैः सहवादं विधाय जयश्रियाः पाणिग्रहश्चक्रे। 'काली सरस्वती' विरुदं लेभे।....तेषां नारदपूर्यां विक्रमात् १६०९ वर्षे जन्म, १६१७ दीक्षा, १६२८ सूरिपदं, १६७२ वर्षे श्रीस्तम्भतीर्थे स्वर्गः।
(पट्टावली समुच्चय)

११९. विशदमति आचार्य विजयदेव

जैन श्वेताम्बर तपागच्छ के प्रभावक आचार्यों में विजयदेवसूरि भी एक थे। धर्म-प्रचार के साथ उनका तपोमय जीवन जनता के लिए विशेष आकर्षण का विषय था। बादशाह जहांगीर द्वारा उन्हें 'महातपा' उपाधि दी गई। उदयपुर नरेश जगतसिंहजी का भी उन्हें विशेष सम्मान भाव प्राप्त था।

गुरु-परम्परा

विजयदेवसूरि के दीक्षा गुरु विजयसेनसूरि तथा विजयसेनसूरि के गुरु हीरविजयजी थे। हीरविजयजी के गुरु विजयदानसूरि थे।

जन्म एवं परिवार

विजयदेवसूरि का जन्म गुजरात प्रदेशान्तर्गत इलादुर्ग (ईडर) गांव निवासी महाजन परिवार में वी. नि. २१०४ (वि. सं. १६३४) पौष शुक्ला त्रयोदयशी के दिन हुआ।[1] उनके पिता का नाम 'स्थिर', दादा का नाम 'माधव'[2] और माता का नाम 'रूपां' देवी था। विजयदेवसूरि का गृहस्थ जीवन का नाम वासुदेव कुमार (वास कुमार) था।

जीवन-वृत्त

वासुदेव कुमार का जन्म-स्थान इलादुर्ग (ईडर) उस समय प्रसिद्ध नगर था। इलादुर्ग का राजा राठौरवंशी नरेश नारायण था। नरेश नारायण के पिता का नाम पुञ्ज एवं पितामह का नाम भाण था। वासुदेव के माता-पिता धार्मिक विचारों के थे। वासुदेव कुमार को उनसे धार्मिक विचार प्राप्त हुए। बालक का मन उत्तरोत्तर त्याग की ओर झुकता गया। एक दिन वासुदेव ने मुनि जीवन में प्रवेश करने का निर्णय लिया। माता रूपां देवी साध्वी बनने के लिए तैयार हुई। दोनों की दीक्षा अहमदाबाद में हाजा पटेल की पोल में विजयसेनसूरि द्वारा वी. नि. २११३ (वि. १६४३) माघ शुक्ला दशमी के दिन हुई।[3] दीक्षा के बाद मुनि जीवन में उनका नाम विद्याविजय रखा गया। विद्याविजय अपने नाम के अनुरूप विद्या अर्जन में तत्पर रहते थे। उनकी योग्यता से प्रभावित होकर विजयसेनसूरि ने अहमदाबाद के उपनगर में वी. नि. २१२५ (वि. सं. १६५५) मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी के दिन उनको (पण्डित) पद प्रदान किया। वैशाख शुक्ला चतुर्थी वी. नि. २१२७ (वि. सं. १६५७) को उन्हें सूरिमन्त्र पूर्वक सूरि पद पर प्रतिष्ठित किया। पाटण में वी. नि. २१२८ (वि. सं. १६५८) पौष कृष्णा षष्ठी के दिन विजयदेवसूरि को गच्छानुज्ञा प्रदान की गई एवं वन्दन-महोत्सव मनाया गया।[4] वन्दन-महोत्सव की व्यवस्था श्रावक सहस्रवीर ने की।

उन दिनों उपाध्याय धर्मसागरजी द्वारा प्रसारित सैद्धान्तिक मतभेद के कारण वातावरण तनावपूर्ण था। विजयदानसूरि और विजयवीरसूरि ने शास्त्र विरुद्ध बातों का समर्थन करने के कारण धर्मसागरजी का सम्बन्ध गच्छ से विच्छिन्न कर दिया। धर्मसागरजी, विजयदेवसूरि के मामा थे। विजयदेवसूरि भविष्य में मामा का साथ दे सकते हैं, यह धारणा लोगों के मानस में थी। उसी भ्रान्त धारणा के कारण विजयसेनसूरि ने अपना नया उत्तराधिकारी घोषित किया।

---

१. "चतुस्त्रिंशत्तमे वर्षे षोडशस्य शतस्य हि।
पौषे मासे सिते पक्षे त्रयोदश्यां दिने बुधौ" ॥१८॥
(विजयदेवसूरिमहात्म्य, सर्ग-१)

२. उवास तत्र व्यवहारिणां वरः स्थिराभिधो माधवदेहसम्भवः ॥५६॥
(देवानन्द महाकाव्य सर्ग १)

३. "षोडशस्य शतस्यास्मिन् त्रिचत्वारिंशवत्सरे।
दशम्यां माघशुक्लस्य दीक्षाऽभूद यस्य सोऽवतात्" ॥५२॥
(विजयदेवसूरिमहात्म्य, सर्ग-५)

४. "षोडशस्य शतस्यास्मिन् अष्ट पञ्चाशवत्सरे।
षष्ट्यां पौषस्य कृष्णायां गुरुवारे शुभावहे" ॥८४॥
(विजयदेवसूरिमहात्म्य, सर्ग-७)

विजयदेवसूरि के मन में किसी प्रकार का अन्यथा भाव अपने गुरु के प्रति और संघ के प्रति नहीं था। उन्होंने कभी भी धर्मसागरजी का साथ देने की बात नहीं सोची पर अन्तरंग संघर्ष एवं भ्रांत धारणा बनने के कारण विजयसेनसूरि और विजयदेवसूरि की गच्छ परम्परा भिन्न हो गई।

विजयदेवसूरि विद्वान् एवं तपस्वी थे। वे आयम्बिल, नीवी, उपवास, दो दिन का उपवास आदि किसी-न-किसी प्रकार की तपस्या करते रहते थे। पारणक के दिन एकासन करते थे। उनके वर्चस्वी व्यक्तित्व की ख्याति जनता में प्रसारित होने लगी। बादशाह जहांगीर ने विजयदेवसूरि की तप साधना से प्रभावित होकर वी. नि. २१३४ (वि. १६६४) में मांडवगढ़ में उनको 'महातपा' नामक उपाधि प्रदान की।[५] उदयपुर नरेश राणा जगतसिंह पर भी विजयदेवसूरि के व्यक्तित्व का प्रभाव था। महाराणा ने उनकी प्रेरणा से नगर में अहिंसा की प्रतिपालना करवाई। ईडर नरेश रायकल्याणमलजी भी विजयदेवसूरि को विशेष आदर देते थे।

विजयदेवसूरि के मुख्य विहरण-स्थल मारवाड़, मेवाड़, सौराष्ट्र आदि प्रदेश थे। इन क्षेत्रों में उन्होंने धर्म का प्रचार किया और जन-जन को अध्यात्म का रहस्य समझाया।

लोगों के मन में विजयदेवसूरि के प्रति आस्थाभाव था।

विजयदेवसूरि के प्रमुख शिष्य थे कनकविजय और लावण्यविजय।[६] अपने विद्वान् शिष्य कनकविजय को विजयदेवसूरि ने वी. नि. २१५२ (वि. १६८२) वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन अपना पट्टधर बनाया। उनका नाम विजयसिंहसूरि किया गया। संयोग से अपने द्वारा घोषित उत्तराधिकारी विजयसिंहसूरि का स्वर्गवास उनके जीवन-काल में ही हो गया, अतः वी. नि. २१८० (वि. १७१०) को उन्होंने विजयप्रभसूरि को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इनका संघ 'देवसूरिसंघ' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

'विजयदेवमाहात्म्य' नामक ग्रन्थ में विजयदेवसूरि के जीवन प्रसंग की सामग्री है। इस कृति के निम्न श्लोकों में तपागच्छ और विजयदेव की यशवृद्धि की कामना की गई है

एधतां श्री तपागच्छो दीप्यतां सवितेव च।
तेजसा सूरिमञ्चास्य त्वदीयस्य (विजयदेव) च सर्वदा॥

विजयदेवसूरि उदार हृदय थे। उन्होंने संकीर्ण भावनाओं को अधिक प्रश्रय नहीं दिया और व्यक्तिगत सम्बन्धों का अनुचित पोषण नहीं किया। अपने गच्छ का अन्तरंग विरोध होने पर भी उनकी व्यापक विचारधारा ने उनको जनप्रिय बनाया और मुगल सम्राट् जहांगीर द्वारा विशेष सम्मान प्राप्त किया, अतः विजयदेवसूरि को 'विशालहृदय' विशेषण से विभूषित किया गया।

समय-संकेत

विजयदेवसूरि लगभग ६ वर्ष की अवस्था में मुनि बने। वे २४ वर्ष की अवस्था में गच्छ नायक बने। उनकी कुल आयु ७६ वर्ष के लगभग थी। उनका स्वर्गवास वी. नि. २१८३ (वि. १७१३) में आषाढ़ शुक्ला एकादशी को गुजरात के 'ऊना' ग्राम में हुआ। यहीं पर हीरविजयजी का स्वर्गवास हुआ था। विजयदेवसूरि का समाधिस्थल भी हीरविजयजी के समाधिस्थल के पास ही बनाया गया।

---

५. महातपा इति क्षोणी-भर्तास्याख्यां तदाभ्यधात् ॥१२७॥
(देवानन्द महाकाव्य सर्ग १)

६. अजातदीक्षैर्दीक्षैः कनकाद्विजयादिकैः।
विनेयैरसुभत् सूरिस्तारकैरिव चन्द्रमाः ॥१२१॥
ख्याताः कनकविजया लावण्यविजयाः परे।
वाचकाः श्रीप्रभोर्हृष्टाः शासने सामवायकाः ॥११२॥
(देवानन्द महाकाव्य सर्ग-२)

१२०. क्रियोद्धारक आचार्य जीवराजजी

लोंकाशाह की धर्म क्रान्ति को आगे बढ़ाने वालों में जीवराजजी अग्रणी स्थान पर थे। जीवराजजी का जन्म सूरत में वी. नि. २०५१ (वि. १५८१) में हुआ। उनके पिताश्री का नाम वीरजी तथा माता का नाम केशरबाई था।

जीवराजजी ने धार्मिक ज्ञान यतियों से प्राप्त किया। धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन और स्वाध्याय से उनको संसार से विरक्ति हो गई। परिवार के मोह-माया के चक्रव्यूह से मुक्त होकर उन्होंने जगाजी यति के पास दीक्षा ली। आगमों का अध्ययन किया।

यतियों की शिथिल आचार क्रियाओं को देखकर उनके विचारों में मोड़ आया। लोंकाशाह की विचारधारा ने उनको प्रभावित किया। क्रियोद्धार करने की बात सोची। अपनी बात यतिजी के सामने रखी। आगम सम्मत आचार-विधि का पालन करने के लिए आग्रह भरा निवेदन किया। सात वर्ष तक जीवराजजी ने अपना यह प्रयत्न किया। यतिजी का निर्णय था कि हमारे द्वारा इस प्रकार की साधना अशक्य है। तुम इस मार्ग का अनुसरण करो। हमारा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।

जीवराजजी के भीतर विचारों का मन्थन चलता रहा। एक दिन भीतर का यह द्वन्द्व निर्णय के रूप में बदला। उन्होंने वी. नि. २०७८ (वि. १६०८) में पांच साधुओं के साथ पांच महाव्रत स्वरूप आर्हती दीक्षा ग्रहण की। संयम साधना के अनुरूप उन्होंने वेश धारण किया। आज जो स्थानकवासी साधु-समाज की वेश-भूषा है वह सन्त श्री जीवराजजी के समय से है।

जीवराजजी ने वस्त्र, पात्र, मुखपत्ति, रजोहरण, प्रमार्जिका (पूजनी अथवा छोटा रजोहरण) इन उपकरणों के अतिरिक्त अन्य उपकरणों को रखने का त्याग किया। उपकरणों का यह सीमाकरण सर्वप्रथम जीवराजजी ने किया।

जीवराजजी ने ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक सूत्र इन ३२ आगमों को प्रमाण माना। मूर्ति पूजा को आगम विरुद्ध बताया तथा अहिंसा की प्रतिपालना में विशेष सावधानी रहे इसलिए ससूत्र मुखपति को मुख पर धारण किया।

जीवराजजी का यति वर्ग में तीव्र विरोध था। परन्तु वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। यति मार्ग से अलग होते समय जिन पांच यतियों ने उनका साथ दिया था वे पांचों उनके पूरे सहयोगी बने रहे।

जीवराजजी के अनुयायियों की संख्या बढ़ी, कइयों ने मुनि जीवन स्वीकार किया। एक दिन जीवराजजी का दल बड़े सम्प्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

जीवराजजी ने दृढ़ता से अपनी विचारधारा को आगे बढ़ाया। उनका अनशन में समाधिमय अवस्था में स्वर्गवास हुआ।

उनकी शिष्य परम्परा में कई प्रभावशाली त्यागी-तपस्वी सन्त हुए।

आज भी स्थानकवासी परम्परा में कोटा सम्प्रदाय आदि कई सम्प्रदाय जीवराजजी को मूल पुरुष के रूप में स्वीकार करते हैं।

१२१-१२२. लोकोद्धारक आचार्य ऋषिलवजी और ऋषिसोमजी

जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में ऋषिलवजी ऋषि-सम्प्रदाय के प्रभावक आचार्य थे। वे क्षमाशील, धृतिमान, शान्त स्वभावी एवं कष्ट सहिष्णु थे। वे शुद्धाचार परम्परा को पुष्ट करने के लिए प्रारम्भ से ही प्रयत्नशील थे। वे ऋषि परम्परा के प्रभावशाली क्रियोद्धारक आचार्य थे। ऋषिलवजी के उत्तराधिकारी ऋषिसोमजी थे।

जन्म एवं परिवार

ऋषिलवजी का जन्म गुजरात प्रदेशान्तर्गत सूरत नगर में हुआ। उनकी माता का नाम फूलांबाई था। ऋषिलवजी की बाल्यावस्था में उनके पिता का वियोग हो गया। उनके नाना वीरजी बोरा थे। वीरजी बोरा सूरत के समृद्ध श्रेष्ठी थे। उनका गोत्र श्रीमाल था। फूलांबाई उनकी एकमात्र पुत्री थी। पति वियोग हो जाने के कारण वह पुत्र के साथ अपने पिता कि यहां रहने लगी। ऋषिलवजी को नाना से ही पिता का प्यार मिला। यहीं उनका पालन-पोषण हुआ।

जीवन-वृत्त

ऋषिलवजी सुन्दर और बुद्धिमान बालक थे। ऋषि बजरंगजी सूरत के प्रसिद्ध यति थे। वे लोंकागच्छ के थे। बोराजी का परिवार धर्म श्रवणार्थ उनके आश्रम में जाता था। फूलांबाई की प्रेरणा से लवजी ने बजरंगजी यति के पास जैनागमों का अभ्यास किया। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि सूत्रों का अध्ययन किया। शास्त्रों के अध्ययन से लवजी को संसार से विरक्ति हुई।

बोराजी के पास करोड़ों की सम्पत्ति थी। उसके अधिकारी लवजी थे। वैभव का व्यामोह उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर सका। नाना बोराजी से आज्ञा प्राप्त कर लवजी ने बजरंगजी यति के पास वी. नि. २१६२ (वि. सं. १६९२) में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उन्होंने यतिजी को वचनबद्ध किया "आचार-विचार में भेद नहीं होने तक मैं आपके साथ रहूंगा।" यतिजी ने इसके लिए स्वीकृति प्रदान की। दीक्षा लेने के बाद दो वर्ष तक वे उनके साथ रहे। यतियों के शिथिलाचार को देखकर उनका मन ग्लानि से भर गया। उन्होंने यतिजी के साथ कई बार चर्चा की। बजरंगजी यति का आखिरी उत्तर था "मेरी वृद्धावस्था है, मैं कठिन क्रिया का पालन नहीं कर सकता।"

लवजी ने उनसे क्रियोद्धार करने की आज्ञा मांगी। बजरंगजी यति ने प्रसन्न मन से कहा "तुम सुखपूर्वक क्रियोद्धार करो। मेरी आशीष तुम्हारे साथ है।"

बजरंगजी का आदेश प्राप्त कर लवजी ऋषि ने थोभनजी ऋषि और भानुऋषिजी के साथ सूरत से खम्भात की ओर विहार किया। उन्होंने खम्भात में वी. नि. २१७४ (वि. सं. १७०४) में नवीन दीक्षा ग्रहण की।

लवजी ऋषि जैनागमों के गम्भीर ज्ञाता थे। साध्वाचार का अत्यन्त निर्मल नीति से पालन करना उनका लक्ष्य था।

लवजी का धर्म प्रचार कार्य बढ़ता गया। उनके आचार कौशल की सर्वत्र चर्चा होने लगी। यतियों के शिथिलाचार का सिंहासन डोलने लगा। यति उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गए। लवजी ऋषि के नाना बोराजी से उन्होंने जाकर कहा "श्रेष्ठिवर्य! लवजी गच्छ में भेद उत्पन्न कर रहे हैं। वे अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए हमारी निन्दा करते हैं। उनकी गति को नहीं रोका गया तो लोंकागच्छ का अस्तित्व ही डगमगा जाएगा।"

यतियों के विचार सुनकर बोराजी उनसे सहमत हुए। उन्होंने खम्भात के नवाब को निवेदन कर लवजी को कारागृह में बन्द करा दिया। लवजी के मुख पर बन्दीगृह में भी वही प्रसन्नता थी जो पहले थी। वे वहां पर शान्त वृत्ति से साधना और ध्यान में लगे रहे। उनकी

सौम्यवृत्ति का प्रभाव नवाब और नवाब की बेगम पर हुआ। अनेक दृष्टियों से विचार कर नवाब ने लवजी आदि सन्तों को निर्दोष घोषित कर मुक्त कर दिया। इससे लवजी की कीर्ति नगर में प्रसारित हुई। लवजी को जनता ने पूज्य पद से मंडित किया।

लवजी ऋषि की शुद्ध नीति और विशुद्ध आचार पद्धति का प्रभाव एक दिन बोराजी पर हुआ और वे भी ऋषि लवजी के भक्त बन गए। गुजरात के खम्भात, अहमदाबाद आदि नगर उनके प्रचार के क्षेत्र थे। गुजरात के अतिरिक्त राजस्थान प्रान्त में भी उन्होंने विचरण किया।

ऋषिलवजी ने वी. नि. २१८० (वि. १७१०) में दो व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान की। उनमें एक दीक्षा ऋषिसोमजी की थी। दीक्षा ग्रहण करते समय सोमजी २३ वर्ष के नवयुवक थे। उन्हें कुछ शास्त्रीय ज्ञान भी था।

ऋषिलवजी की मुनि धर्मसिंहजी से कई बार धर्म चर्चा हुई। ऋषिलवजी और धर्मसिंहजी कई विषयों में एक मत थे परन्तु सब विषयों में एक मत नहीं थे। ऋषिलवजी की प्रेरणा से धर्मसिंहजी भी क्रियोद्धार करने के लिए प्रवृत्त हो गए। इससे यतियों में विद्रोहाग्नि सुलगने लगी।

ऋषिजी के शिष्य भानुऋषिजी को एकान्त में पाकर विद्वेष के कारण किसी व्यक्ति ने उनका प्राणान्त कर दिया। ऋषिलवजी अत्यन्त गम्भीर और क्षमाशील आचार्य थे। उन्होंने इस हृदयविदारक दुर्घटना को समता से सहन किया। किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं किया।

ऋषिलवजी की उन्नति को देखकर बुरहानपुर में ईर्ष्यावश किसी ने उनको विष मिश्रित मोदक का दान दिया। बेले (दो दिन का व्रत) के पारने में उन्होंने भिक्षा में प्राप्त विष मिश्रित मोदक को खाया। उनको तीव्र वेदना की अनुभूति होने लगी। उन्हें ज्ञात हो गया किसी ने मुझे भोजन में जहर दिया है।

उन्होंने सोमजी ऋषि को कहा "पता नहीं मैं कब अचेत हो जाऊं, जीवन का कोई विश्वास नहीं है।" तुम लोग सब सावधान रहना।" समताभाव से घोर वेदना को सहते हुए ऋषिलवजी ने अनशन स्वीकार किया। परम समाधि में उनका स्वर्गवास हुआ।

सोमजी ऋषि उनके सफल उत्तराधिकारी बने।

गुजरात का खम्भात सम्प्रदाय और दक्षिण का ऋषि सम्प्रदाय ऋषि लवजी की शाखाएं मानी गई हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में आगमों का हिन्दी अनुवाद करने वाले अमोलक ऋषि ऋषिलवजी की परम्परा के थे।

ऋषिलवजी की सहनशीलता और क्षमाभाव से उनकी लोक में प्रसिद्धि हुई। वे जन-जन के श्रद्धास्पद बने।

समय-संकेत

ऋषिलवजी ने बजरंग यतिजी के पास वी. नि. २१६२ (वि. १६९२) में दीक्षा ग्रहण की। खम्भात में उन्होंने वी. नि २१७४ (वि. सं. १७०४) में नवीन दीक्षा ग्रहण की और सोमजी ऋषि आदि दो व्यक्तियों को वी. नि. २१८० (वि. सं. १७१०) में उन्होंने दीक्षा प्रदान की।

ऋषिलवजी वी. नि. २२वीं शताब्दी (वि. १७वीं का उत्तरांश व १८वीं का पूर्वांश) के क्रियोद्धारक आचार्य थे।

लोकोद्धार की दिशा में ऋषिलवजी का श्रम और समर्पण असाधारण था।

ऋषिलवजी के बाद ऋषि सोमजी ने ऋषि-परम्परा का कुशलता से संचालन किया।

ऋषिलवजी की परम्परा आज भी विद्यमान है।

आनन्द ऋषिजी इस परम्परा के प्रभावक आचार्य थे।

महाराष्ट्र में ऋषि परम्परा का अधिक प्रभाव है।

१२३. धर्मध्वज आचार्य धर्मसिंह

आचार्य धर्मसिंहजी स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। यथा नाम तथा गुण के अनुसार वे धर्म की धुरा को वहन करने में सक्षम एवं सिंह की भांति निर्भीक थे। लोंकाशाह की विचारधारा के परिपोषक क्रियोद्धारक जीवराजजी आदि कई आचार्य हुए हैं। उनमें धर्मसिंह तृतीय क्रियोद्धारक थे।

जन्म एवं परिवार

धर्मसिंहजी का जन्म सौराष्ट्र के जामनगर में हुआ। उनके पिता का नाम जिनदास एवं माता का नाम शिवादेवी था। उनका गोत्र दशाश्रीमाली था।

जीवन-वृत्त

आचार्य धर्मसिंहजी में कई योग्यताएं थीं। उनकी स्मरण शक्ति विलक्षण थी। एक सहस्र श्लोक दिन भर में कण्ठस्थ कर लेना उनकी तीव्र बुद्धि का परिचायक था। वे अवधानकार भी थे। दो हाथ एवं दो पैरों के सहारे चार कलमों से एक साथ लिख लेना उनकी विरल विशेषता थी।

बचपन से ही धर्म के प्रति उनका सहज आकर्षण था। पन्द्रह वर्ष की वय में लोंकागच्छ के यति शिवजी का उपदेश सुना। उनको वैराग्य हुआ। पिताश्री जिनदासजी और धर्मसिंहजी दोनों ने यति शिवजी से दीक्षा ग्रहण की। यति शिवजी रत्नसिंहजी के शिष्य थे।

दीक्षा लेने के बाद धर्मसिंहजी ने आगमों का गम्भीरता से अध्ययन किया। सोचा कि यतियों की आचार क्रिया आगम सम्मत नहीं है। शिथिलाचार एवं सुविधावाद पनपता जा रहा है। मैंने आत्म कल्याण के लिए घर छोड़ा है एवं वीरवाणी के आधार पर संयम जीवन स्वीकार किया है। अतः मुझे हर परिस्थिति में आगम सम्मत मुनि चर्या की आराधना करनी चाहिए। धर्मसिंह जी ने अपने विचार यति जी के सामने रखे, उनसे क्रियोद्धार करने की बात कही। धर्मसिंहजी के विचारों से यतिजी सहमत नहीं हुए। उन्होंने क्रियोद्धार करने के लिए अपनी असमर्थता प्रकट की। धर्मसिंहजी ने वर्षों तक प्रतीक्षा की परन्तु काम नहीं बना। एक दिन यतिजी ने कहा "शिष्य! तुम दरियापीर नामक स्थान (यक्षाधिष्ठित स्थान) में रात्रि निवास करने की हिम्मत दिखाओ और वहां से सकुशल लौट आओ तो मैं तुम्हें क्रियोद्धार करने का आदेश दे सकता हूं।"

धर्मसिंहजी इस कड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। यतिजी से आशीर्वाद एवं अनुमति प्राप्त कर वहां से चले। अहमदाबाद के दरियापुरी दरवाजे पर जाकर रुके। वहां उन्होंने प्रथम धर्मदेशना दी। निर्भीकता एवं साहस के साथ लोंकाशाह की नीति का बिगुल बजाया। धर्मसिंह जी द्वारा क्रियोद्धार करने का यह प्रसंग वी. नि. २१६२ (वि. सं. १६९२) का है।

धर्मसिंहजी आगम के गम्भीर अध्येता थे। उनका शास्त्रीय अध्ययन तलस्पर्शी था। वाणी में ओज था। सैकड़ों व्यक्तियों ने उनके विचारों का अनुगमन किया। कई व्यक्ति उनसे दीक्षित हुए एवं मुनि-जीवन में प्रवेश किया।

क्रियोद्धारक धर्मसिंहजी का मुख्य विहरण क्षेत्र गुजरात व सौराष्ट्र था। श्रमण जीवराजजी ने लोंकाशाह के मत का अनुगमन करते हुए समय साधना हेतु नियमोपनियम बनाए और आचार्य धर्मसिंहजी ने उनमें दृढ़ता प्रदान की।

यति सम्प्रदाय से अलग होने के बाद आचार्य धर्मसिंहजी ने पहला प्रवचन दरियापुरी दरवाजे पर किया अतः उनका सम्प्रदाय दरियापुरी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

साहित्य

श्री धर्मसिंहजी की मेधा निर्मल थी। उन्होंने २७ जैन आगमों पर टब्बों की रचना की। उनके टब्बे दरियापुरी टब्बे के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन टब्बों की रचना धर्मसिंहजी ने क्रियोद्धार करने से पहले की थी। इस रचना कार्य में देवजी यति की प्रेरणा थी। देवजी यति के स्थान पर कहीं शिवजी यति का भी उल्लेख आता है। धर्मसिंहजी को शिवजी यति का शिष्य बताया जाता है।

समय-संकेत

स्थानकवासी सम्प्रदाय में आचार्य धर्मसिंहजी का नाम क्रियोद्धारक के रूप में प्रसिद्ध है। उनका स्वर्गवास वी. नि. २१९८ (वि. सं. १७२८) में आश्विन कृष्णा चतुर्थी को हुआ।

आचार्य धर्मसिंह जी का टब्बा साहित्य के रूप में जैन समाज को विशेष अवदान है। जैन आगम ग्रन्थों के गूढ़ शब्दों को समझने के लिए ये टब्बे उपयोगी बने।

१२४. धर्मोद्योतक आचार्य धर्मदास

धर्मदासजी जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। वे सत्य गवेषक, कुशल व्याख्याता और अपने धर्मसंघ के सफल संचालक थे। क्रियोद्धारक आचार्यों की गणना में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

जन्म एवं परिवार

धर्मदासजी गुजरात के थे। अहमदाबाद जिलान्तर्गत सरखेज ग्राम में उनका जन्म वी. नि. २१७१ (वि. १७०१) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ। उनकी जाति भावसार थी। उनके पिता का नाम जीवनदास और माता का नाम डाहीबाई था। घर का वातावरण धार्मिक था। धार्मिक संस्कारों के अनुरूप बालक का नाम धर्मदास रखा गया।

जीवन-वृत्त

बालक धर्मदास में धार्मिक अभिरुचि थी। लोंकागच्छ के विद्वान् यति तेजसिंहजी से बालक ने धर्म की प्राथमिक शिक्षा पाई। धर्म का शुद्ध रूप प्राप्त करने की उसमें आन्तरिक जिज्ञासा जागृत हुई। इसी हेतु बालक ने कई धार्मिक गुरुजनों से सम्पर्क किया। श्रावक कल्याणजी के साहचर्य से धर्मदास जी ने लगभग दो वर्ष तक पोतियाबंध धर्म सम्प्रदाय में साधना की। ऋषिलवजी और धर्मसिंहजी से भी धार्मिक चर्चाएं हुईं पर बालक धर्मदास को कहीं सन्तोष नहीं मिला।

साहस का सम्बन्ध अवस्था के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। बालक धर्मदास की अवस्था उस समय सोलह वर्ष की थी। माता-पिता का आदेश प्राप्त कर वी. नि. २१८६ (वि. १७१६) में अदम्य उत्साह से धर्मदास ने स्वयं ही मुनि दीक्षा ग्रहण की। बालक धर्मदास मुनि धर्मदास बन गए।

मुनि धर्मदासजी को प्रथम भिक्षा में एक कुम्भकार के घर से भस्म प्राप्त हुई। यह शुभ शकुन था। भस्म हवा के साथ उड़ी और चारों तरफ फैल गई। भस्म की तरह ही मुनि धर्मदासजी की धर्म-देशना विस्तार पाती गई। धर्म-संघ की वृद्धि हुई। मुनि धर्मदासजी को वी. नि. २१९१ (वि. सं. १७२१) में आचार्य पद पर नियुक्त किया गया।

उस समय स्थानकवासी धर्मसंघ में धर्मदासजी का शिष्य परिवार काफी बड़ा था। उनके ९९ शिष्य थे।

धर्मदासजी उग्र विहारी, तीव्र तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी और स्वाध्यायी थे। धर्मदासजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ग्वालियर के महाराजा उनके भक्त बने। उन्होंने वी. नि. २२३४ (वि. १७६४) आषाढ़ शुक्ला सप्तमी के दिन शिकार और मांस-मदिरा का सर्वथा परित्याग किया। इससे जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

धर्मसंघ की सुव्यवस्था हेतु धर्मदासजी ने वी. नि. २२४२ (वि. सं. १७७२) में धारा नगर में अपने २२ विद्वान् शिष्यों के २२ दल बना दिए। तब से यह संघ बाईस टोला के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसी वर्ष धर्मदासजी के मुनि लूणकरण नामक एक शिष्य ने यावज्जीवन अनशन व्रत (संथारा) लिया। उत्तम कार्य को सबल व्यक्ति ही सफल कर सकते हैं, निर्बल नहीं। धर्मदासजी के शिष्य में मनोबल नहीं था। क्षुधावेदना की तीव्रता ने मुनि को अपने संकल्प से विचलित कर दिया। आचार्य धर्मदासजी यथार्थ में धर्म के दास थे। धर्म प्रभावना के लिए अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने वाले बलिदानी आचार्य थे। उस समय जैन धर्म की कीर्ति के लिए अपना उत्तराधिकार शिष्य मूलचन्द को सौंपकर अनशनस्थ मुनि के स्थान पर स्वयं अनशन ग्रहण कर लिया।

किसी भी व्रत के ग्रहण की सफलता के लिए उसका (व्रत का) जागरूकता के साथ अन्तिम क्षण तक पालन करना चाहिए। धर्मदासजी अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ और पूर्ण सजग थे। उनका अनशन अत्यन्त उल्लास के साथ

सानन्द सम्पन्न हुआ।

धर्मदासजी संकल्पशक्ति के धनी थे। धर्मसंघ को लोकापवाद से बचाने के लिए अनशनस्थ शिष्य का आसन ग्रहण कर उन्होंने संसार को बताया "पणया वीरा महावीहिं' धीर और वीर व्यक्ति ही त्याग के महापंथ पर समर्पित हो सकते हैं। आचार्य धर्मदासजी के जीवन का यह प्रभावी प्रसंग निःसन्देह उन्हें धर्ममूर्ति के रूप में प्रस्तुत करता है।

समय-संकेत

धर्मदासजी का दीक्षा ग्रहण समय वी. नि. २१८६ (वि. सं. १७१६) है। वे इक्कीस वर्ष की उम्र में आचार्य बने। उन्होंने लगभग ५१ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व सम्भाला। सात दिन के अनशन में वी. नि. २२४२ (वि. सं. १७७२) में उनका स्वर्गवास हुआ।

श्री धर्मदासजी के ९९ शिष्यों ने मालव, मेवाड़, मारवाड़ आदि क्षेत्रों में धर्म प्रचार किया। श्री धर्मदासजी के प्रमुख शिष्य मूलचन्दजी ने गुजरात और सौराष्ट्र में धर्म प्रचार किया। मूलचन्दजी के सात शिष्य थे। शिष्यों से पृथक्-पृथक् धर्म सम्प्रदाय बने।

लीमड़ी सम्प्रदाय, गोंडल सम्प्रदाय, आठ कोटि कच्छी सम्प्रदाय आदि मूलचन्दजी के शिष्य सम्प्रदाय की शाखाएं हैं। लीमड़ी सम्प्रदाय काफी प्रसिद्ध है।

क्रियोद्धारक धर्मदासजी १८वीं शताब्दी के प्रभावक आचार्य थे।

१२५. भव्यजन-बोधक आचार्य भूधर

भूधरजी स्थानकवासी परम्परा के प्रभावशाली आचार्य थे। भूधरजी अनुभवी एवं व्यवहारकुशल थे। गृहस्थ जीवन में भी उन्होंने सम्मान का जीवन जीया। उनकी सामाजिक कार्यों में रुचि थी। वे दूसरों की भलाई के लिए तैयार रहते थे। मुनि जीवन में उन्होंने जन-कल्याण के लिए उल्लेखनीय कार्य किए। उनके साधनामय एवं तपोमय जीवन का धार्मिक जनता पर प्रभाव था।

गुरु-परम्परा

भूधरजी के दीक्षा गुरु स्थानकवासी परम्परा के आचार्य धन्नाजी थे। पोतियाबंध सम्प्रदाय से प्रभावित होकर भूधरजी ने कुछ समय तक उनके सम्प्रदाय का अनुगमन किया था। यहां उन्हें पूर्ण सन्तोष नहीं मिल सका। एक बार उनका आचार्य धन्नाजी से सम्पर्क हुआ। भूधरजी को आचार्य धन्नाजी के विचारों ने प्रभावित किया। सम्यक् प्रकार से चिन्तन करने के बाद भूधरजी ने पोतियाबंध सम्प्रदाय को छोड़कर आचार्य धन्नाजी की परम्परा को स्वीकार किया।

जन्म एवं परिवार

राजस्थानान्तर्गत नागौर क्षेत्र (मारवाड़) में मुणोत परिवार में वी. नि. २१८२ (वि. सं. १७१२) में भूधरजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम माणकचन्दजी और माता का नाम रूपादेवी था। सोजत निवासी शाहदलाजी रातड़िया मूथा के यहां भूधरजी का विवाह हुआ। पत्नी का नाम कंचनदेवी था।

जीवन-वृत्त

भूधरजी का बाह्य व्यक्तित्व भी विशेष प्रभावशाली था। उनके शरीर का गठन सुदृढ़ था। उनको प्रकृति से रूप-सम्पदा प्राप्त थी। उनकी आंखों में लाल झांई दिखाई देती थी। वे बात करने में चतुर थे। उन्हें बचपन से सैनिक शिक्षा प्राप्त करने की रुचि थी। अपनी रुचि के अनुसार उन्होंने युद्ध कला में प्रशिक्षण पाया। वे उत्तरोत्तर अपने क्षेत्र में विकास करते रहे। योग्यता के आधार पर एक दिन उनकी सेना के उच्च अधिकारी पद पर नियुक्ति हुई। सेना के अधिकारी पद पर उन्होंने कई वर्षों तक कार्य किया।

भूधरजी साहसी थे। फौज में रहने के कारण उनके इस गुण का अधिक विकास हुआ। कठिन-से-कठिन परिस्थिति का वे निर्भयवृति से सामना कर लेते। एक बार कंटालिया गांव को लूटने के लिए डाकुओं का दल आया। नागरिकों की सुरक्षा के लिए भूधरजी ने डाकुओं का सामना किया। डाकुओं का दल बड़ा था पर भूधरजी ने हिम्मत नहीं हारी। उन्हें पकड़ने की कोशिश करते रहे। डाकुओं ने तलवार से उनके ऊंट पर वार किया जिससे ऊंट घायल होकर गिर पड़ा। ऊंट को तड़फते हुए देखकर उनको संसार से विरक्ति हो गई। यह घटना कंटालिया ग्राम की है।

इस घटना के बाद मालवाप्रदेश में स्थानकवासी परम्परा के आचार्य धन्नाजी से भूधरजी का सम्पर्क हुआ। उनका प्रेरणादायी धार्मिक प्रवचन सुना। सन्त धर्मदासजी से भी उनकी आध्यात्मिक चर्चाएं हुई। सन्तों के पुनः-पुनः सम्पर्क ने भूधरजी की जीवन धारा को अध्यात्म की ओर उन्मुख किया, मुनि जीवन स्वीकार करने का भाव जगा। आचार्य धन्नाजी के पास उन्होंने वी. नि. २२२१ (वि. १७५१) फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन मुनि दीक्षा ग्रहण की।

भूधरजी स्वभाव से सरल थे एवं सबके प्रति उनका नम्र व्यवहार था। वे अत्यन्त सरल एवं मधुर भाषः में लोगों को उपदेश देते एवं ग्रामानुग्राम विहरण करते थे। एक बार उनको विरोधी पक्ष ने ऐसे स्थान पर ठहराया जहां भूत और प्रेतों का भय था। लोगों के दिमाग में

उस स्थान के प्रति कई भ्रान्तियां थीं। भूधरजी वहां रात को निश्चिन्त होकर सोए। लोगों ने उनको सुबह प्रतिदिन की भांति स्वस्थ एवं हंसते मुस्कराते हुए देखा। इस स्थिति से सभी आश्चर्यचकित रह गए।

भूधरजी भाग्यवान् आचार्य थे। उनके शिष्य परिवार में जेतसिंहजी, जयमलजी, कुशलोजी, जगमालजी आदि ९ शिष्य प्रमुख थे। स्थानकवासी परम्परा के सुविश्रुत आचार्य रघुनाथजी भी उनके प्रमुख शिष्यों में थे।

समय-संकेत

भूधरजी के आचार्यकाल के जीवन प्रसंग प्रेरक हैं। भूत-प्रेत से कम्पित दिलों में अभय का संचार करने वाले हैं। उन्होंने संयमी जीवन का जागरूकता से पालन किया। धर्मसंघ का संचालन कुशलता से किया। उग्र तपस्वी निर्भीक साधक भूधरजी का स्वर्गवास वी. नि. २२७३ (वि. सं. १८०३) आसोज शुक्ला दशमी को हुआ।

१२६. प्रबल प्रचारक आचार्य रघुनाथ

आचार्य रघुनाथजी का जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान था। जनता पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव था। उस समय के प्रभावी यतियों के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। इन शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त कर आचार्य रघुनाथजी ने अपने धर्मसंघ का नाम उजागर किया।

गुरु-परम्परा

स्थानकवासी परम्परा में क्रियोद्धारक धर्मदासजी प्रभावी आचार्य हुए। उनके दूसरे शिष्य धन्नाजी थे। धन्नाजी के शिष्य भूधरजी थे और भूधरजी के शिष्य रघुनाथजी थे। जैतसिंहजी, जयमलजी, कुशलोजी आदि श्रमण उनके गुरुबन्धु थे। टोडरमलजी, नगराजजी आदि उनके प्रमुख शिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्य रघुनाथ जी का जन्म सोजन सिटी में ओसवाल परिवार में वी. नि. २२३६ (वि. सं. १७६६) माघ महीने के शुक्ल पक्ष में हुआ। जाति से वे बल्लावत थे। उनके पिता का नाम नथमल जी एवं माता का नाम सोमादेवी था। नथमलजी प्रसिद्ध व्यक्ति थे। वे मिलनसार एवं सोजत के हाकिम थे।

जीवन-वृत

रघुनाथ जी बचपन से ही अध्ययनशील थे। धार्मिक विषयों में वे अधिक रुचि रखते थे। एक बार अपने मित्र की मृत्यु से उन्हें गहरा धक्का लगा। वे अत्यधिक मानसिक वेदना से व्यथित हो चामुण्डादेवी के मन्दिर में प्राण त्याग करने जा रहे थे। मार्ग में सन्त भूधरजी का योग मिला। तीन दिन उनके साथ चर्चा की। चर्चा का प्रतिफल बोध-प्राप्ति के रूप में प्रकट हुआ। रघुनाथजी ने साधु-जीवन स्वीकार करने का निश्चय किया। रत्नवती कन्या से उनका सम्बन्ध तय किया हुआ था। उस सम्बन्ध को छोड़कर रघुनाथजी वी. नि. २२५७ (वि. सं. १७८७) ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया बुधवार को भूधरजी के पास दीक्षित हुए।

दीक्षा लेने के बाद श्री रघुनाथजी ने धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त पुराण, वेद, उपनिषद् आदि जैनेतर ग्रन्थों का भी उन्होंने मननपूर्वक वाचन किया।

श्रुतधर्म की साधना के साथ तपधर्म की आराधना में भी वे विशेष रूप से प्रवृत्त हुए। उन्होंने छोटी-बड़ी कई प्रकार की तपस्याएं कीं। तप के पारणक में भी वे विगय का संयम रखते थे। तीन विगय से अधिक नहीं लेते थे।

दीक्षा लेने के कुछ ही वर्षों बाद उनका नाम प्रभावक मुनियों में गिना जाने लगा। वी. नि. २२७४ (वि. सं. १८०४) चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन वे आचार्य पद से मंडित हुए।

विभिन्न अध्यात्म-प्रधान प्रवृत्तियों से उन्होंने अपने धर्मसंघ को विकास दिया एवं कुशलता से आचार्य पद का दायित्व सम्भाला। समदड़ी, सादड़ी, पाली, जालोर आदि काफी गांव उनके धर्म प्रचार के मुख्य क्षेत्र थे।

समय-संकेत

जीवन के संध्याकाल में आचार्य रघुनाथजी पाली में थे। उनको १७ दिन का अनशन आया। वे ८० वर्ष की अवस्था में वी. नि. २३१६ (वि. सं. १८४६) माघ शुक्ला एकादशी के दिन स्वर्ग को प्राप्त हुए।

१२७. जितेन्द्रिय आचार्य जयमल्ल

आचार्य जयमल्लजी स्थानकवासी परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। वे तपोनिष्ठ, स्वाध्याय प्रेमी, जितेन्द्रिय एवं वैरागी सन्त थे।

गुरु-शिष्य-परम्परा

आचार्य जयमल्लजी के दीक्षा गुरु स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य भूधरजी थे। धर्मदासजी के दूसरे शिष्य धन्नाजी थे। उनके शिष्य भूधरजी थे। आचार्य रघुनाथजी उनके गुरु बन्धु (एक गुरु से दीक्षित) थे। पट्टशिष्य परम्परा में आचार्य जयमल्लजी के बाद क्रमशः रायचन्दजी, आसकरणजी, शवलदासजी, हीरादासजी, किस्तूरचन्दजी आदि आचार्यों ने कुलशतापूर्वक उनके संघ का नेतृत्व किया।

जन्म एवं परिवार

आचार्य जयमल्लजी का जन्म राजस्थानान्तर्गत 'लाम्बिया' ग्राम में वी. नि. २२३५ (वि. सं. १७६५) में हुआ। वे बीसा ओसवाल थे एवं गोत्र से समदड़िया महता थे। पिता का नाम मोहनदास, माता का नाम महिमादेवी एवं अग्रज का नाम रीड़मल था। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मी था।

जीवन-वृत्त

बाईस वर्ष की अवस्था में जयमल्लजी का विवाह कुमारी लक्ष्मी के साथ हुआ। वैवाहिक सूत्र में बंधने के बाद वे एक बार व्यापारिक प्रयोजन से मेड़ता गए। स्थानकवासी परम्परा के आचार्य भूधरजी से उन्होंने सुदर्शन सेठ का व्याख्यान सुना। ब्रह्मचर्य की महिमा का प्रभाव उनके मानस में अंकित हो गया। उन्होंने जीवन की गहराइयों में झांका। भोग-विलास को निस्सार समझकर आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा की। उनके हृदय में वैराग्य की तरंगें तीव्रगति से तरंगित हुईं। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की प्रबलता ने जीवन की धारा को बदला, वे संयम पथ पर बढ़ने के लिए तत्पर हुए। उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मी गौना लेकर ससुराल लौटी नहीं थी, विवाह के छह मास ही हुए थे कि जयमल्लजी वी. नि. २२५७ (वि. सं. १७८७) मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया के दिन आचार्य भूधरजी के पास दीक्षित हो गए। जयेष्ठ शुक्लपक्ष में उनका विवाह हुआ। कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को उन्होंने उपदेश सुना एवं मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया के दिन वे संयम मार्ग में प्रविष्ट हो गए। धर्मपत्नी लक्ष्मी, नाम से लक्ष्मी और गुणों से भी लक्ष्मी थी। वह अपने पति के साथ संयम-धर्म को स्वीकार कर अलौकिक लक्ष्मी के रूप में प्रकट हुई। दीक्षा लेने के बाद जयमल्लजी ने तपःसाधना को अपने जीवन का प्रमुख अंग बनाया। सोलह वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप किया। दीक्षागुरु आचार्य भूधरजी के स्वर्गारोहण के पश्चात् सोकर नींद न लेने का संकल्प किया एवं पचास वर्ष तक पूर्ण जागरूकता के साथ इस दुर्धर संकल्प को निभाया। *'निद्दंच न बहुमन्नेज्जा'* भगवान् महावीर की वाणी का यह पद्य उनकी साधना का प्रमुख अंग था।

दिल्ली, आगरा, पंजाब, मालवा एवं राजस्थान उनके प्रमुख विहार क्षेत्र एवं प्रचार-क्षेत्र थे। बीकानेर में सर्वप्रथम धार्मिक बीज वपन का श्रेय स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से इन्हें है।

तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के क्रान्तिकारी विचारों के वे प्रबल समर्थक थे। आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी परम्परा में आचार्य रघुनाथजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आचार्य जयमल्लजी तथा आचार्य रघुनाथजी गुरु भाई थे। दोनों में आचार्य रघुनाथजी दीक्षा में बड़े थे। अतः आचार्य भिक्षु के आचार्य जयमल्लजी चाचा गुरु थे।

स्थानकवासी संघ से सम्बन्ध-विच्छेद होने के बाद भी आचार्य भिक्षु से जयमल्लजी का कई बार सौहार्दपूर्ण

मिलन हुआ। शास्त्रीय आधार पर चिन्तन-मनन चला। विचार-सरिता की दो धाराएं निकट आई थीं पर किसी परिस्थितिवश वे एक नहीं हुईं। आचार्य जयमल्लजी की हार्दिक सहानुभूति आचार्य भिक्षु के साथ थी।

तेरापंथ के द्वितीय आचार्य भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी कई दिन आचार्य भिक्षु के पास रहे। किसनोजी की प्रकृति कठोर थी। संघर्षमय स्थिति में उनका निभना कठिन था। तेरापंथ संघ की नवीन दीक्षा ग्रहण से पूर्व आचार्य भिक्षु ने उन्हें जयमल्लजी को सौंप दिया। जयमल्लजी द्वारा उनका सहर्ष स्वीकरण प्रकारान्तर से आचार्य भिक्षु के प्रति सहानुभूति का ही एक रूप था। प्रस्तुत घटना का उल्लेख जयमल्लजी के शब्दों में इस प्रकार हुआ है "भीखणजी बड़े चतुर व्यक्ति हैं, उन्होंने एक ही काम से तीन घरों में 'बधावणा' कर दिया। हमने समझा कि एक शिष्य बढ़ गया, किसनोजी ने समझा कि स्थान जम गया और स्वयं भीखणजी ने समझा दुविधा टली।"

साहित्य

आचार्य जयमल्लजी तपस्वी, धर्म-प्रचारक एवं साहित्यकार थे । उनके जीवन में तपःसाधना एवं श्रुतसाधना का अनुपम योग था। उनकी साहित्य रचना सरस एवं सजीव थी। जिस किसी विषय को उठाया उसका मुक्तभाव से विवेचन किया। स्तवन-प्रधान, उपदेश-प्रधान एवं जीवन-चरित्र प्रधान गीतिकाओं से गुम्फित 'जयवाणी' आचार्य जयमल्लजी की विविध रचनाओं का सुन्दर संकलन है।

संयमभाव का विकास आचार्य जयमल्लजी ने दीक्षा लेने के बाद सोलह वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप (एक दिन भोजन और एक दिन उपवास) किया एवं सोकर नींद नहीं लेने के दृढ़-प्रण को पचास वर्ष तक निभाया। इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि जयमल्लजी के जीवन में अपने मन और इन्द्रियों पर सबल नियमन एवं साधना का विशेष विकास था।

समय-संकेत

नागौरवासियों को लगभग सोलह वर्ष तक वृद्धावस्था में आचार्य जयमल्लजी का सान्निध्य मिला। उनका इकत्तीस दिवसीय अनशन के साथ वी. नि. २३२३ (वि. सं. १८५३) वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को स्वर्गवास हुआ।

१२८. सत्य-संधित्सु आचार्य भिक्षु

आचार्य भिक्षु तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक थे। वे युग संस्थापक, क्रान्तद्रष्टा, आत्म-संगीत के उद्गाता एवं सत्य के महान् अनुसंधाता थे। उनके जीवन का सर्वस्व ही सत्य था। आगममंथन करते समय प्राप्त सत्य की स्वीकृति में सम्प्रदाय का व्यामोह, सुविधावाद का प्रलोभन एवं पद-सम्मान का आकर्षण उनके लिए बाधक नहीं बना। उन्होंने सत्य की अनुभूति को दुनिया के सामने निर्भीकतापूर्वक अभिव्यक्त किया। उनके सार्वभौमिक अहिंसात्मक घोष से धार्मिक जगत् में एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ।

गुरु-शिष्य-परम्परा

आचार्य भिक्षु तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक थे, अतः तेरापंथ धर्मसंघ की गुरु परम्परा उनसे ही प्रारम्भ हुई। उनकी शिष्य-उत्तराधिकारी-परम्परा में क्रमशः आचार्य भारमलजी, ऋषिरायजी, जयगणी, मघवागणी, माणकगणी, डालगणी, कालूगणी एवं तुलसीगणी हुए। सभी आचार्यों ने धर्मसंघ को सम्यक् संरक्षण दिया एवं वर्तमान में आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी एवं युवाचार्य श्री महाश्रमण जी इस धर्मसंघ का कुशल संचालन कर रहे हैं।

जन्म एवं परिवार

आचार्य भिक्षु का जन्म वी. नि. २२५३ (वि. सं. १७८३, ई. सन् १७२६) आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन जोधपुर प्रमण्डल में कंटालिया ग्राम के सकलेचा परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम शाह बल्लूजी एवं माता का नाम दीपांबाई था। आचार्य भिक्षु का प्रारम्भिक नाम 'भीखण' था।

जीवन-वृत्त

दीपांबाई की कुक्षि से जन्मा सकलेचा परिवार का यह कुलदीप यथार्थ में ही कुलदीपक सिद्ध हुआ। गर्भावस्था में माता ने सिंह का स्वप्न देखा था। यह स्वप्न शिशु के शुभ भविष्य का संकेत था। आचार्य भिक्षु संयम पथ पर सिंह की भाँति निर्बाध गति से अविरल बढ़ते रहे।

आचार्य भिक्षु का शिशु-जीवन विविध जिज्ञासाओं से भरा हुआ उभरा और वैराग्य रस से परिपूर्ण होकर धार्मिकता की ओर ढलता गया। विविध धर्म-सम्प्रदायों के सम्पर्क ने आचार्य भिक्षु को सत्य का संधित्सु बना दिया। स्थानकवासी परम्परा ने जिज्ञासु हृदय को अधिक प्रभावित किया।

एक कुलीन कन्या के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। गृहस्थ जीवन में आबद्ध होकर भी वे कमलतुल्य निर्लेप थे। उनके अन्तःस्थल में विरक्ति का निर्झर बह रहा था। पूर्ण संयमी जीवन स्वीकार करने की भावना उनमें लम्बे समय तक रही। पत्नी के स्वर्गवास के बाद विरक्ति की धारा और तीव्र हो गई। माँ के लिए संतोषप्रद व्यवस्था कर वे वी. नि. २२७८ (वि. १८०८, ई. सन् १७५१) में स्थानकवासी आचार्य रघुनाथजी से दीक्षित हुए।

वे आठ वर्ष तक उनके साथ रहे। उन्होंने आगम ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। उनके सत्यान्वेषी मानस को प्रचलित परम्पराओं से संतोष न मिला। विचार भेद के कारण वी. नि. २२८७ (वि. सं. १८१७, ई. सन् १७६०) चैत्र शुक्ला नवमी को वे चार साथियों सहित स्थानकवासी परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद कर पृथक् हो गए। पहला विश्राम उन्होंने 'सुधरी' (बगड़ी) की श्मशान भूमि में जैतसिंह जी की छतरी में किया।

आचार्य भिक्षु ने इसी वर्ष 'केलवा' में आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा को सायंकाल ७ से ८ बजे तक के समय में अपने साथियों सहित नई दीक्षा ग्रहण की। यही तेरापंथ की स्थापना का दिवस था।

आत्मबली श्री भिक्षु का चिन्तनपूर्वक उठाया हुआ

यह कदम पूर्व परम्पराओं को चुनौती और अध्यात्म क्रांति का सूत्रपात था।

आचार्य भिक्षु के सामने अनेक संघर्ष आए। विकट परिस्थितियां चट्टान की भांति उनके पथ में उपस्थित हुई परन्तु संयम के पथ पर बढ़ते हुए उनके चरणों को काल व देशजनित किसी प्रकार की बाधा अवरुद्ध नहीं कर सकी।

आचार्य भिक्षु के क्रांतिकारी निर्णय का लक्ष्य विशुद्ध आचार परम्परा का वहन था। उन्होंने कभी भी सम्प्रदाय बनाने की कोई योजना पहले नहीं सोची और न अपने दल का कोई नामकरण किया।

जोधपुर के तत्कालीन दीवान फतेहचन्दजी सिंघवी ने आचार्य भिक्षु के विचारों के अनुसार तेरह श्रावकों को दुकान में सामायिक करते हुए देखा। उनसे आचार्य भिक्षु के सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त करते समय उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके साथ श्रमणों की संख्या तेरह है। राजस्थानी भाषा में तेरह की संख्या को तेरा कहा जाता है। पार्श्व में खड़े एक भोजक कवि ने तत्काल एक पद की रचना की। संख्या के आधार पर आचार्य भिक्षु के दल को 'तेरापंथी' नाम से सम्बोधित किया। भोजक कवि के मुख से दिया हुआ यह नाम चर्चित होता हुआ आचार्य भिक्षु के कानों तक पहुंचा। उनकी मेधा ने तेरापंथी शब्दावली के साथ व्यापक अर्थ संयोजना की। तेरापंथ को प्रभु का मार्ग बताकर उस नाम को स्वीकार किया। तात्त्विक भूमिका पर तेरापंथ शब्द की व्याख्या में पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन, गुप्ति इन तेरह नियमों की साधना को जोड़ा।

दीर्घदर्शी, सुविनीत श्रमण थिरपालजी एवं फतेहचन्दजी इन दो सन्तों की विशेष प्रार्थना पर वे तप-आराधना के साथ जन-उद्बोधन कार्य में प्रवृत्त हुए। उनके आगम-आधारित उपदेशों का जन-मानस पर अप्रत्याशित प्रभाव पड़ा। लोगों के चरण उनके पीछे गए। कई व्यक्ति श्रावक भूमिका में प्रविष्ट हुए। कई श्रमण बने। चार वर्ष तक किसी बहिन की श्रमण दीक्षा नहीं हुई। एक व्यक्ति ने आकर आचार्य भिक्षु से कहा "भीखणजी! तुम्हारे संघ में तीन ही तीर्थ हैं।" आचार्य भिक्षु मुस्कराते हुए बोले "इस बात की मुझे कोई चिन्ता नहीं, मोदक खण्डित है परन्तु शुद्ध सामग्री से बना हुआ है।"

तेरापंथ के स्थापना-काल में साधुओं की संख्या तेरह थी। उसी वर्ष यह संख्या कम होकर छह हो गई। आगम विशेषज्ञ हेमराजजी स्वामी की दीक्षा वी. नि. २३२३ (वि. सं. १८५३, ई. सन् १७९६) में हुई। उससे पहले सन्तों में १३ की संख्या पुनः कभी नहीं हुई परन्तु हेमराजजी स्वामी की दीक्षा के समय तेरह का अंक पूर्ण हुआ तथा उसके बाद वह आगे बढ़ता गया।

आचार्य भिक्षु के शासनकाल में १०५ दीक्षाएं हुई। उनमें ३५ व्यक्ति पृथक् हो गए पर आचार्य भिक्षु के सामने संख्या का व्यामोह कभी नहीं था। उनके सम्मुख आचार-विशुद्धि का प्रश्न प्रमुख था।

अनुशासन की भूमिका पर उनकी नीति स्वस्थ व सुदृढ़ थी। उन्होंने पांच साध्वियों को एक साथ संघमुक्त किया पर अनुशासनहीनता व आचारहीनता को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया।

तेरापंथ संघ के द्वितीय आचार्य भारमलजी स्वामी को उन्होंने वी. नि. २३०२ (वि. सं. १८३२, ई. सन् १७७५) में अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसी समय सर्वप्रथम उन्होंने संघीय मर्यादाओं का निर्माण किया। आचार्य में संघ की शक्ति को केन्द्रित कर उन्होंने सुदृढ़ संगठन की नींव डाली। इससे अपने-अपने शिष्य बनाने की परम्परा का मूलोच्छेद हो गया। भावी आचार्य के मनोनयन का दायित्व भी उन्होंने वर्तमान आचार्य को सौंपा।

आज तेरापंथ संघ सुसंगठित और सुव्यवस्थित है, इसका प्रमुख श्रेय आचार्य भिक्षु की उन मर्यादाओं तथा एक आचार्य, एक समाचारी और एक विचार इस महत्त्वपूर्ण त्रिपदी को है।

आचार्य भिक्षु ने जिनवाणी के आधार पर अनेक नए तथ्य उजागर किए। उनकी अहिंसा और दान-दया विषयक मान्यता सर्वथा मौलिक और वैज्ञानिक है।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन समता पर आधारित थी। बड़ों के लिए छोटों की हिंसा व पंचेन्द्रिय जीवों की सुरक्षा के लिए एकेन्द्रिय प्राणियों के प्राणों का हनन आचार्य भिक्षु की दृष्टि में जिनशासनानुमोदित नहीं है।

उनकी अध्यात्म व व्यवहार की भूमिका भिन्न थी। उन्होंने कभी और किसी प्रसंग पर दोनों को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नहीं किया। उनके अभिमत से व्यवहार और अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना, सममूल्य के कारण घृत तथा तम्बाकू को सम्मिश्रित करने जैसा था।

दान-दया के विषय में आचार्य भिक्षु ने लौकिक एवं लोकोत्तर की भेद-रेखा खींचकर जैन समाज के समक्ष नया चिन्तन दिया। उस समय सामाजिक सम्मान का मापदण्ड दान-दया पर अवलम्बित था। स्वर्गोपलब्धि की मान्यताएं भी दान-दया के साथ सम्बद्ध थीं। आचार्य भिक्षु ने लौकिक दान-दया की व्यवस्था को कर्त्तव्य तथा सहयोग बताकर मौलिक सत्य का उद्घाटन किया। साध्य-साधन के विषय में आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण स्पष्ट था। उनके अभिमत से शुद्ध साधन द्वारा ही शुद्ध साध्य की प्राप्ति सम्भव है। रक्त-सना वस्त्र कभी रक्त से शुद्ध नहीं होता, हिंसाप्रधान प्रवृत्ति कभी अध्यात्म के पावन लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकती।

दुनिया में नए चिन्तन का विरोध होता है। आचार्य भिक्षु के जीवन में अनेक कष्ट आए। पांच वर्ष तक पर्याप्त भोजन नहीं मिला। स्थानाभाव की असुविधाओं से उन्हें जूझना पड़ा। स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् होकर उन्होंने सबसे पहला विश्राम श्मशान भूमि में एवं प्रथम चतुर्मास केलवा की अंधेरी ओरी में किया। आचार्य भिक्षु कष्टसहिष्णु, दृढ़ संकल्पी एवं स्वलक्ष्य के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। विरोध की चिन्ता किए बिना वे कुशल चिकित्सक की भांति सत्य का अमृत जनता को पिलाते रहे और आगम पर आधारित साधना का रूप अनावृत करते रहे।

साहित्य

आचार्य भिक्षु सहज कवि और प्रशस्त साहित्यकार थे। उन्होंने लगभग अड़तीस हजार पद्य-परिमाण साहित्य की रचना कर जैन साहित्य को समृद्ध किया। उनकी रचनाएं राजस्थानी भाषा में एवं राजस्थानी में प्रचलित राग-रागिनियों में गेय रूप हैं। कई रचनाएं गद्यमयी हैं। नवपदार्थ, अनुकम्पा-आचार-व्रताव्रत की चौपाई आदि उनकी पद्यात्मक सारगर्भित सरस रचनाएं हैं।

आचार्य भिक्षु का विहरण स्थल राजस्थानान्तर्गत मारवाड़, मेवाड़ तथा ढूंढाड़ क्षेत्र था। अतः उनकी रचनाओं में मारवाड़ी, मेवाड़ी भाषा का सम्मिश्रण है। राजस्थान का यह भू-भाग गुजरात के नजदीक होने के कारण कहीं-कहीं गुजराती शब्दों का प्रयोग भी है।

आचार्य भिक्षु कवि थे, पर उन्होंने कवि बनने का प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने भाषा-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र एवं रस-शास्त्र का प्रशिक्षण लिया परन्तु उनके द्वारा रचे गए पद्यों में सानुप्रासिक, आलंकारिक प्रयोग पाठक को मुग्ध करते हैं। मिश्र धर्म के निरसन में उनके पद्य हैं

सांभर केरा सींग में सींग-सींग में सींग।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में धींग-धींग में धींग॥
घोर मिले उजाड़ में, करे झपट-झपट में झपट।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में कपट-कपट में कपट॥
बाजर खेत बावे जरे बूंट-बूंट में बूंट।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में झूठ-झूठ में झूठ॥"

आचार्य भिक्षु की साहित्य रचना का प्रमुख विषय शुद्ध आचार परम्परा का प्रतिपादन, तत्त्व-दर्शन का विश्लेषण एवं धर्मसंघ की मौलिक मर्यादाओं का निरूपण था। उनकी रचनाओं में प्राचीन वैराग्यमय आख्यान भी हैं, जो व्यक्ति को अध्यात्म-बोध प्रदान कर जीवन के मर्म को समझाते हैं।

आचार्य भिक्षु के क्रान्त विचार उनकी पद्यावलियों में स्पष्ट हैं।

आचार्य भिक्षु जिनवाणी के प्रति आस्थावान् थे।

आगम के प्रत्येक वाक्य पर उनका विश्वास था।

एक बार किसी व्यक्ति ने उनसे कहा "आपकी बुद्धि प्रखर है। गृहस्थ जीवन में रहकर आप विशाल राज्य के संचालक बन सकते थे।"

इसके उत्तर में आचार्य भिक्षु तत्काल बोले

बुद्धि बाहि सराहिए, जो सेवे जिनधर्म।
वा बुद्धि किण काम री, जो पड़िया बांधे कर्म॥

मैं उसी बुद्धि की प्रशंसा करता हूं जो जिन धर्म का सेवन करे। मुझे उस बुद्धि से कोई प्रयोजन नहीं जिससे कर्मों का बन्धन होता है।

आचार्य भिक्षु के साहित्य में साध्वाचार की शिथिलता एवं शिष्यों की जागीरदारी प्रथा पर तीव्र प्रहार किया गया है।

आचार्य भिक्षु की सत्यस्पर्शी दृष्टियां, तत्त्व का गंभीर प्रतिपादन, सार्वभौम अहिंसा का सन्देश उनके अन्तर्मुखी विराट् व्यक्तित्व का सूचक था। आचार्य भिक्षु के साहित्य को पढ़कर आधुनिक विद्वान् उनकी हेगल और कांट से तुलना करते हैं।

समय-संकेत

आगमनिष्ठ, सत्य के अनुसंधित्सु आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी परम्परा में पच्चीस वर्ष की अवस्था में श्रमण दीक्षा ग्रहण की एवं केलवा में पुनः भावदीक्षा ३२ वर्ष की अवस्था में ग्रहण की। वे ७७ वर्ष तक एकनिष्ठ होकर जैन धर्म की प्रभावना में प्रवृत्त रहे। सर्वप्रथम साध्वी दीक्षा उन्होंने वी. नि. २२९१ (वि. सं. १८२१, ई. १७६४) में प्रदान की तथा तेरापंथ धर्म-संघ का प्रथम विधान वी. नि. २३०२ (वि. सं. १८३२, ई. १७७५) में बनाया।

उनका स्वर्गवास सिरियारी में वी. नि. २३३० (वि. सं. १८६०, ई. सन् १८०३) भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को सात प्रहर के अनशन के साथ हुआ।

१२९-१३०. भवाब्धिपोत आचार्य भारमल और आचार्य रायचन्द

तेरापंथ धर्मसंघ के द्वितीय आचार्य भारमलजी एवं तृतीय आचार्य रायचन्दजी थे। इन दोनों आचार्यों को तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का सान्निध्य प्राप्त हुआ। आचार्य भारमलजी आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति में साथ थे। आचार्य रायचन्दजी आचार्य भिक्षु के स्वर्गवास के समय बाल मुनि थे। इन दोनों आचार्यों ने विविध अध्यात्म प्रवृत्तियों से तेरापंथ धर्मसंघ की नींव को सुदृढ़ किया तथा जैन धर्म को विस्तार दिया।

गुरु-परम्परा

आचार्य भारमलजी एवं आचार्य रायचन्दजी दोनों के दीक्षागुरु आचार्य भिक्षु थे। आचार्य भारमलजी आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी थे एवं आचार्य रायचन्दजी आचार्य भारमलजी के उत्तराधिकारी थे। इन दोनों आचार्यों की गुरु-परम्परा आचार्य भिक्षु से प्रारम्भ होती है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य भारमलजी एवं आचार्य रायचन्दजी दोनों की जन्मभूमि मेवाड़ है। आचार्य भारमलजी का जन्म मुहाग्राम (राजस्थान) में ओसवाल वंश के लोढ़ा परिवार में वी. नि. २२७४ (वि. सं. १८०४) में हुआ। आपके पिता का नाम किशनोजी तथा माता का नाम धारिणी था।

आचार्य रायचन्दजी का जन्म रावलिया (राजस्थान) ग्राम में वी. नि. २३१७ (वि. सं. १८४७) में हुआ। उनके पिता का नाम चतरोजी एवं माता का नाम कुशलांजी था।

जीवन-वृत्त

आचार्य भारमलजी बचपन से सरल एवं विनम्र प्रकृति के थे। धार्मिक रुचि उनमें सहज थी। वे जब दस वर्ष के थे तभी उनके मन में मुनि बनने की भावना जागृत हुई। पुत्र की वैराग्य भावना से पिता के विचारों में भी परिवर्तन आया। वे भी दीक्षा लेने के उत्सुक बने। भाग्य से कभी-कभी चाह के अनुसार राह मिल जाती है। पिता-पुत्र दोनों को संत भीखणजी की उपासना का योग मिला। संतों के सान्निध्य से उनकी वैराग्य भावना ने बल पकड़ा, विचार संकल्प में परिवर्तित हो गए। दोनों ने आचार्य भिक्षु के पास स्थानकवासी परम्परा में संयम दीक्षा ग्रहण की।

संयमी जीवन में मुनि भारमलजी ने आगमों का गहन अध्ययन प्रारम्भ किया। विचार भेद के कारण संत भीखणजी जब स्थानकवासी परम्परा से अलग हुए तब उन्होंने धर्मक्रान्ति का बिगुल बजाया, उस समय मुनि किशनोजी एवं भारमलजी आचार्य भिक्षु के साथ थे।

आचार्य भिक्षु की धर्मक्रान्ति के समय मुनि भारमलजी चौदह वर्ष के बालक थे पर उनमें भीतर अनुभवी व्यक्तियों जैसा विवेक था। आचार्य भिक्षु के प्रति उनके मन में अनन्य भक्ति थी। पिता का मोह उनको गुरु-भक्ति से विचलित नहीं कर सका।

सत्य का मार्ग कठिनाइयों से भरा हुआ होता है। आचार्य भिक्षु सत्य के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। उनके मार्ग में अनेक प्रकार के संघर्ष और तूफान खड़े थे। सामान्य व्यक्ति का उन संघर्षों के सामने स्थिर रहना कठिन होता है परन्तु बाल मुनि भारमलजी का आत्मबल अतुल था। वे किसी भी परिस्थिति में नहीं घबराए। उन्होंने सदा निर्भीक भाव से गुरु चरणों का अनुगमन किया। आचार्य भिक्षु ने शिष्य भारमल की कई कठोर परीक्षाएं लीं। मुनि भारमलजी गुरु द्वारा ली गई परीक्षाओं में सदा उत्तीर्ण हुए।

वि. सं. १८१७ में आचार्य भिक्षु का चतुर्मास केलवा की अंधेरी ओरी में था। भारमलजी स्वामी उनके साथ थे। रात्रि के समय आवश्यक कार्य निवृत्ति के लिए

मकान से बाहर गए। लौटते समय मुनि भारमल जी के पैरों को नागराज ने अपने पाश में बांध लिया। सर्प के दर्शनमात्र से लोगों के पैर धूजने लगते हैं, पर बाल मुनि किञ्चित् भी भयभीत नहीं हुए। सर्प के द्वारा पैरों को मजबूती से पकड़ लिए जाने पर भी वे निश्चल खड़े रहे। अपने शिष्य मुनि भारमलजी को बाहर खड़े देखकर आचार्य भिक्षु उठे, सारी स्थिति अवगत कर लेने के बाद उन्होंने उच्च ध्वनिपूर्वक नमस्कार महामन्त्र का दूर से ही उच्चारण किया। नमस्कार महामन्त्र के प्रभाव से नागराज बिना किसी प्रकार का कष्ट दिए दूर चला गया। इस प्राणांतकारी समय में शिष्य की स्थिरता देखकर आचार्य भिक्षु अत्यन्त प्रसन्न हुए।

अहिंसक वही होता है जो अभय होता है। मुनि भारमलजी की अभय साधना का यह एक उदाहरण है।

आचार्य भिक्षु ने वी. नि. २३०२ (वि. सं. १८३२) के मार्गशीर्ष मास में मुनि भारमलजी की युवाचार्य पद पर नियुक्ति की। वे २८ वर्ष तक युवाचार्य रहे। आचार्य भिक्षु के स्वर्गवास के बाद उन्होंने वी. नि. २३३० (वि. सं. १८६०) में आचार्य पद का दायित्व सम्भाला।

आचार्य भारमलजी स्थिरयोगी, स्वाध्यायी एवं आगमरुचिक आचार्य थे। वे सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद अनेक बार उत्तराध्ययन सूत्र की दो हजार गाथाओं का पुनरावर्तन खड़े-खड़े किया करते थे। आगम स्वाध्याय के समय उन्हें अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती थी। उनकी लिपिकला अद्भुत थी। उनके मोती के समान अक्षर गोल एवं सुन्दर थे।

आचार्य भिक्षु ने जिन ग्रन्थों की रचना की उन ग्रन्थों की शुद्ध प्रतिलिपि कर आचार्य भारमलजी ने तेरापंथ धर्मसंघ को अनुपम उपहार भेंट किया। उन्होंने लगभग ६ लाख गाथाओं का लेखन कर एक कीर्तिमान स्थापित किया। आपकी वक्तृत्व कला असाधारण थी। आवाज बुलन्द थी। व्याख्यान देते समय आपकी आवाज दूर-दूर तक सुनाई देती थी।

आचार्य भारमलजी के शासनकाल में ८२ दीक्षाएं हुई उनमें ३८ भाई एवं ४४ बहिनें थीं।

युवाचार्य पद के लिए आचार्य भारमलजी ने दो नाम लिख दिए। जय मुनि की प्रार्थना पर एक ही नाम रखा। यह उनकी अनाग्रह वृत्ति का जीवंत उदाहरण है।

उन्होंने धर्मसंघ का चतुर्मुखी विकास किया। अनुशासन की दृष्टि से उसे सुदृढ़ बनाया।

आचार्य रायचन्दजी

आचार्य रायचन्दजी को धार्मिक संस्कार वंशानुगत धरोहर के रूप में अपने परिवार से प्राप्त हुए। साध्वी श्री बरजुजी के वैराग्यमय व्याख्यानों को सुनकर उनके मन में वैराग्य के बीज अंकुरित होने लगे। एक दिन उन्होंने अपनी भावना मां के सामने प्रकट की। मां ने पुत्र के विचारों का विरोध किया। नाना प्रकार के प्रयत्न करने पर भी पुत्र की भावना में मोड़ नहीं आया। तब मां स्वयं पुत्र के साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गई। मां और बेटे की दृढ़ भावना ने पिता चतरोजी को झुका दिया। उनकी अनुमति प्राप्त कर दोनों ने वी. नि. २३२७ (वि. सं. १८५७) चैत्र पूर्णिमा को आचार्य भिक्षु से संयम दीक्षा ग्रहण की।

मुनि रायचन्दजी को आचार्य भिक्षु का सान्निध्य कुल तीन वर्ष तक प्राप्त हुआ। मुनि रायचन्दजी अल्प समय में एक होनहार मुनि के रूप में प्रतिभासित होने लगे। आचार्य भिक्षु ने एक बार कहा था "शिष्य रायचन्द आचार्य पद के योग्य दिखाई देता है।"

महापुरुषों के शब्द सत्य को समाहित किए हुए होते हैं। आचार्य भिक्षु का अनुमान सही था। आचार्य भारमलजी के बाद मुनि रायचन्दजी तेरापंथ धर्मसंघ के तृतीय आचार्य बने।

बालवय से ही मुनि रायचन्दजी का चिन्तन अन्तर्मुखी था। आचार्य भिक्षु ने अनशन की स्थिति में शिष्य रायचन्द को सम्बोधित करते हुए कहा "बाल मुने! मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना।" मुनि रायचन्दजी ने तत्काल नम्र होकर निवेदन किया "गुरुदेव! आप इतना श्रेष्ठ काम कर रहे हैं, मैं मोह क्यों करूंगा?" मुनि रायचन्दजी के उत्तर ने

मोहविह्वल व्यक्तियों के अन्तर्विवेक को जागृत किया।

आचार्य भिक्षु के स्वर्गवास के बाद ऋषि रायचन्दजी ने अनेक प्रकार की शिक्षाएं आचार्य भारमलजी से प्राप्त कीं। राजनगर वी. नि. २३४८ (वि. सं. १८७८) में आचार्य भारमलजी ने उनकी नियुक्ति युवाचार्य पद पर की। इसी वर्ष आचार्य भारमलजी का स्वर्गवास हो गया। भारमल जी तेरापंथ धर्मसंघ के यशस्वी एवं ओजस्वी आचार्य थे। उनके बाद रायचन्द जी ने वी. नि. २३४८ (वि. सं. १८७८) में धर्मसंघ का दायित्व सम्भाला।

आचार्य रायचन्दजी निर्भीक आचार्य थे। एक बार विहार करते समय सन्तों को डाकू मिले और उन्होंने सन्तों को अपना सामान देने को कहा। सन्त अपने बचाव का अन्य कोई रास्ता नहीं देखकर अपना कम्बल बिछाकर उस पर बैठ गए और अपना सामान निकट रख लिया। डाकू पैरों के नीचे से कम्बल खींचने लगे। पीछे से रायचन्दजी स्वामी आए और उन्होंने दूर से आवाज दी इन डाकुओं में सब गोले ही गोले हैं या कोई राजपूत भी है। सूझ-बूझ से समय पर कही हुई बात डाकू राजपूत के मन पर चोट कर गई। उसने नजदीक आकर कहा "बोलिए महाराज! आपको राजपूत से क्या काम है?" रायचन्दजी स्वामी तत्काल बोले "राजपूत के होते हुए भी सन्तों को लूटा जा रहा है। जिनके पास याचित वस्त्र-पात्र हैं और सीमित उपकरण हैं।" राजपूत शर्म से झुक गया। उसने अपनी भूल स्वीकार की और अपने एक साथी को सन्तों के साथ भेजा। वह अगले गांव तक सन्तों को पहुंचाकर आया।

आचार्य रायचन्दजी के जीवन के अनेक प्रसंग हैं, जो प्रेरक और दुर्बल मन को सबल बनाने वाले हैं।

आचार्य रायचन्दजी ने धर्मसंघ का बहुमुखी विकास किया। उनके १२ चतुर्मास पाली में, ७ चतुर्मास जयपुर में और ४ चतुर्मास उदयपुर में हुए। आचार्य रायचन्दजी के अन्य चतुर्मास सिरियारी, केलवा आदि क्षेत्रों में हुए। सर्वाधिक चतुर्मास पाली में हुए हैं।

आचार्य रायचन्दजी के शासनकाल में तपस्याओं की वृद्धि हुई। तीन सन्तों ने आठ के आगार पर ६ मासी तप किया। आचार्य भारमलजी और रायचन्दजी का विशेषतः मेवाड़, मारवाड़, ढूंढ़ाड़ में विहरण हुआ। अनेक लोग सुलभबोधि बने। कइयों ने सम्यक्त्व दीक्षा ग्रहण की। धर्म शासन की विशेष प्रभावना हुई।

समय-संकेत

आचार्य भारमलजी एवं आचार्य रायचन्दजी तेरापंथ धर्म-संघ के यशस्वी आचार्य थे। आचार्य भारमलजी ने १८ वर्ष तक और आचार्य रायचन्दजी ने ३० वर्ष तक धर्मसंघ का कुशलतापूर्वक संचालन किया। आचार्य भारमलजी का स्वर्गवास वी. नि. २३४८ (वि. सं. १८७८) माघ कृष्णा अष्टमी को हुआ।

आचार्य रायचन्दजी का स्वर्गवास वी. नि. २३७८ (वि. सं. १९०८) माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ। आचार्य भारमलजी की कुल आयु ७५ वर्ष की और आचार्य रायचन्दजी की कुल आयु ६२ वर्ष की थी।

१३१. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य

जयाचार्य तेरापंथ के चतुर्थ अधिनायक थे। वे आगम के प्रकाण्ड विद्वान्, जन्मजात साहित्यकार, प्रतिभाशाली कवि, सधे हुए योगी, दीर्घ पाद विहारी, अध्यात्म के प्राणवान् साधक थे। उनके विराट् व्यक्तित्व में एक साथ कई क्षमताओं का विकास था। जयाचार्य कुशल व्यवस्थापक, मनोवैज्ञानिक अनुशास्ता एवं अनेक नई प्रवृत्तियां के जन्मदाता थे। उन्होंने आचार्य भिक्षु की परम्परा का संवर्धन किया, संगठन को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने जैन श्रुत की विलक्षण उपासना की एवं आगमपरक ग्रन्थों की रचना कर जैन ज्ञान-भंडार को साहित्य सम्पदा से भरा।

गुरु-परम्परा

इस धर्म-संघ के आद्यप्रवर्तक आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी आचार्य भारमलजी, जयाचार्य की दीक्षा के समय विद्यमान थे। उनके आदेश से ही ऋषि रायचन्दजी ने जयाचार्य को दीक्षा प्रदान की। तेरापंथ धर्म-संघ की गुरु-परम्परा आचार्य भिक्षु से ही प्रारम्भ होती है। जयाचार्य तृतीय आचार्य रायचन्दजी के उत्तराधिकारी थे।

जन्म एवं परिवार

जयाचार्य का जन्म वी. नि. २३३० आश्विन शुक्ला चतुर्दशी (वि. सं. १८६०) रोयट (मारवाड़) में हुआ। उनके पिता का नाम आईदानजी और माता का नाम कल्लूजी था। जयाचार्य के दो बड़े भाई थे। सबसे बड़े स्वरूपचन्दजी एवं उनसे छोटे भीमराजजी थे। जयाचार्य सबसे छोटे थे।

जीवन-वृत्त

जयाचार्य का पूरा परिवार जैन-संस्कारों से ओत-प्रोत था। उनकी बुआ अजबूजी ने वी. नि. २३१४ (वि. सं. १८४४) में आचार्य भिक्षु के चरणों में भागवती दीक्षा ग्रहण की। धार्मिक संस्कारों के कारण जयाचार्य सात वर्ष के थे तभी उन्होंने दीक्षा लेने की मन में ठान ली। कभी-कभी वे झोली में पात्रियों के स्थान पर कटोरियां रखकर गोचरी जाने का अभ्यास करते थे। जयपुर में आचार्य भारमलजी के उपपात में उन्होंने पच्चीस बोल, चर्चा, तेरह द्वार आदि कई तात्त्विक ग्रन्थों को कण्ठस्थ किया। मुनि बनने की भावना उनमें अत्यधिक तीव्रगति से बढ़ती गई। उनका दीक्षा संस्कार वी. नि. २३३९ (वि. सं. १८६९) को जयपुर में वटवृक्ष के नीचे माघ कृष्णा सप्तमी को द्वितीय आचार्य श्री भारमलजी के आदेश से ऋषि रायचन्दजी द्वारा सम्पन्न हुआ। दीक्षा ग्रहण के समय जयाचार्य दस वर्ष के थे। ऋषि रायचन्दजी उस समय मुनि अवस्था में थे। उनकी अवस्था २२ वर्ष की थी।

जयाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता स्वरूपजी स्वामी की दीक्षा इसी वर्ष पौष शुक्ला नवमी को जयपुर में आचार्य भारमलजी द्वारा सम्पन्न हुई थी। दोनों भाइयों की दीक्षा से जयाचार्य के द्वितीय ज्येष्ठ भ्राता भीमराजजी का मन भी वैराग्य की ओर झुका। जयाचार्य की माता कल्लूजी पहले से दीक्षा के लिए तैयार थी। इन दोनों की दीक्षा भी इसी वर्ष फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन आचार्य भारमलजी द्वारा सम्पन्न हुई। पौने दो मास की अवधि में आईदानजी के परिवार से चार दीक्षाएं हुईं। जयाचार्य का पूरा परिवार ही तेरापंथ धर्मसंघ में समर्पित हो गया। तेरापंथ धर्मसंघ को यह विशिष्ट उपलब्धि थी एवं उज्ज्वल भविष्य का शुभारम्भ था।

हेमराजजी स्वामी तेरापंथ धर्मसंघ के विशिष्ट आगमविज्ञ सन्त थे। उनके पास लगभग बारह वर्ष तक रहकर जयमुनि ने विविध योग्यताओं का अर्जन किया। आगमों का गम्भीर अध्ययन कर उन्होंने आगमविज्ञ मुनियों में विशिष्ट स्थान पाया। जयमुनि की प्रतिभा को

प्रकृति का वरदान था। उन्होंने ग्यारह वर्ष की उम्र में 'सन्त गुणमाला' कृति की रचना की एवं १८ वर्ष की उम्र में 'पन्नवणा' जैसे गम्भीर ग्रन्थ का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद किया।

जयमुनि का कद छोटा था पर उनके कार्य महान् थे। उनका वर्ण श्याम था परन्तु विचारों में शशि की भांति उज्ज्वलता और निर्मलता थी। उनका दीप्तिमान ललाट और ओजस्वी मुखमण्डल प्रथम बार में ही व्यक्ति को प्रभावित कर लेता था और उनके जीवन व्यवहार में सधे हुए योगी की-सी गम्भीरता थी।

जयमुनि की मानसिक एकाग्रता विलक्षण थी। पाली में वी. नि. २३४५ (वि. १८७५) में जयमुनि बाजार के मध्य किसी एक दुकान में बैठे लेखन कार्य कर रहे थे। उनके ठीक सामने नृत्य-मण्डली द्वारा नाटक का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जा रहा था। सैकड़ों लोग उस कार्यक्रम को देखने में मग्न थे। निकट दुकान पर बैठे हुए १५ वर्षीय बाल मुनि जय का मन एक क्षण के लिए भी उस मनोरंजक कार्यक्रम को देखने के लिए विचलित नहीं हुआ। दर्शक-मण्डली में खड़े एक वृद्ध व्यक्ति का ध्यान बालमुनि की स्थिरता पर केन्द्रित था। कार्यक्रम की सम्पन्नता पर उसने लोगों से कहा "तेरापंथ की नींव १०० वर्ष तक सुदृढ़ जम गई। जिस संघ में ऐसे निष्ठावान् स्थिरयोगी मुनि हों उस संघ की उम्र १०० वर्ष से कम नहीं हो सकती। कोई भी व्यक्ति उसका अनिष्ट नहीं कर सकता।"

साहस और बुद्धि संस्कारगत होते हैं। जयाचार्य के पास अतुल बुद्धि और असीम साहस था।

द्वितीयाचार्य भारमलजी द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप में दो नामों का उल्लेख करने पर मुनिजय ने ही पूज्यश्री से एक नाम रखने का निवेदन किया था। जयाचार्य की उस समय अट्ठारह वर्ष की अवस्था थी पर उनकी विनम्र प्रार्थना में शतवर्षीय वृद्धावस्था का अनुभव था। भारमलजी स्वामी ने बालमुनि की बात पर विशेष ध्यान दिया और एक ही नाम पत्र में रखा।

गुरु के प्रति जयाचार्य की अनन्य भक्ति थी। वि. सं. १८७५ में जयाचार्य ने संकल्प किया जब तक भारमलजी स्वामी के दर्शन नहीं होंगे तब तक विगय का सेवन नहीं करूंगा। उस समय कुछ परिस्थितियां ऐसी बनीं कि प्रतिज्ञा करने के लगभग तेरह महीनों के बाद जयमुनि का संकल्प फला। गंगापुर में भारमलजी स्वामी के दर्शन हुए उस समय उनकी मानसिक प्रसन्नता अपूर्व थी। कण-कण में भक्ति का अजस्र-स्रोत प्रवाहित हो रहा था।

विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी के प्रति भी उनकी आदर्श भक्ति थी। अपने जीवन-निर्माण में विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी का जयाचार्य ने अनन्य उपकार माना है।

हेमराजजी स्वामी का वि. १८८१ का चतुर्मास जयपुर में था। इस चतुर्मास की सम्पन्नता के बाद हेमराजजी स्वामी ने पाली में तृतीय आचार्य श्री रायचन्दजी स्वामी के दर्शन किए। जयमुनि उनके साथ थे। जयमुनि की विकासशील क्षमताओं को देखकर आचार्यदेव प्रसन्न हुए। उन्होंने पाली में पौष शुक्ला तृतीया के दिन जयमुनि को अग्रगण्य बनाया। उनके साथ तीन सन्तों की नियुक्ति की एवं उन्हें मेवाड़ विहरण का आदेश दिया। उस समय जयमुनि की उम्र २१ वर्ष की थी। उनका वी. नि. २३५२ (वि. सं. १८८२) का चतुर्मास उदयपुर के लिए घोषित हुआ।

जयमुनि की अग्रगण्य अवस्था में प्रथम मेवाड़ यात्रा एवं प्रथम चतुर्मास धर्मसंघ की प्रभावना की दृष्टि से लाभप्रद रहा। इस यात्रा में जयमुनि को संघ के लिए उपयोगी, अतिदुर्लभ धार्मिक ग्रन्थों की उपलब्धि हुई। उदयपुर चतुर्मास में वहां के महाराजा भीमसिंहजी एवं युवराज जवानसिंहजी कई बार आपके सम्पर्क में आए। आपके प्रवचनों तथा अध्यात्म चर्चाओं से शहर का वातावरण गूंज उठा। धर्म की बहुमुखी प्रभावना हुई।

धर्म प्रचार की दृष्टि से जयमुनि ने प्रलम्बमान यात्राएं कीं। उनकी वि. सं. १८८४ की मालवा यात्रा और वि. सं. १८८६ की गुजरात यात्रा ऋषिराय महाराज के साथ हुई थी।

मालवा यात्रा के बाद जयमुनि का जयपुर की ओर पदार्पण हुआ, उस समय भी धर्म-संघ की विशेष प्रभावना हुई। किशनगढ़ के सैकड़ों लोग तेरापंथ के अनुयायी बने। जयपुर में ५२ व्यक्तियों ने उनसे सम्यक्त्व दीक्षा ग्रहण की। वहां के स्थानीय प्रसिद्ध जौहरी मालीरामजी लूणिया जयाचार्य के परमभक्त बन गए। जयमुनि का दिल्ली का चतुर्मास प्रभावक रहा। चतुर्मास के बाद दिल्ली में जयपुर निवासी कृष्णचन्द्रजी ने जयाचार्य के पास मुनि दीक्षा ग्रहण की।

जयाचार्य की सर्वाधिक लम्बी यात्रा वी. नि. २३५६ (वि. सं. १८८६) की है। जयमुनि इस यात्रा में दिल्ली से प्रस्थान कर, जयपुर होते हुए मेवाड़ पहुंचे। गोगुन्दा में ऋषिराय के दर्शन किए। वहां गुजरात यात्रा का चिन्तन चला। ऋषिराय ने गुजरात यात्रा के लिए वहां से प्रस्थान किया। जयमुनि को भी अपने साथ लेने का निर्णय हुआ। उस समय हेमराजजी स्वामी सिरियारी (मारवाड़) में विराज रहे थे। जयमुनि की गुजरात यात्रा से पहले विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी के दर्शन करने की भावना थी। ऋषिराय महाराज का आदेश प्राप्त कर वहां से जयमुनि छह दिन में मारवाड़ आए। सिरियारी में हेमराजजी स्वामी के दर्शन किए। पुनः मेवाड़ गए। गुजरात के लिए प्रस्थान किया। मध्यवर्ती मार्ग को तीव्र गति से पारकर ऋषिराय महाराज के चरणों में पहुंचे।

सौराष्ट्र और कच्छ की धरती का स्पर्श करते हुए गुरुदेव मारवाड़ पधारे। जयमुनि भी उनके साथ थे। यात्रा की सम्पन्नता के बाद गुरुदेव का चतुर्मास पाली में हुआ। जयमुनि का चतुर्मास बालोतरा में हुआ। दिल्ली से लेकर बालोतरा तक की जयमुनि की यह लगभग २००० किलोमीटर की यात्रा आठ महीनों में सम्पन्न हुई। बीकानेर और हरियाणा प्रदेश की जयमुनि की यात्रा भी काफी प्रभावक रही।

आचार्य रायचन्दजी द्वारा जयाचार्य की युवाचार्य पद पर नियुक्ति वी. नि. २३६४ (वि. १८६४) में हुई। वे युवाचार्य पद पर लगभग १५ वर्ष रहे। तृतीय आचार्य रायचन्दजी के स्वर्गवास के बाद वी. नि. २३७८ (वि. सं. १९०८) में उन्होंने तेरापंथ धर्म-संघ का दायित्व सम्भाला, उस समय धर्म-संघ में ६७ साधु और १४३ साध्वियां थीं।

आचार्य ऋषिराय के स्वर्गवास का समाचार दस दिन पश्चात् युवाचार्य जय के पास पहुंचा। ऋषिराय महाराज का स्वर्गवास माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन हुआ। जयाचार्य का पट्टाभिषेक माघ पूर्णिमा वृहस्पतिवार को पुष्य नक्षत्र में चतुर्विध धर्मसंघ के समक्ष मनाया गया।

जयाचार्य के मन में मुनि सतीदासजी के प्रति विशिष्ट स्थान था। सतीदासजी मृदुभाषी एवं विनम्र सन्त थे। जयाचार्य के शब्दों में उन जैसा स्वभाव हजारों व्यक्तियों में खोजने पर भी नहीं मिलता। जयमुनि आचार्य बने। बालसखा मुनि सतीदासजी जयाचार्य का दर्शन करने के लिए लाडनूं पधारे। प्रथम दर्शन के अवसर पर जयाचार्य ने उनको अपने पट्ट पर स्वयं के बराबर बिठाकर उनका सम्मान किया तथा उनके आगमन के अवसर पर मुनि स्वरूपचन्दजी आदि सन्तों को उनकी अगवानी के लिए सामने भेजा।

गुणीजनों का आदर करना जयाचार्य की शासनकुशलता का यह प्रथम उदाहरण था।

जयाचार्य के शासनकाल में तेरापंथ धर्म-संघ एक शताब्दी को पार कर दूसरी शताब्दी में चरणन्यास कर रहा था। वह युग विचारों के संक्रमण का युग था। तेरापंथ की आंतरिक व्यवस्थाएं परिवर्तन मांग रही थीं। जयाचार्य का आगमन उपयुक्त समय पर हुआ। उन्होंने इस धर्म-संघ में अनेक नई व्यवस्थाओं को सृजन किया।

वर्तमान में समाजवाद की चर्चा है। जयाचार्य ने एक शताब्दी पूर्व धर्म-संघ में संविभाग, सम-व्यवस्थाएं स्थापित कर समाजवाद का सक्रिय उदाहरण प्रस्तुत किया।

समाजवाद में पूंजी का विकेन्द्रीकरण होता है। धन एवं वैभव से दूर अपरिग्रही अकिंचन संतों के पास पूंजी का प्रश्न ही नहीं। उनके पास जीवन के लिए अत्यावश्यक उपकरण होते हैं। वे उपकरण किसी साधक के हृदय में ममत्व का निमित्त न बनें तथा

जीवन-चर्या के अनुकूल उपलब्ध सामग्री का सभी उपयोग कर सकें, इस दृष्टि से जयाचार्य ने संघ की वर्तमान व्यवस्थाओं को एक नया रूप दिया।

उस समय पुस्तकों पर सभी संतों का अपना स्वामित्व था। जयाचार्य ने सबकी उपयोगिता के लिए उनका संघीकरण किया। पुस्तकों की सामग्री के लिए प्रत्येक अग्रगण्य पर गाथा-प्रणाली का कर लागू किया। इस प्रकार आहार और श्रम-प्रदान की सम-व्यवस्थाएं भी जयाचार्य के शासनकाल में हुई।

मुनियों एवं साध्वियों के ग्रुपों में पहले सहगामी साधु एवं साध्वियों की संख्या का सम-विभाजन नहीं था। जयाचार्य ने मनोवैज्ञानिक ढंग से सबके मानस को तैयार कर इस व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किया। यह परिवर्तन नहीं, आज की भाषा में एक क्रांति थी। इसके परिणामस्वरूप मुनियों एवं साध्वियों के ग्रुपों (दल या समूह, जैन पारिभाषिक शब्द संघाटक 'सिंघाड़ा') की सम-व्यवस्था संघ में अत्यन्त उपयोगी रही। महासती सरदारांजी भी इन क्रांतिकारी प्रवृत्तियों में सहयोगी थी।

जयाचार्य का लगभग एक शताब्दी पूर्व का यह समाजवाद मार्क्स के समाजवाद से अधिक प्रशस्त था।

मर्यादा-महोत्सव तेरापंथ संघ का अनूठा महोत्सव है। इस अवसर पर विभिन्न स्थानों में विहरण करने वाले सैकड़ों साधु-साध्वियों का आचार्य की सन्निधि में मिलन और संघीय मर्यादाओं का वाचन होता है। आगामी चतुर्मास के आदेश-निर्देश भी प्रायः इस अवसर पर मिलते हैं। इसलिए चतुर्मास सम्पन्न होते ही सबका आकर्षण इस महोत्सव के साथ हो जाता है। सहस्रों नर-नारी इस सम्मेलन में एकत्रित होते हैं। तेरापंथ धर्म-संघ मर्यादित व अनुशासित धर्म-संघ है। मर्यादा-महोत्सव अनुशासन दृढ़ता और मर्यादा क्रियान्विति की दिशा में एक सबल कदम है। इस अवसर पर अनेक संगोष्ठियां होती हैं। साधना और धर्म-संघ के विकास से सम्बन्धित चर्चाएं होती हैं। विचारों का विनिमय होता है। आचार्यदेव द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षाएं दी जाती हैं। यह साधु-साध्वियों की योग्यताओं के अंकन का सुन्दर अवसर होता है। माघ शुक्ला सप्तमी के दिन चतुर्विध धर्म-संघ के समक्ष यह मर्यादा-महोत्सव मनाया जाता है। धर्म-संघ को विशिष्ट उपलब्धियां होती हैं। एकता के प्रतीक इस मर्यादा-महोत्सव के प्रारम्भीकरण का श्रेय जयाचार्य को है। एकसूत्रता व सबल संगठन की दृष्टि से ऐसे पर्व उपयोगी हैं।

जयाचार्य का साधना पक्ष सबल था। वे परम स्वाध्यायी पुरुष थे। प्रतिदिन प्रायः ५००० पद्यों का स्वाध्याय करते थे। उनमें आगम ग्रन्थों का स्वाध्याय अधिक होता था। उन्होंने उत्तराध्ययन सूत्र का सहस्रों बार स्वाध्याय किया था। कई बार रात्रि के समय खड़े-खड़े सम्पूर्ण उत्तराध्ययन सूत्र का स्वाध्याय किया करते थे।

जयाचार्य आगम पुरुष थे। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचार चूला, प्रज्ञापना के प्रथम दस पद तथा अन्य कई आगमों के हजारों पद्य और मुक्त पाठ उनको कण्ठस्थ थे। आगमों की अनगिन पद्यावलियां उनके मुख पर ध्वनित होती रहती थीं। वे बात-बात में आगम पाठ को प्रस्तुत करते थे। उनका जीवन आगम वाणी का साक्षात् प्रतीक बन गया। वे बारह वर्ष तक हेमराजजी स्वामी के पास रहे थे। अग्रणी पद पर ९३ वर्ष एवं युवाचार्य पद पर लगभग १४ वर्ष तक रहे। सभी भूमिकाओं में उनका आगमज्ञान उत्तरोत्तर विकासमान होता गया। आगमों का अवगाहन करते-करते उनकी मेधा प्रखर हो गई। वे किसी विषय की पुष्टि में आगम-प्रमाणों की लम्बी शृंखला खड़ी कर देते थे।

संस्कृत भाषा आगमों की कुंजी है। जयाचार्य की संस्कृत में प्रबल रुचि थी, अतः सारस्वत व्याकरण का पूर्वार्ध, चन्द्रिका का उत्तरार्ध, महि शब्दकोष और भट्ट व्याकरण को कण्ठस्थ कर उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत के माध्यम से जैनागम के व्याख्या ग्रन्थों का भी वाचन किया। देवों ने समुद्र का मन्थन एक बार किया, जयाचार्य ने आगम सागर एवं आगम के व्याख्या

ग्रन्थों का पुनः-पुनः मन्थन किया, इससे उन्हें नये-नये अर्थ रत्नों की उपलब्धि हुई। जयाचार्य आगमों के कुशल दोहनकार थे। आगम का अध्ययन, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन करते समय उनको अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती थी।

आगम ग्रन्थों की तरह आचार्य भिक्षु के ग्रन्थों का भी जयाचार्य ने अनेक बार पारायण किया।

साहित्य

जैन समाज को जयाचार्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उनका विशाल राजस्थानी साहित्य है। उन्होंने विविध विषयों पर कई विधाओं में साढ़े तीन लाख पद्य परिमाण साहित्य रचा। उनका काफी साहित्य जैनागमों के अनुवाद रूप में उपलब्ध है। आगमानुवाद के अतिरिक्त आख्यान ग्रन्थ, कथाकोष, निबन्ध, कविताएं, जीवनियां, रोचक संस्मरण आदि स्वतन्त्र रचनाएं मौलिक एवं सारगर्भित हैं।

गम्भीर साहित्य का सृजन एकांत क्षणों में होता है। आचार्य का जीवन प्रवृत्ति-बहुल होने के कारण उन्हें ऐसे क्षणों की उपलब्धि कठिन होती है, पर युवाचार्य मघवा ने बहुत-सी संघीय प्रवृत्तियों का संचालन अपने पर झेल लिया था। इससे जयाचार्य बहुत निश्चिन्तता से एकांत के क्षणों में गम्भीर साहित्य का सृजन कर सके थे।

जयाचार्य आगम टीकाकारों में राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध रचना करने वाले प्रथम टीकाकार थे। उन्होंने भगवती, पन्नवणा, ज्ञाता, उत्तराध्ययन, आचारांग-प्रथम श्रुतस्कन्ध आदि आगमों पर जोड़-टीकाएं रचीं। भगवती सूत्र जैसे गम्भीर विशाल आगम पर इकसठ हजार पद्य परिमाण राजस्थानी पद्यमय रचना उनकी अद्भुत मनीषा का चमत्कार था। वे एक दिन में तीन सौ पद्यों की रचना कर लिया करते थे। भगवती टीका की ५०० गीतिकाएं हैं। यह राजस्थानी भाषा का विशालतम ग्रन्थ है। जैनागम भारती की यह आराधना जैन शासन की अत्युत्तम प्रभावना थी।

जयाचार्य वीर-वाणी के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। वे सैद्धान्तिक विषय के विवेचन में आगम प्रमाणों का पर्याप्त उपयोग करते थे। उनकी रचनाएं आगमिक आधार पर अवलम्बित हैं।

जयाचार्य में साहित्य-रचना की रुचि सहज थी पर किसी बात का आग्रह नहीं था। जयाचार्य धर्म, दर्शन, अध्यात्म सम्बन्धी विविध विषयों के ज्ञाता थे, जैन ज्योतिष का भी उन्हें अधिकृत ज्ञान था। एक बार उन्होंने सौ वर्षीय जैन पंचांग बनाने का चिन्तन किया। यह जैन पर्वों की एकता के लिए उठाया गया कदम था। इस ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ कर दिया था किन्तु एक मुनि के परामर्श पर पंचांग ग्रन्थ रचना स्थगित कर दी।

इतिहास लेखन में उनका अनुपम अनुदान है। उन्होंने जैन इतिहास के साथ तेरापंथ के इतिहास को भी बहुत समृद्ध किया। 'भिक्षु जस रसायन' ग्रन्थ में स्वामीजी के केवल गुणानुवाद ही नहीं अपितु विविध दृष्टान्तों के आधार पर तात्विक विवेचन भी है। इतिहास लिखने की यह सुन्दर परम्परा तेरापंथ धर्मसंघ में जयाचार्य ने स्थापित की। उन्होंने अनेक साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं के जीवन-चरित्र भी लिखे।

'भिक्षु दृष्टांत' संस्मरणात्मक साहित्य है। इन संस्मरणों की भाषा सरल एवं प्रसाद गुण युक्त है।

उपदेश कथाकोष, कथा साहित्य का अनुपम ग्रन्थ है। इसमें लोककथाओं, पौराणिक कथाओं तथा ऐतिहासिक कथाओं का विशाल संग्रह है। शिक्षात्मक सूक्तों से कथाएं सरस एवं उपयोगी हो गई हैं। ये दोनों रचनाएं जयाचार्य के बहुमुखी ज्ञान की सूचक है।

जयाचार्य के साहित्य में आधुनिक शोध पद्धति के दर्शन होते हैं। आचार्य भिक्षु के साहित्य में प्रतिपादित विषयों को आगमिक आधार से पुष्ट कर उनकी रचनाओं को जयाचार्य ने शोध-ग्रन्थ का रूप दिया, यह उनकी तुलनात्मक अध्ययन पद्धति एवं अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति का उपक्रम एवं साहित्य के क्षेत्र में नई परम्परा का सूत्रपात था। सिद्धान्त सार उनका एक विशाल शोध-ग्रन्थ है।

जयाचार्य उच्चकोटि के भाष्यकार थे। उन्होंने आचार्य भिक्षु की अनेक रचनाओं पर भाष्य लिखा। उनका आगम वाणी पर भाष्य-साहित्य मर्मस्पर्शी है जो युग-युग तक जैनागम के विद्यार्थी के लिए आलोक-स्तम्भ का कार्य करता रहेगा।

जयाचार्य की स्वाध्याय-साधना अतुल थी। जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में उन्होंने लगभग ८६,६७,४७० गाथाओं का स्वाध्याय किया।

समय-संकेत

जयाचार्य आगमस्नातप्रज्ञा के धनी थे। उन्होंने ६८ वर्ष के मुनि काल में ३० वर्ष तक आचार्य पद के दायित्व का कुशलतापूर्वक वहन किया।

जैन धर्म में संयमी जीवन का जितना महत्त्व है उससे अधिक महत्त्व पण्डित-मरण का है। जैन शासन की प्रभावना करते हुए जयाचार्य ने सुन्दर ढंग से संयमी जीवन जीया। उन्होंने अन्तिम क्षणों को संवारा। वे प्रतिक्षण जागरूक थे। देह-शक्ति क्षीण होने का आभास होते ही उन्होंने अनशन स्वीकार किया। पूर्ण जागरूक अवस्था में तीन हिचकी के साथ उनकी आंख खुली और उसी मुद्रा में जयाचार्य का स्वर्गवास वी. नि. २४०८ (वि. सं. १९३८) भाद्रव कृष्णा द्वादशी को हुआ। जयपुर के रामनिवास बाग में उनका दाह संस्कार हुआ। जयपुर नरेश रामसिंहजी जयाचार्य के परम भक्त थे।

१३२-१३३. मंगलप्रभात आचार्य मघवागणी और आचार्य माणकगणी

आचार्य मघवागणी एवं आचार्य माणकगणी तेरापंथ धर्मसंघ के प्रज्ञावान एवं यशस्वी आचार्य थे। मघवागणी फूल की तरह कोमल प्रकृति के थे। माणकगणी के व्यक्तित्व में माणिक जैसी चमक थी। मघवागणी के सौम्य स्वभाव और माणकगणी की नई विचारधारा ने धर्म-संघ को बहुमुखी प्रगति दी। अहिंसा एवं अध्यात्म के पथ को उजागर किया।

गुरु-परम्परा

मघवागणी एवं माणकगणी दोनों के दीक्षा-गुरु जयाचार्य थे एवं शिक्षा गुरु भी जयाचार्य ही थे। जयाचार्य से पूर्व की गुरु-परम्परा में आचार्य भिक्षु के उत्तराधिकारी भारमलजी, भारमलजी के उत्तराधिकारी रायचन्दजी एवं रायचन्दजी के उत्तराधिकारी जयाचार्य थे।

जन्म एवं परिवार

मघवागणी का जन्म बीदासर में वी. नि. २३६७ (वि. १८९७) चैत्र शुक्ला एकादशी को बेगवानी परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम पूरनमलजी और माता का नाम बन्नांदेवी था। छोटी बहन का नाम गुलाब था। मघवा नक्षत्र में जन्म होने के कारण उनका नाम मघराज रखा गया।

माणकगणी का जन्म राजस्थान की राजधानी जयपुर नगर में वी. नि. २३८२ (वि. १९१२) भाद्रव कृष्णा चतुर्थी को जौहरी परिवार में हुआ। उनका गोत्र खारड़ था। उनके पिता का नाम हुकमीचन्दजी एवं माता का नाम छोटांजी था। उनके बाबा का नाम लक्ष्मणदासजी था।

जीवन-वृत्त

मघवागणी एवं गुलाब दोनों रूप-सम्पन्न एवं बुद्धि-सम्पन्न थे। युवाचार्य जीतमलजी का बीदासर में चतुर्मास हुआ। युवाचार्य के प्रवचनों ने बीदासर के लोगों को मन्त्रमुग्ध कर दिया। पूरनमलजी की पत्नी बन्नांजी, पुत्र मघराज एवं पुत्री गुलाब के मन में जयाचार्य के प्रवचनों से नया परिवर्तन आया। ये तीनों संयमी जीवन ग्रहण करने के लिए तैयार हुए। संयमी जीवन स्वीकार करने के लिए कम-से-कम नौ वर्ष की आयु होना आवश्यक है। गुलाब की आयु कम होने के कारण महान् त्याग मार्ग पर बढ़ने में बाधा थी। पुत्री को साथ रखने के लिए मां बन्नांजी को कुछ समय के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ी। मघवागणी के मन में मुनि बनने की अत्यधिक उत्सुकता थी। उन्हें अपने इस कार्य में स्वल्प समय का विक्षेप भी भारी अनुभूत हो रहा था। अतः वे मां से अनुमति प्राप्त कर दीक्षा के लिए तैयारी करने लगे। युवाचार्य जीतमलजी के सामने अपनी भावना प्रस्तुत की। तत्त्वज्ञान सीखा। बालक मघवा के व्यक्तित्व में अप्रतिम योग्यता प्रतिभासित हो रही थी। युवाचार्य जय बालक के जीवन से प्रभावित हुए। उन्होंने चतुर्मास समाप्ति के बाद मृगसर कृष्णा पंचमी को मघराज को दीक्षा प्रदान करने की घोषणा की। इस घोषणा से मघराज के मन में खुशियां उछलने लगीं। परिवार वालों ने नाना प्रकार के उत्सव मनाए। दीक्षा तिथि जैसे-जैसे नजदीक आ रही थी, वैरागी के मन का उल्लास बढ़ता जा रहा था।

दीक्षा के दिन घटना-चक्र ने विचित्र मोड़ लिया। लोगों के बहकावे से दीक्षार्थी मघवा के चाचा का मानसिक संतुलन बिगड़ गया। वैरागी का जुलूस दीक्षा-स्थल की ओर बढ़ रहा था। मार्ग में ही काका ने घोड़ी पर सवार मघराज को हाथ पकड़कर नीचे उतार लिया, उसे गढ़ में ले गए और कहने लगे "मुझे मघराज को दीक्षा नहीं दिलवानी है।" लोगों ने उनको समझाने का बहुत प्रयत्न किया पर सफलता नहीं मिली।

मुनि किसी व्यक्ति को दीक्षा प्रदान करने के लिए अथवा रोग आदि की विशेष स्थिति में चतुर्मास समाप्ति के बाद वहां रुक सकते हैं। चातुर्मासिक स्थिति की इस मर्यादा के अनुसार युवाचार्य जीतमलजी ने दीक्षा नहीं होते देखकर तत्काल बीदासर से लाडनूं की तरफ विहार किया।

काका की इस हरकत से दीक्षार्थी के मन में उदासी होना स्वाभाविक था। घर-घर में इस घटना की चर्चा थी। परिवार वाले इस स्थिति से चिन्तित थे। गुरुदेव का विहार होने के बाद वैरागी मघराज ने नाना प्रकार के प्रयत्नों से काका को अपने विचारों से सहमत किया। लाडनूं जाकर काका सहित परिवार वालों द्वारा पुनः प्रार्थना करने पर युवाचार्य जीतमलजी ने वी. नि. २३७८ (वि. १९०८) मृगसर कृष्णा द्वादशी को बालक मघराज को सहस्रों लोगों के बीच मुनि-दीक्षा प्रदान की।

तेरापंथ शासन के तृतीय आचार्य ऋषि रायचन्दजी उस समय मेवाड़ में विराज रहे थे। मुनि मघराज की दीक्षा का समाचार उनके पास पहुंचे उस समय उन्हें तत्काल तीन छींक आईं। प्रथम छींक के समय उन्होंने कहा यह साधु होनहार होगा, दूसरी बार छींक के समय उन्होंने कहा यह मुनि अग्रणी बनकर विचरेगा। तीसरी बार पुनः छींक आने पर उनके सहज शब्द निकले यह मुनि जीतमल का भार सम्भालने वाला होगा।

उत्तम पुरुषों की वाणी फलवान होती है। मघवागणी के सम्बन्ध में ऋषि रायचन्दजी द्वारा कहे गए शब्द साकार हुए। तेरापंथ धर्मसंघ में जयगणी के बाद मघवागणी आचार्य बने।

संयमी जीवन में मुनि मघराज ने जयाचार्य की सन्निधि में रहकर बहुमुखी विकास किया। नम्रता, सहनशीलता, गम्भीरता, पापभीरुता आदि गुण मघवागणी के स्वभावगत हो गए। जयाचार्य के प्रति मघवागणी की अनन्य आस्था थी। गुरुसेवा का वियोग उन्हें एक दिन के लिए भी असह्य हो जाता था। जयाचार्य भी शिष्य मघवा को एक दिन के लिए भी दूर रखना नहीं चाहते थे। कालू गांव में एक बार मुनि मघवा को चेचक ने आक्रान्त किया। ग्राम छोटा था। मर्यादा महोत्सव सन्निकट होने के कारण साधु-साध्वियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। आहार-पानी की असुविधा का होना स्वाभाविक था। आस-पास के बारह गांवों से गोचरी की जाती थी। इन सभी कठिनाइयों के होते हुए भी जयाचार्य वहां २७ रात तक रुके। मुनि मघवागणी के स्वस्थ होने के बाद उन्होंने वहां से विहार किया। गुरु-शिष्य की ऐसी अभिन्नता तेरापंथ धर्मसंघ के इतिहास में वात्सल्य एवं समर्पण का प्रेरक पृष्ठ है।

मुनि मघराजजी ज्ञानार्जन में अप्रमत्त भाव से प्रवृत्त थे। जयाचार्य की प्रेरणा से उन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। सारस्वत व्याकरण का पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका का उत्तरार्ध कण्ठाग्र किया। अनेक काव्य भी पढ़े। किरातार्जुनीय, दुर्घटकाव्य, समाधितन्त्र, योगशास्त्र आदि ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर संस्कृत भाषा पर प्रभुत्व स्थापित किया। वे तेरापंथ धर्मसंघ के प्रथम संस्कृत विद्वान् थे। वे व्याख्यान में कई बार संस्कृत काव्यों का वाचन करते थे। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगम, रामचरित, शालिभद्र आदि कई आख्यान उन्हें अच्छी तरह से कण्ठस्थ थे। उनकी आगम ज्ञान में रुचि थी। बत्तीस आगमों का उन्होंने कई बार स्वाध्याय किया था। मघवागणी की स्मरण शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। एक बार उन्होंने पण्डित दुर्गादासजी के समक्ष सारस्वत व्याकरण के कुछ अंशों को २६ वर्ष के बाद ज्यों का त्यों दुहरा दिया था। पण्डित दुर्गादासजी मघवागणी की स्मरण-शक्ति पर आश्चर्यचकित थे।

मघवागणी को १४ वर्ष की अवस्था में जयाचार्य ने सरपंच बनाया था, यह मघवागणी की निष्पक्षता का उदाहरण है।

वी. नि. २३८२ (वि. सं. १९१२) में जयाचार्य की आंखों में तकलीफ हो गई। मर्यादा पत्र वाचन का अवसर आया। जयाचार्य ने यह गुरुतर कार्य मुनि मघवा को सौंपा। उस समय मघवा मुनि की अवस्था लगभग

१६ वर्ष की थी।

जयाचार्य द्वारा वी. नि. २३६० (वि. सं. १९२०) में मुनि मघवा की नियुक्ति युवाचार्य पद पर की गई। उस समय युवाचार्य मघराज जी २४ वर्ष के थे।

युवाचार्य अवस्था में 'मघवा' ने धर्मशासन के कई गुरुतर कार्य सम्भाल लिए। जयाचार्य, युवाचार्य के कार्य से प्रसन्न थे। वे कई कार्यों से निवृत्त होकर साहित्य संरचना में प्रवृत्त हुए।

मघवागणी १८ वर्ष तक युवाचार्य पद पर रहे, परन्तु उन्हें कभी इस पद का अहंकार नहीं था। वे पहले की तरह युवाचार्य बनने के बाद भी सरल और नम्र रहे।

जयाचार्य का वी. नि. २४०८ (वि. १९३८) में स्वर्गवास होने के बाद जयपुर में मघवागणी ने तेरापंथ धर्मसंघ का दायित्व सम्भाला।

मघवागणी ३० वर्ष तक जयाचार्य के पास रहे। अतः उन्हें अपने गुरु से विविध अनुभव प्राप्त हुए। आचार्यकाल में मघवागणी ने प्रायः राजस्थान में विहरण किया। जयपुर चतुर्मास समाप्त कर जब मघवागणी आचार्य बनने के बाद पहली बार थली प्रदेश में पधारे, उस समय धर्मसंघ ने आपका अभूतपूर्व स्वागत किया। धर्मसंघ की विशेष प्रभावना हुई। सहस्रों व्यक्तियों ने सम्यक्त्व दीक्षा ग्रहण की। सरदारशहर के सैकड़ों व्यक्ति तेरापंथ धर्मसंघ के अनुयायी बने।

जब मघवागणी का शासनकाल प्रारम्भ हुआ उस समय साध्वीप्रमुखा पद पर साध्वी गुलाब थी। वी. नि. २४१० (वि. सं. १९४०) के पौष महीने में भगिनी महासती गुलाब का स्वर्गवास हो गया था। मघवागणी ने साध्वी नवलांजी को प्रमुखा पद पर नियुक्त किया।

उदयपुर आदि क्षेत्रों में मघवागणी के चतुर्मास विशेष प्रभावक रहे। तत्कालीन महाराजा फतेहसिंहजी ने मघवागणी के सम्पर्क में आकर बोध प्राप्त किया। उदयपुर के सुविश्रुत कविवर सांवलदासजी भी मघवागणी से प्रभावित थे।

मघवागणी के शासनकाल में ११९ दीक्षाएं हुईं उनमें संतों की संख्या २६ एवं साध्वियों की संख्या ८३ थी।

धर्मसंघ के संचालन में मघवागणी की कोमल अनुशासना सामूहिक जीवन में अहिंसा का अभिनव प्रयोग था।

माणकगणी माणकगणी का जन्म लम्बी प्रतीक्षा के बाद हुआ, अतः परिवार में उल्लास का वातावरण था। घर के हर सदस्य के मन में खुशियां थीं। माता-पिता का हृदय हर्षातिरेक से भर गया, परन्तु शिशु माणक को पिता का वात्सल्य एवं मां की ममता अधिक समय तक नहीं मिली। शिशु की अल्पायु में माता-पिता का देहावसान हो गया। लाला लिछमणदासजी (माणक के पिता के बड़े भ्राता) ने अत्यन्त स्नेह के साथ माणकगणी का पालन-पोषण किया एवं धार्मिक संस्कारों से संस्कारित किया। माणकगणी बचपन से ही विनम्र एवं स्थिर योगी थे। शहरी बालकों जैसी चंचलता उनमें नहीं थी। लाला लिछमणदासजी के प्रति माणक का विशेष आदरभाव था।

जयाचार्य का वी. नि. २३९८ (वि. १९२८) का चतुर्मास जयपुर में था। इस समय माणकगणी १६ वर्ष के युवक थे। धार्मिक संस्कार उनको लाला लिछमणदासजी से पहले ही प्राप्त थे। जयाचार्य की सन्निधि से माणकगणी के जीवन में धार्मिक संस्कारों की अभिवृद्धि हुई। उनका अधिकांश समय धार्मिक स्थान में बीतने लगा। जयाचार्य के प्रति उनके मन में अनन्त आस्था का भाव जागृत हुआ। साधु-साध्वियों की दिनचर्या ने भी उनके मन को प्रभावित किया। जयाचार्य के वैराग्य रसवर्धक प्रवचनों ने माणक के जीवन की धारा ही बदल दी। संयमी जीवन स्वीकार करने के लिए उनका मन उत्सुक हो गया था। चतुर्मासकाल सानन्द सम्पन्न हुआ। कुछ दिन जयपुर के उपनगरों में विचरण करने के बाद जयाचार्य विहार की तैयारी करने लगे। तब तक लिछमणदासजी को माणक के वैराग्यभाव की जानकारी नहीं थी। माणक ने अपनी भावना को लालाजी के सामने रखने का प्रयत्न ही नहीं किया।

जयाचार्य ने जयपुर से लाडनूं की ओर प्रस्थान

किया। इस यात्रा में लाला लिछमणदासजी के साथ माणक को भी गुरुदेव की उपासना का लाभ प्राप्त हुआ।

जयाचार्य ने माणक के वैराग्य की बात लाला लिछमणदासजी के सामने मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रकट की तथा अनुमति देने के लिए तैयार किया। कुचामन में लाला लिछमणदासजी जयाचार्य के पास बैठे थे। जयाचार्य ने कहा "लालाजी! माणक सुयोग्य बालक है। यह मुनि बनकर धर्मसंघ की विशेष प्रभावना करने वाला हो सकता है।"

माणक की मुनि दीक्षा के शब्द सुनने से लालाजी गद्‌गद हो गए और बोले "दीक्षा लेने के लिए पहले वैराग्य भावना होनी चाहिए। दीक्षा का मार्ग कठोर है, माणक प्रकृति से कोमल है और शरीर से भी कोमल है। शीत, गर्मी आदि के परीषह मुनि जीवन में सहने होते हैं। पुस्तक, पन्ने, उपकरण आदि का भार भी अपने कन्धों पर उठाकर पैदल चलना पड़ता है। कोमल माणक द्वारा संयम के इस दुर्वहमार्ग पर बढ़ना कैसे सम्भव है?"

प्रत्युत्तर में जयाचार्य ने मधुर स्वर में कहा "लालाजी! व्यक्ति का मनोबल और संकल्पबल कठिनाइयों की दुरुह घाटियों को पार कर देता है। माणक के लिए चिन्ता की क्या बात है? तुम्हारा कोमल माणक अधिक भार नहीं उठा सकेगा परन्तु वह रजोहरण को लेकर तो चल सकता है? धर्मसंघ के दायित्व को संभालने के लिए मेरे सामने मुनि मघजी हैं, परन्तु मघजी को भी धर्मसंघ के दायित्व को वहन करने वाले किसी सक्षम व्यक्ति की भी आवश्यकता होगी।"

जयाचार्य द्वारा कहे गए शब्दों ने लालाजी को भाव-विह्वल कर दिया। गुरुदेव के शब्दों में माणक के उज्ज्वल भविष्य का संकेत था। लालाजी विनम्र होकर बोले, "आचार्यदेव! आपकी कृपा के सामने मैं प्रणत हूं। माणक को आपके चरणों में समर्पित कर रहा हूं।" लालाजी से अनुमति प्राप्त होते ही माणक का मन उल्लास से भर गया। जयाचार्य ने तत्काल साधु प्रतिक्रमण सीखने के साथ ही दीक्षा का आदेश दिया। लालाजी जयपुर गए। परिवार को साथ लेकर गुरुदेव के चरणों में पहुंचे।

लाडनूं में वी. नि. २३९८ (वि. सं. १९२८) में फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन जन-समूह के समक्ष जयाचार्य द्वारा माणक का दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ।

मुनि माणक विनम्र एवं सरल थे। अध्ययन की उनमें रुचि थी। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने सर्वप्रथम आगमों का गम्भीर, तलस्पर्शी अध्ययन किया। उन पर जयाचार्य का विशेष कृपाभाव था। उनकी पटुप्रवृत्ति, नियमित प्रवृति, सेवावृत्ति एवं विनयवृत्ति से जयाचार्य प्रभावित हुए। उन्होंने दीक्षा जीवन के तीन वर्ष बाद उनको अग्रगण्य बनाया एवं धर्म प्रचार करने का आदेश दिया।

जयाचार्य के स्वर्गवास के बाद मघवागणी की अनुशासना में उन्होंने अपने जीवन का विकास किया। अनेक जीवनोपयोगी शिक्षाएं मघवागणी से ग्रहण कीं। जयाचार्य की भांति मघवागणी का भी उन पर विशेष कृपाभाव था।

मघवागणी का वी. नि. २४१३ (वि. १९४३) का चतुर्मास जयपुर में था। वहां मुनि माणक ने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया। शब्दबोध, सिद्धान्त चन्द्रिका आदि को कण्ठस्थ कर व्याकरण में प्रगति की। थोड़े वर्षों में उनका सबल-व्यक्तित्व सबके सामने आया। वे प्रभावक मुनि के रूप में प्रतिभासित हुए।

उदयपुर में वहां के महाराजा फतहसिंहजी द्वारा सम्मानित कविवर सांवलदास ने मघवागणी से उत्तराधिकारी का नाम जानना चाहा, उस समय मघवागणी ने मुनि माणक का नाम उनके सामने प्रकट किया।

मघवागणी ने वी. नि. २४१८ (वि. सं. १९४८) में सरदारशहर के मर्यादा महोत्सव के बाद फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी के दिन युवराज पद पर माणकगणी का नाम पत्र पर लिखकर साध्वीप्रमुखाश्री नवलांजी को दिया।

वि. १९४९ चैत्र शुक्ला पंचमी की रात्रि में मघवागणी ने युवाचार्य को नाना प्रकार की शिक्षाएं प्रदान कीं एवं शासन की स्थिति के सम्बन्ध में अनेक

प्रकार की जानकारी दी थी। इसी रात्रि में मघवागणी का पूर्णसमाधि की अवस्था में स्वर्गवास हो गया।

मघवागणी के स्वर्गवास के बाद माणकगणी ने वी. नि. २४१६ (वि. १९४९) में आचार्य पद का दायित्व सम्भाला। उस समय उनकी अवस्था ३८ वर्ष की थी। चैत्र शुक्ला ८ के दिन आचार्य पद-महोत्सव उल्लास के साथ मनाया गया।

माणकगणी के जीवन में कई विरल विशेषताएं थीं। उनका कद लम्बा था, गर्दन भी लम्बी थी। वे लम्बी यात्रा करना पसन्द करते थे। एक साथ वे सात कोस (मारवाड़ी कोस) का विहार आसानी से कर लेते थे। उनकी डग लम्बी थी। सामान्य आदमी की तीन डग जमीन को माणकगणी दो ही डग में माप लेते थे।

हरियाणा वासियों को पूर्वाचार्यों की अपेक्षा माणकगणी का सान्निध्य अधिक प्राप्त हुआ।

माणकगणी का चिन्तन रूढ़ परम्परा पोषित नहीं था। उनके द्वारा धर्मसंघ में कई नये उन्मेष आने की सम्भावनाएं थीं। आचार्य पद पर उन्होंने पांच चतुर्मास किए। सरदारशहर, चूरू, जयपुर, बीदासर इन चार क्षेत्रों के चतुर्मास माणकगणी के धर्म प्रचार की दृष्टि से बड़े प्रभावक रहे। माणकगणी का वी. नि. २४२४ (वि. सं. १९५४) का चतुर्मास सुजानगढ़ में था। वह चतुर्मास आपका अन्तिम चातुर्मास था। महामनस्वी माणकगणी का ४२ वर्ष की अल्पायु में अप्रत्याशित रूप से स्वर्गवास होने के कारण युवाचार्य की नियुक्ति माणकगणी ने नहीं की।

संघ विकास की दृष्टि से उन्होंने अपना समय उन क्षेत्रों में अधिक दिया जहां पूर्वाचार्यों का कम विराजना हुआ।

मघवागणी एवं माणकगणी दोनों के शासनकाल में तेरापंथ धर्मसंघ का चतुर्मुखी विकास हुआ एवं जैन धर्म की प्रगति हुई।

समय-संकेत

मघवागणी एवं माणकगणी दोनों पुण्यवान एवं भाग्यशाली आचार्य थे। उनके आचार्यकाल में सर्वत्र शान्ति का वातावरण बना रहा। मघवागणी ११ वर्ष की उम्र में मुनि बने। जयाचार्य द्वारा २४ वर्ष की उम्र में उनकी युवाचार्य पद पर नियुक्ति हुई। उन्होंने ११ वर्ष आचार्य पद का कुशलतापूर्वक दायित्व सम्भाला। मर्यादा महोत्सव सम्पन्न होने के बाद वी. नि. २४१९ (वि. सं. १९४९) में चैत्र कृष्णा पंचमी के दिन अनशन की स्थिति में पूर्ण समाधिमय क्षणों में मघवागणी का तेरापंथ की राजधानी सरदारशहर में स्वर्गवास हुआ। तेरापंथ धर्मसंघ में उस समय ७१ साधु एवं १९३ साध्वियां थीं।

माणकगणी ने १६ वर्ष की उम्र में संयम दीक्षा ग्रहण की। धर्मसंघ को आचार्य अवस्था में मात्र साढ़े चार वर्ष तक आपका मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। प्रगतिशील माणकगणी का स्वर्गवास वी. नि. २४२४ (वि. सं. १९५४) में हुआ।

मघवागणी और माणकगणी का आगमन मानवता के मंगल प्रभात का आगमन था।

१३४. व्याख्यान वाचस्पति आचार्य विजयानन्द (आत्माराम)

आचार्य विजयानन्दसूरिजी को विद्यानन्दसूरि कहना अधिक उपयुक्त होगा। विजयानन्दसूरि वेद, वेदाङ्ग और भारतीय दर्शनों के ज्ञाता थे। जैन दर्शन के गम्भीर विद्वान् थे। विविध ग्रन्थों का अध्ययन कर ज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने बहुमुखी विकास के स्रोत उद्घाटित किए।

गुरु-शिष्य-परम्परा

मन्दिरमार्गी सम्प्रदाय में विजयानन्दजी के दीक्षा गुरु बुद्धिविजयजी (बुट्टेरायजी) थे। इससे पूर्व विजयानन्दजी ने स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षा ली। विजयानन्दसूरि के शिष्य समुदाय में लक्ष्मीविजयजी, चरित्रविजयजी आदि मुनि थे। विजयानन्दसूरिजी के पट्टधर शिष्य विजयवल्लभसूरिजी थे।

जन्म एवं परिवार

विजयानन्दसूरि का जन्म पंजाब में झेलम नदी के किनारे 'कलश' नामक ग्राम में वी. नि. २३६२ (वि. सं. १८९२) में चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को हुआ। उनके पिता का नाम गणेशचन्द्र और माता का नाम रूपांबाई था। विजयानन्दसूरि का बाल्यकाल का नाम दित्ता और दूसरा नाम देवदास था।

जीवन-वृत्त

बाल्यकाल में ही विजयानन्दजी के मस्तक पर से पिता के संरक्षण का साया उठ गया। मां रूपांबाई ने अपने पुत्र दित्ता के साथ गणेशचन्द्रजी के मित्र जोधमलजी के घर आश्रय लिया। जोधमलजी जैन थे। उनके घर स्थानकवासी सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों का आवागमन होता रहता था। साधु-साध्वियों के सम्पर्क से बालक दित्ता को धार्मिक संस्कार मिले और वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। मुनि जीवन में उनका नाम आत्माराम रखा गया। मुनि आत्मारामजी की शीघ्रग्राही स्मरण शक्ति थी। एक दिन में वे ३०० श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहकर विविध अनुभव कर लेने के बाद आत्मारामजी का धीरे-धीरे मंदिरमार्गी सम्प्रदाय की ओर झुकाव होने लगा। एक दिन बुद्धिविजयजी के पास वी. नि. २४०२ (वि. सं. १९३२) में उन्होंने मन्दिरमार्गी दीक्षा स्वीकार की। यहां सम्प्रदाय परिवर्तन ही नहीं नाम भी परिवर्तित हुआ। उनका पहला नाम आत्माराम तथा दूसरा आनन्दविजय हुआ।

आनन्दविजयजी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मंदिरमार्गी धर्मसंघ ने उनको वी. नि. २४१३ (वि. सं. १९४३) में जैनाचार्य पद से अलंकृत किया। आचार्य बनने के बाद वे आनन्दविजय से विजयानन्द हो गए।

विजयानन्दसूरि समर्थ आचार्य थे। उन्होंने भारत में अध्यात्म का शंखनाद फूंका और विदेशों तक अपने शिष्य वीरचन्द राघव को प्रेषित कर आत्मज्ञान की पीयूष-स्रोतस्विनी प्रवाहित की।

शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर राघवजी का वक्तव्य सुनकर विदेशी लोग जैन धर्म की वैज्ञानिकता पर मुग्ध हुए और उन्होंने पहली बार अनुभव किया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। जैन धर्म के प्रचारार्थ यूरोपीय देशों में कई संस्थाओं को स्थापित करने का श्रेय आचार्य विजयानन्दजी को है।

पाश्चात्य देशों से सम्पर्क करने वाले वे प्रथम आचार्य थे। उन्हें बुलाने के लिए विदेशों से कई निमन्त्रण आए। उनका जाना नहीं हुआ, पर जैन धर्म के प्रचारार्थ उनके प्रयत्न उल्लेखनीय हैं।

साहित्य

विजयानन्दसूरि ने धर्म प्रचार के साथ साहित्य सृजन का कार्य भी किया। तत्त्वनिर्णयप्रसाद, अज्ञानतिमिर भास्कर, शिकागो-प्रश्नोत्तर, सम्यक्त्व शल्योद्धार, जैन

प्रश्नोत्तर, नव तत्त्वसंग्रह, आत्म-विलास, आत्मबावनी, जैनमत वृक्ष आदि विभिन्न ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने श्रुतसम्पदा को बढ़ाया। इन ग्रन्थों में जैन दर्शन एवं आत्म बोध को समझाने का प्रयत्न किया गया।

समय-संकेत

विजयानन्दसूरिजी ने जागरूक जीवन जिया तथा भौतिक देह का विसर्जन जागरूक क्षणों में किया।

उन्होंने वी. नि. २४३२ (वि. सं. १९५२) ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण किया। प्रतिक्रमण क्रिया के बाद परिपार्श्व में बैठे मुनियों से क्षमत-क्षमापना किया। तदन्तर वे बोले "हम जा रहे हैं।" इतना कहकर वे अर्हत्, अर्हत् की ध्वनि का उच्चारण करते हुए स्वर्गवासी हो गए।

१३५. अज्ञान तिमिरनाशक आचार्य डालगणी

डालगणी तेरापंथ धर्मसंघ के सातवें आचार्य थे। वे आगम मर्मज्ञ, शास्त्रार्थ निपुण, तार्किक प्रतिभा के धनी, कष्टसहिष्णु, दृढ़संकल्पी, उग्रपाद विहारी, अनन्त मनोबली एवं महान् आचार्य थे। दीप्तिमान भाल, विकस्वर नयन, गम्भीर दृष्टि एवं बुलन्द स्वर उनके बाह्य व्यक्तित्व के असाधारण गुण थे। उनका अन्तरंग व्यक्तित्व भी अनेक विशेषताओं से सम्पन्न था। स्वयं के कर्तृत्व ने उनके व्यक्तित्व में विलक्षण क्षमताओं को विकास दिया। उन्होंने कच्छ में लम्बे समय तक विहरण कर धर्म सरिता को प्रवाहित करने का कठिन व श्रमसाध्य कार्य किया।

गुरु-परम्परा

डालगणी की दीक्षा जयाचार्य के निर्देश से मुनिश्री हीरालालजी द्वारा हुई। जयाचार्य की सन्निधि में ज्ञानार्जन किया। जयाचार्य के बाद मघवागणी से उन्होंने नाना प्रकार की शिक्षाएं प्राप्त कीं। वे छठे आचार्य माणकगणी के उत्तराधिकारी बने। मघवागणी, माणकगणी की जो गुरु परम्परा है वही डालगणी की है। तेरापंथ धर्मसंघ में सब आचार्यों की एक ही गुरु परम्परा है।

जन्म एवं परिवार

डालगणी का जन्म ओसवाल परिवार में वी. नि. २३७९ (वि. सं. १९०९) में आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी को हुआ। भारत की ऐतिहासिक नगरी उज्जयिनी को उनकी जन्मभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके पिताश्री का नाम कानीरामजी एवं माता का नाम जड़ावांजी था। उनका गोत्र पीपाड़ा था।

जीवन-वृत्त

डालगणी का जन्म धार्मिक परिवार में हुआ। पिता का वात्सल्य उनको अधिक समय तक नहीं मिला। उनकी बाल्यावस्था में ही कानीरामजी का देहावसान हो गया। मां जड़ावांजी ने ही पिता और माता दोनों का दायित्व कुशलता से निभाया। अत्यन्त स्नेह से बालक का पालन-पोषण किया। धार्मिक संस्कार उनको अपनी माता से प्राप्त हुए।

जड़ावांजी धार्मिक महिला थी। पति के देहावसान के बाद जड़ावांजी का मन भोग प्रधान जीवन से विरक्त हो गया। सांसारिक व्यवहारों को वह कर्त्तव्य भाव से निभा रही थी। बालक डालचन्द के जीवन का एक दशक पूरा हुआ, दूसरा दशक प्रारम्भ हुआ। इस उम्र में हर बालक समझदार हो जाता है। जड़ावांजी को पुत्र के पालन-पोषण की अब उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी पहले थी, अतः पारिवारिकजनों के संरक्षण में पुत्र की व्यवस्था कर जड़ावांजी संयम ग्रहण करने की तैयारी में लगी। गुरुदेव के आदेश की प्रतीक्षा थी वह प्राप्त हुआ। पूर्ण वैराग्य के साथ जड़ावांजी ने साध्वी गोमांजी से वि. सं. १९२० में पेटलावद में संयम-दीक्षा ग्रहण की।

मां जड़ावांजी की दीक्षा ने पुत्र डालचन्द को संयमी जीवन ग्रहण करने हेतु उत्सुक बनाया। बालक की वैराग्य भावना दिन-प्रतिदिन वृद्धिंगत होती गई। परिवार वालों ने उनको इस त्याग-पथ से विचलित करने का प्रयास किया। डालचन्द अपने निर्णय में दृढ़ रहा। इन्दौर में डालचन्द को मुनि श्री हीरालालजी की उपासना का अवसर मिला। अपनी भावना बालक डालचन्द ने मुनिश्री के सामने प्रकट की। उनसे तात्त्विक ज्ञान का प्रशिक्षण पाया। बालक की योग्यता से मुनिश्री हीरालालजी प्रभावित हुए। परिवार वालों को भी डालचन्द की तीव्र भावना के सामने अनुमति देनी पड़ी। जयाचार्य के आदेश से मुनिश्री हीरालालजी ने वी. नि. २३९३ (वि. सं. १९२३) में भाद्रव कृष्णा द्वादशी को संयमोत्सुक बालक को भागवती-दीक्षा प्रदान की। मां जड़ावांजी की दीक्षा इससे तीन वर्ष पूर्व हुई थी।

मुनि जीवन में डालगणी को चार वर्ष तक जयाचार्य का सान्निध्य प्राप्त हुआ। यह चार वर्ष का काल वि. सं. १९२५ से २८ तक था। डालमुनि के लिए यह समय

ज्ञानार्जन की दिशा में वरदान सिद्ध हुआ। उन्होंने आगमों का गम्भीर अध्ययन किया। उनकी प्रतिभा आगम के गहन रहस्यों को एवं सूक्ष्मताओं को ग्रहण करने में सक्षम थी। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी आदि कई सूत्र डालमुनि को कण्ठाग्र थे।

डालमुनि शास्त्रार्थ करने में निपुण थे। डालमुनि की तार्किक प्रतिभा ने उनको अप्रतिहत चर्चावादी बनाया था। शास्त्र विशारद सन्तों, पण्डितों एवं श्रावकों के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। वे शास्त्रार्थ में सदा अजेय रहे। उनके तर्क इतने अकाट्य होते थे कि प्रतिपक्षी का उनके सामने टिकना कठिन था। शास्त्रार्थ के मध्य में अन्य व्यक्ति का हस्तक्षेप उन्हें सह्य नहीं था। किसी व्यक्ति द्वारा इस प्रकार की हरकतें करने पर वे इतना करारा उत्तर देते कि सामने वाला व्यक्ति पुनः बोलने का साहस भी नहीं कर पाता।

जयाचार्य ने डालमुनि को वी. नि. २४०० (वि. सं. १९३०) में अग्रणी बनाया। धर्म-प्रचार के लिए उनको दूर-दूर तक भेजा। डालमुनि ने अग्रणी काल में कच्छ की तीन यात्राएं कीं। वहां उन्होंने पांच चतुर्मास किए। कच्छ की जनता आपके तेजोमय व्यक्तित्व से अभिभूत थी। उनके प्रवचनों को सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक लोग शास्त्रार्थ के लिए आते और निरुत्तर हो जाते। डालमुनि ने कच्छ में अनेक व्यक्तियों को सुलभ बोधि बनाया। अनेक लोग तेरापंथ के अनुयायी बने। धर्म की विशेष प्रभावना कच्छ प्रदेश में हुई। वहां के लोग डालमुनि को 'कच्छीपूज' कहते थे।

आचार्य माणकगणी के स्वर्गवास के बाद वी. नि. २४२४ (वि. सं. १९५४) में डालमुनि तेरापंथ धर्म-संघ के सप्तम आचार्य बने। तेरापंथ संघ में भावी आचार्य का निर्वाचन आचार्य द्वारा होता है। डालगणी के अतिरिक्त सभी आचार्यों का मनोनयन आचार्यों द्वारा हुआ। माणकगणी का ४२ वर्ष की अल्पायु में ही अकस्मात् स्वर्गवास होने पर उनके द्वारा भावी आचार्य का निर्णय नहीं हुआ। अतः डालगणी का धर्मसंघ द्वारा निर्विरोध निर्वाचन हुआ। यह तेरापंथ धर्मसंघ की असाधारण परीक्षा थी। निर्विरोध चयन डालगणी के व्यक्तित्व की प्रभावकता का उदाहरण है।

डालगणी को जयाचार्य, मघवागणी एवं माणकगणी तीन आचार्यों के अनुभवों का संबल प्राप्त था। उन्होंने कुशलता से तेरापंथ धर्मसंघ का संचालन किया। अनुशासन, संगठन और मर्यादा की भूमिका पर उसे तेजस्विता प्रदान की।

डालगणी के जीवन में कठोरता एवं कोमलता का संगम था। वे इतने तेजस्वी थे कि कभी-कभी उनके पास रहने वाले सन्त भी उनसे बात करने में सकुचाते थे। इतने कोमल थे कि भक्तों की प्रार्थना को पूर्ण करने के लिए वे अपने शरीर की परवाह न करके कभी-कभी यात्रा में लम्बा घुमाव भी ले लेते थे।

डालगणी का नाम लोग मन्त्र की तरह स्मरण करने लगे। एक बार सीकर में मुसलमान गुलाबखां को सांप ने काट लिया। परिवार वाले जीवन की आशा छोड़ चुके थे। उस समय एक तेरापंथी श्रावक ने कागज पर डालगणी का नाम लिखकर उसके हाथ पर बांध दिया। डालगणी के नाम से मन्त्रित जल पिलाया, सांप का जहर उतर गया। गुलाबखां ने बीदासर में डालगणी के दर्शन किए। कुछ दिन तक वहीं रुककर उसने डालगणी से शिक्षामृत का पान किया। डालगणी की प्रेरणा से आजीवन मद्य-मांस का परित्याग कर वह श्रावक की भांति सात्विक जीवन जीने लगा।

शारीरिक अस्वस्थता के कारण डालगणी ने अन्तिम दो चतुर्मास लाडनूं में किए। लाडनूं की जनता को डालगणी के प्रवचनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

समय-संकेत

तेजस्वी आचार्य डालगणी १४ वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। मुनि जीवन के ४३ वर्ष के काल में उन्होंने १२ वर्ष तक तेरापंथ धर्मसंघ के दायित्व का संचालन किया। युवाचार्य का नाम पत्र में गुप्त रूप से लिखकर अपने कर्त्तव्य को पूर्ण किया। उनका वी. नि. २४३६ (वि. सं. १९६६) भाद्रव शुक्ला द्वादशी को लाडनूं में स्वर्गवास हुआ।

१३६. रचनामेधा सम्पन्न आचार्य विजयराजेन्द्र

आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि सौधर्म वृहद् तपोगच्छीय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य थे। वे पहले यति थे फिर क्रियोद्धारक के रूप में सामने आए। वे कई भाषाओं के ज्ञाता एवं महान् साहित्यकार थे। अभिधान राजेन्द्रकोष उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है।

साहित्य

विजयराजेन्द्रसूरि आगम के अनन्य पाठी थे। उन्होंने आगम की विविध सामग्री से परिपूर्ण अभिधान राजेन्द्रकोष की रचना की। अभिधान राजेन्द्रकोष जैन वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

उनकी शिष्य मण्डली में इतिहास-प्रेमी, व्याख्यान-वाचस्पति यतीन्द्रविजय थे। यतीन्द्रविजय की दीक्षा वी. नि. २४२४ (वि. १९५४) आषाढ़ कृष्णा द्वितीया सोमवार को खाचरोद में हुई। उन्होंने विजयराजेन्द्रसूरि की सन्निधि में संस्कृत, प्राकृत भाषा का अध्ययन किया और अभिधान राजेन्द्रकोष रचना में सहयोग दिया।

काल किसी के लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नहीं करता। विजयराजेन्द्र सूरीश्वरजी ने कोष रचना का कार्य पूरा किया पर कोष के प्रकाशन का कार्य पूरा नहीं हुआ, उससे पहले ही काल ने आकर उनके जीवन-द्वार पर दस्तक दी और उनका स्वप्न अधूरा रह गया।

उनके स्वर्गवास के पश्चात् कोष-सम्पादन का कार्य विद्वान् सन्त दीपविजयजी और यतीन्द्रविजयजी की देख-रेख में चलता रहा। सात भागों में पूर्ण राजेन्द्रकोष वी. नि. २४४२ (वि. १९७२) में 'राजसंस्करण' की अभिधा से अलंकृत होकर जनता के सामने आया और शोध पाठकों के लिए उपयोगी हुआ।

समय-संकेत

विजयराजेन्द्रसूरिजी ने वि. सं. १९६० में अभिधान राजेन्द्रकोष की रचना सम्पन्न की। उनका स्वर्गवास वी. नि. २४३३ पौष शुक्ला सप्तमी शनिवार (वि. १९६३) को हुआ था। विजयराजेन्द्रसूरिजी वी. नि. की २५वीं (वि. २०वीं) शताब्दी के विद्वान् थे।

१३७. करुणास्रोत आचार्य कृपाचन्द्र

जैन श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा में कई शाखाएं और गच्छ हैं। उनमें एक खरतरगच्छ है। खरतरगच्छ में जिनदत्तसूरि आदि कई प्रभावक आचार्य हुए हैं। उन प्रभावक आचार्यों की शृंखला में कृपाचन्द्रसूरि भी हैं।

गुरु-परम्परा कृपाचन्द्रसूरि ने पहले यति अमृतजी से वी. नि. २४०६ (वि. सं. १९३६) में यति सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। बहुश्रुत बनने के बाद वे यति से मुनि बने थे।

जन्म एवं परिवार

कृपाचन्द्र का जन्म चान्सू (जोधपुर) ग्राम में वी. नि. २३९३ (वि. सं १९१३) में हुआ। उनका गोत्र बाफणा था और पिता का नाम मेघरथजी था।

जीवन-वृत्त

कृपाचन्द्रसूरि आगमज्ञ और व्याकरणशास्त्र तथा न्यायशास्त्र के ज्ञाता थे। मुंबई में वी. नि. २४४२ (वि. सं. १९७२) में उनको आचार्य-पद पर नियुक्त किया गया। आचार्य पदारोहण के समय उनकी अवस्था लगभग ५९ वर्ष की थी।

मारवाड़, गुजरात, काठियावाड़ और मालव में विहरण कर जैन शासन के उपवन को उन्होंने अपनी सदुपदेश धारा से सींचा। उनकी प्रेरणा से कई पाठशालाओं और पुस्तकालयों की स्थापना भी हुई।

मुनि सब जीवों के प्रति अकारण कारुणिक होते हैं। कृपाचन्द्रसूरि के प्रचार कार्य को देखकर लगता है यह गुण उनमें विशेष रूप से उभरा था। आज भी खरतरगच्छ में कृपाचन्द्रसूरि का नाम विशेष रूप से स्मरण किया जाता है।

समय-संकेत

कृपाचन्द्रसूरि का आचार्य पदारोहण काल वी. नि. २४४२ (वि. सं. १९७२) है। इस आधार पर वे वी. नि. २५वीं (वि. २०वीं) सदी के विद्वान् हैं।

१३८. धर्मदीप आचार्य विजयधर्म

विजयधर्मसूरि श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा में तपागच्छ के ख्याति-प्राप्त आचार्य थे। उन्होंने कई व्यक्तियों को जैन दीक्षा दी। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कई विदेशी विद्वान् भी उनके भक्त बन गए। उन्होंने भारत के बाहर जैन-धर्म के सन्देश को पहुंचाने का विशेष कार्य किया था।

गुरु-शिष्य-परम्परा

विजयधर्मसूरि के दीक्षा-गुरु वृद्धिचन्द थे। वे वृद्धिविजय के नाम से प्रसिद्ध हुए। वृद्धिविजय के शिष्यों में श्री केवलविजय, गम्भीरविजय, उत्तमविजय, विजयधर्म आदि कई शिष्य थे। विजयधर्मसूरि के शिष्य विजयेन्द्रसूरि थे।

जन्म एवं परिवार

विजयधर्मसूरिजी का जन्म 'महुआ' गांव में बीसा श्रीमाल परिवार में वी. नि. २३९४ (वि. १९२४) में हुआ। उनके पिता का नाम रामचन्द्रजी एवं माता का नाम कमलदेवी था। विजयधर्मजी का नाम मूलचन्द था।

जीवन-वृत्त

बालक मूलचन्द स्वतन्त्र मनोवृत्ति का था। पिता रामचन्द्र उसे पढ़ाकर सुयोग्य बनाना चाहते थे। उन्होंने इस हेतु प्रयत्न भी किए, पर बालक को पढ़ने में रुचि नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति के मानस परमाणु तथा रुचियां भिन्न होती हैं। पिता ने बालक मूलचन्द को व्यापारी बनाना चाहा पर बालक सट्टा करने के दुर्व्यसन में फंस गया। पिता बच्चे की इस प्रवृत्ति से चिन्तित थे।

'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्' दुनिया का कौन-सा भला कार्य सत्संगति के द्वारा नहीं होता। पतित व्यक्ति भी सत्संगति से पावन बन जाते हैं। भाग्य से मूलचन्द को सन्तों का पावन सान्निध्य मिला। विचारों की धारा बदली। सट्टे के व्यसन से मुक्त होकर बालक वैरागी बना।

मुनिश्री वृद्धिचन्दजी के पास मूलचन्द ने वी. नि. २४१३ (वि. सं १९४३) में मुनि-दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में मूलचन्द को धर्मविजय के नाम से सम्बोधित किया गया।

मुनि धर्मविजय संयम और श्रुत की आराधना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने आगम ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया। ज्ञान प्राप्त करने में उनकी रुचि प्रतिदिन वृद्धिंगत होती गई। गृहस्थ में उन्होंने ज्ञान के क्षेत्र में अधिक विकास नहीं किया पर मुनि जीवन में शास्त्रों के ज्ञाता बने। उनका नाम विद्वानों की श्रेणी में आने लगा।

काशी नरेश के सभापतित्व में उनको वी. नि. २४३४ (वि. सं. १९६४) में अनेक विद्वानों के बीच 'शास्त्र विशारद' की उपाधि से अलंकृत कर जैनाचार्य के पद से विभूषित किया गया।

आचार्य बनने के बाद धर्मविजय के स्थान पर वे विजयधर्मसूरि के नाम से सम्बोधित होने लगे। उन्होंने धर्म प्रचारार्थ गुजरात, बिहार, बंगाल, बनारस, इलाहाबाद और कलकत्ता आदि क्षेत्रों में विहरण किया एवं जनता को धर्म का बोध दिया।

समय-संकेत

विजयधर्मसूरिजी वृद्धावस्था में शिवपुरी (ग्वालियर) गए। उस समय उनकी देह-शक्ति क्षीण हो गई। अपनी साधना में रत आचार्य विजयधर्मसूरिजी का वी. नि. २४४९ (वि. सं. १९७९) में स्वर्गवास हो गया।

१३९. बुद्धिमान आचार्य बुद्धिसागर

बुद्धिसागरसूरि का नाम योगियों की परम्परा में प्रख्यात है। बुद्धिसागर शरीर सम्पदा से सम्पन्न थे। उनकी अंगुलियों में अठारह चक्र थे। उनकी प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी।

गुरु-परम्परा

बुद्धिसागरजी तपागच्छीय आचार्य सुखसागरजी के शिष्य थे। सुखसागरजी के गुरु का नाम रविसागरजी था। उनका दीक्षा संस्कार सुखसागर जी द्वारा हुआ। रविसागरजी श्रीमयासागरजी के शिष्य और नेमसागरजी के प्रशिष्य थे।

जन्म एवं परिवार

बुद्धिसागर का जन्म बड़ोदरा राज्यान्तर्गत 'बीजापुर' गांव में वी. नि. २४०० (वि. सं. १९३०) माघ कृष्णा चतुर्दशी को हुआ। वे पटेल जाति के थे। उनके पिता का नाम शिवजी भाई तथा माता का नाम अम्बाबाई था। बुद्धिसागरजी का गृहस्थ का नाम 'वहेचर' था।

जीवन-वृत्त

बुद्धिसागरजी के पिता शिवजी भाई पटेल 'शिव' के उपासक थे। माता अम्बा बाई 'वैष्णव' थी। बुद्धिसागरजी रविसागरजी महाराज से जैन धर्म का बोध प्राप्त कर जैन धर्म के अनुयायी बने। पालनपुर में उन्होंने रविसागरजी महाराज के शिष्य सुखसागरजी महाराज से वी. नि. २४२७ (वि. सं. १९५७) में मुनि-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था २७ वर्ष की थी।

बुद्धिसागर बुद्धि के सागर थे। उनकी रसनेन्द्रिय पर विशेष विजय थी। उनकी प्रवचन-शैली प्रभावक थी। 'पेथापुर' में वी. नि. २४४० (वि. १९७०) में बुद्धिसागरजी की आचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

जैन धर्म को बुद्धिसागर वीरों का धर्म मानते थे। अहिंसा को वीरों की अहिंसा मानते थे। संकट की घड़ियों का उन्होंने धैर्य से सामना किया।

वे उग्र विहारी थे और प्रबल स्वाध्यायी थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग २५०० पुस्तकों का वाचन किया। आगमसार पुस्तक को उन्होंने सौ बार पढ़ा। ध्यान-योग साधना में उनकी रुचि थी। वे जीवन का सर्वोपरि पथ ध्यान और योग साधना को मानते थे।

साहित्य

बुद्धिसागर हिन्दी, संस्कृत एवं गुजराती भाषा के विद्वान् थे। इन तीनों भाषाओं में उन्होंने साहित्य रचना की। उनके ग्रन्थों की कुल संख्या १०८ बताई गई है। उनमें २२ ग्रन्थ संस्कृत के हैं। हजार पृष्ठों का विशालकाय 'महावीर ग्रन्थ' लिखकर उन्होंने अध्यात्म साहित्य को गौरवमय उपहार भेंट किया। आनन्दघनजी के अध्यात्मपरक पदों के विवेचन का श्रेय भी उन्हें है। वे अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या (डायरी) लिखते थे।

बुद्धिसागर प्रमुख रूप से साहित्यकार नहीं, योग साधक थे। साहित्य रचना उनकी योग साधना की निष्पत्ति थी। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में योग के स्वर मुखरित हुए हैं।

समय-संकेत

कर्मयोगी, ज्ञानयोगी एवं ध्यानयोगी बुद्धिसागर ने ११ वर्ष तक अपने संघ का सफलतापूर्वक संचालन किया। उनका वी. नि. २४५१ (वि. सं. १९८१) ज्येष्ठ कृष्णा तीज को स्वर्गवास हुआ।

१४०. कमनीय कलाकार आचार्य कालूगणी

कालूगणी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के अष्टमाचार्य थे। वे सफल अनुशास्ता, निस्पृह कर्मयोगी, कुशल मनोवैज्ञानिक, न्याय के पक्षधर, अनाग्रही, बहुमुखी विकास के प्रेरणास्रोत, शान्तिप्रिय एवं श्रमनिष्ठ आचार्य थे।

उनके शासनकाल में हेमव्याकरण के समकक्ष 'भिक्षु शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ की रचना हुई। जैन धर्म की प्रभावना में उनका विविध रूपों में अवदान है।

गुरु-परम्परा

तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्य भिक्षु की उत्तराधिकारी परम्परा में चतुर्थ जयाचार्य के उत्तराधिकारी मघवागणी आचार्य कालू के दीक्षा गुरु थे। मघवागणी के बाद माणकगणी और डालगणी के मार्गदर्शन में कालूगणी ने विविध दिशाओं में विकास किया। तेरापंथ धर्मसंघ का उत्तरदायित्व उन्होंने डालगणी के बाद सम्भाला।

जन्म एवं परिवार

आचार्य कालूगणी का जन्म वी. नि. २४०३ (वि. सं. १९३३) को छापर निवासी कोठारी परिवार में हुआ। छापर वर्तमान में राजस्थान के चूरू जिले के अन्तर्गत है। कालूगणीजी मूलचंदजी के इकलौते कुलदीप थे। उनकी माता का नाम छोगांजी था।

जीवन-वृत्त

कालूगणी की मां छोगांजी निर्भीक और धर्मनिष्ठ महिला थी। कालूगणी जब तीन दिन के थे तब छोगांजी को भयंकर दैत्याकार काली छाया अपनी ओर बढ़ती हुई दिखाई दी। एक हाथ से उन्होंने पुत्र की रक्षा की तथा दूसरे हाथ से उस डरावनी काली छाया को पछाड़कर सिंहनी की तरह निर्भयता का परिचय दिया।

मातृगुणों का सहज संक्रमण सन्तान में होता है। छोगांजी के गुणों का विकास कालूगणी में हुआ। शैशव अवस्था में ही उनमें धार्मिक संस्कारों की नींव गहरी हो गई।

कालूगणी स्वाभिमानी बालक थे। घटना बीदासर की है जब कालूगणी बैरागी बने हुए थे। दीक्षा के समय उनकी शोभा-यात्रा निकाली जा रही थी। बीदासर के शोभाचन्दजी बैंगानी ने बैरागी कालू को बहुमूल्य हार पहनने को दिया। स्वाभिमानी बालक कालू ने उसे अस्वीकार कर दिया। पुनः-पुनः मनुहार करने पर भी उसे नहीं पहना। अपनी मां से बैरागी कालू ने कहा "मां! क्या हार पहनना मेरे लिए जरूरी है। हार के बिना क्या मैं अच्छा नहीं लगता। जो आभूषण अपने घर में हैं उनका भी परित्याग करने जा रहा हूं फिर दूसरों का हार पहनकर शरीर का सौन्दर्य बढ़ाने का क्या अर्थ है?" बालक के विचारों में पराई वस्तु से स्व का गौरव बढ़ाने की बात व्यर्थ थी और स्वाभिमान के प्रतिकूल थी। बैरागी के उत्तर से लोग अवाक् रह गए।

माता छोगांजी एवं मौसी-पुत्री बहिन कानकंवरजी के साथ वे ग्यारह वर्ष की उम्र में वी. नि. २४१४ (वि. सं १९४४) आश्विन शुक्ला तृतीया को बीदासर में आचार्य मघवागणी से दीक्षित हुए। मघवागणी तेरापंथ धर्मसंघ के पंचम आचार्य थे। वे कोमल प्रकृति के थे। उनकी सन्निधि में रहकर कालूमुनि ने साधना और शिक्षा के क्षेत्र में बहुमुखी विकास किया। तेरापंथ धर्मसंघ के सप्तम आचार्य डालगणी के बाद वी. नि. २४३६ (वि. सं. १९६६) में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। दीक्षा से आचार्य पद पर आरूढ़ होने तक का बाईस वर्ष का काल उनके लिए व्यक्तित्व निर्माण का सर्वोत्तम समय था। इस प्रलम्बमान अवधि में शिक्षा और साधना के साथ उन्हें अनेक अनुभवों का सम्बल प्राप्त हुआ।

तेरापंथ धर्मसंघ के छठे आचार्य श्री माणकगणी के स्वर्गवास के बाद कालूमुनि को आचार्य पद पर आरूढ़ करने की अन्तरंग चर्चाएं चलीं। यह भेद उस दिन खुला

जब सप्तमाचार्य डालगणी ने एक दिन मगन मुनि (मन्त्री) से कहा 'संघ ने मेरा नाम मेरी अनुमति के बिना कैसे चुना? मैं इस पद को नहीं स्वीकार करता तो दूसरा नाम किसका सोचा था?' मगन मुनि ने इस अवसर पर डालगणी के सामने विकल्प में कालूमुनि का नाम प्रस्तुत किया। डालगणी का ध्यान तब से ही भावी आचार्य के रूप में कालूमुनि पर केन्द्रित हो गया।

डालगणी ने वी. नि. २४३६ (वि. सं. १९६६) श्रावण कृष्णा एकम को कालूगणी का नाम आचार्य पद के लिए पत्र पर लिख दिया, पर यह भेद लगभग दो महीने तक जनता के सामने नहीं खुला। युवाचार्य पद पर कालूगणी गुप्त रूप में रहे, ऐसा होना कालूगणी की प्रकृति के अनुकूल था। वे कभी अपना प्रदर्शन नहीं चाहते थे और पद-लालसा से दूर थे।

आचार्य कालूगणी शरीर सम्पदा से सम्पन्न थे। लम्बा कद, सुडौल देह, गोलाकार मस्तक, प्रशस्त ललाट, चमकीली आंखें, उन्नत गर्दन, गेहुंआ वर्ण और प्रसन्न आकृति उनके बाह्य व्यक्तित्व की झांकी थी। उनका अन्तरंग व्यक्तित्व मघवागणी का वात्सल्य, माणकगणी की उपासना और डालगणी के कठोर अनुशासन के निकष पर उत्तीर्ण कनक था।

उनके शासनकाल में तेरापंथ धर्मसंघ की अभूतपूर्व प्रगति हुई। साधना, शिक्षा, कला, साहित्य आदि विविध पक्षों में उन्होंने नये कीर्तिमान स्थापित किए।

उस समय तेरापंथ धर्मसंघ में श्रमण-श्रमणी परिवार की भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई। आचार्य डालगणी के स्वर्गवास के समय ६८ साधु एवं २३१ साध्वियां थीं। आचार्य श्री कालूगणी के शासनकाल में ४१० दीक्षाएं हुई उनमें अधिकतर लघुवय के बालक और बालिकाओं की दीक्षाएं हुई। कई दम्पति भी दीक्षित हुए। इससे धर्मसंघ की विशेष प्रभावना हुई।

आचार्य कालूगणी ने जयाचार्य जितनी लम्बी यात्राएं नहीं कीं परन्तु जहां भी उनके चरण टिके और जिन क्षेत्रों में उनके चतुर्मास हुए, वहां धर्म की गंगा प्रवाहित हो जाती थी।

आचार्य कालूगणी ने अधिक चतुर्मास थली प्रदेश में किए। उनका वि. सं. १९७२, ९२ का चतुर्मास उदयपुर में, ७७ का चतुर्मास भिवानी में, ७९ का चतुर्मास बीकानेर में, ८० का चतुर्मास जयपुर में तथा ९३ का चतुर्मास गंगापुर में हुआ।

बीकानेर का चतुर्मास धर्म प्रचार की दृष्टि से विशेष प्रभावी रहा। वहां स्थानीय लोगों द्वारा उग्र विरोध हुआ पर कालूगणी की शान्तिपूर्णनीति से विरोध स्वतः निरस्त होता गया। मार्ग आगे से आगे बनता रहा। कालूगणी के सौम्य स्वभाव से विरोधी स्वयं नतमस्तक हो गए। बीकानेर में उनका प्रथम पदार्पण वि. १९७० में हुआ। उनकी वि. १९७६-७७ की हरियाणा यात्रा एवं वि. १९८० की ढूढांड़ प्रदेश यात्रा भी काफी सफल रही। कालूगणी की अन्तिम यात्रा धर्म प्रभावना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। गुरुदेव इस यात्रा में मारवाड़, मेवाड़, मालवा क्षेत्र का स्पर्श कर पुनः मेवाड़ पधारे। आचार्य श्री कालूगणी की इस यात्रा का वि. १९९१ का चतुर्मास जोधपुर में, वि. १९९२ का चतुर्मास उदयपुर में एवं वि. १९९३ का चतुर्मास गंगापुर में हुआ। जैन-जैनेतर लोगों ने गुरुदेव के सम्पर्क में आकर सदुपदेशों से लाभ प्राप्त किया। मालवा प्रदेश में होने वाला विरोध भी आचार्य प्रवर के सौम्य व्यवहार से शान्त हो गया।

जैन धर्म का प्रचार करने हेतु सुदूर प्रदेशों में साधु-साध्वियों के विहार क्षेत्र को कालूगणी ने विस्तृत किया। डालगणी के समय तक साधु-साध्वियों का मुख्य विहरण क्षेत्र राजस्थान तथा हरियाणा प्रदेश था। कुछ चुने हुए ग्रुपों को मालवा तथा कच्छ की तरफ भेजा जाता था किन्तु कालूगणी के शासनकाल में साधु-साध्वियों की प्रलम्बमान यात्राएं प्रारम्भ हुई। गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में साधु-साध्वियों को प्रेषित करने का श्रेय उनको है। पूर्वाचार्यों के समय में मध्यप्रदेश की यात्रा भी सुदूर यात्रा मानी जाती थी।

आचार्य कालूगणी को तेरापंथ धर्मसंघ में संस्कृत भाषा को विकसित करने का प्रमुख श्रेय है। जयाचार्य ने संस्कृत का बीज बोया। मघवागणी ने उसे परिसिंचन

दिया पर अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में उसका विकास नहीं हुआ परन्तु वह आचार्यश्री कालूगणी के समय में शतशाखी वटवृक्ष के रूप में फलित हुआ।

कालूगणी को संस्कृत भाषा के विकास के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ा था। आचार्यकाल के व्यस्त कार्यक्रम में भी वे एकान्त में बैठकर व्याकरण के सूत्रों को स्वयं कण्ठस्थ करते एवं शिष्यों को इस ओर गतिशील बनाने में सदा प्रयत्नशील रहते थे।

एक बार कालूगणी ने स्वप्न में सूखे पादप को अपनी आंखों के सामने पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते देखा। कालूगणी ने चिन्तन किया संस्कृत विद्या का सूखा वृक्ष एक दिन धर्म-संघ में अवश्य हरा-भरा होगा।

स्वप्न भी सत्य होते हैं और भविष्य के संकेत देते हैं। कालूगणी का यह स्वप्न उनके जीवन में साकार हुआ। कई मुनि उनकी प्रेरणाओं से संस्कृत के दिग्गज विद्वान् बनकर सामने आए। इस दिग्गज मुनि मण्डली में एक नाम आचार्य श्री तुलसी का है।

कई प्रतिभा-सम्पन्न श्रमण-श्रमणी सफल साहित्यकार, प्रवर वैयाकरण, कुशलवाग्मी, प्रबल प्रचारक के रूप में धर्म प्रभावना में निमित्त बने। उनके विकास में ऊर्जा केन्द्र आचार्य कालूगणी थे।

संस्कृत के पारगामी विद्वान् आशु कविरत्न, आयुर्वेदाचार्य पण्डित रघुनन्दनजी का तेरापंथ धर्मसंघ में संस्कृत विकास हेतु असाधारण योगदान रहा। पण्डित रघुनन्दनजी धीर, गम्भीर एवं सहज विनम्र स्वभावी विद्वान् थे। उनके जीवन में वाक् संयम और दृष्टि संयम दोनों ही गुण विकासमान थे। वे साधु-साध्वियों को संस्कृत व्याकरण एवं दुरुह काव्यों को सरलता से पढ़ाते थे। वे व्याकरण के कठिन सूत्रों को उदाहरण व दृष्टान्तों से सुग्राह्य और सुपाच्य बना देते थे। उनके पास शिक्षार्थी मुनियों की पढ़ने की उत्सुकता रहती थी। पं. रघुनन्दनजी को आचार्य कालूगणी के सम्पर्क में चूरू के रावतमलजी यति लाए।

सरदारशहर का वि. सं. १९७४ का चातुर्मास सम्पन्न होने के बाद जब गुरुदेव चूरू पधारे; उस समय प्रथम बार ही पण्डित रघुनन्दनजी का तेरापंथ धर्मसंघ के साथ सम्पर्क हुआ। प्रथम सम्पर्क में ही वे तेरापंथ धर्मसंघ की गतिविधियों तथा मुनियों की चर्या से प्रभावित हुए। उन्होंने उस प्रसंग में साधु-शतक नामक लघुकृति की रचना भी की।

साधु-साध्वियों का संस्कृत अध्ययन पण्डित रघुनन्दनजी के पास प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों के आधार पर होता था परन्तु कालूगणी को प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों से सन्तोष नहीं था। उनकी दृष्टि में प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों के सूत्र आवश्यकता से अधिक जटिल तथा विस्तृत थे। कालूगणी की प्रेरणा से मुनिश्री चौथमलजी तथा आयुर्वेदाचार्य पण्डित रघुनन्दनजी ने भिक्षु शब्दानुशासन नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। यह व्याकरण १८ सहस्र श्लोक परिमाण है। इस वृहद् व्याकरण की रचना के पश्चात् शैक्ष मुनियों के लिए कालू कौमुदी नामक लघु व्याकरण की रचना की। कालूगणी के आशीर्वाद से दोनों ग्रन्थ सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए। ये दोनों ग्रन्थ आचार्य कालूगणी के विद्यानुराग की स्मृति हैं।

आचार्य कालूगणी भाग्यशाली आचार्य थे। उनकी प्रगति के लिए प्रकृति ने द्वार खोले, उन्हें विकास योग्य साधन सहज प्राप्त थे। भगवती सूत्र जैसे दुर्लभ ग्रन्थ की ३६ प्रतियों की उपलब्धि उनके शासनकाल में संघ को हुई।

कालूगणी सूझ-बूझ के धनी थे। उनमें निर्णय लेने की अद्भुत क्षमता थी। एक बार वि. सं. १९८३ में थली के ओसवाल समाज में विदेश यात्रा को लेकर जटिल विवादास्पद स्थिति पैदा हो गई। ओसवाल समाज 'श्री संघ' और 'विलायती' इन दो वर्गों में विभक्त हो गया। पारस्परिक कटुता ने भीषण रूप धारण कर लिया। यह संघर्ष सामाजिक भूमिका पर था, पर कुछ लोग इस स्थिति को धर्म का रंग चढ़ाकर अधिक उलझाने का प्रयत्न कर रहे थे। ऐसी स्थिति में कालूगणी ने गहरी सूझ-बूझ से काम लिया।

यह संघर्ष सामाजिक था। कालूगणी इससे

सम्बन्धित चर्चा नहीं करते थे। साधु-साध्वियों को भी इसमें नहीं उलझने देते थे। कालूगणी की तटस्थ नीति के कारण समाज बड़े खतरे से बच गया।

बाल दीक्षा का विरोध और तेरापंथ सभा की स्थापना

आचार्य कालूगणी के शासन काल में बाल दीक्षा का विरोध यू.पी. असेम्बली में उभरा। इसे बिल रूप में प्रस्तावित करने वाले लाला सुखबीरजी सिन्हा थे।

उन्होंने एक बार कुंभ के मेले में बाल संन्यासियों को बहुत अधिक संख्या में इधर-उधर घूमते देखा। उनकी दीक्षा प्रणाली एवं जीवन-शैली लालाजी को स्वस्थ प्रतीत नहीं हुई। उनके विचारों में विलक्षण मोड़ आया जिसकी प्रतिक्रिया बाल दीक्षा के विरोध में फलित हुई।

कुंभ के मेले से लौटने के बाद यू.पी. असेम्बली के सदस्य लाला सुखवीरसिंहजी ने तत्कालीन यूनाइटेड प्रोविन्सेज (U.P.) असेम्बली में नाबालिग चेला चेलीज रजिस्ट्रेशन (Registration of Miner-chelas) बिल प्रस्तुत किया। इस बिल का तात्पर्य था वर्तमान में दीक्षित और भविष्य में दीक्षित होने वाले नाबालिग साधु-साध्वियों को मजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित होकर अपना रजिस्ट्रेशन करवाना होगा।

ये समाचार बोम्बे (वर्तमान में मुंबई) के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए। इन समाचारों से श्रावक समुदाय में हलचल हुई। कालूगणी को भी इन समाचारों से अवगत कराया गया। श्रीचन्दजी गधैया (सरदारशहर) ने मुनि श्री मगनलाल जी से इस सम्बन्ध में मन्त्रणा की। गुरुदेव से मंगल पाठ सुनकर वे सरदारशहर गए। वृद्धिचन्द जी गोठी व रावतमलजी सेठिया से विचार-विमर्श किया। वार्तालाप के प्रसंग में श्रीचन्द जी ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति देते हुए कहा, "इस कानून को हम किसी भी प्रकार से बनने नहीं देंगे अगर बन भी गया तब भी इसे तेरापंथ पर प्रभावी नहीं होने देंगे।

श्रीचन्दजी गधैया का यह विचार उनकी धर्मसंघ के प्रति अटूट आस्था और सर्वात्मना समर्पण का प्रतीक था।

चुरू के श्री केसरीचन्द जी कोठारी प्रभावशाली व्यक्ति थे। वे कोलकाता में प्रवासित थे, उनका अंग्रेजों के साथ विशेष संपर्क था। अंग्रेजी भाषा पर भी उनका प्रभुत्व था। उनसे भी इन्होंने संपर्क साधा। सारी जानकारी ली। विशेष प्रयत्न पूर्वक उनको भी इन्होंने अपने कार्यवाही में सहयोगी बनाया।

श्रीचन्दजी के सुपुत्र श्री गणेशदासजी की प्रेरणा से केसरीचन्दजी ने राजलदेसर में पूज्य श्री कालूगणी के दर्शन किये। गुरुदेव से पथदर्शन प्राप्त कर कोलकाता लौटे। आर. डीनम कम्पनी के सोलिसिटर (Solicitor) विलियम साहब ने सलाह दी एक रजिस्टर्ड संस्था का गठन कर उसके माध्यम से आगे की कार्यवाही करें। अन्यथा आपकी बात को वहां कोई नहीं सुनेगा और सरकार की तरफ से भी कोई उत्तर नहीं मिलेगा।

विलियम साहब की यह सलाह श्रीचन्दजी गधैया को उचित महसूस हुई।

वृद्धिचन्दजी गोठी, रावतमलजी सेठिया और गणेशदासजी गधैया इन तीनों ने संगठन की रूपरेखा तैयार कर समाज के सामने प्रस्तुत की। इसका कइयों ने विरोध भी किया पर संस्था का गठन करना अनिवार्य हो गया था अतः समाज की सहमति से ई. सन् १९१४ (वि. सं. १९७१) कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा की स्थापना की गई तथा अखिल भारतीय बॉडी का गठन भी हुआ। यह सारा कार्य कार्यकर्त्ताओं की हार्दिक लगन के कारण अतिशीघ्रता से सम्पन्न हुआ।

तदन्तर जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा के माध्यम से नाबालिग चेला-चेलीज रजिस्ट्रेशन बिल को निरस्त करने के लिए यू.पी. (U.P.) असेम्बली में तथा इससे सम्बन्धित व्यक्तियों के पास कई पत्र प्रेषित किए गए। पुनः-पुनः मेमोरेण्डम दिए गए। एक शिष्ट मण्डल इलाहाबाद भी गया। समाज के प्रमुख व्यक्तियों को कई

बार इलाहाबाद जाना पड़ा। लाला सुखवीरसिंहजी को तेरापंथ की मुनि दीक्षा का सारा विधि-विधान समझाया गया।

वाइसराय से सम्पर्क करने के लिए समाज के प्रमुख व्यक्ति श्रीचन्दजी खुद अपने दो साथियों के साथ घुड़सवारी से नैनीताल कई बार गये। मोटर सवारी का श्रीचन्दजी को त्याग था।

घुड़सवारी से इतनी लम्बी यात्रा कठिन थी और खतरनाक भी थी। एक बार घोड़े का पैर फिसल जाने के कारण दुर्घटना होते-होते बची पर श्रीचन्दजी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए।

संकल्प के धनी श्रीचन्दजी संघ हित के लिए कठिन कार्य करने को तैयार रहते थे।

लाला सुखवीरसिंह जी को जब केन्द्रीय असेम्बली दिल्ली के लिए चुन लिया गया तब वह बिल भी दिल्ली असेम्बली में प्रेषित कर दिया। दिल्ली असेम्बली में समय-समय उस बिल पर चर्चा होती रही। विरोध लम्बे समय तक चला।

एक बार लालाजी, नवाब छतारी, राजा मोतीचंद एवं कतिपय मेम्बर्स को वि. सं. १९७९ में बीकानेर में पूज्य कालूगणी के दर्शन करवाये। वहां दीक्षा सम्बन्धी सारी स्थिति से उन्हें अवगत कराया गया। दीक्षा के स्वस्थ वातावरण को देखकर वे खुश हुए। लाला सुखवीरसिंहजी ने कहा इस प्रकार की दीक्षा से हमारा विरोध नहीं है। तेरापंथ धर्मसंघ के विधि-विधानों से वे प्रभावित हुए तथा संतुष्ट होकर दिल्ली लौटे।

विलियम साहब ने बाल दीक्षा के अनुकूल एक प्रोविजा तैयार किया उसे भी दिल्ली असेम्बली में मान्य कर लिया गया। दिनांक ३० जनवरी १९२३ को होम सेक्रेटरी मि. जेम्स करेरा ने अपने लम्बे भाषण में विचारों की प्रस्तुति देते हुए कहा इस प्रकार की व्यवस्था राजा अशोक के राज्य में भी नहीं थी और न ही बादशाह अकबर के राज्य में थी। अभी हमारे सामने बहुत से अहमियत के कार्य हैं जिन्हें पहले करना जरूरी है। इस मामले पर अभी इतना खर्च करना संभव नहीं है अतः इसको अभी यहीं स्थगित रखते हैं।

मारवाड़ जोधपुर असेम्बली में नाबालिग चेला-चेलीज रजिस्ट्रेशन बिल पास भी हो गया जिसकी क्रियान्विति होने पर साधु-साध्वियों को रजिस्ट्रेशन कराना आवश्यक हो जाता। इस घटना से श्रावक समुदाय पुनः चिन्तित हुआ। चिन्तन हुआ, श्रीचन्दजी केसरीचन्दजी आदि जोधपुर आए। जोधपुर में हाईकोर्ट के चीफ जज (Chief Judge) वार साहब थे जब उनसे इस सम्बन्ध में बात की तो उन्होंने कहा बिल पास हो गया है इसका बदलना अब किसी प्रकार से संभव नहीं है।

वार साहब की पत्नी ने केसरीचन्दजी के साथ पारिवारिक सम्बन्धों की दुहाई देते हुए बलपूर्वक वार साहब को कहा आपको किसी प्रकार से इनका काम पूरा करना होगा।

केसरीचन्दजी ने कोलकाता जाकर सोलिसिटर विलियम साहब से मंत्रणा की। विलियम साहब की सलाह रही जब जोधपुर में बिल पास हो गया ऐसी स्थिति में कानून हटाने का तो नहीं कह सकते लेकिन वार साहब से यह मांग कर सकते हैं कि जब सैंट्रल गवर्नमेंट (Central) में यह बिल विचाराधीन है तो जब तक वहां पास न हो उसे यहां लागू नहीं किया जाना चाहिए। इस बात को जोधपुर के वार साहब मान गए। उन्होंने कहा जब तक सैंट्रल गवर्नमेंट कानून नहीं बनाती तब तक इसे यहां पोसपोंड (स्थगित) रखते हैं और यह कानून हमेशा के लिए पोसपोंड ही रह गया।

तेरापंथ श्रावक समाज का प्रयत्न सफल हुआ उन्हें अभूतपूर्व विजय हासिल हुई।

यह सब परम पूज्य कालूगणी के अनन्त पुण्यों का प्रतिफल था। श्रावक समाज भी संघ-निष्ठा, गुरुनिष्ठा, कर्त्तव्य निष्ठा एवं दायित्व के प्रति सतत सजगता का परिणाम था।

समय का पारखी

कालूगणी को प्राचीनता से मोह नहीं था और उनका नवीनता के प्रति उपेक्षा भाव नहीं था। वे समय के

पारखी थे। स्वस्थ परम्परा एवं संस्कृति के संरक्षक थे, उन्हें आवश्यकता एवं उपयोगिता के अनुसार नई परम्परा को जन्म देने में भी तनिक झिझक नहीं थी।

एक बार उदयपुर चतुर्मास में राजलदेसर निवासी चम्पालालजी बैद की प्रेरणा से स्थानीय रेजीडेण्ट ने गुरुदेव कालूगणी के दर्शन किए। नीचे बैठने में रेजीडेंट को कठिनाई थी, इसलिए गुरुदेव के सामने उनके बैठने के लिए कुर्सी की व्यवस्था की गई। तेरापंथ धर्मसंघ में आचार्य देव के सामने इस प्रकार की व्यवस्था करने का यह प्रथम अवसर था। कार्यक्रम सम्पन्न होने के बाद चम्पालालजी ने अपने द्वारा की गई नई व्यवस्था के सम्बन्ध में गुरुदेव से क्षमा मांगी। गुरुदेव प्रसन्न मुद्रा में बोले "चम्पालालजी! बगत देख नहीं बरतै वो बाणियो गंवार" जो समय देखकर कार्य नहीं करता वह बनिया भी गंवार बुद्धि का होता है। आचार्य श्री कालूगणी के एक ही वाक्य ने सारे वातावरण को बदल दिया।

आचार्यश्री कालूगणी सक्षम व्यक्तित्व के धनी थे। एक बार सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हर्मन जेकोबी ने उनके दर्शन किए। यह घटना वी. नि. २४४० फाल्गुन शुक्ला दशमी (वि. सं. १९७०) की है। डॉ. जेकोबी १८ भाषाओं के विद्वान् थे। जैन दर्शन एवं आगमों के गम्भीर अध्येता थे। कल्पसूत्र, आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन का उन्होंने आंग्ल भाषा में अनुवाद किया था। तेरापंथ धर्म-संघ की एकात्मकता ने उन्हें अत्यधिक प्रभावित किया। कालूगणी के समक्ष अपनी अन्तर जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा 'अहिंसा अपरिग्रह के सन्देशवाहक जैन तीर्थंकर मांस भक्षण करते हैं, यह बात मेरे अन्तर्मन ने कभी स्वीकार नहीं की पर आचारांग का अनुवाद करते समय *'मंसं वा मच्छं वा'* पाठ देखकर मेरी प्राचीन धारणा बदल गई।'

आचार्य कालूगणी ने 'भगवती' आदि के आगमिक आधार पर चूर्णिकारों तथा टीकाकारों का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए *'मंसं वा मच्छं वा'* पाठ का विवेचन किया और पन्नवणा सूत्र में आए हुए वनस्पति के साथ इस पाठ का उद्धरण देते हुए बताया *'मंसं वा मच्छं वा'* नाम वनस्पति विशेष से सम्बन्धित है।

आचार्यश्री कालूगणी से प्रामाणिक आधार पाकर डॉ. हर्मन जेकोबी की भ्रान्ति दूर हो गई और वे सन्तुष्ट होकर लौटे। जूनागढ़ की एक सभा में आचार्यश्री कालूगणी की सन्निधि का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा "मैं इस यात्रा में भगवान् महावीर की विशुद्ध परम्परा के वाहक श्रमण और श्रमणियों को देखकर आया हूं। तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य कालूगणी से मुझे 'मंसं वा मच्छं वा' पाठ का सम्यक् अर्थ बोध हुआ। इससे मेरी भ्रान्त धारणा का निराकरण हो गया।"

डॉ. जेकोबी जैसे विद्वान् को प्रभावित करना कठिन कार्य था, जो आचार्यश्री कालूगणी द्वारा सम्भव हो सका।

डॉ. हर्मन जेकोबी के अतिरिक्त इतालवी विद्वान् डॉ. एल. पी. टेसीटोरी., प्रो. ग्लेंसी, शिकागो के डॉ. गिल्की आदि विदेशी विद्वान् तथा जयपुर के रेजीडेंट पीटरसन, आबू के ए. जी. जी. के. जी. आर. होलैण्ड आदि राजकीय क्षेत्र से सम्बन्धित व्यक्ति आचार्य कालूगणी के सम्पर्क में आए एवं उनके प्रवचनों से प्रभावित हुए। उन्हें आचार्य देव से धर्म विषयक कई बातों की विशेष अवगति मिली।

बाव (गुजरात) के राणा ने कालूगणी के दो बार दर्शन किए। गुरुदेव की सौम्य मुद्रा एवं अध्यात्म साधना ने राणाजी को मन्त्रमुग्ध बना दिया। राणाजी की प्रार्थना पर बाव क्षेत्र में साधु-साध्वियों के चतुर्मास होने लगे।

आचार्य कालूगणी के शासन काल में बीकानेर के महाराजा गंगासिंहजी के साथ भी तेरापंथ धर्मसंघ का घनिष्ठ सम्बन्ध बना।

उदयपुर के महाराणा भोपालसिंहजी ने भी (वि. सं. १९९२) में फतेहसिंहजी की बाड़ी में कालूगणी के दर्शन किए। गुरुदेव की पावन सन्निधि पाकर उन्हें प्रसन्नता हुई।

कालूगणी राजा-महाराजाओं, प्रशासकों, नरेशों, ठाकुरों तथा सत्ताधारी व्यक्तियों के ही नहीं थे अपितु सामान्य स्थिति के व्यक्ति भी आपके चरणों में बैठकर

जीवन की समस्याओं को सुलझाया करते थे।

कालूगणी के पास मुनि पृथ्वीराजजी, मुनि फोजमलजी, मुनि छबीलजी, मुनि घासीरामजी, मुनि चौथमलजी, मुनि सोहनलालजी, मुनि नथमलजी आदि वाद-कुशल, सिद्धान्तों के विशिष्ट ज्ञाता, संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् प्रभावी मुनियों की मण्डली थी। साध्वीप्रमुखाश्री जेठांजी एवं झमकूजी के अतिरिक्त साध्वी गंगाजी, रायकंवरजी आदि व्याख्यानी, चर्चावादी, तत्त्वज्ञा, आगम-विशेषज्ञा तथा शास्त्रार्थ करने में निपुण एवं साहसी साध्वियां भी थीं।

कालूगणी ने अपने कार्यक्रमों से धर्म-संघ को तेजस्विता प्रदान की जिससे उनके युग में अध्यात्म की व्यापक प्रभावना हुई। तेरापंथ धर्मसंघ मुख्य सम्प्रदाय के रूप में गिना जाने लगा।

कालूगणी का जीवन अनेकान्त दर्शन का उदाहरण था। वे विनम्र होते हुए भी स्वाभिमानी थे। पापभीरु होते हुए भी अभय थे। अनुशासन की प्रतिपालना में दृढ़ होते हुए भी सौम्य स्वभावी थे। आगमों के प्रति अगाध आस्थाशील होते हुए भी प्रगतिगामी विचारों के धनी थे। वे जैन धर्म की प्रभावना में अनवरत जागरूक थे।

महाप्रयाण वीर प्रसविनी मेवाड़ धरा पर विहरण करते समय एक बार आचार्य कालूगणी की तर्जनी अंगुली में छोटी-सी फुंसी हो गई। प्रारम्भ में उसका आकार नगण्य था, पर स्वल्प समय में वह सामान्य फुंसी विकराल बन गई। आचार्यदेव भीलवाड़ा में कई दिन विराजे। नाना उपचार किए गए पर सफलता नहीं मिली। इस वर्ष का चतुर्मास गंगापुर के लिए पहले ही घोषित था, अतः भीलवाड़ा के श्रावकों की अत्यधिक प्रार्थना होने पर भी पूर्व घोषणा के अनुसार गुरुदेव ने वहां से प्रस्थान किया। एक ओर मेवाड़ी धरा का वह उतार-चढ़ाव वाला दुरुह पथरीला पथ था, इधर हस्तव्रण की भयंकर वेदना थी, पर कालूगणी की सहिष्णुता व धैर्य असीम था। हस्त-व्रण के विकराल रूप को देखकर दर्शकों की आंखों में आंसू छलक पड़ते परन्तु कालूगणी के मन में खिन्नता नहीं थी। उनके चेहरे पर अनुपम समता का भाव झलकता था। गंगापुर में गुरुदेव का पदार्पण आषाढ़ शुक्ला १२ के दिन हुआ। वहां पर भी आयुर्वेदाचार्य पं. रघुनंदनजी एवं डॉ. अश्विनी कुमार द्वारा नाना प्रकार के उपचार किए गए। पूरा सावन महीना बीत गया पर रोग शान्त नहीं हुआ। तन की दुर्बलता बढ़ती गई। भाद्रपद के प्रथम सप्ताह में गुरुदेव ने प्रवचन देना स्थगित कर दिया।

दिन-प्रतिदिन शारीरिक स्थिति को गिरते देखकर संघ की भावी व्यवस्था के संबंध में गुरुदेव ने गम्भीरता से चिन्तन किया एवं वी. नि. २४६३ (वि. सं. १९९३) भाद्रव शुक्ला तृतीया के दिन मुनि तुलसी को उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्ति की। युवाचार्य की नियुक्ति के तीन दिन बाद षष्ठी के सायंकाल में अचानक श्वास का प्रकोप वेग से बढ़ा। अपने सामने मन्त्री मुनि को खड़ा देख कालूगणी ने फरमाया अबै...। आगे वाणी रुक गई। मन्त्री मुनि मगनलालजी ने गुरुदेव की आन्तरिक भावना को समझकर छह बजकर दो मिनट पर यावज्जीवन चौविहार प्रत्याख्यान करवाया। छह बजकर नौ मिनट पर परम समाधि के क्षणों में गुरुदेव का अनशन सम्पन्न हुआ। युवाचार्य, मन्त्री मुनि, साध्वीवरा श्री झमकूजी एवं साधु-साध्वियों की उपस्थिति में एक महान् ज्योति, आंखों से अदृश्य हो गई। महान् आत्मा का अनशन में यह महाप्रयाण तप और त्याग के पुंजीभूत रूप को प्रकट कर रहा था।

समय-संकेत

कालूगणी ११ वर्ष की उम्र में संयमी बने। वे २२ वर्ष तक सामान्य मुनि रहे। चारित्रिक जीवन के कुल ४९ वर्ष के काल में २७ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व सफलतापूर्वक निभाया। उनकी कुल आयु लगभग ६० वर्ष की थी। वे संयमी यात्रा को सानन्द सम्पन्न कर वी. नि. २४६३ (वि. सं. १९९३) भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को गंगापुर (राज.) में स्वर्गस्थ हुए। आपके स्वर्गवास के समय १३९ साधु एवं २३३ साध्वियां थीं।

प्रभावक आचार्यों में कमनीय कलाकार आचार्य कालूगणी का नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

१४१. समता-सागर आचार्य सागरानन्द

जैन श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा में सागरानन्द नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमें तपागच्छ के सागरानन्दसूरि प्रसिद्ध थे। वे आगमोद्धारक आचार्य थे। आगमों को चिरकाल तक स्थायित्व प्रदान करने के लिए उन्होंने कई प्रयत्न किए। ताम्रपत्रों पर आगमों को लिखाने का कार्य उनके द्वारा किया जाने वाला इस दिशा का एक प्रेरक प्रयत्न था।

गुरु-शिष्य-परम्परा

तपागच्छ में सागरानन्द की गुरु-परम्परा के श्री मयासागर हुए। मयासागर के प्रमुख दो शिष्य थे गौतमसागर एवं नेमसागर। नेमसागरसूरि के शिष्य रविसागर, रविसागर के शिष्य सुखसागर तथा सुखसागर के शिष्य बुद्धिसागर हुए। गौतमसागर के शिष्य झवेरसागर, झवेरसागर के शिष्य सागरानन्दसूरि थे। सागरानन्दसूरि की दीक्षा झवेरसागर द्वारा हुई।

जन्म एवं परिवार

सागरानन्द का जन्म वी. नि. २४०१ (वि. १९३१) में कप्पड़वंज में हुआ। वे श्रेष्ठी मगनलाल गांधी के पुत्र थे। मणिलाल गांधी ज्येष्ठ भ्राता का नाम था।

जीवन-वृत्त

सागरानन्द का गृहस्थ जीवन सुखी था। उनके पारिवारिक जनों में धार्मिक संस्कार थे। जैन धर्म के प्रति निष्ठा थी। सागरानन्द के बड़े भाई मणिलाल गांधी का धर्म के प्रति आकर्षण था। दोनों बन्धुओं ने साथ-साथ धार्मिक प्रशिक्षण लिया। उत्तरोत्तर विकास करती हुई अध्यात्म भावना ने उनको मुनि बनने के लिए प्रेरित किया। ज्येष्ठ बन्धु मणिलाल ने सागरानन्द से कुछ समय पहले दीक्षा ग्रहण की। मणिलाल मुनि जीवन में मणिविजय के नाम से प्रसिद्ध हुए।

वैवाहिक सम्बन्ध होने के बाद सागरानन्द ने मुनि दीक्षा लेने का निर्णय किया। उनके इस कार्य में कई बाधाएं आईं। ससुराल वालों ने विरोध किया। स्थिति कोर्ट तक पहुंच गई, परन्तु सागरानन्द अपने निर्णय में दृढ़ थे। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था १७ वर्ष की थी। दीक्षा नाम आनन्दसागर रखा गया। ज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर उत्कर्ष कर वे विद्यासागर बने।

उनको वी. नि. २४३० (वि. सं. १९६०) में पन्यास पद तथा गणीपद और वी. नि. २४४४ (वि. सं. १९७४) में विमलकमलसूरि द्वारा आचार्य पद से अलंकृत किया गया।

सूरत में उनके नाम पर 'आनन्द पुस्तकालय' अध्यात्म-साहित्यप्रधान विशाल पुस्तकालय है।

उन्होंने आगमोद्धार के लक्ष्य से उदयपुर, सूरत आदि शहरों में लगभग पन्द्रह समितियों की स्थापना की एवं आगमों को ताम्रपत्रों पर अंकित कराकर आगमवाणी को लम्बे समय तक स्थायित्व प्रदान करने का कार्य किया। आचार्य सागरानन्द की इस प्रवृत्ति से उन्हें आगमोद्धारक उपाधि से भूषित किया गया। उन्होंने अपने जीवन में अनेक सत्प्रयत्नों से जैन शासन की श्रीवृद्धि की।

समय-संकेत

सागरानन्द का स्वर्गवास कुछ वर्षों पहले हुआ है। आचार्यपद की प्राप्ति का समय वी. नि. २४३० (वि. १९६०) है। इस आधार पर वे वी. नि. २५वीं (वि. २०वीं) सदी के विद्वान् थे।

आगमोद्धार के लिए प्रयत्नशील रहने के कारण सागरानन्द की आगमोद्धारक आचार्य के रूप में प्रसिद्धि है।

१४२. शुभचिन्तक आचार्य श्रीलालजी

स्थानकवासी परम्परा के आचार्य चौथमल के उत्तराधिकारी आचार्य श्रीलाल थे। श्रीलाल तपस्वी, कष्ट सहिष्णु तथा दृढ़-संकल्पी थे। वे अपने नियमों के प्रति जागरूक थे।

श्रीलाल का जन्म राजस्थानान्तर्गत टोंक नगर में वी. नि. २३९६ (वि. सं. १९२६) में हुआ। उनके पिता का नाम चुन्नीलालजी और माता का नाम चांद था।

श्रीलाल बचपन में धार्मिक वृत्ति के थे। उन्हें सांसारिक भोगों में रस नहीं था। जीवन के दूसरे दशक में प्रवेश होते ही उनकी शादी हो गई पर उनका विचार अध्यात्मोन्मुखी था। वे संसार चक्र-व्यूह में नहीं फंसे। उनका मन मुनि दीक्षा के लिए लालायित था। पत्नी ने पति के पथ का अनुगमन किया। दोनों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

श्रीलालजी की मुनि दीक्षा का समय वि. सं. १९४५ था। दीक्षा लेने के बाद ज्ञान-ध्यान साधना में और विशेषतः तपःसाधना में प्रवृत्त हुए। उन्होंने साधु जीवनोचित अनेक गुणों का विकास किया। वे वि. सं. १९५७ में आचार्यपद पर आसीन हुए। लगभग २० वर्ष तक उन्होंने आचार्य के दायित्व का कुशलता से वहन किया। उनका जेतारण में वि. सं. १९७७ में अनशनपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

१४३-१४४. साहित्यसेवी आचार्य जवाहरलालजी, आचार्य गणेशीलालजी

जवाहरलालजी जैन स्थानकवासी परम्परा के विद्वान् आचार्य थे। उनकी वाणी में ओज तथा प्रवचन शैली प्रभावक थी। जैन जैनेतर सभी प्रकार के लोगों से उनका विशेष सम्पर्क था। देश तथा समाज की सामयिक समस्याओं पर वे चिन्तन करते थे।

गुरु-परम्परा

आचार्य जवाहरलालजी स्थानकवासी परम्परा के आचार्य हुकमीचन्दजी के पांचवें पट्ट पर विराजमान आचार्य श्रीलालजी के उत्तराधिकारी थे। आचार्य श्री हुकमीचंदजी के बाद क्रमशः शिवचन्द्रजी, उदयचंदजी, चौथमलजी, श्रीलालजी एवं जवाहरलालजी आचार्य पद पर मंडित हुए। आचार्य जवाहरलालजी के उत्तराधिकारी गणेशीलालजी थे।

जीवन-वृत्त

आचार्य जवाहरलालजी का जन्म मालवा प्रदेशान्तर्गत थांदला ग्राम में वी. नि. २४०२ (वि. १९३२) में हुआ। उनके पिता का नाम जीवराजजी एवं माता का नाम नाथीबाई था। आचार्य गणेशीलालजी का जन्म वी. नि. २४१७ (वि. १९४७) में उदयपुर में हुआ।

जवाहरलालजी की दीक्षा सन्त श्री बड़े घासीलालजी द्वारा वी. नि. २४१७ (वि. १९४७) मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया को हुई थी। वे मगनलालजी महाराज के शिष्य कहलाए। उनसे अनेक प्रकार की शिक्षाएं पाई। अपनी दीक्षा के डेढ़ मास बाद गुरु मगनलालजी का स्वर्गवास हो गया। उनके बाद मोतीलालजी के संरक्षण में जवाहरलालजी के जीवन का नाना दिशाओं में विकास हुआ। मोतीलालजी, सेवाभावी, तपस्वी और गम्भीर सन्त थे।

श्रीलालजी महाराज ने मुनि जवाहरलालजी की अपने बाद रतलाम में युवाचार्य पद पर नियुक्ति वी. नि. २४४५ (वि. १९७५) चैत्र कृष्णा ९ बुधवार को की। श्रीलालजी महाराज का वी. नि. २४४७ (वि. सं. १९७७) में स्वर्गवास हुआ। उसके बाद जवाहरलालजी ने आचार्य पद का दायित्व सम्भाला। उन्होंने राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि कई क्षेत्रों में विहरण किया। कई दीक्षाएं दीं। गणेशीलालजी की मुनि-दीक्षा उदयपुर में सन्तश्री जवाहरलालजी के द्वारा वि. सं. १९६२ में हुई।

वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। धर्म चर्चाएं चलीं। आगमों का मन्थन हुआ। सैद्धान्तिक विषयों का पुनः-पुनः आवर्तन, परावर्तन, प्रत्यावर्तन हुआ। चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन हुआ। जन-साधारण के लिए ये शास्त्रार्थ ज्ञानवर्धक एवं सहस्रों व्यक्तियों को जैन दर्शन को समझने का अवसर मिला।

साहित्य

आचार्य जवाहरलालजी की साहित्य सेवाएं भी उल्लेखनीय हैं। उनके तत्त्वावधान में सूत्रकृतांग आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध की संस्कृत टीका का एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के मूल पाठ का हिन्दी अनुवाद हुआ। उनके प्रवचन जवाहर किरणावली नामक कृति में संकलित हैं। यह कृति कई भागों में प्रकाशित है।

विविध प्रवृत्तियां आचार्यश्री जवाहरलालजी के नाम पर समाज में अनेक प्रवृत्तियों का संचालन हुआ। बीकानेर जिलान्तर्गत भीनासर में प्राचीन एवं नवीन सहस्रों ग्रन्थों का भण्डार जवाहर पुस्तकालय है।

स्थानकवासी संघों की एकता के लिए अजमेर श्रमण सम्मेलन में उन्होंने श्रम और समय का योगदान दिया।

स्थानकवासी परम्परा की मुख्य दो शाखाएं हैं श्रमण संघ और साधुमार्गी। आचार्य जवाहरलालजी साधुमार्गी परम्परा से सम्बन्धित थे।

आचार्य जवाहरलालजी के उत्तराधिकारी आचार्य

गणेशीलालजी थे। विविध आयामों से उन्होंने अपने संघ की चतुर्मुखी प्रगति की एवं संघ के विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहे।

समय-संकेत

जवाहरलालजी ने आचार्य पद के दायित्व का कुशलतापूर्वक वहन किया। उनका स्वर्गवास संथारे में ई. सन् १०-७-४३ को भीनासर में हुआ।

आचार्य गणेशीलाल जी का स्वर्गवास वी. नि. २४८६ (वि. सं. २०१६) उदयपुर में हुआ। उनके उत्तराधिकारी आचार्य नानालालजी हुए। वर्तमान में आचार्य नानालालजी के उत्तराधिकारी आचार्य रामलालजी हैं।

१४५. जनवल्लभ आचार्य विजयवल्लभ

मन्दिरमार्गी परम्परा के प्रभावक आचार्यों में विजयवल्लभसूरि का नाम विश्रुत है। वे गम्भीर विचारक एवं समन्वय वृत्ति के पोषक थे। उनके प्रवचन का मुख्य प्रतिपाद्य था, "मेरी आत्मा चाहती है साम्प्रदायिकता से दूर रहकर जैन समाज श्री महावीर स्वामी के झण्डे के नीचे एकत्रित होकर 'महावीर की जय बोले।" इस दिशा में उन्होंने अनेक प्रयत्न भी किए।

गुरु-शिष्य-परम्परा

विजयवल्लभसूरि हर्षविजयजी के शिष्य थे। उनके दीक्षा प्रदाता गुरु विजयानन्दसूरि थे। विजयवल्लभजी की परम्परा में विजयसमुद्रसूरि आदि प्रभावक शिष्य हुए। इसी परम्परा में उनके उत्तराधिकारी इन्द्रदिन्नसूरि हुए।

जन्म एवं परिवार

विजयवल्लभसूरि का जन्म वी. नि. २३९७ (वि. १९२७) में बड़ौदा (गुजरात) में हुआ। उनके पिताश्री का नाम दीपचन्द भाई एवं माता का नाम इच्छाबाई था। बचपन में उन्हें छगन के नाम से पुकारते थे। उनका गोत्र बीसा श्रीमाल था।

जीवन-वृत्त

विजयवल्लभसूरि के पिता दीपचन्द भाई और श्रीमती इच्छाबाई दोनों आस्था-निष्ठ श्रावक थे। विजयवल्लभसूरि में प्रारम्भकाल से सद्संस्कारों का बीजारोपण हुआ। वे अध्यात्म की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने वी. नि. २४१४ (वि. १९४४) में राधनपुर में श्रीमद् विजयानन्दसूरिजी द्वारा मुनि-दीक्षा ग्रहण की। वे हर्षविजयजी के शिष्य बने। उनका नाम 'वल्लभविजय' रखा गया। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने आगमों का गहरा अध्ययन किया। तर्कशास्त्र का ज्ञान करने के लिए दार्शनिक ग्रन्थ पढ़े। कुछ समय में वे संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, पंजाबी, उर्दू आदि कई भाषाओं के ज्ञाता बने।

लाहौर में श्री संघ ने उनको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य पदारोहण के बाद वे वल्लभविजय से विजयवल्लभ हो गए। उनका आचार्य पद-ग्रहण का समय वी. नि. २४५१ (वि. सं. १९८१) है।

आचार्य विजयवल्लभसूरिजी की प्रवचन शैली सरल, सरस एवं आकर्षक थी। वे जनता जनार्दन को जैन संस्कारों से संस्कारित करने के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने जैनों को प्रभावशाली बनाने के लिए स्वावलम्बन, संगठन, शिक्षा और साहित्य के निर्माण पर बल दिया।

विजयवल्लभसूरिजी व्यवहारकुशल थे। वे सम्पर्क में आने वाले जैन-जैनेतर सभी से सद्व्यवहार करते थे। उनके विशद विचारों और जनकल्याणकारी भावनाओं ने उनको विजयवल्लभ से जनवल्लभ बना दिया।

समय-संकेत

मुंबई में तेरापंथ के प्रभावी आचार्य श्री तुलसी के साथ जैन एकता के संबंध में विजयवल्लभ सूरि का विचार-विमर्श हुआ। उस चर्चा की जैन समाज में सुन्दर प्रतिक्रिया रही। इस प्रसंग के थोड़े समय बाद ही मुंबई में वी. नि. २४८१ (वि. सं. २०११, ईस्वी. १९५४, २२ सित.) में उनका स्वर्गवास हो गया।

१४६. शान्तिस्रोत आचार्य शान्तिसागर

दिगम्बर परम्परा में आचार्य शान्तिसागरजी प्रभावक आचार्य हुए। उनकी प्रख्याति योगीराज एवं महान् तपस्वी के रूप में है। उनकी स्वाध्याययोग एवं भक्तियोग में गहरी निष्ठा थी। दिगम्बर शाखा में लुप्तप्रायः मुनि परम्परा का पुनरुद्धार करके उसे प्राणवान् बनाया।

गुरु-शिष्य-परम्परा

शान्तिसागरजी के दीक्षा गुरु देवप्पास्वामी (देवेन्द्र कीर्ति स्वामी) थे। उनकी शिष्य परम्परा में वीरसागरजी, शिवसागरजी आदि विद्वान् आचार्य हुए। इन्होंने दिगम्बर मुनि परम्परा को आगे बढ़ाया एवं त्याग, तप, स्वाध्याय आदि से जैन शासन की प्रभावना की।

जन्म एवं परिवार

शान्तिसागरजी का जन्म दक्षिण भारत के बेलगांव जिले के अन्तर्गत 'येलगुल' गांव में नाना के घर वी. नि. २३९९ (वि. सं. १९२९, सन् १८७२) आषाढ़ कृष्णा षष्ठी बुधवार को हुआ। उनका वंश क्षत्रिय था। वे भीमं गौंडा पाटिल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सत्यवती था। गृहस्थ जीवन में शान्तिसागरजी का नाम सातगौंडा था। आदि गौंडा और देवगौंडा नाम के उनके ज्येष्ठ बंधु थे। उनके अनुज का नाम कुम्भगौंडा था। बहिन का नाम कृष्णा बाई था। उनके पूर्वज श्री पदमगौंडा देसाई बीजापुर जिले के 'शालविद्री' स्थल के अधिपति थे।

जीवन-वृत्त

शान्तिसागरजी का परिवार सुखी एवं समृद्ध था। माता-पिता धार्मिक रुचि के थे। पिता भीमगौंडा बलवान, रूपवान एवं प्रभावशाली क्षत्रिय थे। उन्होंने ब्रह्मचारी रहकर १६ वर्ष पर्यन्त एकाशन किए। शान्तिसागरजी की मां सत्यवती धार्मिक महिला थी।

शान्तिसागरजी होनहार दिखते थे। ज्योतिषियों ने उनकी जन्म पत्रिका बनाई और उज्ज्वल भविष्य की घोषणा करते हुए बताया यह बालक धार्मिक होगा। दुनिया में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा तथा संसार के प्रपंच में नहीं फंसेगा।

शान्तिसागरजी शरीर से स्वस्थ एवं हृष्टपुष्ट थे। व्यायाम में थोड़ी-सी शक्ति लगाकर चार-पांच व्यक्तियों को पछाड़ देते थे। बलवान् बैलों द्वारा जो पानी खींचा जाता है उसे वे अकेले ही आसानी से खींच लेते थे। वे दूर-दूर तक छलांग भरने में दक्ष थे।

बाल्यकाल में ही उनके जीवन में साध्वोचित गुणों का विकास होने लगा। वे मितभाषी थे। उनमें वृद्धजनों जैसी गम्भीरता और विवेक था।

परिवार का वातावरण धार्मिक होने के कारण शान्तिसागरजी में धर्म के प्रति गहरी निष्ठा थी। उनका मन मुनियों की भक्ति में विशेष प्रसन्न रहता था। कभी-कभी मुनियों को अपने कन्धे पर बैठाकर वेद गङ्गा और दूध गङ्गा के संगम स्थल के पार ले जाते थे। उनके हर व्यवहार में विनय और नम्रता के गुण अभिव्यक्त होते थे।

उनमें निर्ग्रन्थ बनने की भावना १८ वर्ष की उम्र में ही जागृत हो गई थी पर पिता के आग्रह पर वे गृहस्थ जीवन में रहे। पिता का पुत्र पर अत्यन्त अनुराग था। सातगौंडा (शान्तिसागरजी) घर में रहकर भी कमलतुल्य निर्लेप थे। उनका लौकिक कार्यों में रस नहीं था। बहिन कृष्णा और भाई कुम्भगौंडा की शादी के उत्सव में भी वे सम्मिलित नहीं हुए। उनके साथी जहां खेल-कूद, आमोद-प्रमोद के कार्यों में आनन्द लेते थे वहां वे धार्मिक उत्सवों में पहुंचते एवं धार्मिक प्रवृत्तियों को सम्पादित करने में प्रवृत्त होते थे।

उनकी कपड़े की दुकान थी जिसे उनका छोटा भाई संभालता था। आवश्यकतावश दुकान पर बैठते पर इस

कार्य में उनकी रुचि नहीं थी। भाई की अनुपस्थिति में माल बेचने का प्रसंग आता उस समय वे अपने ग्राहकों से कहते "कपड़ा माप कर ले लो और बही (खाता) में लिख दो।" दुनियादारी के प्रति यह निरपेक्ष भाव सहज विरक्ति का सूचक था।

शान्तिसागरजी का विवाह नौ वर्ष की अवस्था में कर दिया गया। संयोग से विवाह के कुछ समय बाद ही पत्नी की मृत्यु हो गई। माता-पिता ने उनका पुनः विवाह करना चाहा; पर उन्होंने मना कर दिया। मुनिजनों के संपर्क से उनकी धार्मिक भावना उत्तरोत्तर विकास पाती रही। ब्रह्मचर्य का आजीवन व्रत स्वीकार कर तथा भोजन में घृत आदि का परिहार कर उन्होंने गृहस्थ जीवन में तपस्वी जैसा जीवन प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने माता-पिता के प्रति अपने दायित्व को अच्छी तरह से निभाया। उनकी समाधिपूर्ण मृत्यु में वे सहयोगी रहे, पर उनका देहावसान हो जाने पर शान्तिसागरजी ने आंसू नहीं बहाए। उन्होंने आत्मा और देह के भेद को अच्छी तरह से समझ लिया और भेदज्ञान का यह बोध उनके आत्मगत हो गया था।

उन्होंने माता-पिता के स्वर्गवास के बाद देवप्पास्वामी (देवेन्द्रकीर्ति स्वामी) से 'उत्तूर' ग्राम में वी. नि. २४४२ (वि. १९७२) ज्येष्ठ शुक्ला त्रयादेशी के दिन क्षुल्लक दीक्षा स्वीकार की। सातगौंडा का नाम शान्तिसागरजी रखा गया। क्षुल्लक दीक्षा के समय उनकी अवस्था ४१ वर्ष की थी। कुछ समय बाद क्षुल्लक साधना के बाद एलक दीक्षा स्वीकार की। उनकी पूर्ण दिगम्बर मुनि दीक्षा पञ्च कल्याणक महोत्सव के प्रसंग पर 'यरनाल' गांव में वी. नि. २४४७ (वि. १९७७) में हुई।

उनके बड़े भाई आदिगौंडा ने भी दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की। उनका नाम वर्धमानसागर रखा गया। छोटे भाई कुम्भगौंडा की भी भावना दीक्षा लेने की थी पर असमय में उनका निधन होने के कारण भावना सफल न हो सकी।

आचार्य शान्तिसागरजी के व्यक्तित्व का बहिरङ्ग पक्ष जितना सबल था इससे अधिक सबल अन्तरङ्ग पक्ष था। लोगों पर उनके साधनाशील जीवन का दिन-प्रतिदिन प्रभाव बढ़ता गया। वे गृहस्थ में विशेष तप करते थे। क्षुल्लक, एलक एवं मुनि जीवन स्वीकार करने के बाद उन्होंने कठोर योग एवं ध्यान-साधना प्रारम्भ की। कोन्नूर प्रदेश की भयानक गुफाओं में भी वे एकाकी ध्यान साधना करते थे। एक बार गिरि-कन्दरा में फणिधारी नागराज ने ध्यानस्थ शान्तिसागरजी पर आक्रमण किया, पर वे अपनी साधना से तिलमात्र भी विचलित नहीं हुए। उनकी भावना में अहिंसा और अभय की सरिता प्रवाहित हो रही थी। उनका चिन्तन था कि मैंने इसे पूर्व भव में कोई हानि पहुंचाई है तो वह मुझे काटेगा अन्यथा नहीं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार तरंगें विद्युत् तरङ्गों से भी अधिक प्रभावकारक होती हैं। मुनिजी की आंखों से प्रवहमान अहिंसात्मक रश्मियों का प्रभाव ही होगा। नागराज अपने आप दूर खिसक गया। उपसर्ग शान्त हो गया। उनके अभय की यह घटना है। जंगली खूंखार पशुओं से सम्बन्धित उनके कई प्रसंग हैं जो आज के वैज्ञानिक युग में विस्मयकारक लगते हैं।

शान्तिसागरजी समता, क्षमा आदि गुणों से सम्पन्न, सुयोग्य मुनि थे। चतुर्विध संघ के समक्ष समडोली नगर में वी. नि. २४५१ (वि. सं. १९८१) में उनकी आचार्य पद पर नियुक्ति हुई। गजपन्था में उन्हें 'चरित्र चक्रवर्ती' पद से अलंकृत किया गया।

शान्तिसागरजी के आचार्यपद ग्रहण के समय नेमिसागरजी ने एलक दीक्षा और शिवसागरजी ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

धर्म प्रचार की दृष्टि से आचार्य शान्तिसागरजी ने लम्बी यात्राएं कीं। संघ के साथ सम्मेद शिखर आदि स्थानों की यात्राएं की। एक बार दक्षिण भारत से उत्तर भारत में उनका आगमन हुआ। यह उनकी दिगम्बर इतिहास में उल्लेखनीय यात्रा थी। इस यात्रा से पूर्व कई शताब्दियों तक दिगम्बर मुनियों का मुख्य विहरण स्थल दक्षिण भारत ही था, अतः उत्तर भारत में वर्षों से

अवरुद्ध दिगम्बर मुनियों के आवागमन के मार्ग को खोलने का श्रेय आचार्य शान्तिसागरजी को है।

शिष्य परिवार

मुनिजन वीरसागरजी, नेमिसागरजी, चन्द्रसागरजी, पायसागरजी, नेमिसागरजी, कुन्थुसागरजी, धर्मसागरजी, सुधर्मसागरजी, आदिसागरजी, वर्धमानसागरजी, क्षुल्लक साधक विमलसागरजी, अजितसागरजी, पायसागरजी, समन्तभद्रजी, चन्द्रकीर्तिजी, अर्हद्वलिजी, आर्यिका चन्द्रमतिजी, क्षुल्लक साधिकाएं जिनमतिजी, सुमतिमतिजी, अनन्तमतिजी, विमलमतिजी ये आचार्य शान्तिसागरजी के शिष्य परिवार में हुए।

वृद्धावस्था में उनकी नेत्र ज्योति क्षीण हो गई पर उनकी आत्मज्योति प्रबल थी।

जीवन के संध्याकाल में कुन्थलगिरि पर ई. सन् १९५५ अगस्त के तृतीय सप्ताह में उन्होंने यम संलेखना ग्रहण की। अपने प्रथम शिष्य वीरसागरजी को यम संलेखना के अवसर पर शुक्रवार २६ अगस्त को आचार्य पद पर नियुक्त किया। उस समय वीरसागरजी खानियां (जयपुर) में थे। उनके लिए शान्तिसागरजी ने शिक्षात्मक एवं आशीर्वादात्मक सन्देश दिया "आगम के अनुसार प्रवृत्ति करना, हमारी तरह ही समाधि धारण करना, सुयोग्य शिष्य को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करना, जिससे दिगम्बर परम्परा चले।" संघ का भार वीरसागरजी को सौंपने के बाद वे योगसाधना में लीन हो गए। इनका ३६ दिन का अनशन सानन्द सम्पन्न हुआ।

शान्तिसागरजी शान्ति के सागर थे। उनके जीवन में ध्यानयोग, तपोयोग, समत्वयोग तीनों का समन्वय था। उनकी ध्यानयोग और तपोयोग की साधना से जन-जन को अध्यात्म बल प्राप्त हुआ और संयम साधना तथा समता की साधना से मानव के अन्तर्मन में समरस का संचार हुआ।

समय और स्थान

शान्तिसागरजी ने ३१ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व कुशलतापूर्वक सम्भाला। कुन्थुलगिरि पर ८३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने अनशन किया। समाधि के साथ शान्तिसिन्धु आचार्य शान्तिसागर का ३६ दिवसीय अनशन में वी. नि. २४८२ (वि. सं. २०१२) में स्वर्गवास हुआ।

१४७. 'वैराग्यमूर्ति' आचार्य वीरसागरजी

आचार्य वीरसागरजी दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे। वे गम्भीर विचारक और बालब्रह्मचारी थे। वे गृहस्थ-जीवन में भी अपना अधिकांश समय जिन भक्ति, पूजा-पाठ और स्वाध्याय योग में बिताते। मुनि-जीवन में उन्होंने शान्तिसागरजी की परम्परा को अधिक गतिमान बनाया एवं दिगम्बर धर्मसंघ का विविध रूपों में विकास किया।

गुरु-शिष्य-परम्परा

वीरसागरजी के गुरु शान्तिसागरजी थे। शान्तिसागरजी के नेमिसागरजी, चन्द्रसागरजी, पायसागरजी, कुन्थुसागरजी, सुधर्मसागरजी, वर्धमानसागरजी आदि कई शिष्य थे। उनमें वीरसागर प्रमुख थे। शान्तिसागरजी की गुरु-परम्परा आचार्य कुन्दकुन्द एवं मूल संघ से सम्बन्धित है।

जन्म एवं परिवार

वीरसागरजी का जन्म हैदराबाद स्टेट औरंगाबाद जिले के अन्तर्गत वीरग्राम में वी. नि. २४०२ (वि. १९३२) आषाढ़ी पूर्णिमा को हुआ। वे जाति से खण्डेलवाल थे। उनका गोत्र गङ्गवाल था। उनके पिता श्रेष्ठी रामसुखजी थे। गृहस्थ में उनका नाम हीरालाल था।

जीवन-वृत्त

वीरसागरजी के माता-पिता धार्मिक वृत्ति के थे, अतः उन्हें सहज धार्मिक संस्कार प्राप्त हुए। उम्र वृद्धि के साथ धार्मिक रुचि बढ़ गई। वे स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियों में अधिक रस लेते थे। वे सांसारिक कामों में उदासीन रहते। माता-पिता ने उनका विवाह करना चाहा पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस समय उनकी अवस्था १६ वर्ष की थी। संयोग से चाह के अनुसार बालक को राह मिल गई। एक दिन एलक श्री पन्नालालजी महाराज से उनको व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। वीरसागरजी ने उनसे उस समय सप्तम प्रतिमा व्रत स्वीकार किया।

बच्चों को धार्मिक संस्कार देने के लिए उन्होंने निःशुल्क पाठशाला प्रारम्भ की, इससे बालक-बालिकाओं में जैन-धर्म के संस्कारों का विकास हुआ। वीरसागरजी की श्रमशीलता के कारण यह पाठशाला निरन्तर गति करती रही। वीरसागरजी के शिष्य शिवसागरजी इसी पाठशाला के विद्यार्थी थे।

उन्होंने शान्तिसागरजी के पास वी. नि. २४५० (वि. सं. १९८०) भाद्रव शुक्ला सप्तमी को क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। क्षुल्लक जीवन में उनका नाम वीरसागर रखा गया। उनके साथ नांद गांव के श्रेष्ठी खुशालचन्द्रजी पहाड़े की भी क्षुल्लक दीक्षा हुई। उनका नाम चन्द्रसागरजी रखा।

क्षुल्लक दीक्षा के सात माह बाद समडोली नगर में वी. नि. २४५१ (वि. १९८१) में वीरसागरजी ने दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में उन्होंने १२ चतुर्मास गुरु के साथ किए। उन्होंने अनेक प्रकार की शिक्षाओं को ग्रहण कर जीवन को संवारा। उसके बाद गुरु से वीरसागरजी और आदिसागरजी दोनों को साथ में स्वतन्त्र विहरण करने का आदेश मिला। गुरुवर्य से पृथक् उन्होंने वि. सं. १९९३ का चतुर्मास इडर में किया। इन्दौर, उज्जैन, जयपुर, सवाई माधोपुर आदि क्षेत्रों में यथासमय चातुर्मासिक काल सम्पन्न कर धर्मसंघ की प्रभावना की। वीरसागरजी द्वारा कई क्षुल्लक दीक्षाएं, क्षुल्लिका दीक्षाएं, आर्यिका दीक्षाएं एवं मुनि दीक्षाएं सम्पन्न हुई।

कुन्थुलगिरि पर शान्तिसागरजी महाराज के यम संलेखना (अनशन) के समय वी. नि. २४८२ (वि. २०१२) में वीरसागरजी को आचार्यपद प्रदान

करने की घोषणा की। इस समय वीरसागरजी वहां उपस्थित नहीं थे।

शान्तिसागर के द्वारा प्रदत्त कमण्डलु आदि के अर्पण तथा आचार्य पद नियुक्ति का भव्य आयोजन जन-समूह के समक्ष जयपुर में मनाया गया।

राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में वीरसागरजी ने धर्म प्रचार किया। उनकी सद्वाणी से प्रेरणा प्राप्त कर कई व्यक्ति व्यसन मुक्त बने। कई मांसाहारी से शाकाहारी बने।

समय-संकेत

वीरसागरजी का वी. नि. २४८४ (वि. २०१४) का चतुर्मास जयपुर 'खानिया' में था। तन की शक्ति क्षीण हो गई। आश्विन अमावस्या के प्रातःकाल १० बजे अचानक वीरसागरजी का स्वर्गवास हो गया।

वीरसागरजी का जीवन सहज विरक्ति प्रधान था। वे वैराग्य के मूर्तरूप थे।

१४८. आगम-स्वाध्यायी आचार्य अमोलकऋषि

जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य अमोलकऋषि विश्रुत विद्वान् थे। वे श्रम परायण आचार्य थे। सद्ग्रन्थों का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करने में वे संलग्न रहते थे।

जन्म एवं परिवार

अमोलकऋषि का जन्म वी. नि. २४०४ (वि. १९३४) को राजस्थान में ओसवाल परिवार में हुआ। वे कस्तूरचन्दजी के पौत्र और केवलचन्दजी कांसटिया के पुत्र थे। उनकी माता का नाम हुलासी था। उनके छोटे भाई का नाम अमीरचन्द था।

जीवन-वृत्त

अमोलकऋषिजी को बाल्यावस्था में मातृ-वियोग सहन करना पड़ा। पिता केवलचन्दजी ने मुनियों से बोध प्राप्त कर संयम-दीक्षा स्वीकार की।

अमोलकऋषि को परिवार से धार्मिक वातावरण सहज प्राप्त था। पिता की दीक्षा ने उन्हें संयम-मार्ग के प्रति आकृष्ट किया। उन्होंने वी. नि. २४१४ (वि. सं. १९४४) में भागवती दीक्षा ग्रहण की।

अमोलकऋषि बुद्धि से सम्पन्न श्रमण एवं गुरुजनों के प्रति विनम्र थे। उन्होंने श्री रत्नऋषिजी के पास शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया और उनके साथ वे गुजरात आदि अनेक क्षेत्रों में विचरे। रत्नऋषिजी के साथ अमोलकऋषिजी सात वर्ष तक रहे।

वी. नि. २४५९ (वि. १९८९) ज्येष्ठ शुक्ला १२ गुरुवार को ऋषि आचार्य परम्परा में उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया गया। पिछले कई वर्षों से ऋषि सम्प्रदाय में आचार्य पद रिक्त था।

साहित्य

अमोलकऋषिजी को आगमों का गम्भीर ज्ञान था। सिकन्दराबाद (हैदराबाद) में तीन वर्ष तक विराजकर उन्होंने परिश्रम से बत्तीस सूत्रों का सरल हिन्दी अनुवाद किया। प्राकृत भाषा को न जानने वाले आगमार्थ पिपासु पाठकों के लिए यह हिन्दी अनुवाद उपयोगी हुआ।

अमोलकऋषिजी ने जैन तत्त्वप्रकाश आदि कई स्वतन्त्र जैन ग्रन्थों की रचना की एवं कई ग्रन्थों का सम्पादन किया। अमोलकऋषि द्वारा रचित ग्रन्थों की आवृत्तियां गुजराती, मराठी, कन्नड़ और उर्दू भाषा में भी प्रकाशित हैं।

समय-संकेत

अमोलकऋषिजी का स्थानकवासी समाज पर अच्छा प्रभाव था। धर्म-प्रचार की दृष्टि से उन्होंने मालव आदि क्षेत्रों में विहरण किया। उन्होंने वृद्धावस्था में पंजाब की यात्रा की। आचार्य पद का दायित्व उन्होंने करीब चार वर्ष तक कुशलतापूर्वक वहन किया। कोटा, बूंदी, रतलाम आदि क्षेत्रों में विहरण कर धर्म-प्रचार किया। उनका वी. नि. २४६२ (वि. १९९२) दिल्ली का चतुर्मास प्रभावशाली था। खानदेश धुलिया चतुर्मास में उनको कर्ण वेदना हुई। उपचार करने पर भी वेदना उपशान्त नहीं हुई। वे समता भाव से वेदना को सहन करते रहे। आगम स्वाध्यायी अमोलकऋषिजी का स्वर्गवास वी. नि. २४६३ (वि. १९९३) भाद्रव कृष्ण पक्ष में दशमी को धुलिया (महाराष्ट्र) में हुआ।

१४९. सौम्यस्वभावी आचार्य विजयसमुद्र

विजयसमुद्रसूरि जैन श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। वे विजयवल्लभसूरिजी के उत्तराधिकारी थे। उनके जीवन में विविध योग्यताओं का विकास हुआ। संघ ने उनको 'जिनशासन रत्न' अलंकार से विभूषित किया।

गुरु-परम्परा

विजयसूरिजी के गुरु विजयवल्लभसूरिजी थे। विजयसमुद्रसूरिजी की गुरु परम्परा ही विजयवल्लभसूरिजी की गुरु-परम्परा है जो विजयवल्लभसूरि प्रबन्ध में प्रस्तुत है।

जन्म एवं परिवार

विजयसमुद्रसूरिजी का जन्म वी. नि. २४१८ (वि. १९४८) मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को राजस्थान के 'बाली' नगर में हुआ। उनके पिता का नाम शोभाचन्द एवं माता का नाम धारिणी देवी था। गृहस्थ जीवन में विजयवल्लभसूरि का नाम सुखराज था।

जीवन-वृत्त

विजयसमुद्रसूरिजी १९ वर्ष गृहस्थ जीवन में रहे। यौवन में उन्होंने वी. नि. २४३० (वि. १९६७) फाल्गुन कृष्णा षष्ठी को सूरत में दीक्षा ग्रहण की। बड़ौदा में वी. नि. २४७८ (वि. २००८) में उनको उपाध्याय पद पर नियुक्त किया। मुंबई उपनगर ठाणे में वी. नि. २४७९ (वि. २००९) में वे आचार्य पद पर आसीन हुए।

ग्राम नगरों का विहरण कर उन्होंने अहिंसा के सन्देश को जन-जन तक पहुंचाया। उनकी सुमधुर कल्याणकारी वाणी को सुनकर कई लोगों ने मांस-मदिरा का परिहार किया एवं शुद्ध शाकाहारी बन गए।

समय-संकेत

विजयसमुद्रसूरि का स्वर्गवास वि. सं. २०३५ ज्येष्ठ कृष्णा ८ को मुरादाबाद में हुआ। विजयसमुद्रसूरि के उत्तराधिकारी इन्द्रदिन्नसूरि हुए।

१५०. श्रमनिष्ठ आचार्य विजयशान्ति

विजयशान्तिसूरि मन्दिरमार्गी परम्परा के एक और प्रभावक आचार्य थे। विजयशान्तिसूरि विश्रुत आचार्य थे। उन्हें योगजन्य चामत्कारिक विद्याएं प्राप्त थीं।

जीवन-वृत्त

विजयशान्तिसूरि का जन्म वी. नि. २४१५ (वि. १९४५) में हुआ। धर्मविजयजी और तीर्थविजयजी उनके शिक्षक थे। तीर्थविजयजी से १६ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर १६ वर्ष तक उन्होंने विभिन्न प्रान्तों में धर्म-प्रचारार्थ यात्राएं कीं।

माउण्टआबू उनकी साधना-स्थली थी। वहां उनका वी. नि. २४४७ (वि. १९७७) में सर्वप्रथम पदार्पण हुआ। इसी वर्ष उनको आचार्य पद से मंडित किया गया।

उनको वी. नि. २४६० (वि. सं. १९९०) में 'जीवदया-प्रतिपालक, योगलब्ध राजराजेश्वर' की उपाधि से अलंकृत किया गया।

वीर वाटिका में उनको 'जगद्-गुरु' का पद मिला।

उदयपुर में नेपाल राजवंशीय डेपुटेशन ने 'नेपाल राजगुरु' सम्बोधन देकर अपने राज्य की ओर से उनका सम्मान किया। नेपाल के अतिरिक्त अन्य विदेशी लोग भी उनसे प्रभावित थे। एक अंग्रेज ने उनका पूर्णतः शिष्यत्व स्वीकार किया।

उनकी उपदेशामृत-वाणी से अनेक व्यक्तियों ने शराब और मांस का परित्याग किया तथा अनेक राजाओं और जागीरदारों ने पशुबलि तक बन्द कर दी।

आबू का सुरम्य-शान्त वातावरण उनको अधिक पसन्द आ गया था। वे अधिकतम वहीं रहे।

समय-संकेत

विजयशान्तिसूरि का स्वर्गवास 'माण्डोली' में हुआ। उन्हें आचार्य पद प्राप्ति वी. नि. २४४७ (वि. १९७७) में हुई एवं जीवदया प्रतिपालक उपाधि वी. नि. २४६० (वि. १९९०) में प्राप्त हुई। इस आधार पर विजयशान्तिसूरि वी. नि. २५वीं (वि. २०वीं) शताब्दी के प्रभावक आचार्य थे।

१५१. आत्मसंगीत उद्गाता आचार्य आत्मारामजी

आत्मारामजी स्थानकवासी श्रमण संघ के प्रथमाचार्य थे। वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। आगम ग्रन्थों के तलस्पर्शी अध्येता थे। उपनिषद्, महाभारत, स्मृति, पुराण आदि का उन्हें गहन अध्ययन था। संस्कृत, प्राकृत, पालि इन तीनों भाषाओं पर उनका अधिकार था। ज्योतिष विद्या के मेधावी आचार्य सोहनलालजी का पाण्डित्य एवं काशीरामजी का गम्भीर व्यक्तित्व आत्मारामजी में समन्वित होकर झलकता।

गुरु-परम्परा

पंजाबी स्थानकवासी परम्परा में अमरसिंहजी, सोहनलालजी, काशीरामजी आदि प्रभावी आचार्य हुए। आचार्य काशीरामजी के उत्तराधिकारी आचार्य आत्मारामजी थे। आत्मारामजी के दीक्षा-गुरु सन्तश्री शालिगरामजी एवं विद्या गुरु आचार्य मोतीरामजी थे।

जन्म एवं परिवार

आत्मारामजी का जन्म 'जालन्धर' जिले के अन्तर्गत 'राहो' गांव में क्षत्रिय चौपड़ा परिवार में हुआ। वी. नि. २४०६ (वि. १९३६) भाद्रव शुक्ला द्वादशी उनका जन्म दिन था। उनके पिता का नाम मनसाराम एवं माता का नाम परमेश्वरी था।

जीवन-वृत्त

आत्मारामजी का गृहस्थ जीवन संघर्षों में बीता। आत्मारामजी दो वर्ष के थे तभी माता का वियोग हो गया। आठ वर्ष की अवस्था में पिता के विरह का आघात लगा। माता-पिता से निराश्रित बालक का पालन-पोषण कुछ समय तक दादी ने किया। दस वर्ष की अवस्था में उनका यह सहारा भी टूट गया। कुछ दिन तक मामा के यहां रहे। उन्हें चाची का संरक्षण भी मिला पर उनका मन कहीं नहीं लगा। सौभाग्य से एक दिन वे सन्तों की सन्निधि में पहुंच गए। तत्त्वज्ञान का प्रशिक्षण लेकर उन्होंने एक दिन सन्त की भूमिका में प्रवेश किया। श्रमण दीक्षा का यह समय वी. नि. २४२१ (वि. १९५१) था।

सन्त श्री आत्मारामजी प्रखर प्रतिभा के धनी थे। वे न्याय, दर्शन, ज्योतिष, भूगोल, खगोल आदि विषयों के गम्भीर अध्येता थे एवं जैन दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् थे। भारतीय दर्शन की विविध धाराओं का उन्हें अधिकृत ज्ञान था।

अमृतसर में वि. १९६९ में सन्त आत्मारामजी को उपाध्याय पद से विभूषित किया गया था।

आचार्य काशीरामजी के स्वर्गवास के बाद वी. नि. २४७३ (वि. २००३) में महावीर जयन्ती के दिन पंजाब संघ के द्वारा सन्त आत्मारामजी को पंजाब प्रान्त का आचार्य बनाकर उनका सम्मान किया गया।

सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर विशाल श्रमण समाज उपस्थित हुआ। संघ एकता की दिशा में स्थानकवासी समाज की ओर से वह आयोजन किया गया। यह समय वी. नि. २४७९ (वि. २००९) था। इस आयोजन में सबकी दृष्टि एक ऐसे विश्वासपात्र सक्षम व्यक्ति को खोज रही थी जो समूचे-संघ का समर्पण निगर्वी भाव से ले सके और सबको सन्तोषजनक नेतृत्व दे सके। एक साथ सबकी दृष्टि अनुभव सिद्ध, वयोवृद्ध आत्मारामजी पर टिकी। तत्काल श्रमण-संघ के नाम पर संघ एकता का प्रस्ताव पारित हुआ और उल्लासमय वातावरण में आत्मारामजी को वैशाख शुक्ला नवमी को वर्धमान श्रमण-संघ का नेता मनोनीत किया।

आचार्य आत्मारामजी आगम के विशिष्ट व्याख्याता थे। उनके प्रवचन में प्रभावकता थी। उनके उपदेश लोकरंजन के लिए नहीं होते थे। प्रवचन में शास्त्रीय आधार रहता था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जर्मन विद्वान् रोथ आदि विशिष्ट व्यक्ति उनके सम्पर्क में आए।

साहित्य आचार्य आत्मारामजी प्रशस्त रचनाकार थे। वे आशु कवि थे। विविध विषयों पर उनकी लेखनी चली। आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, अनुत्तरौपपातिक, उपासकदशा, अनुयोगद्वार, स्थानांग, दशाश्रुतस्कन्ध, निरयावलिका, प्रश्नव्याकरण आदि कई आगमों का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया एवं विस्तृत व्याख्याएं लिखीं।

उन्होंने जैन ग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन कर तुलनात्मक साहित्य भी रचा। 'तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय' नामक कृति तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञानवर्द्धक रचना है।

उनका सचित्र 'अर्धमागधी कोष' आगमज्ञान का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। 'जैनागमों में स्याद्वाद' उनकी एक और कृति है। इसमें स्याद्वाद से सम्बन्धित आगम-पाठकों का सुन्दर संकलन है।

जैनागमों में अष्टांग योग, जैनागम न्याय संग्रह, वीरस्तुई, जीवकर्म संवाद आदि आत्मारामजी की कई मौलिक रचनाएं हैं।

दिल्ली में वि. १९९१ में आचार्य आत्मारामजी को जैन दिवाकर की उपाधि से सम्मानित किया गया। स्यालकोट में वि. १९९३ में उन्हें साहित्यरत्न का अलंकरण प्रदान किया गया था।

समय-संकेत

जैन वर्धमान श्रमण संघ के प्रभावक आचार्य आत्मारामजी ने दस वर्ष तक वर्धमान श्रमण संघ का कुशलतापूर्वक संचालन किया। उनका समाधिपूर्वक स्वर्गवास वी. नि. २४८८ (वि. सं. २०१८, ई. सन् १९६१) माघ कृष्णा नवमी के दिन लुधियाना में हुआ। आत्मारामजी समर्थ साहित्यकार एवं वर्धमान श्रमण-संघ के तेजस्वी आचार्य थे।

१५२. सद्संस्कार संजीवक आचार्य शिवसागरजी

शिवसागरजी आचार्य वीरसागरजी की भांति दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। वे परम तपस्वी तथा बालब्रह्मचारी थे। उनकी स्वाध्याय-योग में सहज रुचि थी। उनकी मातृभाषा महाराष्ट्री थी। हिन्दी भाषा बोलने का भी अभ्यास था।

गुरु-परम्परा

शिवसागरजी के दीक्षा गुरु वीरसागरजी थे। वीरसागरजी की गुरु परम्परा ही शिवसागरजी की गुरु परम्परा है। शान्तिसागरजी, वीरसागरजी और शिवसागरजी इन तीनों का क्रम दिगम्बर परम्परा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण शृंखला है।

जन्म एवं परिवार

शिवसागरजी का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के अन्तर्गत औरंगाबाद जिले के अडगांव में वी. नि. २४२८ (वि. १९५८) में खण्डेल परिवार में हुआ। उनका गोत्र रांवका था। उनके पिता का नाम नेमिचन्द्रजी एवं माता का नाम दगड़ाबाई था। शिवसागरजी के दो भाई और दो बहिनें थीं। उनका बचपन का नाम हीरालाल था।

जीवन-वृत्त

पिता नेमिचन्द्रजी, माता दगड़ाबाई दोनों के संरक्षण में शिवसागरजी (बालक हीरालाल) का विकास हुआ। जैन विद्यालय में शिक्षक हीरालालजी गंगवाल (वीरसागरजी) द्वारा उन्होंने धार्मिक शिक्षा पाई। उन्होंने हिन्दी भाषा का भी अध्ययन किया। संयोग से शिवसागरजी के माता-पिता का प्लेग से एक ही दिन में निधन हो गया। कुछ समय के बाद बड़े भाई भी पत्नी को छोड़कर काल कवलित हो गए। प्रियजनों के इस वियोग से शिवसागरजी के शिक्षा विकास में विघ्न हुआ। गृहस्थी के संचालन का दायित्व उन पर आ गया।

संसार का यह विचित्र चित्र उनको विरक्ति की ओर ले गया। उनकी भोगों से अरुचि हो गई। उन्होंने विवाह को अस्वीकार कर दिया। २८ वर्ष की आयु में उन्हें शान्तिसागरजी के दर्शनों का योग मिला। शान्तिसागरजी की सन्निधि से शिवसागरजी की जीवन-धारा त्याग की ओर प्रवाहित हुई। गुरु चरणों में पहुंचकर वे अपने को धन्य मानने लगे। उन्होंने प्रथम सम्पर्क में ही गुरु से द्वितीय प्रतिमा व्रत स्वीकार किया। उन्होंने सप्तम प्रतिमा व्रत का ग्रहण वीरसागरजी के पास किया।

उनकी अध्यात्म के प्रति अभिरुचि बढ़ती गई। अध्यात्म ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और स्वाध्याय से उनकी भावना में उत्कर्ष आया। संयम ग्रहण करने की इच्छा जागृत हुई, अतः वैराग्य से प्रेरित होकर वीरसागरजी द्वारा उन्होंने वी. नि. २४७० (वि. २०००) में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उस समय उनका नाम शिवसागर रखा गया। क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था लगभग ४२ या ४३ वर्ष की थी।

गृहस्थ जीवन में वीरसागरजी का नाम हीरालाल था और शिवसागरजी का नाम भी हीरालाल था। जैन विद्यालय में शिवसागरजी को प्रारम्भिक धार्मिक शिक्षा वीरसागरजी के द्वारा प्राप्त हुई।

क्षुल्लक दीक्षा के छह वर्ष बाद वी. नि. २४७६ (वि. २००६) में शिवसागरजी ने वीरसागरजी से नागौर में आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन मुनि-दीक्षा ग्रहण की। गुरु की सन्निधि में शिवसागरजी ने योग्यताओं का विकास किया। नाना प्रकार के अनुभवों को बटोरा। वीरसागरजी के स्वर्गवास के बाद शिवसागरजी को वी. नि. २४८४ (वि. २०१४) में आचार्य पद पर नियुक्त किया गया।

शिवसागरजी विद्वान् थे। गुरु की सन्निधि में उन्हें आठ वर्ष रहने का अवसर मिला। यह काल उनके

जीवन में ज्ञानाराधना की दृष्टि से भी विशेष लाभकारी सिद्ध हुआ। उन्होंने चारों प्रकार के अनुयोग ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्हें समयसारकलश, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, स्वयम्भूस्तोत्र आदि संस्कृत, प्राकृत के कई स्तोत्र कण्ठस्थ थे।

आचार्य बनने के बाद उन्होंने दूरगामी यात्राएं भी कीं। अजमेर, उदयपुर, प्रतापगढ़, कोटा आदि क्षेत्रों में चर्तुमास किए। क्षुल्लक, एलक, आर्यिका आदि कई दीक्षाएं आचार्य शिवसागरजी द्वारा सम्पन्न हुई। कई मुनि दीक्षाएं उनके द्वारा प्रदान की गईं।

आचार्य शिवसागरजी के शासनकाल में दिगम्बर धर्मसंघ की श्रीवृद्धि हुई। शिष्य-सम्पदा का भी विकास हुआ।

मुनिचर्या के नियमों की प्रतिपालना में शिवसागरजी सजग एवं अनुशासन में दृढ़ थे।

समय-संकेत

शिवसागरजी ने ११ वर्ष तक आचार्य पद का दायित्व वहन किया। उनका वी. नि. २४९५ (वि. २०२५) में फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को समाधि अवस्था में स्वर्गवास हुआ।

१५३. धुन के धनी आचार्य घासीलालजी

घासीलालजी विक्रम की इक्कीसवीं सदी के विद्वान् आचार्य थे। आगम साहित्य के वे विशिष्ट अध्येता थे। कठिन परिश्रमी एवं धुन के धनी थे। संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व था। बत्तीस आगमों पर संस्कृत टीका रचना का कार्य उनके पुरुषार्थ प्रधान जीवन का परिचायक है।

जीवन-वृत्त

आचार्य घासीलालजी का जन्म वी. नि. २४११ (वि. १९४१) को मेवाड़ में हुआ। उनके पिता का नाम प्रभुदत्त और माता का नाम विमलाबाई था। बचपन में ही पिता और माता का वियोग हो गया। गृहस्थ जीवन में घासीलालजी १८ वर्ष तक रहे। स्थानकवासी जैन सन्तों का उपदेश सुनकर उन्हें संसार से विरक्ति हुई। मेवाड़ प्रदेश के गोगुन्दा गांव में उन्होंने स्थानकवासी परम्परा के आचार्य जवाहरलालजी से वी. नि. २४२९ (वि. १९५८) में माघ शुक्ला १२ गुरुवार को मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

बचपन में उनकी बुद्धि मन्द थी। एक नवकार मन्त्र को कण्ठस्थ करने में उन्हें कई दिन लगे। कवि ने कहा है

करत करत अभ्यास बल, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जावत से, शिल पर परत निशान॥

इस पद्य को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया। एकनिष्ठा से वे सरस्वती की उपासना में लगे रहे। व्याकरण, न्याय, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश पाया और एक दिन वे हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं के विज्ञ बन गए। धर्मप्रचारार्थ उन्होंने अनेक गांवों और नगरों में विहरण किया।

साहित्य

आचार्य घासीलालजी ने कई मौलिक ग्रन्थों की रचना की। उनका टीका साहित्य जैन समाज में अधिक विश्रुत है। उन्होंने ३२ आगमों पर संस्कृत टीका रचना का उल्लेखनीय कार्य किया। श्रुतधर्म की यह विलक्षण उपासना थी। टीका साहित्य की इस साधना के लिए सोलह वर्ष तक वे सरसपुर (अहमदाबाद) में रहे एवं दृढ़ निष्ठा से इस गुरुतर कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में लगे रहे। संकल्प में बल होता है। आचार्य घासीलालजी भी संकल्प के धनी थे। उन्होंने अपने जीवन काल में आगमों पर टीका रचना का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। उन्होंने 'सर्वजन हिताय' की दृष्टि को लक्ष्य बनाकर आगमों का राजस्थानी मिश्रित गुजराती में शब्दार्थ एवं हिन्दी में अनुवाद भी किया। टीका साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने प्राकृत व्याकरण आदि स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की।

समय-संकेत

श्रुतसेवी आगम टीकाकार आचार्य घासीलालजी का स्वर्गवास वी. नि. २४९९ (वि. सं. २०२९, दिनांक ई. ४-१-७३) पौष शुक्ला अमावस्या के दिन अहमदाबाद में हुआ।

जैन शासन को टीका साहित्य के रूप में आचार्य घासीलालजी का महत्त्वपूर्ण अवदान है।

१५४. आनन्दघन आचार्य आनन्दऋषि

आनन्दऋषिजी स्थानकवासी परम्परा में श्री वर्धमान श्रमण संघ के प्रभावी आचार्य थे। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, फारसी, राजस्थानी, उर्दू, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओं के विद्वान् थे। मराठी उनकी मातृभाषा थी। उनका कण्ठ मधुर और ध्वनि प्रचण्ड थी।

गुरु-परम्परा

आनन्दऋषिजी की गुरु-परम्परा में ऋषि लवजी, सोमजी आदि प्रभावी आचार्य हुए। आनन्दऋषि के दीक्षा गुरु रत्नऋषिजी थे। इसी परम्परा में साहित्यकार सन्त कवि तिलोकऋषिजी एवं आगमोद्धारक अमोलकऋषिजी हुए। अमोलकऋषिजी के बाद देवऋषिजी हुए, देवऋषिजी के उत्तराधिकारी आनन्दऋषिजी हुए हैं। आनन्दऋषिजी ऋषि परम्परा के सफल संवाहक तेजस्वी आचार्य थे।

जन्म एवं परिवार

आनन्दऋषिजी का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त में अहमदनगर के निकट चिंचोड़ी गांव के गुगलिया परिवार में वी. नि. २४२७ (वि. १९५७, ई. सन् दि. २६ जुलाई, १९००) श्रावण के शुक्ल पक्ष में हुआ। उनके पिता का नाम देवीचन्दजी तथा माता का नाम हुलासीबाई था। उनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम उत्तमचन्दजी था। आनन्दऋषि का नाम गृहस्थ जीवन में नेमिचन्द्र था। घर में प्यार का नाम गोटीराम था।

जीवन-वृत्त

आनन्दऋषिजी के पिता का देहान्त उनकी बाल्यावस्था में हो गया, अतः माता हुलासी देवी ही बालक का पालन-पोषण करने में माता-पिता दोनों की भूमिका कुशलतापूर्वक वहन करती थी।

हुलासीदेवी का धर्म-प्रधान जीवन था। वह पांचों तिथियों पर उपवास करती एवं प्रतिदिन सामायिक करती, पाक्षिक प्रतिक्रमण करती एवं अन्य बहिनों की धर्म-साधना में सहयोग प्रदान करती थी।

मां के धार्मिक संस्कारों का जागरण बालक में भी हुआ। हुलासी देवी से प्रेरणा प्राप्त कर बालक ने रत्नऋषिजी से सामायिक पाठ, प्रतिक्रमण, तात्त्विक बोल एवं अध्यात्म प्रधान स्तवन कण्ठस्थ किए। आनन्दऋषिजी मेधावी एवं शान्त प्रकृति के थे।

बालक में वैराग्य-भाव का जागरण हुआ। माता से आदेश प्राप्त कर वी. नि. २४४० (वि. १९७०) में मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी के दिन उन्होंने रत्नऋषिजी से मुनि दीक्षा ग्रहण की। उस समय उनकी अवस्था लगभग १३ वर्ष की थी। उनका दीक्षा नाम आनन्दऋषि रखा गया।

दीक्षा लेने के बाद उन्होंने व्याकरण, छन्द, स्मृतिग्रन्थ, काव्यानुशासन और नैषधीय चरित्र आदि उच्चकोटि के काव्य-ग्रन्थों को पढ़ा। उनकी संगीत में अभिरुचि थी। उनके जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता रहा। वे युवाचार्य, प्रधानाचार्य, प्रधानमन्त्री, उपाध्याय आदि विभिन्न पदों से अलंकृत होकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में सम्मानित स्थान प्राप्त करते रहे।

ऋषि सम्प्रदाय के पूज्यश्री अमोलकऋषि के पश्चात् वि. १९९३ में देवऋषिजी की आचार्य पद पर एवं आनन्दऋषि की युवाचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

देवऋषिजी के स्वर्गवास के बाद वी. नि. २४६९ (वि. १९९९) माघ कृष्णा छठ के दिन आनन्दऋषिजी ऋषि परम्परा के आचार्य पद पर सुशोभित हुए।

आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, पंजाब, मारवाड़, मेवाड़ आदि अनेक क्षेत्रों में विहरण कर उन्होंने जैन धर्म का प्रचार किया। वि. सं. २००६ में ब्यावर में स्थानकवासी

परम्परा के पांच सम्प्रदायों ने मिलकर आनन्दऋषि को वीर वर्धमान श्रमण संघ के प्राधानाचार्य पद पर मंडित किया।

स्थानकवासी परम्परा का वृहद् श्रमण-सम्मेलन सादड़ी में वी. नि. २४७९ (वि. २००९) में हुआ। इस अवसर पर श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ की स्थापना हुई। इस नवोदीयमान संघ के प्रधानमन्त्री पद पर आनन्दऋषिजी का चयन हुआ।

भीनासर (बीकानेर) में वि. सं. २०१२ में स्थानकवासी समाज का दूसरी बार वृहद् श्रमण सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में वर्धमान श्रमण संघ ने उपाध्याय पद पर आनन्दऋषिजी को नियुक्त किया।

श्री वर्धमान श्रमण संघ के प्रथम आचार्य आत्मारामजी थे। उनके बाद वी. नि. २४८९ (वि. २०१९) में आनन्दऋषिजी वर्धमान श्रमण संघ के द्वितीय आचार्य बने।

आनन्दऋषिजी का प्रभावशाली व्यक्तित्व था। उन्होंने आचार्य पद के गुरुतर दायित्व का कुशलतापूर्वक संचालन किया, वर्धमान श्रमण संघ को समुचित संरक्षण एवं उसका विकास दिया।

आनन्दऋषिजी की स्मृति प्रखर थी। उन्हें संस्कृत, फारसी, अरबी एवं अंग्रेजी के सैकड़ों उद्धरण सन्दर्भ सहित याद थे जिनका वे अपने प्रवचनों में समय-समय पर उपयोग करते रहते थे। उनके प्रवचन हृदयस्पर्शी एवं मार्मिक होते थे।

एक बार दिल्ली में तेरापंथ धर्म-संघ के प्रभावी आचार्य श्री तुलसीजी, दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य देशभूषणजी एवं श्रमण संघ के प्रभावी आचार्य आनन्दऋषिजी का मधुर मिलन हुआ। जैन एकता के विषय में चर्चाएं चलीं। उनकी क्रियान्विति परिस्थितियों के कारण नहीं हो सकी पर तीनों आचार्यों की सन्निधि में जैन एकता का यह प्रसंग समन्वय की दिशा में एक सामयिक प्रशस्त कदम था। यह घटना प्रसंग वी. नि. २४९२ (वि. २०२२) का है।

साहित्य

साहित्य में आनन्दऋषिजी की सेवाएं मूल्यवान् हैं। उन्होंने मौलिक एवं जन-भोग्य साहित्य की रचना की। 'भावना योग : एक विश्लेषण' और 'स्याद्वाद सिद्धान्त : एक अनुशीलन' आनन्दऋषिजी के ये दोनों ग्रन्थ शोधपूर्ण रचनाएं हैं। शोध-प्रबन्ध लिखने वाले विद्यार्थियों के लिए ये दोनों ग्रन्थ उपयोगी हैं।

आनन्दऋषिजी के प्रवचनों का संकलन 'आनन्द प्रवचन' नाम से कई भागों में प्रकाशित है। आनन्द प्रवचन में व्याख्यान की बहुविध सामग्री सरल भाषा में उपलब्ध है।

उन्होंने तिलोकऋषिजी आदि सन्तों के जीवन पर चरित्र ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने कई ग्रन्थों का मराठी में अनुवाद किया।

समय-संकेत

आनन्दऋषिजी वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध तथा सौम्यस्वभावी आचार्य थे। जैन समाज में उनका विशेष प्रभाव था।

अध्यात्म-योद्धा आनन्दऋषिजी का अनशनपूर्वक स्वर्गवास महाराष्ट्र की भूमि पर वी. नि. २५१९ (दि. २८ मार्च, १९९२) में हुआ।

आनन्दऋषिजी स्थानकवासी परम्परा के वर्चस्वी मनस्वी आचार्य थे।

१५५. दृढ़प्रतिज्ञ आचार्य देशभूषणजी

देशभूषणजी दिगम्बर परम्परा के विशिष्ट आचार्य थे। वे संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, मराठी, हिन्दी, गुजराती आदि कई भाषाओं के विद्वान् थे। उनके प्रवचन प्रभावक होते थे।

गुरु-परम्परा

दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के बाद आचार्य जिनसेन, वीरसेन, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्दी, नेमिचन्द्र आदि कई आचार्य हुए। वि. २०वीं शताब्दी में आचार्य शान्तिसागरजी हुए। वर्तमान में सभी दिगम्बर जैन मुनियों की गुरु परम्परा कुन्दकुन्दान्वय में हुए शान्तिसागरजी से सम्बन्धित बताई गई है, अतः आचार्य देशभूषणजी की यही गुरु परम्परा है। देशभूषण जी का दीक्षा संस्कार मुनि जयकीर्तिजी द्वारा हुआ।

जीवन-वृत्त

देशभूषणजी का जन्म वी. नि. २४३० (वि. सं. १९६०) में हुआ। मुनि जयकीर्तिजी के पास उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने कई भाषाओं का एवं विविध विषयात्मक ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्हें योग्यता के आधार पर आचार्य पद से अलंकृत किया गया। दिगम्बर श्रमण-संघ प्रकांड विद्वान् देशभूषणजी को आचार्य रूप में प्राप्त कर स्वयं मंडित हुआ।

साहित्य

देशभूषणजी का साहित्य में विशिष्ट योगदान था। हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, कन्नड़, मराठी और अंग्रेजी में उनकी कई रचनाएं प्रकाशित हुई हैं।

साहित्य सृजन की दिशा में उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन कन्नड़ भाषा के गौरवमय साहित्य को हिन्दी में अनूदित करना है।

कन्नड़ भाषा दक्षिण की समृद्ध भाषा है। उसमें जैन धर्म का विशाल साहित्य है पर दाक्षिणात्य भाषाओं से अनभिज्ञ पाठक अपनी इस बहुमूल्य निधि का उपयोग करने से सर्वथा वंचित रहते थे। आचार्य देशभूषणजी ने कई कन्नड़ ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर कन्नड़ साहित्य से हिन्दी पाठकों को लाभान्वित किया है। उन्होंने हिन्दी को समृद्ध बनाने के साथ-साथ जैन वाङ्मय की उल्लेखनीय सेवा की।

जैन साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह और उनका सूक्ष्म अध्ययन तथा तत्प्रकार की अन्य अनेक प्रवृत्तियों का संचालन उनकी लगन का परिणाम था।

धर्म प्रचार

धर्म प्रचारार्थ देशभूषणजी ने प्रलम्बमान यात्राएं कीं। वे जैन धर्म के अहिंसा प्रधान सन्देश को जन-जन तक पहुंचाने के लिए प्रयत्नशील थे। उनके प्रवचनों से प्रबोध प्राप्त कर कई क्षुल्लक, एलक और मुनि दीक्षाएं हुईं। मुनियों में चन्द्रसागरजी, आदिसागरजी, आर्यिकाओं में नेमिवतीजी, अजितमतीजी, वीरमतिजी आदि, क्षुल्लक दीक्षाओं में इन्द्रभूषणजी आदि, क्षुल्लिका दीक्षाओं में अनन्तमतिजी, शान्तिमतिजी, चन्द्रमतिजी आदि देशभूषणजी के शिष्य परिवार में हुए हैं।

वरिष्ठ विद्वान् विद्यानन्दजी का दीक्षा संस्कार भी आचार्य देशभूषणजी द्वारा हुआ।

देशभूषणजी कुशल प्रवचनकार थे। उनके उपदेश सरल और सुबोध होते थे। देशभूषणजी के कई प्रवचन युगप्रधान आचार्यश्री तुलसीजी के साथ हुए। दो भिन्न परम्पराओं के जैनाचार्यों का यह मिलन जैन एकता का सुन्दर चरण था।

देशभूषणजी जैन परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। आपका समाधिमरण ८४ वर्ष की आयु में ईस्वी सन् २८ मई, १९८७ को बेलगाम जिले के कोथली ग्राम में हुआ।

१५६. धर्मवृद्धिकारक आचार्य धर्मसागर

आचार्य धर्मसागरजी दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। वीरसागरजी की भांति धर्मसागरजी भी बाल ब्रह्मचारी थे। इनका त्याग और तप विशिष्ट था। उनकी वीतराग शासन के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा थी। वे सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के प्रति अटल एवं सुदृढ़ थे।

गुरु-परम्परा

धर्मसागरजी, आचार्य शान्तिसागरजी की उत्तराधिकारी परम्परा में तृतीय पट्टाचार्य थे। शान्तिसागरजी के शिष्य वीरसागरजी, वीरसागरजी के शिष्य शिवसागरजी और शिवसागरजी के उत्तराधिकारी धर्मसागरजी थे। आचार्य धर्मसागरजी की क्षुल्लक दीक्षा आचार्यकल्प मुनि चन्द्रसागरजी द्वारा एवं एलक तथा मुनि दीक्षा वीरसागरजी द्वारा सम्पन्न हुई थी, अतः धर्मसागरजी के दीक्षा गुरु मुनि चन्द्रसागरजी एवं वीरसागरजी थे।

जन्म एवं परिवार

धर्मसागरजी का जन्म वी. नि. २४४० (वि. १९७०) पौष पूर्णिमा को राजस्थान प्रान्त के बून्दी जिलान्तर्गत 'गम्भीरा' ग्राम में खण्डेलवाल जाति एवं छावड़ा गोत्रीय परिवार में हुआ। पिता का नाम बख्तावरमल एवं माता का नाम उमरावबाई था। धर्मसागरजी का जन्म नाम चिरंजीलाल रखा गया उनका दूसरा नाम कजोड़ीमल भी था।

जीवन-वृत्त

बालक चिरंजीलाल के जन्म से माता-पिता को आनन्द की अनुभूति हुई। चिर प्रतीक्षा के बाद पुत्र के आगमन पर ऐसा होना स्वाभाविक भी था। बालक चिरंजीलाल से पूर्व होने वाली सन्तानों में एक भी सन्तान उमरावबाई की जीवित नहीं रहीं, अतः बालक का नाम चिरंजीलाल रखा गया, जो पुत्र के दीर्घजीवी होने की मंगल भावना का प्रतीक था।

माता-पिता का सुख चिरंजीलाल को अधिक समय तक प्राप्त नहीं हो सका। बालक के शैशवकाल में पिता बख्तावरमलजी एवं माता उमरावबाई दोनों का देहावसान हो गया। किसलय-सी कोमल वय में माता-पिता के वियोग का यह क्रूर आघात था। वियोग की असह्य घड़ी में बालक चिरंजीलाल को बड़ी बहन दाखांबाई का संरक्षण मिला। कंवरलालजी एवं बख्तावरमलजी दोनों सहोदर थे। बख्तावरमलजी के चिरंजीलाल एक ही पुत्र था और कंवरलालजी के दाखांबाई एक ही पुत्री थी। कंवरलालजी एवं उनकी धर्म-पत्नी दोनों का ही निधन असमय में हो गया था।

दाखांबाई का ससुराल वामणवास गांव में था। दाखांबाई के पति भंवरलालजी का भी लघुवय में देहान्त हो गया, अतः बहिन और भाई (दाखांबाई और चिरंजीलाल) दोनों परस्पर सुख-दुःख में सहभागी थे। पवित्र स्नेह से अपना जीवन रथ आगे बढ़ाते रहे।

चिरंजीलाल की प्रारम्भिक शिक्षा मोतीलाल छाबड़ा आदि के संरक्षण में दुगारी ग्राम में हुई। इस दुगारी गांव में चिरंजीलाल के पिताश्री का जन्म हुआ था। यह इस परिवार के पूर्वजों की जन्मस्थली थी।

बालक चिरंजीलाल के जीवन में धृति, सन्तोष आदि गुणों का सहज विकास हुआ था। धर्म और अध्यात्म के प्रति बालक का विशेष झुकाव था। भाग्य से 'नैनवां' ग्राम में मुनि चन्द्रसागरजी की उपासना का एवं इन्दौर में आचार्य वीरसागरजी की सन्निधि का अवसर उसे प्राप्त हुआ। मुनि चन्द्रसागरजी की पुनः-पुनः सन्निधि प्राप्त होने से बालक चिरंजीलाल की जीवनधारा अध्यात्म की ओर दिन-प्रतिदिन उन्मुख बनती गई।

घर में विवाह की चर्चा चली। उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का दृढ़-संकल्प लेकर सबको अवाक् कर

दिया एवं भावी जीवन की दिशा में सोचने के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

जीविकोपार्जन हेतु चिरंजीलालजी ने एक छोटी-सी दुकान खोली। इन्दौर के एक कारखाने में नौकरी की, पर हिंसात्मक प्रवृत्तियों को देखकर मन में घृणा हो गई। नौकरी छोड़ दी।

युवा चिरंजीलाल के हृदय में वैराग्य की लौ जल रही थी। अन्तर्मुखता से प्रेरित होकर एक दिन चिरंजीलालजी ने आचार्य वीरसागरजी से द्वितीय प्रतिमा व्रत एवं बड़नगर में मुनि चन्द्रसागरजी से सप्तम प्रतिमा व्रत ग्रहण किया। बहिन दाखांबाई सरल स्वभावी एवं धार्मिक वृत्ति की महिला थी। दोनों भाई-बहिनों ने व्रत प्रधान जीवन प्रारम्भ किया।

सांसारिक सुखों से पूर्णतः विरक्त होकर चिरंजीलालजी ने मुनि चन्द्रसागरजी द्वारा वी. नि. २४७१ (वि. २००१, चैत्र शुक्ला सप्तमी के दिन) में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। क्षुल्लक जीवन में उनका नाम भद्रसागर रखा गया। पंच कल्याणक प्रतिष्ठा के समय कुलेरा ग्राम में वैशाख मास में वी. नि. २४७८ (वि. २००८) में आचार्य वीरसागरजी द्वारा क्षुल्लक भद्रसागर ने एल्लक दीक्षा ग्रहण की। इसी वर्ष कुलेरा चतुर्मास में उन्होंने कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को मुनि दीक्षा ग्रहण की और भद्रसागरजी धर्मसागरजी के नाम से सम्बोधित हुए।

मुनि जीवन में उन्होंने छह चतुर्मास वीरसागरजी के पास किए। वीरसागरजी के स्वर्गवास के बाद वे स्वतन्त्र रूप से विहरण करने लगे। मुनि जीवन में इन्होंने कई दीक्षाएं दीं। आचार्य शिवसागरजी के स्वर्गवास के पश्चात् वी. नि. २४९५ (वि. २०२५) में उनकी आचार्य पद पर नियुक्ति हुई। इस अवसर पर धर्मसागरजी द्वारा कई दीक्षाएं सम्पन्न हुईं।

राजस्थान, दिल्ली, मालवा, महाराष्ट्र, गुजरात आदि क्षेत्र धर्मसागरजी के विहरण स्थल थे।

भगवान् महावीर की पच्चीससौवीं निर्वाण शताब्दी के महोत्सव पर आचार्य धर्मसागरजी दिल्ली में थे। वहां आचार्य देशभूषणजी एवं धर्मसागरजी दोनों दिगम्बर आचार्यों का तथा तेरापंथ धर्मसंघ के नवमें अधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी और स्थानकवासी आचार्य श्री आनंद ऋषि जी का मिलन हुआ। कई दीक्षाएं वहां पर दी गई थीं।

विभिन्न घटनाक्रमों को समेटे हुए आचार्य धर्मसागरजी का त्याग-तपोमय जीवन जन-जन के लिए प्रेरणास्पद है।

आपका समाधिमरण राजस्थान के अन्तर्गत सीकर में ई. सन् १२ अप्रैल, १९८७ को हुआ।

१५७. अमृतपुरुष आचार्य श्री तुलसी

अणुव्रत प्रवर्तक, भारतज्योति, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी तेरापंथ धर्मसंघ के नवमें आचार्य पद पर आसीन थे। वे जैन परम्परा के यशस्वी, मनस्वी, वर्चस्वी, तेजस्वी आचार्य थे। वे अध्यात्म के शिखर पुरुष थे। ज्ञान के हिमालय थे। नैतिक क्रान्ति के पुरोधा एवं शान्ति के देवता थे।

राष्ट्रसन्त गुरुदेव श्री तुलसी तेरापंथ धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य थे पर साम्प्रदायिकता का व्यामोह उनके स्वच्छ-निर्मल विचारों के प्रवाह को रोक न सका। अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने धर्म को व्यापक रूप दिया और सौहार्द एवं सर्वधर्म सद्भाव का वातावरण तैयार कर जन-जन को जोड़ने का प्रयत्न किया।

जनता ने आपका मानवता के मसीहा के रूप में स्वागत किया पर आपने अपने आपको मानव ही माना।

आप अपना परिचय देते हुए कहते "मैं पहले मानव हूं, उसके बाद जैन फिर तेरापंथ का धर्माचार्य हूं।"

आपके ऊर्ध्वमुखी दृष्टिकोण और उदात्त चिन्तन ने आपको असीम लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि प्रदान की।

बीसवीं सदी के क्रान्तिकारी धर्म गुरुओं में आपका नाम अग्रणी स्थान पर रहेगा।

आपकी अध्यात्मपरक कालजयी वाणी समुद्र-पार अनुगूंजित हुई है। भविष्य में भी गूंजती रहेगी।

गुरु-परम्परा

आचार्यश्री तुलसी के दीक्षा-गुरु तेरापंथ धर्मसंघ के अष्टमाचार्य 'कालूगणी' थे। उनके जीवन का बहुमुखी विकास आचार्य कालूगणी के संरक्षण में हुआ। आचार्य कालूगणी से पूर्व गुरु परम्परा के आदिस्रोत तेरापंथ धर्मसंघ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु थे।

जन्म एवं परिवार

आचार्यश्री तुलसी का जन्म वी. नि. २४४१ (वि. सं. १९७१) कार्तिक शुक्ला द्वितीया को राजस्थानान्तर्गत लाडनूं के खटेड़ वंश में हुआ। पितामह का नाम राजरूपजी, पिताश्री का नाम झूमरमलजी एवं माता का नाम वदनांजी था। झूमरमलजी की ९ सन्तानों में ज्येष्ठ श्री मोहनलालजी थे। अपने नौ भाई-बहिनों में आपका (तुलसी) क्रम आठवां था।

जीवन-वृत्त

गणाधिपति आचार्यश्री तुलसी के बाल्यकाल का प्रथम दशक मां की ममता, परिवार के अमित स्नेह एवं धार्मिक वातावरण में बीता। जीवन के दूसरे दशक के प्रारम्भ में पूर्ण वैराग्य के साथ जैन श्वेताम्बर तेरापंथ संघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से ज्येष्ठ भगिनी लाडांजी सह वी. नि. २४५२ (वि. सं. १९८२) में बालक तुलसी का दीक्षा संस्कार लाडनूं में हुआ। ज्येष्ठ बन्धु चम्पालालजी उनसे पूर्व दीक्षित थे।

भगिनी और युगल भ्राता खटेड़ वंश के ये तीनों रत्न तेरापंथ धर्मसंघ के अलंकार बने। कालान्तर में मुनि तुलसी आचार्य बने। साध्वी श्री लाडांजी की साध्वीप्रमुखा पद पर नियुक्ति हुई एवं ज्येष्ठ बन्धु मुनि चम्पालाल 'सेवाभावी' संबोधन से सम्मानित हुए। आचार्यश्री तुलसी की जननी वदनांजी ५८ वर्ष की उम्र में अपने ही पुत्र द्वारा दीक्षित होकर साध्वी बनी। यह इतिहास की विरल घटना है। साध्वी वदनांजी के जीवन में संयम तथा तप की ज्योति प्रज्वलित थी। उन्होंने १८ वर्ष तक एकान्तर तप की आराधना की। समता, सरलता और सौम्यभाव उनके सहज गुण थे। विनय-वात्सल्य की प्रतिमूर्ति मातुश्री वदनांजी की विशिष्ट तपःसाधना एवं संयम-साधना से प्रभावित होकर आचार्य श्री तुलसी ने उन्हें 'साध्वीश्रेष्ठा' पद से विभूषित किया। उनका ९८ वर्ष की दीर्घ आयु में समाधि पूर्ण स्वर्गवास हुआ।

खटेड़ परिवार की तेरापंथ धर्मसंघ को इन चार महान् आत्माओं की देन है। इस परिवार के अन्य कई साधु-साध्वी भी दीक्षित हुए। आचार्यश्री तुलसी, मातुश्री वदनांजी एवं ज्येष्ठ भगिनी लाडांजी की दीक्षा में प्रेरणा स्रोत प्रमुख रूप से सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी रहे थे।

आचार्यश्री तुलसी का मुनि जीवन अनुशासनमय था। संयम साधना स्वीकार करने के बाद लघु वय में दीक्षित मुनि तुलसी की चिन्तनात्मक एवं मननात्मक शक्ति का स्रोत पठन-पाठन में प्रवाहित हुआ। व्याकरण, कोष, सिद्धान्त, काव्य, दर्शन, न्याय आदि विविध विषयों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषा के अधिकारी विद्वान् थे।

दुरुह ग्रन्थों की पारायणता के साथ लगभग बीस हजार श्लोकों को कण्ठस्थ करना उनकी सद्यःग्राही स्मृति का परिचायक था।

वे सोलह वर्ष की लघुवय में विद्यार्थी मुनियों के शिक्षाकेन्द्र का सफलतापूर्वक संचालन करने लगे। उनकी आत्मीयता से विद्यार्थी बाल मुनियों को अन्तःतोष था। यह उनकी अनुशासन कुशलता का सजीव निदर्शन था।

संयमी जीवन की निर्मल साधना, विवेक का जागरण, सूक्ष्म ज्ञान का विकास, सहनशीलता, धीरता आदि विविध विशेषताओं के कारण बाईस वर्ष की अल्प अवस्था में सन्त तुलसी को महामनीषी आचार्य कालूगणी ने वि. सं. १९९३ भाद्रव शुक्ला तृतीया को गंगापुर में युवाचार्य पद का गुरुतर दायित्व प्रदान किया। आचार्य श्री कालूगणी के स्वर्गवास के बाद वि. सं. १९९३ भाद्रव शुक्ला षष्ठी को युवाचार्य श्री तुलसी आचार्य पद पर आसीन हुए, तीन दिन बाद नवमी के दिन आपका प्रथम पदाभिषेक महोत्सव मनाया गया।

तेरापंथ जैसे विशाल एवं मर्यादित धर्मसंघ को युवा मनीषी का नेतृत्व मिला। यह जैनसंघ के इतिहास की विरल घटना थी। अवस्था एवं योग्यता का कोई अनुबंध नहीं होता।

तरुण का उत्साह, नभ की विशालता, हंस मनीषा के साथ आचार्य श्री तुलसी ने अपना कार्य सम्भाला। प्रतिक्षण जागरूकता के साथ चरण आगे बढ़े। उद्‌बुद्ध विवेक हस्तस्थित दीपक की भांति मार्गदर्शक बना। सर्वप्रथम तेरापंथ के अन्तरंग विकास के लिए उनका ध्यान केन्द्रित हुआ। प्रगतिशील संघ का प्रमुख अंग शिक्षा एवं श्रुतोपासना है। आचार्यश्री तुलसी ने सर्वप्रथम प्रशिक्षण का कार्य अपने हाथ में लिया। आचार्यश्री तुलसी की दीर्घ-दृष्टि साध्वी समाज पर पहुंची। यह चिन्तन पूज्य कालूगणी का था परन्तु कुछ परिस्थितियों के कारण यह फलवान नहीं हो सका। उसकी पूर्ति आचार्य श्री तुलसी ने की। वे साध्वियों की शिक्षा के लिए प्रयत्नशील बने। उनकी चतुर्मुखी प्रगति के लिए शिक्षाकेन्द्र, कलाकेन्द्र एवं परीक्षाकेन्द्र खुले। योग्य, योग्यतर एवं योग्यतम आदि परीक्षाओं के रूप में नवीन पाठ्यक्रम बने। उस समय से अब तक पाठ्यक्रम के कई रूप परिवर्तित हो चुके हैं।

इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साध्वी-समाज के लिए बहुमुखी विकास के नए द्वार उद्‌घाटित हुए। मुनिवृन्द की भांति तेरापंथ धर्मसंघ की साध्वियों ने शिक्षा के क्षेत्र में कई कीर्तिमान स्थापित किए। आज अनेक विदुषी साध्वियां हैं। उनमें प्रभावक प्रवचनकार, संगीतकार, ग्रन्थरचनाकार, तत्वज्ञा, विविध दर्शनों की मर्मज्ञा, आगमज्ञा तथा संस्कृत, प्राकृत आदि कई भाषाओं की विशेषज्ञा हैं।

साध्वी समाज की इस प्रगति के मूल प्रेरणास्रोत आचार्यश्री तुलसी थे। साध्वी-शिक्षा के प्रारम्भिक विकास में सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति स्वर्गीय साध्वीप्रमुखा श्री लाडांजी का महान् योगदान था।

साध्वीप्रमुखाश्री लाडांजी साध्वियों को मधुर शब्दों में अध्ययन के लाभ समझातीं, ज्ञान कणों को बटोरने के लिए स्नेह से उन्हें प्रेरित करतीं। भाषण, संगीत आदि की गोष्ठियां होतीं, घण्टों साध्वियों के बीच विराजकर उनको सुनतीं, उनका उत्साह बढ़ातीं, उनको पुरस्कृत करतीं, अध्ययनशील साध्वियों को अनेक

आवश्यक कार्यों से मुक्त रखकर अध्ययनानुकूल सुविधाएं और अवकाश प्रदान करतीं।

आचार्यश्री तुलसी के अनवरत परिश्रम एवं साध्वी प्रमुखाश्री लाडांजी की सतत प्रेरणाओं से शिक्षा के क्षेत्र में साध्वी समाज गतिमान हुआ एवं आचार्यश्री कालूगणी का स्वप्न साकार हुआ।

वर्तमान में तेरापंथ का साध्वी समाज उच्चस्तरीय शिक्षा के पठन-पाठन में, गम्भीर साहित्य सृजन एवं आगमशोध के महत्त्वपूर्ण कार्य में भी प्रवृत्त तथा भारतीय एवं भारतीयेतर भाषाओं के अध्ययन में रत है। कवि, आशुकवि, लेखक, वैयाकरण व साहित्यकार के रूप में श्रमण-श्रमणी मंडली आचार्यश्री कालूगणी की अनहद कृपा एवं आचार्यश्री तुलसी की श्रमशीलता का परिणाम है। अध्ययन-अध्यापन में तेरापंथ धर्मसंघ अत्यधिक स्वावलम्बी है।

साध्वी समाज की शिक्षा में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। जैन धर्म की प्रभावना में साध्वी समाज का शिक्षा विकास निमित्त बना है। इस सबके ऊर्जा केन्द्र आचार्य श्री तुलसी थे।

आपके शासनकाल में पूर्वाचार्यों की अपेक्षा विशिष्ट तपस्याएं हुई। भद्रोत्तर तप, लघुसिंह निष्क्रीड़त तप, तेरह महीनों का आयम्बिल तप, एक सौ अस्सी दिन का निर्जल तप, आठ प्रयोग पर छहमासी, नवमासी, बारहमासी तप, छाछ के अगार पर ४६२ दिन का तप एवं महाभद्रोतर तप, जैन शासन के तपोमय इतिहास की सुन्दर कड़ियां हैं।

जन-कल्याण की दृष्टि से आपने ३४ वर्ष की अवस्था में अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत एक नैतिक आचारसंहिता है। जाति, लिंग, भाषा, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय आदि से ऊपर उठकर यह आन्दोलन अपना काम कर रहा है।

"संयमः खलु जीवनम्" अर्थात् "संयम ही जीवन है," इस आन्दोलन का उद्घोष है। अणुव्रत सर्वोदय है। वह सबके उदय की बात कहता है। वह मांग रहा है

* नारी समाज से शील और सादगी,
* व्यापारियों से प्रामाणिकता और ईमानदारी,
* पूंजीपतियों से करुणा और विसर्जन,
* राज-कर्मचारियों से सेवा और त्याग,
* नेताओं से सिद्धान्त-निष्ठा और मर्यादा,
* धार्मिकों से सहिष्णुता और समन्वय।

अणुव्रत सबका है इसलिए इसे सबका समर्थन है।

राजस्थान विधानसभा द्वारा पारित अणुव्रत प्रस्ताव और उत्तरप्रदेश विधानसभा द्वारा प्रशंसित सरकारी समर्थन इस आन्दोलन की प्रियता के उदाहरण हैं।

नैतिक अभियान की मशाल को कर में थामे आचार्य श्री तुलसी ने लगभग एक लाख किलोमीटर की पदयात्रा की। गांव-गांव में नैतिकता का दीप जलाया। घर-घर में अध्यात्म की लौ प्रज्वलित की।

आचार्यश्री तुलसी के प्रयत्नों से अणुव्रत की आवाज गरीब की झोंपड़ी से राष्ट्रपति भवन तक पहुंची। लक्षाधिक व्यक्तियों ने अणुव्रत दर्शन का अध्ययन किया और सहस्रों व्यक्तियों ने अणुव्रत के नियमों को स्वीकार किया। यह आन्दोलन राष्ट्रीय चरित्र के रूप में समादृत हुआ।

स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, डॉ. राधाकृष्णन, प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू, आचार्य विनोबा भावे, सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण, मौलाना अबुल कलाम आजाद, डॉ. जाकिर हुसैन एवं डॉ. सम्पूर्णानन्द आदि शीर्षस्थ नेताओं ने इस अभियान की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

स्वर्गीय प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा "आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन के रूप में हमें एक चिराग दिया है, एक ज्योति दी है। उसे लेकर हम अनैतिकता के तिमिराच्छन्न वातावरण में नैतिक पथ प्राप्त कर सकते हैं।"

भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने कहा "राष्ट्रीय चरित्र निर्माण और उन्नयन की दिशा में अणुव्रत एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।"

अणुव्रत आन्दोलन की कल्याणकारी भावना ने जन-

जन को भी प्रभावित किया। सैकड़ों कार्यकर्ता इस आन्दोलन की भी प्रचार-प्रसारात्मक प्रवृत्तियों के साथ जुड़े हुए हैं। देशभर में एक नैतिक वातावरण बना है। बहुत से व्यसनी व्यक्ति व्यसन मुक्त होकर आनन्दमय स्वस्थ जीवन जी रहे हैं। मिलावट विरोधी अभियान, मद्यपान निषेध, संस्कार निर्माण आदि आयोजनों द्वारा सभी वर्गों में वैचारिक क्रान्ति हुई।

आचार्यश्री के शासनकाल में साधु-साध्वियों की यात्राओं का विस्तार हुआ। राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, पं. बंगाल, असम, सिक्किम, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोरम, तमिलनाडु, कन्याकुमारी, केरल, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, गोवा, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर आदि प्रायः सभी प्रान्तों में तथा भारत से बाहर नेपाल में भी साधु-साध्वियां पहुंचे। उन्होंने जन-जन को मानवता का सन्देश दिया एवं धर्म-प्रचार का महान् कार्य किया है।

सदियों से उपेक्षित नारी जागरण हेतु आचार्य तुलसी ने गम्भीर चिन्तन किया। जीवन अभ्युत्थान के लिए नए मोड़ की सुव्यवस्थित योजना प्रस्तुत कर उन्हें जीने की कला सिखाई। 'सादा जीवन उच्च विचार' का प्रशिक्षण देकर अर्थहीन मूल्यों, अन्धविश्वासों एवं गलत परम्पराओं से नारी समाज को मुक्त होने का बोध दिया। तेरापंथ धर्मसंघ का अनुयायी नारी-समाज अध्यात्म की गहराइयों एवं सामाजिक दायित्व को समझने लगा है। अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मण्डल के नाम से उनका सबल संगठन है। वर्तमान आचार्य प्रवर के सान्निध्य में प्रतिवर्ष उनका वार्षिक सम्मेलन होता है। इसमें प्रशिक्षित नारियां समाज की विभिन्न गतिविधियों के सन्दर्भ में चिन्तन करती हैं। साम्य योगी, कारुणिक, नारी उद्धारक आचार्यश्री तुलसी की प्रेरणा और मार्गदर्शन से नारी समाज में कई नए उन्मेष उद्घाटित हुए हैं।

समण श्रेणी की स्थापना आचार्यश्री तुलसी के प्रगतिशील कार्यक्रमों की एक और कड़ी है। इस श्रेणी में दीक्षित समण-समणीवर्ग द्वारा धर्म प्रभावना का व्यापक कार्य हो रहा है। जहां साधु-साध्वियां नहीं पहुंच पाते वहां समण-समणी वर्ग पहुँच जाता है। उन्होंने आप द्वारा प्रदत्त नैतिक सन्देश को विदेशों तक पहुंचाया है और पहुँचा रहे हैं।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था एवं जैन विश्वभारती आचार्यश्री के जीवनकाल की दो विशिष्ट उपलब्धियां हैं।

जैन समन्वय की दिशा में आप अनवरत प्रयत्नशील रहे। आपके द्वारा प्रस्तुत पंचसूत्री एवं त्रिसूत्री योजना समसामयिक कदम था। पंचसूत्री योजना के निम्नोक्त बिन्दु हैं

* मण्डनात्मक नीति बरती जाए, अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप नहीं किए जाएं।
* दूसरों के विचार के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
* दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा एवं तिरस्कार की भावना का प्रचार नहीं किया जाए।
* कोई व्यक्ति सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
* धर्म के मौलिक तथ्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह को जीवनव्यापी बनाने का प्रयत्न किया जाए।

त्रिसूत्री योजना के तीन बिन्दु थे, वे इस प्रकार हैं

* जैन समाज में सम्वत्सरी पर्व एक हो।
* जैन समाज का एक मंच (संगठन) हो।
* समस्त जैन समाज के सब साधु-साध्वियों के लिए एक सर्वसम्मत न्यूनतम आचार संहिता हो।

जैन एकता में पंचसूत्री एवं त्रिसूत्री योजना आचार्य श्री तुलसी के सम्प्रदायातीत विचारों का परिणाम है।

आचार्य श्री तुलसी योग एवं ध्यान के प्रेरणा-स्रोत थे। उन्होंने ध्यान, योग एवं दीर्घकालीन एकान्त साधना के लिए प्रणिधान कक्ष तथा कई अध्यात्म शिविर लगाए। उपासक संघ के साधना शिविरों से श्रावक-

श्राविका समाज में चैतन्य का जागरण हुआ।

आचार्य श्री तुलसी के उत्तराधिकारी प्रज्ञापुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञ हैं। उन्होंने अपने गुरु के मार्गदर्शन में प्रेक्षा-ध्यान और जीवन-विज्ञान के अनेक प्रयोग दिए हैं जो मानव-जाति के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं। तेरापंथ धर्म-संघ का विशाल श्रमण-श्रमणी समुदाय अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान के सन्देश को जन-जन तक पहुंचाने में प्रयत्नशील है।

आचार्य श्री तुलसी की हर प्रवृत्ति में मानव-मात्र के कल्याण की भावना निहित रहती थी। वर्णभेद, जातीयता और प्रान्तीयता की दीवारें कभी आपके कार्य क्षेत्र में खड़ी न हो सकीं। उन्होंने धनाधीशों को विसर्जन का बोध दिया तथा दलित वर्ग के हृदय की हीन ग्रन्थियों का विमोचन किया।

उन्होंने दलित वर्ग में संस्कार-निर्माण के कार्यक्रम आयोजित किए। आपके मानवतावादी दृष्टिकोण का एक पहलू था। आपके सान्निध्य में विराट् हरिजन सम्मेलनों को हरिजनोद्धार सम्मेलन कहा गया।

आचार्य श्री तुलसी धर्म के आधुनिक भाष्यकार थे। उन्होंने धर्म के क्षेत्र में नए मूल्यों की प्रतिष्ठा की। जो धर्म परलोक-सुधार की बात करता, उसे इहलोक के साथ जोड़ा। उनकी परिभाषा में वह धर्म, धर्म नहीं, जिसमें वर्तमान को आनन्दमय बनाने की क्षमता नहीं है। उन्होंने जैन धर्म को जन-जन का धर्म कहकर धर्म की मौलिक व्याख्या दी। उनकी निष्पक्ष धर्म-प्रचार नीति, उच्चस्तरीय साहित्य निर्माण, उदार चिन्तन एवं विशुद्ध अध्यात्म-भाव ने जनमानस को विशेष आकृष्ट किया।

पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण तक भारत के अधिकांश भू-भाग पर विशाल श्रमण संघ के साथ पाद विहार कर आपने अहिंसा के सन्देश को दूर-दूर तक पहुंचाया। आपकी पंजाब, पं. बंगाल, दक्षिण आदि की सभी यात्राएं धर्म प्रचार की दृष्टि से सफल रहीं। परम पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी की इन तीनों ऐतिहासिक यात्राओं में मुझे भी (साध्वी संघमित्रा) साथ रहने का स्वर्णिम मौका प्राप्त हुआ था। यह मेरे लिए परम सौभाग्य की बात थी।

भारत का दक्षिणाञ्चल प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण है तथा वह अध्यात्म-वैभव से भी समृद्ध है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के चिह्न दक्षिण के कण-कण में हैं। अध्यात्म बीज के अंकुरण के लिए यह उर्वरा भूमि है। समन्तभद्र, अकलंक आदि अनेक प्रभावक जैनाचार्यों ने दक्षिण भारत में अध्यात्म को सिंचन दिया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार सहस्रों वर्ष पूर्व इस पावन धरा पर आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) श्रमण परिवार सहित पधारे थे। आचार्य श्री तुलसी ने दक्षिण भारत को अपने चरणों से पवित्र कर आचार्य भद्रबाहु के इतिहास को पुनरुज्जीवित किया। आचार्य भद्रबाहु दक्षिण के कुछ ही क्षेत्रों में पधारे थे। आचार्य श्री तुलसी के चरण अनेक प्रमुख स्थलों का स्पर्श करते हुए कन्याकुमारी तक पहुंचे। भगवान् महावीर की वाणी को दूर-दूर तक प्रसारित करने का कार्य आपने किया। अनेक व्यक्तियों ने आपके चरणों में बैठकर जीवन की समस्याओं का समाधान पाया। आपके सम्प्रदायातीत कार्यक्रमों से अध्यात्म की व्यापक प्रभावना हुई।

आपके आचार्यकाल के पच्चीस वर्ष की सम्पन्नता पर धवल समारोह का आयोजन किया गया। भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति महान् दार्शनिक स्वर्गीय डॉ. राधाकृष्णन् द्वारा उस सुअवसर पर 'तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट किया गया।

सुदूर दक्षिण यात्रा की समाप्ति पर आप द्वारा विहित जन कल्याणकारी कार्यों के परिणामस्वरूप धर्म-संघ ने आपको 'युगप्रधान की उपाधि' से अलंकृत किया। यह समय वी. नि. २४९७ (वि. सं. २०२७) का था। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि ने इस अवसर पर शुभकामना सन्देश प्रेषित किया गया था।

षष्ठीपूर्ति समारोह के अवसर पर आप द्वारा की गई अध्यात्म की व्यापक प्रभावना के कारण राष्ट्रपति श्री फखरुद्दीन अली अहमद द्वारा विशेष सम्मान किया गया था।

आपका विराट् व्यक्तित्व व्यापक कार्यों की भूमिका पर

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुआ।

महान् दार्शनिक डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा लिखित 'Living with Purpose' पुस्तक में १४ महान् व्यक्तियों के जीवन का वर्णन है। उनमें एक नाम आचार्य श्री तुलसी का है। विशेष उल्लेखनीय है उन १४ व्यक्तियों में उस समय आचार्य श्री तुलसी ही विद्यमान थे जो नैतिक प्रवृत्तियों को सम्बल प्रदान करते हुए जन-कल्याण के कार्यों में संलग्न थे।

प्रख्यात साहित्यकार और गम्भीर विचारक श्री जैनेन्द्र कुमार जी ने लिखा "आचार्य श्री तुलसी युग-प्रवर्तन का काम कर रहे हैं। उन्होंने शास्त्रागम को ग्रन्थवाद से उबारकर निर्ग्रन्थता प्रदान की है। वेशभूषा से वे जैनाचार्य हैं, किन्तु आन्तरिक निर्मलता और संवेदन की क्षमता से सभी मत और सभी वर्गों के आत्मीय बन गए हैं।"

डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने कहा "आचार्यश्री तुलसी की उदात्त भावनाओं से हम सभी परिचित हैं। आज सम्पूर्ण मानव-जाति आपके सद्वचनों से लाभान्वित हो रही है।"

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, गांधीवादी विचारक काका कालेलकर, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, प्रसिद्ध कवियित्री महादेवी वर्मा आदि राजनेता, समाजशास्त्री, कवि एवं साहित्यकार आपके कार्यों एवं विचारों से प्रभावित हुए तथा आगामी कार्यों के प्रति उन्होंने समय-समय पर शुभकामनाएं एवं आशाएं प्रकट कीं।

साहित्य

साहित्य जगत् में आपकी सेवाएं अनुपम थीं। आप कई भाषाओं के विद्वान् थे। आपने संस्कृत, हिन्दी तथा राजस्थानी तीनों भाषाओं में उच्च-कोटि के ग्रन्थों की रचना की। आप सिद्धहस्त कवि थे। राजस्थानी भाषा में आपकी कई सरस रचनाएं हैं, कई काव्यग्रन्थ हैं। अध्यात्म, दर्शन, न्याय आदि विषयों पर सारगर्भित विपुल सामग्री आपके ग्रन्थों में मिलती है।

'जैन सिद्धान्त दीपिका', 'भिक्षुन्यायकर्णिका', 'मनोनुशासनम्', 'पञ्च सूत्रम्' ये संस्कृत के ग्रन्थ हैं, इनमें सिद्धान्त, न्याय तथा योग-विषयक सामग्री उपलब्ध है।

'कालू यशोविलास' पूज्य कालूगणी के जीवन पर रचा गया राजस्थानी गेय काव्य है। इसकी रचना में लेखक का महान् शब्दशिल्पी रूप निखर कर आया है। वर्णन शैली बेजोड़ है। माणक-महिमा, डालम-चरित्र और मगन-चरित्र आदि काव्यों में आचार्यों एवं विशिष्ट मुनिवर का जीवन चरित्र है। भरत-मुक्ति, आषाढ़ भूति एवं अग्निपरीक्षा में आचार्यश्री की प्रखर काव्य प्रतिभा प्रतिबिम्बित है।

उनकी नन्दन-निकुञ्ज, सोमरस, चन्दन की चुटकी भली, तेरापंथ प्रबोध, मां वदनां, सेवाभावी, सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति आदि हिन्दी एवं राजस्थानी की महत्त्वपूर्ण पद्य रचनाएं हैं।

मुक्तिपथ, विचार-दीर्घा, उद्बोधन, अतीत का अनावरण अनागत का स्वागत, प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा, भगवान् महावीर, बीती ताहि विसारि दे, बूंद भी लहर भी, क्या धर्म बुद्धिगम्य है?, धर्म : एक कसौटी एक रेखा, मेरा धर्म केन्द्र और परिधि, बूंद-बूंद से घट भरे, अणुव्रत के आलोक में, अणुव्रत के सन्दर्भ में, प्रज्ञापुरुष जयाचार्य, महामनस्वी आचार्यश्री कालूगणी, मुखड़ा क्या देखे दर्पण में, जब जागे तभी सवेरा, लघुता से प्रभुता मिले, सफर आधी शताब्दी का, गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का, कुहासे में उगता सूरज, खोए सो पाए, हस्ताक्षर, जीवन की सार्थक दिशाएं, अनैतिकता की धूप : अणुव्रत की छतरी, अणुव्रत गीत आदि अणुव्रत साहित्य, योग विषयक साहित्य, हिन्दी की अनेक मौलिक रचनाएं हैं जो अध्यात्म, धर्म, दर्शन सिद्धान्त और जीवन-विज्ञान से सम्बन्धित हैं।

'जैन तत्त्व विद्या' जैन तत्त्व ज्ञान की उत्तम कृति है। इसमें जैन तत्त्वों की विस्तृत व्याख्या है। जैन ज्ञानामृत से परिपूरित यह कृति अमृत पुरुष आचार्य श्री तुलसी की अत्यन्त तात्त्विक रचना है जो अमृत-महोत्सव वर्ष में प्रकाशित हुई। तत्त्व रसिक पाठकों की ज्ञान वृद्धि में यह

कृति सहायक है।

साहित्य जगत् को आपकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन 'आगम वाचना' है। आगम साहित्य का टिप्पण, संस्कृत छायां सहित आधुनिक सन्दर्भ में सुसम्पादन और उसके अनुवाद का कार्य आगम-वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन में सुव्यवस्थित चला। निर्मल प्रज्ञा के धनी, प्रकाण्ड विद्वान् एवं गम्भीर दार्शनिक आचार्य महाप्रज्ञ आगम ग्रन्थों के सम्पादक और विवेचक हैं। आगम सम्बन्धी विपुल साहित्य जनता के हाथों पहुंच रहा है। कई पुस्तकें मुद्रणाधीन हैं, और कई पुस्तकों की पाण्डुलिपियां तैयार हो गई हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने विपुल साहित्य के सृजन के साथ अनेक साहित्यकारों का निर्माण किया।

तुलसी-प्रभा, श्री भिक्षु शब्दानुशासन की लघुवृत्ति, तुलसी मंजरी, जैन न्याय का विकास, जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, भिक्षु विचार दर्शन, घट-घट दीप जले, श्रमण महावीर, जैन परम्परा का इतिहास, जीव-अजीव, तेरापंथ का इतिहास, जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, अपने प्रश्न अपने उत्तर, नींव के पत्थर, शब्दों की वेदी अनुभव का दीप, शान्ति की खोज, दक्षिण के अञ्चल में, महक उठी मरुधर माटी, निर्माण का पथ, जैन कथा कोष, उड़ीसा में जैन धर्म, विश्व प्रहेलिका वीरों की कहानियां साहस की निशानियां, बूंद बन गई गंगा, साक्षी है शब्दों की, महान् जैनाचार्य एतद् प्रकार का अन्य मौलिक साहित्य, कथा साहित्य, योग साहित्य, प्रेक्षा साहित्य, काव्य साहित्य, मुक्तक साहित्य, शोध निबन्ध, संगीत साहित्य, एकाकी, पद्य, एकाक्षिक पंचशती, तेरह घण्टों में एक सहस्र श्लोक रचना आदि लघुकाय एवं वृहद्काय ग्रन्थ आपके शासनकाल में तेरापंथ धर्मसंघ के साहित्यकार मुनियों एवं साध्वियों द्वारा तैयार किए गए हैं।

निरुक्तकोष, एकार्थककोष, देशीशब्दकोष आदि कोष ग्रन्थों का सृजन साध्वियों एवं समणियों द्वारा हुआ, जो नारी की क्षमताओं को प्रकट कर रहा है। इन क्षमताओं को उजागर करने में प्रमुख प्रेरणा-स्रोत आचार्य श्री तुलसी थे।

मुनियों एवं साध्वियों द्वारा सौ, पांच सौ, सहस्राधिक तक अवधानों की प्रस्तुति से स्मरण शक्ति के प्रभावक प्रयोग आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल के नए कीर्तिमान हैं।

स्मरण-शक्ति के चमत्कार और अवधान विद्या के सम्बन्ध में कई लघु रचनाएं भी अवधानकार सन्तों द्वारा संकलित हैं। स्मृति विकास के लिए उत्सुक व्यक्तियों के मार्गदर्शन में ये लघु कृतियां सहायक हैं। आचार्य तुलसी के शासनकाल का समग्र साहित्य सरस्वती का विशाल भण्डार है।

विराट् व्यक्तित्व

आचार्यश्री तुलसी ग्यारह वर्ष की लघुवय में मुनि बने। बाईस वर्ष की उम्र में वे तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य बने और लगभग अस्सी वर्ष की अवस्था में गणाधिपति बने। आपके शासनकाल में तेरापंथ धर्मसंघ में विकास के अनेक नए आयाम उद्घाटित हुए। चतुर्मुखी प्रगति के द्वार खुले।

आचार्य-प्रवर ने अपने शासन-काल में तीन साध्वी प्रमुखाओं की नियुक्ति की साध्वी श्री झमकूजी, साध्वी श्री लाडांजी, साध्वी श्री कनकप्रभाजी।

जैन शासन की आपके द्वारा सर्वव्यापी प्रभावना हुई। आपने अपनी प्रकाशमयी दृष्टि से जन-जन में मानवीय चेतना का संचार किया। भौतिकता की अन्धी दौड़ में भ्रान्त युवापीढ़ी को सात्विक जीवन जीने का बोध दिया। युग की धारा के साथ चलने वाले बहुत हैं पर आपने युग की धारा को मोड़ा।

जैन धर्म को जन-जन का धर्म बताकर एक और व्यापक दृष्टि प्रदान की। कर्मणा जैन बनाने का आपका प्रयत्न इसी दिशा में उठता भव्य चरण था एवं जैन जीवन शैली स्वस्थ जीवन जीने का समीचीन एवं सामयिक दिशा-निर्देश था।

आपने धर्म चेतना को सम्प्रदाय की सीमा में न बांधकर जनधारा के साथ जोड़ा और अध्यात्म शिखर की अमेय ऊंचाईयों को छुआ।

अणुव्रत अभियान, जीवन विज्ञान व प्रेक्षाध्यान के विविध रचनात्मक कार्यक्रम मानवजाति के लिए वरदान सिद्ध हुए।

राष्ट्र की एकता और सद्भावना जागरण की दिशा में आपकी वर्षों की मूक साधना एवं उत्कृष्ट तपस्या का योगदान था।

भाषा, जाति और प्रान्त के नाम पर इन्सान, इन्सान से दूर होता जा रहा है। बिखराव की इन तूफानी हवाओं में आपने एकता का दीप जलाया। हिंसा के विषाक्त माहौल में अहिंसा का स्वर गुंजित किया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आपने दो बड़े विश्वशान्ति सम्मेलन आयोजित किए।

आपकी सन्निधि में योगक्षेम वर्ष के रूप में मनाया गया वि. सं. २०४६ (ईस्वी १९८९) अध्यात्ममयी विभिन्न उपलब्धियों से भरा हुआ वर्ष था।

'जैन विश्वभारती संस्थान' भारत सरकार द्वारा मान्य विश्वविद्यालय (डिम्ड यूनिवर्सिटी) आपके उदात्त चिन्तन की भव्य निष्पत्ति है। संसार का यह एक ऐसा विश्वविद्यालय है जहां अहिंसा और विश्व शान्ति के शोध (Research) कार्य होते हैं तथा जीवन विज्ञान के प्रयोग सिखाए जाते हैं। यह प्रथम जैन विश्वविद्यालय है।

आपकी मानवीय सेवाओं के मूल्यांकन स्वरूप वी. नि. २४९७ (वि. सं. २०२७) में विशाल जनसमूह के बीच 'युगप्रधान' के रूप में आपका अभिवादन, भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि द्वारा इस अवसर पर विशेष सन्देश प्रदान, यूनस्को के डायरेक्टर लूथर इवेन्स, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ बेकन आदि विदेशी व्यक्तियों द्वारा आपकी नीति का समर्थन, मैक्समूलर भवन के डायरेक्टर जर्मन विद्वान् होमियोराउ द्वारा विदेश पदार्पण के लिए आमन्त्रण, राष्ट्रीय एकता परिषद् में आपका सदस्य रूप में मनोनयन, ई. सन् १९९६ में राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर यूनिवर्सिटी से 'भारत ज्योति' का अलंकरण, केन्द्रीय उच्चतिब्बती शिक्षा संस्थान 'सारनाथ वाराणसी' द्वारा 'वाचस्पति' (डी. लिट्) का मानद अलंकरण, राष्ट्रीय एकता के विकास में उल्लेखनीय भूमिका के लिए ई. सन् १९९२ का 'इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता सद्भावना पुरस्कार' से आपका सम्मान ये सारे अलंकरण निस्सन्देह श्रमण परम्परा के सबल प्रतिनिधि, आधुनिक युग के महर्षि, भारतीय संस्कृति के स्तम्भ, आगम-वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के झलकते बिम्ब और प्रतिबिम्ब हैं।

परम-पूज्य आचार्य श्री तुलसी ने सहस्र-सहस्र धाराओं से जन-जन को अध्यात्म का अमृत पिलाया वह अमृत आपके उत्कृष्ट अध्यात्म साधना और ध्यान साधना की परिणति थी। आप अध्यात्म साधकों की शृंखला के शीर्षस्थ पुरुष थे।

आचार्य श्री तुलसी ने सुखी जीवन के तीन बहुमूल्य सूत्र दिए

१. चिन्ता नहीं चिन्तन करो।

२. व्यथा नहीं, व्यवस्था करो।

३. प्रशंसा नहीं, प्रस्तुति करो।

आचार्य श्री तुलसी ने इस प्रकार के अनेक सूत्र दिए जिनमें व्यवहारिक जीवन की कठिन से कठिन समस्याओं का समाधान निहित है।

अप्रतिम उदाहरण महाप्राण आचार्य श्री तुलसी तेरापंथ धर्म-संघ के सर्वोच्च अधिशास्ता थे। 'युगप्रधान' पद से अलंकृत थे। वे 'भारत ज्योति, वाक्पति' आदि अनेक सम्मानजनक उपाधियों से मंडित थे। किसी भी पद, सत्ता, उपाधि के साथ उनका चिपकाव नहीं था। आचार्य श्री तुलसी के ६० वर्ष का शानदार शासनकाल तेरापंथ धर्म-संघ का स्वर्णिम शासनकाल था। वी. नि. २५२० (विक्रम सं. २०५० ई. सन् १९९३) में गुरुदेव ने सुजानगढ़ (चूरू) में प्रज्ञा-पुरुष युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ को अपने स्थान पर नियुक्त कर आचार्य पद का विसर्जन वैसे ही कर दिया, जैसे मानव ओढ़ी हुई चादर को उतारकर रख देता है। यह विसर्जन गुरुदेव ने उस समय किया जब उनके शासन का सितारा शिखर पर चमक रहा था। इस तरह पद और सत्ता से अलिप्त कोई पहुंचा हुआ योगी ही रह सकता

है। गुरुदेव तो योगियों के योगी थे। उनका आचार्य पद विसर्जन इतिहास की एक विरल घटना है, अनासक्त भाव का अप्रतिम उदाहरण है। व्यक्ति अन्तिम क्षण तक पद और सत्ता से चिपका रहना चाहता है, ऐसे माहौल में आज के युग की यह बेजोड़ मिसाल है।

भावी घटनाओं के संकेत

आचार्य श्री तुलसी योग सम्राट् थे। उनकी प्रज्ञा अत्यन्त स्वच्छ एवं निर्मल थी। उनके पारदर्शी प्रज्ञा दर्पण में भावी घटनाओं के संकेत यदा-कदा झलकते रहते थे। यही कारण है उन्होंने अपने करणीय कार्य ठीक समय में पूरे किए।

अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति करना आचार्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। परमपिता गुरुदेव ने यह दायित्व १८ वर्ष पूर्व ही 'महाप्रज्ञ श्री जी' की युवाचार्य पद पर नियुक्ति कर सफलतापूर्वक सम्पन्न किया था। आचार्य पदाभिषेक समारोह भी दिल्ली के प्रांगण में गुरुदेव ई. सन् १९९४ में द्वारा शानदार ढंग से समायोजित हुआ। गुरुदेव ने सन् १९९७ का मर्यादा महोत्सव भी आचार्य 'महाप्रज्ञ' जी के सान्निध्य में स्वतंत्र रूप से सम्पन्न करवाकर पूरी तरह से संघ को निश्चिन्तता प्रदान की।

अमर पाथेय

हर पिता जीवन यात्रा पूर्ण करने से पूर्व सन्तान को अपनी परम्पराओं से अवगत कराने की कोशिश करता है।

धर्मसंघ के आचार्य महाप्रयाण से पूर्व अपने शिष्य परिवार को शिक्षा का पाथेय प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

तीर्थंकर महावीर ने भी चतुर्विध तीर्थ के लिए दो दिन तक अध्यात्म का बहुमूल्य सन्देश दिया था वह उत्तराध्ययन सूत्र में गर्भित है।

परमाराध्य आचार्य श्री तुलसी ने अर्हत् वाणी, आचार बोध, संस्कार बोध, व्यवहार बोध, तेरापंथ प्रबोध, श्रावक संबोध आदि कृतियों की रचना कर अन्तिम शिक्षा के रूप में जो पाथेय उन्हें संघ को देना चाहिए था वह मुक्त भाव से दिया।

इन कृतियों में जीवन शिक्षा के अनमोल रत्न गुंफित हैं।

शिक्षा सुधामयी ये कृतियां हजारों वर्षों तक धर्मसंघ को अनुपम सम्बल प्रदान करती रहेंगी।

प्रतिक्षण जागरूक

सतत क्रियाशील पुरुषार्थ और पराक्रम के मूर्तरूप आचार्य श्री तुलसी ने सदैव आराम को हराम माना और कार्य परिवर्तन को ही विश्राम माना। उन्होंने अन्तिम समय तक अपने इस प्रण को निभाया। वे हर क्षण जागरूक थे। उनकी अप्रमत्त योग की साधना विलक्षण थी। उनको जब कभी देखा, किसी भी क्षण देखा स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन और अध्यापन में संलग्न पाया। वे अन्तिम दिन तक बाल मुनियों को पढ़ाते रहे। प्रशिक्षण की प्रेरणा देते रहे। उन्होंने २२ जून की रात्रि में सन्तों से कहा आज का अध्यापन कार्य आज ही पूरा करना है। कल का क्या भरोसा है? गुरुदेव के ये शब्द असामान्य भाव को समेटे हुए थे। शब्दों के भीतर से भावी का संकेत प्रतिध्वनित हो रहा था।

'चरैवेति चरैवेति' का साकार रूप गुरुदेव का जीवन था। अन्तिम दिन बोथरा भवन से तेरापंथ भवन तक कुछ कदम चलकर आए। कुर्सी पर बैठकर मंच से श्रावक समाज का वन्दन स्वीकार किया। फिर आचार्य श्री महाप्रज्ञजी से कहा अब विश्राम करना है।

जो व्यक्ति सदा आराम को हराम मानता रहा वह विश्राम की बात कहे, इसमें भी प्रकृति का गुप्त संकेत उनकी प्रज्ञा से प्रकट रूप ले रहा था।

पूर्वाभास और महाप्रयाण

गंगाशहर में गुरुदेव ने १५ दिन का एकान्तवास बोथरा भवन में किया। १६ जून १९९७ को गुरुदेव ने अपनी निजी डायरी में लिखा "अब मुझे संथारा संलेखना करना चाहिए। इस शरीर से बहुत काम लिया है".....सुबह परामर्श के बाद लिखा "सात दिन अभी

और देखा जाए।" ठीक सात दिन बाद गुरुदेव ने महाप्रयाण कर दिया। मेरे अभिमत से यह घटना प्रसंग उनके अतीन्द्रिय ज्ञान की सूचना देता हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है। आपको अपनी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया था अन्यथा यह भी लिख सकते थे अभी कुछ दिन देखते हैं, पर गुरुदेव श्री तुलसी ने सात दिन का लिखा और सातवें ही दिन हल्के से कम्पन के साथ सुखासन की मुद्रा में २३ जून १९९७ को अचानक महाप्रयाण कर दिया। शरीर में कुछ सेकिण्डों तक प्रकम्पन और आंखों के मार्ग से प्राणों का विसर्जन यह उत्तम-कोटि का महाप्रयाण माना जाता है। हो सकता है यह गुरुदेव की इच्छामृत्यु थी। ऐसा महाप्रयाण किसी अध्यात्म-शिखर पर पहुंचे हुए विशिष्ट साधक के लिए सम्भव होता है।

महाप्राण ज्योतिर्धर गुरुदेव श्री तुलसी २२ वर्ष की वय में आचार्य बने। धर्म-संघ को ६१ वर्ष तक आपका सुखद और स्वस्थ संरक्षण प्राप्त हुआ। पूर्ण समाधिपूर्वक उम्र के ८३वें वर्ष में आपका स्वर्गवास हुआ। तृतीया का दिन गंगापुर (भीलवाड़ा) में आपका युवाचार्य अभिषेक दिवस था और तृतीया के दिन ही आपने गंगाशहर (बीकानेर) में महाप्रयाण किया।

आपके वर्चस्वी व्यक्तित्व का प्रभाव था कि देश-विदेश के लाखों लोग अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करने गंगाशहर की धरा पर पहुंचे। आसपास के गांवों से अपार जन-सैलाब उमड़ा। आंख-आंख में आंसू थे। कण्ठ-कण्ठ में एक ही गूंज थी 'मानवता का अनन्य उपासक जन-जन का मार्गदर्शक इस संसार से विदा हो गया।'

शोक-संवेदना

भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री इन्द्रकुमार गुजराल ने कहा "आचार्य श्री तुलसी एक महान् आध्यात्मिक पुरुष थे। सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए पथ-प्रदर्शक थे। उन्हें शान्ति, प्रेम और अहिंसा के मसीहा के रूप में सदैव याद किया जाता रहेगा।"

प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा "आचार्य श्री तुलसी का सम्पूर्ण जीवन नैतिक पुनर्जागरण के महान् कार्य में लगा। उन्होंने देशवासियों को उन सद्गुणों की ओर खींचा जिनके बिना न तो लोकतन्त्र ही सफल हो सकता है और न मानव जीवन की सार्थकता प्राप्त हो सकती है।"

According to Dalia Lama —

"I am saddened to learn about the passing away of Acharya Anuvrat Anushasta Ganadhipati Sant Tulsi. Whom I had pleasure of meeting a few years ago. I offer my prayer on condolences.

We have lost a philosopher, administrator and a great human being his long will be. I will always remember my meeting with him.

"राजस्थान ही क्या समूचे भारत का सांस्कृतिक ताना-बाना गुरुदेव के अस्तित्व से जुड़ा हुआ था, जीवन्त था। उनका अचानक हम सबके बीच से उठ जाना हतप्रभ कर गया।

हमारा यह प्राकृत विभाग एवं विश्वविद्यालय अपने समस्त परिवार सहित पूज्य गणाधिपतिजी को शतशः नमन करता है।"

प्रेम सुमन जैन
प्रोफेसर, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

"गणाधिपति आचार्य तुलसी के हमारे बीच से चले जाने से भारत की एक अपूरणीय क्षति हुई है। उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व की यश-गाथा स्वर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। जो क्रान्तिदर्शी रास्ते उन्होंने दिखाए, जिस प्रकार उन्होंने युगान्तकारी परिवर्तनों का प्रवर्तन किया और जिस प्रकार उन्होंने अहिंसा और अनेकान्त को समूची भारतीय चेतना में संक्रमित किया, वह उनके जैसे युगपुरुष के लिए ही सम्भव था।

मृत्यु, मत अभिमान कर
ऐसे मनुज मरते नहीं।

परम-पूज्य गणाधिपति आचार्य श्री तुलसी अमर हैं, सदैव अमर रहेंगे।"

डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी
भारतीय उच्चायुक्त, लन्दन

"गणाधिपति तुलसी के देवलोक गमन से जैन समाज में एक अपूरणीय क्षति हुई है। गणाधिपति तुलसी जी ने अपने व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से जैन समाज को व विशेष तौर पर तेरापंथ समाज को बहुआयामी सेवाएं दी हैं। आपका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। वि. संवत् २००६ के जयपुर चतुर्मास में आपने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया जिसमें सभी वर्ग के प्रबुद्ध लोग भी जुड़े। जैन विश्व-भारती आपकी प्रेरणा से सन् १९७० में स्थापित हुई एवं ६ वर्ष पूर्व डीम्ड यूनिवर्सिटी का रूप ले चुकी है वह आपकी प्रतिभा का परिचायक है। दया और दान की मान्यता को आपने बहुआयामी रूप देकर लोकोपकारी कार्य में समाहित किया। समय को पहचान कर आपने राजनीति में भी सफल हस्तक्षेप किया। आप एक सक्षम, समर्थ, युगान्तकारी आचार्य हुए हैं। आपके विचार युगों-युगों तक समाज व राष्ट्र का मार्गदर्शन करते रहेंगे।"

गुमानमल चौरड़िया अध्यक्ष
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ,
बीकानेर

"In the passing away of a Great Noble Soul Vivekananda Kendra has lost a true friend and guide. Kindly accept our condolences."

—Dr. H. R. Nagendra
Vivekananda Kendra, Bangalore

राष्ट्रपति हो या कुलपति, राज्यपाल हो या लोकपाल, मुख्यमन्त्री हो या शिक्षामन्त्री, राजनेता हो या समाज नेता जो कभी एक बार भी आपके सम्पर्क में आए, जिन्होंने आपकी पीयूषवर्षी वाणी को सुना, वे सभी आपके महाप्रयाण से तथा आपके अवदानों की स्मृति मात्र से भाव-विह्वल थे।

आचार्य श्री तुलसी के विविध रूप थे। वे कुशल प्रशासक, प्रवचनकार, लेखक, कवि, साहित्यकार, संगीतकार एवं संगायक थे।

वे सहस्र चक्षु, पारदर्शी, सूक्ष्म-द्रष्टा, गहन चिन्तक, समीक्षक एवं परीक्षक थे।

उन्होंने व्यक्ति, समाज, देश, विश्व को जो दिया वह अनन्त है, असीम है, अथाह है, अपार है।

आचार्य श्री तुलसी आत्मजयी और कालजयी व्यक्तित्व के धनी थे। आपने अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से काल के भाल पर जो अमिट रेखाएं खींची उन्हें समय की घनी परतें भी मिटा नहीं पाएंगी।

प्रसन्नचेता, अध्यात्म-साधक, क्रान्तदर्शी, मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठापक युगप्रधान गणाधिपति आचार्य श्री तुलसी का जीवन विभिन्न अनुभूतियों से अनुबद्ध एक महाकाव्य है। इसका प्रत्येक सर्ग साहस और अभय की कहानी है। हर सर्ग का प्रत्येक श्लोक अहिंसा, करुणा तथा मैत्री का छलकता निर्झर है।

अहिंसा, विश्व शान्ति एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में परम कारुणिक, परोपकारी, हितचिन्तक आचार्य श्री तुलसी ने अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणों का अर्घ्य अर्पित किया। विश्व कल्याणार्थ अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान आदि के रूप में आप द्वारा किए गए कार्य इतिहास की अमूल्य धरोहर है।

आपने मानवता के मार्ग में जो माइल स्टोन खड़े किए वे युग-युग तक पथ भटके मानव का मार्गदर्शन करते रहेंगे।

आपने जो अणुव्रत दीप शिखा जलाई, वह सदियों तक जन-जन के पथ को आलोकित करती रहेगी।

अनन्त ऊर्जा के स्रोत आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत का एक ऐसा विशाल वृक्ष लगाया है जो गर्म झोंकों से झुलसते चरणों को शीतल छाया प्रदान करता रहेगा।

आचार्य श्री तुलसी के जीवन की एक संक्षिप्त झलक पाठकों के लिए प्रस्तुत है कविता की इन पंक्तियों में

विराट् व्यक्तित्व

एक वह व्यक्ति
जो विश्व शान्ति के लिए चिन्तित था
जिसने मानवता का पथ प्रशस्त किया
अणुव्रत प्रेक्षा का दीप जलाया
राष्ट्रीय चेतना को जगाया

समाज का रूप संवारा
युवा चेतना को संगठित किया
युग की धारा को मोड़ा
जैन धर्म को जनधारा के साथ जोड़ा
वह व्यक्ति नहीं.....
दिव्य शक्ति का विराट् रूप था
अध्यात्म का मूर्त स्वरूप था
नैतिक क्रान्ति का पुरोधा था
शान्ति का देवता था
मानवता का मसीहा था
आत्मा की उस दिव्य ज्योति को
धनी आस्था के साथ
मानव-मानव
युग युग तक शीष झुकाएगा
जब-जब मार्ग में गतिरोध आएगा
आप द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत में
व्यक्ति समाधान खोजेगा और पाएगा ॥

१५८. विद्वद्रत्न आचार्य विमलसागर

विमलसागरजी दिगम्बर परम्परा के विद्वान् आचार्य थे। अपने संघ संचालन के दायित्व वहन के साथ-साथ धर्म प्रचार के कार्य में वे विशेष रूप में प्रवृत्त थे। ध्यान-साधना में उनकी जागरूकता भक्त-जनों के लिए विशेष प्रेरक थी।

गुरु-परम्परा

वर्तमान सम्पूर्ण दिगम्बर जैन मुनि संघ मूलतः अपनी गुरु-परम्परा का सम्बन्ध शान्तिसागरजी के साथ स्थापित करता है। विमलसागरजी भी उसी गुरु-परम्परा से सम्बन्धित थे। उनकी दीक्षा आचार्य महावीरकीर्ति द्वारा सम्पन्न हुई थी।

जन्म एवं परिवार

विमलसागरजी का जन्म वी. नि. २४४३ (वि. सं. १९७३) आश्विन कृष्णा सप्तमी को कोसमा ग्राम में हुआ। इनका जन्म नाम नेमिचन्द्र रखा गया। इनके पिता का नाम बिहारीलालजी था।

जीवन-वृत्त

बालक नेमिचन्द्र को मां का प्यार अल्प समय के लिए ही प्राप्त हुआ था। जन्म के छह मास बाद ही मां का देहावसान हो गया। पिता बिहारी लालजी ने मां की ममता और पिता का वात्सल्य देकर पुत्र का पालन-पोषण किया। धार्मिक संस्कार दिए। स्वस्थ वातावरण में बालक नेमिचन्द्र के जीवन का विकास विविध रूपों में हुआ। पढ़ने में भी बालक की विशेष रुचि थी। अतः शिक्षण के क्षेत्र में अध्ययन का स्तर बढ़ता गया। मोरेना विद्यालय में शास्त्री परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर शिक्षार्थी नेमिचन्द्र ने अपने जीवन में सफलता प्राप्त की। उसके बाद लोग शिक्षार्थी नेमिचन्द्र को पण्डित नेमिचन्द्र शास्त्री सम्बोधन से सम्बोधित करने लगे। अध्ययन के साथ अध्यात्म के प्रति भी उनकी रुचि दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। वे सांसारिक प्रवृत्तियों में उदासीन रहते थे। आचार्य चन्द्रसागर जी के सम्पर्क में आकर उन्होंने कई प्रतिज्ञाएं ग्रहण कीं। आचार्य वीरसागरजी के सम्पर्क में उन्होंने प्रतिमा व्रत स्वीकार किया। सहज वैराग्य वृत्ति से प्रेरित होकर उन्होंने आचार्य महाकीर्तिजी के पास वी. नि. २४७७ (वि. सं. २००७) में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। क्षुल्लक साधना जीवन में उनका नाम वृषसागर रखा गया। सात महीने बाद उन्होंने एलक दीक्षा ग्रहण की। इस समय इनका नाम सुधर्मसागर रखा गया।

एलक साधना के बाद उन्होंने वी. नि. २४७९ (वि. सं. २००९) फाल्गुन शुक्ला नवमी को आचार्य महावीरकीर्तिजी से निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ग्रहण की। इस समय इनका नाम विमलसागरजी हुआ।

विमलसागरजी मुनिचर्या के नियमों का दृढ़ता से पालन करते रहे। उनके सामने आहार आदि विधि में तथा अन्य साधना की प्रवृत्तियों में कई कठिनाइयां भी उपस्थित हुईं, पर वे समता से सब स्थितियों को पार करते रहे। मुनि जीवन में पावापुर, इन्दौर आदि क्षेत्रों में विमलसागरजी ने चतुर्मास किए और कई दीक्षाएं इनके द्वारा सम्पन्न हुईं।

विमलसागरजी के गुणों से प्रभावित होकर वी. नि. २४८८ (वि. सं २०१८) मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया के दिन आचार्य महावीरकीर्तिजी के आदेश से धर्म-संघ ने उनको आचार्य पद से अलंकृत किया।

विमलसागरजी के जीवन में कई विशेषताएं थीं। वे संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, प्राकृत भाषा के विद्वान् थे। निमित्त-विद्या एवं सामुद्रिक विद्या के भी वे ज्ञाता थे। वे अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को सरल भाषा में उद्बोधन देते एवं अनेकान्त शैली से अपने विषय का विश्लेषण करते। ध्यान-साधना के समय एक

आसन में बैठकर वे घण्टों ध्यान करते। समय-समय पर अनेक प्रकार के तप एवं व्रतोपवास भी करते और त्याग तप के लिए अन्य साधकों को भी प्रेरित करते रहते थे।

उपाध्याय भरतसागरजी, मुनि अरहसागरजी, सम्भवसागरजी, श्रमणसागरजी आदि मुनिगण नन्दामतीजी, आदिमतीजी, स्याद्वादमतीजी आदि आर्यिकाएं तथा क्षुल्लकश्री सन्मतिसागरजी, अनेकान्तसागरजी आदि विमलसागरजी के शिष्य परिवार में से हैं।

विमलसागरजी द्वारा दीक्षित सुमतिसागरजी भी एक विशिष्ट आचार्य हैं। इनके द्वारा भी कई मुनि-दीक्षाएं, एलक दीक्षाएं, क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका दीक्षाएं सम्पन्न हुई।

आचार्य विमलसागरजी स्वर्गीय महावीरकीर्तिजी के पट्ट पर विराजमान थे। वे धर्म-संघ के दायित्व का सफलतापूर्वक वहन करते हुए धर्म-प्रचारक कार्य में विशेष प्रवृत्त रहे थे।

१५९. अध्यात्म के शिखर पुरुष आचार्य महाप्रज्ञ

प्रज्ञापुरुष महाप्रज्ञजी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के दसवें आचार्य हैं। वे युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी के उत्तराधिकारी हैं। उनके व्यक्तित्व में प्रज्ञा और योग का अनुपम समन्वय है। वे दार्शनिक, कवि, साहित्यकार एवं प्रेक्षाध्यान के अनुसंधाता तथा प्रयोक्ता हैं। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' के शब्दों में वे इस युग के 'विवेकानन्द' हैं।

गुरु-परम्परा

महाप्रज्ञजी का दीक्षा-संस्कार तेरापंथ धर्म-संघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी द्वारा हुआ। आपने कालूगणी के निर्देशन में एवं आचार्यश्री तुलसी के उपपात में ज्ञानार्जन किया, आपके दीक्षागुरु श्री कालूगणी और शिक्षागुरु आचार्य श्री तुलसी थे। पूर्ववर्ती गुरु-परम्परा के क्रम में आचार्य श्री तुलसी की जो गुरु-परम्परा है वही आचार्य श्री महाप्रज्ञजी की गुरु-परम्परा है।

जन्म एवं परिवार

महाप्रज्ञजी का जन्म विक्रम संवत् १९७७ आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी को राजस्थानान्तर्गत 'टमकोर' ग्राम के चोरड़िया परिवार में हुआ। आपके पिताश्री का नाम तोलाराम एवं मातुश्री का नाम बालूजी था। आपकी बड़ी बहिन का नाम मालूजी था। उनकी दीक्षा आपकी दीक्षा के बाद हुई। आपका गृहस्थ जीवन का नाम नथमल था।

जीवन-वृत्त

महाप्रज्ञजी (नथमल) लगभग दस वर्ष गृहस्थ जीवन में रहे। पिताश्री तोलारामजी का साया जल्दी ही उनके सिर से उठ गया। मां की धार्मिक वृत्तियों से बालक में धार्मिक चेतना का जागरण हुआ। प्रबल वैराग्य भावना ने बालक को संयम की ओर प्रेरित किया। आचार्यश्री कालूगणीजी के कर-कमलों द्वारा वि. सं. १९८७ माघ शुक्ला दशमी के दिन सरदारशहर में मातु श्री बालूजी के साथ आपने मुनि दीक्षा ग्रहण की।

संयमी जीवन में आप मुनिश्री नथमलजी के नाम से प्रसिद्ध सौम्य आकृति, सरल स्वभाव और मृदुवाणी के कारण आप सबके प्रिय बनते गए। परम पूज्य गुरुदेव कालूगणी का असाधारण वात्सल्य आप पर था। आपका अध्ययन पूज्य कालूगणी के निर्देश से मुनिवर 'तुलसी' की सन्निधि में प्रारम्भ हुआ। मुनि तुलसी कुशल शिक्षक थे। उनके पास कई बाल मुनि अध्ययन करते थे। मुनि नथमलजी (वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ) तुलसी मुनि की कक्षा के मेधावी छात्र थे। आपकी सद्यग्राही प्रज्ञा गहन ज्ञान ग्रहण करने में सक्षम थी। आगम अध्ययन के साथ दर्शन, न्याय, व्याकरण आदि विविध विषयों पर आपका आधिपत्य था। भारत के धुरन्धर विद्वानों में आज आपका अग्रिम स्थान है। प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी आदि भाषाओं पर आपका असाधारण प्रभुत्व है।

एक बार मुंबई में आपका प्राकृत भाषा में बीस मिनट तक प्रवचन हुआ। प्रवचन के पश्चात् पेंसिलवेनिया यूनिवर्सिटी के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ. नार्मन ब्राउन ने कहा "आज भगवान् महावीर की मूल वाणी प्राकृत में मुनिजी से प्रवचन सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूं। मेरी भारत यात्रा सफल हुई।"

पूना में संस्कृत वाग्वर्धिनी सभा, विद्यापीठ आदि केन्द्रों एवं विद्वद् गोष्ठियों में मुनि श्री नथमल जी (आचार्यश्री महाप्रज्ञजी) के संस्कृत तथा हिन्दी में प्रवचन हुए। आशु कविताएं की। प्रश्नोत्तरों का कार्यक्रम भी संस्कृत में चला। आपकी अस्खलित, परिष्कृत, अलंकार मण्डित संस्कृत भाषा को सुनकर वहां के पण्डित प्राध्यापक आदि मंत्र-मुग्ध हो गए।

आप जैसे मनीषी का आश्रय पाकर सुरभारती स्वयं मण्डित हुई है एवं प्राकृत के प्राण पुलक उठे हैं।

आचार्य महाप्रज्ञजी में अनेक विलक्षण अर्हताएं हैं। आप भारतीय वाङ्मय के विशिष्ट अध्येता हैं तथा दर्शन के आप गम्भीर विद्वान् हैं। विभिन्न दार्शनिक धाराओं का अध्ययन कर आपने जैन दर्शन के मौलिक स्वरूप का प्रतिपादन किया। आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान में दर्शन का विश्लेषण मुखरित है। अध्यात्म का विशद विवेचन कर आपने चिन्तन के नए आयामों का उद्घाटन किया।

आपकी प्रज्ञा जागृत एवं अध्यात्म से सराबोर है। आपकी अन्तर्मुखी दृष्टि ने जीवन की समस्याओं का समाधान दिया है। आपने मानव को अध्यात्म हेतु प्रेरित किया।

आगम वाणी पर आपकी गहरी निष्ठा है, पर आपका चिन्तन परम्परा से आबद्ध नहीं है। आपने आगमों की व्याख्याएं अपनी मौलिक प्रज्ञा के द्वारा वैज्ञानिक एवं आधुनिक संदर्भ में की।

आपके जीवन में विद्वत्ता के साथ विनम्रता का मणिकांचन योग है। आपका समर्पण भाव असाधारण है। आप अपनी आत्मा के प्रति, अपने संकल्पों के प्रति और अपने गुरु के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित हैं। गुरु श्री तुलसी और आप अभिन्न थे। समर्पण आपके विकास का मूल है। गुरु-शिष्य की यह अभेद रेखा आधुनिक युग का आश्चर्य है।

तेरापंथ धर्मसंघ में गणाधिपति आचार्य श्री तुलसी ने अनेक उन्मेष दिए। उनमें आपका असाधारण योगदान था। गुरु के प्रत्येक निर्देश को क्रियान्वित करने एवं गुरु द्वारा प्रारम्भ किए हुए कार्य को उत्कर्ष तक पहुंचाने में आप सदा तत्पर रहते।

आचार्य श्री तुलसी ने वि. सं. २००५ फाल्गुन शुक्ला २ को सरदारशहर में अणुव्रत प्रवर्तन किया। अणुव्रत की सैद्धान्तिक भूमिका पर समाज में अनेक चर्चाएं थीं। मुनि श्री नथमलजी (आचार्य श्री महाप्रज्ञजी) ने आगमिक आधार पर युगीन भाषा में अणुव्रत दर्शन का विश्लेषण किया तथा एतद्-विषयक साहित्य की रचना कर नैतिक मंदाकिनी को प्रवाहित किया।

आचार्य श्री तुलसी की आगम-वाचना में आचार्य श्री महाप्रज्ञजी का अनुपम योग है। आधुनिक रूप में आगमों का सम्पादन आज से सहस्रों वर्ष पूर्व होने वाली देवर्द्धिगणी की आगम वाचना का स्मरण कराता है।

आचार्य श्री तुलसी द्वारा प्रदत्त अध्यात्म सूत्रों पर आपकी वैज्ञानिक व्याख्याएं प्रभावकारी हैं। आचार्य भिक्षु के विचारों के भाष्यकार जयाचार्य थे। गणाधिपति तुलसी के भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी हैं।

तेरापंथ धर्मसंघ के अंतरंग कार्यों में आपका आचार्य देव को पूर्ण सहयोग रहता था।

आचार्य महाप्रज्ञजी ने जो अपने आराध्यदेव आचार्य श्री तुलसी से पाया उसे सहस्र गुणित कर जन-जन को बांटा है और बांट रहे हैं। आगमों की भाषा में आप महाप्रज्ञ हैं। गीता की भाषा में आप स्थितप्रज्ञ हैं। आपके चिन्तन ने युग को नया मोड़ दिया है। शिक्षा, साधना, साहित्य तीनों क्षेत्रों में आपने नए कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

आपकी निर्मलप्रज्ञा, चरित्रनिष्ठा एवं समर्पण भाव से प्रभावित होकर गुरुदेव तुलसी ने अपको वि. सं. २०२२ माघ शुक्ला सप्तमी को हिसार में निकाय सचिव के गरिमामय पद से विभूषित किया था।

गंगाशहर चतुर्मास वि. सं. २०३५ में कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन गुरुदेव ने आपको 'महाप्रज्ञ' की उपाधि अलंकृत किया।

राजलदेसर मर्यादा-महोत्सव के प्रसंग पर वि. सं. २०३५ माघ शुक्ला ७ को आपकी नियुक्ति युवाचार्य के पद पर हुई।

महाप्रज्ञजी की आचार्य श्री तुलसी के उत्तराधिकारी के रूप में घोषणा से समग्र समाज में हर्ष की लहर दौड़ गई। आप महान् आचार्य के महान् उत्तराधिकारी हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के वर्चस्वी विद्वान् उपाध्याय अमरमुनिजी ने लिखा

'आचार्य श्री तुलसी ने युवाचार्य के रूप में योग्य पद पर योग्य मुनि का चयन किया है। यह चयन केवल तेरापंथ सम्प्रदाय के हित में ही नहीं, समग्र जैन समाज

के हित में फलप्रद होगा, ऐसा मुझे उनके निरन्तर उज्ज्वल होते जाते भविष्य से प्रतिभासित होता है। मेरी हार्दिक शुभकामनाएं मुनिश्रीजी के साथ हैं।'

इस नियुक्ति पर जैन विद्वान् दलसुखभाई मालवणिया ने कहा है 'आचार्य श्री तुलसी ने योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर नियुक्त किया है।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञ के प्रलम्बमान बाहु-युगल, लम्बा कद, दीप्तिमान चेहरा और दोनों नयनों के भीतर झांकती गम्भीर दृष्टि दर्शकों को प्रथम दर्शन में ही प्रभावित करती है।

आपने अपने दायित्व को कुशलतापूर्वक सम्भाला है एवं संघ का विश्वास प्राप्त किया है।

कुशल अनुशासक वही हो सकता है जो अनुशासन में ढलना जानता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी इस कला में कुशल हैं। गणाधिपति श्री तुलसी ने उनको जिस रूप में ढालना चाहा वे ढले। जैसा बनाना चाहा वे बने।

आपकी सृजनशीलता, ग्रहण शक्ति और अपने आराध्य के प्रति तादात्म्यभाव ने आपको महाप्रज्ञ एवं आचार्य की भूमिका तक पहुंचाया है।

आचार्य पद पर आपकी नियुक्ति सुजानगढ़ मर्यादा महोत्सव के प्रसंग पर १८ फरवरी, १९९४ (विक्रम सं. २०५०) माघ शुक्ला षष्ठी के दिन हुई।

भारत की राजधानी दिल्ली में प्रखर प्रतापी, मनीषी मूर्धन्य गणाधिपति गुरुदेव की मंगल सन्निधि में ईस्वी सन् ५ फरवरी, १९९५ (वि. सं. २०५१) को आचार्य पदाभिषेक समारोह विशाल जनमेदिनी के बीच विराट् रूप में मनाया गया।

विलक्षण था उदात्त चेतना के धनी आचार्य श्री तुलसी द्वारा आचार्य पद विसर्जन और विलक्षण ही था आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा अनन्य समर्पण।

आचार्य श्री तुलसी के पद-विसर्जन में भी सृजन की अनुभूति होती थी और आचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा गुरु चरणों में समर्पण गुरुत्वभाव को प्रकट कर रहा था।

दोनों पूज्यवरों की अनुशासना में अपूर्व एकत्व का अहसास होता था। द्वैत में अद्वैत का यह अनुपम उदाहरण था।

उत्तराधिकारी का चयन कर धर्म-संघ को निश्चिन्त बना देना आचार्य का सबसे बड़ा दायित्व होता है। परम-पूज्य आचार्य श्री तुलसी ने सबल, सक्षम, एवं समर्थ उत्तराधिकारी की नियुक्ति कर धर्म-संघ को अनमोल रत्न प्रदान किया है।

आप जैसे महामनस्वी, वर्चस्वी, तेजस्वी, निर्मल प्रज्ञाधर, सक्षम आचार्य को पाकर तेरापंथ धर्म शासन धन्य हो गया है। जैन शासन को दिव्य प्रकाश मिला है। विश्व को श्रेष्ठ मार्गदर्शक मिला है।

गणाधिपति गुरुदेव आचार्य श्री तुलसी जैसे साहस के धनी, लौह-पुरुष व्यक्ति हजारों वर्षों के बाद अवतरित होते हैं और आप जैसे अमेय मेधा के धनी, योग सम्राट् पुरुष भी हजारों वर्षों के बाद जन्म लेते हैं।

आपके व्यक्तित्व में कई विशेषताएं एक साथ स्फुरित हैं। आप सूक्ष्म प्रज्ञाधर, योग साधक, उच्चकोटि के तार्किक, मनीषी, साहित्यकार और प्रभावशाली वक्ता हैं। दर्शन, न्याय, सिद्धान्त आदि विभिन्न विषयों में निष्णात विद्वान् एवं भारतीय संस्कृति के विशिष्ट ज्ञाता हैं।

आचार्य महाप्रज्ञजी के साहित्यकार के रूप से सभी परिचित हैं। आपका अन्तरंग रूप विशिष्ट साधक का है। आप वर्षों से योग और ध्यान की साधना में संलग्न हैं। आपने अपने जीवन में साधना के विशेष प्रयोग किए हैं। आपकी सुदीर्घकालीन साधना और स्वानुभूति की निष्पति है प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान।

प्रेक्षाध्यान अपने जीवन के प्रति जागरूकता और स्वस्थ जीवन-दिशा का सम्बोध है। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से अपने भीतरी रूप का कायाकल्प हो जाता है तथा असाध्य रोगों एवं तनावों से मुक्त होकर व्यक्ति अपने आपमें अमित शान्ति का अनुभव कर सकता है।

गणाधिपति श्री तुलसी के सान्निध्य एवं आचार्य श्री

महाप्रज्ञजी के मार्गदर्शन में लगभग शतकार्ध साधना शिविर आयोजित हो चुके हैं। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रिंसिपल, प्रोफेसर, शिक्षक आदि बौद्धिक वर्ग के लोग तथा सहस्रों की संख्या में सामान्यजन भी इन साधना शिविरों से लाभान्वित हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अणुवैज्ञानिक भाभा अनुसन्धान केन्द्र के अध्यक्ष राजा रमन्ना ने भी दिल्ली स्थित अणुव्रत भवन में कई बार प्रेक्षाध्यान के प्रयोग किए हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन-विज्ञान के रूप में एक और नया उन्मेष मानव समाज को दिया है। जीवन-विज्ञान के प्रयोग व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया है। आज के शैक्षणिक जगत् की समस्याओं का समाधान जीवन-विज्ञान के प्रयोगों से सम्भव है।

प्रेक्षाध्यान और जीवन-विज्ञान के रूप में महाप्रज्ञजी की मानव समाज को विशिष्ट देन है।

जैन विश्वभारती के शोध, साहित्य, शिक्षा, साधना आदि सात सकारात्मक अध्यात्म प्रवृत्तियों में आचार्यश्री का व्यक्तित्व और कर्तृत्व मुखरित है।

तेरापंथ धर्मसंघ के बाह्य और अन्तरंग विकास में जो आपका अवदान रहा है वह शब्दातीत है।

तेरापंथ धर्मसंघ के संगठन को सुदृढ़ बनाने में भी आप सदा प्रयत्नशील रहे हैं। समय-समय पर नए उन्मेष देकर इस संघ को शक्ति-सम्पन्न बनाया है। आपकी दृष्टि में शक्ति-सम्पन्न होना ही अनेक समस्याओं का स्वतः समाधान है।

साध्वी समाज ने आपकी ज्ञानाराधना से और आपके मार्गदर्शन से जो पाया है वह अनिर्वचनीय है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ध्यान और योग के माध्यम से अध्यात्म की गहराइयों में उतरे हैं। आपने बाह्य जगत् में भी पदयात्राओं के द्वारा दूर-दूर तक धरा पर अपने पद-चिह्न अंकित किए हैं। गुरुदेव श्री तुलसी के साथ कलकत्ता से कन्याकुमारी तक की धरती को आपने पैरों से मापा है। इन यात्राओं में विद्वान्, नेता, किसान, मजदूर आदि सभी वर्गों के लोग आपके सम्पर्क में आए। आपने उनकी जीवनगत समस्याओं को सुना, समझा, उनकी कठिनाइयों एवं विवशताओं का अनुभव किया तथा मनोवैज्ञानिक ढंग से उनकी समस्याओं को समाहित कर स्वस्थ एवं नैतिक जीवन जीने का सम्बोध दिया है।

मार्क्स ने कम्युनिज्म का दर्शन दिया जिसकी चर्चा विश्वस्तर पर हुई।

आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान पद्धति से 'स्व' को देखने एवं समझने का ऐसा वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया एवं नए सोच और नये चिन्तन का द्वार खोला, जिससे पूरा मानव समाज लाभान्वित हो रहा है।

आज आपके कर्तृत्व ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का यश अर्जन किया है। आपके साहित्य ने जगत् में वैचारिक क्रान्ति की चिनगारी सुलगाई है।

आपके उदार चिन्तन से एवं मानव कल्याणकारी कार्यों से प्रभावित होकर अमेरिका के बायोग्राफिकल इन्स्टीट्यूट (Biographical Institute) द्वारा 'मैन ऑफ द ईयर' (Man of the year) एवार्ड के लिए तथा इन्टरनेशनल बायोग्राफिकल सेन्टर कैम्ब्रिज (International Biographical Centre Combridge), इंग्लैण्ड ने 'इन्टरनेशनल-मैन ऑफ द इयर' (International Man of the year) के अलंकरण के लिए आपके नाम का चयन किया।

"International Biographical Centre Cambridge" संस्थान विश्व के इने-गिने प्रतिष्ठानों में एक है। इस संस्था द्वारा प्राप्त सम्मान से जैन समाज की प्रतिष्ठा बढ़ी है तथा भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म परम्परा का मस्तिष्क ऊंचा हुआ है।

यह धर्म-संघ के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इस सम्मान की घोषणा पूरे तेरापंथ समाज के लिए हर्ष का विषय तो है ही, जैन इतिहास का भी यह एक सुनहरा पृष्ठ बनेगा।

एक ही वर्ष में दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान प्राप्त करने वाले आचार्य महाप्रज्ञजी पहले भारतीय हैं।

I.B.C. के जनरल डाइरेक्टर NICHOLAS SLAW का पत्र यथावत् इस प्रकार है

Mr. Acharya Mahapranjnaji
Jain Vishwa Bharati Ref. MAN/YRINV
Ladnun-341 306 12th June, 1998
India

Dear Mr. Mahaprajnaji

Your Nomination as on International Man of the Year.

The International Biographical Centre of Cambridge, England is delighted to confirm your nomination as an International Man of Year for 1997-98. This prestigious award issued by way of a warrant of proclamation will be made available to only a few illustrious individuals whose achievements and leadership stand out in the International Community.

Nomination as an International Man of the Year is made by the Editorial and Advisory Boards of the International Biographical Centre and this year I have had the pleasure of chairing the Selection Committees of Tens Thousands of biographies are reviewed each year by the Boards and from these only a handful are selected for this unique honour. Congratulations on being one of these so nominated.

The International Biographical Centre pride itself as being one of the leading biographical reference book publishers in the world with more than 20 who's who titles in 132 separate editions. Among these titles, some of which have been established for more than 50 years, are International who's who is Music. International Authors and Writers who's who Dictionary of International Biography, Men of Achievement. The World who's whoof women and International Leaders in Achievement.

This award as an International Man of the Year described on the accompanying application form. You will see that not only are recipients eligible for an appealing warrant of proclamation but can also obtain an attractive Medal of Honour. So that you may, with justifiable pride proclaim your nomination as International Man of the Year. I am sure you will be excited to accept this Honour.

Sincerly.
Nicholasslaw
Director General

International Biographical Centre is an imprint of Melrose Press Ltd. whose offices are at 3 Regal Lance, Soham, Ely Combridgeshire, England. Registered in England number 965274.

सुप्रसिद्ध संस्थानों द्वारा इस सम्मान की घोषणा से सर्वत्र हर्ष की लहर प्रसारित हुई। अनेक विशिष्ट एवं प्रबुद्ध व्यक्तियों के बधाई संदेश पहुंचे।

राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमन्त्री आदरणीय भैरोसिंह शेखावत वर्तमान में भारत के उपराष्ट्रपति ने पत्र में लिखा

आचार्य श्री, मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि संयुक्त राज्य अमेरिका के अमेरिकन बायोग्राफिकल इन्स्टीट्यूट द्वारा आपको इस वर्ष का 'मैन ऑफ दी ईयर' सम्मान से सम्मानित किया गया है। कृपया इस सम्मान के लिए मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें। आपने प्रातःस्मरणीय गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी के सान्निध्य में पूरे समाज को योग, अध्यात्म और जीवन विज्ञान की शिक्षा देने का जो पुनीत कार्य किया है उससे समाज को नई दिशा मिली है।

आपके समक्ष इस सम्मान का कोई महत्त्व नहीं है, लेकिन तेरापंथ धर्मसंघ और हम सभी इस सम्मान से गौरवान्वित हुए हैं। मेरे विचार में आप जैसे महामना युगपुरुष को 'वर्ष पुरुष' का सम्मान देकर अमेरिकन बायोग्राफिकल इन्स्टीट्यूट ने स्वयं सम्मान अर्जित किया है।

आपश्री के चरणों में विनम्र वन्दना के साथ

भवनिष्ठ

(ह.) **भैरोसिंह शेखावत**

राजस्थान के भूतपूर्व डाइरेक्टर जनरल ऑफ पुलिस डॉ. ज्ञानचन्द पिलानिया ने लिखा है

'महामना आचार्य श्री आप जैसे वीतरागी महाप्रज्ञ के

लिए मान-सम्मान कोई महत्त्व नहीं रखते परन्तु उनका सम्मान, राष्ट्र का गौरव है, देश का श्रीवर्धन है। सरदारशहर के बड़े भाग्य हैं कि महान् मनीषी आचार्य श्री वहां चतुर्मास कर रहे हैं। उनकी ज्ञान-गंगा रूपी अमृतवाणी से धरा पवित्र हो जाएगी। उनके श्रीचरणों में मेरा साष्टांग दण्डवत् अर्ज करें। 'मैन ऑफ द ईयर' अवार्ड के सम्बन्ध में हरिऔध की पंक्तियां दोहराऊंगा

कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला।

(डॉ. पिलानिया)

संघप्रवक्ता श्री चन्दनमल जी बैद ने गुरुदेव के इस मूल्यांकन पर पूरे समाज की ओर से हार्दिक बधाई देते हुए कहा

"आचार्य श्री को जो सम्मान मिला है, वह उन जैसे अध्यात्म योगी के लिए बहुत मूल्यवान् नहीं है। आचार्य श्री इन पुरस्कारों और सम्मानों से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। लेकिन इस सम्मान से समाज को जो गौरव की अनुभूति और प्रसन्नता हुई है, वह अवर्णनीय है। आचार्य श्री ने व्यक्ति, समाज और विश्व हित के जो सन्देश दिए हैं, प्रयोग सुझाए हैं, वे आज वैज्ञानिक स्तर पर मान्य होते जा रहे हैं।"

(संघ प्रवक्ता श्री चन्दनमलजी बैद)

धर्म सम्राट् का अलंकरण उपर्युक्त इन दो विदेशी सम्मानों से पूर्व प्रेक्षापुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञजी को भारत के मारवाड़ी समुदाय द्वारा ईस्वी सन् १९९७ (विक्रम सं. २०५४), में धर्म सम्राट् से विभूषित किया गया था।

प्रज्ञापुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञजी का व्यक्तित्व सागर से अधिक विशाल, हिमालय से अधिक उन्नत एवं आकाश की भांति असीम एवं अनन्त गुणों से सहज मण्डित है।

आपका आश्रय पाकर अलंकार स्वयं अलंकृत होते हैं। सम्मान करने वाला स्वयं सम्मान पाता है।

साहित्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी वर्षों से प्रबुद्ध लेखक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त हैं। आपने संस्कृत, प्राकृत व हिन्दी भाषा में शताधिक ग्रन्थों की रचना की। आपके अनेक ग्रन्थों का अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़ आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। आपकी शैली सूत्रात्मक और विश्लेषणात्मक भी है। विषय का विवेचन मौलिक, तलस्पर्शी और आगम सम्मत है। छोटे-छोटे वाक्यों में आप गहरी और मार्मिक बात लिख देते हैं। आपमें बहुमुखी प्रतिभा का विकास है। साहित्य की विविध विधाओं में आपकी लेखनी निर्बाध चली है।

अश्रुवीणा, मुकुलम्, सम्बोधि, रत्नपाल आदि आपकी संस्कृत रचनाएं हैं।

अश्रुवीणा काव्य को पढ़ते समय कवि कालिदास और माघ की स्मृति हो आती है। 'मुकुलम्' संस्कृत गद्य रचना है। इसकी भाषा अत्यन्त सरस और सरल है। नवीन धातुओं के प्रयोग पाठक को विशेष प्रभावित करते हैं। सम्बोधि में प्रश्नोत्तर के माध्यम से जैन दर्शन का परिचय दिया गया है। प्रश्नकर्त्ता है महाराज श्रेणिक का पुत्र मेघ और उत्तरदाता हैं भगवान् महावीर। यह जैन दर्शन की आधुनिक गीता है।

संस्कृत भाषा में आपकी आशु कविताएं अतुला-तुला में संकलित हैं। उनमें कई कविताएं चामत्कारिक हैं। आशु कविताओं में आपकी प्रत्युत्पन्न एवं कल्पनाशील मेधा के दर्शन होते हैं।

'तुलसी मञ्जरी' (प्राकृत व्याकरण) आपकी रचना है। इस व्याकरण की सूत्र-रचना सरल है। प्राकृत भाषा में प्रवेश पाने के लिए यह पुस्तक उपयोगी है। 'प्राकृत रचना बोध' भी आपकी कृति है।

'जैन परम्परा का इतिहास','जैन दर्शन : मनन और मीमांसा','अहिंसा तत्त्व दर्शन','घट-घट दीप जले','जैन न्याय का विकास' आदि ग्रन्थों में इतिहास, न्याय और दर्शन की बहुविध सामग्री प्राप्त है।

श्रमण महावीर इसमें तीर्थंकर महावीर के उपदेशों की वर्तमान सन्दर्भ में प्रस्तुति है। तीर्थंकर महावीर के जीवन चरित्र से सम्बन्धित कई ग्रन्थ हैं उनमें प्रामाणिक

स्रोतों के आधार पर लिखी गई यह पहली पुस्तक है।

'भिक्षु विचार दर्शन' ग्रन्थ में तेरापंथ के आद्यप्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जीवन चरित्र तथा तेरापंथ दर्शन, दान, दया, अहिंसा, संघ, संगठन और मर्यादाओं का विस्तार से विवेचन है।

आपके द्वारा लिखित अणुव्रत साहित्य अणुव्रत के उद्देश्यों को समझाने में सहायक है।

'जैन-योग','किसने कहा मन चंचल है','मन के जीते जीत', 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण', 'अप्पाणं सरणं गच्छामि', 'एकला चलो रे', 'कैसे सोचें', 'मैं कुछ होना चाहता हूं', 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो', 'एसो पंच णमुक्कारो', 'उत्तरदायी कौन?', अमूर्त्त चिन्तन, 'मन का कायाकल्प', 'आभामण्डल', 'महावीर का पुनर्जन्म', 'लोकतन्त्र : 'नया व्यक्ति नया समाज' आदि ग्रन्थों में योग और ध्यान सम्बन्धी विस्तृत सामग्री उपलब्ध है। आधुनिक शैली और वैज्ञानिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में लिखे गए ये ग्रन्थ विशेष लोकप्रिय एवं जीवन पथदर्शी हैं।

आपके ग्रन्थ, साहित्य जगत् की अमूल्य निधि हैं। आपकी कुशल लेखनी से अनेक नए तथ्य अनावृत हुए हैं।

जैन ग्रन्थों में अर्हत्वाणी का वैज्ञानिक विश्लेषण, आगम ग्रन्थों का आधुनिक सम्पादन, विविध विषयों पर तुलनात्मक शोध निबन्ध आपके भीतर की अलौकिक प्रज्ञा का आभास कराते हैं।

आपकी योग साहित्य मन्दाकिनी में डुबकियां लगाने वाला व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है।

आपके सृजन से तेरापंथ धर्म-संघ ही नहीं, पूरा जैन समाज लाभान्वित हुआ है और सम्पूर्ण मानव जाति आपकी ज्ञान-गंगा में नहाकर कृत-कृत्य हुई है। ऐसे विरल सारस्वतपुत्र को शतशः नमन।

विविध रूपों में मुखर व्यक्तित्व आचार्य महाप्रज्ञ संयम साधना के शलाका पुरुष हैं। आप में सामान्य व्यक्तियों से अनेक गुणा अधिक ऊर्जा स्फुरित है। विविध रूपों में आपका शक्तिशाली व्यक्तित्व मुखर है। आप ज्ञान के आलोक पुंज हैं।

आगम के सारभूत तथ्यों को संग्रह करने में आप साक्षात् उमास्वाति हैं। दार्शनिक दृष्टियों की प्रस्थापना करने में आप आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र हैं।

हेतु, अहेतु लक्षण की विवेचना में आप आचार्य पूज्यपाद हैं। स्याद्वाद, अनेकांत, नय, निक्षेप विश्लेषण में एवं नई व्याख्या करने में आप आचार्य अकलंक भट्ट हैं।

भक्ति की ज्ञान गंगा को प्रवाहित करने वाले आप आचार्य मानतुंग हैं। आगमों को सटीक व्याख्यायित करने में आप भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं, नियुक्तिकार भद्रबाहु, टीकाकार हरिभद्र, मलयगिरी और अभयदेव हैं।

नव्य न्याय शैली के प्रस्तोता आप उपाध्याय यशोविजय जी हैं। शताधिक ग्रन्थों के रचनाकार एवं सरस्वती के कोष को अपरिमेय साहित्य सम्पदा से समृद्ध बनाने वाले आप साक्षात् कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र हैं एवं इस वैज्ञानिक युग के आप आइंस्टीन हैं।

आइंस्टीन ने गणित के आधार पर 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' का आविष्कार कर सारी दुनिया को हिला दिया था।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अपने ग्रन्थों में दिव्य दृष्टियों की प्रस्तुति कर अनमोल रत्न जड़े हैं।

जिसने भी आपके ग्रन्थों का पारायण किया वह 'दांतों तले अंगुली' दबाये बिना नहीं रहा। आपकी प्रांजल प्रतिभा के सम्मुख दिग्गज विद्वानों के मस्तक झुक गए।

भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री वाजपेयी ने कहा आचार्य महाप्रज्ञ जी की बात गले से सीधी नीचे उतरकर हृदय को छू जाती है।

आपने जैन दर्शन को आधुनिक विज्ञान के साथ विश्लेषित किया है। अनेकांत को आपने व्याख्यायित ही नहीं किया उसे जीया है।

आप योगाधिराज योगी हैं। आगमों का दोहन एवं उन्हें वैज्ञानिक आधार देकर आपने जिस 'प्रेक्षाध्यान'

पद्धति का आविष्कार किया है वह आज मानव जाति के लिए वरदान सिद्ध हो रही है।

आपकी विशिष्ट योग-साधना से प्रभावित होकर गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने १२ सितम्बर, १९८९ में आपको 'जैन योग पुनरुद्धारक' संबोधन से संबोधित किया।

विदेशों में भी प्रेक्षा-ध्यान के प्रयोगों की गूंज और अनुगूंज है। वहां 'प्रेक्षायोग सेन्टर', 'प्रेक्षा मेडीटेशन सेंटर','प्रेक्षा साधना केन्द्र' आदि स्थापित हुए। लोगों की अभिरुचि दिन-प्रतिदिन प्रेक्षा प्रयोगों के प्रति बढ़ती जा रही है।

आपका अंतरंग व्यक्तित्व अध्यात्म उर्जा से समृद्ध अपने आपमें विलक्षण है। आपने अपने उदात्त विचारों एवं कुशल कर्तृत्व से युग को प्रभावित किया है, युग की धारा को मोड़ा है। नई सोच नई दृष्टि दी है, नया स्वर दिया है। दर्शन जगत् में कई महत्त्वपूर्ण नई प्रस्थापनाएं की हैं। धर्म को वैज्ञानिक रूप में व्याख्यायित किया है। जन-जन को प्रशस्त जीवन जीने का युगबोध दिया है।

आचार्य महाप्रज्ञ जैनाचार्यों की यशस्वी परम्परा के महान् यशस्वी आचार्य हैं। युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के सफल उत्तराधिकारी हैं। आपने कुशलता से तेरापंथ की परंपरा को आगे बढ़ाया है। जैन शासन को नई चमक दी है। आपकी सूक्ष्म मेधा और सृजन धर्मा चेतना ने मानव समाज को जो दिया है वह विश्व का अकूत खजाना है।

कालजयी व्यक्तित्व

प्रज्ञापुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी कालजयी व्यक्तित्व के धनी हैं। उन्होंने अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से काल के भाल पर जो चरण-चिह्न अंकित किए हैं, युग की घनी परतें भी उन्हें ढांक नहीं पायेगी।

आपके कुशल कर्तृत्व एवं प्राञ्जल प्रज्ञा से धर्मसंघ में कई कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। तेरापंथ धर्मसंघ की स्वस्थ-परम्परा के प्रभावशाली आचार्यों की उम्र एवं संयम पर्याय अवधि को भी पार कर आपने काल के बढ़ते चरणों को भी रोक दिया है।

कालजयी महर्षि की अभिवन्दना का भव्य समारोह युवा मनीषी युवाचार्य महाश्रमणा जी के मार्गदर्शन में आयोजित हुआ। धर्मसंघ ने अनन्त श्रद्धा और समर्पण के साथ पूज्य प्रवर का अभिवादन-वर्धापन किया, और उनके चिरंजीवी होने की मंगल कामना की। यह तेरापंथ धर्म-संघ के अब तक के इतिहास का अपूर्व दस्तावेज है।

आचार्य महाप्रज्ञ जी का जीवन अहिंसा का पर्याय है। आपने अहिंसा को व्याख्यायित ही नहीं किया अपितु जीवन में उतारा है। अहिंसा के क्षेत्र में नये-नये आयाम मानव समाज के लिए खोले हैं।

अहिंसा समवाय का उपक्रम आपके उर्वर मस्तिष्क की उपज है। अहिंसक शक्तियों को केन्द्रित करने की दिशा में सशक्त कदम है एवं तेजी से बढ़ रही हिंसा की आँधी को रोकने का सार्थक उपाय है।

आपकी अहिंसा यात्रा इक्कीसवीं सदी का कालजयी आलेख है। घने अंधकार में प्रकाश-किरण है। इस यात्रा के द्वारा आपने जन-जन में अहिंसा की चेतना को जगाया है। हिंसा और आतंक के माहौल में अहिंसा का सशक्त स्वर बुलन्द किया है, और जन-जन के मन को झकझोरा है।

गुजरात की भूमि पर साम्प्रदायिक हिंसा की धधकती आग को शांत करने में आपके सौहार्द, मैत्री, सद्भावनापूर्ण संदेश और उपदेश अत्यन्त कारगर सिद्ध हुए हैं। यह प्रसंग राष्ट्र के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

युद्ध की विभीषिका के युग में आपकी अहिंसा यात्रा की प्रासंगिकता ने नई सम्भावनाओं को उकेरा है। भावी पीढ़ी आपसे आशान्वित है।

आपकी अहिंसा यात्रा के मध्य १५ अक्टूबर २००३ का दिन मूल्यवान् घटनाओं को अपने में समेटे हुए है। यह दिन तेरापंथ धर्म-संघ में विशेष रूप से स्मरणीय रहेगा। जैन मान्यतानुसार भरत चक्रवर्ती को एक दिन

में तीन बधाइयां प्राप्त हुई थीं।

आचार्य महाप्रज्ञ के जीवन में एक दिन में घटित चार महत्त्वपूर्ण घटना प्रसंगों से धर्म-संघ में एक कीर्तिमान स्थापित हुआ है एवं अभिनव इतिहास का सृजन हुआ है।

(१) मंगल आशीर्वचन महामहिम राष्ट्रपति श्री. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने १५ अक्टूबर, २००३ को अपना जन्म अहिंसा यात्रा के प्रवर्तक आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी की सन्निधि में मनाया।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी ने मंगल आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहा

> महामहिम राष्ट्रपति अब्दुल कलाम का ७३वां जन्मदिन वैचारिक एकता (यूनिटी ऑफ माइंड) के विचार का जन्मदिन है।
>
> आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की प्रेरणा का जन्मदिन है।
>
> धर्म को अध्यात्मिक स्वरूप देने के अभियान का जन्मदिन है।
>
> नैतिक मूल्यों के विकास की प्रेरणा का जन्मदिन है।
>
> सन् २०२० तक हिन्दुस्तान को आध्यात्मिक एवं आर्थिक दोनों दृष्टि से सम्पन्न बनाने के संकल्प का जन्मदिन है।

इसलिए इस जन्मदिन का मूल्यांकन करते हैं, और मंगल-कामना करते हैं कि यह जन्मदिन शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का संदेश देता रहे।

१५ अक्टूबर २००३

तेरापंथ भवन, सूरत **आचार्य महाप्रज्ञ**

पूज्यप्रवर आचार्य श्री महाप्रज्ञ का आशीर्वचन प्राप्त कर राष्ट्रपति महोदय अति प्रसन्न हुए। उल्लासमयी भाव मुद्रा में उन्होंने हार्दिक आभार व्यक्त किया।

देश के प्रथम नागरिक राष्ट्रपति द्वारा धर्मगुरु की सन्निधि में सलक्ष्य अपना जन्मदिन मनाया जाना तथा उनसे आशीर्वचन प्राप्त करना धर्म-संघ के इतिहास की विरल घटना है।

कोई भी व्यक्ति अपने जन्मदिन पर इन मौलिक, सारगर्भित, भावपूर्ण और प्रेरक आशीर्वचनों को पढ़कर विशेष पाथेय और आगे बढ़ने की प्रेरणा पा सकता है।

(२) यूनिटी ऑफ माइंड (Unity of Mind) सम्मेलन

(*सूरत स्प्रिच्युअल डेक्लेरेशन* (सूरत अध्यात्म घोषणा पत्र का लोकार्पण)

आचार्य महाप्रज्ञ के सान्निध्य में १५ अक्टूबर, २००३ को आयोजित महत्त्वपूर्ण वैचारिक एकता 'यूनिटी ऑफ माइंड' सम्मेलन का महामहिम राष्ट्रपति ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने उद्घाटन किया। पूरी संगोष्ठी में उनकी संभागिता बनी रही। यह सम्मेलन जैन विश्वभारती मान्य संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) द्वारा समायोजित था।

इस सम्मेलन में युवामनीषी युवाचार्य श्री महाश्रमण जी, साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा जी के अलावा, जोरोस्ट्रियन, क्रिश्चियन, रामकृष्णमिशन, सनातनी, सिक्ख, बौद्ध, पारसी, इस्लाम, जेविश, बोहरा समाज, ब्रह्मकुमारी आदि अनेक धर्म समुदायों के धर्मगुरु, धर्माचार्य, मौलवी, फादर, संत तथा अनेक प्रबुद्ध व्यक्ति उपस्थित थे।

महामहिम राष्ट्रपति कलाम ने संगोष्ठी में संभागी धर्मगुरुओं और धर्माचार्यों के साथ देश की अनेक समस्याओं पर संवाद किया, इस संवाद की भव्य परिणति थी सूरत अध्यात्म घोषणा पत्र। महामहिम राष्ट्रपति ने सर्वधर्म-सभा को सम्बोधित किया, तथा धर्मगुरुओं को अपने साथ मिलाकर सूरत स्प्रिच्युअल डेक्लेरेशन (अध्यात्म घोषणा पत्र) का यूनिटी ऑफ माइंड सम्मेलन के तृतीय सत्र में एवं अहिंसा समवसरण में जन-जनार्दन के सम्मुख लोकार्पण किया।

इस आयोजन से पूर्व दो सत्रों में की गई धर्माचार्यों और धर्मगुरुओं की 'यूनिटी ऑफ माइंड' विषयक चर्चा परिचर्चा, विचार-विमर्श, अन्तर्धार्मिक संवादों की परिणति स्वरूप यह सूरत अध्यात्म घोषणा-पत्र परमपूज्य आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी के मार्गदर्शन में तैयार किया गया था।

१५ अक्टूबर २००३ को आचार्य महाप्रज्ञ की मंगल

सन्निधि और राष्ट्रपति महोदय की उपस्थिति में संगोष्ठी में संभागी सभी धर्मगुरुओं ने इस स्प्रिच्युअल डेक्लेरेशन (अध्यात्म घोषणा पत्र) को सर्वसम्मति पूर्वक स्वीकृति प्रदान की पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर किये और भारी समर्थन दिया। अहिंसा सर्वधर्म समन्वय के संवर्धन में एवं राष्ट्र के आध्यात्मिक विकास में योगदान देने के लिए सभी संकल्प-बद्ध हुए।

साम्प्रदायिक सौहार्द संवर्धन में एवं राष्ट्रीय एकता, विश्व शान्ति की दिशा में आचार्य महाप्रज्ञ का और राष्ट्रपति महोदय का यह प्रयत्न अत्यन्त सार्थक और प्रासंगिक था, जिसकी सभी ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

स्प्रिच्युअल फाउण्डेशन संस्था के संस्थापक प्रमुख सैयद मुहम्मद जिलानी अशरफ ने कहा इस सम्मेलन के माध्यम से सभी धर्मगुरुओं और धर्मनेताओं को एकजुट होकर आगे बढ़ना है।

अन्धेरे को कोसते रहने से अच्छा है एक चिराग जला दिया जाए। महान् भारत के महान् सपूत डॉ. कलाम ने उम्मीद का एक चिराग जलाया है।

चित्तूर मठ के जगद्गुरु शिवशक्ति देशी केन्द्र के महास्वामी जी ने कहा "यह प्रसन्नता की बात है आचार्य महाप्रज्ञ चातुर्मास व्यवस्था समिति ने 'यूनिटी ऑफ माइंड' का आयोजन किया। इसमें देश के प्रथम नागरिक राष्ट्रपति कलाम भी आए।

अहिंसा के रास्ते पर चलने के लिए धर्मगुरुओं का एक मंच से विचारों की सहमति के आधार पर तैयार किया गया घोषणापत्र निश्चित रूप से कोई ठोस नतीजा सामने लाएगा।

रामकृष्णमिशन के स्वामी जितात्मानन्द जी ने कहा "इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन में भाग लेकर मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ, विविध धर्मगुरुओं का एक मंच पर आना, विचारों का आदान-प्रदान करना बड़ी उत्साह-जनक उल्लेखनीय बात है।"

सुप्रसिद्ध विचारक डॉ. जसवन्त सिंह नेगी ने भी आशा व्यक्त की कि इस मन्थन से देश को नई दिशा मिलेगी।

पारसी समाज के जाने माने धर्मगुरु व हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. होमी बी. दल्ला ने कहा "महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा था ताकत के बल पर शान्ति नहीं आ सकती। आपस की समझ से ही शान्ति कायम की जा सकती है। धर्माचार्यों के बीच विचार-विमर्श होता रहे तो न केवल आपसी समझ बढ़ती है बल्कि एक-दूसरे पर भरोसा भी बढ़ता है।

मुम्बई के भिक्खु संघ के संस्थापक अध्यक्ष भिक्खु राहुल बोधि ने कहा "अहिंसा का संदेश लोगों तक पहुंचाना बहुत जरूरी है। साम्प्रदायिक ताकतें सिर उठा रही हैं। इस स्थिति में यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। राष्ट्रपति जी सारे देश में घूम-घूम कर भाई-चारा, शांति खुशहाली का पैगाम दे रहे हैं। आचार्य महाप्रज्ञ जी ने सभी धर्मगुरुओं को एक मंच पर लाने का सराहनीय कार्य किया है।

गोष्ठी में समागत अन्य प्रबुद्ध व्यक्तियों ने भी एवं धर्म नेताओं ने भी इस कार्यक्रम को सराहा तथा हृदय स्पर्शी विचार व्यक्त किए।

महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा सुश्री कनकप्रभाजी ने कहा "यह धर्म संसद है, अध्यात्म की संसद है, विज्ञान की संसद है। किसी भी राष्ट्र के विकास की कुंडली युद्ध या हिंसा से नहीं, दिव्यदृष्टि की कलम से लिखी जाती है। आज सौभाग्य से दिव्यदृष्टि सम्पन्न आचार्य श्री महाप्रज्ञ के सान्निध्य में यह कार्य हो रहा है। सूरत में आज इस आध्यात्मिक डेक्लेरेशन के माध्यम से इस सूरत को सही सूरत में बदलने का संकल्प करें।

श्रद्धेय युवाचार्य श्री महाश्रमण जी ने कहा "मैंने राष्ट्रपति को अनेक बार देखा। इनके विनम्र व्यवहार ने मुझे बहुत प्रभावित किया। वे पहले मैन है, फिर कुछ और हैं। यहाँ उपस्थित सभी आदरणीय धर्मगुरु जनकल्याण के कार्यों में लगे हुए हैं। वे सबसे पहले अपने अनुयायियों में अहिंसा और नैतिक मूल्यों के संस्कार जगाएं। शिक्षा संस्थानों की चर्चा करते हुए युवाचार्य श्री ने कहा "विद्या संस्थानों में प्रारम्भ से ही बच्चों में अहिंसा, सदाचार और नैतिक मूल्यों का

प्रशिक्षण दिया जाए तो स्वस्थ और चरित्रसंपन्न पीढ़ी का निर्माण हो सकता है। यदि प्रशिक्षण का यह उपक्रम व्यापक बने तो देश की तस्वीर ही बदल जाएगी, भारत एक महान् देश बन जाएगा।"

आचार्य महाप्रज्ञ ने इस अवसर पर सर्वधर्म सभा को सम्बोधित करते हुए जो संदेश दिया वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्राणदायी था, जिसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही हैं

आध्यात्मिक चेतना का जागरण और नैतिक मूल्यों का विकास यह सार्वभौम धर्म का मंच है। इस मंच पर सभी धर्म एकता का संदेश दे सकते हैं।

साम्प्रदायिक सौहार्द

उपासना और भक्ति का मंच अपना-अपना हो सकता है, और इसमें किसी को कोई आपत्ति भी नहीं हो सकती। धार्मिक अवधारणा में जो दूरी है, वह उपासना पद्धति के आधार पर है। हम वैचारिक स्वतन्त्रता और श्रद्धा की निष्ठा को मूल्य दें तो दूरी के रहते हुए भी हम निकट आ सकते हैं, अध्यात्म और नीति के मंच पर एक साथ बैठ सकते हैं और एक समान कार्य कर सकते हैं। चिन्तन की इस भूमिका निर्माण कर सकें तो विश्व के क्षितिज पर नये सूर्य का उदय हो सकता है।

नैतिक मूल्यों की उपेक्षा क्यों?

धर्म के क्षेत्र में नैतिक मूल्यों को महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। इसलिए धार्मिक आदमी असदाचार करने में संकोच नहीं करता। धर्म के क्षेत्र में आध्यात्मिकता को महत्त्व नहीं दिया जा रहा है, इसलिए मानवीय एकता का स्वप्न साकार नहीं हो रहा है एवं मानवीय सम्बन्धों में सुधार नहीं हो रहा है।

आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व

हमारा मूलभूत लक्ष्य होना चाहिये आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण। केवल आध्यात्मिक व्यक्तित्व अध्यात्म के चिंतन को युग की भाषा में प्रस्तुत नहीं कर सकता। युगचिंतन को प्रभावित नहीं कर सकता। केवल वैज्ञानिक व्यक्तित्व पदार्थ की चेतना से स्पर्श नहीं कर सकता और चेतना से उपजने वाली समस्याओं को सुलझा नहीं सकता। इसलिए प्रबुद्ध व्यक्ति आध्यात्मिक वैज्ञानिक बने, यह युग की अपेक्षा है।

ईस्वी सन् २०२० तक भारत को प्रथम कोटि का राष्ट्र बनाने की राष्ट्रपति की परिकल्पना केवल आर्थिक और औद्योगिक विकास की नहीं हो सकती। वह आर्थिक विकास और आध्यात्मिक विकास दोनों के साहचर्य से साकार हो सकती है। धर्मगुरुओं का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे आध्यात्मिक विकास के दायित्व को व्यापक बनायें। मैं विश्वास करता हूँ कि धर्मगुरुओं का तथा वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न और अध्यात्म के प्रति समर्पित भारत के राष्ट्रपति का यह संवाद राष्ट्र की अनेक समस्याओं को सुलझाने में सार्थक सिद्ध होगा। इस पथ-दर्शन द्वारा विश्व की अशान्ति की समस्या को सुलझाने में योग मिलेगा।

सभी धर्माचार्यों के इतने अच्छे विचार सुने। सभी धर्मों में इतनी अच्छी बातें हैं कि किसको प्रथम मानूं? यह निर्णय करना कठिन है। लेकिन इतने अच्छे सिद्धान्तों के होते हुए भी हिंसा बढ़ रही है यह हमारे सामने प्रश्न है। इसके तीन प्रमुख कारण सामने आ रहे है

१. हिंसा की रणनीति है। अहिंसा की कोई रणनीति नहीं है।
२. हिंसा का नेटवर्क है। अहिंसा का कोई नेटवर्क नहीं है।
३. हिंसा के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। अहिंसा के प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं है।

राष्ट्रपति जी का सपना है, हम सबका सपना है एक ऐसे निष्कर्ष पर पहुंचना चाहिए कि हमारी अहिंसा की कोई रणनीति बने, अहिंसा का नेटवर्क बने, अहिंसा का प्रशिक्षण शुरू हो। केवल शब्दोच्चार से, लच्छेदार शब्दों के व्याख्यान से कुछ नहीं होगा। इसके लिए प्रशिक्षण की विशाल योजनाएं बनें, जिससे

विद्यार्थियों, युवकों और सैनिकों को अहिंसा का प्रशिक्षण मिल सके। इसके लिए हमारा प्रयत्न और विश्वास है कि इसमें हम सफल होंगे।

आचार्य महाप्रज्ञ के प्रवचन को सुनकर महामहिम राष्ट्रपति डॉ. कलाम भाव-विभोर हो गए। आनन्द से आप्लावित होकर महामहिम राष्ट्रपति ने अपने विचारों की भावपूर्ण अभिव्यक्ति दी। उनके संभाषण के चयनित बिन्दु इस प्रकार है

आदरणीय आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी, स्वामी जी, मौलवी जी, फादर सभी को मेरा सम्मान और नमस्कार। मैं आप सब आध्यात्मिक नेताओं और भक्तों के बीच आकर अति प्रसन्न हूँ। मैं इसे एक अति महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान मानता हूँ कि हम एक आध्यात्मिक समूह की भागीदारी में एक विकसित भारत की परिकल्पना को साकार करने पर चिंतन करने के लिए आज यहाँ एकत्र हुए हैं। आचार्यश्री द्वारा आयोजित इस अनुष्ठान को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण मानता हूँ।

मैंने अब तक बहत्तर बार सूर्य की परिक्रमा की है और ७३ वीं बार प्रवेश कर रहा हूँ। मैंने एक प्रश्न स्वयं से पूछा की इस बहत्तर वर्ष के जीवन में क्या कभी मैंने सुख का अनुभव किया है? क्या सुख से परे भी कुछ है? यह प्रश्न मुझे झकझोर रहा है। यहाँ आकर मैंने आपका सूरत आध्यात्मिक उद्घोषणा पत्र पढ़ा। आपने कितने सुन्दर ढंग से इस विषय पर शोध किया कि हमारे मन में एकात्मकता का भाव कैसे विकसित हो? इस एकात्मकता के भाव को मैं आर्थिक सुदृढ़ीकरण के समकक्ष मानता हूं। एक तरफ आर्थिक वैभव और दूसरी ओर आध्यात्मिक सामंजस्य इन दोनों का संगम हमारे देश को सम्पन्न, विकासमान, शान्तिपूर्ण, सुरक्षित एवं आध्यात्मिक बनाने में योगभूत होगा।

आज मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आप आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी गुरुजन, मौलाना साहबान एवं फादर सबने मिलकर एक योजना बनाई है। हमारा देश भिन्नताओं में एकता का एक अनूठा उदाहरण संसार के सामने प्रस्तुत करेगा।

महामहिम राष्ट्रपति के एक-एक वाक्य में आत्मा की आवाज बोल रही थी। राष्ट्रविकास के बुनियादी तत्त्व आचार्य महाप्रज्ञ के विशद् एवं व्यापक चिन्तन में सन्निहित है। यह भावना उनके संभाषण में स्पष्ट प्रतिध्वनित हो रही थी।

'यूनिटी ऑफ माइंड समारोह' और स्पिरिचुअल डेक्लेरेशन (पंचसूत्रीय अध्यात्म घोषणा पत्र) वैचारिक एकता के समीकरण का भव्य प्रयत्न है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ एवं डॉ. कलाम का सपना है धर्म व सम्प्रदाय के नाम पर विवाद एवं झगड़े से मुक्त अखण्ड भारत का निर्माण तथा धर्म के सन्दर्भ में राष्ट्रीय नीति का निर्धारण।

इन स्वप्नों को साकार रूप प्रदान करने एवं अध्यात्म शक्ति सम्पन्न सुविकसित राष्ट्र बनाने में सूरत अध्यात्म घोषणा पत्र की एक प्रशस्त भूमिका है।

इस घोषणा पत्र की क्रियान्विति से स्वस्थ समाज एवं स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण होगा।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार

आचार्य महाप्रज्ञ को अहिंसा, मानवीय सौहार्द एवं राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए १५ अक्टूबर, २००३ को 'इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार' से सम्मानित करने की घोषणा हुई। उसी दिन यह सूचना भी मिली कि दिल्ली में जवाहर-भवन के भव्य सभागार में समायोजित समारोह में सन् २००२ का यह इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय पुरस्कार ३१ अक्टूबर को सम्मान सलाहकार समिति की अध्यक्षा श्रीमति सोनिया गाँधी द्वारा आचार्य श्री महाप्रज्ञ को प्रदान किया जायेगा।

इस पुरस्कार के लिए प्राप्त ३००० अनुशंसाओं में 'इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार समिति' द्वारा अहिंसा यात्रा प्रवर्तक आचार्य महाप्रज्ञ के नाम का चयन किया गया। यह जैन समाज के लिए गौरव का विषय है।

इतिहास कभी-कभी अपने को दुहराता है। सन्

१९९२ का यह पुरस्कार सन् १९९३ में गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी को प्रदान किया गया था।

आचार्य महाप्रज्ञ का यह सम्मान मानवीय एकता का सम्मान है, साम्प्रदायिक सौहार्द चेतना का सम्मान है, अध्यात्म परम्परा का सम्मान है, सार्वभौम अहिंसा के उदात्त चिन्तन का सम्मान है, सापेक्ष जीवन शैली के विकास का सम्मान है, मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पण का सम्मान है, मानवता के उन्नयन हेतु प्रदत्त सेवाओं का सम्मान है।

विश्व चेतना के मनीषी आचार्य महाप्रज्ञ जी व्यक्ति नहीं संस्था हैं। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति हैं, दर्शन हैं, विज्ञान हैं, इतिहास हैं एवं चैतन्य की जलती हुई प्रदीप्त लौ हैं। आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी का तेजोमय व्यक्तित्व अनेक दुर्लभ विशेषताओं का समवाय है।

(४) एम्बेसडर फॉर पीस सम्मान

१५ अक्टूबर, २००३ की एक और महत्त्पूर्ण घटना है विश्व शांति अहिंसा एवं धार्मिक सद्भाव के लिए इस दिन प्रज्ञापुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी को 'इंटररिलिजियस एण्ड इंटरनेशनल फेडरेशन फॉर वर्ल्ड पीस' नामक संस्था द्वारा 'एम्बेसेडर फॉर पीस' गरिमामय सम्मान प्रदान किया गया। सम्मान पत्र की भाषा इस प्रकार है।

Ambassador for Peace
The Inter-religious and International Federation for World Peace

Consistent with its missions to establish World Peace the Inter-religious and International Federation for World Peace acknowledges as Ambassador for Peace those individuals whose lives exemplify the ideal of living for the sake of others and who dedicate themseleves to Practices which promote the founding ideals of IIFWP.

Universal moral values strong family life, inter-religious co-operation, international harmony renewal of the United Nations as a responsible Public media and the establishment of a culture of peace transcanding recial nation and religious barriers the Ambassador for Peace the contribute to fulfilment of the hope of all ages a unified world of peace where in the spiritual and material dimensions of life are harmonized.

The religious and international federation for world peace is proud to hereby recognise as an ambassador for peace his holiness Acharya Mahapragya.

Rev. Dr. SonMing Moun Founder
Dr. HawkJa Hawn Maun Co. Founder

लंदन के विशिष्ट संस्थान (The Inter-religious and International Federation for World Peace) द्वारा प्रदत्त...सम्मान पत्र राष्ट्रपति अब्दुल कलाम ने प्रज्ञा पुरुष आचार्य महाप्रज्ञ को समर्पित किया था।

संत चेतना पदों, अलंकारों, उपाधियों से बहुत ऊपर होती हैं। संत चेतना का मूल्यांकन शब्दातीत, कल्पनातीत और कालातीत होता है। आचार्य महाप्रज्ञ में संत चेतना का जो तेजस्वी रूप प्रकट हुआ है, वह अपने आप में अद्भुत है, अनुपमेय है। आप की अमल, धवल, निर्मल साधना एवं विराट् अध्यात्म चेतना का कोई मुकाबला नहीं है। आप स्वयं एक सम्मान हैं। जितने भी सम्मान पुरस्कार प्राप्त हुए हैं वे आप के विराट् व्यक्तित्व का आश्रय पाकर स्वयं सम्मानित हुए हैं पुरस्कार पुरष्कृत हुए हैं, और अलंकार अलंकृत हुए।

आचार्य महाप्रज्ञ इस सदी के शलाका पुरुष हैं। उनके संयमी जीवन के सफर का हर पड़ाव दिव्य आलोक से आलोकित है।

आचार्य महाप्रज्ञ अहिंसा के पुरोधा, नैतिक मूल्यों के प्रतिष्ठाता एवं मानवता के सजग प्रहरी हैं। मानवीय मूल्यों के संरक्षक हैं।

मिसाइल मैन महामहिम राष्ट्रपति अब्दुल कलाम के साथ राष्ट्रीय समस्याओं पर आप के कई संवाद हुए। इन संवादों के एक प्रसंग पर आचार्य महाप्रज्ञ ने युद्ध के लिए मिसाइलों के निर्माण के स्थान पर शांति की मिसाइल तैयार करने पर बल दिया ताकि मानवता को संरक्षण दिया जा सके।

मिसाइल मैन राष्ट्रपति जी आचार्य महाप्रज्ञजी की

विराट् भावना से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने अनुभव किया अहिंसा यात्रा के प्रवर्तक आचार्य महाप्रज्ञ मानव नहीं महामानव हैं। वे दिव्य पुरुष हैं।

उनका दीर्घ सोच और गहन चिन्तन जन-जन को जीने की नई दिशा प्रदान करेगा एवं विश्व शांति का अभिनव आयाम खोलेगा।

राष्ट्रपति महोदय जी की यह अनुभूति मानव-मानव की अनुभूति है।

आचार्य महाप्रज्ञ के आभामंडल में जो भी पहुँच गया वह अभिभूत हुए बिना नहीं रहा।

आपके जीवन में सहज दुर्लभ क्षमताएं विकासमान हैं। आपका मौन भी मुखर है। आपके हर वाक्य में स्वच्छ जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति है।

आपके शासनकाल में जनहितकारी कई नए क्षितिज उद्घाटित हुए हैं। आपके मूल्यवान अवदानों की लम्बी शृंखला है।

सहस्र-सहस्र किलोमीटर की आपकी अभिनव ऐतिहासिक अहिंसा यात्रा, पूरे राष्ट्र में साम्प्रदायिक सौहार्दपूर्ण सशक्त वातावरण का निर्माण, सार्वभौम विश्व कल्याणकारी कार्यों से प्रभावित विशिष्ट व विभिन्न संस्थानों के धर्म गुरुओं की सम्मिलित सहमति और प्रयत्नों के परिणति स्वरूप धर्म चक्रवर्ती का अलंकरण, नीदरलैंड खुला विश्वविद्यालय (Open University) से डी.लीट. (D.Lit.) का सम्मान, भारत के राष्ट्राध्यक्ष श्री अब्दुल कलाम द्वारा भारत की राजधानी दिल्ली में चतुर्मास करवाने हेतु साग्रह निवेदन, १७ अप्रैल, २००५ को राष्ट्रपति भवन में विशेष रूप से समायोजित समारोह में अहिंसा यात्रा, वैचारिक एकता (Unity of Mind) सम्मेलन, सूरत अध्यात्म घोषणा-पत्र (Surat Spiritual Declaration) पर चर्चा एवं सुखद परिणति को सुनकर प्रसन्नमना पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ द्वारा आचार्य श्री महाप्रज्ञ को अहिंसा यात्रा के साथ पाकिस्तान पदार्पण का भावभरा आमन्त्रण, भारत की राष्ट्रीय समिति द्वारा आपका राष्ट्रीय समिति में चयन, भारत सरकार द्वारा साम्प्रदायिक सौहार्द एवं राष्ट्रीय एकता हेतु आपकी उल्लेखनीय सेवाओं के मूल्यांकन स्वरूप साम्प्रदायिक सद्भाव पुरस्कार, राष्ट्रस्तरीय संस्थाओं द्वारा आपको लोक महर्षि का अलंकरण एवं राज्य अतिथि का बहुमान, इन्टरफेथ हार्मोनी फाउंडेशन (Inter faith Harmony Foundation) द्वारा मदर टेरेसा शान्ति पुरस्कार, राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगरी जयपुर में महानगर की बावन (५२) विशिष्ट संस्थानाओं द्वारा आचार्य महाप्रज्ञ एवं उनकी अहिंसा यात्रा का शानदार स्वागत, उसी दिन राज्यविधान सभा में इसी संदर्भ में लगभग ढाई घण्टे तक एक अपूर्व एवं शालीन चर्चा सत्र का आयोजन, पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी, पूर्व उप-प्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी, उप-राष्ट्रपति भैरोसिंह शेखावत आदि राष्ट्रीयस्तर के चिंतनशील प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा अहिंसा यात्रा की भूरि-भूरि सराहना, जन-जन के मुख पर अहिंसा यात्रा की गूंज, अहिंसा प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना तथा इस प्रकार के अन्य अनेक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से समर्थन के प्रसंग प्रज्ञापुरुष आचार्य महाप्रज्ञ की अहिंसा यात्रा के अविस्मरणीय दुर्लभ पृष्ठ हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ ने विकास के अनेक अनछुए शिखरों को छुआ है। आपसे अध्यात्म जगत् की आभा निखरी है।

तेरापंथ धर्मसंघ महायोगी, महामनस्वी, युगप्रधान आचार्य श्री महाप्रज्ञजी की अनुशासना में निरन्तर विकासमान, गतिमान, वर्धमान है।

आपके सुप्रयत्नों से अहिंसा की परम पावन महागंगा सहस्र धाराओं में प्रवहमान है।

आपका मानवता की दिशा में उठता प्रत्येक चरण मानव-जाति के लिए प्रकाश स्तंभ है। सम्पूर्ण विश्व को आपके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से महत्ती अपेक्षा है।

आचार्य महाप्रज्ञ के जीवन उपवन में खिले सद्गुण सुमनों को शब्दों में गूंथकर माला का आकार देने अथवा आढ़ी-तिरछी रेखाओं में रेखांकित करने का एक लघु प्रयत्न प्रस्तुत है निम्न अतुकांत कविता के रूप में

कंचनवर्णी काया, गेहुंआ वर्ण, लम्बा कद
दीप्तिमान विशाल भाल, तेजोमय आभामंडल
अमियरस प्लावित नयन
अक्षर अस्फुटित सुधा स्वर
भीतर से छलकता अनुशासन स्थिर आसन
धवल परिधान में लिपटा छरहरा वदन
ज्ञान का हिमालय, करुणा का सागर
सत्यशोध का धुनी, दृढ़ संकल्प का पर्याय
पुरुषार्थ और पराक्रम का प्रतिरूप
अनुभवों का अक्षय कोष
शांत, उदार, सौम्य स्वभावी
जिसका हर वाक्य मांधुर्यरस बरसाता निर्झर
जिसका हर व्यवहार अनेकान्त का उदाहरण
जिसके न मठ न मन्दिर
न संस्थान न आस्थान
न मकान न प्रतिष्ठान
न कोठी न कुटिया
न प्लेट न फार्म
न कहीं तीर्थधाम न मुकाम
जिसको न चाहिए वोट
न चाहिए नोट न चाहिए प्लॉट
विश्व को दिया जिसने अनमोल अवदान
प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान
खुले हैं अहिंसा प्रशिक्षण के केन्द्र
अपार भीड़ में भी जो अकेला
अकेले में भी जिसके चारों ओर अनोखा मेला
वह कौन?
न चक्रवर्ती न सम्राट्
विचारों से व्योमवत् विराट्
अलख योगी, अनुयोगधर आगम अनुसंधाता
अध्यात्म चेतना का सशक्त स्वर
धर्मचक्रवर्ती लोकमहर्षि
आचार्य महाप्रज्ञवर
उम्र के नौवें दशक का पड़ाव
गांव-गांव ढाणी-ढाणी
विश्व कल्याणी अहिंसा यात्रा
रोशनी बरसाती चिराग निर्धूम दीपशिखा
प्रचण्ड सूर्य की किरण
निर्मित हुआ साम्प्रदायिक
सौहार्द का वातावरण
भारत राष्ट्राध्यक्ष कलाम
जिसे जनता करे सौ-सौ सलाम
बना वह श्री चरणों का भक्त अनुरक्त
सूरत अध्यात्म घोषणा पत्र ने
कर दिया कमाल, अनमोल मिशाल,
जन-जन खुशहाल
मानवता के मसीहा, नैतिकता के पुरोधा
एक महायोगी संत सम्राट् का
आने वाली सहस्रों पीढ़ियां
युग-युग तक करेंगी
भाव भरा अभिवादन, अभिनन्दन
पाएगी पथ-दर्शन
विशद व्यक्तित्व को
कुशल कर्तृत्व को
निष्णात नेतृत्व को
वन्दन वन्दन
वन्दन

१६०. विद्याभूषण आचार्य विद्यानन्दजी

दिगम्बर परम्परा में कई विशेष प्रभावक आचार्य हुए हैं उनमें आचार्य विद्यानन्दजी का अपना विशिष्ट स्थान है। विद्यानन्दजी संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के विद्वान् आचार्य हैं। उनकी हिन्दी भाषा भी परिष्कृत है। वाणी में ओज है तथा प्रवचन शैली प्रभावशाली है।

गुरु-परम्परा

विद्यानन्दजी की मुनि दीक्षा आचार्य देशभूषण जी द्वारा हुई। इनसे पूर्व गुरु परम्परा में जो आचार्य देशभूषणजी की है वही विद्यानन्दजी की है। वर्तमान में दिगम्बर मुनियों की मूलभूत परम्परा शान्तिसागरजी से सम्बन्धित है।

जन्म एवं परिवार

विद्यानन्दजी की जन्मभूमि कर्नाटक में सेड़वाल ग्राम है। उनका जन्म वी. नि. २४५२ (वि. सं. १९८२, ई. २२ अप्रैल, १९२५) में हुआ। पिता का नाम कालप्पा आण्णप्पा एवं माता का नाम सरस्वती था। गृहस्थ जीवन में विद्यानन्दजी का नाम सुरेन्द्र था।

जीवन-वृत्त विद्यानन्दजी बुद्धि सम्पन्न बालकों में से थे। वे कुशल तैराक थे एवं संकल्प शक्ति के धनी थे। श्रमदान एवं सामाजिक कार्यों में उनकी सहज अभिरुचि थी। सुडौल एवं स्वस्थ शरीर के कारण उनका बाह्य व्यक्तित्व विशेष प्रभावक था।

एक बार बालक सुरेन्द्र को बीमारी ने आक्रान्त कर लिया। निरन्तर ज्वर ने विषम ज्वर का रूप ले लिया। इस बीमारी से शरीर निरन्तर कृश होता गया। बालक सुरेन्द्र ने मन-ही-मन संकल्प किया मैं इस बीमारी से बच गया तो आजीवन पूर्ण ब्रह्मचारी रहूंगा एवं राष्ट्रसेवा व धर्मसेवा ही मेरा व्रत होगा। प्रतिज्ञा के बाद चमत्कार जैसा घटित हो गया। दिन-प्रतिदिन तेजी से स्वास्थ्य लाभ होने लगा।

बीमारी के चक्र से मुक्त होने के बाद उनकी जीवनधारा अध्यात्म की ओर मुड़ी। वैराग्य और ज्ञान के पथ पर उनकी नई यात्रा प्रारम्भ हुई। चेतना की रोशनी उन्हें त्याग के पथ पर बढ़ने के लिए प्रेरित करती रही।

इन्होंने युवावस्था में वी. नि. २४७३ (वि. सं. २००३, सन् ई. सन् १९४६) में आचार्य महावीरकीर्तिजी से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। क्षुल्लक दीक्षा में युवक सुरेन्द्र का नाम पार्श्वकीर्ति रखा गया। दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले में विशाल जन समुदाय के बीच क्षुल्लक पार्श्वकीर्ति ने आचार्य देशभूषण जी के द्वारा वी. नि. २४९० (वि. सं. २०२०, ई. २५ जुलाई, १९६३) को मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि जीवन में पार्श्वकीर्तिजी का नाम विद्यानन्द घोषित हुआ। उस समय मुनि विद्यानन्दजी की अवस्था लगभग ३८ वर्ष की थी।

विद्यानन्दजी ने धर्म प्रचारार्थ दूर-दूर तक की यात्राएं की हैं। हिमाच्छादित घाटियों में भी वे पहुंचे हैं। विद्यानन्दजी का एक चतुर्मास श्रीनगर में भी हुआ है।

आचार्य विद्यानन्दजी के उदार एवं उदात्त विचारों से मानव जाति ने एक प्रेरणा पाई है। उन्होंने पुरातन सन्दर्भों में आधुनिक व्याख्याएं दी हैं। अपने प्रभावशाली प्रवचनों से वर्तमान को स्वस्थ बनाने का प्रयत्न किया है साथ ही भविष्य का मार्ग भी प्रशस्त किया है। उनके चिन्तन के मुख्य बिन्दु हैं

धर्म आत्मा में है, बाहर नहीं है। शान्ति स्वयं में (अन्तरंग) बरसती है, बाहर के उपादानों में नहीं है।

'विश्व धर्म की रूपरेखा' आदि कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं जो आचार्य विद्यानन्दजी के विचारों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

विद्यानन्दजी कई वर्ष तक एलाचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे, वर्तमान में वे आचार्य पद पर आसीन हैं।

दिगम्बर परम्परा के वे विशेष प्रभावशाली विद्वान् आचार्य हैं।

१६१. नवोदीयमान युवा मनीषी युवाचार्य श्री महाश्रमणजी

अध्यात्म के मूर्तरूप, अनन्त मनोबली, युवामनीषी युवाचार्य श्री महाश्रमणजी प्रज्ञापुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के उत्तराधिकारी हैं। तेरापंथ संघ के गौरव हैं, जैन जगत् के प्रकाशमान नक्षत्र हैं।

आपके व्यक्तित्व में दुर्लभ क्षमताएं विकासमान हैं। आगमवाणी के आप गम्भीर अध्येता हैं। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं पर आपका विलक्षण प्रभुत्व है।

आप प्रखर मेधा के धनी हैं। विविध विषयों के विशेषज्ञ हैं। आप प्राज्ञ हैं, स्थिर योगी हैं आत्मज्ञ हैं और स्थितप्रज्ञ हैं।

गुरु-परम्परा

आपकी दीक्षा तेरापंथ धर्म-संघ में हुई, अतः तेरापंथ की गुरु-परम्परा ही आपकी गुरु-परम्परा है। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु थे। नवम अधिशास्ता युगप्रभावी, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी थे। वर्तमान में प्रेक्षापुरुष आचार्य श्री महाप्रज्ञजी हैं। उभय गुरुवरों की छत्र-छाया में आपने अनेक अर्हताओं का विकास किया है।

जन्म एवं परिवार

आपका जन्म राजस्थानान्तर्गत सरदारशहर (जिला चूरू) में ओसवाल वंश जैन परिवार में वि. सं. २०१९ (ईस्वी सन् १३ मई, १९६२) वैशाख शुक्ला नवमी के दिन हुआ। आपके पिता श्री झूमरमलजी दूगड़ थे। माता का नाम नेमा देवी था। आप छह भाई एवं दो बहिनें थीं। भाई-बहिनों में आपका क्रम सातवां है। आपका नाम 'मोहन' था।

सम्पूर्ण परिवार धर्म भावना से आप्लावित है। तेरापंथ धर्म-संघ के प्रति आस्थाशील है। मां नेमा देवी सहज, सरल, धर्मपरायण, व्यवहार कुशल महिला थी।

जीवन-वृत्त

युवाचार्य श्री महाश्रमणजी की जन्मभूमि सरदारशहर तेरापंथ की राजधानी कहलाती है। यहां लगभग ३ हजार तेरापंथी जैन परिवार हैं। तेरापंथी साधु-साध्वियों एवं आचार्यवरों का प्रायः पदार्पण यहां होता रहा है। आचार्यों के कई चतुर्मास प्रवास एवं मर्यादा महोत्सव आदि विशिष्ट आयोजन यहां सफलतापूर्वक सम्पन्न हुए हैं।

युवाचार्य श्री महाश्रमणजी को धार्मिक संस्कार अपने परिवार से सहज प्राप्त थे। सन्तों के साहचर्य से आपकी अध्यात्म अभिरुचि बढ़ती गई। अन्तर्मुखता का विकास हुआ। वैराग्य की भाव धारा ने बल पकड़ा। मुनि बनने की भावना जगी।

आपकी लघुवय में ही आपके पिताश्री का देहावसान हो गया था। माता नेमा देवी और परिवारिक जनों से आज्ञा प्राप्त कर आप संयम पथ पर बढ़ने के लिए तत्पर हुए। तेरापंथ धर्मसंघ के नवमाधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी के आदेश से अपनी ही जन्म धरा सरदारशहर में वि. सं. २०३१ (ईस्वी सन् १९७४) वैशाख शुक्ला चतुर्दशी के दिन मुनि श्री सुमेरमल जी (लाडनू) के द्वारा आपका दीक्षा संस्कार सोल्लास सम्पन्न हुआ। मुनि जीवन में आपका नाम 'मुदित' रखा गया। आपकी पहली पहचान बनी 'मुनि मुदित'। आपके सह दीक्षित मुनि का नाम है मुनि उदित।

आपका गौरवर्ण, तेजोमय आभामण्डल, विशाल ललाट, विकस्वर नयन, प्रसन्न वदन, सौम्य आकृति एवं उभरता व्यक्तित्व शुभ भविष्य के संकेत हैं।

मुनि जीवन में आपके जीवन का बहुमुखी विकास हुआ। सर्वप्रथम ज्ञान ग्रहण की दिशा में आपके चरण बढ़े। आपमें शीघ्रग्राही मेधा की अद्भुत स्फुरणा थी। दशवैकालिक सूत्र आपने मात्र बयालिस (४२) दिनों में कण्ठस्थ कर लिया था। थोड़े ही समय बाद आपने

दशवैकालिक सूत्र का अर्थ भी कण्ठस्थ कर सुना दिया था। अभिधान चिन्तामणि ग्रन्थ के तीस-तीस श्लोक एक दिन में याद कर लेना आपके लिए सहज बात थी। गृहस्थ जीवन में ही आपने तेरह द्वार, लघु दण्डक, गतागत, बासठिया आदि अनेक थोकड़े कण्ठस्थ कर लिए जो आपकी तत्त्व ज्ञान में गहरी रुचि के संकेत प्रकट कर रहे थे।

सरदारशहर के प्रबुद्ध प्रशिक्षक श्रावक श्री भंवरलालजी बैद आपको अंग्रेजी का अध्ययन करवाते थे। आपकी आशुग्राही मेधा से प्रभावित हो प्रशिक्षक भंवरलाल जी ने कहा था "मुझे इतना ग्रहणशील विद्यार्थी प्रथम बार मिला है।"

गुरु की सन्निधि शिष्य को गुरुता प्रदान करती है पर सभी शिष्यों की ग्रहण क्षमता में एकरूपता नहीं होती।

मुनि मुदित ने विराट् व्यक्तित्व के धनी आचार्य श्री तुलसी की छत्रछाया में रहकर अनेक अनुभवों को बटोरा। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सभी दिशाओं में त्वरित गति से लम्बे-लम्बे डग भरते हुए आगे बढ़ने लगे। वर्षों तक शक्ति सम्पन्न आचार्य श्री तुलसी की अन्तरंग परिषद् से सम्बद्ध रहकर संघ सेवा के महनीय कार्यों में सहभागी बने। वर्षों तक आप आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के अन्तरंग सहयोगी रहे।

प्रज्ञापुरुष महाप्रज्ञ श्री के मार्गदर्शन में आपने विकास के अछूते शिखरों को छुआ और प्रगति के नये द्वार खोले।

आपके विनय, विवेक, श्रद्धा, समर्पण, आचारनिष्ठा आदि गुणों से प्रभावित होकर परम पूज्य आचार्य श्री तुलसी ने २४ वर्ष की उम्र में आपको अग्रगण्य बनाया एवं २८ वर्ष की वय में आपको महाश्रमण पद से विभूषित किया।

राजधानी दिल्ली में आचार्य महाप्रज्ञ अभिषेक प्रसंग पर महाश्रमण मुनि श्री मुदित (महाश्रमण) को आशीर्वचन देते हुए परमपूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने कहा "महाश्रमण मुनि मुदित कुमार आचार्य महाप्रज्ञ के गण संचालन के कार्य में सतत सहयोगी रहें तथा स्वयं गण संचालन की योग्यता विकसित करें।"

आचार्य श्री तुलसी द्वारा प्रदत्त इस आशीर्वचन में अपके उज्ज्वल भविष्य के स्पष्ट संकेत झलक रहे थे।

आपने पूज्य गुरुदेव की दृष्टि की सम्यक् आराधना कर उनका असीम वात्सल्य एवं अनुग्रह प्राप्त किया। एक बार गुरुदेव ने आपको अत्यन्त स्नेह बरसाते हुए कहा "मुनि मुदित तुम निश्चिन्त रहना, मैं तुम्हारा ऊपर जाकर भी ध्यान रखूंगा।" गुरुदेव के इन स्नेहिल शब्दों को सुन महाश्रमण मुनि मुदित गद्गद् हो गए। आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी की भी आपको अनन्त कृपा प्राप्त है।

"तेरापंथ धर्म-संघ में उत्तराधिकारी के मनोनयन का एक मात्र अधिकार आचार्य को होता है।" इस संविधान की धारा के आधार पर तेरापंथ धर्मसंघ में वर्तमान आचार्य अपने उत्तराधिकारी का मनोनयन करते रहे हैं। महाश्रमण मुनि मुदितकुमार जी का युवाचार्य पद के लिए मनोनयन आचार्य श्री महाप्रज्ञजी द्वारा हुआ पर मनोनयन का आलेख दो बार लिखा गया। प्रथम आलेख गुरुदेव श्री तुलसी की साक्षी से लिखा गया, जिसकी भाषा इस प्रकार है

जैन विश्व भारती लाडनूं **वि. सं. २०५३**
दीपावली
१०-११-९६

ॐ
प्रभवे नमः नमो विभवे
नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स
श्री भिक्षु, भारमल, ऋषिराय, जयजश, मघवा
माणक, डालचन्द, कालु, तुलसी, गुरुभ्यो नमः।

मै आज दीपावली के पावन पर्व पर अपने उत्तराधिकारी के रूप में महाश्रमण मुनि मुदित कुमार को नियुक्त करता हूं। मुनि मुदितकुमार की अध्यात्मनिष्ठा और आचारनिष्ठा ने मेरे मन को प्रभावित किया है। विनम्रता भी आकृष्ट करती रही है। मेरा विश्वास है, मुनि मुदितकुमार अपने दायित्व का

सम्यक् निर्वाह करता हुआ तेरापंथ संघ, भिक्षु शासन की गौरव वृद्धि करेगा।

आचार्य महाप्रज्ञ

यह पत्र गुरुदेव की साक्षी में लिखा पत्र है।

गुरुदेव श्री तुलसी की साक्षी में लिखे गए इस पत्र का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व है।

दूसरा आलेख गणाधिपति गुरुदेव के स्वर्गारोहण के पश्चात् गंगाशहर (बीकानेर) में लिखा गया था। वह पत्र इस प्रकार है

तेरापंथ भवन गंगाशहर **वि.सं. २०५४**

भाद्रवशुक्ला ८ बुधवार

दिनांक १०-९-९७

अर्हम्

ओम् नमो भगवते ऋषभाय

ओम् नमो भगवते पार्श्वनाथाय

ओम् नमो भगवते महावीराय

श्री भिक्षु, भारीमाल, ऋषिराय, जयाचार्य, मघवा, माणक, डालचंद, कालू, तुलसी गुरूभ्योः नमः।

मैं तेरापंथ के दशम आचार्य का पद निर्वाह कर रहा हूँ। अब मैं अनुभव करता हूँ, मुझे आचार्य के सर्वोतम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य का पालन करना चाहिए। तेरापंथ धर्म-संघ एवं भिक्षु शासन की गुरु परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए मुझे अपने उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए। मैं मेरे परम आराध्य गुरुदेव तुलसी के साक्ष्य से मुनि मुदित कुमार को अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य पद पर नियुक्त करता हूँ।

मुझे विश्वास है कि अध्यात्म-निष्ठा, अनुशासन, विनम्रता और आचारनिष्ठा के साथ भिक्षु शासन की गरिमा को बढ़ाता रहेगा।

आचार्य महाप्रज्ञ

आप श्री का युवाचार्य पद के लिए मनोनयन वि. सं. २०५४ (ईस्वी सन् १४ सितम्बर, १९९७) भाद्रव शुक्ला द्वादशी के दिन हुआ। उस भव्य कार्यक्रम को देखने के लिए एक लाख से अधिक लोग गंगाशहर (बीकानेर) की धरती पर एकत्रित हुए। युवा पीढ़ी ने इस नयनाभिराम विलक्षण चयन दृश्य को पहली बार देखा। वे तेरापंथ धर्म-संघ की इस गौरवशाली प्रणालि पर प्रणत थे एवं भावविह्वल थे।

तेरापंथ शासन आपको युवाचार्य के रूप में पाकर धन्य हो गया, निश्चिन्त हो गया।

अच्छे गुरु बनने की अर्हता वही प्राप्त कर सकता है जो अच्छा शिष्य बनने की कला में दक्ष हो। आप श्री इस कसौटी पर खरे उतरे हैं।

परमाराध्य गुरुदेव श्री तुलसी और आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी की नजरों की परख के आप अनमोल रत्न हैं। तेरापंथ धर्म-संघ की उज्ज्वल आचार्य परम्परा के आप भावी कर्णधार हैं।

आप श्री का जीवन अनेक विलक्षण विशेषताओं का समन्वय है। आपके पास उभय पूज्यवरों की निकटतम सन्निधि से प्राप्त अनुभवों का अखूट खजाना है। आपके व्यक्तित्व में जादुई आकर्षण है। नयनों में विद्युत्-सी अनोखी चमक है। आप जब मधुर-मधुर स्वरों में संगान करते हैं तब श्रोताओं में समा-सा बंध जाता है। क्षमा धर्म के आप अप्रतिम उदाहरण हैं। वचन योग पर आपका गजब का नियन्त्रण है। नपी-तुली भाषा में विषय की सार गर्भित प्रस्तुति आपके वाणी संयम की क्षमता का एक नमूना है।

साहित्य के क्षेत्र में आपकी रचना मेधा अत्यन्त प्रखर है। आपने जो भी लिखा है वह मूल्यवान है एवं सार संचित है।

'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' यह आपका ग्रन्थ रत्न है। इसमें धर्म को प्रशस्त शैली में व्याख्यायित किया गया है।

'उपासना' आपका यह ग्रन्थ बहुविध सामग्री से पूर्ण है एवं एक इतिहास ग्रन्थ है। दोनों ग्रन्थ स्वाध्याय प्रेमी पाठकों के लिए विशेष रूप से पठनीय और मननीय हैं।

'सपर्या' इसमें आप श्री द्वारा रचित सारगर्भित गीत हैं।

'शेमुषी' संस्कृत भाषा में रचित यह आपका गद्य ग्रन्थ है।

'शिक्षा सुधा' इसमें सरस, सरल संस्कृत भाषा में आप द्वारा रचित उत्प्रेरक श्लोक हैं।

आपके प्रवचन में अध्यात्म का निर्झर झलकता है। वाक्य-वाक्य में ज्ञान की गंगा बहती है। आप स्थिर योगी हैं, दृढ़ अध्यवसायी हैं। आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी का मंगल आशीर्वाद कदम-कदम पर आपके साथ है। तेरापंथ की गौरव वृद्धि करते हुए आप अविरल बढ़ते रहें और आपका हर चरण त्याग, तप, संयम एवं मानवता के पथ का प्रकाश स्तम्भ बने।

प्रस्तुत है युवाचार्य श्री महाश्रमण जी के व्यक्तित्व की एक झलक अनुकान्त कविता की चन्द पंक्तियों में

संयम और श्रम का
स्वरूप
श्रद्धा और समर्पण का
अनुपम रूप
विनय और विवेक का
निर्झर
त्याग और तप की
अखंड जोत
बढ़ते कदम
विकासमान अर्हताएं
दिव्य पुरुष का
पा आशीर्वाद
बने श्रमण से महाश्रमण
मिला युवाचार्य पद का दायित्व भरा
अलंकरण-आभरण
सत्यं शिवं सुन्दरं का सुन्दर समीकरण
घोषणा पूर्वक मनोनयन कर
प्रज्ञापुरुष महाप्रज्ञ ने
प्रस्तुत की है अनुपम मिसाल
धर्म-संघ हो गया है निहाल
युगल शास्ता के नेतृत्व में
होगा मानवता का उदय
चतुर्मुखी अभ्युदय
खुलेंगे नये-नये आयाम
जलेंगे गांव-गांव में
अणुव्रत प्रेक्षा के दीप
महकेगा जन जीवन का उपवन
एक अमिताभ उगते सूरज को
कोटि कोटि नमन-नमन-नमन।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

आचार्य और उनकी जीवनी के आधारभूत ग्रन्थ

१. सुधर्मा
   १. आवश्यक निर्युक्ति विवरण पत्रांक ३३ से ३४०
   २. आवश्यक चूर्णि पत्रांक ३३४ से ३३६
   ३. विशेषावश्यक भाष्य
   ४. विविध तीर्थकल्प पत्रांक ७५ व ७६
   ५. हरिवंश पुराण ६. श्रुतावतार
   ७. तिलोय पण्णत्ति ८. जय धवला

२. जम्बू
   १. परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, ३, ४
   २. उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामी-चरियं) पत्रांक १२४ से १८५

३. प्रभव
   १. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
   २. उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामीचरियं)
   ३. पट्टावली समुच्चय (प्रथम भाग)
   ४. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति पत्र १० व ११

४. शय्यंभव
   १. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
   २. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति पत्रांक ६ से १८ व २८३, २८४
   ३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १२ से १८

५. यशोभद्र
   १. नन्दी स्थविरावली
   २. कल्पसूत्र स्थविरावली
   ३. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

६. संभूतविजय
   १. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८
   २. उपदेशमाला दोघट्टी वृत्ति पत्रांक २३७, २३८, २४२
   ३. लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा. टीका, पृ. ८५

७. भद्रबाहु
   १. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, ८
   २. आवश्यक चूर्णि भाग २, पत्रांक १८७
   ३. तित्थोगाली पइन्ना ७१४ से ८०२
   ४. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति

८. स्थूलभद्र
   १. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८
   २. उपदेशमाला दोघट्टी पत्रांक २३३ से २४३
   ३. लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा. टीका ७७ से ८६

९. महागिरि
   १. परिशिष्ट पर्व सर्ग ११

१०. सुहस्ती
   १. उपदेशमाला वृत्ति, पत्रांक ३६९, ३७०
   २. निशीथ चूर्णि
   ३. कल्प-चूर्णि
   ४. वृहत्कल्प निर्युक्ति भाष्यवृत्ति
   ५. आवश्यक चूर्णि

११-१२. बलिस्सह और गुणसुन्दर
   १. नंदी स्थविरावली
   २. हिमवंत स्थविरावली
   ३. कल्पसूत्र स्थविरावली

१३-१४. सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध
   १. कल्पसूत्र स्थविरावली
   २. हिमवंत स्थविरावली
   ३. पट्टावली समुच्चय प्रथम भाग

१५. स्वाति
   १. नंदी स्थविरावली
   २. नंदी चूर्णि
   ३. नंदी टीका

१६-१७. श्याम और पाडिल्य
   १. नंदी स्थविरावली
   २. वीर निर्वाण सवंत् और जैन कालगणना

३. विचार श्रेणी
४. रत्नसंचय प्रकरण, पत्र ३२

१८-२०. इन्द्रदिन्न, दिन्न, सिंहगिरि
१. कल्पसूत्र स्थविरावली
२. कल्प सुबोधिका
३. प्रभावक चरित
४. परिशिष्ट पर्व

२१-२३. समुद्र, मंगू, धर्म,
१. नंदी स्थविरावली
२. हिमवंत स्थविरावली
३. नंदी चूर्णि
४. निशीथ चूर्णि
५. आर्य मंगू कथा
६. युगप्रधान पट्टावली

२४. कालक
१. प्रभावक चरित, पृ. २२ से २७
२. निशीथ चूर्णि
३. आवश्यक चूर्णि
४. बृहत्कल्प भाष्य चूर्णि
५. कल्पसूत्र चूर्णि, पृ. ८६
६. व्यवहार चूर्णि उ. १०

२५. खपुट
१. प्रभावक चरित्र, पृ. ३३ से ३६
२. प्रबन्धकोश पत्रांक ६ से १८
३. निशीथभाष्य चूर्णि

२६. नन्दिल
१. नंदी

२७. नागहस्ती
१. नंदी वृत्ति

२८. पादलिप्त
१. प्रभावक चरित पत्रांक २८
२. प्रबन्धकोश पत्रांक ११ से १४
३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ११६
४. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ३७६, ३७७

२९. भद्रगुप्त
१. प्रभावक चरित
२. वल्लभी युगप्रधान पट्टावली

३०. श्रीगुप्त
१. समवायांग टीका
२. मेरुतुंग विचारश्रेणी

३१. वज्रस्वामी
१. आवश्यक चूर्णि पत्रांक ३६० से ३६६
२. प्रभावक चरित्र पत्रांक ३ से ८ तक
३. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२
४. उपदेशमाला विशेष वृत्ति पत्रांक २०६ से २२०
५. आवश्यक मलयवृत्ति पत्रांक ३८१ से ३६१

३२. आर्यरक्षित
१. प्रभावक चरित पत्रांक ८ से १६
२. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
३. आवश्यक चूर्णि पत्रांक ३६७ से ४१३
४. लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा. टीका पत्रांक ६६ से ६८

३३. दुर्बलिका पुष्यमित्र
१. आवश्यक मलयवृत्ति द्वितीय भाग, पृ. ३६८ व ४०२
२. लक्ष्मीवल्लभगणी कृत उत्तरा. टीका, पृ. १६४, १६५
३. प्रभावक चरित पत्रांक १५ से १७
४. आवश्यक चूर्णि, पृ. ४०६ से ४१३

३४. वज्रसेन
१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
२. आवश्यक मलयवृत्ति द्वितीय भाग, पृ. ३६५, ३६६
३. उपदेशमाला विशेष वृत्ति २१६ व २२०

३५. अर्हद्बलि
१. महाबन्ध प्रस्तावना

३६. गुणधर
१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २६० से २६३
२. कसायपाहुडसुत्त प्रस्तावना

३७. धरसेन

१. महाबन्ध प्रस्तावना
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २७८

३८-३९. पुष्पदन्त और भूतबलि
१. महाबन्ध प्रस्तावना
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २७४ से २७७
३. महापुराण प्रस्तावना

४०. रेवती नक्षत्र
१. नंदी टीका

४१. ब्रह्मद्वीपक सिंह
१. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना

४२,४३-४४. स्कन्दिल, हिमवंत और नागार्जुन
१. नंदी चूर्णि
२. हिमवंत स्थविरावली
३. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना

४५. उमास्वाति
१. तत्त्वार्थ भाष्य कारिका
२. आप्तपरीक्षा प्रस्तावना
३. तत्त्वार्थ सूत्र (विवेचन सहित)
४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ५२२ से ५४७

४६. कुन्दकुन्द
१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २९७ से ३०१
२. न्यायावतार वार्तिक वृत्ति प्रस्तावना
३. सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना
४. पञ्चास्तिकाय संग्रह प्रस्तावना
५. जैन साहित्य का इतिहास, भाग-२, पृ. ९६

४७. विमल
१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५२७...
२. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ (द्वितीय खण्ड, पृ. ८५ से)
३. पउमचरिय प्रस्तावना
(प्राकृत ग्रन्थ परिषद् द्वारा प्रकाशित संस्करण डॉ. कुलकर्णी का निबन्ध)

४८-४९-५०. भूतदिन्न, लोहित्य और दूष्यगणी
१. नंदी चूर्णि
२. नंदी सूत्र स्थविरावली
३. नंदी टीका

५१. देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण
१. पट्टावली समुच्चय
२. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना
३. नंदी सूत्र स्थविरावली
४. नंदी प्रस्तावना (मुनि पुण्यविजय)

५२. वृद्धवादी
१. प्रभावक चरित, पत्रांक ५४ से ५७

५३. सिद्धसेन
१. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ६ से ७
२. प्रबन्धकोश, पत्रांक १५ से २१

५४. मल्लवादी
१. प्रबन्धकोश, पत्रांक २१ से २३
२. प्रभावक चरित, पत्रांक ७७ से ७९
३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक १०७

५५. समन्तभद्र
१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश
२. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
३. युक्त्यनुशासन प्रस्तावना (ले. जुगलकिशोर मुख्तार)।

५६. देवनन्दी (पूज्यपाद)
१. समाधि तंत्र प्रस्तावना
२. 'सर्वार्थसिद्धि' प्रस्तावना पत्रांक ८१
३. समाधि तन्त्र और इष्टोपदेश प्रस्तावना
४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. २९ से आगे (लेखक पं. नाथूराम प्रेमी)
५. जैन साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग पृ. १५४ से आगे
(लेखक सिद्धांताचार्य पं. कैलाशचंद्र शास्त्री)
६. जैन शिलालेख संग्रह भाग-१

५७. भद्रबाहु (द्वितीय)
१. प्रबन्धकोश, पत्रांक २ से ४ तक
२. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ११८, ११९
३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक ९१

५८. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-३ प्रस्तावना पत्रांक १३ से १५
२. विशेषावश्यक भाष्य

५९. पात्रस्वामी
१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पत्रांक २४, २५
२. आदि पुराण प्रस्तावना
३. सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना
४. प्रभाचन्द्र रचित कथा कोश
५. जैन शिलालेख संग्रह भाग-१

६०. आचार्य मानतुंग
१. प्रभावक चरित, पत्रांक ११२ से ११८
२. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक १५, १६
३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक ४४, ४५

६१. अकलंक
१. न्यायकुमुदचंद्र प्रस्तावना
२. अकलंक ग्रंथ त्रय प्रस्तावना
३. सिद्धिविनिश्चय प्रस्तावना
४. प्रभाचंद्र रचित कथा कोश

६२. जिनदास महत्तर
१. नन्दी सूत्र प्रस्तावना
२. निशीथ : एक अध्ययन
३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-३, पत्रांक ३१-३२

६३. हरिभद्र
१. प्रभावक चरित, पत्रांक ६३ से ७५
२. प्रबन्ध कोश, पत्रांक २४ से २६
३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक १०३ से १०५

६४. बप्पभट्टि
१. प्रबन्धकोश बप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध, प्रत्रांक २६ से ४६
२. विविध तीर्थकल्प, पत्रांक १८, १६
३. प्रभावक चरित, पत्रांक ८० से १११
४. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक ६८, ६६
५. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्रांक १२३

६५. उद्योतन
१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ४१६ से
२. कुवलयमाला प्रस्तावना

६६. वीरसेन
१. जैन साहित्य और इतिहास, पत्रांक १३० से १३२

६७. जिनसेन
१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक २७५

६८. गुणभद्र
१. हरिवंश पुराण
२. उत्तरपुराण प्रस्तावना
३. जैन साहित्य का इतिहास, पृ. २४१ से आगे

६९. विद्यानंद
१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना
२. न्यायकुमुदचंद्र प्रस्तावना
३. भिक्षु स्मृति ग्रंथ

७०. अमृतचंद्र
१. जैन साहित्य और इतिहास, पत्रांक ३०९ से ३११
२. जैन साहित्य का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. १७२ से २०९ तक

७१. सिद्धर्षि
१. प्रभावक चरित, पत्रांक १२१ से १२५
२. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पत्रांक १०५, १०६
३. प्रबन्धकोश, पत्रांक २५, २६

७२. शीलांक
१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-३, पृ. ३८२
२. सूत्रकृतांग टीका
३. सिद्धि विनिश्चय टीका प्रस्तावना

७३. सूर
१. प्रभावक चरित, पृ. १५२ से १६०

७४. उद्योतन
१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष

७५. सोमदेव
१. उपासकाध्ययन प्रस्तावना, पत्रांक १३ से

७६. अमितगति
१. अमितगति श्रावकाचार-अमितगति आचार्य परिचय, पत्रांक ५, ६, ७

२. पञ्च संग्रह प्रस्तावना

७७. माणिक्यनंदी

७८. नयनंदी
१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ. २६, २७
२. न्यायकुमुदचंद्र प्रस्तावना

७९. अभयदेव
१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ. ३६
२. न्यायकुमुदचंद्र प्रस्तावना
३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास

८०. वादिराज
१. न्यायविनिश्चय विवरण प्रस्तावना

८१. शांति
१. प्रभावक चरित, पृ. १३३ से १३७
२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-३, पृ. ३८३ से ३८६

८२. प्रभाचंद्र
१. आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ. ३० से ३३
२. न्यायकुमुदचंद्र प्रस्तावना, पृ. ११६
३. जैन शिलालेख संग्रह भाग-२, लेख पृ. १२२, १२३

८३. नेमिचंद्र (सिद्धांतचक्रवर्ती)
१. वृहद् द्रव्य संग्रह प्रस्तावना
२. प्राकृत साहित्य का इतिहास
३. द्रव्य संग्रह प्रस्तावना
४. गोमट्टसार प्रस्तावना

८४-८५. जिनेश्वर और बुद्धिसागर
१. खरतरगच्छ वृहद गुर्वावली, पृ. ६०
२. प्रभावक चरित (श्री अभयदेव चरित), पृ. १६१, १६२
३. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह
४. युगप्रधान श्रीजिनचंद्रसूरि, पृ. १० से १२

८६. अभयदेव (टीकाकार)
१. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ. ६५, ६६
२. प्रभावक चरित, पृ. १६१ से १६६
३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. १२१
४. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ. ६ से ८
५. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास

८७. जिनवल्लभ
१. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह
२. युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि, पृ. १२
३. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ. ६०

८८. अभयदेव (मलधारी)
१. ओसवाल जाति का इतिहास

८९. वीर
१. प्रभावकचरित, पृ. १६८ से १७०

९०. जिनदत्त
१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ. ६१, ६२
२. खरतरगच्छ का इतिहास, पृ. ३१ से ४४
३. ऐतिहासिक जैन संग्रह
४. युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि

९१. नेमिचन्द्र
१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-४, पृ. ४४७-४४८

९२. हेमचन्द्र (मलधारी)
१. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ५०५

९३. वादिदेव
१. प्रभावकचरित, पृ. १७१ से १८२
२. रत्नाकरावतारिका-संपादकीय

९४. हेमचन्द्र (कलिकाल सर्वज्ञ)
१. प्रभावक चरित, पृ. १८३ से २१२
२. प्रबन्ध कोश, पृ. ४६ से ५४
३. प्रमाण मीमांसा प्रस्तावना

९५. मलयगिरि
१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-३, पृ. ४१५ व ४१७
२. न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना

९६. शुभचन्द्र
१. ज्ञानार्णव प्रस्तावना

९७. जिनचन्द्र (मणिधारी)
१. खरतरगच्छ का इतिहास, पृ. ४४ से ५१
२. युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि, पृ. १३

३. ऐतिहासिक जैनकाव्य-संग्रह, पृ. ८, ६

९८. रामचन्द्र

१. हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल

२. प्रभावक चरित, पृ. १८३

३. प्रबन्धकोश, पृ. ९८

९९. आर्य रक्षित

१. अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (सचित्र)

१००.जयसिंह सूरि

१०१.उदयप्रभ

१. प्रबन्ध कोश पृ. १०१

२. ओसवाल जाति का इतिहास, पृ. १०९, ११०

१०२.रत्नप्रभ

१. रत्नाकरावतारिका-सम्पादकीय

१०३.जगच्चन्द्र

१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ. ४

१०४.रत्नाकर

१०५.मेरुतुंग

१. अञ्चलगच्छ दिग्दर्शन (सचित्र)

१०६.देवेन्द्र

१. सटीकश्चत्वारः कर्मग्रन्थ प्रस्तावना, पृ. १६ से १८

२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. ३३७, ३३८

१०७.सोमप्रभ (बड़गच्छ)

१०८.सोमप्रभ (तपागच्छ)

१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग, पृ. ६)

१०९.मल्लिषेण

१. स्याद्वादमंजरी प्रस्तावना, पृ. १५ से १७

११०.जिनप्रभ

१. विविध तीर्थकल्प प्रस्तावना

२. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, पृ. ८६ व ८९

३. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ. ९४ से ९६

१११.जिनकुशल

१. ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह

२. युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि, पृ. १५

३. खरतरगच्छ का इतिहास, पृ. १४६ से १७०

११२.मेरुतुंग

१. प्रबन्ध चिन्तामणि प्रस्तावना

११३.गुणरत्न

१. षड्दर्शन समुच्चय प्रस्तावना, पृ. १८

११४.मुनिसुन्दर

१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ. ५९

११५.हीरविजय

१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ.१२, १३

२. पट्टावलि समुच्चय (सूरि परम्परा), पृ. १४६, १४७

११६.जिनचंद्र (अकबर-प्रतिबोधक)

१. युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि

११७.विजयसेन

१. पट्टावलि समुच्चय (सूरि परम्परा), पृ. १४६, १४७

११८.विजयदेव

१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ. १२

११९.जीवराज

१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति-ग्रन्थ

१२०-१२१. ऋषि लव और ऋषिसोम

१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ. ११० से

१२२.धर्मसिंह

१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति-ग्रन्थ

१२३.धर्मदास

१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति-ग्रन्थ

१२४.भूधर

१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति-ग्रंथ

१२५.रघुनाथ

१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति-ग्रन्थ

१२६.जयमल्ल

१. जयवाणी अन्तरदर्शन, पृ. २० से २४ तक

२. तेरापंथ का इतिहास

१२७.भिक्षु

१. भिक्षु स्मृति-ग्रंथ

२. भिक्षु विचार दर्शन

३. शासन-समुद्र

४. तेरापंथ का इतिहास
५. इतिहास के बोलते पृष्ठ

१२८-१२९. भारमल और रायचन्द
१. भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ
२. शासन समुद्र
३. आचार्य चरितावली
४. तेरापंथ का इतिहास

१३०.जय
१. भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ
२. प्रज्ञापुरुष
३. शासन समुद्र
४. जय सौरभ
५. तेरापंथ का इतिहास

१३१.मघवागणी
१. भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ
२. मघवासुयश
३. तेरापंथ का इतिहास

१३२.माणकगणी
२. माणक महिमा
३. तेरापंथ का इतिहास
४. मघवा सुयश
५. शासन समुद्र

१३३.विजयानन्द
१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (वंशवृक्ष विभाग), पृ. ८
२. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ. १४

१३४.डालगणी
१. डालिम चरित्र
२. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ
३. तेरापंथ का इतिहास
४. शासन समुद्र

१३५.विजयराजेन्द्र
१. अभिधान राजेन्द्र कोष प्रस्तावना

१३६.कृपाचन्द्र
१. ओसवाल जाति का इतिहास

१३७.विजयधर्म
१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष चित्र परिचय, पृ. १५-२७
२. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ. १६

१३८.बुद्धिसागर
१. तपागच्छ श्रमण वंशवृक्ष (वंशवृक्ष विभाग), पृ. ६

१३९.कालूगणी
१. कालूयशोविलास
२. कालूगणी जीवन वृत्त
३. तेरापंथ का इतिहास
४. डालिम चरित्र
५. शासन समुद्र

१४०.सागरानन्द
१. ओसवाल जाति का इतिहास

१४१.श्रीलाल
१. मुनिश्री हजारीमलजी स्मृति-ग्रंथ

१४२.जवाहर
१. ओसवाल जाति का इतिहास

१४३.गणेशीलाल
१. पत्र पत्रिकाओं से

१४४.विजयवल्लभ
१. ओसवाल जाति का इतिहास

१४५.शान्तिसागर
१. चरित्र चक्रवर्ती (आचार्य शान्तिसागर)

१४६.वीरसागर
१. चरित्र चक्रवर्ती (आचार्य शान्तिसागर)

१४७.अमोलक ऋषि
१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ. १५९ से १६५

१४८.विजयसमुद्र
१. ओसवाल जाति का इतिहास

१४९.विजयशान्ति
१. ओसवाल जाति का इतिहास

१५०.आत्माराम
१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ. ७५, ७६

१५१.शिवसागर
१. चरित्र चक्रवर्ती (आचार्य शान्तिसागर)

१५२.घासीलाल

१. पत्र-पत्रिकाओं से

१५३. आनन्दऋषि

१. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ. २२६

१५४. देशभूषण

१. पत्र-पत्रिकाओं से

१५५. धर्मसागर

१. आचार्य धर्मसागर अभिनन्दन ग्रन्थ

१५६. तुलसी

१. तेरापंथ का इतिहास
२. आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ
३. षष्ठिपूर्ति अभिनन्दन ग्रन्थ
४. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ
५. आचार्यश्री तुलसी : जीवन-दर्शन
६. महक उठी मरुधर की माटी
७. दक्षिण के अंचल में
८. Living with Purpose

१५७. विमलसागर

१. विमलसागरजी महाराज ६८वां जन्म जयन्ती समारोह स्मारिका

१५८. महाप्रज्ञ

१. महाप्रज्ञजी व्यक्तित्व और कर्तृत्व
२. नत्थू से महाप्रज्ञ
३. तुलसी प्रज्ञा विशेषांक
४. जैन भारती विशेषांक
५. शासनसमुद्र

१५९. विद्यानन्द

१. पत्र-पत्रिकाओं से

१६०. महाश्रमण

१. जैन भारती (युवाचार्य मनोनयन विशेषांक)

परिशिष्ट २

प्रयुक्त-ग्रन्थ विवरण

१. अकलंक ग्रन्थ त्रय
सम्पादक पण्डित महेन्द्रकुमार शास्त्री
प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला

२. अनुयोगद्वार
आर्यरक्षित कृत
प्रकाशक राय धनपत सिंह

३. अनुयोग द्वार चूर्णि
चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर

४. अनुयोगद्वार वृत्ति
वृत्तिकार आचार्य हेमचन्द्र

५. अभिधान चिन्तामणि
लेखक आचार्य हेमचन्द्र
प्रकाशक चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

६. अभिधान राजेन्द्र कोष
लेखक विजय राजेन्द्रसूरि
प्रकाशक श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम

७. अमितगति श्रावकाचार
लेखक आचार्य अमितगति
प्रकाशक मूलचन्द किशनचन्द कापड़िया

८. आगम के अनमोल रत्न
सम्पादक पण्डित मुनि हस्तीमलजी मेवाड़ी
प्रकाशक धनराज (धासीलालजी) कोठारी, गांधीमार्ग, अहमदाबाद

९. आगम युग का जैन दर्शन
लेखक पण्डित दलसुख मालवणिया
सम्पादक विजयमुनि, शास्त्री
प्रकाशक श्री सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

१०. आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ
प्रबन्ध सम्पादक अक्षय कुमार जैन
प्रकाशक आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली

११. आचार्य चरितावली
सम्पादक श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कोलकाता

१२. आचार्य तुलसी : जीवन दर्शन
लेखक मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स

१३. आचार्यश्री तुलसी (जीवन पर एक दृष्टि)
लेखक मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)
प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चूरू

१४. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ
प्रकाशक श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कोलकाता

१५. आचार्य सम्राट्
लेखक ज्ञानमुनिजी
प्रकाशक सेठ रामजीदास जैन, लोहिया

१६. आचारांग चूर्णि
चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था

१७. आचारांग निर्युक्ति
लेखक आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय)

१८. आचारांगवृत्ति
लेखक शीलांकाचार्य
प्रकाशक श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, मुंबई

१९. आदिपुराण
लेखक आचार्य जिनसेन
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्ति देव जैन ग्रन्थमाला

२०. आप्तपरीक्षा
लेखक आचार्य जिनसेन
प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर, सरसावा
२१. आयारो
वाचना प्रमुख गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी
सम्पादक-विवेचक आचार्य श्री महाप्रज्ञ
प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं
२२. अर्हत् आगमोनुं अवलोकन
प्रणेता हीरालाल रसिकदास कापड़िया, गोपीपुरा, सूरत
२३. आवश्यक चूर्णि
चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक आगमोदय समिति, मुम्बई
२४. आवश्यक भाष्य
२५. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
२६. आवश्यक हारिभद्रीय वृत्तिटिप्पणक
मलधारी हेमचन्द्र कृत
२७. इष्टोपदेश
लेखक देवनन्दी (पूज्यपाद)
प्रकाशक परमश्रुतप्रभावक मण्डल
२८. उत्तर पुराण
लेखक आचार्य गुणभद्र
सम्पादक पण्डित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ
२९. उत्तरज्झयणाणि
वाचना प्रमुख गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी
सम्पादक-विवेचक आचार्य महाप्रज्ञ
प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं
३०. उत्तराध्ययन वृत्ति
लक्ष्मीवल्लभगणी कृत
३१. उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति
रत्नप्रभ कृत
प्रकाशक धनजी भाई देवचन्द्र जौहरी, मुम्बई
३२. उपमिति भवप्रपंच कथा
लेखक सिद्धर्षि
सम्पादक मुनिचन्द्र शेखरविजय
प्रकाशक १. कमल प्रकाशन (एटलास एजेन्सीज, अहमदाबाद)
२. श्री जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर
३३. उपासकाध्ययन
सम्पादक कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
३४. ऋषिमंडल स्तोत्र
प्रकाशक श्री जैनविद्याशाला, अहमदाबाद
३५. ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास
लेखक मुनिश्री मोतीऋषिजी महाराज
प्रकाशक श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी (अहमदाबाद)
३६. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह
सम्पादक अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
प्रकाशक शंकरदान शुभैराज नाहटा, कोलकाता
३७. ओघनिर्युक्ति
निर्युक्तिकार श्रीमद्भद्रबाहुस्वामी (द्वितीय)
प्रकाशक आगमोदय समिति, मुम्बई
३८. ओसवाल जाति का इतिहास
प्रकाशक श्री गोड़जी पार्श्वनाथ जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई
३९. औपपातिक वृत्ति
रचनाकार अभयदेवसूरि
प्रकाशक पण्डित भूरालाल कालिदास
४०. अंगसुत्ताणि
वाचना प्रमुख गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी
सम्पादक-विवेचक आचार्य महाप्रज्ञ
प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं
४१. अंचलगच्छ दिग्दर्शन
प्रकाशक श्री मुलुंड अंचलगच्छ जैन समाज, मुलुंड, मुम्बई-८०
४२. कल्पसूत्र
सम्पादक मुनि पुण्यविजयी
प्रकाशक साराभाई मणिलाल नवाब

४३. कषाय पाहुड़
प्रकाशक भारतीय दिगम्बर जैन संघ
४४. कसाय पाहुड़ सुत्तं
गुणधराचार्य प्रणीत
प्रकाशक वीर शासन संघ, कोलकाता
४५. कहावली
भद्रेश्वरसूरि कृत
४६. कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न
लेखक गोपाल जीवाभाई पटेल
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
४७. कुमारपाल चरित्र संग्रह
सम्पादक जिनविजयजी
प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला
४८. कुवलयमाला का सांस्कृतिक अनुदान
लेखक डॉ. प्रेमसुमन जैन
प्रकाशक प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध-संस्थान (वैशाली)
४९. कुवलयमाला
उद्योतनसूरि कृत
५०. खरतरगच्छ का इतिहास
सम्पादक महोपाध्याय विनयसागर
प्रकाशक दादा जिनदत्तसूरि अष्टम शताब्दी महोत्सव स्वागत समिति
५१. खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली
सम्पादक जिनविजय
प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला
५२. गणधरवाद
लेखक आचार्य जिनभद्रगणी
प्रकाशक राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
५३. गोम्मटसार
लेखक नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती
प्रकाशक श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल, मुम्बई
५४. चउपन्न पुरिसचरियं
लेखक शीलांकाचार्य
सम्पादक अमृतलाल मोहनलाल भोजक
प्रकाशक प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५
५५. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका शासनकाल
लेखक डॉ. राधाकुमुदमुखर्जी
अनुवादक मनीश सक्सेना
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
५६. ज्योतिषकरण्डक टीका
५७. जम्बूरियं
लेखक मुनि गुणपाल
सम्पादक जिनविजयजी
प्रकाशक सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ
५८. जम्बूसामिचरिउ
लेखक वीरकवि
सम्पादक डॉ. विमलप्रकाश जैन
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ
५९. जयवाणी
प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
६०. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज
लेखक डॉ. जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
६१. जैनग्रन्थ व ग्रन्थकार
सम्पादक फतेहचन्द बेलानी
प्रकाशक जैन संस्कृति संशोधन मंडल
६२. जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह
सम्पादक जुगलकिशोर मुख्तार
प्रकाशक वीरसेवा मन्दिर
६३. जैन दर्शन
लेखक डॉ. मोहनलाल मेहता
६४. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
लेखक आचार्यश्री महाप्रज्ञ
सम्पादक मुनि दुलहराज
प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चूरू
६५. जैन धर्म
लेखक कैलाशचन्द्र शास्त्री
६६. जैन परम्परा का इतिहास
लेखक आचार्य महाप्रज्ञ

प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चूरू
६७. जैन परम्परा नो इतिहास, भाग-१/२
लेखक मुनि दर्शनविजय, ज्ञानविजय, न्यायविजय (त्रिपुटी महाराज)
प्रकाशक श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थमाला (मुम्बई-अहमदाबाद)
६८. जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह
प्रकाशक भारतीय विद्याभवन
६९. जैन शासन
लेखक पण्डित सुमेरुचन्द्र दिवाकर
७०. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-४
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
७१. जैन साहित्य और इतिहास
लेखक नाथूराम प्रेमी
प्रकाशक यशोधर, विद्याधर मोदी, व्यवस्थापक, संशोधित साहित्यमाला
७२. जैन साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग)
लेखक सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
७३. जैन साहित्य व इतिहास पर विशद प्रकाश
लेखक जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक छोटेलाल जैन, मन्त्री श्री वीरशासनसंघ
७४. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास
भाग १ लेखक पं. बेचरदास डोशी
२ लेखक डॉ. जगदीशचन्द्र जैन व डॉ. मोहनलाल मेहता
३ लेखक डॉ. मोहनलाल मेहता
४ लेखक डॉ. मोहनलाल मेहता व प्रो. हीरालाल र. कापड़िया
५ लेखक पं. अम्बालाल प्रे. शाह
६ लेखक डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी
७ लेखक पं. के. भुजबली शास्त्री, श्री टी. पी. मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्ले, डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर
(तमिल विभाग के अनुवादक श्री र. शौरिराजन)
प्रकाशक पार्श्वनाथविद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी-५
७५. जैनाचार्य श्री आत्मारामजी जन्म शताब्दी ग्रन्थ
सम्पादक मोहनलाल दुलीचन्द देसाई
प्रकाशक जन्म शताब्दी स्मारक समिति, मुम्बई
७६. ठाणं
वाचना प्रमुख गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी
सम्पादक-विवेचक आचार्यश्री महाप्रज्ञ
प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं
७७. तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्
लेखक उमास्वाति
संशोधक हीरालाल रसिकदास
७८. तत्त्वानुशासन
लेखक जुगलकिशोर मुख्तार
७९. तत्त्वार्थराजवार्तिक
लेखक आचार्य विद्यानन्द
प्रकाशक गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई
८०. तत्त्वार्थसूत्र
लेखक उमास्वाति
प्रकाशक भारत जैन महामण्डल, वर्धा
८१. तपागच्छ पट्टावली
लेखक उपाध्याय श्री मेघविजयगणीजी
८२. तित्थोगालिय पइण्णा
वीर निर्वाण संवत् व जैन-गणना से प्राप्त
८३. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-१, २, ३, ४
लेखक डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्
८४. दसवेआलियं
वाचना प्रमुख गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक आचार्यश्री महाप्रज्ञ
प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं
८५. दशवैकालिकचूर्णि
लेखक अगस्त्यसिंह

प्रकाशक प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५
८६. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति
८७. दशवैकालिक निर्युक्ति
लेखक भद्रबाहु (द्वितीय)
८८. द्रव्यसंग्रह
सम्पादक दरबारीलाल कोठिया, गणेश प्रसाद वर्णी
प्रकाशक जैन ग्रन्थमाला
८९. दादा श्री जिनकुशलश्री
लेखक अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
९०. The Jain Sources of the History of Ancient India.
By Jyoti Prasad Jain.
९१. द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका भाग १, २, ३, ४, ५
सम्पादक विजयसुशीलसूरि
प्रकाशक विजयलावण्यसूरीश्वर, ज्ञान मन्दिर
९२. दुषमाकाल श्री श्रमण संघस्तव अवचूरि
लेखक धर्मघोषसूरि
(पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग से प्राप्त)
९३. दक्षिण भारत में जैन धर्म
लेखक पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ
९४. देवानन्द महाकाव्य
लेखक मेघ विजयोपाध्याय
सम्पादक पं. बेचरदास जीवराज डोसी
९५. धर्मबिन्दु
लेखक आचार्यश्री हरिभद्रसूरि
प्रकाशक नागजी भूधर की पोल, अहमदाबाद
९६. नन्दीसूत्र चूर्णि सहित
जिनदासगणी महत्तर कृत
सम्पादक मुनि पुण्यविजयजी
प्रकाशक प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी
९७. नन्दीसुत्तं वृत्तिसहित
सम्पादक मुनि पुण्यविजयजी
प्रकाशक प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी
९८. न्याय कुमुदचन्द्र
लेखक श्रीमद्प्रभाचन्द्राचार्य
९९. न्यायविनिश्चय विवरण
सम्पादक महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य
१००. न्यायावतारवार्तिक वृत्ति
सम्पादक पूर्णतल्लगच्छीय श्रीशान्तिसूरि
प्रकाशक भारतीय विद्या भवन, मुम्बई
१०१. न्यायतीर्थ
सम्पादक पं. दलसुख मालवणिया
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१०२. निशीथ सूत्र
सम्पादक उपाध्याय कविश्री अमरमुनि, मुनिश्री कन्हैयालाल (कमल)
प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
१०३. निशीथ चूर्णि
चूर्णिकार जिनदासमहत्तर गणी
१०४. निशीथ भाष्य
भाष्यकार विशाखगणी
१०५. पञ्चसंग्रह
लेखक आचार्य अमितगणी
प्रकाशक मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, सोमगढ़, सौराष्ट्र
१०६. पञ्चास्तिकाय संग्रह
कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत
प्रकाशक दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
१०७. पट्टावली समुच्चय
सम्पादक मुनि दर्शनविजय
प्रकाशक श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला
१०८. प्रबन्धकोश
रचनाकार राजशेखरसूरि
सम्पादक जिनविजयजी
प्रकाशक सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन
१०९. प्रबन्ध चिन्तामणि
लेखक मेरुतुंगाचार्य
प्रकाशक सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन

११०. प्रभावक-चरित
लेखक श्री प्रभाचन्द्राचार्य
सं. श्री जिनविजय मुनि
प्रकाशक सिंघी जैन ज्ञानपीठ, वि. सं. १९९७
१११. प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं
लेखक डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ
११२. प्रमाण-मीमांसा
लेखक हेमचन्द्राचार्य
सम्पादक पं. सुखलाल सिंघवी
प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला
११३. प्रज्ञापुरुष जयाचार्य
लेखक गणाधिपति तुलसी : आचार्य महाप्रज्ञ
प्रकाशक जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
११४. परिशिष्ट-पर्व
लेखक हेमचन्द्राचार्य
११५. प्रशमरति प्रकरण
लेखक उमास्वाति
प्रकाशक जीवनचन्द्र साकरचन्द्र जवेरी
११६. प्राकृत साहित्य का इतिहास
लेखक डॉ. जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
११७. पिण्डनिर्युक्ति
लेखक श्रीमद् भद्रबाहुस्वामी (द्वितीय)
११८. पुरातन प्रबन्ध संग्रह
सम्पादक जिनविजयमुनि
प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला
११९. भारतीय इतिहास एक दृष्टि
लेखक डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन
१२०. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
लेखक डॉ. हीरालाल जैन
१२१. मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि
लेखक अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
१२२. महापुराण
लेखक आचार्य पुष्पदन्त
प्रकाशक माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति
१२३. महाबन्ध
सम्पादक पं. सुमेरुचन्द दिवाकर शास्त्री, न्यायतीर्थ
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१२४. महामनस्वी आचार्य कालूगणी जीवनवृत्त
लेखक गणाधिपति श्री तुलसी
सम्पादक आचार्यश्री महाप्रज्ञ
१२५. मुनिश्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ
प्रकाशक हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति
१२६. यशस्तिलक चम्पू का सांस्कृतिक अध्ययन
लेखक डॉ. गोकुलचन्द्र जैन
प्रकाशक सोहन जैन धर्म प्रचारक समिति
१२७. युक्त्यनुशासन
लेखक स्वामी समन्तभद्र
१२८. युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि
लेखक अगरचन्द भंवरलाल नाहटा
प्रकाशक शंकरदान शुभैराज नाहटा, कोलकाता
१२९. योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दुश्च
प्रकाशक श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा
१३०. रत्नाकरावतारिका
सम्पादक पं. दलसुख मालवणिया
प्रकाशक लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद
१३१. व्यवहार-चूर्णि
१३२. वसुनन्दी श्रावकाचार
सम्पादक पं. हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१३३. विजयानन्दसूरि
लेखक सुशील
प्रकाशक श्री जैन आत्मानन्द सभा
१३४. विविध तीर्थकल्प
सम्पादक जिनविजय

प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१३५. विशेषावश्यकभाष्य
सम्पादक पं. दलसुख मालवणिया
प्रकाशक लालभाई, दलपतभाई,
भारतीय विद्यामन्दिर, अहमदाबाद
१३६. वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना
लेखक मुनि कल्याणविजय
प्रकाशक क. वि. शास्त्र समिति,
जालौर (मारवाड़)
१३७. वीर शासन के प्रभावक आचार्य
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, कनाट प्लेस,
नई दिल्ली
१३८. वृहत्कल्प सूत्र
सम्पादक मुनि चतुरविजय, पुण्यविजय
प्रकाशक भावनगरस्था श्री जैन आत्मानन्द सभा
१३९. शब्दों की वेदी अनुभव का दीप
लेखक मुनि दुलहराज
प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ चूरू
१४०. शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और
उनका साहित्य
लेखक महोपाध्याय विनयसागर
प्रकाशक प्राकृत जैन शास्त्र एवं
अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली
१४१. षट्खण्डागम
लेखक पुष्पदन्त, भूतबलि
प्रकाशक जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर
१४२. षट्खण्डागम की अवतरण कथा और
आगम ग्रन्थों की ऐतिहासिक वाचना
लेखक नीरज जैन
प्रकाशक डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य
१४३. षड्दर्शन समुच्चय
लेखक डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य,
१४४. स्तुति-विद्या
लेखक स्वामी समन्तभद्र
१४५. स्थानांगवृत्ति
लेखक अभयदेवसूरि
प्रकाशक श्री आगमोदय समिति, मुम्बई
१४६. स्याद्वाद-मञ्जरी
लेखक आचार्य मल्लिषेण
१४७. स्वयंभूस्तोत्र
लेखक समन्तभद्र
१४८. स्वामी समन्तभद्र
लेखक जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक श्री वीरशासन संघ
१४९. सटीकाश्चत्वारः कर्मग्रन्थाः
प्रकाशक श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
१५०. समदर्शी आचार्य हरिभद्र
व्याख्याता पं. सुखलाल सिंघवी डी. लिट्
प्रकाशक राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
१५१. समाधि तन्त्र
सम्पादक जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)
१५२. समाधितन्त्र और इष्टोपदेश
रचनाकार देवनंदी (पूज्यपाद)
अनुवादक परमानन्दशास्त्री, देवनन्दी
(पूज्यपाद) विरचित
प्रकाशक वीरसेवामन्दिर सोसाइटी (दिल्ली)
१५३. सर्वार्थसिद्धि
सम्पादक फूलचन्द सिद्धान्त-शास्त्री
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१५४. सर्वज्ञसिद्धि
लेखक हरिभद्रसूरि
प्रकाशक श्री जैनसाहित्य वर्धक सभा
१५५. सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्
रचनाकार हेमचन्द्राचार्य (कलिकालसर्वज्ञ)
संशोधक-सम्पादक श्री आनन्दबोधिनीवृत्तिकारकः
पन्यास प्रवर श्री चन्द्रसागर गणिभद्रः
प्रकाशक श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति,
मुंबई-३
१५६. सिद्धिविनिश्चय टीका

लेखक अकलंकदेव
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१५७. श्री तपगच्छ श्रमण, वंशवृक्ष
सम्पादक जयन्तीलाल छोटालाल शाह
प्रकाशक जयन्तीलाल छोटालाल शाह झवेरी वाड, सातभाईनी हवेली, अहमदाबाद
१५८. श्रीमदावश्यक निर्युक्ति दीपिका (द्वितीयो विभागः)
रचनाकार माणिक्यशेखरसूरि
प्रकाशक आचार्य श्रीमद्विजयदान सूरीश्वरजी जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा, सूरत
१५९. सुदंसण चरिउ
लेखक नयनन्दी
सम्पादक डॉ. हीरालाल जैन
प्रकाशक प्राकृत जैन शास्त्र एवं अहिंसा शोध-संस्थान (वैशाली)
१६०. संस्कृत प्राकृत व्याकरण और कोश की परम्परा
सम्पादक मुनि दुलहराज, डॉ. छगनलाल शास्त्री, डॉ. प्रेम सुमन जैन
प्रकाशक श्री कालूगणी जन्म-शताब्दी समारोह समिति, छापर
१६१. हरिवंश पुराण
लेखक आचार्य जिनसेन
प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
१६२. हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति
लेखक हेमचन्द्रसूरि
प्रकाशक शाह नगीनभाई घेलाभाई झवेरी
१६३. हिमवन्त स्थविरावली
(वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना ग्रन्थ से प्राप्त)
१६४. हेमचन्द्राचार्य की शिष्य मण्डली
लेखक भोगीलाल सांडसेरा, एम. ए., पी-एच. डी.
प्रकाशक जैन साहित्य संशोधन मण्डल, वाराणसी
१६५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र महाकाव्य
सम्पादक मुनि चरणविजय
प्रकाशक श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
१६६. ज्ञानार्णव
लेखक आचार्य शुभचन्द्र
प्रकाशक रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला।

परिशिष्ट ३

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय संस्करण पर प्राप्त सम्मतियां

(१)

समीक्षक : रतिलाल दीपचन्द देसाई

पिछले करीब चालीस साल के अरसे में तेरापंथ का जो प्रगतिलक्षी कायापलट हुआ, वह अपने आपमें एक गौरवप्रद ऐतिहासिक घटना है, जो अन्य धर्म-पंथों के लिए मार्ग-दर्शक कही जा सकती है। इस समय में तेरापंथ के संतों और विशेषकर उस पंथ की महासतियों ने ज्ञानोपासना के क्षेत्र में एवं अन्य अनेक विषयों में जो प्रगति की और सफलता प्राप्त की है, यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। ऐसे आह्लादकारी व आदर्श परिवर्तन का सारा यश पूज्य आचार्य तुलसी महाराज की दीर्घ दृष्टि, उदार मनोवृत्ति व समय को परखने की विलक्षण बुद्धि को जाता है। तेरापंथ की ऐसी प्रगतिशीलता में ज्ञान-साधना एवं ध्यान में समान-भाव से निरत, विशिष्ट व मौलिक सर्जक प्रतिभा के स्वामी तथा हर विषय के मूल तक पहुंचने की अनोखी सूझ-बूझ रखने वाले युवाचार्य महाप्रज्ञ का हिस्सा भी कुछ कम नहीं है।

तेरापंथ के तेजस्वी, अध्ययनशील व प्रभावशाली साध्वी समुदाय में पूज्य महासती संघमित्राजी महाराज का नाम व कार्य प्रथम पंक्ति में आदरणीय स्थान प्राप्त करे, ऐसी उच्च कोटि का है। जैसी वे एक अच्छी प्रवचनकार हैं वैसी ही उत्तम लेखिका भी हैं और उनके प्रवचन व लेखन दोनों में उनकी विद्या-साधना के जो दर्शन होते हैं, उससे उनके प्रति आदर बढ़ जाता है।

पूज्य महासती संघमित्राजी द्वारा लिखित 'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' नामक पुस्तक कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थ-रत्न में भगवान् महावीर के युग से लेकर आधुनिक युग तक के पच्चीस सौ वर्ष जितने सुदीर्घ समय में जैन शासन की प्रभावना करने वाले मुख्य १२० आचार्यों का सुगम व रसप्रद परिचय दिया गया है। इन परिचयों का खास ध्यान खींचने वाली विशेषता यह है कि उसमें जैन संघ के दिगम्बर, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानक-मार्गी तथा तेरापंथी चारों पंथों के आचार्यों के परिचय को स्थान दिया गया है। इससे यह ग्रन्थ जैसे साध्वी संघमित्राजी की अध्ययन-परायणता का परिचायक बना है वैसे ही यह उनकी उदार व गुणग्राहक दृष्टि के भी सुगम दर्शन कराता है।

जैन-परम्परा को अखण्डित रखने वाले आचार्य भगवान् के परिचयों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में आगम-युग, उत्कर्ष-युग और नवीन-युग की श्रमण-परम्परा की गतिविधियों का जो सिंहावलोकन किया गया है, इससे इस ग्रन्थ की गुणवत्ता, महत्ता व उपयोगिता और बढ़ गई है, ऐसा कहना चाहिए।

तीनों युगों के अवलोकन के अन्त में और हर एक आचार्यदेव के परिचय के अन्त में आधारभूत ग्रन्थों या स्थानों की सूची भी दी गई है, जो ग्रन्थगत विषयों के बारे में विशेष जिज्ञासा रखने वालों के लिए अत्यन्त सहायक हो सकती है। इस प्रकार महासती संघमित्राजी ने इस ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिए जिस लगन व एकाग्रता से परिश्रम किया है वह बहुत प्रशंसनीय व अनुकरणीय है।

४५२ पृष्ठों जितना वृहत् यह ग्रन्थ छपाई, कागज, बाइंडिंग आदि बाह्य रूप-रंग में जितना आकर्षक बना है उससे अधिक वह ग्रन्थ की आत्मारूप आन्तरिक विद्या-सामग्री से समृद्ध बना है, इसके लिए जैन-संघ उनका बहुत आभारी है, और महासती संघमित्राजी धन्यवाद व अभिनन्दन की अधिकारी हैं। उनकी विद्या-साधना निरन्तर आगे बढ़ती रहे ऐसी शुभकामना के साथ

दिनांक ६-४-१९८० रतिलाल दीपचन्द देसाई

६, अमल सोसायटी, अहमदाबाद-७

(२)

समीक्षक : दलसुख मालवणिया

आगमयुग, उत्कर्षयुग और नवीनयुग इन तीनों युगों का विवरण देकर उन युगों में होने वाले प्रभावक आचार्यों का जीवन साध्वीश्री संघमित्रा जी ने देने का प्रयास किया है। आगमयुग के सुधर्मा से लेकर देवर्द्धिगणी तक, उत्कर्षयुग के आचार्य वृद्धवादी से गुणरत्नसूरि तक और नवीनयुग के आचार्य हीरविजयजी से लेकर आचार्य तुलसी तक आचार्यों का जीवन इस ग्रन्थ में लिखने का प्रयास है।

इस ग्रन्थ की प्रथम विशेषता यह है कि इसमें जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों के मान्य आचार्यों की जो भी इतिहास और अर्ध इतिहास की सामग्री मिलती है उसका उपयोग करके तत्-तत् आचार्यों की जीवनी लिखी गई है। लेखिका ने आचार्यों के प्रति आदरशील होकर लिखा है।

प्रायः ऐसे ग्रन्थों में साम्प्रदायिक दृष्टि देखी जाती है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें सम्प्रदाय को नहीं किन्तु जैन प्रभावक आचार्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। आशा है कि जैन-संघ के इतिहास की जिज्ञासा रखने वालों के लिए यह ग्रन्थ आदरणीय और उपादेय होगा।

(३)

समीक्षक : अगरचंद नाहटा, बीकानेर

भगवान् महावीर का २५००वां निर्वाण महोत्सव वास्तव में जैन-समाज के लिए बहुत बड़ा योग था जिसके उपलक्ष्य में इतना अधिक और अच्छा काम हुआ कि वह चिरस्मरणीय रहेगा।

साहित्य-निर्माण का भी काम उस एक वर्ष में जितना अच्छा व अधिक हुआ, उतना गत २५०० वर्षों के किसी भी एक वर्ष में शायद ही हुआ हो। आचार्य तुलसी और उनके शिष्यों ने जो विशाल योजना बनाई थी उसमें भी कुछ काम उस समय हो नहीं पाए। इनमें से एक कार्य आचार्य तुलसी की शिष्या साध्वी संघमित्राजी ने हाथ में लिया। बड़े हर्ष की बात है कि गत ५ वर्षों में करते-करते उन्होंने इसे पूरा कर ही लिया। कहना पड़ेगा कि आशा से भी अधिक अच्छा कार्य किया गया है, अतः वह देरी अखरने वाली नहीं। साध्वी संघमित्राजी ने अनेक प्रान्तों व नगरों में विचरण करते हुए भी अपने कार्य को जारी रखा, यह उनकी निष्ठा का परिचायक है, दृष्टि भी विशाल व व्यापक रखी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर के तीनों मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी सम्प्रदायों के गत २५०० वर्षों के प्रभावक आचार्यों के सम्बन्ध में उनका ४५० पृष्ठों का बड़ा ग्रन्थ कुछ महीने पहले ही जैन विश्व भारती, लाडनूं से बड़े सुन्दर रूप से प्रकाशित हुआ है। सभी सम्प्रदायों के आचार्यों के प्रति साध्वी जी ने बड़े ही सद्भाव के साथ सुन्दर भाषा व शैली में यह ग्रन्थ तैयार किया है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए श्री संघमित्राजी और प्रकाशक 'जैन विश्व भारती' दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

(4)

The Jain Journal Calcutta
January, 1980

Sadhvi Sanghmitra deserves congratulation for having accomplished a highly laborious job she assigned to herself on the occassion of the 25th centuary of Bhagwan Mahavir which was observed in 1975. In fact, this is one of the 25 item which the Terapanth Sangh assigned for its learned monks and nuns to work out towards the occasion. The reviewer has no hesitation to say The Sadhviji has performed her assignment with care and comprehence.

Gleaning from sundry sources, she had presented the life-sketches of 37 Acharyas of the Agamic period, of 55 Acharyas in the growth period and of 28 Acharyas of the new period, according to her classification. In doing so, she has worked objectively, without letting her work

being tinged with the views of innumerable denominations called ganas, gachhas, kulas, sakhas into which Jainism after Mahavir got divided. This makes her production pleasent since we meet together so many illustrious persons who have given a glorious name to Jainism in the pages of History.

Some of these names, particularly of the Agamic period and for some time the period immediately following, are known to the readers of the Kalpa Sutra which has a chapter entitled 'Theravali' but there they are mere names and do not satisfy one who wants to know more about them or their achievements. Even such a celebrity like Acharya Bhadrabahu who happens to be its illustrious author, finds a scant mention. Now, in the work of Sadhviji, we have a dependable information about the whole lot, and even though not comparable in strict sense, her work reminds one of Acharya Hemchandra's Trishastishalaka-purusha Charitra.

K.C. Lalwani

(५)

समीक्षक कस्तूरभाई लालभाई

पूज्य साध्वी महाराज, संघमित्राजी,

आपने कठिन परिश्रम लेकर 'जैन-धर्म के प्रभावक आचार्य' नामक पुस्तक लिखी, उसके लिए अनेक धन्यवाद। मैंने पुस्तक के १०० पृष्ठ पढ़े, बहुत ही अच्छी पुस्तक है। उसके लिए मेरी तरफ से बहुत अभिनन्दन।

(६)

समीक्षक कृष्णावदन जोशी मेयर (अहमदाबाद)

'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' नामक ग्रन्थ मिला। पूरे ग्रन्थ का तो पठन नहीं कर सका लेकिन जितना भी पठन-आस्वाद लिया तो दिल-दिमाग को लगा कि सचमुच ही यह मार्गदर्शक ग्रन्थ है। गत हजारों वर्षों में जैन-धर्म के जो प्रभावक आचार्य हुए, उन सबके जीवन-परिचय का संकलन अविरल श्रम से आपने इस ग्रन्थ में किया है, वह प्रशंसनीय है।

जैन धर्म के आचार्यों के जीवन-वृत्तान्त के साथ जैन शासन, श्रुत शक्ति, चरित्र शक्ति, मन्त्र शक्ति आदि की प्रयत्नपूर्वक जो आलोचना की है वह अत्यन्त सराहनीय है। मैं आशा रखता हूं कि यह ग्रन्थ जैन और इतर धर्मों के लिए उपयोगी साबित होगा। इस उम्दा कार्य के लिए आप अभिनन्दन की अधिकारिणी हैं।

(७)

'जैन जगत्' नवम्बर, १९७९

भगवान् महावीर की विशाल संघ-सम्पदा को जैनाचार्यों ने अपने ज्ञान, ध्यान और चरित्र से सम्भाला। इसलिए अढाई हजार वर्षों के बाद भी जैन शासन अविच्छिन्न एवं अनवरत गतिशील है। साध्वीश्री संघमित्राजी ने इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में आचार्यों के काल का संक्षिप्त सिंहावलोकन करते हुए आगम-युग के आचार्यों का जीवन एवं कार्य वर्णित किया है तथा साथ ही उत्कर्ष एवं नवीन-युग में आचार्यों द्वारा किए गए साहित्य-सृजन, वाचनाओं आदि का विशद विवेचन किया है।

द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में आगम-युग के आचार्यों तथा दूसरे अध्याय में उनके बाद के आचार्यों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में नवीन-युग के आचार्यों का वर्णन है।

हिन्दी भाषा में प्रभावक महान् जैनाचार्यों पर इस प्रकार का सुव्यवस्थित, असाम्प्रदायिक एवं प्रामाणिक लेखन सम्भवतः यह प्रथम ही है। लेखिका साध्वीश्रीजी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक निरपेक्ष भाव से यह रचना तैयार की है। लगभग पांच सौ पृष्ठों का यह ग्रन्थ कागज, मुद्रण एवं आवरण सभी दृष्टियों से सुन्दर एवं उत्तम है।

(८)

श्री अमर भारती : दिसम्बर १९७९

समीक्षक मुनि समदर्शी प्रभाकर

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान् महावीर के पञ्चम गणधर प्रथम आचार्य आर्य सुधर्मा से लेकर वर्तमान-युग तक के आचार्यों का परिचय दिया गया है। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् जैन-परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गई। उसके बाद श्वेताम्बर परम्परा तीन सम्प्रदायों में विभक्त हुई श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापंथी। साध्वीश्री संघमित्राजी ने प्रस्तुत पुस्तक में चारों सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्यों के जीवन, व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का परिचय दिया है। साध्वीश्री संघमित्राजी तेरापंथ-परम्परा के आचार्यश्री तुलसी की शिष्या हैं, परन्तु सभी परम्पराओं के आचार्यों के जीवन को आपने तटस्थ एवं असाम्प्रदायिक दृष्टि से लिखा है। यह उदार दृष्टि एवं महापुरुषों के प्रति आदरभाव, भले ही वे किसी भी परम्परा के क्यों न रहे हों, स्तुत्य है। इस प्रयास के लिए हार्दिक अभिनन्दन एवं साधुवाद।

(९)

'श्रमण' : नवम्बर १९७९

प्रस्तुत कृति में जैन धर्म के १५५ प्रभावक आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। लेखिका की दृष्टि असाम्प्रदायिक रही है। उन्होंने जैन धर्म की विविध परम्पराओं के आचार्यों का ससम्मान उल्लेख किया है। आचार्यों के नामों के आगे जिस रूप में विशेषणों का प्रयोग किया गया है वह अत्यन्त मार्मिक है जैसे अर्हन्नीति उन्नायक उमास्वाति, प्रबुद्धचेता पुष्यदन्त आदि। किसी एक परम्परा में दीक्षित होकर भी लेखिका ने दूसरी परम्परा के आचार्यों के सम्बन्ध में जिस शालीन, शिष्ट और सम्मानपूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया है वह निश्चित ही अभिनन्दनीय और अनुकरणीय है। पुस्तक को देखकर ऐसा लगता है कि जैन संघ असाम्प्रदायिकता की नई भूमिका में प्रवेश कर रहा है। आचार्यों के इस विवेचन क्रम में कालक्रम का भी पूरा ध्यान रखा गया है। प्रस्तुत कृति में विविध आचार्यों के जीवन का इतिहास देकर लेखिका ने जैन इतिहास की एक महती आवश्यकता की पूर्ति की है। उनका यह प्रयास स्तुत्य है।

समीक्षक डॉ. सागरमल जैन

साप्ताहिक हैदराबाद समाचार

२१ जुलाई, १९८७, मंगलवार

वाङ्मय-जगत्

(१०)

जैन आचार्यों का स्मरण

आचार्य तुलसी की प्रेरणा से, भगवान् महावीर के पचीसवीं निर्वाण शताब्दी समारोह (सन् १९७५) के शुभ अवसर पर, साध्वी संघमित्राजी ने संकल्प लिया और जैन आचार्यों के इतिवृत्त के शोध में लग गई। प्राचीन जैन तथा इतर ग्रन्थों के गहन अध्ययन से जितनी प्रामाणिक सामग्री वे संकलित कर पाईं, उसी को सुवाच्य शैली में ग्रन्थाकार प्रस्तुत कर दिया। उसी प्रस्तुति का नाम है : जैन धर्म के प्रभावक आचार्य। इसे प्रकाशित किया है जैन विश्व भारती (लाडनूं) ने। ९०० से अधिक पृष्ठों वाले इस ग्रन्थ का मूल्य १०० रुपये है।

जैन शासन का आरम्भ भगवान् महावीर से मानते हैं लेकिन महावीर की धर्मव्यवस्था के पूर्व तेईस तीर्थंकरों को पृष्ठभूमि में रखकर इसकी अवधारणा को और पीछे ले जाया जाता है। महावीर अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। महावीर के बाद जैन आचार्यों की परम्परा आरम्भ होती है। आचार्यों ने ही जैन शासन को अब तक बनाए रखा है। इन आचार्यों की संख्या का सही आकलन सम्भव नहीं है। इस ग्रन्थ में लेखिका ने १५५ आचार्यों का जीवन-वृत्त विभिन्न वाङ्मय स्रोतों के आधार पर संकलित किया है।

सर्वप्रथम जैन आचार्य थे सुधर्मा। दिगम्बर परम्परा के अनुसार गणधर गौतम को सर्वप्रथम आचार्य माना जाता है। आचार्य सुधर्मा ने 'गणिपिटक' की रचना की। जैन दर्शन में इस ग्रन्थ को वही स्थान प्राप्त है, जो बौद्ध दर्शन में त्रिपिटक का और वैदिक दर्शन में वेदों का है। 'गणिपिटक' का एक और नाम 'द्वादशाङ्गी' भी प्रचलित है। अन्त में ७ ऐसे आचार्यों का समावेश है, जो अभी अपनी-अपनी साधना में लगे हैं। इनमें शामिल है आनन्दऋषिजी (स्थानकवासी परम्परा), देशभूषणजी, धर्मसागरजी व विमलसागरजी (दिगम्बर परम्परा), तुलसीजी (तेरापंथ के नौवें आचार्य), एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी तथा युवाचार्य महाप्रज्ञ (तेरापंथ)। इस बीच आचार्य देशभूषणजी और धर्मसागरजी दिवंगत हो चुके हैं।

आचार्य-परम्परा के सम्पूर्ण कालखण्ड को लेखिका ने तीन भागों में विभाजित किया है : आगमयुग, उत्कर्ष युग तथा नवीन युग। आगम युग महावीर के निर्वाण से १००० वर्ष तक माना गया है, अर्थात् विक्रम पूर्व ४७० से वि. सं. ५३० तक। वि. सं. ५३० से १५३० तक के कालखण्ड को उत्कर्ष युग का नाम दिया गया है। नवीन युग वि. सं. १५३० से २०३० तक अर्थात् ५०० वर्षों का माना गया है।

अपना धार्मिक वाङ्मय जिन जैन भाई-बहिनों ने पढ़ा है, वे इन आचार्यों के बारे में थोड़ा-बहुत जानते होंगे, लेकिन क्रमवार प्रामाणिक विवरण एक साथ संकलित हो जाने से यह ग्रन्थ उनके लिए तो अपूर्व ग्रन्थ है, क्योंकि महावीर के निर्वाण के बाद ढाई हजार वर्ष तक इस धर्म-परम्परा को आचार्यों ने कैसे टिकाए रखा, इसका ज्ञान इस ग्रन्थ से मिलता है। लेखिका ने लेखन में सरल शैली अपनाई है, इसलिए भाषा सुबोध है। पढ़ने और समझने में कहीं अटकना नहीं पड़ता। अतः लेखिका को अतिरिक्त साधुवाद मिलना चाहिए।

जीवन-चरित् वाङ्मय में इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

(११)

समीक्षक उदयभानु हंस

अभिमत

परम-विदुषी साध्वी संघमित्राजी का गौरव-ग्रन्थ 'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' पढ़ा। जो निश्चयात्मक रूप से ऐतिहासिक महत्त्व का है। ढाई हजार वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में प्रभावक आचार्यों के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का आकलन प्रामाणिक आधार पर करने के लिए जिस उत्कट साधना, गम्भीर अध्ययन और अथक परिश्रम की अपेक्षा है, उसकी कल्पना करते हुए मन धीरोदात्त लेखिका के प्रति श्रद्धावनत हो जाता है। ज्ञान के अथाह समुद्र से ज्ञात-अज्ञात असंख्य रत्नों को निकालकर साध्वी संघमित्राजी ने भगवान महावीर के पश्चात् वर्तमान प्रभु तक की आचार्य शृंखला को कुशलता से पिरोकर एक बहुत भारी कमी को पूरा किया है। जैन धर्म की दृष्टि से इस रचना को ऐतिहासिक दस्तावेज कहा जा सकता है। इस उद्भट और उपयोगी उपलब्धि के लिए मेरा हार्दिक अभिनंदन।

(१)

जैन प्रभावक आचार्यों का
परम्परागत यह इतिहास
साध्वीवर श्री संघमित्रा का
कष्ट साध्य है स्तुत्य प्रयास॥

(२)

पाकर धर्मसंघ का आश्रय
छूकर गुरुचरणों की धूल,
लेकर अपने हाथ लेखनी
गूंथ दिए माला में फूल॥

(३)

अनगिन आगम शास्त्र भाष्य पढ़
चिन्तन मनन किया अविराम,
पूर्ण शृंखलाबद्ध कर दिए
लुप्त गुप्त कितने ही नाम ॥

(४)

दृढ़ संकल्प अटूट साधना
जैसे सोना और सुगन्ध
शब्द-अर्थ का चिर संगम है,
साध्वीश्री का शोध प्रबंध ॥

राजकवि हरियाणा
प्रिंसिपल
गवर्नमेंट कॉलेज
हांसी (हिसार)

(१२)

समीक्षक डॉ. मूलचंद सेठिया

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य के शोधपरक सृजन में साध्वी संघमित्राजी ने जैन इतिहास के विविध स्रोतों का दोहन करते हुए निस्संग तटस्थता एवं वस्तुपरकता का परिचय दिया है। उत्तर महावीर युग के अढाई हजार वर्षों के इतिहास में विभिन्न गणों के प्रभावक आचार्यों ने अपनी श्रुतशक्ति, चरित्रशक्ति और मंत्र शक्ति के द्वारा जैन धर्म की जीवन-धारा को अविछिन्न रूप से प्रवहमान रखा है। वे आत्मार्थी तो थे ही, अपने युग के सारथि भी थे। उनके महामहिम कर्तृत्व का सम्यक् रूप से आकलन करना सामान्य प्रतिभा के वश की बात नहीं थी।

साध्वी संघमित्राजी ने अथक परिश्रम, तत्त्वनिष्ठा एवं निभ्रान्त शोध दृष्टि द्वारा असंभव से प्रतीत होने वाले कार्य को संभव बनाने में सफलता अर्जित की है।

यह कृति मूलतः इतिहास केन्द्रित है, परन्तु प्रासंगिक रूप से इसमें जैनदर्शन, अध्यात्म, संस्कृति, न्याय, योग, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, स्थापत्य आदि सारस्वत साधना के सभी विषयों का इतना विराट् विवेचन हुआ है कि इसे एक संदर्भ ग्रंथ की मर्यादा प्राप्त हो गई है।

जैन मनीषियों ने तत्युगीन ज्ञान-विज्ञान के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा था। उनके सतत् योगदान का आलोचन विवेचन करते हुए साध्वीश्री के इस ग्रंथ में विविध विषयों का सहज समावेश हो गया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि देश-व्यापी भाषाओं के अतिरिक्त जैन साहित्यकारों ने गुजराती, तमिल, कन्नड़, राजस्थानी आदि लोक-भाषाओं में भी प्रचुर साहित्य का सृजन किया था, जिसका सम्यक् आकलन इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया गया है।

विभिन्न आचार्यों के ऐतिहासिक परिवेश के रूप में तत्कालीन राजवंशों और राजनैतिक स्थितियों का भी प्रामाणिक रूप से चित्रण किया गया है। इस क्षेत्र में अनुसंधित्सु विद्वानों द्वारा और भी प्रयास करने की प्रेरणा प्राप्त होगी जिससे इतिहास की कई टूटी हुई कड़ियाँ फिर से जुड़ सकेंगी।

साध्वी संघमित्राजी ने प्रभावक आचार्यों का चयन करने में किसी प्रकार की भी साम्प्रदायिक स्थितिबद्धता को स्वीकार नहीं किया है और पूरी उदारता एवं सदाशयता के साथ सभी सम्प्रदाय के आचार्यों के योगदान का सन्तुलित रूप से मूल्यांकन किया है। एक सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित साध्वी होते हुए भी उनकी इतिहास दृष्टि वस्तुपरक मध्यस्थता और निस्संगता को लिए हुए है। उनके विषय प्रतिपादन में स्पष्टता और पारदर्शिता है, जो भाषा के सहज प्रवाह के कारण पाठक को और भी रुचिकर एवं बोधप्रद प्रतीत होती है।

आशा है, जैन इतिहास के क्षेत्र में उनकी शोध निरंतर अग्रसर रहेगी और भविष्य में उनकी लेखनी से और भी महनीय कृतियों का सृजन सम्भव हो सकेगा।

डॉ. मूलचन्द सेठिया
पूर्व एसोशिएट प्रोफेसर हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(१३)

I deem it a privilege to express my views on the fourth edition of the book entitled **'The Prominent Acharyas of Jain Religion'**. The author of this book is a well-known Jain Sadhvi Sanghamitraji a nun-disciple of Achara Shri

Mahapragyaji and late Ganadhipati Tulsiji. It is indeed a laudable attempt made by the nun-writer on Jain tradition in a historical perspective. The fourth edition speaks itself about the popularity of the book. The author's painstaking efforts resulting in a monumental work on Jain Studies, have made this study an authentic one. While describing various periods of Jain Acharyas, a meticulous care has been taken by the author while including the Acharyas of different sects of Jains. This shows here humility which has been immensely appreciated by the early commentators.

The distinguished author has systemetically arranged the names of Acharyas belonging to three different periods.

(i) Agam period
(ii) Development period
(iii) Neo-period.

The author has written in a crisp, simple and effective language in a lucid style with authentic references. I consider this book as a significant contribution to the understanding of the historical graph of the chain of Jain Acharyas who were prominently known after Lord Mahavira. The author has identified the venerative title to each prominent Acharya to project their personality rightfully. It will undoubtedly enhance the utility of the book if the three sections of this book might serve the purpose as a Standard Text-book on Jain studies.

I heartily welcome the publication of the fourth edition of this book. I am quite sanguine that this book will make an abiding contribution to Jainism.

—Reviewer
Dr. M. R. Gelra

Reviewer

❑ **M.L. Dak Amet**

I feel pleasure that I got the opportunity to go through the contents of the book 'Jain Dharm Ke Prabhavak Acharya' (A book on the prominent Acharyas of Jain Religion) written by Sadhvi Sanghmitraji. Really the effort of the Sadhviji is praiseworthy and commendable. I Congratulate Sadhvi Sanghmitraji for producing the work of such a high value.

Fourth edition is in the press, which shows the popularity and usefulness of the book. It is needless to say that learned Sadhviji has included the prominent Acharyas of all the sects of Jain religion without any partiality and prejudices. Really she has taken much pains in collecting the references which have made the book authentic and useful.

Venerative titles used for each prominent Acharya resembles his personality rightfully.

Though the book is historical one, the author has used such a lucid language that every reader reads it so interestingly as if is a storybook.

Hope the book will be very useful for the research scholars of Jainism and Sadhviji will continue her productivity of such a fine literature.

Retd. Principal
'Shagun'89 Vivekanand
Colony Amet (Rajsamand)

समीक्षक–राजकुमार जैन

साधना की पावनता और साहित्य की उत्कृष्टता का अद्भुत संगम

कोई भी ग्रन्थ रुचिकर तभी बनता है जब उसमें काल पक्ष के साथ भाव पक्ष भी सबल हो। यदि भावों में माधुर्य न हो तो कितने ही कलात्मक ढंग से प्रस्तुतीकरण हो वह जादू जगा ही नहीं सकते जिसकी एक पाठक अपेक्षा करता है वह तो केवल शब्दालंकारों की क्रीड़ा बनकर रह जाएगा। इसी प्रकार भाव पक्ष सबल है लेकिन उसका प्रस्तुतीकरण अच्छा नहीं है तो वह मन को छू ही नहीं पाएगा। लेकिन साध्वीश्री संघमित्रा जी के द्वारा रचित ग्रन्थ जैन धर्म के प्रभावक आचार्य दोनों ही कसौटियों पर खरा उतरता है। भक्ति भावित मानस का श्रद्धा भरा समर्पण है उन महामानवों के चरणों में जिनका जीवन सम्पूर्ण समाज के लिए प्रेरणा स्वरूप है। लेखिका ने बड़ा ही विशद एवं प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया है। तीर्थंकर महावीर ने तत्य को साधना से पाया। उन्होंने सत्य को साक्षात् जाना और सम्पूर्ण पक्षों के साथ जाना और उन्होंने इसी सत्य को २६०० वर्ष पहले कहा जिसे गणधरों ने लिपिबद्ध किया और आचार्यों ने आगमों के इस रहस्य को समझा और फिर सरल भाषा में जन-जन में प्रचारित किया। कल्पना कीजिए तीर्थंकर महावीर से अब तक के काल क्रम में जितने आचार्य हुए हैं, उन सभी का विवरण ढूँढकर उन्हें माला के मोती के समान पिरोकर प्रस्तुत करना कितना कठिन कार्य है, इसके लिए कितने धैर्य और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। लेखिका का यह एक प्रशंसनीय प्रयास तो हैं ही साथ में इस बात की झलक भी मिलती है कि साध्वीश्री संघमित्रा जी ने श्वेताम्बर-दिगम्बर पंथ की सीमाओं से ऊपर उठकर एक सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने की चेष्टा की है। भगवान महावीर की जीवनी सहज ही उपलब्ध हो जाती है और वर्तमान आचार्यों के बारे में भी हम आसानी से जान सकते हैं। लेकिन इन दोनों सिरों के बीच में जो २६०० वर्ष का अन्तराल है। उसमें जो प्रभावक आचार्य हुए, उनके बारे में जानने की मन में बड़ी इच्छा थी। जैन आगम परम्परा में कैसे-कैसे उतार-चढ़ाव आए और किन-किन ज्योतिपुंजों ने उस करुणामय महावीर की वाणी को हम तक सुरक्षित पहुँचाया, यह जानने के लिए मन सदैव लालायित रहता था और इसी उत्कंठा में जब साध्वीश्री संघमित्रा की कृति पर नजर पड़ी तो इसे पढ़ने के पश्चात् मन को एक तरह की अपूर्व शान्ति मिली। संघमित्रा जी ने आचार्यों के जीवनवृत्त को ऐसे रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है कि एक बार पढ़ना शुरू करें तो पढ़ते ही चले जाएँ। आचार्यश्री की सम्पूर्ण जीवनी को जानने के लिए उत्तरोत्तर जिज्ञासा बढ़ती ही जाती है। १६० आचार्यों के जीवन विषयक विशेषताओं के प्रस्तुतीकरण में सर्वथा नवीन एवं अलग-अलग विशेषण प्रस्तुत किए गए हैं। प्रत्येक जीवनवृत्त का शीर्षक सटीक एवं मर्मस्पर्शी है। लेखिका शब्दज्ञान अथाह है। भाषा भावों को अनुगामिनी एवं प्रांजल है। लेखिका ने बड़े ही उदार व निष्पक्ष दृष्टिकोण से आचार्यों के जीवन को शब्दों में उतारा है। दिगम्बर-श्वेताम्बर विषयक भेद की दृष्टि से और इतने लम्बे कालक्रम की दृष्टि से आचार्यों सम्बन्धी जानकारी जो विस्मृत होती जा रही थी, इधर-उधर बिखरी हुई थी, उसे पुनः याद करवाने की दृष्टि से और सांगोपांग रूप में एक जगह प्रस्तुत करने की दृष्टि से लेखिका की यह सार्थक कोशिश है। लेखिका का यह प्रस्तुतीकरण ऐसा लगता है मानो सागर में खेलती लहरों के जैसे हृदय में उमड़ती हुई भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति है।

दैनिक भास्कर के संवाददाता
बन्धु राजकुमार जैन
एवं भगिनी सुमन जैन